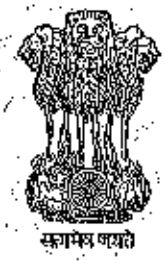

भारत का विधि आयोग

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 के पुनर्विलोकन

पर

एक सौ पिचासीवीं रिपोर्ट

मार्च, 2003

न्यायमूर्ति
एम. जगन्नाथ राव
अध्यक्ष

सत्यमेव जयते

भारत का विधि आयोग
शास्त्री भवन
नई दिल्ली- 110001
दूरभाष : 3384475
निवास :
1, जनपथ
नई दिल्ली-110011
दूरभाष : 3019465

अर्ध० शा० सं० 6(3)(70)/2001-एल०सी० (एल एस)

13 मार्च, 2003

प्रिय श्री अरुण जैटली जी,

विधि आयोग को, प्रारूप विधेयक सहित, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 के पुनर्विलोकन पर 185वीं रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 पर यह एक बहुत व्यापक रिपोर्ट है।

विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्रालय में राज्य मंत्री द्वारा अर्ध.शा.सं० 3272/95-9 दिनांक 28 सितम्बर, 1995 में प्रदान अनुमति से विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्रालय (भारत सरकार) द्वारा जारी किए पत्र द्वारा न्यायमूर्ति गजेन्द्र गाडकर तथा अन्य सदस्यों द्वारा दिनांक 9-5-1977 को प्रस्तुत की गई रिपोर्ट, इसे कार्यान्वित किए जाने से पूर्व ही, केवल समय बीत जाने के आधार पर ही विधि आयोग को वापस भेज दी गई। बाद में, दिनांक 1 जनवरी, 2001, अर्ध.शा.सं० 15-1-2001(11) दिनांक 19/22 जून, 2001 और एफ.सं. 7(11)/83-आई.सी. दिनांक 2-5-2002 पत्रों द्वारा अनुस्मारक भेजे गए। इन पत्रों के परिणामस्वरूप आयोग ने विषय पर पुनर्विचार आरम्भ किया।

साक्ष्य विधि, हमारे सिविल तथा दाण्डिक न्यायालयों द्वारा अपनाई जाने वाली एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विधि है। वर्ष 1972 से, जब वर्तमान अधिनियम अधिनियमित किया गया, मानवाधिकारी विधिशास्त्र में विश्वपर्यन्त बहुत से परिवर्तन हुए हैं। मानवाधिकारों को शासित करने वाले मूल सिद्धांत, सत्तर वर्ष पश्चात्, यूनिवर्सल डिक्लेयरेशन ऑफ ह्यूमैन राइट्स, 1948 में प्रतिज्ञापित किए गए। इसके पश्चात्, 1966 में सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा सामने आई। भारत में वर्ष 1976 में पुष्टि की गई। हमारा संविधान 26 जनवरी, 1950 से प्रभावी हुआ। हमारे संविधान के अनुच्छेद 20(3) में व्यक्ति को किसी अपराध में फंसाने के विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए मूल अधिकार प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 21 में विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया की स्वतंत्रता और अधिकार की गारंटी दी गई है और इस प्रक्रिया को बाद में *मेनका गांधी* ने न्यायोचित, निष्पक्ष तथा समान बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। दाण्डिक विधि में लागू होने वाले साक्ष्य के सिद्धान्तों को अनुच्छेद 20(3) और अनुच्छेद 21 दोनों की अपेक्षाओं को आवश्यक रूप से पूरा करना होता है। न ही प्रक्रिया भेदभावपूर्ण और स्वेच्छाचारी हो सकती है, अन्यथा यह अनुच्छेद 14 के विरुद्ध होगी। अपराधों की शिकार महिलाओं के लिए विशेष सुरक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। सरकार के कार्यकरण में पारदर्शिता का होना लोकतंत्र का अनिवार्य अंग है। प्रेस की स्वतंत्रता की रक्षा की जानी होती है और उसका सीमांकन किया जाना होता है।

प्रस्तावित संशोधन का आशय इन नए मानकों की पुष्टि करना है।

हम इस रिपोर्ट में की गई कुछ महत्त्वपूर्ण सिफारिशों पर बहुत संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। संस्वीकृतियों की ग्राह्यता अथवा अन्यथा धारा 24 से धारा 29 तक के अंतर्गत आती हैं। हमने न्यायालयों के बहुत से अभिनिर्णयों के अनुरूप धारा 27 में संशोधन का प्रस्ताव किया है। साक्ष्य अधिनियम, 1872 पर अपनी समीक्षा में (पंद्रहवां संस्करण, 1999, पृष्ठ 534) सरकार ने कहा कि जहां धारा 27 में संशोधन की आवश्यकता है, वहीं यह भी महत्वपूर्ण है कि सर जेम्स स्टीफन जैसा विशिष्ट व्यक्ति ही ऐसा प्रयास कर सकता है। धारा 27 के अंतर्गत कार्य इतना विशाल है। अब धारा 27 को धारा 24 से धारा 26 के अपवाद

के रूप में प्रस्ताव किया गया है। ''या'' शब्द पुरःस्थापित करके, यह अभिरक्षा में रखे गए या अभिरक्षा में न रखे गए व्यक्तियों के कथनों से पता चले तथ्यों के लिए लागू होती है। ''स्पष्टतया'' और ''ऐसी जानकारी में से उतनी'' शब्दों को निकाल देने का प्रस्ताव किया गया है। धारा 27 के अधीन यह भी प्रस्ताव किया गया है कि कथनों से पता चले तथ्यों को साक्ष्य में केवल तभी स्वीकार किया जाएगा जबकि कथन किसी धमकी, क्रूरता, हिंसा या यंत्रणा के अधीन न किए गए हों। उत्प्रेरणा या वंचन द्वारा पता चले तथ्य अभी भी सुसंगत माने जाएंगे।

अपराधों के स्वरूप को ध्यान में रखे बिना ही, वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों के समक्ष की गयीं सभी संस्वीकृतियों को ग्राह्य बनाने के लिए धारा 26क अन्तःस्थापित करने हेतु 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश से हमें पूर्णतया असहमत होना पड़ा क्योंकि यह सिफारिश हमारे विचार से उच्चतम न्यायालय के दृष्टिकोण, विशेषकर **केहर सिंह** के मामले में व्यक्त किए गए विचारों के विपरीत है। अनुच्छेद 14 या 21 के अधीन आतंकवादी या संज्ञेय अपराध में अन्तर्ग्रस्त किसी अपराधी की संस्वीकृतियों के मामले में, जिसे एक अपवाद माना जा सकता है उसे एक सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता और प्रत्येक अन्य अपराध के संदर्भ में, वरिष्ठ पुलिस अधिकारी की की गयी संस्वीकृति को साक्ष्य में ग्राह्य मानने के लिए लागू नहीं किया जा सकता। उच्चतम न्यायालय की विधि के कथनानुसार इससे अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 21 का तथा आनुपातिकता संबंधी सभी बातों का हनन होगा। 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 26क को जहां हमने स्वीकार नहीं किया है वहां हमने साक्षियों की विवशनीयता के बारे में संशोधनों के प्रस्ताव रखे हैं।

मौखिक साक्ष्य से संबंधित धारा 59 के अधीन हमने वीडियो कान्फ्रेंस तथा वीडियो द्वारा रिकार्ड किए गए साक्ष्य का उल्लेख किया है। हमने, अमरीका, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया तथा ब्रिटेन की हाल ही में हुई गतिविधियों का निर्देश किया है। तथापि, हमने इसके बारे में पृथक से प्रावधान न करने के कारण भी बताए हैं।

राज्य के कार्यों और अप्रकाशित सरकारी रिकार्ड तथा सरकारी अधिकारी के साथ किए गए गोपनीय पत्राचार को प्रस्तुत किए जाने के बारे में, **एस.पी. गुप्ता** मामले में उद्घोषित विधि के अनुसार परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए, धारा 123, 124 और 162 में संशोधन करने के प्रस्ताव किए गए हैं। हमने 69वीं तथा 88वीं रिपोर्टों में की गई सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है जो इस संबंध में एक समान ही हैं। तथापि, हमने एक परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया है। धारा 123 के अधीन निर्णित राज्य के कार्यों संबंधी प्रश्नों पर अधीनस्थ न्यायालयों के आदेशों पर अपील करने, जैसाकि 88वीं रिपोर्ट में प्रस्ताव किया गया है, के बजाय हमने यह प्रस्ताव किया है कि अधीनस्थ न्यायालय द्वारा उक्त प्रश्न पर उच्च न्यायालय को निर्देश किया जाना चाहिए।

पितृत्व के सबूत के संबंध में, धारा 112 में परस्पर ''पहुंच न होने'' के एकमात्र अपवाद के अतिरिक्त, हमने अत्यंत कठोर शर्तों के अध्यधीन रक्त-ग्रुप परीक्षण, डी.एन.ए. के रूप में अन्य अपवादों का भी प्रस्ताव किया है। इसके अतिरिक्त, विवाह के कायम रहते हुए या उसके विघटन के 280 दिन के भीतर जन्म लेने वालों के पितृत्व के मामले में उपधारणा का लाभ अब न केवल शून्यकरणीय विवाह के बच्चों के लिए अपितु शून्य विवाह वाले बच्चों के लिए भी उपलब्ध कराया गया है जहां अकृतता प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिया गया हो, परन्तु यह कि ऐसे बच्चे अपनी स्वीय विधियों के अधीन धर्मज माने गए हों।

ऐसे दस्तावेजों को साबित करने के लिए, जिनका अनुप्रमाणित किया जाना अपेक्षित है, किसी अनुप्रमाणक को आवश्यक रूप से बुलाए जाने संबंधी उपबंध को, बिल के मामलों को छोड़कर, समाप्त करने का प्रस्ताव किया गया है, जैसाकि 1938 में ब्रिटेन में किया गया था। धारा 68 से धारा 71 को उपांतरित करने और केवल बिलों के लिए लागू करने का प्रस्ताव किया है।

धारा 90 में, प्राचीन दस्तावेजों की मौलिकता की उपधारणा को 30 वर्ष के स्थान पर 20 वर्ष पुराने दस्तावेजों के लिए लागू करने का प्रस्ताव किया गया है, जैसाकि अन्य देशों में किया जाता है। बीस वर्ष पुराने मूल दस्तावेजों की रजिस्टर्ड प्रतियां स्वीकार करने के लिए धारा 90 में उपधारा (2) पुरःस्थापित करने का प्रस्ताव किया गया है जैसाकि 1954 के संशोधन द्वारा उत्तर प्रदेश में किया गया था। धारा 90 में निष्पादन, हस्तलेख और अनुप्रमाणन की उपधारणा की गई है। जैसाकि 1954 में उत्तर

प्रदेश में किया गया है, रजिस्ट्रीकृत दस्तावेजों के बारे में, जिनके मौलिक दस्तावेज बीस वर्ष से कम पुराने हैं, केवल निष्पादन की उपधारणा करने के लिए, धारा 90क का प्रस्ताव किया गया है।

उन व्यक्तियों के बारे में जिनके निवास के बारे में कोई पता नहीं है, धारा 108 के अधीन उपधारणा को संशोधित करने का प्रस्ताव किया गया है। जहां तक किसी विशिष्ट तिथि को मृत्यु की उपधारण का संबंध है, प्रिवी काउंसिल के इन विचारों से असहमति व्यक्त करते हुए कि सात वर्ष समाप्त हो जाने पर मृत्यु उपधारित मानी जानी चाहिए, हम यह स्पष्ट करने का प्रस्ताव करते हैं कि जब तक कि कोई व्यक्ति जो यह साबित करना चाहता है, इस तथ्य को प्रमाणित नहीं कर देता है, कि सात वर्ष के पश्चात् व्यक्ति जीवित था। यह ठीक है कि यदि कोई पक्षकार यह तर्क देता है कि व्यक्ति की सात वर्ष के भीतर किसी तिथि विशेष को मृत्यु हुई है, तो उस पक्षकार को यह साबित करना होगा। प्रस्तावित संशोधन से व्यक्तियों को पुनर्विवाह अथवा उत्तराधिकार के बारे में निर्णय करने में सहायता मिलेगी।

एक साथ हुई मृत्युओं के बारे में एक नए उपबंध 108क का प्रस्ताव किया गया है और उसमें अन्तर्विष्ट एक विशिष्ट प्रावधान के अन्तर्गत ऐसे मामले आ जाएंगे जहां पति पत्नी दोनों की एक दुर्घटना में मृत्यु हो गई हो। 69वीं रिपोर्ट में यह प्रस्ताव किया गया था। अन्य देशों में भी ऐसे उपबंध विद्यमान हैं। यह प्रस्ताव किया जाता है कि साथ-साथ पति/पत्नी दोनों की मृत्यु हो जाने वाले प्रत्येक मामले में, जहां पति/पत्नी में से किसी भी एक की एस्टेट के लिए दावे किए जाते हैं वहां दूसरे को, चाहे वह, पति या पत्नी आयु में छोटा ही हो, मृत्यु पहले ही हो जाने की उपधारणा कर ली जानी चाहिए ताकि छोटे के उत्तराधिकारी दूसरे की सम्पत्ति को न हड़प सकें। ब्रिटेन तथा अमरीका में भी यही स्थिति है। हमने, जहां पति या पत्नी में से जो भी कम आयु का हो और वह एकमात्र उत्तराधिकारी है या उत्तराधिकारियों में से एक है ऐसे मामलों के लिए एक और अपवाद का प्रस्ताव भी किया है।

प्रस्तावित संशोधनों में से अधिकांश प्राथमिक या द्वितीयिक साक्ष्य द्वारा सबूत से संबंधित हैं। विवाह के समय संसूचनाओं के लिए (धारा 122), इंग्लिश न्यायालयों द्वारा हाल में ही दी गई व्यवस्था का अनुसरण करते हुए, एक विशेष उपबंध का प्रस्ताव किया गया है।

ऐसे मामलों को अपवाद मानते हुए जहां किसी प्रकाशन से भारत की प्रभुता, अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशों से मैत्री संबंध, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार और नैतिकता प्रभावित होती हो या न्यायालय की अवमानना होती हो, अपने प्रकाशन का स्रोत प्रकट करने के लिए विवश किए जाने से संचार माध्यम (मीडिया) को सुरक्षित रखने के लिए हमने धारा 132क का प्रस्ताव किया है। हमने ब्रिटेन तथा अन्य देशों की विधि का सर्वेक्षण किया है और विशेषकर **गुडविन मामले** में योरोपीय न्यायालय के हाल ही के निर्णय का सर्वेक्षण किया है। हमने न्यायमूर्ति के.के. मैथ्यू द्वारा 132वीं रिपोर्ट में की गयी सिफारिशों का भी निर्देश किया है।

हमने ब्रिटेन में पेटेंट और ट्रेडमार्क एजेंटों के साथ वार्ता के लिए विशेषाधिकार के बारे में धारा 132ख और 132ग का प्रस्ताव किया है।

किसी महिला से उसके पहले के चरित्र के बारे में प्रश्न पूछने के संबंध में, हमने देखा है कि वर्ष 2002 में किए गए संशोधन के द्वारा धारा 146(3) के नीचे जोड़ा गया परन्तुक संकीर्ण है और हमने 172वीं रिपोर्ट की सिफारिश के अनुरूप विशेषाधिकार का विस्तार किया है। चरित्र से संबंधित प्रश्नों के प्रस्ताव धारा 53क और 156(4) में अन्तर्विष्ट हैं।

अन्तिम रूप से बहुत से अन्य संशोधनों का भी, सभी मिलाकर, एक सौ से अधिक, प्रस्ताव किया गया है।

इन प्रस्तावों को लागू करने के लिए, हमने प्रस्ताव किया है कि प्रस्तावित संशोधन उन सिविल कार्यवाहियों पर लागू होने चाहिएं जहां प्रस्तावित संशोधनकारी अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि को साक्षियों की परीक्षा आरम्भ नहीं हुई थी। (तथापि, हमारा विचार है कि कतिपय स्पष्टीकरणों को भूतलक्षी प्रभाव दिया जाना चाहिए)। जहां तक दाण्डिक कार्यवाहियों का संबंध

है, हमने प्रस्ताव किया है कि संशोधन केवल तभी लागू होंगे जब अपराध यदि प्रस्तावित संशोधनकारी अधिनियम के प्रवर्तन के पश्चात् किए गए होंगे। हम, विधि आयोग के भूतपूर्व सदस्य, श्री वी.पी. सारथी द्वारा हमारे पहले प्रारूप प्रतिवेदन की जांच करने और अपने बहुमूल्य सुझाव देने के लिए उनके आभारी हैं।

वर्ष 1977 में प्रस्तुत की गई 69वीं रिपोर्ट वर्ष 1995 में विधि आयोग को केवल इस आधार पर वापस भेज दी गई कि उसको कार्यान्वित करने के लिए बहुत विलम्ब हो चुका था। हम आशा करते हैं कि कम से कम वर्तमान रिपोर्ट, जो एक विस्तृत अध्ययन है और जिसका आकार 950 पृष्ठों में सीमित है तथा जिसे तैयार करने में लगभग एक वर्ष का समय लगा है, निरर्थक नहीं जाएगी और शीघ्र ही इसके आधार पर विधान बनाया जाएगा। शीघ्र विधि सुधार संभव हो सके इस सुविधा की दृष्टि से हमने इस रिपोर्ट के साथ एक प्रारूप विधेयक संलग्न किया है जिसमें 99 धाराएं दी गयीं हैं।

सादर,

भवदीय

ह/-

(न्यायमूर्ति एम. जगन्नाथ राव)

श्री अरुण जेटली,
माननीय विधि तथा न्याय मंत्री,
भारत सरकार, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली।

विषय-सूची

पृष्ठ सं.

अध्याय—एक : प्रस्तावना 1-2

अध्याय—दो : भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 के उपबंधों का पुनर्विलोकन 3-378

अध्याय—तीन : सिफारिशों का सारांश 379-447

उपाबंध : भारतीय साक्ष्य (संशोधन) विधेयक, 2003 448-490

अध्याय-एक

प्रस्तावना

भारत के पांचवें विधि आयोग की 69वीं रिपोर्ट में साक्ष्य अधिनियम की विस्तृत समीक्षा की गई थी। यह रिपोर्ट 9 मई, 1977 को प्रस्तुत की गई थी। विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्रालय (भारत सरकार) ने, मंत्री महोदय की अनुमति से, अपने पत्र अर्ध.शा.सं. 3273/95-9 दिनांक 28 सितम्बर, 1995 और बाद के पत्र अर्ध. शा. सं. 15-1-2001 (ii)-विधायी-iii दिनांक 19/22 जून, 2001 तथा एफ सं. 7(11)/83-आई.सी. दिनांक 2-5-2002 द्वारा भारत के विधि आयोग से भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की एक बार फिर से पुनरीक्षा करने का अनुरोध किया, क्योंकि 69वीं रिपोर्ट प्रस्तुत करने के समय के पश्चात् से 25 वर्ष की अवधि में साक्ष्य विधि में अनेकों गतिविधियां हुई हैं।

यह बात सभी जानते हैं कि साक्ष्य अधिनियम का पुनर्विलोकन किसी भी आयोग के लिए अत्यंत कठिन और चुनौतीपूर्ण कार्य है। 1872 के अधिनियम का मसौदा 19वीं सदी के प्रसिद्ध न्यायशास्त्री सर जेम्स स्टीफन ने तैयार किया था। वास्तव में, अधिनियम की धारा 24 से 27 के बारे में जो संभवत्या अधिनियम की महत्वपूर्ण धाराएं हैं और जो दाण्डिक विधि के लिए लागू होती हैं, सरकार (साक्ष्य विधि, 15वाँ संस्करण, 1999, पृष्ठ 534) ने अपनी प्रसिद्ध टिप्पणी में कहा था कि ये धाराएं किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा पुनः प्रारूपित नहीं की जा सकती जो सर जेम्स स्टीफन से कम योग्य और विख्यात हो। निम्नलिखित सुसंगत उद्धहरण सरकार की टिप्पणी से दिया गया है :—

> "संभवतया किसी अन्य धारा के विषय में इतना विवाद नहीं उठा है जितना धारा 27 के बारे में और बहुत से न्यायाधीशों ने धारा 24 से धारा 27 तक की धाराओं को फिर से प्रारूपित करने की सिफारिश की है। इस कठिन कार्य के **निकट भविष्य में हो पाने की संभावना नहीं है क्योंकि इसके लिए सर जेम्स स्टीफन जैसे योग्य न्यायशास्त्री की आवश्यकता होगी।**"

इससे हमें इस कार्य की महत्ता का पता चलता है।

1977 की 69वीं रिपोर्ट पांचवें विधि आयोग द्वारा तैयार की गई थी। न्यायमूर्ति पी. बी. गजेन्द्रगडकर (भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश), न्यायमूर्ति एस. एस. धवन, श्री पी. के. त्रिपाठी, श्री एस. पी. सेनवर्मा, श्री बी. सी. मित्रा, श्री बी.एम. बक्शी जैसे प्रसिद्ध न्यायविद जिसके सदस्य थे। यह रिपोर्ट भी 907 पृष्ठों में समाविष्ट है और संभवत्या विधि आयोग द्वारा विगत 50 वर्षों में किया गया विद्वततापूर्ण कार्य है। इस रिपोर्ट में इतनी अधिक अनुसंधान सामग्री अन्तर्विष्ट है जो आधा दर्जन स्नातकोत्तर छात्रों तथा पी एच डी शोधकर्ताओं के लिए पर्याप्त होगी। पांचवें विधि आयोग ने 69वीं रिपोर्ट तैयार करने के लिए प्रत्येक धारा के मूल और विधि के प्रत्येक सिद्धान्त का अध्ययन, विभिन्न देशों में ऐसी समान विधियों का निर्देश करने में इतना अधिक परिश्रम किया है जिसकी वास्तव में किसी अन्य से तुलना नहीं की जा सकेगी। दुर्भाग्यवश, इस रिपोर्ट को वर्ष 1977 से 1995 तक लम्बित रखा गया। वर्तमान आयोग के समक्ष ऐसी रिपोर्ट की समीक्षा करने का कार्य, इसलिए और अत्यन्त कठिन हो जाता है।

वर्तमान विधि आयोग ने भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की समीक्षा का कार्य विधि आयोग की 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए आरम्भ किया है। वर्तमान रिपोर्ट में आयोग ने प्रसंग के लिए आयोग की 11वीं, 14वीं, 48वीं, 60वीं, 88वीं 91वीं, 93वीं, 113वीं, 148वीं, 152वीं, 154वीं, 172वीं, 177वीं, 179वीं तथा 180वीं रिपोर्टों का निर्देश किया है। आयोग ने हाल ही में आयकर अधिनियम, 2002, साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2003 (2003 का अधिनियम 4) और सूचना की स्वतंत्रता अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 5) में किए गए संशोधनों को भी ध्यान में रखा है।

हमने साक्ष्य अधिनियम, 1872 के पुनर्विलोकन का कार्य निष्ठापूर्वक आरम्भ किया है और 1977 के पश्चात् हमारे देश में तथा अन्य देशों में हुए विधि संबंधी विकास की समीक्षा की है तथा 1977 और 2003 के बीच उच्चतम न्यायालय और

उच्च न्यायालों द्वारा दिए गए निर्णयों पर विचार किया है। हमने इस विषय पर ब्रिटेन और अमरीका के प्रमुख लेखकों के विचारों का भी निर्देश किया है।

69वीं रिपोर्ट की सिफारिशों को निम्नलिखित पांच श्रेणियों में रखा जा सकता है :—

1. उपबंध जिनमें किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं है;
2. अधिनियम के वे उपबंध जिनमें आंशिक रूप से संशोधन करने का प्रस्ताव किया गया है;
3. वे उपबंध जिनको पूर्णतया प्रतिस्थापित करने का प्रस्ताव है;
4. ऐसे उपबंध जिन्हें निकाल देने का प्रस्ताव किया गया है; और
5. उपबंध जिन्हें अन्त:स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया है।

हमने 69वीं रिपोर्ट में की गई प्रत्येक सिफारिश का अध्ययन किया है। देश में तथा विदेशों में विधि में हुए परवर्ती विकास तथा दाण्डिक और सिविल अभियोजन दोनों क्षेत्रों में देश की वर्तमान व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए हमने, अपनी ओर से, नए ढंग से अधिनियम के उपबंधों पर विचार किया है। जहां हमने 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित कतिपय सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया है वहीं हमने कतिपय सिफारिशों को संशोधन के साथ या बिना किसी संशोधन के ही स्वीकार कर लिया है। हमने नए उपबंधों के अन्त:स्थापन के लिए 69वीं रिपोर्ट की कतिपय सिफारिशों को स्वीकार न करते हुए कतिपय नए उपबंध जोड़ने की सिफारिश की है। रिपोर्ट के मूल प्रारूप की विधि आयोग के भूतपूर्व सदस्य तथा सोलिसिटर जनरल श्री वी. पी. सारथी द्वारा समीक्षा की गई और उनके बहुत से सुझाव स्वीकार किए गए यद्यपि कुछ सुझावों को अस्वीकार भी किया गया। उनके सुझावों के लिए हम उनके आभारी हैं।

इस रिपोर्ट में की गई सिफारिशों का संक्षिप्त सार इसके साथ संलग्न किया गया है। आशा की जाती है कि ये सिफारिशें देश में सिविल और दाण्डिक न्याय के प्रशासन में महत्वपूर्ण सिद्ध होंगी। 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशें भी न्यायालयों के लिए बहुत हितकारी सिद्ध हुई होती यदि इन्हें रिपोर्ट प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् तत्काल कार्यान्वित कर दिया गया होता।

विधि आयोग आशा करता है कि इतने महत्वपूर्ण विषय पर, जो हमारे न्यायिक प्रशासन का जीवन संचार है, कम से कम वर्तमान रिपोर्ट में की गई सिफारिशों पर विचार किया जाएगा और इन्हें शीघ्र ही कार्यान्वित किया जाएगा।

अध्याय—दो

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 के उपबंधों का पुनर्विलोकन

धारा 1 :

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 1 का शीर्षक ''संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारम्भ'' दिया गया है। इसमें न्यायिक कार्यवाहियों के लिए अधिनियम के लागू होने के विस्तार का निर्देश किया गया है। पूर्व में संशोधित रूप धारा का पाठ इस प्रकार है :

> ''धारा 1 : संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारम्भ—यह अधिनियम, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 कहा जा सकेगा।
>
> इसका विस्तार [जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय] सम्पूर्ण भारत पर है और यह किसी न्यायालय में या के समक्ष की जिसके अन्तर्गत, [आर्मी एक्ट (44 तथा 45 विक्ट, अ० 58)], नेवल डिसिप्लिन एक्ट (29 तथा 30 विक्ट, अ० 109), या इन्डियन नेवी (डिसिप्लिन) एक्ट, 1934 (1934 का 34) [या एयरफोर्स एक्ट (7 आ, 5 अ० 51)] के अधीन संयोजित सेना न्यायालयों से भिन्न, सेना न्यायालय आते हैं, समस्त न्यायिक कार्यवाहियों के लिए लागू है, किन्तु न तो किसी न्यायालय या आफिसर के समक्ष पेश किए गए शपथ-पत्रों को लागू है और न किसी मध्यस्थ के समक्ष की कार्यवाहियों को;
>
> और यह 1872 के सितम्बर के प्रथम दिन से प्रवृत्त होगा।''

इस धारा में औपचारिक संशोधन अपेक्षित हैं क्योंकि आर्मी एक्ट, 1881 ब्रिटिश स्टेट्यूट्स (भारत को लागू) रिपीलिंग एक्ट, 1960 (1960 का अधिनियम 57) द्वारा भारत पर लागू होने के लिए निरसित कर दिया गया; इसी प्रकार इन्डियन नेवी (डिसिप्लिन) एक्ट, 1934 में, जब यह विधि अनुकूलन आदेश 1950 द्वारा अनुकूलित किया गया था, (इंग्लिश) नेवल डिसिप्लिन एक्ट्स का निर्देश नहीं किया गया था। इस समय नेवी एक्ट, 1957 प्रवर्तन में है जिसकी धारा 186 द्वारा पहले की विधि को निरसित कर दिया गया है। एयरफोर्स एक्ट, 1917 को भी, भारत पर लागू होने के मामले में, ब्रिटिश स्टेट्यूट्स (भारत का लागू) रिपीलिंग एक्ट, 1960 द्वारा निरसित कर दिया गया है।

यहां इस बात का भी उल्लेख किया जा सकेगा कि सेना अधिनियम, 1950 की धारा 133, वायु सेना अधिनियम, 1950 की धारा 132 और नौसेना अधिनियम, 1957 की धारा 130 इन अधिनियमों के उपबंधों को लागू करती हैं।

इस संबंध में हम विधि आयोग की 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं और तदनुसार सिफारिश करते हैं कि अधिनियम की धारा 1 से निम्नलिखित शब्द निकाल दिए जाने चाहिएं :

> ''आर्मी एक्ट (44 तथा 45 विक्ट, अ० 58), नेवल डिसिप्लिन एक्ट (29 तथा 30 विक्ट, अ० 109), या इन्डियन नेवी (डिसिप्लिन) एक्ट, 1934 (1934 का 34) [या एयरफोर्स एक्ट (7 आ, 5 अ० 51) के अधीन संयोजित सेना न्यायालयों से भिन्न]।''

धारा 3 : निर्वचन खण्ड :

इस खण्ड में अधिनियम में प्रयुक्त बहुत से शब्द परिभाषित किए गए हैं, जैसे—''न्यायालय'', ''तथ्य'', ''सुसंगत'', ''विवाद्यक तथ्य'', ''दस्तावेज'', ''साक्ष्य'', ''साबित'', ''नासाबित'' ''साबित नहीं हुआ'', ''भारत''। सूचना प्रौद्योगिकी

अधिनियम, 2000 (2000 का अधिनियम 21) द्वारा परिभाषित कतिपय अन्य शब्द साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 3 के अधीन पढ़े जाने चाहिएं।

अब हम, धारा 3 में परिभाषित शब्दों में से प्रत्येक को लेते हैं।

''न्यायालय'' : धारा 3 में ''न्यायालय'' शब्द के अन्तर्गत सभी न्यायाधीश और मजिस्ट्रेट तथा मध्यस्थों के सिवाय, साक्ष्य लेने के लिए वैध रूप से प्राधिकृत सभी व्यक्ति आते हैं।

यहां ''व्यक्ति'' शब्द न्यायाधीश तथा मजिस्ट्रेट के संदर्भ में पढ़ा जाएगा और इसका अर्थ भी इन्हीं शब्दों के अनुरूप लिया जाएगा।

जब परिभाषा में ''साक्ष्य लेने के लिए वैध रूप से प्राधिकृत'' व्यक्तियों का निर्देश किया गया है वहां यह बात समझ ली जानी चाहिए कि जब तक कोई व्यक्ति साक्ष्य नहीं लेता तब तक अधिनियम के लागू होने की गुंजाइश नहीं होती है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि साक्ष्य लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति या प्राधिकरण, जैसा कि अर्ध-न्यायिक अधिकरण या कोई देशी अधिकरण न्यायालय है। यह बात निम्नलिखित निर्णय जनित विधि से स्पष्ट हो जाएगी।

अधिनियम में दी गई न्यायालय की परिभाषा शामिल की गई परिभाषा और विस्तृत परिभाषा नहीं है, **ब्रजनन्दन सिन्हा बनाम ज्योति नरायण** (ए०आई०आर० 1956 सु०को० 66)। परन्तु उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि साक्ष्य अधिनियम, आयकर प्राधिकारी (**सी०आई०टी०** बनाम **ईस्ट कोर्ट कॉमर्शियल कम्पनी लिमिटेड**) (ए०आई०आर० 1967 सु०को० 768) मैसूर (व्यैक्तिक तथा प्रकीर्ण) इनमस् (निरसन अधिनियम), 1955 के अन्तर्गत गैर-न्यायिक लोक सेवक (जांच) अधिनियम, 1850 के अधीन कार्यवाहियों (**ब्रजनन्दन सिन्हा** बनाम **ज्योति नरायण**) (ए०आई०आर० 1956 सु०को० 66), महाराष्ट्र सहकारी समिति अधिनियम, 1961 के अधीन रजिस्ट्रार के मनोनीत व्यक्ति (**रामाराव** बनाम **नरायण**) (ए०आई०आर० 1969 सु०को० 724) अधिकरणों द्वारा , चाहे वे अर्धन्यायिक स्वरूप के अधिकरण ही हो, की गई जांच (**भारत संघ** बनाम **टी०आर० वर्मा**) (ए०आई०आर० 1957 सु०को० 882) (परन्तु उन्हें नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का पालन करना होगा) के लिए लागू नहीं होगा। यह परिभाषा देशी अधिकरणों के लिए (**सैन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया लिमिटेड** बनाम **प्रकाश चन्द्र जैन**) (ए०आईआर० 1969 सु०को० 943) और विभागीय कार्यवाहियों के लिए भी लागू नहीं होगी (**के०एल० शिन्दे** बनाम **मैसूर राज्य**) (ए०आई०आर० 1976 सु०को० 1080) (**राज्य** बनाम **शिवबासप्पा**) ए०आई०आर० 1963 सु०को० 375)।

उच्चतम न्यायालय ने **ब्रजनन्दन सिन्हा** बनाम **ज्योति नरायण** (ए०आई०आर० 1956 सु०को० 66) मामले में यह निर्णय करते हुए कि क्या लोक सेवक (जांच) अधिनियम, 1850 के अधीन की गई जांच न्यायालय के समक्ष की जाने वाली जांच के समान है, ''न्यायालय'' शब्द के अर्थ पर विस्तार से विचार किया और यह बताया कि ऐसे निकाय को, यदि उसे न्यायालय माना जाता है, निर्णय देने या निश्चयात्मक अभिनिर्णय करने की, जो अन्तिम और प्राधिकारवान हो, जो न्यायिक निर्णय का अनिवार्य पहलु हैं, शक्ति प्राप्त होनी चाहिए।

परन्तु विधि आयोग ने अपनी 69वीं रिपोर्ट में सुसंगत प्राधिकरणों की पुनरीक्षा के पश्चात् महसूस किया कि अनिश्चय की स्थिति को दूर करने के लिए ''न्यायालय'' शब्द को विशिष्ट रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए और यह सुझाव दिया कि ''न्यायालय'' की निम्नलिखित परिभाषा प्रतिस्थापित की जानी चाहिए :

> ''न्यायालय से, कोई सिविल, दाण्डिक या राजस्व न्यायालय अभिप्रेत होगा और इसमें केन्द्रीय प्रान्तीय या राज्य अधिनियम द्वारा या उसके अधीन गठित अधिकरण भी सम्मिलित होगा यदि अधिनियम द्वारा या उसके अधीन इस अधिनियमों के प्रयोजन से उसे न्यायालय घोषित किया गया है परन्तु इसमें कोई मध्यस्थ सम्मिलित नहीं होगा।''

हम इस सुझाव के बारे में विस्तार से विचार करेंगे।

जहां तक ऐसे सिविल न्यायालयों का संबंध है, जिन पर सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 लागू होती है उनके बारे में स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। जहां तक दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 का संबंध है, उसकी धारा 6 में दाण्डिक न्यायालयों (उच्च न्यायालयों तथा संहिता के अतिरिक्त किसी विधि के अधीन गठित न्यायालय सहित) के वर्गों का निर्देश किया गया है, अर्थात् सेशन न्यायालय, न्यायिक मजिस्ट्रेट और कार्यकारी मजिस्ट्रेट। तथापि, जहां तक दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 195 का संबंध है, जो लोक सेवकों के विधिक प्राधिकार की अवमानना के लिए अभियोजन, लोक न्याय के विरुद्ध अपराध और साक्ष्य में प्रस्तुत किए गए दस्तावेजों संबंधी अपराधों के बारे में कार्यवाही से संबंधित है, इसमें धारा 195 के प्रयोजनों के लिए एक विशिष्ट परिभाषा अन्तर्विष्ट है। उसका स्वरूप उसी प्रकार है जैसा कि साक्ष्य अधिनियम में अन्त:स्थापित करने के लिए 69वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इस सिफारिश में किसी अन्य संशोधन की भी अवश्यकता है?

जहां तक राजस्व न्यायालयों का संबंध है, देश में राजस्व न्यायलय बहुत बड़ी संख्या में है। ये अधिकांशत: राज्य विधानमंडलों द्वारा बनाई गई स्थानीय विधियों से शासित होते हैं। इनमें से कुछ विधियों में सिविल न्यायालय को सभी शक्तियां प्रदान कर दी जाती हैं। जबकि कुछ अन्य विधियों में साक्षियों आदि को बुलाने जैसी सीमित शक्तियां प्रदान की जाती है। कुछ न्यायालय संक्षिप्त जांच करते हैं। यहां प्रश्न यह उठता हे कि क्या सभी राजस्व न्यायालय 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुसार साक्ष्य अधिनियम, 1872 के उपबंधों से शासित होने चाहिए।

69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अन्तर्गत वे राजस्व न्यायालय भी आ जाएंगे जिन्हें सीमित शक्तियां प्राप्त होंगी और जो संक्षिप्त प्रक्रिया का अनुपालन करेंगे। इससे गंभीर समस्याएं पैदा हो जाएंगी। जहां स्थानीय विधानमंडल संक्षिप्त प्रक्रिया के अनुपालन द्वारा शीघ्र निर्णय की अपेक्षा करता है वहां राजस्व न्यायालय को साक्ष्य अधिनियम की सभी अपेक्षाओं का पालन करना पड़ेगा। अत: हम यह समझते हैं कि साक्ष्य अधिनियम के प्रयोजनों के लिए न्यायालय की परिभाषा में सभी राजस्व न्यायालयों को सम्मिलित करने की आवश्यकता नहीं है। साक्ष्य अधिनियम के उपबंध लागू होंगे अथवा नहीं इस प्रश्न का समाधान अधिकरण के स्वरूप, अवधारित जांच के स्वरूप और ऐसे प्रत्येक राजस्व न्यायालय की विशिष्टियों पर निर्भर करेगा और राजस्व न्यायालयों के साथ संव्यवहार करने वाले उपयुक्त विधानमंडल या नियम बनाने वाले प्राधिकरण से संबंधित होगा। इसलिए, हम साक्ष्य अधिनियम को सभी राजस्व न्यायालयों पर लागू करने के पक्ष में नहीं हैं। अत: इस संबंध में हमारा मत 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों से भिन्न है।

अब हम अधिकरणों पर अधिनियम के लागू होने के संबंध में 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश को लेते हैं। सिफारिश में कहा गया है कि यदि अधिकरण को शासित करने वाली विशेष विधि में यह अपेक्षा की गई है कि अधिकरण को साक्ष्य अधिनियम के प्रयोजनों के लिए न्यायालय माना जाए, तब यह अधिनियम लागू होगा। परन्तु हमारे विचार से यह इतनी स्पष्ट स्थिति है कि परिभाषा के रूप में इस प्रकार की व्यवस्था करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सच है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 195(3) में धारा 195 के प्रयोजनों के लिए, जो भारतीय दण्ड संहिता के अधीन 'अवमानना' के अपराध के मामले में प्रक्रिया से संबंधित है, ऐसी ही एक परिभाषा विशेषरूप से दी गई है। वहां अवमानना के दाण्डिक परिणामों के कारण विशेष परिभाषा देना आवश्यक था।

परिणामस्वरूप हमारा मत 69वीं रिपोर्ट से भिन्न है और हम सिफारिश करते हैं कि न्यायालय की वर्तमान परिभाषा में कोई संशोधन करने की आवश्यकता नहीं है।

अब हम अन्य शब्दों के बारे में चर्चा करेंगे।

"तथ्य" : धारा 3 के उपबंधों में "तथ्य" शब्द को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है।

"तथ्य" से अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत आती है —

(1) ऐसी कोई वस्तु, वस्तुओं की अवस्था, या वस्तुओं का संबंध जो इंद्रियों द्वारा बोधगम्य हो;

(2) कोई मानसिक दशा, जिसका भान किसी व्यक्ति को हो।'

परिभाषा में (क) से (ङ) तक दृष्टांत दिये गये हैं।

69वीं रिपोर्ट में विस्तार से चर्चा करने के पश्चात् आयोग का विचार था कि इस परिभाषा को और विस्तृत करने की आवश्यकता नहीं है परन्तु यह सुझाव भी दिया गया कि 'और उसके अन्तर्गत आती है' शब्दों को निकाल दिया जाए क्योंकि इनसे भ्रम की स्थिति पैदा होती है।

''साक्ष्य'' के बारे में सरकार (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 542) की टिप्पणी में कहा गया है कि बैंथम ने तथ्यों को ''शारीरिक'', और ''मनोवैज्ञानिक'' दो श्रेणियों में विभाजित किया है। अब यह स्वीकार किया गया है कि किसी व्यक्ति के पाचनक्रिया की स्थिति एक तथ्य है (**सबापथी बनाम हन्टले :**) ए.आई.आर. 1938 पी.सी. 91 भी देखें) दृष्टांत (क), (ख) और (ग) शारीरिक तथ्यों का निर्देश करते हैं और (घ) तथा (ङ) मनोवैज्ञानिक का।

''तथ्य'' शब्द की परिभाषा में प्रयुक्त शब्द ''वस्तु'' का, जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में कहा गया है, ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी में, जो कार्य, भाषण या विचार से संबधित है— 'वह जो देखने, जानने या विचारने की कोई वस्तु होने, अस्तित्व है या किसी रूप में हो सकती है।

फिप्सन के साक्ष्य (15वां संस्करण 2000) में कहा गया है (देखें पैरा 1.04)

'' 'तथ्य' शब्द की कोई संतोषप्रद परिभाषा नहीं है और न ही की जा सकती है। मोटे तौर पर जिसका अनुभव या संज्ञान किया जा सके वह तथ्य होता है। परन्तु कानूनीतौर पर सामान्यतया कभी मत के आधार पर और कभी प्रमाण तथा दस्तावेजों के आधार पर इसमें विधि से अन्तर करना होता है। निरन्तर रूप से इन अन्तरों को सदैव बनाए रखना संभव नहीं है।''

क्योंकि 'तथ्य' शब्द की वर्तमान परिभाषा से कोई विधिक कठिनाई पैदा नहीं हुई है और इस बात को ध्यान में रखते हुए कि ''तथ्य'' शब्द शारीरिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निर्देश करता है और इसकी कोई अकाट्य की परिभाषा नहीं दी जा सकती—आयोग का विचार है कि किसी संशोधन या स्पटीकरण की आवश्यकता नहीं है तथा आयोग की 69वीं, रिपोर्ट से इस संबध में असंहमत है कि ''और उसके अन्तर्गत आती है'' शब्द निकाल दिए जाने चाहिए। परन्तु दूसरी ओर सिफारिश करता है कि ''अभिप्रेत है और'' शब्द निकाल दिये जाने चाहिए।

''सुसंगत'' : अधिनियम में ''सुसंगत'' शब्द को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है :

'' 'सुसंगत'—एक तथ्य दूसरे तथ्य से सुसंगत कहा जाता है और जबकि सुसंगत से संबंधित इस अधिनियम के उपबंधों में निर्दिष्ट प्रकारों में से किसी भी प्रकार से वह तथ्य उस दूसरे तथ्य से संसक्त हो।''

दूसरे शब्दों में एक तथ्य दूसरे से सुसंगत है यदि वह धारा 6 से धारा 55 तक में वर्णित रूप में किसी भी प्रकार से संसक्त है। धारा 5 में कहा गया है कि ''विवाद्यक तथ्यों'' को भी परिभाषित किया गया है। अधिनियम में ''साक्ष्य'' को ''मौखिक तथा दस्तावेजी'' के रूप में परिभाषित किया गया है।

इनके साथ ही ऐसे भी तथ्य हैं जो ग्राह्य नहीं होते, साक्ष्य नहीं दिया जा सकता यद्यपि वे सुसंगत होते हैं— जैसेकि धारा 122, धारा 123, धारा 126 और धारा 127 में निर्देशित है। इससे ग्राह्यता की अवधारणा सामने आती है।

इसके अतिरिक्त, धारा 24, धारा 29, धारा 43, धारा 52, धारा 54 और धारा 165 में ''आसंगत'' शब्द आया है।

धारा 11 में ऐसी परिस्थितियों का निर्देश किया गया है जब तथ्य अन्यथा सुसंगत नहीं होते, सुसंगत हो जाते हैं।

फिप्सन (15वां संस्करण, 2000, पैरा 6.09) ने कहा है कि स्टीफन ने अपनी पुस्तक डाइजैस्ट में ''सुसंगत'' को पहिले कारण और प्रभाव की दृष्टि से परिभाषित किया (अब धारा 7 में) परन्तु बाद में अनुच्छेद 1 में ''सुसंगति'' को एक ऐसे तथ्य के रूप में परिभाषित किया जो अन्य के साथ मिलकर दूसरे के भूत, वर्तमान और भविष्य के अस्तित्व या अनस्तित्व को साबित करता है या अधिसंभाव्य बनाता है। भारतीय अधिनियम में ''साबित'' या ''अधिसंभाव्य'' बनाता है कि अवधारणा का प्रयोग धारा 3 में ''साबित'' की परिभाषा में और धारा 11 की उपधारा (2) में असंगत तथ्यों की चर्चा में किया गया है।

हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं और यह नहीं समझते कि ''सुसंगत'' शब्द की परिभाषा में इसे ''साबित'' शब्द के साथ जोड़कर या अन्य तथ्यों को अधिसम्भाव्य बताते हुए संशोधन किया जाना चाहिए क्योंकि यह अवधारणा धारा 3 में ''साबित'' शब्द की परिभाषा में पहले ही समाविष्ट है।

विवाद्यक तथ्य :

69वीं रिपोर्ट (देखें पैरा 6.51) में यह कहा गया था कि ये शब्द धारा 5, धारा 6, धारा 7, धारा 8, धारा 9, धारा 11, धारा 17, धारा 21 [दृष्टांत (घ)] और धारा 33, धारा 36, धारा 43 और ''विवाद्यक प्रश्न'' शब्द धारा 33 में आए हैं जबकि ''विवाद्यक मामले'' शब्द धारा 132 में आए हैं और आयोग ने इन शब्दों के तथा परिभाषा में आए ''और उसके अंतर्गत आती है'' शब्दों का लोप करने की सिफारिश की है।

इसके अतिरिक्त, सिविल मामलों में विवाद्यक तथ्यों के बारे में निर्णय सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 14 के नियम 1 से नियम 7 में उपबंधित व्यवस्था के अनुरूप और आपराधिक मामलों में आरोप विवाद्यक तथ्यों से बनता है और ये उसमें सम्मिलित होते हैं (दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 का अध्याय सत्रह) (साक्ष्य, 15वां संस्करण 1999, पृष्ठ 43, सरकार द्वारा रचित)।

हम इस बारे में 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश से सहमत हैं और किसी ठोस संशोधन की आवश्यकता नहीं समझते और यह कि केवल ''और उनके अन्तर्गत आती है'' शब्दों का लोप किया जाना आवश्यक है।

दस्तावेज :

''दस्तावेज'' शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है : ''दस्तावेज'' से ऐसा कोई विषय अभिप्रेत है जिसकी किसी पदार्थ उन अक्षरों, अंकों या चिन्हों के साधन द्वारा या उसमें से एक से अधिक साधनों द्वारा अभिव्यक्त या वर्णित किया गया है जो विषय के अभिलेखन के प्रयोजन से उपयोग किए जाने को आशयित हो या उपयोग किया जा सके।

इस परिभाषा में इलैक्ट्रानिक अभिलेख सहित सभी प्रकार के दस्तावेज आ जाते हैं। मामले का अभिलेख एक बात है और अर्थ निकालना दूसरी बात है। परिभाषा में कतिपय दृष्टांत भी दिए गए हैं।

ब्रिटेन के सिविल साक्ष्य अधिनियम, 1995 की धारा 13 के अधीन दस्तावेज से अभिप्रेत है ''कोई चीज जिसमें किसी भी प्रकार की सूचना अभिलिखित की जाती है'' और यह अर्थ सिविल कार्यवाहियों में अनुश्रुति नियम (1993) सं. 216 पर ब्रिटिश विधि आयोग की रिपोर्ट में की गई सिफारिश के कार्यान्वयन में लिया गया। अब हम दस्तावेज शब्द के अर्थ के बारे में हाल ही के कतिपय इंग्लिश अभिनिर्णयों का निर्देश करेंगे। सिनेमैसेग्राफ फिल्म (**सीनियर** बनाम **होल्डसवर्थ**) 1975 (2) ए.एल.एल.ई. आर. (009); फोटोग्राफी, वीडियोटैप्स, ऑडियोटेप्स (**आर** बनाम **स्टीवैंसन**) (1971) 1 डब्ल्यू.एल.आर. 1, आर. बनाम **राबसन** 1972(1) डब्ल्यू.एल.आर. 651, **ग्रांट** बनाम **साउथ वैस्टर्न और काउंटी प्रोपर्टीज** 1975, सी. एच. 185; माईक्रोडोटस् या टेपरिकार्डिंग, टेलीफोन कनवर्सेशसन (उपर्युक्त ग्रांट वाला मामला, टेलीविजन फिल्म) (**सीनियर** बनाम **होल्डस्वर्थ**), एक्स.पी. इन्डिपेंडेंट टेलिवीजन न्यूज लिमिटेड) (1976 क्यू.बी. 23); फाकसिमलि ट्रोन्समिशनस् (**हैस्टी और जैंकरसन** बनाम **मैकमोहन**) 1990, 1 डब्ल्यू.एल.आर. 1575; कम्प्यूटर डेटाबेस रिकार्डिंग इन बैकअप्स आर फाइल्स् (**डर्बी** बनाम **चैल्डन**) (सं. 9) 1991, 1 डब्ल्यू. एल. आर. 652, दस्तावेज के रूप में अभिनिर्धारित किए गए हैं।

कम्प्यूटर डेटाबेस संबंधित **डर्बी** के मामले में न्यायमूर्ति बेंलाट ने **बैनीफिशयल फाईनेंस कारपोरेशन** बनाम **कन्वे** 1976 वी.आर. 321 मामले में न्यायमूर्ति मैक इनर्नी के इस दृष्टिकोण से भिन्न अभिमत व्यक्त किया कि कोई दस्तावेज दृष्टव्य होना चाहिए परन्तु यह अभिनिर्धारित किया कि आंखों से देखा जाना आवश्यक नहीं है। विद्वत न्यायाधीश ने ग्रान्ट के मामले में न्यायमूर्ति वाल्टन से सहमति व्यक्त करते हुए कहा कि शार्टहैन्ड तथा ''की'' से पूरे लिखे जाने वाले शब्दों के बारे में भी स्थिति वही है। उन्होंने अभिनिर्धारित किया :

> ''किसी सूचना या जानकारी का आशय निकालने के लिए कि लिखत की आवश्यकता के दखल मात्र से सिद्धांत रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कोई मुकदमेबांज जो अपने सभी दस्तावेजों को माईक्रोडाट रूप में रखता है, उनके प्रकटीकरण से नहीं बच सकेगा (आर.एस.सी. आदेश 24 के अधीन) क्योंकि सूचना या जानकारी को पढ़ने के लिए अत्यंत शक्तिशाली माईक्रोस्कोपी के अन्य नवीनतम उपकरणों की आवश्यकता पड़ेगी। यदि उसने इन्हें माइक्रोफिल्म के रूप में रखा है जो प्रोजेक्टर की सहायता के बिना नहीं पढ़े जा सकेंगे, तो भी स्थिति वही होगी।''

विद्वत न्यायाधीश ने टिप्पणी की :

> ''मैं सिद्धान्त के कथन को सादर स्वीकार करता हूं। मेरे विचार में ऐसे टेप और डिस्क के लिए लागू होनी चाहिए जिस पर साधारण शब्द प्रसंस्करण (वर्ड प्रोसेसर) के माध्यम से सामग्री एकत्र करके रखी जाती है। अधिकांश कारोबार में प्रेषित किए जाने वाले पत्र की कार्बन प्रतियों के रूप में फाइलों में रखी जाती है।''

इलैक्ट्रॉनिक डायरी भी एक दस्तावेज है—**रोल्लो** बनाम **एच.एम. एडवोकेट** 1997 एस.एल.टी. 958। कोई बात नहीं कि अनुवाद के रूप में इलैक्ट्रोनिक माध्यम से उसे पुनः प्राप्त करना पड़े। कम्प्यूटर का प्रिन्ट आऊट भी दस्तावेज है, **आर.** बनाम **स्पीबी** (1990) 91 क्रि.ए.आर. 186 ऐ; **पब्लिक प्रासीक्यूटर** बनाम **आगम हुआत** 1991 (1) मले. एल.जे. पृष्ठ 1 ।

यहां हमें ''एवीडेंस एक्टस् एण्ड मैटीरियलस्'' 1997 में पृष्ठ 149 पर स्टीव ऊग्लो की यह टिप्पणी स्वीकार कर लेनी चाहिए कि यदि दस्तावेज की परिभाषा का विस्तार होता है तो उसकी प्रमाणिकता सिद्ध करने की कठिनाई भी बढ़ जाती है। जहां कम्प्यूटरजन्य सूचना या जानकारी को अन्य अभिलेखों के समान समझा जाना चाहिए वहां उसकी प्रमाणिकता उसकी विश्वसनीयता पर निर्भर रह सकेगी और पक्षकारों को उनकी अपनी कम्प्यूटर प्रणाली की सुरक्षा के बारे में जानकारी देने की आवश्यकता होगी।

इलैक्ट्रोनिक रिकार्ड द्वितीयिक साक्ष्य है (देखें अधिनियम 21/2000 द्वारा अन्तःस्थापित धारा 65ख)। जहां किसी दस्तावेज को मूल रूप में प्रस्तुत किया जा सकता वहां उसकी विषय-वस्तु का द्वितीयिक साक्ष्य ग्राह्य होगा। जब से, जब कभी न्यायालय में कोई दस्तावेज साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब उसकी विषय-वस्तु का निर्देश करने से पहले मौलिकता सुनिश्चित करनी होती है, इलैक्ट्रोनिक रिकार्ड की प्रमाणिकता केवल धारा 65ख की अपेक्षाओं के पूरा हो जाने पर ही सिद्ध करनी होगी। इस मामले में इलैक्ट्रॉनिक रिकार्ड किसी सार्वजनिक दस्तावेज की प्रमाणित प्रति के रूप में उसकी विषय-वस्तु के साक्ष्य के रूप में स्वमेव ही ग्राह्य हो जाता है। इस प्रकार की प्रमाणित प्रति भी द्वितीयिक साक्ष्य है; परन्तु धारा 77 और धारा 79 के कारण यह प्राथमिक साक्ष्य के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

उच्चतम न्यायालय ने **जियाउद्दीन** बनाम **ब्रजमोहन** (ए.आई.आर. 1975 सु.को. 1788) में अभिनिर्धारित किया कि टेप रिकार्ड एक ऐसा दस्तावेज है जो फोटोग्राफ से भिन्न नहीं है। तथापि, उसकी ग्राह्यता के बारे में स्थिति भिन्न हो सकती है।

साधारण खण्ड अधिनियम के बारे में विधि आयोग ने अपनी 60वीं रिपोर्ट के पैरा 3.40 में, साधारण खण्ड अधिनियम की धारा 3(18) में ''दस्तावेज'' की निम्नलिखित संशोधित परिभाषा की सिफारिश की है :

> '' 'दस्तावेज' के अन्तर्गत आएगा कोई भी पदार्थ जिस पर, शब्दों, अंकों या चिन्हों या किसी अन्य माध्यम से या इनमें से एक से अधिक माध्यमों द्वारा, लिखित, अंभिव्यक्त, अन्तर्लिखित, वर्णित या अन्यथा अभिलिखित कोई भी विषय जिसका उसे अभिलेखन प्रयोजन से उपयोग किया जाना आशयित है या जिसे उपयोग किया जा सके।''

स्पष्टीकरण : यह तत्वहीन है कि शब्द, अंक या चिन्ह किस माध्यम से प्रारूपित किए गए हैं।

(60वीं रिपोर्ट की यह सिफारिश 69वीं रिपोर्ट के पैरा 6.36 में उद्धृत की गई है)

आयोग ने अपनी 69वीं रिपोर्ट के पैरा 6.36 और 6.37 में साक्ष्य अधिनियम की धारा 3 के लिए इसी प्रकार की परिभाषा की सिफारिश की है।

प्रौद्योगिकी में हुए विकास को ध्यान में रखते हुए हम उपर्युक्त प्रस्ताव से सहमत हैं और स्पष्टीकरण संशोधित रूप में अन्त:स्थापित किए जाने की सिफारिश करते हैं। सिफारिश की जाती है कि दस्तावेज की परिभाषा निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित की जाए :—

"'दस्तावेज' के अन्तर्गत आएगा कोई भी पदार्थ जिस पर, शब्दों, अंकों या चिन्हों या किसी अन्य माध्यम से या इनमें से एक से अधिक माध्यमों द्वारा, लिखित, अभिव्यक्त, अन्तर्लिखित, वर्णित या अन्यथा अभिलिखित कोई भी विषय जिसका उसे अभिलेखन प्रयोजन से उपयोग किया जाना आशयित है या जिसे उपयोग किया जा सके।"

स्पष्टीकरण : यह तत्वहीन समझा जाएगा कि शब्द, अंक या चिन्ह किस माध्यम से प्रारूपित, स्पष्ट या पुन: अभिप्राप्त किए गए हैं।

साक्ष्य

अधिनियम की धारा 3 में 'साक्ष्य' शब्द को परिभाषित किया गया है इसमें कहा गया है कि शब्द से अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत आते हैं—

(1) वे सभी कथन जिनके जांचाधीन तथ्य के विषय के संबंध में न्यायालय अपने सामने साक्षियों द्वारा किए जाने की अनुज्ञा देता है, या अपेक्षा करता है; ऐसे कथन मौखिक साक्ष्य कहलाते हैं;

(2) न्यायालय के निरीक्षण के लिए पेश किए गए सभी दस्तावेज; ऐसे दस्तावेज दस्तावेजी साक्ष्य कहलाते हैं।

69वीं रिपोर्ट में यह टिप्पणी की गई है (देखें पैरा 6.38) कि परिभाषा विस्तृत नहीं है। चर्चा के उपरान्त पैरा 6.46 में यह कहा गया कि परिभाषा में कोई संशोधन अपेक्षित नहीं है क्योंकि सारवान पदार्थ स्व या स्थानीय निरीक्षण से पता चले तथ्य जैसे अन्य साक्ष्य पूर्णतया "साबित" शब्द के और धारा 60 के दूसरे परन्तुक के अंतर्गत आ जाते हैं।

सरकार ने अपने साक्ष्य (15वां संस्करण, पृष्ठ 48) में कहा गया है कि अधिनियम में दिया गया "साक्ष्य" शब्द का अर्थ पूर्ण नहीं है। तथापि, वेणा सारथी ने साक्ष्य पर अपनी पुस्तक (5वां संस्करण 2002, पैरा 12.26) में यह मत व्यक्त किया है कि साक्ष्य अधिनियम के अंतर्गत सभी प्रकार के साक्ष्य अधिनियम द्वारा शासित होते हैं।

69वीं रिपोर्ट तथा सरकार की टिप्पणी दोनों ही में मौखिक साक्ष्य, दस्तावेजी साक्ष्य, वास्तविक और व्यैक्तिक साक्ष्य, मूल तथा गैर मूल साक्ष्य आदि का निर्देश किया गया है। परन्तु फिर भी 69वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है कि किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

हम इस बात से सहमत है कि "साक्ष्य" शब्द की परिभाषा विस्तृत नहीं है। परंतु उस परिप्रेक्ष्य में, "अभिप्रेत है" शब्द रहने देने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा यह विचार है कि यदि हम इसके अर्थ का विस्तार नहीं करते हैं तो हमें कम से कम "अभिप्रेत है और" शब्द परिभाषा से निकाल देने चाहिएं। हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

साबित :

इस शब्द पर ''नासाबित'' तथा ''साबित नहीं हुआ'' शब्दों के साथ ही विचार करेंगे। धारा 3 में ''साबित'' शब्द निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है :

> ''साबित''—कोई तथ्य साबित हुआ कहा जाता है जब न्यायालय अपने समक्ष के विषयों पर विचार करने के पश्चात् या तो यह विश्वास करें कि उस तथ्य का अस्तित्व है या उस तथ्य के अस्तित्व को इतना अधीसम्भाव्य समझे कि उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियों में किसी प्रज्ञावान व्यक्ति को इस अनुमान पर कार्य करना चाहिए कि उस तथ्य का अस्तित्व है।''

नासाबित : ''नासाबित'' शब्द को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है :

> ''नासाबित''—कोई शब्द नासाबित हुआ कहा जाता है जब न्यायालय अपने समक्ष विषयों पर विचार करने के पश्चात् या तो यह विश्वास करें कि उस तथ्य का अस्तित्व नहीं है या उसके अस्तित्व को इतना अधीसम्भाव्य समझे कि उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियों में किसी प्रज्ञावान व्यक्ति को इस अनुमान पर कार्य करना चाहिए कि उस तथ्य का अस्तित्व नहीं है।''

''साबित नहीं हुआ'' : इन शब्दों को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है :

> ''साबित नहीं हुआ''—कोई तथ्य साबित नहीं हुआ कहा जाता है जब न तो वह साबित किया गया हो और न ही नासाबित''

इन तीनों परिभाषाओं में तथ्यों के अस्तित्व या अनस्तित्व की अधिसंभाव्यता के बारे में प्रज्ञावान व्यक्ति के दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया है।

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 6.54 से 6.56 तक) किसी संशोधन की सिफारिश नहीं की गई है।

अब हम इन शब्दों के संदर्भ में ''सुसंगत'' कतिपय पहलुओं पर विचार करेंगे।

बहुत से निर्णयों में, उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि कोई तथ्य ''संदेह'' अथवा ''अनुमान'' मात्र के आधार पर साबित नहीं माना जा सकता।

हम यह कहना चाहेंगे कि ''उसके समक्ष विषय'' शब्दों के अंतर्गत न्यायालय मौखिक तथा दस्तावेजी साक्ष्य, परिस्थितियों, पदार्थों, नक्शों तथा स्थानीय निरीक्षण से ज्ञात अन्य सामग्रियों को भी सम्मिलित करेगा।

यहां एक अन्य पहलू सबूत की प्रमाणिकता से संबंधित है। आपराधिक मामलों में, सामान्यतया सबूत न्यायोचित संदेह से परे होना चाहिए। यह सिद्धान्त सिविल मामलों के लिए लागू नहीं होगा। सिविल मामलों में सबूत अधिसंभाव्यताओं के संतुलन पर आधारित होता है। लार्ड डैनिंग ने **बेटर बनाम बेटर** 1950 (2) ए.एल.एल-ई.आर. 458 मामले में कहा कि इतने पर भी, प्रमाणिकता के अन्य सबूत की, सिविल तथा आपराधिक दोनों प्रकार के मामलों में, भिन्न श्रेणियां भी हो सकती हैं।

यह मामला हमारे न्यायालयों ने अनावश्यक रूप से जटिल बना दिया है।

सर जेम्स स्टीफन ने तीनों अभिव्यक्तियों, साबित, नासाबित तथा साबित नहीं हुआ, की परिभाषा के लिए एक साधारण फार्मूला सुझाया है। सिविल मामलों में, तथ्यों के सामान्यतया दो रूप होते हैं। न्यायालय अपने समक्ष दिए गए साक्ष्य के आधार पर, उस रूप का चयन करता है जिसे वह अधिक अधिसंभाव्य मानता है, अर्थात्, वह उस रूप को स्वीकार करेगा जिस पर कोई प्रज्ञावान व्यक्ति तथ्य के अस्तित्व में होने के अनुमान के आधार पर कार्य करेगा। यदि प्रतिवादी ने इस बारे में अपना कोई पक्ष

नहीं रखा है तब यह मानते हुए कि तथ्य के बारे में वादी के पक्ष का अस्तित्व है, न्यायालय उस पर विचार कर सकेगा। कल्पनीय मामलों में दोनों रूपों को मिथ्या मानकर खारिज कर सकेगा।

परन्तु किसी आपराधिक मामले में, प्रतिवादी का कोई पक्ष हो अथवा नहीं, न्यायालय इस बात से संतुष्ट होना चाहिए कि कोई न्यायोचित वैकल्पिक वर्णन संभव नहीं है क्योंकि, यदि यह संभव है, तो एक प्रज्ञावान व्यक्ति इस अनुमान पर कार्य नहीं करेगा कि अभियोजन पक्ष का वर्णन उपलब्ध है। वह तथ्य के वैकल्पिक वर्णन के अस्तित्व के अनुमान पर कार्य करेगा। परन्तु साक्ष्य अधिनियम की धारा 105 तथा धारा 106 के अंतर्गत आने वाले मामलों में, यद्यपि, सबूत का दायित्व प्रत्यक्षतः अभियुक्त पर होता है, तो अभियोजन द्वारा दिए गए साक्ष्य अभियुक्त के पक्ष में है तो प्रज्ञावान व्यक्ति केवल अभियोजन पक्ष के कथन के अस्तित्व के अनुमान पर कार्य नहीं करेगा अपितु अभियुक्त के पक्षधर कथन के अस्तित्व के अनुमान पर।

किशनचंद मंगल बनाम **राजस्थान राज्य** ए.आई.आर. 1982 सु.को. 1511 में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि किसी तथ्य का सबूत इस बात पर निर्भर नहीं करता कि साक्षी धनी है अथवा निर्धन।

सबूत की अधिसंभाव्यता किस कोटि की है और उसकी मात्रा क्या है, इसके मूल्यांकन में निश्चित रूप में व्यक्तिनिष्ट तत्व निहित रहता है। न्याय संबंधी अधिसंभाव्यता न्यायाधीश के पुष्ट सामान्य ज्ञान और अन्ततः सुदृढ़ अंतर्प्रज्ञा पर निर्भर होनी चाहिए (**उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **किशन गोपाल** ए.आई.आर. 1988 सु.को. 2154)।

फिप्सन के साक्ष्य (2000, 15वां संस्करण, पृष्ठ 1) में "**सबूत**" का न्यायालय की संतुष्टि के लिए न्यायोचित विधिक माध्यम से तथ्यों की स्थापना के रूप में निर्देश किया गया है। "नासाबित किया जाना" इस भाव के अंतर्गत आता है।

ये विचार सुसंगत है परन्तु इन्हें इन शब्दों की परिभाषाओं में अन्तःस्थापित करने की आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त चर्चा तथा 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों की दृष्टि से हमारे विचार से "साबित", "नासाबित" या "साबित नहीं हुआ" शब्दों के बारे में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

भारत :

इस परिभाषा के संबंध में किसी उपांतरण की आवश्यकता नहीं है।

'प्रमाणकर्ता प्राधिकारी', 'डिजिटल हस्ताक्षर', 'डिजिटल हस्ताक्षर प्रमाण-पत्र', 'इलैक्ट्रानिक स्वरूप', 'इलैक्ट्रोनिक अभिलेख', 'सूचना', 'इलैक्ट्रानिक अभिलेख प्राप्त करना', 'डिजिटल हस्ताक्षर लेना', 'उपभोक्ता'

उपर्युक्त शब्द हाल ही में सूचना तथा प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 की धारा 2(1) में आए हैं और किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

अन्य परिभाषाएं—यदि जोड़ी जानी हैं ?

69वीं रिपोर्ट (देखें पैरा 6.81) में यह सुझाव दिया गया था कि न्यायिक कार्यवाहियों को परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आयोग "न्यायालय" शब्द के अर्थ में संशोधन की सिफारिश कर रहा है।

यह बताया गया था कि जहां तक दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1882 (देखें पैरा 6.46) का संबंध है, न्यायिक कार्यवाही को धारा 4(घ) में और 1973 के अधिनियम की धारा 2(1) में पभिाषित किया गया था परन्तु जहां तक भारतीय दण्ड संहिता का संबंध है, न्यायालय परिभाषा के प्रयास से विरत रहे हैं (देखें पैरा 6.68)। यह कहा गया कि इस अभिव्यक्ति को सिविल प्रक्रिया संहिता में परिभाषित नहीं किया गया है। पैरा 6.81 में कहा गया कि यदि इस शब्द की परिभाषा की आवश्यकता समझी जाए

''न्याय प्रशासन के कृत्य'' पर बल दिया जाना चाहिए और इसको (यदि आवश्यक समझा जाए) निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया जा सकेगा :

''न्यायिक कार्यवाही से अभिप्रेत है न्यायिक प्रशासन में विधि के अनुसार की गई कोई कार्यवाही जिसमें वाद में या निर्णय के लिए किसी आवश्यक प्रश्न या ऐसे विषय के अन्तिम रूप से निपटान के लिए विवाद्यक विषय के निर्णय के लिए साक्ष्य विधिक रूप में अभिलिखित किया जाएगा।''

यह बात नोट की जा सकती है कि अन्ततः 69वीं रिपोर्ट में 'न्यायिक कार्यवाही' की किसी परिभाषा की सिफारिश नहीं की गई है क्योंकि न्यायालय शब्द की परिभाषा का विस्तार करने की सिफारिश की गई थी (देखें पैरा 6.81)। परन्तु जैसाकि पहले बताया जा चुका है, हमारा न्यायालय शब्द की परिभाषा के लिए इस सिफारिश से थोड़ा मतभेद है और इसका कारण हम पहले ही बता चुके हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या 'न्यायिक कार्यवाही' शब्दों की परिभाषा अन्तःस्थापित की जानी चाहिए?

यह उल्लेख कर दिए जाने के पश्चात् कि 'न्यायालय' शब्द की परिभाषा अन्तःस्थापित नहीं की जानी चाहिए और यह निर्णय न्यायालय के लिए छोड़ना ही उत्तम होगा कि कोई निकाय न्यायालय है अथवा नहीं, हम ऐसा ही ठीक समझते हैं, इस पहलू का भी विधि के विशिष्ट उपबंधों के आधार पर निर्णय किया जाना आवश्यक होगा। यदि हम 'न्यायिक कार्यवाही' की परिभाषा की सिफारिश करते हैं तो 'न्यायालय' की वर्तमान परिभाषा तथा 'न्यायिक कार्यवाही' की परिभाषा के बीच विवाद पैदा हो सकता है।

ग्राह्य :

69वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है कि ''ग्राह्य'' शब्द को ''साक्ष्य में ग्राह्य'' रूप में परिभाषित किया जाए। हम भी इस सिफारिश से सहमत हैं।

धारा 4 :

धारा 4 में ''उपधारण कर सकेगा'', ''उपधारण करेगा'' और ''निश्चायक सबूत'' शब्द परिभाषित किए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट में धारा 4 के संशोधन के लिए कोई सिफारिश नहीं की गई है। हमारा भी यही विचार है कि किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 5 :

अधिनियम की धारा 5 को ''<u>विवाद्यक तथ्यों और सुसंगत तथ्यों का साक्ष्य दिया जा सकेगा</u>'' शीर्षक दिया गया है और इसका पाठ निम्नलिखित है :

''**धारा 5 :** किसी वाद या कार्यवाही में हर विवाद्यक तथ्य के और ऐसे अन्य तथ्यों के, जिन्हें एतस्मिन पश्चात् सुसंगत घोषित किया गया है, अस्तित्व या अनस्तित्व का साक्ष्य दिया जा सकेगा और किन्हीं अन्यों का नहीं।

<u>स्पष्टीकरण</u> : यह धारा किसी व्यक्ति को ऐसे तथ्य का साक्ष्य देने के लिए योग्य नहीं बनाएगी, जिसमें सिविल प्रक्रिया से संबंधित तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के किसी उपबंध द्वारा यह साबित करने से निर्हर कर दिया गया है।''

69वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी कि स्पष्टीकरण में, ''सिविल प्रक्रिया से संबंधित तत्समय प्रवृत्त किसी विधि'' शब्दों के स्थान पर ''सिविल प्रक्रिया संहिता'' शब्द प्रतिस्थापित किए जा सकेंगे और जहां तक ऐसे क्षेत्रों का संबंध है जहां संहिता लागू नहीं होती है, उपर्युक्त शब्द प्रतिस्थापित किए जा सकते हैं।

स्पष्टीकरण, स्पष्टतया सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 7, आदेश 14, आदेश 18 और आदेश 13 के नियम 1, आदेश 141 और आदेश 27 के लिए निर्देशित है। हम, जहां तक स्पष्टीकरण का संबंध है, इस सिफारिश से सहमत नहीं हैं क्योंकि साक्ष्य अधिनियम, 1872 जम्मू और कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होता है।

धारा 6 :

धारा 6 का पाठ निम्नलिखित है :

"**धारा 6** : एक ही संव्यवहार के भाग होने वाले तथ्यों की सुसंगति—**जो** तथ्य विवाद्यक न होते हुए भी किसी विवाद्यक तथ्य से उस प्रकार संसक्त है कि वे एक ही संव्यहार के भाग हैं, वे तथ्य सुसंगत हैं, चाहे वे उसी समय और उसी स्थान पर या विभिन्न समयों और स्थानों पर घटित हुए हों।"

धारा के नीचे कतिपय दृष्टांत भी दिए गए हैं।

धारा में कहा गया है कि जब तथ्य यद्यपि विवाद्यक नहीं होते सुसंगत तथ्य हो जाते हैं।

69वीं रिपोर्ट में, विस्तृत चर्चा के पश्चात्, यह कहा गया है (देखें पैरा 7.40) कि किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

यह धारा, अन्य के साथ, जो सामान्यतया **संबंधित तथ्य और कार्य** जाने जाते हैं, के बारे में साक्ष्य की ग्राह्यता के नियम का निर्देश करती है। यह अनुश्रुत नियम का एक अपवाद है क्योंकि सुने गए तथ्य एक ही संव्यवहार के भाग होने के रूप में सुसंगत होते हैं।

जैसाकि सरकार (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 155) ने अपनी टिप्पणी में कहा है, मामले से सुसंगत तथ्य (संबंधित तथ्य और कार्य) अधिनियम में निम्न प्रकार से रखे गए हैं :

(1) विवाद्यक तथ्यों से संसक्त वस्तुएं—प्रसंग, हेतुक, परिणाम, हेतु आचरण आदि एक ही संव्यवहार का अंग है। (धारा 6-16)

(2) उसके विषय में कही गई बातें अर्थात् स्वीकृतियां, संस्वीकृतियां (धारा 17-31)

(3) जिन्हें साक्षियों के रूप में नहीं बुलाया जाता, उनके कथन (धारा 32-33)

(4) विशेष परिस्थितियों में किए गए कथन (धारा 34-39)

(5) न्यायालयों की डिक्रियां अर्थात् दूसरे मामलों में दिए गए निर्णय (धारा 40-44)

(6) उनके बारे में व्यक्तियों की राय (धारा 45-51)

(7) संबंधित पक्षकारों का शील और ख्याति (धारा 52-55)

धारा में "एक ही संव्यवहार" शब्दों का प्रयोग किया गया है।

"एक ही संव्यवहार" शब्द दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 220 और धारा 223 में और धारा 6 में दृष्टांत (क) में निर्बन्धित भाव से प्रयुक्त किए गए हैं। परन्तु संव्यवहार शब्द धारा 6 में अधिक सामान्य भाव से प्रयुक्त किया गया है।

धारा 6 में सम्मिविष्ट विधि का सिद्धांत सामान्यतया "संबंधित तथ्य और कार्य" के रूप में जाना जाता है। इस सिद्धांत का सार यह है कि कोई तथ्य, जो विवाद्य नहीं है, विवाद्यक तथ्य से इस प्रकार संसक्त है कि वह उसी संव्यवहार का अंग बन जाता है, स्वमेव ही सुसंगत हो जाता है। यह नियम इस सामान्य नियम का अनुश्रुत ग्राह्य नहीं है, अपवाद बन जाता है। धारा 6 के तथ्यों के लिए कतिपय कथन को ग्राह्य बनाने का औचित्य ऐसे कथन की तात्कालिकता और स्वतः प्रवृत्ति है। परन्तु यह

आवश्यक है कि ऐसे तथ्य या कथन एक की संव्यवहार के अंग होने आवश्यक हैं। दूसरे शब्दों में, ऐसे कथन अपराध गठित करने वाले कार्यों के समकालिक हों या कम से कम कार्य के तुरन्त पश्चात् किए गए हों। परन्तु यदि कोई ऐसा अन्तराल होता है जो, चाहे यह कितनी भी अल्पावधि का हो, कथन गढ़ने के लिए पर्याप्त है तो ऐसा कथन **संबंधित तथ्य और कार्य** का अंग नहीं होगा। (**जेनतेला विजवर्दन राव** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य**; ए. आई. आर. 1996 सु. को. 2791)

इस प्रकार, धारा 6 के उपबंधों का न्यायिक निर्णयों में पर्याप्त रूप से स्पष्टीकरण दिया गया है।

हम 69वीं रिपोर्ट में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 6 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 7 : तथ्य जो विवाद्यक तथ्यों के प्रसंग, हेतुक या परिणाम हैं।

धारा का पाठ इस प्रकार है : ''वे तथ्य सुसंगत हैं, जो सुसंगत तथ्यों के या विवाद्यक तथ्यों के अव्यवहित या अन्यथा प्रसंग, हेतु या परिणाम हैं, या जो उस वस्तुस्थिति को गठित करते हैं, जिसके अन्तर्गत वे गठित हुए या जिसने उनके घटने या संव्यवहार का अवसर दिया।''

इस धारा के नीचे तीन दृष्टांत दिए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है (देखें पैरा 7.53) कि धारा 7 में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है।

उच्चतम न्यायालय ने पाया है कि किसी सुसंगत घटना का फोटोग्राफ, सुसंगत बातचीत का कोई समकालिक टेप रिकार्ड धारा 7 और धारा 8 के अधीन ग्राह्य सुसंगत तथ्य है। चुम्बकीय टेप की छाप सुसंगत स्रोत का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार, यदि कोई सुसंगत है तो कथन का सही टेप रिकार्ड भी सुसंगत है और ग्राह्य है (**युसुफ अली** बनाम **राज्य** ए. आई. आर. 1968 सु.को. 147, **आर. एम. मल्कानी** बनाम **राज्य** ए.आई.आर. 1973 सु.को. 157, **जियाउद्दीन** बनाम **ब्रजमोहन** ए.आई.आर. 1975 सु.को. 1788)

प्रमुख मामलों में धारा 7 का पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है। इस धारा में अन्य किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 8 :

धारा 8 में, हेतु, तैयारी और पूर्व के या पश्चात् के आचरण का निर्देश किया गया है। इसमें दो स्पष्टीकरण और दो दृष्टांत दिए गए हैं।

हम धारा 8 और उसमें दिए गए स्पष्टीकरणों का उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

69वीं रिपोर्ट में इस पर विस्तार से चर्चा की गई है और पैरा 7.88 में यह सिफारिश की गई है कि धारा 8 में अधिनियमित विधि में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

हेतुक के विषय में, उच्चतम न्यायालय ने फिर से कहा है कि ''हेतु'' किसी अपराध का पता लगाने में सहायक हो सकता है परन्तु हेतुक का न होना निर्दोषिता का साक्ष्य नहीं है। (देखें **एस.सी. बाहरी** बनाम **बिहार राज्य** ए.आई.आर. 1994 सु.को. 2420)।

हेतु के सुसंगत होने के विषय में 69वीं रिपोर्ट के पश्चात् न्यायालय के द्वारा दिए गए अनेक निर्णय उपलब्ध हैं।

इसी प्रकार, पहले के और पश्चात्वर्ती आचरण से संबंधित अन्य पहलू के विषय में बाद के बहुत से मामले हैं परन्तु विधि में कोई परिवर्तन नहीं है।

हम 69वीं रिपोर्ट की इस सिफारिश से सहमत है कि धारा 8 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु धारा 8 के विषय में चर्चा समाप्त करने से पूर्व हम बलात्कार के पीड़ितों और (2) मौन रहने के अधिकार जैसे दो नए विषयों का निर्देश कर सकेंगे।

(1) बलात्कार पीड़ित के मामले में पीड़ित की शिकायत दृष्टांत (च) और धारा 157 के अधीन सुसंगत है (**रामेश्वर बनाम राज्य ए.आई.आर. 1952 सु.को. 54**)। विलम्ब जैसे अन्य पहलू भी हैं जिनका विभिन्न मामलों में भिन्न महत्व हो सकेगा या नहीं हो सकेगा। (देखें सरकार, साक्ष्य 1999, खंड-I पैरा 196-197)। यह बताया गया है कि इंग्लैण्ड में अभियोक्त्री की शिकायत, यद्यपि अभियुक्त की अनुपस्थिति में की गई, यदि शीघ्रातिशीर्घ की जाती है, सुसंगत है। यह सिद्धांत दण्ड विधि संशोधन अधिनियम, 1885 (48 और 49 विक्त सी 469) के अधीन बलात्कार के पीड़ितों, अश्लील प्रहारों और अन्य ऐसे ही अपराधों के लिए और केवल कथन की विश्वसनीयता या सहमति के तर्क नकारने के प्रयोजन के लिए लागू होता है। अन्य मामलों में पीड़ितों की शिकायतें सुसंगत नहीं हैं। भारत में धारा 8 का उपबंध व्यापक है और सभी शिकायतों का निर्देश करता है। तथापि, शिकायतों और कथनों के बीच अन्तर किया गया है।

धारा 8 के अधीन दृष्टांत (ज) में किसी परिवाद और कथन के बीच अन्तर किया गया है। जहां कथन केवल तभी सुसंगत बताया गया है जब वह धारा 157 के अधीन परिवाद के बारे में संपोषक साक्ष्य हो, दृष्टांत (ज) में यह दर्शाया गया है कि कई परिवाद के तथ्य, जिन परिस्थितियों में तथा जिन शब्दों में की गई, सुसंगत है (<u>अजीज बिन मुहम्मद दीन</u> **बनाम** <u>लोक अभियोजक</u> : (1996) 5 मले. एल.जे. 473 (मेलाका एच.सी.) धारा 8 के नीचे दिए गए दृष्टांत (ज) का पाठ निम्नलिखित है:—

> "(ज) प्रश्न यह है कि क्या "क" के साथ बलात्संग किया गया। यह तथ्य कि अभिकथित बलात्संग के अल्पकाल पश्चात् उसने अपराध के बारे में परिवाद किया, वे परिस्थितियां जिनके अधीन तथा वे शब्द जिनमें वह परिवाद किया गया सुसंगत है।
>
> यह तथ्य कि उसने परिवाद के बिना कहा कि उसके साथ बलात्संग किया गया है, इस धारा के अधीन आचरण के रूप में सुसंगत नहीं है, यद्यपि, वह धारा 32 के खंड (1) के अधीन मृत्युकालिक कथन या धारा 157 के अधीन सम्पोषक साक्ष्य के रूप में सुसंगत हो सकता है।"

<u>पार्वती</u> **बनाम** <u>थीयमलाई</u> 10 मद्रास 334 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि किसी परिवाद और कथन के बीच अन्तर है। एक परिवाद भावनाओं की अभिव्यक्ति है जबकि कथन किसी जानकारी को व्यक्त करता है। सरकार ने अपनी टिप्पणी (1 संस्करण, 1999, पृष्ठ 198) में नारटन पृष्ठ 114 का निर्देश किया है जहां नारटन ने कहा है कि कभी-कभी कथन और परिवाद के बीच अन्तर करने में कठिनाई हो सकती है। परिवाद किसी प्रतितोष या दण्ड के लिए किया जा जाता है। और यह किसी प्राधिकारी से, पुलिस या कोई अन्य व्यक्ति जिससे परिवादकर्ता सहायता या संरक्षण प्राप्त करने का हकदार है, किया जाता है। नारटन के अनुसार अन्तर करना महत्वपूर्ण है क्योंकि <u>जहां परिवाद सदैव सुसंगत होता है,</u> कोई कथन जो परिवाद नहीं हो सकता, केवल विशिष्ट परिस्थितियों में ही सुसंगत हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि यह मृत्युकालिक घोषणा अथवा सम्पोषक साक्ष्य के रूप में उपयोग किया जा सकता है। श्री वी.पी. सारथी ने अपने साक्ष्य (पांचवां संस्करण 2002, पृष्ठ 604) में दृष्टांत (ज) का निर्देश किया है और इंग्लिश विधि तथा भारतीय विधि में अंतर दर्शाते हुए परिवाद और कथन के बीच अन्तर का उल्लेख किया है। लेखक का कहना है कि धारा 27 के अंतर्गत ऐसे कथनों के अध्यधीन जिनसे तथ्यों का पता चले, धारा 8 के अधीन, सुसंगत स्थानों के बारे में जानकारी देने वाले अभियुक्त का आचरण, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 द्वारा अभी भी अपवर्जित हो सकेगा।

जैसा कि बताया जा चुका है, ऊपर निर्देशित इंग्लिश अधिनियम, 1885, यौन अपराधों के परिवादों की सुसंगति के बारे में है। कथनों के बारे में इसमें किसी कार्यवाही का कोई भी उल्लेख नहीं है और भारतीय अधिनियम की धारा 8 बहुत विस्तृत है।

इनके तथा अन्य पहलुओं के बारे में 69वीं रिपोर्ट में विचार किया गया है (पैरा 7.73 से 7.87)। पैरा 7.87 में यह कहा गया था कि अपराधों के बारे में (परिवादों के अतिरिक्त) "कथन" धारा 6, धारा 32, धारा 157, धारा 159 और धारा 143 के अधीन, जब तक कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अधीन अपवर्जित न हो, सुसंगत है। परिवादों के बारे में किए गए कथन जब तक दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अधीन अपवर्जित न हो, सुसंगत है।

पर्याप्त चर्चा के पश्चात्, 69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि धारा 8 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं क्योंकि परिवाद और कथन के बीच अन्तर साक्ष्य विधि के अधीन अभी भी वैद्य है। हम धारा 8 में, जहां तक धारा का संबंध यौन या अन्य अपराधों से भी हो, हम किसी परिवर्तन का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

(2) अगला प्रश्न मौन रहने के अधिकार के बारे में उठता है। इस पहलू पर 69वीं रिपोर्ट के पैरा 6.68 से 7.71 तक में विचार किया गया है। मौन रहने के अधिकार के पीछे निहित दर्शन और **इगन बनाम यू.एस.** 137 एफ 2डी 369(8वां सर्किट)प्रमाण-पत्र इंकार किया गया, (1943) 320 यू.एस. 788 पर पर्याप्त विचार करने के पश्चात आयोग ने पैरा 7.88 में महसूस किया कि किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रश्न पर भारतीय संविधान के अनुच्छेद 20(3), जो किसी व्यक्ति को अपने विरुद्ध साक्षी होने की बाध्यता से रोकता है, के परिप्रेक्षय में विचार करना होगा। इंग्लैण्ड में इस बीच क्रिमनल लॉ रिव्यू कमेटी (कमांड 4991) की 11वीं रिपोर्ट पर आधारित क्रिमनल जस्टीस और पब्लिक आर्डर एक्ट, 1994 और यूथ जस्टीस एण्ड क्रिमनल एवीडेंस एक्ट, 1999-जिसमें **मूरे बनाम यू. के.** (1996) 22 ई. एच. आर. आर 29 मामले में यूरोपीय मानवाधिकार न्यायालय को इस निर्णय को ध्यान में रखा गया है कि यदि ऐसे मामले में विधिक परामर्श प्राप्त करना अस्वीकार किया जाता है तो यूरोपीय कंवेंशन के अनुच्छेद 6 का उल्लंघन होता है, के अधीन सांविधिक परिवर्तन हुए हैं। इस संबंध में संडर्स बनाम यू. के. (1996) 23 ई. एच. आर. आर. 313; कंड्रोम बनाम यू. के. (2001)31 ई. एच. आर. आर.1 और **एब्रील बनाम यू. के.** (2001) 31 ई. एच. आर. आर. 839 भी देखें जहां यूरोपीय न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि पुलिस द्वारा अभियुक्त को किसी अधिवक्ता को बुलाने का अवसर देने की शर्त पालन न किए जाने के कारण अनुच्छेद 6 ई. सी. एच. आर. के अंतर्गत अभियुक्त के अधिकारों का हनन हुआ था।

फिप्सन (2000, 15वां संस्करण, पैरा 32.01 से 32.12 तक) में इन विषयों के बारे में विस्तार से चर्चा हुई है।

विधि आयोग ने मौन रहने के अधिकार के बारे में एक पृथक रिपोर्ट प्रस्तुत की है- देखें विधि आयोग की 180वीं रिपोर्ट।

जैसाकि ऊपर कहा गया है, धारा 8 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 9 :

धारा 9 सुसंगत तथ्यों के स्पष्टीकरण या पुरःस्थापन के लिए आवश्यक तथ्य के बारे में है।

इसका पाठ निम्नलिखित है;

"**धारा 9** :वे तथ्य, जो विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य के स्पष्टीकरण या पुरःस्थापन के लिए आवश्यक है अथवा जो किसी विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य द्वारा इंगित अनुमान का समर्थन या खंडन करते हैं, अथवा जो किसी व्यक्ति या वस्तु की, जिसकी अनन्यता सुसंगत हो, अनन्यता स्थापित करते हैं, अथवा वह समय या स्थान स्थिर करते हैं जब या जहां कोई विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य घटित हुआ अथवा जो उन पक्षकारों का संबंध दर्शित करते हैं जिनके द्वारा ऐसे किसी तथ्य का संव्यवहार किया गया था, वहां तक सुसंगत है जहां तक वे उस प्रयोजन के लिए आवश्यक हों।"

धारा 9 नीचे 6 दृष्टांत दिए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट में, विस्तार से चर्चा करने के पश्चात्, यह कहा गया था (देखें पैरा 7.110) कि आरम्भिक खंड में "तथ्य" शब्द के पश्चात् और "आवश्यक" शब्द से पहले, "जो हैं" शब्द जोड़े जा सकते हैं। इसके सिवाय अन्य किसी उपांतरण की आवश्यकता नहीं है।

1977 की 69वीं रिपोर्ट के पश्चात् उच्चतम न्यायालय के वास्तव में अनेकों ऐसे निर्णय हैं जिनमें धारा 9 में उल्लिखित प्रयोजनों में से किसी न किसी प्रयोजन के लिए धारा 9 पर निर्भर किया गया है।

शनाख्त परेडों के बारे में अत्यधिक प्रमुख मामले उपलब्ध हैं। इंग्लैण्ड में पुलिस और अपराध साक्ष्य अधिनियम, 1984 (देखें पैरा 67) के अधीन व्यवहार संहिता डी जारी की गई है परन्तु यह अभिनिर्धारित किया गया कि इसके उल्लंघन में शनाख्त सदैव अपवर्जित नहीं हो सकेगी और न ही संहिता डी के अधीन शनाख्त सदैव स्वीकार की जानी चाहिए। संहिता डी के अधिकारक्षेत्र से बाहर भी अन्य मामले हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, **आर बनाम टर्नबुल**, 1977 क्यू. बी. 224 (सी ए) में जारी किए गए मार्गनिर्देश इस संबंध में अंतिम समझे जाएंगे। "**टर्नबुल**" के मामले में बीज संबंधी निर्णय है और यहां हमें विधि इसी मामले से उपलब्ध होती है (**आर बनाम मुस्सैलम और डाल्टा**, 1995 कि. एल. आर. 887) (इवांस जे. के अनुसार)। इसके अतिरिक्त, इंग्लैण्ड में पुलिस अपराध साक्ष्य अधिनियम, 1984 की धारा 78 न्यायाधीश को निष्पक्षता के हित में अभियोजन साक्ष्य को अपवर्जित करने की अनुमति देती है और इसका उपयोग विशेषकर उस रीति को नियंत्रित करने के लिए किया गया है जिससे कि परवर्ती शनाख्त की जाएगी।

हमारा "शनाख्त" के बारे में किसी मानक या सावधानी निर्धारित करने का प्रस्ताव नहीं है लेकिन हमारा विचार है कि शनाख्त के बारे में विद्यमान प्रमुख मामले विस्तृत और पर्याप्त हैं (देखें **रामनाथन बनाम तमिलनाडु राज्य** ए. आई. आर. 1978 एस. सी. 1204)।

भारत में यह भी विधि है कि शनाख्त के लिए उपस्थित होने का निर्देश, उंगलियों के निशान या हाथ-पैर आदि की छाप या रक्त के नमूने लेने संबंधी आदेश भारत के संविधान के अनुच्छेद 20(3) के अधीन स्वयं को अपराध में फंसाने वाले नहीं माने जाते हैं (देखें **राज्य बनाम कथिमालू** ए. आई. आर. 1961 एस. सी. 1808)।

फोटोग्राफ, वीडियो आदि द्वारा शनाख्त किए जाने के भी उदाहरण हैं। परन्तु आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1985 की धारा 22 को उच्चतम न्यायालय द्वारा **करतार सिंह बनाम पंजाब राज्य**, 1994 क्रि. एल. जे. 3139 (एस) मामले में संविधान के अनुच्छेद 21 का विरोधी बताते हुए खारिज कर दिया था। उस धारा में घोषित अपराधी अभियुक्त के फोटोग्राफों का निर्देश किया गया है और उसमें कहा गया है कि उक्त फोटोग्राफों का साक्षियों द्वारा शनाख्त के लिए प्रयोग करने का वही महत्व होगा जो शनाख्त परीक्षण का।

वीडियो टेप के माध्यम से अनुमेय है परन्तु यह कि वीडियो स्पष्ट और गुणता वाला है और उस समय है जिस समय अभियुक्त को दिखाया गया था परन्तु इस टेप को महत्व देना न्यायाधीश पर निर्भर करता है जो इसे वीडियो पर भी देख सकेगा। "स्टोर सिक्यूरिटी" केमरा वीडियो टेप का एक मामला कनाडा उच्चतम न्यायालय के समक्ष आया था; **आर बनाम निकोलाविस्की** (1996) 141 डी. एल. आर. (4डी) 647, और उसमें उपरोक्त सिद्धान्त निर्धारित किए थे। फिप्सन कहता है (1999) 15वां संस्करण, पैरा 14.24 कि वीडियो तथा फोटो शनाख्त में टर्नबुल 1977 क्यू. बी. 224) मामले में निर्धारित किए गए परीक्षण पूरे होने चाहिएं।

हाल ही में, **आर बनाम पीपर्सन एण्ड हॉलोवे** (1995)(2) क्रि. एप्रो आर 11 (1ए), साक्ष्य जो कि एक ट्रेकर डोग ने अपराध के स्थान की गंध से किसी व्यक्ति विशेष का पता लगाया था, कुत्ते के प्रशिक्षण और अन्य सावधानियों के सबूत के अधीन ग्राह्य माना गया। **अब्दुल रज्जाक बनाम राज्य** ए. आई. आर. 1970 एस. सी. 283 मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि इसका अधिक महत्व नहीं है। अशोक गांवडे **बनाम गोवा राज्य** 1995 क्रि. एल. जो. 943 (बम्बई); भद्रोन बनाम **केरल राज्य** 1995 क्रि. एल. जे. 679 (केरल); **पांडियन के. नादर बनाम महाराष्ट्र राज्य** 1993 क्रि. एल. जे. 3883 (बम्बई) भी देखें।

राज्य बनाम एस.जे. चौधरी ए.आई. आर. 1996 एस.सी. 149 मामले में विशेषज्ञ द्वारा टंकण की शिनाख्त का विश्वास किया गया था।

(डी.एन.ए. पर चर्चा के लिए धारा 45 और धारा 112 के अधीन हमारी चर्चा भी देखें)। डी.एन.ए.(Deoxyzibo Nucleic Acid) साक्ष्य का विभिन्न प्रकार की शिनाख्त के लिए प्रयोग किया गया है। अंगुलियों के चिन्ह के डी.एन.ए. का तात्पर्य सबूत की इस प्रणाली से है कि संदेहास्पद व्यक्ति का डी.एन.ए. अपराध के स्थान पर पाए गए नमूने के अनुरूप है। इसके लिए दो चीजों की आवश्यकता है (देखें http://www.howstuffworks.com/dna/evidence.htm)।

(i) परमाणु संबंधी जीव विज्ञान प्रोटोकॉल का प्रयोग करके डी.एन.ए. की रूपरेखा तैयार करना;

(ii) गणितीय रूप से अनुरूपता साबित करने के लिए संख्या बोलते हुए जनसंख्या के जन्म संबंधी सिद्धान्तों को लागू करना।

मानव में क्रोमाजोमस् के 23 युग्म होते हैं जिनमें डी.एन.ए. का ब्लू प्रिन्ट अन्तर्विष्ट होता है जो किसी शरीर की रचना तथा उसके चलाने के लिए सभी आवश्यक सामग्री स्पष्ट करता है। प्रत्येक क्रोमोजोम युग्म का एक सदस्य माता से आता है और दूसरा पिता से। शरीर के प्रत्येक सैल में इस डी.एन.ए. की प्रति अन्तर्विष्ट रहती है। जबकि अधिकांश डी.एन.ए. प्रत्येक मानव में भिन्न नहीं होते, लगभग डी.एन.ए. के तीन मिलियन मूल युग्म (समस्त शरीर संरचना का लगभग 0.10%) प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होते हैं। डी.एन.ए. साक्ष्य की कुंजी इन क्रामोजोन वाले क्षेत्रों में जो भिन्न-भिन्न होते हैं, अपराध स्थल पर पाए गए डी.एन.ए. की किसी संदेहास्पद व्यक्ति के डी.एन.ए. के साथ मिलान करने में निहित होती है।

हमें उससे (माप) संबंधित जीव विज्ञान के अध्ययन में नहीं पड़ना चाहिए जो डी.एन.ए. के पीछे निहित है। परन्तु हम यह निर्देश करेंगे कि उसका प्रयोग किस प्रकार किया गया है। न्यायालय में डी.एन.ए. की बात सर्वप्रथम 1985 में सामने आयी। डी.एन.ए. के आधार पर 1988 में पहली बार किसी व्यक्ति को कारावास में भेजा गया। अदालती विज्ञान का यह एक जटिल क्षेत्र है जो सांख्यिकीय भविष्यवाणियों पर निर्भर करता है। मूल प्रक्रिया यह है कि किसी व्यक्ति के डी.एन.ए. पद चिन्हों को अलग रखा जाता है — जिसे आर.एफ.एल.पी. विश्लेषण कहा जाता है। इसके लिए अपेक्षाकृत अधिकतम उच्च श्रेणी के डी.एन.ए. की आवश्यकता होती है।

बहुत से देश अपने नागरिकों के डी.एन.ए. के आंकड़े रखते हैं। डी.एन.ए. के नमूनों का उपयोग डी.एन.ए. प्रोफाइल के साथ मिलान करके और किसी अपराध या अपराध स्थल के साथ संदेहास्पद व्यक्ति को समबद्ध करके (क) अपराध साबित करने के लिए किया जाता है। ब्रिटिश पुलिस के पास 1999 में 7,00,000 से अधिक डेटा बेस प्रोफाइल उपलब्ध थे जिनका वे अपराध स्थल के नमूनों के साथ मिलान करते हैं और एक सप्ताह में 500 से भी अधिक सकारात्मक मिलान प्राप्त हो जाते हैं (ख) निर्दोष व्यक्तियों को विमुक्त करना : अमरीका डी.एन.ए. साक्ष्य का अध्ययन करके लगभग 10% लोगों को मृत्यु दंड से विमुक्त किया गया।

"पैतृक परीक्षण", "पहिचान" और मानव जाति के विकास; पैतृक रोग का अध्ययन करने के लिए डी.एन.ए. बहुत लाभकारी है।

मिलान कार्य भिन्न "लोसी" पर किया जाता है। नए ब्रिटिश टेन-लोसी-टेस्ट में मिलान गलत होने की बहुत कम संभावना रहती है। (स्काटलैण्ड एवरी यूज 9-2-2000) जब आंकड़ों के आधार पर किसी देश या क्षेत्र में विकास होता है तब एक सुदृढ़ सामान्य स्रोत के समर्थन की आवश्यकता के लिए अधिक "लोसी" अपेक्षित होते हैं। बताया गया है कि एफ.बी.आई. 13 "लोसी" परीक्षण करती है जिससे गलत मिलान की संभावना न्यूनतम हो जाती है। इस पहलु पर फिप्सन (2000, 15वां संस्करण, पैरा 14.32) में कहा गया है:

"इस साक्ष्य में किसी प्राणी अनुवंशिकी, जिसका किसी विवाद्यक पहिचान वाले व्यक्ति से प्राप्त होने का विचार किया गया है, और ज्ञात व्यक्ति के प्राणी अनुवंशिकी के नमूने के बीच तुलना अन्तर्ग्रस्त है। यदि नमूने एक समान

नहीं पाए जाते हैं। तब ज्ञात व्यक्ति तथा उस व्यक्ति के बीच जिससे अज्ञात नमूना प्राप्त हुआ है, पहिचान न होना प्रमाणित होता है। यदि नमूनों का मिलान हो जाता है तब भी इससे पहिचान साबित नहीं होती है। कोई विशेषज्ञ डी.एन.ए. के डेटा बेस नमूनों से एक अनुमानित संख्या का अनुमान निकाल सकेगा जो यह दर्शाएगा कि इस प्रकार के डी.एन.ए. प्रोफाइल या अंगुलियों के निशान बहुधा कितने मिलते हैं। उदाहरण के लिए, प्रति 1,00,000 व्यक्तियों में से एक व्यक्ति में सुसंगत प्रोफायल पाया जाता है। इसे यदाकदा पाया जाने वाला अनुपात कहा गया है।

किसी अपराधिक मामले में ज्यूरी के समक्ष ऐसे आंकड़े प्रस्तुत करने में सावधानी बरती जानी चाहिए। विशेषकर "अभियोजन के कुतर्क" से बचना आवश्यक है। आंकड़ों से यह स्थापित नहीं होता कि किसी व्यक्ति की गलत पहिचान हुई है। इसका 1,00,000 में से केवल एक अवसर है। आर बनाम रोअनी एण्ड एडम्स (गारी) 1997(1) क्रि.एल.आर. 369 मामले में अपीलीय न्यायालय ने कहा है कि कोई विशेषज्ञ यदाकदा पाए जाने वाला अनुपात देने संबंधी साक्ष्य को सामान्यतया परिरूद्ध करेगा, और, यदि उसके पास आवश्यक आंकड़े उपलब्ध हैं तो वह दर्शा सकेगा कि समान डी.एन.ए. वाली विशिष्टताओं वाले कितने व्यक्ति ब्रिटेन में या ऐसे सीमित सुसंगत उपवर्ग में पाए जा सकते हैं जिसका दुष्कर्मी का सदस्य होने की पूरी संभावना है। किसी विशेषज्ञ के लिए, अभियुक्त ने अनजाने में जो नमूना छोड़ा है उसकी संभावना का मूल्यांकन करने के लिए सांख्यिकीय दृष्टिकोण प्रतिपादित करना युक्तिसंगत नहीं होगा।"

इंग्लैण्ड में पुलिस तथा अपराध साक्ष्य अधिनियम, 1984 की धारा 62 से संदेहास्पद व्यक्ति के "सही नमूने" (रक्त और अंगुलियों के निशान) प्राप्त करना शासित होता है। यदि कोई अभियुक्त इंकार करता है, तो धारा 62(10) के अधीन इस बात का निर्णय न्यायालय करेगा कि इसका क्या निष्कर्ष निकाला जाए। यू.के. परिवार विधि सुधार अधिनियम, 1969 के भाग तीन में पैतृत्व सुनिश्चित करने के लिए रक्त परीक्षणों के उपयोग के लिए उपबंध अन्तर्विष्ट हैं। यहां भी स्वीकृति न देने पर निष्कर्ष निकालने का प्रावधान है (देखें परिवार विधि सुधार अधिनियम, 1969 की धारा 23)।

पुलिस तथा अपराध साक्ष्य अधिनियम, 1984 की धारा 62(10) में कहा गया है:

"62 (10) : जहां अपराध के लिए किसी व्यक्ति के विरुद्ध की जा रही किसी कार्यवाही में वह व्यक्ति सही नमूना देने हेतु अपनी न्यायोचित स्वीकृति देने से, किसी उचित कारण के बिना, इंकार करता है तो—

(क) न्यायालय यह सुनिश्चित करने में—

(i) क्या उस व्यक्ति के विरुद्ध विचारण आरम्भ किया जाए; या

(ii) क्या उससे उत्तर मांगा जाए; और

(ख) क्या व्यक्ति अपराध का दोषी है यह सुनिश्चित करने के लिए न्यायालय या ज्यूरी इंकार से ऐसे निष्कर्ष निकाल सकेंगे जो उपयुक्त प्रतीत हों और ऐसे निष्कर्षों के आधार पर इंकार करने को ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध जिसके बारे में इंकार महत्वपूर्ण है, किसी साक्ष्य का संपोषक समझा जाएगा।"

एक अन्य मामले में, आर बनाम एडम्स (1996) (2) क्रि.एल. आर. 467, अपीलीय न्यायालय कथित बलात्कार के एक मामले की सुनवाई कर रहा था। राज्य का यह तर्क था कि अपीलार्थी का डी.एन.ए. प्रोफाइल और अपराध स्थल के नमूने का मिलान किया गया और 1% के भीतर समरूपता पाई गई। कम्प्यूटर की गणना ने दर्शाया है कि डी.एन.ए. प्रोफाइल मिलान करने के लिए चुने गए असंबद्ध व्यक्ति के डी.एन.ए. समरूपता 1/297 एम है जिसे पूर्ण बनाकर विचार-विमर्श के हित में इसे 200,000,000 कर दिया गया है। यह गणना प्रोफाइल में पहिचाने गए डी.एन.ए. के 9 बैन्डों पर आधारित है। प्रतिवादी ने प्रो. डनेली की परीक्षा की जिन्होंने सांख्यिकीय अधिसंभाव्यता के बारे में "बेयज़ थ्योरम" का निर्देश किया। परीक्षण न्यायालय ने अभियुक्त को दोषसिद्धि की परन्तु अभियुक्त इस तर्क सहित कि अपराध के समय घटना

स्थल पर नहीं अन्य स्थल पर था, कतिपय अन्य तर्क और साक्ष्य दिए। न्यायालय ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित करते हुए फिर से सुनवाई करने का आदेश दिया :

> ''बेयज थ्योरम अधिसंभाव्यता का गणितीय मूल्यांकन स्थापित करने वाले सांख्यिकीय तथा अन्य विशेषज्ञों के लिए उपयुक्त तथा उपयोगी साधन हो सकते हैं ..... कोई भी थ्योरम साक्ष्य के प्रत्येक पृथक भाग को परिस्थिति और परिस्थिति के बीच अधिसंभाव्यता अनुपात का प्रतिनिधित्व करने वाली संख्या सूचक प्रतिशतता, जो साक्ष्य के विद्यमान होने का प्रमाण होगी, प्रदान करके ही कार्य कर सकती है। प्रतिशतताओं का चयन निर्णय का मामला है जो अनिवार्य है। परन्तु थ्योरम में प्रयुक्त वस्तुनिष्ठ संख्या सूचक आंकड़े निर्णय को, जिस पर पूर्णतया निर्भर है, छिपा सकते हैं। वर्तमान प्रयोजन के लिए और भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिसंभाव्यता के गणितीय या सांख्यिकीय मूल्यांकन के जो भी गुण या दोष हों फिर भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यूरी द्वारा सुनवाई के मामलों में ज्यूरी के कार्य में सहायता माध्यम के रूप में प्रयोग करने के लिए यह उपयुक्त नहीं है।''
>
> सर्वप्रथम तो थ्योरम की व्यवस्था में यह अपेक्षा की गई है कि, जैसाकि हमने बताया है, समग्र फार्मूले में सम्मिहित करने से पूर्व साक्ष्य की प्रत्येक मद का मूल्यांकन अभियुक्त के अपराध से उसके संबंध के अनुसार पृथक रूप से किया जाना चाहिए। हमारे विचार में साक्ष्य के बारे में बहुत कठोर दृष्टिकोण है जिसका ज्यूरी को मूल्यांकन करना पड़ेगा ..... तथापि, और भी अधिक मूलभूत बात यह है कि साक्ष्य की प्रत्येक पृथक मद पर लागू किए जाने वाले गणितीय फार्मूले के आधार पर अपराध या निर्दोषता सुनिश्चित करने का प्रयास ज्यूरी के कार्य के लिए युक्तिसंगत नहीं है ..... किसी विशिष्ट तथ्य के सबूत के रूप में वैज्ञानिक साक्ष्य के साथ की गई छेड़-छाड़ से तथ्य उस सीमा तक स्थापित हो सकेगा जो, किसी विशिष्ट मामले में, थोड़ी संभावना और वास्तविक निश्चितता के बीच अंतर कर सकता है। उदाहरण के लिए, अभियुक्त के कपड़ों पर रक्त के विभिन्न धब्बों के परीक्षण करने पर ''मानव रक्त'' के बारे में कई निष्कर्षों का पता चलता है और उसमें क्षतिग्रस्त व्यक्ति का रक्त होने की अधिक संभावना है। इस प्रकार के साक्ष्य को अपनाई गई प्रणाली तथा अन्यथा के आधार पर चुनौति दी जा सकती है जो साक्ष्य के प्रभाव को कमजोर या कतिपय मामलों में सुदृढ़ कर सकेगा। परन्तु हमने यह कभी नहीं सुना है कि किसी ज्यूरी को ऐसा सुझाव दिया गया हो कि वे ऐसे वैज्ञानिक साक्ष्य तथा अधिसाम्भाव्यता फार्मूले के निर्देश द्वारा किसी अन्य साक्ष्य के बीच संबंध पर विचार करे ..... ज्यूरी के विभिन्न सदस्य भिन्न संख्या सूचक आंकड़ों का चयन करने की इच्छा कर सकते हैं .....!''

न्यायालय की टिप्पण :

> ''किसी आपराधिक मामले में बेयस थ्योरम या अन्य कोई प्रणाली पुर:स्थापित करने से इन सामान्य आपत्तियों से विलग, जैसाकि वर्तमान मामले में स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है, ज्यूरी को उसके न्यायोचित कार्य से विचलित करते हुए, सिद्धान्त और जटिलता की अयुक्तिसंगत और अनावश्यक क्षेत्रों में जाना पड़ेगा।''

क्रि.लॉ रिव्यू (पृष्ठ 464) में लेखक माईक रेडमाइने के लेख ''डाउटस् एण्ड बर्डनस् : डी.एन.ए. एवीडेंस प्रोबबलीटी एण्ड दी कोर्टस्'' शीर्षक के अन्तर्गत 1995 में प्रकाशित लेख में कहा है :

> ''डी.एन.ए. प्रोफाईल की व्याख्या में प्रथम चरण मिलान की घोषणा करना है। यदि दो प्रोफाईल, जिनकी तुलना की जाती है, समरूप नहीं पाए जाते हों, तब संदेहास्पद व्यक्ति को जांच से मुक्त किया जा सकता है।''

हाल ही में प्रकाशित ''एन इंट्रोडक्शन टु फॉरेंसिक डी.एन.ए. एनलेसिस'' (सी आर सी प्रेस1997) और ''प्रिंसिपल्स एण्ड प्रैक्टिस ऑफ क्रिमनीलिस्टिक्स (सी आर सी प्रेस) (देखें http:/www.forensic evidence.com/ /EVID/ELDNA.error.html) के लेखक नोरह रूडम तथा सह-लेखक कैथ इन्मान कहते हैं कि मिलान, जहां डेटा बेस में नमूने से अधिकाधिक सही रूप में डी.एल.ए. का मिलान किया गया है वहां उस व्यक्ति के विरुद्ध अधिसंभाव्य हेतुक खोजने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह अपराध न्याय प्रणाली में उस व्यक्ति के भविष्य के बारे में निश्चित और अन्तिम स्थिति नहीं है।

अमरीका में, **क्राफॉर्ड बनाम कॉमनवेल्थ** (रिकार्ड सं. 0683-99-1) हाल ही के मामले में वर्जिनीया के अपीलीय न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया (19-9-2000 को) कि ज्यूरी को यह निर्देश दिया गया कि डी.एन.ए. का परीक्षण विश्वसनीय वैज्ञानिक तकनीक समझी जाती है और इस प्रकार, इसे वर्जिनीया की विधपयों के अधीन मान्यता प्राप्त है, जब किसी व्यक्ति की पहचान साबित करने के लिए डी.एन.ए. साक्ष्य का उपयोग किया गया, अनुचित था। उस मामले में प्रतिवादी का डी.एन.ए. प्राप्त किया गया और उसका बलात्कार पीड़ित के कपड़ों पर वीर्य के धब्बों से लिए गए डी.एन.ए. के साथ मिलान किया गया। दोनों नमूने समरूप पाए गए। न्याय विज्ञानी ने पी.सी.आर. (Polymerase Chain Reaction) विश्लेषण कराया और पाया कि डी.एन.ए. के नमूने छः विभिन्न प्रणालियों में रखे गए थे और यह कि प्रतिवादी का डी.एन.ए. बलात्कार पीड़ित के वस्त्रों से लिए गए नमूनों से समरूप पाया गया। उसने कहा कि अफ्रीकी-अमरीकी पुरुषों से यकायक लिए गए नमूनों के सभी छः प्रणालियों में मिलान की सम्भाव्यता 970 में से एक थी। उसने यह भी कहा कि यदि डी.एन.ए. के दोनों नमूने छः प्रणालियों में से किसी भी प्रणाली में समरूप नहीं पाए जाते हैं तब प्रतिवादी निश्चित रूप से विमुक्त हो जाएगा। ज्यूरी ने प्रतिवादी को दोषी ठहराया। न्यायालय ने अपना दोषसिद्धि निर्णय सुरक्षित रख लिया क्योंकि ज्यूरी को दिए गए अनुदेश कि डी.एन.ए. विश्वसनीय है, उचित नहीं थे क्योंकि इसमें साक्ष्य के एक भाग को ही महत्व दिया गया था।

वर्जिनीया में, संहिता 19.2-270.5 में कहा गया है कि "किसी भी आपराधिक कार्यवाही में डी.एन.ए. ..... परीक्षण विश्वसनीय वैज्ञानिक तकनीक समझा जाएगा और डी.एन.ए. प्रोफाइल की तुलना का साक्ष्य किसी व्यक्ति की पहचान साबित करने या ना साबित करने के लिए ग्राह्य हो सकेगा।" इस पर भी, न्यायालय ने इस आधार पर दोषसिद्धि को खारिज कर दिया कि ज्यूरी को दिए गए अनुदेश में डी.एन.ए. को विशेष महत्व दिया गया था। यह अभिनिर्धारित किया गया कि डी.एन.ए. परीक्षण ग्राह्य है परन्तु ज्यूरी को अनुदेश देते समय विश्वसनीयता के बारे में टिप्पणी नहीं कर सकता।

अमेरिकन सिविल लिब्रेशन यूनियन ने यह घोषणा की कि डी.एन.ए. की अंगुलियों की छाप के साथ तुलना नहीं की जा सकती। ओ.जे. सिम्पसन के मामलों में विधिक दल ने डी.एन.ए. का अवलम्ब लिया और न्यायाधीशों के मस्तिष्क में संदेह उत्पन्न कर दिया। इस प्रकार, डी.एन.ए. जब अपवर्जन में सहायक है तब स्वतंत्रता का अतिलंघन नहीं करता; दोषसिद्धि के लिए डी.एन.ए. पर निर्भर करना उचित नहीं है। डी.एन.ए. पर 1998 के राष्ट्रीय आयोग ने डी.एन.ए. में प्रश्नवाची धारणाओं का निर्देश किया है।

आस्ट्रेलिया :

आस्ट्रेलिया में स्थिति, आस्ट्रेलिया विधि सुधार आयोग की हाल ही की रिपोर्ट से प्रकट होती है। (विवाद्यक पत्र 26 मानव जीन सूचना का संरक्षण-14 साक्ष्य विवाद्यक)। रिपोर्ट विस्तृत है और आस्ट्रेलिया में निर्णयजन्य विधि और इंग्लैण्ड में विधि के रूप में कानूनी स्थिति को निर्दिष्ट करती है। यह, (क) आपराधिक कार्यवाहियों; (ख) सिविल कार्यवाहियों; (ग) डी.एन.ए. की विश्वसनीयता और यथार्थता; (घ) आंतरिक अधिकार क्षेत्रीय अवधारणाओं; (ङ) एकांतता से संबंधित; (च) डी.एन.ए. तर्क पहुंच में बराबरी; (छ) आचार संबंधी; और (ज) पितृत्व परीक्षण का विधियन में डी.एन.ए. की संबद्धता से संबंधित है।

इसमें कहा गया है कि डी.एन.ए. साक्ष्य को अभियोजन या प्रतिरक्षा में पुनःस्थापित किया जा सकेगा। पैरा 14.4 में स्वीकारता है कि—

> "जहां साक्ष्य से यह स्थापित होता है कि अपराध स्थल से लिए गए या पीड़ित व्यक्ति पर पाए गए नमूने उस व्यक्ति से लिए गए डी.एन.ए. नमूने के समरूप नहीं है वहां प्रतिवादी अपने को संदेह से मुक्त करने के लिए अपनी प्रतिरक्षा के लिए डी.एन.ए. साक्ष्य का सहारा ले सकेगा।"

इसमें अभी तक कोई कठिनाई नहीं है। परन्तु तत्पश्चात रिपोर्ट में ऐसी परिस्थितियों के बारे में चर्चा की गई है जहां डी.एन.ए. नमूने समरूप हैं, पहचान की अधिसम्भाव्यता की सीमा तक है और क्या किसी विशेष देश में उपलब्ध डी.एन.ए. आंकड़ों के आधार पर अधिसम्भाव्यता के प्रश्न पर विशेषज्ञों का साक्ष्य ग्राह्य होगा।

इसमें बाद का पहलु और भी जटिल है और हम यह महसूस करते हैं कि जहां डी.एन.ए. नमूने समरूप पाए जाते हैं वहां वैज्ञानिक विकास के इस चरण में कोई भी उपबंध करना नितांत आवश्यक नहीं है।

परन्तु जहां तक ऐसे मामलों का संबंध है जहां डी.एन.ए. नमूने समरूप नहीं पाए जाते हैं, अब यह स्वीकार किया जा चुका है कि पहचान साबित नहीं हुई है।

अमरीकी संघीय सरकार इस समय डी.एन.ए., फिंगर प्रिंटिंग का राष्ट्रीय स्तर पर विस्तार करने के लिए एक नया विधान तैयार कर रही है। तथापि, भविष्य में डी.एन.ए. साक्ष्य के बारे में आयोग ने यह सुझाव दिया है कि डी.एन.ए. समरूपण का उपयोग करते हुए, समरूप न पाए जाने वाले मामलों में अपराधियों को छोड़ा जा सकेगा। न्यूयार्क और इलियनस् में दोषसिद्धों द्वारा विलम्ब से की गई अपीलें स्वीकार की जा रही हैं।

अभी हाल ही में भारत के उच्चतम न्यायालय ने **कान्ति देवी** बनाम **पोसीराम,** 2001 (5) एस.सी.सी. 311=ए.आई.आर. 2001 एस.सी. 2226 मामले में डी.एन.ए. परीक्षण के परिणाम पर विश्वास करने से इन्कार कर दिया था और यह अभिनिर्धारित किया कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 112 के अधीन धर्मजत्व के विरुद्ध उपधारणा करने का एक मात्र कारण पुरुष और महिला की परस्पर पहुंचन होना है। यह ऐसा मामला है जिसमें डी.एन.ए. के परिणाम को कोई महत्व नहीं दिया गया है।

इसलिए, जहां यह सुस्थापित हो जाता है कि यदि डी.एन.ए. परीक्षण का परिणाम समरूप नहीं निकलता तो व्यक्ति की पहचान निश्चित नहीं होती है। परन्तु इसके विपरीत सच नहीं है। जहां परीक्षण का परिणाम यह है कि डी.एन.ए. समरूप नहीं है तो इससे व्यक्ति की पहचान का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकेगा।

जहां तक आपराधिक मामलों में किसी व्यक्ति के रक्त या डी.एन.ए. परीक्षण से इंकार करने का संबंध है, फिर भी हमारा विचार यही है कि साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 9 में कोई विशिष्ट उपबंध करने की आवश्यकता है। न्यायालय धारा 9 के अधीन आपराधिक या सिविल मामलों में सदैव व्यक्ति के आचरण पर निर्भर करते हैं और साक्ष्य अधिनियम की धारा 9 में कोई विशिष्ट उपबंध करना आवश्यक नहीं है।

तथापि, हमने यह सिफारिश की है कि जहां तक पैतृत्व साबित करने के प्रयोजन से रक्त या डी.एन.ए. परीक्षण से किसी व्यक्ति के इंकार करने का प्रश्न है, वहां वह व्यक्ति पिता नहीं है इसे प्रमाणित करने में उस व्यक्ति द्वारा अपनी प्रतिरक्षा अधित्यंजिक की गई समझी जाएगी। (देखें धारा 112)।

साक्ष्य पर फिप्सन (2000, 15वां संस्करण) में दिए गए कारणों के लिए हम यह समझते हैं कि पालीग्राफ या लाई डिटैक्टर परीक्षण के परिणाम को साक्ष्य अधिनियम की धारा 9 के अधीन ग्राह्य बनाना संभव नहीं है। फिप्सन में (पैरा 37.13) इस विषय का विशेष उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार, हम धारा 9 के लिए केवल निम्नलिखित संशोधन का सुझाव देते हैं। आरम्भिक भाग में 'तथ्यों' शब्द के पश्चात् और 'आवश्यक' शब्द से पहले ''जो हैं'' शब्द जोड़े जाने चाहिए।

धारा 10

इस धारा में सामान्य परिकल्पना के बारे में षडयंत्रकारी द्वारा कही या की गई बातों का निर्देश है।

धारा 10 का पाठ इस प्रकार है: ''जहां कि यह विश्वास करने का युक्तियुक्त आधार है कि दो या अधिक व्यक्तियों ने अपराध या अनुयोज्य दोष करने के लिए मिलकर षडयंत्र किया है, वहां उनके सामान्य आशय के बारे में उनमें से किसी एक व्यक्ति द्वारा उस समय के पश्चात् जब ऐसा आशय उनमें से किसी एक ने प्रथम बार मन में धारण

किया, कहीं की या लिखी गई कोई बात उन व्यक्तियों में से हर एक व्यक्ति के विरुद्ध, जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि उन्होंने इस प्रकार षडयंत्र किया है, षडयंत्र का अस्तित्व साबित करने के प्रयोजनार्थ उसी प्रकार सुसंगत तथ्य है जिस प्रकार यह दर्शित करने के प्रयोजनार्थ कि ऐसा कोई व्यक्ति उसका पक्षकार था।

इस धारा के नीचे दृष्टांत दिया गया है।

69वीं रिपोर्ट में इस तथ्य का निर्देश किया गया है कि धारा 10 इंग्लैण्ड की तद्नुरूपी विधि से अधिक विस्तृत है जैसाकि न्यायाधीश पैटरसन ने **आर** बनाम ब्लैक (1844) 6 क्यू.बी. 126 मामले में दिए गए निर्णय में (पृष्ठ 139) कहा गया है। इंग्लैण्ड में एक अतिरिक्त आवश्यकता यह भी है कि यह अपवाद किसी भी षड्यंत्रकारी द्वारा सामान्य आशय को आगे बढ़ाने में केवल किए गए कार्यों और कही गई बातों के लिए लागू होता है। उस मामले में, धोखाधड़ी करने के लिए वास्तविक रूप में प्रयुक्त विभिन्न दस्तावेजों में सह-षडयंत्रकारी द्वारा की गई प्रविष्टियों का साक्ष्य ग्राह्य अभिनिर्धारित किया गया था परन्तु धोखाधड़ी के प्रयोजन से न की गई प्रविष्टियां और धोखाधड़ी पूरी करने के पश्चात् षड्यंत्रकारी द्वारा की गई प्रविष्टियां सह-षड्यंत्रकारी के विरुद्ध अग्राह्य अभिनिर्धारित की गई। बाद वाला दस्तावेज जो कुछ किया गया था और जिस समय किया गया था, उस समय के सामान्य आशय का साक्ष्य है परन्तु यह अन्य अपराधियों के विरुद्ध अग्राह्य माना गया क्योंकि षडयंत्र कारित करने से इसका कोई लेना-देना नहीं था क्योंकि अब सामान्य आशय शेष नहीं रह गया था। इंग्लिश लॉ में निर्धारित किया गया यह नियम फिप्सन में (साक्ष्य, 15वां संस्करण, पैरा 29.11) स्पष्ट किया गया है :

> ''परन्तु अन्य षडयंत्रकारियों के कार्य और घोषणाएं, किसी विशिष्ट प्रतिवादी के एसोसिएशन में सम्मिलित होने से पूर्व, उसके विरुद्ध केवल आत्म संतुष्टि के मूल, समरूप और उद्देश्य को साबित करने के लिए लेने योग्य होंगे न कि उसमें उसकी भागीदारी या उसके लिए उसके दायित्व के लिए और यदि उनसे सामान्य आशय को आगे बढ़ाने का संबंध नहीं था (उदाहरणार्थ, विगत घटनाओ के उल्लेख, वर्णन या स्वीकृतियां मात्र थीं), या षडयंत्र से उसका संबंध विच्छेद हो जाने के पश्चात् किए गए या की गई, तो वे उसके विरुद्ध ग्राह्य नहीं होंगी (**आर.** बनाम **ब्लैक**) (**आर.** बनाम **डेवनपोर्ट** 1996 (1) क्रि. अप्पु. पृष्ठ 221)। अत: **जिस घटना के लिए षडयंत्र किया गया, घट जाने के पश्चात्** किए गए कार्य तथा घोषणाएं सामान्यतया लिए जाने योग्य नहीं है। क्योंकि इनमें सामान्य आशय को बढ़ाने का कोई संबंध नहीं है। किसी षडयंत्रकारी की गिरफ्तारी के पश्चात् भी साथियों के कार्यों को लिया जा सकेगा, यदि वे उसके पूर्व अनुदेशों के अनुसरण में किए गए थे।''

फिप्सन का कहना है कि तथाकथित 'सामान्य आशय' अपवाद की प्रतिवादियों के विरुद्ध जिन पर षडयंत्र करने का आरोप है, अनुश्रुत साक्ष्य की अनुमति देने के रूप में आलोचना की गई है जबकि मूल अपराध के संयुक्त आरोप पर ऐसा साक्ष्य नहीं दिया जा सकता (देखें इंग्लिस लॉ कमीशन एवीडेंस इन क्रिमिनल प्रोसीडिंग्स; हीयरसे एण्ड रिलेटिड टॉपिक्स कन्सल्टेशन पेपर सं. 138(1995), फ्रॉड के बारे में एस्टिज एण्ड पैरी (स्वीट एण्ड मैक्सवैल) दूसरा संस्करण, 1996, पैरा 16.008। परन्तु इंग्लिश विधि में वही सिफारिश की गई है जो न्यायाधीश पैटरसन ने 1844 में कहा था।

जबकि यह सच है कि धारा 10 में 'सामान्य आशय को आगे बढ़ाने में' शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है परन्तु ''उनके सामान्य आशय के बारे में'' शब्दों का प्रयोग किया गया है प्रिवी कांउसिल ने **मिर्जा अकबर** बनाम **एम्परर** (ए.आई.आर. 1940 पी.सी. पृष्ठ. 176) मामले में स्पष्ट शब्दों में अभिनिर्धारित किया है कि धारा 10 के इन शब्दों का अर्थ भी इंग्लिश विधि के समान ही है और यह कि ''के बारे में'' शब्दों का अर्थ ''आगे बढ़ाने में'' शब्दों से ही है । इंग्लिश विधि का उल्लेख करते हुए लार्ड राइट ने टिप्पणी की है (पृष्ठ 180) :

> ''यह एक सिद्धान्त है और लार्डशिप का विचार है कि धारा 10 के शब्दों का अर्थ उसके अनुसार ही लगाया जाना चाहिए और यह शब्द ऐसा विस्तृत अर्थ लगाए जाने में सक्षम नहीं है ताकि इनका अर्थ किसी एक षडयंत्रकारी द्वारा, षडयंत्र पूरा हो जाने के पश्चात्, दूसरे की अनुपस्थिति में षडयंत्र कारित करते समय किए गए विगत कार्यों के संबंध

में कही गई किसी बात को भी सम्मिलित करने से लिया जा सके। सामान्य आशय भूतकाल में था। उनकी लार्डशिप के निर्णय में ''सामान्य आशय'' शब्दों का महत्व सामान्य आशय उस समय था जब उनमें से किसी एक ने एक ने कोई बात कही, की या लिखी थी। जब षडयंत्र चल रहा था, उसके विद्यमान होने का विश्वास दिलाने के लिए यदि कोई न्यायोचित आधार दर्शाया गया हो, उस समय कही गई, की गई या लिखी गई बातें सामान्य आशय के साक्ष्य के रूप में सुसंगत होगी। जब सामान्य आशय या षडयंत्र क्रियाशील नहीं था और समाप्त हो चुका था तब तीसरे पक्ष के समक्ष दिया गया कोई वृतांत या किया गया कोई कथन या संस्वीकृति दूसरे पक्ष के विरुद्ध ग्राह्य मानना एक नितांत अलग बात होगी। षडयंत्रकारियों का कोई ऐसा सामान्य आशय नहीं रहा है जिससे कथन का कोई संबंध हो। उनकी लार्डशिप के निर्णय में धारा 10 में यह सिद्धांत अन्तर्विष्ट है । यही अर्थान्वयन है जो भारत में निर्णय लेने में धारा 10 का सही रूप में लगाया गया है। उदाहरण के लिए, 55 बम्बई 839 (**एम्परर बनाम गणेश रघुनाथ**) और 38 कलकत्ता 169 (**एम्परर बनाम अवानी**) मामले में दिए जा सकते हैं। इन मामलों में षडयंत्र को कार्यरूप देने के संबंध में षडयंत्र के चलाने षडयंत्रकारियों के बीच पत्र व्यवहार चल रहा था तथा गिरफ्तारी या षडयंत्र के समाप्त हो जाने के पश्चात् किए गए कथन दोनों के बीच तब की घटनाओं के वर्णन के रूप में जो तब समाप्त हो चुकी थी, सटीक अंतर किया गया है।''

यह स्पष्ट है कि प्रिवी काउंसिल ने ''सामान्य आशय के बारे में'' शब्दों का अर्थ आगे बढ़ाने में के रूप में लगाया है और इसका निरंतर पालन किया गया है।

सरदूल सिंह कविशार बनाम **बम्बई राज्य** (ए.आई. आर. 1957 सु.को. 747 पृष्ठ 760) मामले में उच्चतम न्यायालय ने मिर्जा अकबर मामले का निर्देश करते हुए कहा है कि ''उपर्युक्त वाक्य में किसी बात के होते हुए भी प्रिवी काउंसिल ने ऐसा कहा है। वर्ष 1960 के बाद के निर्णयों में भी इस सिद्धान्त को अपनाया गया है, देखें, **मदन लाल रामचन्द्र डांगा** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**, ए.आई.आर. 1968 सु.को. 1267 और **राज्य** बनाम **नलिनी** : 1999(5) एस.सी.सी. 253 (राजीव गांधी की हत्या का मामला) (बहुमत से)।

परन्तु एक निर्णय में, अर्थात्, **भगवान स्वरूप** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ए.आई.आर. 1965 सु. को. 682 (उसी व्यक्ति से संबंधित) अर्थात्, **सरदूल सिंह कविशार** ए.आई.आर. 1957 सु.को. 747, षडयंत्र में कथित रूप से कारित कतिपय अन्य अपराधों के बारे में, न्यायाधीश सुब्बाराव (तत्कालीन) ने धारा 10 के विस्तृत अर्थ को अपनाया और यह टिप्पणी की कि धारा 10 को लागू करने के लिए पांच शर्त हैं जिनमें से एक अर्थात् शर्त सं. (चार) के अंतर्गत किसी सह-षडयंत्रकारी के कार्यों, घोषणाओं या लिखी गई बातों का आशय, ''चाहे ये उसके षडयंत्र में प्रवेश करने से पूर्व या उसे छोड़ देने के पश्चात् किए गए, की या लिखी गई हो'', इन्हें व्यापक क्षेत्र प्रदान करना है।

न्यायमूर्ति सुब्बाराव का उपर्युक्त दृष्टिकोण 1957 में दिए गए उच्चतम न्यायालय के निर्णय के प्रतिकूल है जहां कतिपय वे ही अभियुक्त एक षडयंत्र में अंतर्ग्रस्त थे और 1957 के मामले में भी जब धारा के विस्तार को न्यायालय ने कम कर दिया था।

राज्य बनाम **नलिनी** 1999 (5) एस.सी.सी. 253, मामले में न्यायमूर्ति थोमस ने यह टिप्पणी की है कि ''के बारे में'' शब्दों का अर्थ थोड़ा व्यापक है।

न्यायमूर्ति सुब्बाराव (तत्कालीन) के उपर्युक्त निर्णय में की गई टिप्पणी, 1965 की **साजू** बनाम **केरल राज्य** 2001(1) एस.सी.सी. 378(पृष्ठ 387) मामले में हाल ही में निम्नलिखित व्याख्या की गई है :

> ''परन्तु जहां तक उपर्युक्त टिप्पणियों का संबंध है कि धारा 10 के शब्दों का प्रयोग इन्हें इंग्लिश विधि के षड़यंत्र की अवधारणा की तुलना में व्यापक अर्थ देने के आशय से प्रयुक्त किए गए हैं, सही नहीं है। विधि के इस विशिष्ट पहलू पर प्रिवी काउंसिल ने **मिर्जा अकबर** बनाम **किंग एम्परर** ए.आई.आर. 1940 पी.सी. 176 पृष्ठ 180 मामले में विचार किया है जहां लार्ड राइट ने कहा था कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 10 की दृष्टि से भारतीय विधि में सिद्धान्ततः कोई अंतर नहीं है।

मिर्ज़ा अकबर के मामले में प्रिवी काउंसिल के निर्णय का **सरदूल सिंह कविशार बनाम बम्बई** राज्य (ए. आई.आर. 1957 सु.को. 747) मामले में अनुमति से निर्देश किया गया था.....।"

69वीं रिपोर्ट में भी आयोग के सामने यही प्रश्न था और इस तथ्य का निर्देश करते हुए कि यह अनुश्रुत नियम का एक अपवाद है, आयोग ने महसूस किया कि इसका विस्तृत अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए । परन्तु फिर भी आयोग **"के बारे में" शब्दों को ही रहने दिया और उनके स्थान पर "आगे बढ़ाने में" शब्द प्रतिस्थापित करने का प्रस्ताव नहीं किया।** हमारा विचार यह है कि धारा में "आगे बढ़ाने में" शब्द प्रतिस्थापित करके इसे संशोधित किया जाना चाहिए जैसाकि प्रिवी काउंसिल और उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया था और हमारा मत इस बारे में 69वीं रिपोर्ट से भिन्न है।

श्री वैपा.पी. सारथी ने सुझाव दिया है कि बढ़ती हुई आतंकवादी गतिविधियों को देखते हुए न्यायमूर्ति सुब्बाराव के दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी जानी चाहिए और "के बारे में" शब्द रहने दिए जाने चाहिए तथा उक्त शब्दों की प्रिवी काउंसिल द्वारा की गई व्याख्या अर्थात् उक्त शब्दों का अर्थ "आगे बढ़ाने में " शब्दों से स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। उनका कहना है कि इसलिए साजू के मामले में (उपर्युक्त) लिए गए दृष्टिकोण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

हमने उपर्युक्त सुझाव पर विचार किया है परन्तु हम यह महसूस करते हैं कि, उन कारणों से जिनका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, मिर्ज़ा अकबर के (उपर्युक्त) मामले में प्रिवी काउंसिल के तथा सरदूल सिंह कविशार मामले में (उपर्युक्त) उच्चतम न्यायालय के दृष्टिकोण (1957) को स्वीकार किया जाना चाहिए। उच्चतम न्यायालय ने **राज्य बनाम नलिनी** के नवीनतम मामले में उपर्युक्त सिद्धान्तों की ही पुनरावृत्ति की है।

इस मामले में कोई संदेह न रहने देने तथा विस्तृत अर्थ देने वाले , जैसाकि 1965 में तथा एक अन्य विद्वत न्यायाधीश द्वारा 1999 में किया गया था, किसी अर्थान्वयन को स्पष्ट करने के विचार से हम धारा 10 में "के बारे में" शब्दों के स्थान पर "आगे बढ़ाने में" शब्द प्रतिस्थापित करने की सिफारिश करते हैं।

श्री सारथी का एक अन्य सुझाव यह है कि इन आरम्भिक शब्दों-"जहां कि यह विश्वास करने का युक्तियुक्त आधार है" के स्थान पर "जहां प्रश्न यह है कि दो या अधिक व्यक्तियों ने....." शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिए। क्योंकि वर्तमान शब्दों की व्याख्या में न्यायालय से प्रारंभिक निष्कर्ष देने की अपेक्षा की गई और किसी भी प्रकार की अस्पष्टता से बचने के लिए हम इस सुझाव को स्वीकार करते हैं और सिफारिश करते हैं कि धारा 10 के उपखंड (ख)में शब्द इस रूप में परिवर्तित किए जाने चाहिए।

इस मामले में एक अन्य पहलू और भी है। 69 वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी कि धारा 10 में "विवाद्यक" तथ्यों या "सुसंगत तथ्य" का कोई निर्देश नहीं है जो धारा 6 से धारा 9 तथा धारा 11 के लिए सामान्य रहा है और यह सिफारिश भी की गई है कि "षडयंत्र किया है" शब्दों के स्थान पर "ऐसे षडयंत्र में शामिल हुआ है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं। ये परिवर्तन अवैचारिक है और हम इस बात से सहमत हैं कि हमने जो सिफारिश की है उसके अतिरिक्त ये परिवर्तन भी किए जा सकेंगे।

यदि ये संशोधन किए जाते हैं तो 69वीं रिपोर्ट में संशोधित धारा का पाठ निम्नलिखित होगा और हम सिफारिश करते है कि धारा 10 में तदनुसार संशोधन किया जाए :

सामान्य परिकल्पना के बारे में षडयंत्रकारी द्वारा कही या की गई बातें

"10. जहां.—

(क) कोई अपराध या अनुयोज्य दोष करने के लिए षडयंत्र का अस्तित्व है या यह तथ्य कि कोई व्यक्ति ऐसे षडयंत्र में शामिल था, विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य है; और

(ख) प्रश्न यह है कि दो या अधिक व्यक्तियों ने मिलकर यह षडयंत्र किया है; वहां उनके सामान्य आशय के बारे में उनमें से किसी एक व्यक्ति द्वारा उस समय के पश्चात् जब ऐसा आशय उनमें से किसी एक ने प्रथम बार मन में धारण किया, कही, की, या लिखी गई कोई बात उनमें से हर एक व्यक्ति के विरुद्ध, जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि उन्होंने इस प्रकार षडयंत्र किया है, षडयंत्र का अस्तित्व साबित करने के प्रयोजनार्थ उसी प्रकार सुसंगत तथ्य है जिस प्रकार यह दर्शित करने के प्रयोजनार्थ कि ऐसा कोई व्यक्ति उसका पक्षकार था।

एक और अन्य पहलू पर विचार करना होगा। 69वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है कि धारा 10 के नीचे इस समय जो दृष्टांत दिया गया है परिणामिक संशोधन के साथ उसे यथावत रखा जा सकेगा।

श्री वेपा सारथी ने अपनी टिप्पणी 'साक्ष्य विधि' (5वां संस्करण 2002, पृष्ठ 91) में कहा है कि धारा 10 के नीचे दिया गया दृष्टांत धारा की तुलना में विस्तृत है और इंग्लिश विधि से भी विस्तृत है। हम दृष्टांत को उद्धृत नहीं कर रहे हैं परन्तु सरकार के साक्ष्य (15वां संस्करण 1999, पैरा 247) में भी कहा गया है कि दृष्टांत विधि से भी विस्तृत है और उन्होंने बालमुकुन्द बनाम आर (ए.आई.आर. 1915 लाहौर 16,20) मामले में न्यायाधीश जानसन ने जो कुछ कहा है उसका निर्देश किया है। विद्वत न्यायाधीश ने कहा है:—

"और उसमें क की सहअपराधिता साबित करने के लिए" शब्द जिस रूप में दृष्टांत में आए हैं, सामान्य ज्ञान के तथा धारा के जैसाकि, मैंने पढ़ी है, अनुरूप नहीं है"

दृष्टांत में परिवर्तन करने के बजाय, हम सिफारिश करते हैं कि इसे छोड़ दिया जाना चाहिये।

धारा 11 : इस धारा में "वे तथ्य जो अन्यथा सुसंगत नहीं हैं कब सुसंगत हैं" का उल्लेख है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"**धारा 11 :** वे तथ्य जो अन्यथा सुसंगत नहीं हैं कब सुसंगत हो जाते हैं :—

(1) यदि वे किसी विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य से असंगत हैं;

(2) यदि वे स्वयं या अन्य तथ्यों के संबंध में किसी विवाद्यक सुसंगत तथ्य का अस्तित्व या अनस्तित्व अत्यंत अधिसम्भाव्य या अनधिसम्भाव्य बनाते हैं"

धारा के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं।

दृष्टांत:—(क) प्रश्न यह है कि क्या 'क' ने किसी अमुक दिन कलकत्ते में अपराध किया।

यह तथ्य कि जब अपराध किया गया था उस समय के लगभग उस स्थान से जहां कि वह अपराध किया गया था, इतनी दूरी पर था कि 'क' द्वारा उस अपराध का किया जाना यदि असम्भव नहीं तो अत्यंत अनधिसम्भाव्य था सुसंगत है।

(ख) प्रश्न यह है कि क्या 'क' ने अपराध किया है।

परिस्थितियां ऐसी हैं कि वह अपराध 'क','ख','ग', और 'घ' में से किसी एक के द्वारा अवश्य किया गया होगा। वह हर तथ्य, जिससे यह दर्शित होता है कि वह अपराध किसी अन्य के द्वारा नहीं किया जा सकता था और वह 'ख','ग', और 'घ' में से किसी के द्वारा नहीं किया गया था, सुसंगत है।

दृष्टांत (क) अन्यत्र उपस्थित होने के अभिवाक् का निर्देश करता है और खंड (1)और(2) दोनों का अर्थ स्पष्ट करता है : यदि 'क' ने कलकत्ता में कोई अपराध किया तो यह तथ्य कि वह लाहौर में था धारा 11के खंड(1) के अधीन सुसंगत है और यदि वह कलकत्ता से किसी दूरस्थ स्थान पर था जो कलकत्ता में उसकी उपस्थिति को अनधिसम्भाव्य बनाता है, यद्यपि असंभव नहीं है, धारा के खंड (2) के अधीन सुसंगत तथ्य है। दृष्टांत (ख) में उन तथ्यों का निर्देश है जो यह दर्शाते हैं कि चार अभियुक्ति में से तीनों ने वह अपराध नहीं किया होगा, धारा 11 के खंण्ड (1) के अधीन यह सुसंगत तथ्य है।

धारा 11 के खंड (1) के बारे में कोई विवाद नहीं है। एक तथ्य जो सुसंगत नहीं है—सांपश्विक तथ्य कहा जा सकता है, जो यदि सुसंगत तथ्य से असंगत है, सुसंगत हो सकता है। दृष्टांत (क) का प्रथम भाग जिसमें अन्यत्र उपस्थिति होने के अभिवाक् का निर्देश है, इसका स्पष्ट उदाहारण है।

धारा 11 के खंड (2) पर्याप्त विवाद का विषय रहा है और यह कहा गया है कि धारा बहुत विस्तृत है और इसमें इस आशय का एक स्पष्टीकरण अन्तः स्थापित करके इसे सीमित किया जा सकता है कि वे अन्य तथ्य जो किसी विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य के अस्तित्व को अधिसंभाव्य या अनधिसम्भाव बनाते हैं, अधिनियम के किसी अन्य उपबंध, जैसकि धारा 32 के अधीन ग्राह्य होने चाहिए । यह दृष्टिकोण स्वयं सर जेम्स स्टीफन द्वारा व्यक्त किया गया था।

इस संबध में, हम उस विवरण का निर्देश करेंगे जो सर जेम्स स्टीफन ने कहा :

"सम्भावतया यह तर्क दिया जा सकेगा कि धारा 11 के दूसरे पैराग्राफ का प्रभाव ऐसे तथ्यों के सबूत को स्वीकार करना होगा जैसेकि (साक्षी के रुप में न बुलाए गए व्यक्तियों द्वारा तथ्यों के बारे में किए गए कथन, समान, संव्यावहार, परन्तु विवाद्यक तथ्यों से असंबद्ध; विवाद्यक तथ्यों या सुसंगत तथ्यों के बारे में व्यक्तियों के अभिमत)। " उदाहरण के लिए, यह कहा जा सकता है कि 'क' को (साक्षी के रूप में नहीं बुलाया गया)यह कहते सुना गया कि उसनें 'ख' को अपराध करते हुए देखा था। यह इस तथ्य को अधिसम्भाव्य बनाता है कि 'ख' ने अपराध किया था। इसलिए 'क' का कहना धारा 11 के अधीन सुसंगत है। धारा का यह आशय नहीं था जैसाकि अध्याय-दो (धारा 31-39) में अन्तर्विष्ट विस्तृत उपबंधो में दर्शाया गया है जैसेकि विशिष्ट वर्गों के कथन जिन्हें या तो उन परिस्थितियों के कारण जिनमें वे किए गये सुसगंत तथ्यों के रूप में महत्व दिया गया या कोई और बेहतर साक्ष्य उपलब्ध न होने के कारण सुसंगत तथ्य माना गया। धारा में जिन तथ्यों को सम्मिलित करने का आशय था ये वे तथ्य हैं जो थोड़ा बहुत स्पष्ट रूप से उसमें अन्तर्विष्ट होते हैं। विभिन्न प्रकार के मामलों के कारण जिन पर इस धारा को लागू किया जाना है, इस विचार से धारा के शब्दों को (मद्रास सरकार के सुझाव के अनुपालन में) कुछ सीमा तक उदार रखा गया था। धारा का अर्थ पूर्णतः स्पष्ट होता यदि उसमें निम्नलिखित तथ्य जोड़े गए होते: इस धारा के अर्थ में किसी भी कथन का उसकी विषय-वस्तु के बारे में अत्यंत अतिसम्भाव्य अर्थ तब तक नहीं लिया जाएगा जब तक कि वह अधिनियम की किसी अन्य धारा के अधीन सुसंगत तथ्य घोषित न किया गया हो।" (स्टीफन इन्ट्रो पी.पी.160-161)

ऐसा ही मत दृष्टिकोण **सेषुगन चेटियार** बनाम **रघुनाथ** (ए.आई.आर 1940 मद्रास 273)मामले में विख्यात न्यायमूर्ति सर एस. वर्धाचार्यर द्वारा व्यक्त किया गया था। विद्वत न्यायमूर्ति की टिप्पण है कि :—

"धारा 11 के बारे में, हमें ऐसा प्रतीत होता है कि धारा 11 अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन पढ़ी जानी चाहिए और यह कि धारा 32 में निर्धारित की गई शर्तों को पूरा न करने वाला कथन केवल इस आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यदि स्वीकार किया गया, तो इससे कोई विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य अधिसम्भाव्य या अनअधिसम्भाव हो सकेगा।"

ऐसा ही दृष्टिकोण नईमा खालिम बनाम बसंत सिंह, (ए.आई.आर. 1934 पृष्ट 409 मामले में न्यायमूर्ति सुलेमान और एम्पयर बनाम प्रभुदास (1920) आई.एल.आर. 47 कलकत्ता 671 मामले में सर आशुतोष मुखर्जी द्वारा, आर. बनाम प्रभुदास (1874) : बम्बई एच.सी.आर. 90 न्यायमूर्ति वेस्ट द्वारा भी व्यक्त किया गया था।

उपर्युक्त निर्णयों में, जिनमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अन्य तथ्य अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन सुसंगत होने चाहिए यह कारण दिया गया है कि कथन तथ्य नहीं होते हैं और धारा 11 कथनों के लिए लागू नहीं की जा सकती। कुछ अन्य मामलों में यह कहा गया है कि धारा 32 लागू होनी चाहिए।

इसके विपरीत, फील्ड की आलोचना की है जिसने स्टीफन के दृष्टिकोण की आलोचना की है और कहा है:

"इस धारा को, जैसाकि सुझाव दिया गया है, उन तथ्यों तक सीमित नहीं किया जा सकता जो अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन सुसंगत हैं क्योंकि इससे धारा ही निरर्थक हो जाएगी।"

दूसरे शब्दों में, फील्ड के अनुसार ऐसे तथ्यों को धारा 11 के खंड (2) के अधीन बनाने के प्रयोजन से यह अभिनिर्धारित करना पड़ेगा कि वे अन्य तथ्य अधिनियम के कतिपय अन्य उपबंधों के अधीन सुसंगत होने चाहिए, इससे धारा 11 का खंड (2) स्पष्टत: निरर्थक हो जाएगा।

इसी प्रकार हमारे विचार से स्टेट बनाम जगदेव 1955 इला० एल०जे० 380 मामले में न्यायमूर्ति देसाई ने स्थिति का सही स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने कहा है :—

"धारा 11 और धारा 32 के उपबंधों के बीच कोई संबंध नहीं है और यह कहने का भी कोई औचित्य नहीं है कि एक धारा दूसरे पर निर्भर है। वास्तव में, प्रत्येक धारा नए सुसंगत तथ्यों को जन्म देती है; यदि कोई तथ्य धारा 11 के अधीन सुसंगत है तो इसके बारे में साक्ष्य धारा 5 द्वारा अनुज्ञय प्राप्त रूप में दिया जा सकेगा चाहे वह धारा 32 के अधीन सुसंगत न भी हो। यदि कोई ऐसा उपबंध है जिसके अधीन कोई तथ्य सुसंगत हो जाता है तो इस बात पर विचार किए बिना कि यह किसी अन्य उपबंध के अधीन सुसंगत बनाया गया है या नहीं, इसे साबित किया जा सकेगा।

यदि कोई तथ्य धारा 32 के अधीन सुसंगत है तो किसी बात के होते हुए भी, इसे साबित किया जा सकेगा कि यह धारा 11 के अधीन सुसंगत नहीं है और यह कहना कि धारा 11 के अधीन कोई सुसंगत तथ्य तब तक साबित नहीं किया जा सकता जब तक कि यह धारा 32 के उपबंधों के अधीन न आता हो, साक्ष्य अधिनियम की धारा 11 को निकालने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। जब धारा 32 किसी तथ्य को साबित करने के लिए पर्याप्त है तो विधानमंडल के लिए धारा 11 अधिनियमित करना ही निरर्थक था यदि कोई तथ्य उस धारा के अधीन सुसंगत था और उसे तब तक साबित नहीं किया जा सकता था जब तक कि यह धारा 32 के अधीन सुसंगत न होता।"

जहां तक अमरीकी विधि का संबंध है, विगमोर (सरकार में उद्धृत) ने भी इसी पहलू के बारे में चर्चा की है (अर्थात् धारा 11 के खंड (2) की विषय-वस्तु) और "अनिवार्य असंगति" के बारे मे निम्नलिखित रूप में कहा है (विग धारा 135) :

"यह सामान्य तर्क है कि किसी तथ्य का अस्तित्व होने वाले कार्य करने के साथ-साथ नहीं हो सकता और इसलिए, यदि वह तथ्य किसी ऐसे व्यक्ति के विषय में सच है जिस पर वह कार्य करने का आरोप है तो असम्भव है कि उसने यह कार्य किया होगा। कभी-कभी क्रम इस कथन से भिन्न होता है, परन्तु इसका स्वरूप सभी क्रमों में एक समान होता

है। असंगति, सबूत में निश्चायक होने के लिए अनिवार्य होनी चाहिए, अर्थात् स्वयं में पूर्ण और सर्वव्यापी; परन्तु, चूंकि साक्ष्य देने में हमें प्रदर्शन करने की आवश्यकता नहीं होती परन्तु निहितार्थ के लिए केवल उचित आधार की आवश्यकता होती है। प्रस्तुत किए गए तथ्य में इस अनिवार्य या पूर्ण असंगति होना आवश्यक नहीं है अपितु मात्र सम्भावित या उपधारणीय असंगति आवश्यक है और उसके साक्षीय आधार असंगति की पूर्णता या अनिवार्यता से और अधिक सुदृढ़ हो जाएगा।''

नार्टन ने भी (सरकार में उद्धृत रूप में) कहा है (पृष्ठ 124) :

''किसी विवाद्यक विषय से संबंधित तथ्यात्मक सामग्री जो एक पक्ष द्वारा साबित की जा चुकी हो, दूसरे पक्ष द्वारा नासाबित की जा सकेगी चाहे विरोधाभाषपूर्ण हो अथवा नहीं, अर्थात् खंड (1) के अधीन सुसंगत तथ्य से असंगत हो या खंड (2) के अधीन कथित तथ्य के असितत्व को केवल अत्यंत अधिसम्भाव्य बनाता हो। तथ्यों को, यदि वे स्वंय में अत्यंत अधिसम्भाव्य प्रतीत होते हैं, तो उन्हें फिर से खंड (2) के अधीन अन्य सुसंगत तथ्यों की संपुष्टि के लिए साक्ष्य में रखा जाएगा।''

सी. नारायण बनाम केरल राज्य, 1992 क्रि.एल.जे. 2868 मामले में केरल उच्च न्यायलय की पूर्ण पीठ द्वारा हाल ही में दिए गए निर्णय में न्यायमूर्ति थोमस (तत्कालीन) ने निर्णयजन्य विधि की समीक्षा करते हुए निम्नलिखित विचार व्यक्त किया है :—

''अधिनियम की धारा 11 में ऐसा कुछ नहीं है जो यह सुझाव देता हो कि यह किसी अन्य धारा द्वारा नियंत्रित होती है। दूसरी ओर, धारा 11 में प्रयुक्त शब्द यह दर्शाते हैं कि यह उपबंध अन्य सामान्य उपबंधों का एक अपवाद है।''

इस प्रकार, सर जेम्स स्टीफन तथा अन्य न्यायाधीशों का यह दृष्टिकोण कि धारा 11(2) के अधीन तथ्य किन्हीं अन्य उपबंधों के अधीन सुसंगत होने चाहिए, अन्य न्यायविदों तथा न्यायाधीशों द्वारा उपर्युक्त कारणों से स्वीकार नहीं किया गया है।

अन्ततः हम, श्री वेपा पी. सारथी द्वारा ''साक्ष्य विधि'' (पांचवां संस्करण 2002) में की गई विधि की व्याख्या पर आते हैं। उसने कहा है (पृष्ठ 41) :

''धारा ''तथ्य जो अन्यथा सुसंगत नहीं है.....'' शब्दों से आरम्भ होती है। ये तथ्य क्या है जो यद्यपि तार्किक रूप से सुसंगत है, विधिक रूप से सुसंगत नहीं है? वे तथ्य अपवर्जन के दो नियमों के अन्तर्गत आते हैं, सुसंगति से संबंधित; (क) वे तथ्य जो अनुश्रुत नियम के अधीन आएंगे, और (ख) वे तथ्य जो, 'दो पक्षकारों के बीच के किसी वाद का तीसरे पक्षकार पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए' के अधीन आएंगे जिसका अभिप्राय है कि दो पक्षकारों के बीच का संव्यवहार तीसरे पक्ष के अहित में संचालित नहीं होना चाहिए।

(ख) के अधीन सामान्यता —

(i) ऐसे व्यक्ति के पीठ पीछे किए गए कथन जिसके विरुद्ध उन्हें लक्ष्य के रूप में प्रयोग किया जाना है;

(ii) ऐसे असंबद्ध संव्यवहार; और

(iii) तीसरे पक्षों के अभिमत

सम्मिलित हैं।

अनुश्रुत नियमों अथवा दो पक्षकारों के बीच के विषय के अधीन आने वाले तथ्य, यद्यपि तार्किक रूप से सुसंगत हैं विधिक रूप से असंगत हैं.....जबकि धारा में कहा गया है: वे तथ्य जो इन दोनों नियमों के अन्तर्गत आते हैं अन्यथा असंगत हैं। तथापि, वे

सुसंगत हो जाएंगे यदि वे विवाद्यक तथ्य से असंगत हैं या विवाद्यक तथ्य के अस्तित्व को अत्यंत अधिसम्भाव्य या अनधिसंभाव्य बनाते हों।''

दूसरे शब्दों में, यद्यपि विधिक रूप से असंगत हैं परन्तु वे धारा 11 के कारण सुसंगत हो जाते हैं।

लेखक श्री सारथी ने आगे कहा है (पृष्ठ 42) :

''यदि कोई तथ्य, उस पर न्यायलय द्वारा विचार किए जाने से पूर्व, साक्ष्य अधिनियम की किसी धारा के अधीन सुसंगत होना चाहिए। तथापि, यदि वह इन्टर एलियोज एक्टा या अनुश्रुत है और इस प्रकार अन्यथा सुसंगत नहीं है तो इसे धारा की अन्य परिसिद्धी पर खरा उतरना होगा अर्थात, इसे विवाद्यक तथ्य के अस्तित्व को अत्यंत अधिसम्भावय या अनधिसंभावय बनाना होगा।''

हम इस धारा 11 के इस अर्थ और प्रयोजन के प्रतिपादन से पूर्णता सहमत है।

इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने वाले फील्ड, श्री सारथी, केरल और इलाहाबाद उच्च न्यायलय के विचार भी हमारे सामने हैं जिनका उच्चतम न्यायलय ने दो निर्णयों में आगे भी समर्थन किया गया है।

राजकुमार बनाम मध्य प्रदेश राज्य (ए.आई. आर. 1975 सु.को. 1026) जिसमें धारा 11 का निर्देश है और प्रथम सूचना रिपोर्ट महत्वपूर्ण तथ्यों का लोप है, उच्चतम न्यायलय ने यह विचार व्यक्त किया :

> ''यदि उसकी पुत्री ने अपीलार्थी को हरबिन्दर सिंह को मुक्का मारते देखा था तो पिता द्वारा प्रथम सूचना रिपोर्ट में इसका उल्लेख किया जाना चाहिए था। हम समझते हैं कि इतने महत्वपूर्ण तथ्यों का लोप होना जो मामले की अधिसंभाव्यताओं को प्रभावित करता है, अभियोजन पक्ष की सत्यवादिता का निर्णय करने में साक्ष्य अधिनियम की धारा 11 के अधीन सुसंगत है।''

दूसरा सतबीर बनाम हरियाणा राज्य ए.आई.आर. 1981 सु.को. 2074 का मामला है जहां उच्चतम न्यायालय ने विशिष्ट रूप में धारा 11 (2) का निर्देश किया है। वहां अपीलार्थी सतबीर को उच्च न्यायालय ने सिद्धदोष ठहराया जबकि सह-अभियुक्त दयानन्द को मुक्त कर दिया गया। उच्च न्यायालय ने 29-7-73 को चोरी हुए माल की बरामदगी पर, जब सतबीर को गिरफ्तार किया गया था, विश्वास किया। उच्चतम न्यायालय ने मजिस्ट्रेट के समक्ष दयानन्द द्वारा 27-9-73 को फाइल किए गए इस आशय के आवेदन का निर्देश किया कि सतबीर पहले ही गिरफ्तार किया जा चुका है (अर्थात् 27-9-73 को या इससे पूर्व) और यह कि उसे भी (दयानन्द को) गिरफ्तारी की आशंका है। यह कथन उस समय किया गया था जबकि दयानन्द के विरूद्ध कोई वारंट नहीं था। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिमत व्यक्त किया कि उक्त कथन 27-9-73 से पूर्व सतबीर की गिरफ्तारी अधिसंभावित करता है और अभियुक्त के कहने पर चुराई गई चीजों की बरामदगी संदेहास्पद थी।

एक अन्य विवाद भी है कि धारा 11 'तथ्यों' का निर्देश करती है कथनों का नहीं। कतिपय मामलों में, रायजप्पा बनाम नालकांतराव ए.आई. आर. 1962 मैसूर 53 सहित, यह दृष्टिकोण व्यक्त किया गया। परन्तु सी.नारायणन के उपर्युक्त मामले में केरल की पूर्ण पीठ ने रामभरोसे बनाम दीवान ए.आई.आर. 1938 औध. 76 मामले का ठीक ही निर्देश किया जिसमें कहा गया था :

> ''हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रश्नाधीन कथन साक्ष्य अधिनियम की धारा 11 के खंड (1) के अधीन सुसंगत है, क्योंकि वे विवाद्यक तथ्य से असंगत हैं। यह कहा गया था कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 11 तथ्यों से संबंधित है कथनों से नहीं, परन्तु तथ्य में सम्मिलित है .....''
>
> ''ऐसी कोई वस्तु, वस्तुओं की अवस्था, या वस्तुओं का संबंध जो इन्द्रियों द्वारा बोधगम्य हो'' (धारा 3)

और इस प्रकार कोई कथन 'तथ्य' की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाता है जैसाकि धारा 6 के दृष्टांत (क) द्वारा भी स्पष्ट किया गया है।

अब हम आयोग की 69वीं रिपोर्ट का निर्देश करेंगे। न्यायविदों तथा निर्णयजनित विधि के दृष्टिकोण की विस्तृत समीक्षा करने के पश्चात् आयोग ने कहा है कि चार सिद्धान्त पाए जा सकते हैं। चौथा निम्नलिखित है (देखें पैरा 7.180) :

"चौथा दृष्टिकोण यह है कि कथन धारा 11 के अधीन स्वीकार्य होंगे यद्यपि वे धारा 32 के अधीन स्वीकार्य नहीं है।"

आयोग ने कहा (देखें पैरा 7.181) :

"यह प्रश्न-अर्थात्, क्या तीसरे पक्ष द्वारा किए गए कथन धारा 11 के अधीन सुसंगत हो सकते हैं—इस प्रकार एक कठिन प्रश्न है। हमारे विचार में वर्तमान शब्दों के अनुसार, चौथा दृष्टिकोण अधिक तर्कसम्मत है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि न्यायालय को अपने स्वविकाधिकार का प्रयोग करना और यह देखना चाहिए कि साबित किए जाने वाले तथ्य और धारा 11 के अन्तर्गत साबित करने हेतु दिए जाने वाले तथ्य के बीच इतना घनिष्ट संबंध है कि वह दोनों के सह-अस्तित्व को अत्यंत अधिसंभाव्य बनाता है। परन्तु धारा 11 और धारा 32 दोनों को पृथक-पृथक स्वतंत्र रूप से पढ़ना विधिसम्मत है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह धारा केवल उन तथ्यों को ग्राह्य बनाती है जो न्यायालय को किसी न किसी प्रकार प्रश्नाधीन तथ्य के अस्तित्व या अनस्तित्व के बारे में निष्कर्ष पर पहुंचने देने में बहुत महत्व रखते हैं। इसलिए, इस धारा के अधीन ग्राह्यता, प्रत्येक मामले में इस बात पर निर्भर है कि साबित किए जाने वाले तथ्यों का विवाद्यक तथ्यों के साथ मामले के अन्य तथ्यों के साथ किए जाने पर, कितना घनिष्ट संबंध बनता है।"

यह सब कुछ कहने के पश्चात्, 69वीं रिपोर्ट में आयोग यकायक इस निष्कर्ष पर पहुंचा है (देखें पैरा 7.188) कि यद्यपि विधि में यह स्थिति है और क्योंकि न्यायालयों तथा विशिष्ट रूप से प्रसिद्ध भारतीय न्यायधीशों (सर श्री वरदाचारियर और न्यायमूर्ति मुकर्जी) ने यह विचार व्यक्त किया है कि धारा 11 पर कतिपय नियंत्रण रखे जाने चाहिएं, आयोग सर जेम्स स्टीफन की सिफारिश, उनके विरचित स्पष्टीकरण सहित परन्तु उपांतरित रूप में, स्वीकार करेगा। सर जेम्स स्टीफन ने धारा 11 में निम्नलिखित परिवर्धन की सिफारिश की है :—

"कोई भी कथन कथित विषय-वस्तु को इस धारा के अर्थों में अत्यंत अधिसंभाव्य बनाने वाला नहीं समझा जाएगा जब तक कि वह अधिनियम की किसी अन्य धारा के अधीन सुसंगत तथ्य घोषित न किया गया हो।"

69वीं रिपोर्ट में सर जेम्स स्टीफन के सुझाव में थोड़ा उपांतरण करते हुए निम्नलिखित अपवाद की सिफारिश की है (देखें पैरा 7.191) :

"अपवाद : इस धारा के आधार पर, किसी पक्षकार द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा, किसी कथन का साक्ष्य नहीं दिया जा सकेगा परन्तु इस अपवाद में कोई भी बात किसी अन्य धारा के अधीन कथन की सुसंगति को प्रभावित नहीं करेगी।"

दूसरे शब्दों में, प्रस्ताव में कथन से, यद्यपि वह सुसंगत है और धारा 11 से अन्य धारा के अधीन भी सुसंगत होने की अपेक्षा की गई है जैसाकि सर जेम्स स्टीफन और न्यायाधीश वरदाचारियर तथा अन्य द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है।

हमने, फील्ड, नार्टन, श्री सारथी के विचारों तथा इलाहाबाद उच्च न्यायालय की वर्ष 1955 की व्यवस्थाओं और उच्चतम न्यायालय के 1975 तथा 1981 के निर्णयों के बारे में विस्तार से चर्चा की है। हमारे विचार से, जब 69वीं रिपोर्ट में भी धारा के पाठ से तथा निर्णयजनित विधि से उत्पन्न होने वाला चौथा सिद्धान्त सही है, तब मात्र इस आधार पर इसे छोड़ देने का कोई औचित्य नहीं है कि न्यायाधीश वरदाचारियर, मुकर्जी, सुलेमान और वैस्ट ने पृथक-पृथक मामलों में दिए गए कतिपय निर्णयों में विपरीत दृष्टिकोण अपनाया था।

हमारा विचार है कि फील्ड, नार्टन, श्री सारथी, इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति देसाई द्वारा दिए गए कारण और उच्चतम न्यायालय द्वारा दो निर्णयों में निर्धारित किए गए सिद्धान्त सारगर्भित सिद्धान्तों से उद्भूत हैं। यह कहना एक बात है कि ऐसे कथनों को स्वीकार करते समय न्यायालय द्वारा अधिसंभाव्यता या अनधिसंभाव्यता को महत्व देने में सावधानी बरतनी चाहिए और यह दूसरी बात है कि 'सुसंगत' तथ्यों के अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन तथा विशेषकर धारा 32 के अधीन भी सुसंगत होने की आवश्यकता है।

अतः हम 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश से सादर भिन्न मत रखते हैं

तब प्रश्न यह उठता है कि क्या कतिपय निर्णयों के गलत सिद्धान्त, जिनमें अपेक्षा की गई है कि तथा अन्य उपबंधों के अधीन भी सुसंगत होने चाहिएं, विषय से संबंधित नहीं है। हमें धारा 11 के नीचे स्पष्टीकरण जोड़ना चाहिए या संशोधित करना चाहिए ?

इस विषय पर पर्याप्त विचार करने के पश्चात् हमारा यह विचार बना है कि मामले को किसी भी संदेह या विवाद से दूर रखा जाना चाहिए क्योंकि जहां धारा 11 के अधीन तथ्य सुसंगत हैं फिर भी वह पूर्णतया अस्वीकार्य होगा वहां न्याय को क्षति पहुंचेगी। इससे, किसी आपराधिक मामले में अभियुक्त दोषसिद्ध हो सकेगा जबकि अन्यथा वह अवमुक्त किए जाने का अधिकारी है (अर्थात् ए.आई.आर. 1981 सु.को. 2074)।

अतः हम धारा 11 में खंड (2) के पश्चात् और दृष्टांत से पूर्व निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित करने की सिफारिश करते हैं:

> ''**स्पष्टीकरण** : उन तथ्यों का जो अन्यथा सुसंगत नहीं हैं परन्तु जो इस धारा के अधीन सुसंगत हो जाते हैं, इस अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन सुसंगत होना अनिवार्य नहीं है परन्तु उनकी सुसंगति की मात्रा उस सीमा पर निर्भर करेगी जो, न्यायालय के विचार में, उनको विवाद्यक तथ्यों या सुसंगत तथ्यों से अधिसंभाव्य बनाती है।''

धारा 12 :

इस धारा में कहा गया है कि नुकसानी के लिए वादों में रकम अवधारित करने के लिए न्यायालय को समर्थ करने की प्रवृत्ति रखने वाले तथ्य सुसंगत हैं।

पर्याप्त चर्चा के पश्चात् आयोग ने यह महसूस किया है कि 69वीं रिपोर्ट में ''नुकसानी'' शब्द के स्थान पर ''प्रतिकर'' शब्द प्रतिस्थापित किया जाए जो अधिक अर्थसूचक है। आयोग ने मानहानि, संविदा-भंग होने (संविदा अधिनियम, धारा 73), अपकृत्य के लिए वादों तथा (अवार्ड) मनस्ताप आदि के मामलों में नुकसानी के लिए अधिनिर्णयों का निर्देश किया है।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 8.28 में कहा गया है कि ''नुकसानी'' और ''प्रतिकर'' शब्दों के बीच व्युत्पत्ति संबंधी अन्तर है जहां ''नुकसानी'' शब्द किसी त्रुटिपूर्ण कार्य या चूक द्वारा कारित हानि या क्षति के लिए क्षतिपूर्ति करने हेतु दंड स्वरूप बदला चुकाने हेतु दिए गए निर्णय के रूप में प्रयुक्त होता है, वहीं ''प्रतिकर'' शब्द किसी ऐसे विधिसम्मत कार्य के संबंध में प्रयुक्त होता है जिससे कोई ऐसी क्षति कारित हुई हो जिसके बारे में किसी विशिष्ट विधि जैसे भूमि अर्जन, के उपबंधों के अधीन परित्राण प्राप्त कर लिया गया हो।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 8.29 में एम.आर. एशर के निर्देश का (डिक्शन बनाम कैलक्राफ्ट) (1892. 1. क्यू.बी. 458) निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया गया है :

> ''प्रतिकर'' नामक अभिव्यक्ति साधारणतया ''नुकसानी'' के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त नहीं होता है। यह किसी ऐसे विधिसम्मत कार्य के संबंध में प्रयुक्त होता है जिससे क्षति कारित हुई है। इसलिए, मेरे विचार में,उस शब्द में ''नुकसानी'' स्वतंत्ररूप से सम्मिलित नहीं होगा।''

इसी रिपोर्ट के पैरा 8.30 में यह स्पष्ट किया गया है कि ''नुकसानी'' शब्द सिविल मामलों के लिए ही सीमित है परन्तु बहुत से देशों की विधिक प्रणाली में प्रतिकर संबंधी दावों के बारे में कार्यवाही करना आपराधिक न्यायालयों का दायित्व बनाया गया है।

इसी रिपोर्ट के पैरा 8.38 में, इस तथ्य का निर्देश किया गया है कि सम्पत्ति अर्जन के लिए ''प्रतिकर'' के आस्ट्रेलिया के एक मामले में जे. डिक्शन ने कहा है कि यह ''हानि का बदला चुकाना'' है और आस्ट्रेलिया के ही एक अन्य मामले में मुख्य न्यायाधीश लॉथन के दृष्टिकोण के अनुसार ''प्रतिकर'' शब्द पर्याप्त रूप में विस्तृत है और इसके साधारण महत्व के अन्तर्गत किसी नाविक को हुई क्षति के लिए क्षतिपूर्ति धन भी सम्मिलित है।

इसके पश्चात्, उक्त रिपोर्ट के पैरा 8.40 में आयोग ने सिफारिश की है कि ''नुकसानी'' शब्द के स्थान पर ''प्रतिकर'' शब्द प्रतिस्थापित किया जाए।

यह देखा जा सकता है कि आयोग ने जहां एक ओर एम.आर. एशर के इस दृष्टिकोण का निर्देश किया है कि ''प्रतिकर'' शब्द साधारणतया ''नुकसानी'' के लिए प्रयुक्त नहीं होता है वहीं आयोग ने दूसरी ओर मुख्य न्यायाधीश लॉथन के इस आशय के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया है कि ''प्रतिकर'' शब्द ''नुकसानी'' शब्द सम्मिलित होगा। हम सादर यह महसूस करते हैं कि इन दोनों पैराओं में पर्याप्त असंगति है।

जहां तक ''नुकसानी'' शब्द का संबंध है, यह संविदा अधिनियम की धारा 73 में प्रयुक्त हुआ है। किसी अन्य की भूमि पर अतिचार करने वाला व्यक्ति क्षतिपूर्ति का दायी है। दूसरी ओर ''प्रतिकर'' किसी अन्य की भूमि के विधिसम्मत अर्जन के लिए देय होगा। भूमि अर्जन अधिनियम में ''प्रतिकर'' शब्द का प्रयोग किया गया है।

मोटर यान अधिनियम, 1939 और 1988 में जब किसी घायल व्यक्ति अथवा मृतक के आश्रितों द्वारा क्षति के लिए दावों का निर्देश किया गया है तब ''प्रतिकर'' शब्द का प्रयोग किया गया है यद्यपि जिस कार्य से क्षति पहुंची है वह विधिसम्मत नहीं है।

इन सभी विचारों को मस्तिष्क में रखते हुए और इस बात पर विचार किए बिना कि ''नुकसानी'' शब्द कतिपय परिस्थितियों या संदर्भों में प्रयुक्त हुआ है और प्रतिकर शब्द अन्यों में और यह कि इस बारे में भिन्न-भिन्न मत हैं इनमें से शब्द की परीधि में दूसरा भी आ जाता है, यही बेहतर होगा कि दोनों शब्दों का ही प्रयोग किया जाए। हम सिफारिश करते हैं कि धारा 12 के शीर्षक और संरचना में ''नुकसानी'' शब्द से पहले ''प्रतिकर या'' शब्द अन्त:स्थापित किए जाएं।

धारा 13 :

वर्तमान धारा 13 का पाठ निम्नलिखित है :

''धारा 13 : जबकि अधिकार या रूढ़ि के अस्तित्व के बारे में प्रश्न है, निम्नलिखित तथ्य सुसंगत हैं'' :

जहां कि किसी अधिकार या रूढ़ि के अस्तित्व के बारे में प्रश्न है, निम्नलिखित तथ्य सुसंगत हैं :—

(क) कोई संव्यवहार, जिसके द्वारा प्रश्नगत अधिकार या रूढ़ि सृष्ट, दावाकृत, उपांतरित, मान्यकृत, प्राख्यात या प्रत्याख्यात की गई थी या जो उसके अस्तित्व से असंगत था ;

(ख) वे विशिष्ट उदाहरण, जिनमें यह अधिकार या रूढ़ि दावाकृत, मान्यकृत या प्रयुक्त की गई थी या जिनमें उसका प्रयोग विवादग्रस्त या प्राख्यात किया गया था या उसका अनुसरण नहीं किया गया था।

इस धारा के अधीन इस प्रकार सुसंगत हो जाती है तब उस कार्यवाही में दिया गया निर्णय ऐसी विधिक कार्यवाही के साक्ष्य के रूप में स्वीकार्य हो जाता है परन्तु वह तथ्यों के निष्कर्षों या निर्णय में अन्तर्विष्ट कारणों को सुसंगत नहीं बना सकेगा।''

अपवाद : इस धारा में कोई भी बात दस्तावेजों में सीमाओं के कथनों को जो उन्हीं पक्षकारों के या उनके संसर्गियों के बीच के नहीं हैं, सुसंगत नहीं बनाएगी।

हमने 1977 से पूर्व की , जब 69वीं रिपोर्ट प्रस्तुत की गई थी तथा इसके पश्चात् की निर्णय जनित विधि का अध्ययन किया है और हमने पाया है कि उपर्युक्त सिफारिशों में कतिपय उपांतरणों की आवश्यकता है।

जहां तक प्रस्तावित स्पष्टीकरण के प्रथम भाग का संबंध है, उस संबंध में कोई विवाद नहीं है—जब उसमें कहा गया है कि पूर्ववर्ती विधिक कार्यवाही सुसंगत हो सकेगी, चाहे वह उन्हीं समान पक्षकारों के बीच का हो अथवा नहीं और यह कि उस कार्यवाही में दिया गया निर्णय ऐसी विधिक कार्यवाही के साक्ष्य के रूप में स्वीकार्य होगा।

प्रश्न, स्पष्टीकरण के बाद वाले भाग के बारे उठता है जिसमें कहा गया है कि उसमें अन्तर्विष्ट तथ्यों के सुसंगत निष्कर्ष स्वीकार्य नहीं हैं। जहां तक कारणों का संबंध है, ठीक है, वे बाद की किसी विधिक कार्यवाही में स्वीकार्य नहीं हो सकेंगे।

प्रस्तावित ''अपवाद'' के बारे में भी प्रश्न उठता है तथा क्या दस्तावेजों के, जो उन्हीं पक्षकारों के बीच नहीं के नहीं हैं, कथन अस्वीकार्य होंगे और क्या दस्तावेज खंड (क) में संव्यवहारों के अन्तर्गत आते हैं या ये खंड (ख) में विशिष्ट उदाहरणों के अन्तर्गत आएंगे।

चर्चा के विस्तार को समझते हुए, हम अब इस विषय से संबंधित, 1977 के पश्चात् की निर्णय जनित विधि का निर्देश करेंगे।

जहां तक पक्षकारों से पृथक के निर्णयों का संबंध है, प्रिवी काउंसिल ने इन्हें 'संव्यवहार' शब्द के अर्थ के अन्तर्गत आने वाले स्वीकारते हुए धारा 13 के अधीन ग्राह्य माना है। देखें **रामरंजन** बनाम **राम नारायण** (1895) आई.एल.आर. 22 कलकत्ता 533–22 आई.ए. 60 और **दिनोमोनी बनाम ब्रजमोहिनी:** (1901) आई.एल.आर. 29 कलकत्ता 187–29 आई.ए. 24 और इस स्थिति को **कलक्टर ऑफ गोरखपुर** बनाम **राम सुन्दरमल** (ए. आई.आर. 1934 पी.सी. 157–51 आई.ए. 286) मामले में स्पष्ट किया है जहां लार्ड ब्लानिसबर्ध ने सर जॉन वुडरोफ द्वारा अपनी टिप्पणी में अपनाए गए विपरीत दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए निम्नलिखित विचार व्यक्त किया :

> ''उसका (वुडरोफ) दृष्टिकोण होगा कि वे (निर्णयों में किए गए कथन) धारा 13 के अधीन स्वीकार्य नहीं हैं परन्तु यह दृष्टिकोण **रामरंजन चक्रवर्ती** बनाम **राम नारायण सिंह** तथा **दिनोमनी** बनाम **ब्रजमोहिनी** मामले में बोर्ड के निर्णयों के अनुरूप नहीं है।''

इस विषय में कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि भारत के उच्चतम न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि कोई निर्णय, जो समान पक्षकारों के बीच का नहीं है, धारा 13 के अधीन संव्यवहार के रूप में सुसंगत और ग्राह्य हैं। देखें **श्रीनिवास** बनाम **नारायण** (ए.आई.आर. 1954 सु.को. 379) (तीन विद्वत न्यायाधीश), **शीतल दास** बनाम **संतराम** ए.आई.आर. 1954 सु.को. 606 (चार विद्वत न्यायाधीश द्वारा), मामले के अनुसार कोई निर्णय संव्यवहार है। 1999 में **तिरूमाला तिरूपति देवस्थानप** बनाम **के.एस. कृष्णैया** 1998 (3) एस.सी.सी. 331–ए.आई.आर. 1998 सु.को. 1132 (दो विद्वत न्यायामूर्तियों द्वारा) मामले में इन निर्णयों का अनुसरण किया गया। अन्तिम निर्णय का हाल ही में मधुकर **डी. शेन्डे** बनाम **ताराबाई शैडगे** जे.टी. 2002 (1) एस.सी. 74 (दो विद्वत न्यायाधीश) मामले में अनुसरण किया गया।

नि:संदेह, उच्चतम न्यायालय की तीन न्यायमूर्तियों की पीठ ने **बिहार राज्य** बनाम **राधाकृष्ण सिंह** ए.आई.आर. 1983 सु.को. 684 (पृष्ठ 711–712) मामले में विपरीत दृष्टिकोण अपनाया परन्तु **शीतलदास** के मामले में (1954 में), उपर्युक्त

चार न्यायमूर्तियों द्वारा दिए गए निर्णय की दृष्टि से और बड़ी संख्या में मामलों में तदनुरूपी दृष्टिकोण अपनाए जाने को ध्यान में रखते हुए, हम इस मामले को धारा को शासित करने वाला नहीं मान सकते। दुर्भाग्यवश, न्यायालय ने 1954 की दो पूर्ववर्ती व्यवस्थाओं का निर्देश नहीं किया । इसके अतिरिक्त, न्यायालय ने प्रिवी काउंसिल के दो पूर्ववर्ती निर्णयों का निर्देश किया जो भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की अधिनियमिति से पूर्व दिए गए थे तथा प्रिवी काउंसिल के अन्य निर्णयों का भी निर्देश किया जिनमें, यह अभिनिर्धारित करते हुए कि धारा 13 लागू नहीं होती है, इस विषय पर इंग्लिश विधि पर निर्भर किया गया, जो भिन्न है। हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि 69वीं रिपोर्ट में विधि आयोग ने इस तथ्य का निर्देश किया है कि इंग्लिश विधि भिन्न थी (देखें पैरा 8.71 से 8.73 तक) जैसाकि न्यायमूर्ति महमूद ने **कलक्टर ऑफ गोरखपुर** बनाम पालकधारी आई.एल.आर. 1899-12 इला० I मामले में कहा था।

अत: हम कतिपय निर्णयों में तथा 69 वीं रिपोर्ट में स्वीकार किए गए इस तथ्य से आरम्भ करते हैं—कि निर्णय जो समान पक्षों के बीच के नहीं है, धारा 13 के खंड (क) के अधीन संव्यवहारों के रूप में स्वीकार्य होंगे।

अगला प्रश्न यह उठता है कि किस सीमा तक ध्यान रखा जा सकता है। हम 69वीं रिपोर्ट से सहमति व्यक्त करते हैं कि पूर्ववर्ती निर्णयों में, जो समान पक्षकारों बीच के नहीं है, दिए गए कारणों को परवर्ती मामलों में स्वीकार्य नहीं माना जाएगा।

अगला प्रश्न यह है कि क्या पूर्ववर्ती निष्कर्ष सुसंगत हैं।

हम **दिनोमोनी** बनाम **ब्रजमोहनी** (1902) आई.एल.आर. 29 कलकत्ता 187-29 आई.ए. 24 मामले का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं जिसका सही होने की **कलक्टर ऑफ गोरखपुर** बनाम **रामसुंदरमल** ए. आई. आर. 1934 पी सी 157 मामले में पुनरावृत्ती की गई। उस निर्णय में लार्ड लिन्डले ने टिप्पणी की है कि पूर्ववर्ती निर्णयों को, जो एक ही पक्षकरों के बीच के नहीं हैं, टिप्पणियों के लिए ध्यान में रखा जा सकता है "पक्षकार चाहे जो भी हो, विवादग्रस्त भूमि चाहे जैसी भी हो, और **उन पर कब्जा रखने के लिए चाहे किसी को भी हकदार घोषित किया गया हो**"।

कलक्टर ऑफ गोरखपुर बनाम **रामसुंदरमल** ए.आई.आर. 1934 पी.सी. 157 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि **दिनोमीनी** मामले का यह दृष्टिकोण कि सामान्य सिद्धान्तों पर और धारा 13 के अधीन, दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन किए गए आदेश **बोर्ड के निर्णय से पृष्ठ 191 पर दिए गए अनुच्छेद में उल्लिखित प्रयोजनों के लिए** स्वीकार्य हैं। (दिनोमीनी मामले में लार्ड लिन्डले के निर्णय) (यह स्पष्ट निर्देश करता है कि "विवाद में कौन पक्षकार थे, विवादग्रस्त भूमि कैसी थी, और किसे कब्जा रखने का हकदार घोषित किया गया") आगे यह टिप्पणी की गई कि डिक्री जिस वंशावली से संबंधित थी ऐसा साक्ष्य हो सकता है कि इस प्रकर की वंशवाली 1805 के बाद में फाइल की गई थी और आगे भी निम्नलिखित टिप्पणी की गई :—

> "यहां यह साबित करने के उदेश्य से सभी यही चाहते थे कि रानी द्वारा 1805 में फाइल की गई वंशावली प्रतिवादी 2 के बोधमल के वंश से होने की स्वीकृति है, डिक्री में किए गए इस कथन को कि प्रस्तुत की गई वंशावलियां पक्षकारों द्वारा फाइल की गई थी, प्रयोग करना है। यदि सार्वजनिक कार्यालयों द्वारा रिकार्ड में की गई अन्य प्रविष्टियां स्वीकार्य हैं तो डिक्री इस जैसी किसी प्रविष्टी को अस्वीकार्य बताना हास्यास्पद बात होगी। परिणामस्वरूप, उनकी लार्डशिप यह अभिनिर्धारित करने को तैयार है कि वंशावली धारा 135 के अधीन स्वीकार्य है। उनके निर्णय में बोर्ड के उपर्युक्त दो निर्णय और भी, इसे **धारा 13 के अधीन** स्वीकार्य अभिनिर्धारित करने के लिए पर्याप्त रूप से सक्षम हैं रानी द्वारा 1805 में फाइल की गई वंशावली यदि स्वीकार्य है तो यह **वर्तमान रानी को हित में उसका प्रतिनिधि माने जाने के विरुद्ध धारा 21 के अधीन स्पष्ट रूप से सुसंगत स्वीकृति है** और साक्ष्य अधिनियम की धारा 18 की परिभाषा के भीतर भी एक स्वीकृति है।"

पहले तो किसी पूर्ववर्ती मामले में फाइल की गई वंशावली साक्ष्य है और उसमें संबंध की स्वीकृति भी इसे फाइल करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध स्वीकार्य है।

श्री निवास बनाम **नारायण** (ए.आई.आर. 1954 सु.को. 379) मामले में एक संयुक्त हिन्दू परिवार की विधवा का एक पूर्ववर्ती वाद था जिसमें उसने अपने भरण-पोषण के लिए दावा किया था। वाद में यह अनुरोध किया गया था कि भरण-पोषण का अधिकार परिवार की संयुक्त सम्पत्ति पर हो। भरण-पोषण की राशि संयुक्त परिवार की संपत्ति की सीमा पर निर्भर करती थी। उस वाद में परिवार की संपत्ति की सीमा के बारे में विवाद्य विषय बनाया गया। विभाजन के संबध में एक परवर्ती वाद में किसी प्राख्यन का निर्देश करने के प्रयोजन से कि कतिपय संपत्तियां संयुक्त परिवार की हैं, पूर्ववर्ती निर्णय को स्वीकार्य अभिनिर्धारित किया गया।

शीतल दास बनाम **संतराम** (ए.आई.आर.1954 सु.को. 606) मामले में प्रश्न यह था कि क्या शीतलदास, किशोरदास का आत्मिक सगोत्र था, अन्तिम महंत जिसकी मृत्यु 4-4-1945 को हुई थी और जिसके पद के लिए भतीजा चेले के रूप में शीतलदास ने दावा किया था। उसने अपने को रामकृष्णदास की चौथी पीढ़ी का वारिस बताया जिसके माध्यम से दिवंगत किशोरदास ने भी अपना आत्मिक वंश पाया था । रामकृष्णदास का शिष्य था ब्रह्मदास और उसका शिष्य था मंगलदास, मंगलदास का शिष्य था साधूराम और वादी शीतलदास,जिसमें किशोरदास ने अपने को मंगलदास का आत्मिक वंशज होने का दावा किया था और इस प्रकार मंगलदास को रामकृष्णदास का शिष्य स्वीकार कर लिया गया था। वह स्वीकृति वादी को चौथी पीढ़ी का वंशज स्वीकार करेगी। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि पूर्ववर्ती निर्णय.....एक संव्यवहार के रूप में स्वीकार्य था जिसमें किशोरदास ने अपने को मंगलदास का आत्मिक वंशज होने के अधिकार का दावा किया था और इस आधार पर डिक्री पाई थी ।डिक्री में किशोरदास को आत्मिक रूप मे वाद संस्थित करने की मान्यता भी प्रदान की ..... यह निर्णय..... मामले में दिए गए मौखिक साक्ष्य के समर्थन में प्रयोग किया जा सकेगा.....यह पूर्णतया सुस्थापित हुआ कि शीतलदास किशोरदास का आत्मिक वंशज था।

तिरुमाला तिरुपति देवस्थानम् (ए.आई.आर.1998 सु.को. 1132) मामले में वादी (कृष्णैया) द्वारा 1998 में दायर किए गए वाद में देवस्थानम तिरुपति के देवता बालाजी का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रतिवादी था और उसने 15-6-1942 के एक पूर्ववर्ती निर्णय पर निर्भर किया जो उसने अपना हक साबित करने के लिए हाथीरामजी मठ के विरुद्ध 1937 में दायर किया था और उस निर्णय में देवता के पक्ष में 1887 के **हक बिलेखों** का तथा 1846 से देवता का कब्जा दर्शाते हुए दस्तावेजों का निर्देश किया गया। देवास्थानम् ने न्यायालय के माध्यम से ई.पी. सं. 2, 1946 में भूमि का कब्जा प्राप्त कर लिया था। प्रत्यार्थी ने कब्जा रखने वाले के हक का दावा किया। उच्चतम न्यायलय ने **दनोमोनी** बनाम **ब्रजमोहनी** (1902) आई.एल.आर. 29 कलकत्ता 190 मामले का निर्देश किया और अभिनिर्धारित किया कि देवस्थानम अपने हक के साक्ष्य के रूप में पूर्ववर्ती निर्णय पर निर्भर कर सकेगा।

मधुकर डी शेन्डैज [जे.टी. 2002(1)सु.को. 74] मामले में अपीलार्थी वादी ने प्रतिवादी (सम्पत्ती का अधिक्रमणकर्ता) के विरुद्ध रजिस्टर्ड विल का सहारा लिया जिसकी वैद्यता प्रश्नगत थी और जिसे उसी वादी द्वारा दायर किए गए पहले के एक वाद में, उसी प्रतिवादी द्वारा अभिधारित परन्तु किराएदार के रूप में, एक अन्य सम्पत्ति के बारे में वैद्य ठहराया गया था । दोनों संपत्तियां विल के अधीन थीं प्रतिवादी की ओर से यह तर्क दिया गया कि पूर्ववर्ती निर्णय पूर्व-न्याय नहीं था क्योंकि संपत्ति भिन्न थी, यद्यपि, उसी विल के अन्तर्गत आती थी। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि जहां तक पूर्व न्याय का संबंध है, उसके बारे में स्थिति चाहे जो भी हो, पूर्व न्याय धारा 13 के अधीन तथा उक्त निर्णय में अभिलिखित **तथ्यों और निष्कर्षों** के संबंध में भी सुसंगत था।

यह देखा जा सकेगा कि धारा का खंड (क) किसी ऐसे संव्यवहार का निर्देश करता है जिसके द्वारा अधिकार सृष्ट, दावाकृत, उपांतरित, मान्यकृत, प्राख्यात तथा प्रत्याख्यात हुआ था या जो उसके अस्तित्व से असंगत था। यहां मान्यकृत शब्द से पूर्ववर्ती संव्यवहारों में प्रख्यात अधिकार अभिप्रेत है अर्थात् किसी पूर्ववर्ती निर्णय में मान्यकृत अधिकार। क्या किसी पूर्ववर्ती निर्णय, जो उन्ही पक्षकारों के बीच का न हो, के निष्कर्ष जिनमें किसी एक पक्षकार का हक घोषित किया गया हो, उपर्युक्त शब्दों के अन्तर्गत नहीं जाते हैं, यदि निष्कर्ष संपत्ति पर हक की या रक्त संबंधों की मान्यता के बारे में था ?

प्रिवी काउंसिल द्वारा निर्णीत गोविन्द भाराप्पण बनाम श्यामलाल ए.आई.आर. 1931 पी.सी. 89 मामले में एक समस्या पैदा हुई है। उसमें कहा गया है :

"कोई निर्णय, जो समान पक्षकारों के बीच का नहीं है, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि किसी संपत्ति का विभाजन साबित हो गया था, किसी विशिष्ट संव्यवहार को सुस्थापित करने के लिए, जिसमें संपत्ति का विभाजन आख्यात और मान्याकृत हुआ था, केवल धारा 13 और धारा 43 के अधीन स्वीकार्य है।"

इस सीमा का कोई विवाद नहीं है परन्तु अगला वाक्य निम्नलिखित है :—

".....ये कारण जिन पर निर्णय आधारित है संव्यवहार के भाग नहीं है और न ही इन्हें ऐसा माना जाएगा और न ही उसमें के किसी तथ्य का निष्कर्ष, स्वयं संव्यवहार के अतिरिक्त किसी परवर्ती वाद में विभाजन साबित करने के लिए सुसंगत होगा।"

यहां भी, ऐसा कोई विवाद नहीं हो सकता कि एक निर्णय में दिए गए कारण बाद के किसी वाद की कार्यवाही में सुसंगत नहीं हो सकेंगे। परन्तु यह कहने से प्रिवी काउंसिल का तात्पर्य क्या था कि वहां पाए गए तथ्य के निष्कर्ष, स्वयं संव्यवहार के अतिरिक्त सुसंगत नहीं हो सकेंगे, विचार करने का विषय है। हम यह उपधारणा करें कि पूर्ववर्ती निष्कर्ष ऐसा है जो "अधिकार की मान्यता" के बारे में है। तब क्या यह कहा जा सकेगा कि यह स्वीकार्य नहीं है ? वास्तव में, उद्धृत वाक्य में ऐसा स्वीकार्य किया गया है कि किसी पूर्ववर्ती निर्णय में अधिकार की मान्यता सुसंगत है। कोई अन्य दृष्टिकोण धारा 13 की भाषा का प्रतिरोधी होगा।

उपर्युक्त मामले में तथ्यों का गहराई से अध्ययन करना होगा। पूर्ववर्ती निर्णय संपत्ति की विभाजनीयता से संबंधित था यदि यह "अविभाजनीय सम्पदा" थी तब स्पष्टतया सम्पदा विभाजनीय नहीं थी। पूर्ववर्ती वाद में विभाजनीय अभिनिर्धारित किया गया जबकि अपरा एस्टेट से संबंधित एक परवर्ती वाद में प्रिवी काउंसिल ने पूर्ववर्ती निर्णय का निर्देश करते हुए (उपर्युक्त उद्धरण के पश्चात् निम्नलिखित वाक्य में) निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :

"..... इसलिए निर्णय इस बात का साक्ष्य नहीं है कि ठाकुर सिब सिंह को अपरा ग्राम विभाजन में प्राप्त हुए, अधिक से अधिक यह साक्ष्य है कि वह ऐसा कर सकता था, और पर्याप्त नहीं था....."

और अचरा एस्टेट को रूढ़ि तथा अन्य साक्ष्य के आधार पर अविभाजनीय अभिनिर्धारित किया। इस प्रकार यह मामला विभिन्न पक्षकारों के बारे में था और इस प्रकार एक संपत्ति के बारे में पूर्ववर्ती निष्कर्ष भिन्न संपत्तियों से संबंधित एक बाद के मामले में सुसंगत नहीं अभिनिर्धारित किया गया था।

हमने देखा है कि इन तथ्यों पर ध्यान दिए बिना ही कतिपय उच्च न्यायालयों ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि पूर्ववर्ती निर्णयों, जो उन्हीं पक्षकारों के संबंध में न हों, के निष्कर्ष स्वीकार्य नहीं होंगे। कतिपय अन्य उच्च न्यायालयों ने वास्तव में यह दृष्टिकोण अपनाया है कि वे स्वीकार्य हैं। "स्वयं संव्यवहार से भिन्न" से प्रिवी काउंसिल का क्या अभिप्राय है अब उन्होंने यह कहा जो स्पष्ट नहीं है कि "स्वयं संव्यवहार से भिन्न तथ्य का निष्कर्ष" सुसंगत नहीं है।

उच्चतम न्यायालय तथा प्रिवी काउंसिल (दिनोमोनी जैसे) के निर्णयों के विश्लेषण की दृष्टि से हमें यह निश्चित करना है कि पूर्ववर्ती निर्णयों के निष्कर्षों, चाहे वे अधिकार की मान्यता से संबंधित हों, को अस्वीकार घोषित करना होगा जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में धारा 13 में जोड़ने के लिए स्पष्टीकरण के बाद वाले भाग में प्रस्ताव किया गया है अर्थात् पूर्ववर्ती निर्णय में सभी निष्कर्षों को अपवर्जित करते हुए।

उच्चतम न्यायालय के निर्णय पर विचार करने पर जहां संपत्ति के हक या रक्त संबंधों के बारे में निष्कर्षों को अधिकारों को मान्य माना गया, हम 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित स्पष्टीकरण के दूसरे भाग से, जहां सभी निष्कर्षों को अपवर्जित माना गया है, सादर सहमत नहीं हो सकेंगे।

हमारे विचार में, यह कहना आवश्यक है कि पूर्ववर्ती निर्णयों के निष्कर्ष भी सुसंगत हो सकेंगे यदि बाद वाले वाद में विवाद का अधिकार पूर्ववर्ती मामले के निष्कर्षों से निकट संबंध रखता है।

एक अन्य पहलू यह है कि प्रस्तावित स्पष्टीकरण के आरम्भिक भाग में "चाहे वह उन्हीं समान पक्षकारों या उनके संसर्गियों के बीच का है अथवा नहीं" शब्दों का प्रयोग किया गया है। अब, यदि पक्षकार या उनके संसर्गी वही हैं तो पूर्व न्याय का सिद्धांत लागू हो जाएगा और धारा 13 का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। अतः हम इन शब्दों को भी निकाल देने का प्रस्ताव करते हैं।

हमारे विचार में, निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ना ही पर्याप्त रहेगा :—

"स्पष्टीकरण 1 :—कोई पूर्ववर्ती विधिक कार्यवाही चाहे वह उन्हीं पक्षकारों या उनके संसर्गियों के बीच की थी या नहीं, इस धारा के अर्थ के भीतर एक संव्यवहार या उदाहरण के रूप में सुसंगत हो सकेगी और जब कोई विधिक कार्यवाही इस धारा के अधीन इस प्रकार सुसंगत हो जाती है तब उस कार्यवाही में दिया गया निर्णय या आदेश ऐसी विधिक कार्यवाही, तथ्यों के निष्कर्षों के साक्ष्य के रूप में स्वीकार्य हो जाता है परन्तु ऐसे निर्णय या आदेश में अन्तर्विष्ट उनके कारण सुसंगत नहीं होते, परन्तु इस स्पष्टीकरण की किसी भी बात से किसी अन्य धारा के अधीन किसी निर्णय या आदेश की सुसंगति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।"

जहां तक पक्षकारों के नामों, विधियों के वर्णनों और अधिकारों आदि की मान्यता की सीमा का संबंध है, हमारे विचार से कोई विस्तृत उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है और यह कि उच्चतम न्यायालय के विद्यमान निर्णय ही पर्याप्त रूप से स्पष्ट हैं। हमें यह कहने की भी आवश्यकता नहीं है कि पूर्ववर्ती वाद के निष्कर्ष सुसंगत हैं या पूर्ववर्ती मामलों में दिए गए कारण सुसंगत नहीं हैं।

समान पक्षकारों से भिन्न दस्तावेजों में विवरण या कथन (सीमा कथनों सहित)

यह पहलू 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित अपवाद से संबंधित है जिसके द्वारा दस्तावेजों में सीमाओं के बारे में दिए गए विवरणों को अपवर्जित रखने का प्रस्ताव किया गया है।

हम एक साधारण उदाहरण से आरम्भ करते हैं। 'ए' ने रजिस्टर्ड विलेख द्वारा 1980 में, 'बी' को पूर्व दिशा की संपत्ति बेची और निम्नलिखित रूप में सीमाओं का वर्णन किया (सीमा का क्षेत्रफल तथा लम्बाई भी दिए गए) :

पूर्व : मि. 'पी' की संपत्ति (100 फीट)

दक्षिण : मि. 'क्यू' की संपत्ति (200 फीट)

पश्चिम : मि. 'ए' की संपत्ति (100 फीट)

उत्तर : मि. 'आर' की संपत्ति (200 फीट)

(200 फीट) उत्तर

'आर'

.....

'ए' (100 फीट) 'बी' 'पी' (200 फीट)

(200 फीट)

'क्यू'

वर्ष 2000 में 'बी' क्रेता द्वारा उत्तर दिशा से. मि. 'आर' की सम्पत्ति का अतिक्रमण किए जाने का विवाद आरम्भ होता है और 'आर' द्वारा 'बी' के विरुद्ध वाद दायर किया जाता है और 'आर' 'ए' द्वारा 'बी' के पक्ष में किए गए विक्रय विलेख पर निर्भर करना चाहता है और 'बी' की सम्पत्ति की उत्तर दिशा में 'आर' की सम्पत्ति और उसकी माप दर्शाना चाहता है या हम ऐसा मामला ले लें जहां 'आर' 'बी' की क्रय की गई सम्पत्ति का अतिक्रमण करता है। 'बी' 'ए' द्वारा किए गए विक्रय विलेख पर निर्भर करता है। हो सकता है 'आर' के सामने ऐसा मामला हो कि 'ए' ने 'बी' को जो संपत्ति बेची थी वह 'ए' की नहीं थी। 'आर' के पास यह साबित करने के लिए दस्तावेज हो सकते हैं कि वह भूमि के उस भाग का स्वामी है जिसे कि 'बी' की संपत्ति कथित अतिक्रमण बताया गया है या हो सकता है उसके पास कोई साक्ष्य ही न हो।

अब यहां प्रश्न यह है कि क्या 'ए' द्वारा 'बी' को किए गए विक्रय विलेख के कथन पूर्व में उसकी सम्पत्ति के विक्रय के विषय में सुसंगत हैं अथवा नहीं। **यह सही है कि 'आर' उसमें पक्षकार नहीं है।** पहले उदाहरण में जहां 'बी' ने 'आर' की संपत्ति का अतिक्रमण किया है, 'आर' कह सकेगा कि विक्रय विलेख इस बात की स्वीकृति है कि 'आर' की संपत्ति के रूप में दर्शायी गई संपत्ति पर 'बी' का किसी प्रकार का कोई अधिकार नहीं है। दूसरे उदाहरण में जहां 'आर' अतिक्रमणकर्ता है 'बी' कह सकेगा कि उसने यह संपत्ति 'ए' से क्रय की है और उस पर 1980 से काबिज है और 'ए' ने 'बी' के कब्जे के बारे में 20 वर्षों से या इससे भी अधिक समय से कोई विरोध नहीं किया। बाद के मामले में यह स्वीकृति नहीं है। एक तथ्य है सीमा के बारे में जो उसके निकट पड़ौसी 'ए' के ज्ञान में था जिसने दावा किया था कि वह 'आर' की संपत्ति के दक्षिण की दिशा की संपत्ति का स्वामी था जिसे उसने 1980 में 'बी' को विक्रय कर दिया था।

इन दोनों ही उदाहरणों में, कोई भी अपने सामान्य ज्ञान से कह सकता है कि उत्तरी सीमा का कथन पहले उदाहरण में 'बी' के विरुद्ध तथा 'आर' के पक्ष में साक्ष्य है और दूसरे उदाहरण में 'बी' के पक्ष में तथा 'आर' के विरुद्ध पूर्ववर्ती संव्यवहार में, जहां दस्तावेजी साक्ष्य था, दस्तावेज के पक्षकारों द्वारा हक तथा कब्जे का दावा किया गया या दृढ़तापूर्ण अपना कब्जा बताया गया। हम मात्र इतना ही कह रहे हैं कि सीमा कथन अधिकारों को मान्यता देते हैं अधिकार सृष्ट नहीं करते और न ही वे निश्चयात्मक हैं।

हमने जो कुछ सीमा कथनों के बारे में कहा है वह पूर्ववर्ती दस्तावेजों में अन्य विवरणों के लिए भी इसी प्रकार लागू होता है।

जब हम निर्णय जनित विधि पर आते हैं तब उच्च न्यायालयों के विचारों में बहुत अन्तर पाते हैं। कतिपय उच्च न्यायालयों की धारणा है कि समान पक्षकारों के पृथक विवरण या सीमा-कथन स्वीकार्य नहीं हैं जबकि कतिपय अन्य उच्च न्यायालयों का कहना है कि वे स्वीकार्य हैं यद्यपि निश्चयात्मक नहीं हैं। अतः हम प्रिवी काउंसिल तथा उच्चतम न्यायालय के निर्णयों तक सीमित रहेंगे।

(1861-63)9 एम.आई.ए. 344(पी.सी.) में आर्य ब्राह्मणों ने पारीशाई भट्टार्स के विरुद्ध पुरूहित होने का दावा किया और अद्धायम आर्यों के भट्टार्स (तीसरा पक्ष) के 1675 के विलेख के साक्ष्य पर निर्भर किया। 1675 का विलेख इस विषय के लिए साक्ष्य अभिनिर्धारित किया गया कि आर्यों ने अधिकार का दावा किया और यह कि अद्धायम भट्टार्स ने आर्यों के पुरूहित होने के अधिकार को स्वीकार कर लिया।

निःसंदेह, **श्रीनिवासदास बनाम मोहिनीबाई** 1916 पी.सी. 5(44 आई. ए. 36) मामले में प्रिवी काउंसिल ने अभिनिर्धारित किया था कि विलेखों के कथन केवल विलेख के पक्षकारों या उनके माध्यम से या उनके अधीन दावा करने वालों के विरुद्ध साक्ष्य हैं। यहां उनकी लार्डशिप ने इस विषय पर विचार किया कि किसी दस्तावेज के एक पक्षकार की स्वीकृति क्या किसी गैर-पक्षकार के लिए बाध्यकारी होगी। प्रत्यक्षतः नहीं। उन्हें अन्य पक्षों के विरुद्ध उनकी सुसंगति के बारे में निर्णय नहीं करना था।

बहुत से मामलों में, यह स्वीकार किया गया है कि किसी पूर्ववर्ती दस्तावेज में किया गया कथन, जो पक्षकारों के बीच का नहीं था, यदि कथन करने वाले व्यक्ति के हितों के विरुद्ध है, किसी परवर्ती में, जो उन्हीं समान पक्षकारों के बीच की न हो, परन्तु जिसमें कथन करने वाला व्यक्ति एक पक्षकार है, सुसंगत हो सकेगा और यह कि दूसरी ओर कोई कथन, जो स्वहितायं है, सुसंगत हो सकेगा यद्यपि उसका साक्षीय महत्व दुर्बल होगा। इसे पूर्णतया अस्वीकार्य कहना सही विचार नहीं होगा। यहां भी हम 69वीं रिपोर्ट के दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं।

अब, 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित अपवाद, यद्यपि यह सीमा-कथनों तक ही सीमित है, का पाठ निम्नलिखित है :—

'**अपवाद** : इस धारा में कोई भी बात दस्तावेजों में सीमाओं के कथन को, जो उन्हीं पक्षकारों के या उनके संसर्गियों के बीच के नहीं हैं, सुसंगत नहीं बनाएगी।''

पहले की गई चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हमारा विचार यह है कि यह दृष्टिकोण अपनाना उचित नहीं होगा। अतः हम इस प्रस्ताव को छोड़ते हैं।

विधिक स्थिति को स्पष्ट करने के उद्देश्य से हम सिफारिश करते हैं कि निम्नलिखित स्पष्टीकरण-II अन्तः स्थापित किया जाए :

''**स्पष्टीकरण-II**: दस्तावेजों में किए गए कथन, जो उन्हीं पक्षकारों के या उनके संसर्गियों के बीच के नहीं हैं, अचल सम्पत्तियों के सीमा संबंधी कथनों सहित, किसी विधिक कार्यवाही में सुसंगत होंगे।''

अतः हम धारा 13 के नीचे उपर्युक्त स्पष्टीकरण-I और II अतः स्थापित करने की सिफारिश करते हैं।

धारा 14

धारा 14 मन या शरीर की दशा या शारीरिक संवेदना का अस्तित्व दर्शित करने वाले तथ्य की सुसंगति के बारे में है और इसमें दो स्पष्टीकरण और (क) से (त) तक 16 दृष्टांत दिए गए हैं। 69वीं रिपोर्ट में आयोग ने कहा है (देखें पैरा 8.154) कि धारा 14 में, दृष्टांत (ज) में रिपोर्ट के पैरा 8.150 में दर्शाए गए रुप में के अतिरिक्त, किसी अन्य संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

दृष्टांत (ज) का पाठ निम्नलिखित है :—

''(ज) 'क' ऐसी संपत्ति का, जो उसने पड़ी पाई थी, बेईमानी से दुर्विनियोग करने का अभियुक्त है और प्रश्न यह है कि क्या जब उसने उसका विनियोग किया उसे सद्भावपूर्वक विश्वास था कि वास्तविक स्वामी मिल नहीं सकता।

यह तथ्य कि संपत्ति के खो जाने की लोक सूचना उस स्थान में जहां 'क' था, दी जा चुकी थी, यह दर्शित करने के नाते सुसंगत है कि 'क' को सद्भावपूर्वक यह विश्वास नहीं था कि उसका वास्तविक स्वामी मिल नहीं सकता।

यह तथ्य कि 'क' यह जानता था या उसके पास यह विश्वास करने का कारण था कि सूचना कपटपूर्वक 'ग' द्वारा दी गई थी जिसने संपत्ति की हानि के बारे में सुन रखा था जो उस पर मिथ्या दावा करने का इच्छुक था, यह दर्शित करने के नाते सुसंगत है कि 'क' किस सूचना के बारे में ज्ञान 'क' के सद्भाव को नासाबित नहीं करता।''

आयोग ने 69वीं रिपोर्ट के पैरा 8.150 में निम्नलिखित रूप में बताया है:

''दृष्टांत (ज) में जहां यह बताया गया है कि यह तथ्य उस सम्पत्ति के खो जाने की लोक सूचना उस स्थान में, जहां 'क' था, दी जा चुकी थी, यह दर्शित करने के नाते सुसंगत है कि अभियुक्त 'क' को सूचना के बारे में ज्ञान था। अतः

यह वांछनीय होगा कि दृष्टांत (ज) में "उस स्थान में जहां 'क' था" शब्दों के पश्चात् "और ऐसे तरीके से कि 'क' को इसका ज्ञान था अथवा शायद उसे इसका ज्ञान था" जोड़ दिए जाएं। हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।"

हम इस सिफारिश से सहमत हैं।

हम देखते हैं कि दृष्टांत (क), (ख), और (घ) में ज्ञान; (ङ) में वैमनस्य; (च), (छ) और (ज) सद्भाव; (झ) और (ञ) आशय; (ट) मनोदशा; (ठ) और (ड) शारीरिक स्थिति; (द) उपेक्षा और (ण) और (त) में टिप्पणी की सीमा के बारे में बताया गया है। (देखें श्री वेपा पी. सारथी कामेंट्री, 5वां संस्करण पृष्ठ 63 से 68)

धारा 15

धारा 15 में कार्य आकस्मिक था या साशय था इस प्रश्न पर प्रकाश डालने वाले तथ्यों के बारे में बताया गया है। इस धारा के नीचे तीन दृष्टांत दिए गए हैं।

इस धारा का उद्देश्य दृष्टांत (क) के द्वारा भली भांति दिखाया गया है। इसमें एक ही व्यक्ति के पूर्व कृत्यों को क्रम से दर्शाया गया है जिसमें अग्निकांडों के कारण बीमे का दावा किया गया है। बाद की घटना में यह तथ्य कि पूर्वतम घटना में वही व्यक्ति सम्मिलित था यह दर्शाने के लिए कि आग लगने के कारण आकस्मिक थे या साशय थे, संगत हो सकता है। श्री वेपा पी. सारथी ने बताया है कि दृष्टांत में जिस तात्पर्य को दर्शाया गया है उसे धारा में सुस्पष्ट नहीं किया गया है, जैसे 'वही व्यक्ति' समस्त कृत्यों में सम्मिलित था। इस तात्पर्य को समाविष्ट करने के लिए हम श्री वेपा पी. सारथी के सुझाव से सहमत हैं और सिफारिश करते हैं कि धारा 15 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जाए:—

कार्य आकस्मिक या साशय था इस प्रश्न पर प्रकाश डालने वाले तथ्य

"15. जबकि प्रश्न यह है कि कार्य आकस्मिक या साशय था या किसी विशिष्ट ज्ञान या आशय से किया गया था तब यह तथ्य कि ऐसा कार्य समरूप घटनाओं की आवर्ती का भाग था जिसमें से हर एक घटना के साथ कार्य करने वाला वही व्यक्ति सम्पृक्त था, सुसंगत है"

हम श्री वेपा पी. सारथी की सिफारिश से सहमत हैं तथा तदनुसार हम सिफारिश करते हैं।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 8.187 से तदनुसार सहमत नहीं हैं जिसमें कहा गया है कि धारा 15 में संशोधन आवश्यक नहीं है।

<u>धारा 16</u>

यह धारा "कारबार के अनुक्रम के अस्तित्व" की सुसंगतता से संबंधित है। धारा 16 के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 8.187 में कहा गया है कि इसमें संशोधन की आवश्यकता नहीं है और हम इस दृष्टिकोण से सहमत हैं।

<u>धारा 17</u>

यह धारा "स्वीकृतियों" की सुसंगतता से संबंधित है। इसमें "इलैक्ट्रानिक रूप में अंतर्विष्ट" शब्द जोड़कर आयकर अधिनियम, 2000 (अधिनियम 21/2000) द्वारा संशोधन किया गया था।

69वीं रिपोर्ट (देखें पैरा 9.24) में कहा गया था कि धारा 17 में संशोधन की आवश्यकता नहीं है। उत्तरवर्ती निर्णयजन्य विधि के अध्ययन के पश्चात् हमारा मत है कि उपर्युक्त दृष्टिकोण से असहमत होने का कोई कारण नहीं है।

धारा 18 :

धारा 18, स्वीकृति—कार्यवाही के पक्षकार या उसके अभिकर्ता द्वारा; प्रतिनिधिक रूप में वादकर्ता द्वारा; विषय-वस्तु में हितबद्ध पक्षकार द्वारा; उस व्यक्ति द्वारा जिससे हित व्युत्पन्न हुआ हो, से संबंधित है।

इस धारा का पाठ निम्न प्रकार है :—

"धारा 18. स्वीकृति-कार्यवाही के पक्षकार या उसके अभिकर्ता द्वारा—वे कथन स्वीकृतियां हैं, जिन्हें कार्यवाही के किसी पक्षकार ने किया हो या ऐसे किसी पक्षकार के लिए किसी अभिकर्ता ने किया हो जिसे मामले की परिस्थितियों में न्यायालय उन कथनों को करने के लिए उस पक्षकार द्वारा अभिव्यक्त या विवक्षित रूप में प्राधिकृत किया हुआ मानता है, स्वीकृतियां हैं।

प्रतिनिधिक रूप में वादकर्ता द्वारा—वाद के ऐसे पक्षकारों द्वारा, जो प्रतिनिधिक हैसियत से वाद ला रहे हों या जिन पर प्रतिनिधिक हैसियत से वाद लाया जा रहा हो, किए गए कथन, जब तक कि वे उस समय न किए गए हों जबकि उनके करने वाला पक्षकार वैसी हैसियत धारण करता था, स्वीकृतियां नहीं हैं।

वे कथन स्वीकृतियां हैं, जो—

(1) विषय-वस्तु में हितबद्ध पक्षकार द्वारा—ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए हैं जिनका कार्यवाही की विषय-वस्तु में कोई सम्पत्तिक या धन संबंधी हित है और जो इस प्रकार हितबद्ध व्यक्तियों की हैसियत में वह कथन करते हैं; अथवा

(2) उस व्यक्ति द्वारा जिससे हित व्युत्पन्न हुआ हो— ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए हों, जिनसे वाद के पक्षकारों का वाद की विषय-वस्तु में अपना हित व्युत्पन्न हुआ है। यदि वे कथन उन्हें करने वाले व्यक्तियों के हित के चालू रहने के दौरान में किए गए हैं।"

69वीं रिपोर्ट (देखें पैरा 9.26) में यह बताया गया था कि धारा 18 के (i) अभिव्यक्ति (ii) तात्पर्य और (iii) संरचना और संयोजन में आंशिक परिवर्तन की आवश्यकता है।

हम जिन सुझावों से पूरी तरह सहमत हैं उसके अनुसार पैरा 1 को दो भागों में बांटे जाने की आवश्यकता है, एक पक्षकार संबंधी स्वीकृतियों से और दूसरा अभिकर्त्ता संबंधी स्वीकृतियों से और 'वाद' शब्द के स्थान पर 'सिविल कार्यवाही' प्रतिस्थापित करना। "प्रतिनिधिक हैसियत" अथवा "साम्पत्तिक या धन संबंधी हित" शब्दों को इस आशय से जोड़ा जाए कि स्वीकृतियां उन्हें करने वाले व्यक्ति अथवा हित के चालू रहने के दौरान में की गई हैं। हमारा यह भी विचार है कि उप-धारा (1) में "इस धारा के अन्य उपबंधों के अध्यधीन" शब्दों को उप-धारा के आरम्भ में अन्तःस्थापित किया जाए। इन संशोधनों के साथ, जिनकी हमने सिफारिश की है और जिनसे हम सहमत हैं, धारा अब निम्नलिखित रूप में पढ़ी जाएगी :

कार्यवाही के पक्षकार या उसके अभिकर्त्ता द्वारा अथवा विषय-वस्तु में हितबद्ध पक्षकार द्वारा अथवा उस व्यक्ति द्वारा जिससे हित व्युत्पन्न हुआ हो द्वारा स्वीकृतियां

"18. (1) इस धारा के अन्य उपबंधों के होते हुए वे कथन स्वीकृतियां हैं जिन्हें कार्यवाही के किसी पक्षकार ने किया हो जो उसके हित के विरुद्ध हो।

(2) वे कथन स्वीकृतियां हैं, जिन्हें कार्यवाही के किसी पक्षकार ने किया हो या ऐसे किसी पक्षकार के ऐसे किसी अभिकर्त्ता ने किया हो जिसे मामले की परिस्थितियों में न्यायालय उन कथनों को करने के लिए उस पक्षकार द्वारा अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से प्राधिकृत किया हुआ मानता है।

(3) सिविल कार्यवाही के ऐसे पक्षकारों द्वारा, जो प्रतिनिधिक हैसियत में कार्यवाही कर रहे हों, या जिन पर प्रतिनिधिक हैसियत में कार्यवाही की जा रही हो, किए गए कथन, जब तक कि वे उस समय न किए गए हों, जबकि उनको करने वाला पक्षकार वैसी हैसियत धारण करता था, स्वीकृति नहीं है।

(4) ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए हैं, जिनका कार्यवाही की विषय-वस्तु से कोई संयुक्त सांपत्तिक या धन संबंधी हित है और जो इस प्रकार हितबद्ध व्यक्तियों की हैसियत से वह कथन करते हैं, निम्नलिखित बातों को पूरा करने पर, स्वीकृतियां हैं :

(क) ऐसे व्यक्ति द्वारा, हितबद्ध व्यक्तियों की हैसियत से किए गए कथन और उन्हें करने वाले व्यक्तियों के हित के चालू रहने के दौरान किए गए हैं।

(ख) विषय-वस्तु की कार्यवाही से संबंधित कथन।

(5) ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए कथन, जिनसे सिविल कार्यवाही के पक्षकारों का सिविल कार्यवाही की विषय-वस्तु में अपना हित व्युत्पन्न हुआ है, स्वीकृतियां हैं, यदि वे कथन उन्हें करने वाले व्यक्तियों के हित के चालू रहने के दौरान में किए गए हैं।''

धारा 19 :

धारा 19, उन व्यक्तियों द्वारा स्वीकृतियां जिनकी स्थिति वाद के पक्षकारों के विरुद्ध साबित की जानी चाहिए, से संबंधित है।

इसमें बताया गया है कि वे कथन, जो उन व्यक्तियों द्वारा किए गए हैं जिनकी वाद के किसी पक्षकार के विरुद्ध स्थिति या दायित्व साबित करना आवश्यक है, स्वीकृतियां हैं, यदि ऐसे कथन ऐसे व्यक्तियों द्वारा या उनके विरुद्ध लाए गए वाद में ऐसी स्थिति या दायित्व के संबंध में ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध सुसंगत होते और यदि वे ऐसे समय किए गए हों जबकि उन्हें करने वाला व्यक्ति ऐसी स्थिति ग्रहण किए हुए है या ऐसे दायित्व के अधीन है।

धारा के नीचे दिया गया निम्नलिखित दृष्टांत धारा के प्रयोजन को समझने में सहायक हो सकता है :—

दृष्टांत : 'ख' के लिए भाटक संग्रह का दायित्व 'क' लेता है।

'ग' द्वारा 'ख' को शोध्य भाटक संग्रह न करने के लिए 'क' पर 'ख' वाद लाता है।

'क' इस बात का प्रत्याख्यान करता है कि 'ग' से 'ख' को भाटक देय था।

'ग' द्वारा यह कथन कि उस पर 'ख' को भाटक देय है स्वीकृति है, और यदि 'क' इस बात से इन्कार करता है कि 'ग' द्वारा 'ख' को भाटक देय था तो वह 'क' के विरुद्ध सुसंगत तथ्य है।''

दूसरे शब्दों में, इस खंड के अधीन ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए कथन को सुसंगत बनाया गया है जो वाद में पक्षकार नहीं है। फील्ड अन्य उदाहरण देता है : 'ग' को देय धन के लिए 'क' और 'ख' संयुक्त रूप से दायित्व बनता है। 'ग' केवल 'क' के विरुद्ध कार्रवाई लाता है। 'क' इस पर आपत्ति करता है कि उसे व्यक्तिगत रूप से अथवा पृथक रूप से उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता और संयुक्त दायित्व होने के कारण 'ख' को भी सह-दायित्व होने के कारण 'ख' को भी सह-प्रतिवादी बनाया जाना चाहिए। 'क' और 'ग' के बीच 'ख' का संयुक्त दायित्व उसकी स्वीकृति है। (फील्ड 6वां संस्करण, पृष्ठ 91) रेहन रखे कुल ऋण के प्राप्तकर्ता में से एक सह-रेहनदार की लिखित कथन में स्वीकृति अन्य सह-रेहनदार के विरुद्ध स्वीकृति है। (अप्पाबयु बनाम भांजप्पा 25 मद्रा. एल.जे. 329)।

हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत है कि धारा 19 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है किन्तु 'वाद' शब्द के स्थान पर 'सिविल कार्यवाही' शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिए। इस प्रकार का परिवर्तन शीर्षक में भी करने की सिफारिश है।

धारा 20 :

धारा 20, 'वाद के पक्षकार द्वारा अभिव्यक्त रूप से निर्दिष्ट व्यक्तियों द्वारा स्वीकृतियां' से संबंधित है।

इसमें कहा गया है कि ''वे कथन, जो उन व्यक्तियों द्वारा किए गए है जिनको वाद के किसी पक्षकार विवादग्रस्त विषय के बारे में जानकारी के लिए अभिव्यक्त रूप से निर्दिष्ट किया है, स्वीकृतियां हैं।''

इस विवरण के नीचे दिया गया दृष्टांत निम्न प्रकार है :—

''प्रश्न यह है कि 'क' द्वारा 'ख' को बेचा हुआ घोड़ा अच्छा है। 'ख' से 'क' कहता है कि ''जा कर 'ग' से पूछ लो, 'ग' इस बारे में सब कुछ जानता है।''

'ग' का कथन स्वीकृति है।

69वीं रिपोर्ट (देखें पैरा 9.57) यह कहा गया है कि धारा 20 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है, सिवाय 'वाद' शब्द के स्थान पर 'सिविल कार्यवाही' शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिएं। इस धारा के सिद्धान्त को उच्चतम न्यायालय ने **हीराचन्द कोठारी** बनाम **राजस्थान राज्य** ए.आई.आर. 1985, सु.को. 998 और **के.एम. सिंह** बनाम **सचिव, एसोसिऐशन ऑफ इन्डियन यूनिवर्सिटिज** ए.आई.आर. 1992, सु.को. 1356 मामलों में लागू किया था।

69वीं रिपोर्ट में इस बात की ओर ध्यान दिलाया गया था कि धारा 20 में उल्लिखित सिद्धान्त को आपराधिक कार्यवाही में भी लागू किया जा सकता है और यह कि अभियुक्त की अनुपस्थिति से अभिनिर्णायक के कथन की स्वीकृति पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगा (देखें सरकार, 15 वां संस्करण, 1999 पृष्ठ 393)। तथापि, यह महसूस किया गया था कि धारा 20 में उल्लिखित सिद्धान्त का प्रयोज्य आपराधिक मामलों में कम होंगे। अत: आयोग ने धारा को आपराधिक मामलों में लागू करने के बारे में कोई सिफारिश नहीं की है।

हमें इस मामले में कुछ भी नया नहीं कहना है और हम भी सिफारिश करते हैं कि 'वाद' शब्द के स्थान पर 'सिविल कार्यवाही' शब्द, धारा 20 के शीर्षक और धारा दोनों में प्रतिस्थापित किए जाएं।

धारा 21 :

धारा 21, 'स्वीकृतियां का उन्हें करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध और उनके द्वारा या उनकी ओर से साबित किया जाना' का निर्देश करती है।

धारा पाठ निम्नलिखित है :—

''**धारा 21.** स्वीकृतियां का उन्हें करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध और उनके द्वारा या उनकी ओर से साबित किया जाना : स्वीकृतियां उन्हें करने वाले व्यक्ति के या उसके हित प्रतिनिधि के विरुद्ध सुसंगत है और साबित की जा सकेंगी, किन्तु उन्हें करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से या उसके हित प्रतिनिधि द्वारा निम्नलिखित अवस्थाओं में के सिवाय उन्हें साबित नहीं किया जा सकेगा—

(1) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, जबकि वह इस प्रकृति की है कि यदि उसे करने वाला व्यक्ति मर गया होता, तो वह अन्य व्यक्तियों के बीच धारा 32 के अधीन सुसंगत होती।

(2) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या इसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, जबकि वह मन की या शरीर की सुसंगत या विवाद किसी दशा के अस्तित्व का ऐसा कथन है जो उस समय या उसके लगभग किया गया था जब मन की या शरीर की ऐसी दशा विद्यमान थी और ऐसे आचरण के साथ व जो उसकी असत्यता को अनधिसम्भाव्य कर देता है।

(3) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से साबित की जा सकेगी, यदि वह स्वीकृति के रूप में नहीं किन्तु अन्यथा सुसंगत है।"

धारा 21 के नीचे पांच दृष्टांत दिए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट में यह महसूस किया गया है कि आरम्भिक पैराग्राफ अधूरा था (देखें रिपोर्ट का पैरा 9.60) क्योंकि धारा 18 से धारा 20 के अन्तर्गत आने वाली अवधारणाएं इसके अन्तर्गत नहीं आती हैं और खंड (क) आरम्भिक खंड के अन्तर्गत और धारा 18 से धारा 20 के अन्तर्गत आने वाली आकस्मिकताएं धारा 21 की प्रस्तावित उप-धारा (1) में खंड (ख) से (घ) के रूप में जोड़ी जानी चाहिए। विद्यमान उप-धारा (3), धारा 21 की उप-धारा (2) का खंड (ग) हो सकेगा, और

(i) धारा 18 (पहला पैरा) के अन्तर्गत किसी अभिकर्त्ता द्वारा किसी पक्षकार को दिया गया कथन स्वीकृतियां हैं।

(ii) धारा 18 (उपपैरा 1 का तीसरा पैरा) संयुक्त हित रखने वाले किसी व्यक्ति द्वारा किया गया कथन स्वीकृतियां हैं।

(iii) धारा 19 के अन्तर्गत उन व्यक्तियों द्वारा किया गया कथन स्वीकृतियां हैं जिनकी स्थिति वाद के पक्षकारों के विरुद्ध है; और

(iv) धारा 20 के अन्तर्गत रेफरी द्वारा किया गया कथन स्वीकृतियां हैं।

यह सुझाव दिया गया था (देखें पैरा 9.62) कि इस धारा को, एक सकारात्मक शाखा (जहां स्वीकृति के उपयोग की अनुमति है) और एक नकारात्मक शाखा (जहां स्वीकृति के उपयोग की अनुमति नहीं है) में विभाजित किया जा सकेगा; यद्यपि नकारात्मक शाखा विद्यमान धारा के खंड (1), (2) और (3) में निर्देशित कतिपय अपवादों के अध्यधीन है।

यह सुझाव दिया गया था कि धारा 21 में धारा 18 का संदर्भ, धारा 18 की उपधारा (4) के रूप में हो सकेगा जिसे विद्यमान धारा के उपर्युक्त उप-पैरा के स्थान पर प्रतिस्थापित किए जाने का प्रस्ताव किया गया था।

हम 1977 के पश्चात् की (69वीं रिपोर्ट की तारीख से) निर्णयजन्य विधि की जांच कर चुके हैं परन्तु हमें नहीं लगता कि 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के उपांतरण की कोई आवश्यकता है। तथापि, हम 1977 से पहले के कुछ मामलों का निर्देश करेंगे।

थीरू जोहन बनाम **दि रिटर्निंग ऑफिसर** ए.आई.आर. 1977 सु.को. 1724 में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि कोई स्वीकृति निर्णायक नहीं है परन्तु इसका दायित्व उस व्यक्ति पर चला जाता है जिसने स्वीकृति की है। बेनामी के किसी प्रश्न पर, सांपत्तिक हित के विरुद्ध किए गए कथन, काफी समय बाद, **भीम सिंह** बनाम **कान सिंह** ए.आई.आर. 1980 सु.को. 727 मामले में स्वीकृत माने गए थे। किसी समाचार-पत्र की रिपोर्ट की शुद्धता के बारे में किसी स्वीकृति पर, स्वीकृति करने वाले के विरुद्ध, विश्वास किया जा सकता है **मुहम्मद कोया** बनाम **मुथुकोया** ए.आई.आर. 1979 सु.को. 154। किसी ठेकेदार के बिल का निपटान स्वीकृति है जब तक कि **मैसर्स सेंट्रल कोल फिल्ड्स लिमिटेड** बनाम **मैसर्स माइनिंग कंस्ट्रक्शन**, 1982 (1) एस.सी.सी. 415 मामले में स्पष्ट न किया गया हो।

सतिन्दर कुमार बनाम **सी.आई.टी.** (1977) 106 आई.टी.आर. 72 (एच.पी.) मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जब कोई कर-निर्धारिक यह कहता है कि स्वीकृति में गलती हुई तो इस स्वीकृति का दायित्व उस पर डाले बिना उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। **डिप्टी कमीश्नर, सेल्स टैक्स** बनाम **इम्पीरियल ट्रेडिंग कम्पनी** (1990) 76 एस.टी.सी. 183

(केर.) मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी कर निर्धारक द्वारा की गई स्वीकृति निर्णायक नहीं है बल्कि सुसंगत हो सकती है। किसी स्पष्टीकरण की अनुपस्थिति में यह निर्णायक हो सकती है। **फेडरल बैंक बनाम राज्य** ए.आई.आर. 1995 कर्ना. 62 मामला भी देखें। ये विनिश्चय सही नहीं हो सकते यदि इनमें यह अभिनिर्धारित नहीं किया जाता कि व्यक्ति पर ही स्वीकृति का दायित्व डाला जाना है अन्यथा इस पर विश्वास नहीं किया जा सकेगा।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि कोई स्वीकृति है तो यह उस पक्षकार का दायित्व है जो, जहां तक कि दायित्व उस पर आता है, स्पष्ट करने के लिए स्वीकृति करता है और यह आवश्यक नहीं कि धारा 145 के अधीन प्रतिपरीक्षा में इसे उस पर रखा जाए, **भरत सिंह बनाम भागीरथी** ए.आई.आर. 1966 सु.को. 405। किन्तु धारा 145 के अधीन सिवाय, यह प्रतिपरीक्षा के दौरान स्वीकृति के बारे किसी व्यक्ति, किसी औचित्य के विषय के रूप में, पूछने के लिए खुला रह सकेगा। **राजस्थान राज्य बनाम करतार सिंह,** 1970 (2) एस.सी.सी. 61; **विश्वनाथ प्रसाद बनाम द्वारका प्रसाद,** 1974 (1) एस.सी.सी. 78; **लक्ष्मण बनाम महाराष्ट्र राज्य,** 1974 (3) एस.सी.सी. 704; **सोमनाथ बनाम भारत संघ,** 1971 (2) एस.सी.सी. 387; **तालकदार सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,** 1959 सप्ली. (2) एस.सी.सी. 875; **हरियाणा राज्य बनाम हरपाल,** 1978 (4) एस.सी.सी. 465; **प्रकाश चन्द बनाम यू.टी.डी.,** 1979 (3) एस.सी.सी. 90; **मोहनलाल गंगाराम गेहानी बनाम महाराष्ट्र राज्य,** 1982 (1) एस.सी.सी. 700।

अपने स्वयं के समर्थन में कोई कथन देने से उसके प्रतिपक्ष के हितों पर प्रभाव डालने की अनुमति नहीं दी जा सकती। भू-स्वामी द्वारा रखे गए रसीद-बुक के प्रति-फलक में की गई कोई प्रविष्टी भू-स्वामी के पक्ष में स्वीकृति है और इसका किरायेदार के विरुद्ध उपयोग करने की अनुमति नहीं दी जा सकती । (**इदनदास बनाम रामचन्द्र फड़के,** ए.आई.आर. 1982 सु.को. 127)।

पूर्ववर्ती कार्यवाही में 'क' का कथन कि 'ख' विवादग्रस्त सम्पत्ति में किरायेदार था एक स्वीकृति है और उसे उत्तरवर्ती कार्यवाही में, इस तथ्य को उसके इन्कार करने पर, उपयोग में लाया जा सकता है। (**दुखीराम डे बनाम मृत्युंजय प्रसाद** ए.आई. आर. 1982 कलकत्ता 294)। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 में किसी शपथ-पत्र में कोई कथन उत्तरवर्ती कार्यवाही में पक्षकार के विरुद्ध साक्ष्य के टुकडे के रूप में उपयोग किया जा सकता है, यद्यपि यह निर्णायक नहीं है (**जानकी राम बनाम अमीर चन्द राम,** ए.आई.आर. 1984 पटना 191)।

ये मामले धारा 21 के अनुरूप हैं और हमने 1977 के पश्चात्, जब 69वीं रिपोर्ट दी गई थी, धारा 21 से संबंधित विधि में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं पाते हैं और इसलिए, इसमें की गई सिफारिशों में परिवर्तन अपेक्षित नहीं हैं।

श्री चेपा पी. सारथी ने सुझाव दिया है कि धारा 21 अस्पष्ट नहीं है तथा जहां तक धारा 21 में ये स्पष्टीकरण विवक्षित हैं, किसी और अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। तथापि, हम महसूस करते हैं कि 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित अन्य विभिन्न धाराओं के संदर्भ में धारा 21 को स्पष्ट करने में कोई बुराई नहीं है।

अतः हम, सिफारिशों को स्वीकार करते हैं, जिनका हम पहले ही निर्देश कर चुके हैं, और विद्यमान धारा के स्थान पर निम्नलिखित प्रतिस्थापित करते हैं :

स्वीकृतियों का उन्हें करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध और उनके द्वारा या उनकी ओर से साबित किया जाना

"21. (1) स्वीकृतियां संगत हैं और उन्हें निम्नलिखित व्यक्तियों के विरुद्ध साबित किया जा सकता है, अर्थात्—

(क) उन्हें करने वाले व्यक्ति के या उसके हित प्रतिनिधि के विरुद्ध;

(ख) अभिकर्ता द्वारा की गई स्वीकृति की दशा में, जहां मामला धारा 18 की उपधारा (2) के अन्तर्गत आता है, अभिकर्ता के प्रमुख के विरुद्ध ;

(ग) धारा 18 की उप-धारा (4) के अन्तर्गत आने वाले मामलों में ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई स्वीकृति, जिसकी कार्यवाही की विषय-वस्तु में कोई संयुक्त साम्पत्तिक या धन संबंधी हित है, किसी अन्य व्यक्ति, जिसका विषय-वस्तु में संयुक्त सांपत्तिक या धन संबंधी हित है, के विरुद्ध ;

(घ) धारा 19 के अधीन आने वाले मामले में ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई स्वीकृति, जिसकी किसी पक्षकार के विरुद्ध स्थिति या दायित्व साबित करना आवश्यक होता है, उसी पक्षकार के विरुद्ध ;

(ङ) धारा 20 के अधीन आने वाले मामले में ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई स्वीकृति जिसकी पक्षकार ने जानकारी के लिए अभिव्यक्त रूप से निर्दिष्ट किया है, उस पक्षकार के विरुद्ध, जिसने जानकारी के लिए अभिव्यक्त रूप से निर्दिष्ट किया है, के विरुद्ध ;

(2) स्वीकृतियां, उन्हें करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से या उसके हित प्रतिनिधि द्वारा निम्नलिखित अवस्थाओं में के सिवाय उन्हें साबित नहीं की जा सकेंगी—

(क) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, जबकि वह इस प्रकृति की है कि यदि उसे करने वाला व्यक्ति मर गया होता, तो वह अन्य व्यक्तियों के बीच धारा 32 के अधीन सुसंगत होती ;

(ख) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, जबकि वह मन की या शरीर की सुसंगत या विवध किसी दशा के अस्तित्व का ऐसा कथन है जो उस समय या उसके लगभग किया गया था जब मन की या शरीर की ऐसी दशा विद्यमान थी और ऐसे आचरण के साथ है जो उसकी असत्यता को अनधिसम्भाव्य कर देता है ;

(ग) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, यदि वह स्वीकृति के रूप में नहीं किन्तु अन्यथा सुसंगत है ;

दृष्टांत

(क) 'क' और 'ख' के बीच प्रश्न यह है कि अमुक विलेख कूटरचित है या नहीं। 'क' प्रतिज्ञात करता है कि वह असली है, 'ख' प्रतिज्ञात करता है कि वह कूटरचित है।

'ख' का कोई कथन कि विलेख असली है, 'क' साबित कर सकेगा तथा 'क' का कोई कथन कि विलेख कूटरचित है 'ख' साबित कर सकेगा। किन्तु 'क' अपना कथन कि विलेख असली है साबित नहीं कर सकेगा और न 'ख' ही अपना यह कथन कि विलेख कूटरचित है साबित कर सकेगा।

(ख) किसी पोत के कप्तान 'क' का विचारण 'एस' पोत को संत्यक्त करने के लिए किया जाता है।

यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य दिया जाता है कि पोत अपने उचित मार्ग से बाहर ले जाया गया था।

'क' अपने कारबार के आमूली अनुक्रम में अपने द्वारा रखी जाने वाली वह पुस्तक पेश करता है जिसमें वे संप्रेषण दर्शित है, जिनके बारे में यह अभिकथित है कि वे दिन प्रतिदिन किए गए थे और जिनसे उपदर्शित है कि पोत अपने उचित मार्ग से बाहर नहीं ले जाया गया था। 'क' इन कथनों को साबित कर सकेगा क्योंकि, यदि उसकी मृत्यु हो गई होती तो वे कथन अन्य व्यक्तियों के बीच धारा 32, खंड (2) के अधीन ग्राह्य होते।

(ग) 'क' अपने द्वारा कलकत्ते में किए गए अपराध का अभियुक्त है।

वह अपने द्वारा लिखित और उसी दिन लाहौर में दिनांकित और उसी दिन का लाहौर डाक-चिन्ह धारण करने वाला पत्र पेश करता है।

पत्र की तारीख का कथन ग्राह्य है क्योंकि, यदि 'क' की मृत्यु हो गई होती तो वह धारा 32, खंड (2) के अधीन ग्राह्य होता।

(घ) 'क' चुराए हुए माल को यह जानते हुए कि वह चुराया हुआ है, प्राप्त करने का अभियुक्त है। वह यह साबित करने की प्रस्थापना करता है कि उसने उसे उसके मूल्य से कम में बेचने से इनकार किया था। यद्यपि ये स्वीकृतियां हैं तथापि 'क' इन कथनों को साबित कर सकेगा, क्योंकि ये विवाद्यक तथ्यों से प्रभावित उसके आचरण के स्पष्टीकारक हैं।

(ङ) 'क' अपने कब्जे में कूटकृत सिक्का, जिसका कूटकृत होना वह जानता था, कपटपूर्वक रखने का अभियुक्त है।

वह यह साबित करने की प्रस्थापना करता है कि उसने एक कुशल व्यक्ति से उस सिक्के की परीक्षा करने को कहा था, क्योंकि उसे शंका थी कि वह कूटकृत है या नहीं और उस व्यक्ति ने उसकी परीक्षा की थी और उससे कहा था कि वह असली है।

अन्तिम पूर्ववर्ती दृष्टांत में कथित कारणों से 'क' इन तथ्यों को साबित कर सकेगा।''

धारा 22

धारा 22 'दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु के बारे में मौखिक स्वीकृतियां कब सुसंगत होती हैं' के संबंध है।

धारा 22 में कहा गया है कि 'किसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तु के बारे में मौखिक स्वीकृतियां तब तक सुसंगत नहीं होती, यदि और जब तक उन्हें साबित करने की प्रस्थापना करने वाला पक्षकार यह दर्शित न कर दे कि ऐसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तुओं का द्वितीयक साक्ष्य देने का एक एतस्मिनपश्चात दिए हुए नियमों के अधीन हकदार है, अथवा जब तक पेश किये गए दस्तावेज का असली होना प्रश्नगत न हो।'

अब दस्तावेज की अन्तर्वस्तु दस्तावेज प्रस्तुत करके सिद्ध की जा सकती है (धारा 62, 64) सिवाय इसके कि जहां धारा 65 और धारा 66 के अधीन द्वितीयक साक्ष्य ग्राह्य है। यह धारा अभिकथित करती है कि मौखिक स्वीकृतियों द्वारा किसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तु को तब तक साबित नहीं किया जा सकता जब तक कि—

(1) धारा 65 के अधीन ऐसे साक्ष्य देने के लिए प्रस्ताव करने वाला पक्षकार द्वितीयक साक्ष्य द्वारा स्वीकृति हेतु मामला बना सकता है, या

(2) दस्तावेज का वास्तविक होना अथवा नकली होना अपने आप में प्रश्नगत है। बाद के मामले में, किसी पक्षकार की मौखिक स्वीकृति वास्तविक है या नहीं ग्राह्य है यदि दस्तावेज प्रस्तुत करने पर ग्राह्य है, यद्यपि इस प्रकार की स्वीकृति के लिए अन्तर्वस्तु के अनुसार कथन की आवश्यकता नहीं है। किसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तु की लिखित स्वीकृति भिन्न आधार पर टिकी है और धारा 65(ख) के अधीन ग्राह्य है (देखें सरकार, 1999, पृष्ठ 406)।

यह नियम इंग्लैण्ड में **स्लटरी बनाम पूले** : (1840) एम एण्ड डब्ल्यू 669 : (151 ई.आर. 579) मामले में बताए गए नियम से भिन्न है जिसके अधीन स्वीकृतियां दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु साबित करने के लिए बिना प्रस्तुत किए जाने की सूचना तथा मूल दस्तावेज के न होने की ओर ध्यान दिए बिना प्राप्त करने योग्य हैं। इसकी लैण्डलैस बनाम क्वेसेक 8 आयर. एल.आर. 382 मामले में आलोचना की गई थी और भारतीय विधि में धारा 22 में क्यों भिन्न रूप में वर्णन किया गया था। प्रिवी काउंसिल ने भी मौखिक स्वीकृति को अन्तर्वस्तु के रूप में स्वीकार करने को जोखिमपूर्ण बताया है [**शिव प्रसाद बनाम जग्गार नाम** (1884) 10 आई.ए. 79 (पी.सी.)]।

इसमें संदेह नहीं है कि इंग्लिश विधि आज भी वैसी ही है (देखें फिप्सन, 15वां संस्करण, पैरा 28.04, 28.14 और 46.11)।

धारा 22 के अन्तिम भाग में कुछ संदिग्धता है जिसे 69वीं रिपोर्ट ने सही करने का प्रस्ताव किया है (देखें पैरा 9.74)। इस संदर्भ में हम सरकार के साक्ष्य (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 407), नार्टन का उद्धरण (पृष्ठ 153) का निर्देश कर सकते हैं।

''इस धारा के अन्तिम खंड का प्रभाव ऐसा लगता है कि यदि इस प्रकार का दस्तावेज प्रस्तुत किया जाता है, ऐसी स्थिति में पक्षकार की स्वीकृति कि यह असली है अथवा नहीं, प्राप्त कर ली जाएं।''

हम तद्नुसार 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं कि धारा 22 को निम्नलिखित रूप में पुन:प्रारूपित किया जाए (देखें पैरा 9.74):

दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु के बारे में मौखिक स्वीकृतियां कब सुसंगत होती हैं

22. किसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तु के बारे में मौखिक स्वीकृतियां तब तक सुसंगत नहीं होती—

(क) यदि और जब तक उन्हें साबित करने की प्रस्थापना करने वाला पक्षकार यह दर्शित न कर दे कि ऐसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तुओं का द्वितीयक साक्ष्य देने का वह एतस्मिन्पश्चात दिए हुए नियमों के अधीन हकदार है; अथवा

(ख) जब तक पेश किए गए दस्तावेज का असली होना प्रश्नगत न हो।

धारा 22क :

यह धारा अधिनियम 21/2000 द्वारा पुर:स्थापित की गई थी, इसमें और संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम तद्नुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 23 :

धारा 23, सिविल मामलों में स्वीकृतियां कब सुसंगत होती हैं, से संबंधित है।

इसमें कहा गया है कि 'सिविल मामलों में कोई भी स्वीकृति सुसंगत नहीं है, यदि वह या तो इस अभिव्यक्त शर्त पर की गई हो कि उसका साक्ष्य नहीं दिया जाएगा या ऐसी परिस्थितियों के अधीन दी गई हो जिनसे न्यायालय यह अनुमान कर सके कि पक्षकार इस बात पर सहमत हो गए थे कि उसका साक्ष्य दिया जाना चाहिए।'

इसमें एक स्पष्टीकरण अन्तर्विष्ट है जिसका पाठ निम्न प्रकार है :

''स्पष्टीकरण : इस धारा की कोई भी बात किसी बैरिस्टर, प्लीडर, अटर्नी या वकील को किसी ऐसी बात का साक्ष्य देने से छूट देने वाली नहीं मानी जाएगी जिसका साक्ष्य देने के लिए धारा 126 के अधीन उसे विवश किया जा सकता है।''

यहां नीति यह है कि यदि विवाद को सुलझाने के लिए बातचीत के दौरान कुछ रियायतें दी जाती हैं किन्तु बातचीत असफल हो जाती है तो, रियायतें ग्राह्य नहीं होगीं।

यह धारा 'पूर्वाग्रह के बिना पेशकश' के सिद्धान्त से संबंधित है। टेलर ऑन एविडेंस (पृष्ठ 795, वुडरोफ में उद्धृत) (देखें 69वीं रिपोर्ट का पैरा 9.77) में इसे निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया गया है:

''वाद के पक्षकारों के बीच शान्ति स्थापना का गोपनीय प्रस्ताव और कोई अन्य पेशकश अथवा प्रतिज्ञप्ति, बिना किसी पूर्वाग्रह के [देखें रि रोवर स्टीमर कम्पनी (1871) एल आर 6 अध्याय 822] अभिव्यक्त अथवा विवक्षित रूप से की गई हो तो उसे लोक नीति के आधार पर अण्वर्जित किया जाता है। अब, यदि कोई व्यक्ति कहता है कि उसका पत्र बिना किसी पूर्वाग्रह के है तो वह यह कहने के बराबर है कि ''मैंने आपको पेशकश की है, अब यह आप पर है कि आप उसे स्वीकार करें या न करें, जैसी आपकी इच्छा हो; किन्तु यदि आप इसे स्वीकार नहीं करते हैं तो ऐसा करने का कोई

प्रभाव नहीं होगा''। जैसा कि कहा गया है ''बिना किसी पूर्वाग्रह'' का तात्पर्य है कि ''मैंने आप से एक पेशकश की है, यदि आप इसे स्वीकार नहीं करते हैं तो इस पत्र का उपयोग मेरे विरुद्ध नहीं किया जा सकता।''

धारा 23 के नीचे दिए गए स्पष्टीकरण का विस्तार यह है कि यदि किसी अभियुक्त द्वारा किसी अधिवक्ता से सलाह ली जाती है और सूचना किसी अपराध करने के लिए उपयोग की जाती है या कोई अधिवक्ता यह खुलासा करता है कि उसकी नियुक्ति के पश्चात् किसी अपराध या जालसाजी उसके मुवक्किल द्वारा की गई है तो वह अधिवक्ता एक साक्षी के रूप में वह बात प्रकट कर सकता है, जो उसके मुवक्किल ने उससे कही है और जो उस अधिवक्ता ने प्रकट की है। वह मुवक्किल यह नहीं कह सकेगा कि इस प्रकटन के विरुद्ध अभिव्यक्त या विवक्षित करार था।

हम पहले (I) 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश और फिर (II) विधि में हुए विभिन्न नवीनतम विकास, जिन पर फिप्सन (15वां संस्करण, 2000, पैरा 21.10 से 21.17) में विस्तार से चर्चा की गई है।

(I) 69वीं रिपोर्ट में यह बताया गया था कि धारा 23 में बातचीत के दौरान 'किए गए सभी कथनों' पर कुछ नहीं कहा गया है अपितु केवल उन स्वीकृतियों के बारे में कहा गया है जो अभिव्यक्त की गई हैं या जिन्हें परिस्थितियों से विवक्षित किया जा सकता है। यह उचित होगा कि इस दृष्टि से किए गए कथन या निपटान हेतु बातचीत के दौरान किए गए कथन, धारा के अन्तर्गत लाए जाने चाहिएं। आयोग ने, **मैक टागरट** बनाम **मैक टागरट**, 1948 (2) आल.ई.आर.754 और **मोले** बनाम **मोले** 1950(2) आल.ई.आर. 328 मामलों में डेनिंग एल.जे. (जैसा उस समय था) के दृष्टिकोण का निर्देश किया है और दूसरे स्पष्टीकरण को निम्नलिखित रूप में जोड़ने का सुझाव (देखें पैरा 9.85) दिया है :

> ''**स्पष्टीकरण–II** : जहां कोई स्वीकृति, किसी विवादित दावे के समझौते या निपटारों के प्रयोजन के लिए या बातचीत के दौरान की जाती है तब यह माना जाएगा कि पक्षकार सम्मिलित रूप से इस बात के लिए सहमत हो गए हैं कि उस स्वीकृति का साक्ष्य नहीं दिया जाएगा।''

हम सादर स्वीकार करते हैं कि ऐसा कोई उपबंध आवश्यक है परन्तु किसी स्पष्टीकरण के बजाय धारा में ही ''किसी अभिव्यक्ति शर्त पर की गई हो कि उसका साक्ष्य नहीं दिया जाना है'' शब्दों के पश्चात ''या यदि किसी विवादित दावे के समझौते या निपटारे के प्रयोजन के लिए किया जाता है या बातचीत के दौरान किया जाता है'' शब्द जोड़े जा सकते हैं। हम 69वीं रिपोर्ट में संप्रेक्षण का भी निर्देश कर सकते हैं कि यह स्पष्टीकरण सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 23, नियम 3 के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालता है चूंकि लिखित में समझौतों को साबित कर सकते हैं।

(II) अब हम इंग्लिश विधि में हाल ही के विकास पर ध्यान देते हैं। **काट्स** बनाम **हैड** 1984, अध्याय 290 ओलिवर एल जे मामले में लोक नीति के सिद्धान्त का निर्देश किया गया है और कहा है कि इसका उद्देश्य पक्षकारों को मुकदमेबाजी में फंसने की अपेक्षा विवाद को शांतिपूर्वक सुलझाने के लिए प्रोत्साहित करना था। इससे सुलह करने के लिए कुछ रियायतें दी जा सकेंगी और इन्हें न तो स्वीकृतियां और न ही साबित किया गया समझा जा सकेगा।

निम्नलिखित पहलुओं पर विचार करने की आवश्यकता है :

(क) क्या किसी विशेषाधिकार को एकपक्षीय रूप में अर्थात् उसके कहने पर जो उसे पाने का हकदार है, अधित्यक्त किया जा सकेगा या पत्राचार को दोनों पक्षों की सहमति से (देखें सरकार, 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 411) **रश एण्ड थाम्पकिंन्स्** बनाम **जी एल सी** 1989 ए.सी. 1280 (इस पहलु पर विचार किए जाने की आवश्यकता है) उचित दृष्टिकोण यही लगता है कि दोनों पक्षों की सहमति होनी चाहिए।

(ख) दूसरा पहलु, वह स्थिति है जिसमें तीन पक्ष सम्मिलित हों जो **रश एण्ड थाम्पकिंन्स्** बनाम **जी एल सी** 1989 ए.सी. 1280 मामले में सामने आई। इसमें प्रमुख ठेकेदारों ने भवन ठेके से उत्पन्न कार्यवाही को ठेका देने वाले (अर्थात नियोक्ता जी एल सी) के साथ मिलकर निपटा लिया। **रश एण्ड थाम्पकिंन्स्** और उसके उप-ठेकेदारों

के बीच कार्यवाही चलती रही। उप-ठेकेदार ने **रश एण्ड थाम्पकिंन्स्** और **जी एल सी** के बीच बिना पूर्वाग्रह से किए गए पत्राचार को इस प्रत्याशा से प्रकट करना चाहा कि उससे मामले की चर्चा में कुछ बल मिलेगा और **रश एण्ड थाम्पकिंन्स्** की स्वीकृति प्रकट होगी। अपीलीय न्यायालय ने इस दृष्टिकोण को अपनाया कि एक बार मुख्य ठेकेदार और जी.एल.सी. के बीच कार्यवाही समाप्त हो जाएगी तो उनके पत्राचार उप-ठेकेदार की कार्यवाही में अवश्य उपलब्ध होंगे। किन्तु **हाऊस ऑफ लार्डस्** ने इसके विपरीत दृष्टिकोण अपनाया और अभिनिर्धारित किया कि विशेषाधिकार के लिए लोक नीति को आधार बनाना उसे कमजोर करना है। यदि एक प्रतिवादी से बातचीत के दौरान एक पक्ष दूसरे पक्ष के समक्ष खुल कर इस डर से नहीं आ सका कि यदि उस प्रतिवादी के साथ कोई समझौता हो जाता है तो उस बातचीत के दौरान की गई स्वीकृतियां या तो उसी कार्यवाही में अथवा दूसरे पक्ष के विरुद्ध दूसरी कार्यवाही में स्वीकार्य हो जाएंगी। (यह एक पहलु है जिस पर विचार करने की आवश्यकता है)।

(ग) इसके अतिरिक्त, एक नया पहलु यह है कि बातचीत में की गई संस्वीकृति किसी एक पक्ष द्वारा दूसरे के विरुद्ध लाए गए दावे की वैधता के संबंध में संस्वीकृति के रूप में ग्राह्य नहीं होती जबकि बाद में निपटारे के औचित्य का प्रश्न उठेगा तब की गई बातचीत ग्राह्य हो सकेगी। **मुल्लर बनाम लेंसली एण्ड पार्टिनर** 1996 (1) पी.एन.एल.आर. 74—1995 खंड 92(3) एल.एस.जी.38(सी.ए.) मामले में यह दृष्टिकोण अपनाया। हाफीमैन एल जे (जैसा वह उस समय था) का यह दृष्टिकोण अपीलीय न्यायालय के दो अन्य न्यायाधीशों ने स्वीकार किया था किन्तु उन्होंने भी अधित्यजक के विशेषाधिकार का निर्णय दिया। परन्तु हाल ही में, **पैरागान फाइनेंस बनाम फ्रेशफील्ड्स** 1999(1) डब्ल्यू.एल.आर. 1183 मामले में अपीलीय न्यायालय ने तथापि, यह महसूस किया कि वे उपर्युक्त निर्णय से किसी सिद्धान्त पर नहीं पहुंच पाए थे। फिप्सन ने कहा है (पैरा 21.15) कि यह संदेहास्पद है कि क्या हाफमैन एल.जे. का विचार पूरी तरह से अपनाया जाएगा। [**यूनिलिवर बनाम ग्रोक्टर एण्ड गैम्बल** : 1999(2) एल.ई.आर. 691 मामले में] (अतः, इस पहलु पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है)।

(घ) चौथा पहलु (देखें फिप्सन 15वां संस्करण, 2000, पैरा 21.15) इस प्रकार, इस विशेषाधिकार के कतिपय अपवादों से संबंधित है। दूसरे शब्दों में, ऐसी स्थिति जहां बातचीत के दौरान स्वीकृतियां साक्ष्य में सामने आती हैं—

(i) यह अभिनिश्चय करने के लिए कि क्या पक्षों ने करार का समापन कर दिया है, **टामलिन बनाम स्टैण्डर्ड टेलीफोन** : (1969)1 डब्ल्यू.एल.आर. 1378 (सी.ए.)(इस पहलु पर विचार किया जा सकता है)।

(ii) **विलम्ब को स्पष्ट करना**—जहां विरोधी पक्ष विलम्ब के आधार पर कोई आवेदन पत्र दाखिल करना चाहता है, अर्थात् पेटेंट अधिनियम के अन्तर्गत किसी पेटेंट में संशोधन करने में हुआ विलम्ब या अति विलम्ब का आधार [**वाकर बनाम विलशर** (1889) 23 क्यू.बी.डी. 335; **फेमली हाउसिंग एसो. (मैनचेस्टर) बनाम माइकल हाइडे एण्ड पार्टनर्स** 1993(1) डब्ल्यू.एल.आर. 354; **रेडिफ्यूजन साइम्यूलेशन बनाम लिंक माइल्स लि.** 1992 एफ.एस.आर. 195; **सीमान जनरल कान्ट्रैक्टिंग कम्पनी बनाम पिलकिंगटन ग्लास** : 1987(1) डब्ल्यू.एल.आर. 516] (इस पहलु पर विचार किया जा सकता है)।

(iii) बिना सूचना के आवेदन पत्र पर निष्कर्ष निकालना अथवा खंडन करना (**दि गिओवन्ना**) 1999 (1) लायड्स रिप 867—अर्थात् किसी आस्ति पर रोक लगाने के व्यादेश संबंधी आवेदन पत्र या जहां बिना किसी पूर्वाग्रह के किसी प्रतिभूति की पेशकश की गई हो और वहां पर निष्कर्ष का खंडन करना इसलिए सुसंगत होगा कि प्रतिवादी को आस्तियों की हानि हो सकती है। (इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है)।

जहां तक प्रथम पहलू का संबंध है, हमारा विचार है कि धारा 23 के अन्त में निम्नलिखित रूप में एक और उप खंड जोड़ा जा सकता है : "जब तक कि पक्षकार, जिसने स्वीकृति की है और सह पक्ष जिसके समर्थन में स्वीकृति की गई है, इस बात से सहमत हो जाएं कि साक्ष्य दिया जाना चाहिए"। जहां तक दूसरे पहलू का संबंध है, स्वीकृति, उस व्यक्ति, जिसने स्वीकृति की हो और तीसरे पक्ष के बीच के मामलों में सुसंगतता नहीं हो सकेगी। उपर्युक्त निर्देशित तीसरे पहलू की ओर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता नहीं है। जहां तक चौथे पहलू का संबंध है, अन्त में निम्नलिखित शब्द भी जोड़े जा सकते हैं, "स्वीकृति के बारे में साक्ष्य यह अभिनिश्चित करने के लिए आवश्यक हो जाता है कि क्या निपटान के लिए अथवा विलंब के स्पष्टीकरण के लिए, जहां मामले में विलंब प्रश्नगत हो, स्वीकृति आवश्यक है"।

हमने, किसी प्रकाशन में अन्तर्विष्ट जानकारी के स्रोत को प्रकट करने के लिए एक नई धारा 132क के अनत:स्थापन की सिफारिश की है। इस प्रस्तावित उपबंध के अनुसार किसी व्यक्ति को कतिपय परिस्थितियों में किसी प्रकाशन में अन्तर्विष्ट जानकारी के स्रोत को प्रकट करना अपेक्षित हो सकता है। धारा 23 के उपबंध से ऐसी दशा में छूट दिए जाने की आवश्यकता है जहां कोई व्यक्ति, किसी प्रकाशन को किसी मामले में साक्ष्य देने का आधार बनाता, जिसमें उसे प्रस्तावित धारा 132क के अधीन साक्ष्य देना आवश्यक है। इस संबंध में, प्रस्तावित धारा 132क के अधीन चर्चा का संदर्भ दिया जा सकता है।

अत: हम सिफारिश करते हैं कि धारा 23 में ऐसे संशोधन करके उसे निम्नलिखित रूप में पढ़ा जाए :

सिविल मामलों में स्वीकृतियां कब सुसंगत होती हैं

"23.(1) सिविल मामलें में, कोई भी स्वीकृति सुसंगत नहीं है :—

(क) यदि वह था तो इस अभिव्यक्ति शर्त पर की गई हो कि उसका साक्ष्य नहीं दिया जाएगा; या

(ख) यदि वह विवादग्रस्त दावे के निपटान हेतु समझौते के प्रयोजन से या उस दौरान किया गया हो; या

(ग) ऐसी परिस्थिति के अधीन दी गई हो जिनसे न्यायालय यह अनुमान कर सके कि पक्षकार इस बात से परस्पर सहमत हो गए थे कि उसका साक्ष्य नहीं दिया जाना चाहिए।

जब तक पक्षकार, जिसने स्वीकृति की हो और वह पक्ष जिसके समर्थन में स्वीकृति की गई हो, इस बात से सहमत हो जाएं कि साक्ष्य दिया जाना चाहिए या स्वीकृति के संबंध में साक्ष्य यह पता लगाने के लिए आवश्यक हो जाता है कि क्या निपटान के लिए अथवा विलंब के स्पष्टीकरण के लिए, जहां मामले में विलंब प्रश्नगत हो, स्वीकृति आवश्यक है।

(2) ऐसी स्वीकृति, जो उपधारा (1) के अधीन सुसंगत नहीं है, स्वीकृति करने वाले किसी व्यक्ति और स्वीकृति से संबंधित तीसरे पक्ष के बीच के मामले में सुसंगत हो सकती है।

(3) इस धारा में कोई छूट नहीं दी जा सकती;

(क) किसी भी विधिक कार्य करने वाले को किसी भी मामले में साक्ष्य देने के लिए, जिस पर धारा 126 के अधीन साक्ष्य देने के लिए दबाव डाला जाए; या

(ख) कोई व्यक्ति, जो प्रकाशन को साक्ष्य का आधार बनाता है, जिसमें उसे धारा 132क के अधीन साक्ष्य देने आवश्यक है।

स्पष्टीकरण-I : 'विधिक कार्य करने वाले व्यक्ति' का इस खण्ड में किए गए प्रयोग का अर्थ धारा 126 के स्पष्टीकरण-II में दिए गए अर्थ से है।

स्पष्टीकरण-II : 'प्रकाशन' का इस खण्ड में किए गए प्रयोग का अर्थ धारा 132क के पैरा(क) में दिए गए स्पष्टीकरण में दिए गए अर्थ से है।

धारा 24 :

धारा 24 'उत्प्रेरण, धमकी या वचन द्वारा कराई गई संस्वीकृति दांडिक कार्यवाही में कब विसंगत होती है' से संबंधित है।

जहां तक धारा 24 का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट (देखें पैरा 11.6) में कहा गया है कि इस धारा में संशोधन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु धारा 27 पर चर्चा के दौरान कुछ कारणों से हम धारा 24 में और उसके शीर्षक में कुछ और शब्द, ''उत्प्रेरण, वचन, धमकी, प्रपीडन, हिंसा अथवा उत्पीडन'' जोड़ना चाहते हैं।

हम सिफारिश करते हैं कि 'उत्प्रेरण' 'धमकी' या 'वचन' शब्दों के स्थान पर 'उत्प्रेरण, वचन, धमकी, प्रपीडन, हिंसा अथवा उत्पीडन' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं।

हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 25 :

धारा 25 का पाठ निम्नलिखित है :

''धारा 25 : पुलिस अधिकारी से की गई संस्वीकृति का साबित न किया जाना : किसी पुलिस अधिकारी से की गई कोई भी संस्वीकृति किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति के विरूद्ध साबित न की जाएगी।''

69वीं रिपोर्ट के पैरा 11.9 में (19वीं शताब्दी की भारतीय विधि : आयोग की प्रथम रिपोर्ट का निर्देश करने के पश्चात) कहा गया है कि इस धारा में पैरा 11.7 में उल्लिखित विस्तार के अतिरिक्त कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। रिपोर्ट के पैरा 11.7 में कहा गया है कि धारा 26क के अन्तःस्थापन के लिए अलग से सिफारिश की जा रही थी जिसमें कतिपय सुरक्षोपायों के साथ वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति स्वीकार्य होगी।

हम इस बात से सहमत हैं कि धारा 25 को यथावत रखा जाएगा।

धारा 26क : (69वीं रिपोर्ट में यथा प्रस्तावित)

69वीं रिपोर्ट के पैरा 11.17 और 11.18 में सुझाव दिया गया है कि नई धारा 26क में वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति कुछ एक शर्तों के अध्यधीन स्वीकार्य बनाई जानी चाहिए। हम इस समय उक्त शर्तों का निर्देश करेंगे। प्रश्न यह है कि क्या यह सिफारिश नई धारा 26क के लिए इस बात को ध्यान में रखते हुए कि आज पुलिस स्टेशनों में किस प्रकार की घटनायें हो रही हैं, स्वीकार कर लेनी चाहिए।

हाल ही में, यह विचार व्यक्त किया गया है, विशेष रूप से पुलिस विभाग द्वारा कि वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति बिना किसी भेदभाव के ग्राह्य हो। यह बताया गया है कि यू.के. और अन्य देशों (पाकिस्तान को छोड़ कर) में ऐसी संस्वीकृति अमान्य नहीं है। यह बताया गया है कि इस कलंक को मिटाने का समय आ गया है।

इस विषय पर कोई भी चर्चा भारत के संविधान के अनुच्छेद 20 के खंड (3) के अधीन आरम्भ की जानी चाहिए, जो कहता है कि :

''किसी अपराध के लिए अभियुक्त किसी व्यक्ति को स्वयं के विरूद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा''

अनुच्छेद 21 से अपेक्षित है किसी व्यक्ति को उसके प्राण या स्वतंत्रता से ''विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया'' से ही वंचित नहीं किया जाएगा।

मेनका गांधी के मामले में दिए गए निर्णय ने अब अभिनिर्धारित किया कि प्रक्रिया निष्पक्ष, न्यायोचित और समान होनी चाहिए। किसी प्रक्रिया का नाम लेने मात्र से कि यह उचित है अथवा अनुचित है, बात नहीं बनती है। **ए. के. गोपालन** के मामले में व्यक्त किए गए पूर्वतम दृष्टिकोण अब कोई अच्छी विधि नहीं है।

अनुच्छेद 20(3) अमरीकी संविधान में हुए पांचवें संशोधन की ही तरह का है जहां यह स्वयं-अभियोग के विरुद्ध अधिकार से संबंधित है। यूरोपीयन कन्वेंशन के अनुच्छेद 6 में भी निर्दोषिता की परिकल्पना की गई है।

69वीं रिपोर्ट में धारा 26क के अन्त:स्थापन के संबंध में की गई सिफारिश का आशय यह है कि कतिपय शर्तों के अध्यधीन वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति सभी मामलों में ग्राह्य होनी चाहिए (देखें रिपोर्ट का पैरा 11.16 से 11.18)। आयोग ने यहां पर दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 के संबंध में विधि आयोग की 48वीं रिपोर्ट (पृष्ठ 6-7, पैरा 21-22) का निर्देश किया है, जिसमें आयोग ने इसी प्रकार की सिफारिश की है। 69वीं रिपोर्ट में इन्हें स्वीकार किया गया था। 48वीं रिपोर्ट में अधिरोपित किए गए सुरक्षोपायों का संदर्भ दिया गया था और यह कहा गया था कि यदि उन सुरक्षोपायों का पालन किया जाता है, तो संस्वीकृति ग्राह्य होनी चाहिए और धारा 25 और धारा 26 में स्वीकृति के विरुद्ध किए गए प्रतिषेध लागू नहीं किए जाने चाहिए।

69वीं रिपोर्ट में निम्नलिखित सुरक्षोपायों का सुझाव दिया गया (पुलिस अधीक्षक अथवा उच्च अधिकारियों के समक्ष की गई संस्वीकृति के संबंध में):

(क) उस पुलिस अधिकारी का अपराध की जांच से संबंध होना चाहिए;

(ख) उसे अभियुक्त को उसकी पसन्द के विधि व्यवसायी से परामर्श करने के उसके अधिकार की जानकारी देना; उसे संस्वीकृति रिकार्ड करने से पहले अभियुक्त को इस प्रकार के विधि व्यवसायी से परामर्श करने का अवसर देना चाहिए;

(ग) संस्वीकृति करने और रिकार्ड करने के समय अभियुक्त का परामर्शदाता, यदि कोई हो, उपस्थित रहना चाहिए। यदि अभियुक्त का परामर्शदाता नहीं है या परामर्शदाता उपस्थित नहीं रहना चाहता तो यह शर्त लागू नहीं होगी;

(घ) पुलिस अधिकारी को उन सभी सुरक्षोपायों का पालन करना चाहिए जो कि अब दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 64 में मजिस्ट्रेट द्वारा रिकार्ड की गई संस्वीकृति के लिए अपनाए जाते हैं। इनका पूरी तरह से पालन किया जाना चाहिए चाहे परामर्शदाता उपस्थित हो या न हो।

(ङ) पुलिस अधिकारी को यह रिकार्ड करना चाहिए कि उसने उपर्युक्त (ख), (ग) और (घ) में दिए गए सुरक्षोपायों का पालन किया है।

इसी प्रकार के मार्गदर्शी नियम 49वीं रिपोर्ट में भी सुझाए गए हैं जिनमें पुलिस अधीक्षक से कम दर्जे के अधिकारी द्वारा संस्वीकृति रिकार्ड की जाती है। यह स्पष्ट नहीं है कि संस्वीकृति के लिए दो पृथक पैराग्राफ क्यों बनाए गए थे- पहला, वरिष्ठ अधिकारी के समक्ष और दूसरा, अन्य दूसरों के समक्ष, जबकि सुरक्षोपाय एक जैसे थे। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि समान मार्गदर्शी नियमों का पालन किया जाता है तो पुलिस अधीक्षक (या उससे ऊपर) अथवा पुलिस अधीक्षक से कम दर्जे के अधिकारियों के समक्ष की गई संस्वीकृति ग्राह्य होंगी।

अब हम 150 वर्षों से भी पहले दी गई भारतीय विधि आयोग के प्रथम रिपोर्ट का निर्देश करते हैं। इस रिपोर्ट में कहा गया है कि पार्लियामेंट कमेटी ऑफ इन्डियन अफेयर्स के साक्ष्य भारत में पुलिस अधिकारियों द्वारा शक्ति के अत्यधिक दुरुपयोग को दर्शाते हैं, जिसके कारण दमन और लूट-खसोट होती है। उन्होंने यह भी कहा है कि—

> "कोई पुलिस अधिकारी डकैती या अन्य गम्भीर प्रकृति के अपराध की सूचना मिलते ही, अपराध की घटना की सूचना प्राप्त होते ही, अपराध कर्म कर्ता को खोजने में असफल रहने पर स्वयं को अकर्मण्यता के किसी आरोप से बचने का

प्रयास करता है या उसे पक्षकार के विरुद्ध, जिसकी परिस्थितियां या स्वरूप इस प्रकार का है कि उस प्रकार के अपराध के लिए उन्हें दोषी पाया जा सकता है, उपेक्षा करता है। ऐसा दमन या झूठी संस्वीकृति तैयार करके यदा कदा किया जाता है और जब एक बार ऐसा कदम उठा लिया जाता है तो निःसंदेह इससे वास्तविक अपराधी को दंड मिलने से सुरक्षा मिलती है और अपराध .... को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता है। हमें इस बात के लिए समझाया गया है कि पुलिस द्वारा इस शक्ति के प्रयोग को ठीक करने का कोई उपबंध बेकार सिद्ध होगा; और हम इस बुराई को तदनुसार ठीक करना चाहते हैं।''

प्रश्न यह है कि यह टिप्पणी, जो 1872 में साक्ष्य अधिनियम में धारा 25 और 26 पुरःस्थापित करने का आधार बनी थी अब वर्ष 2003 में सुसंगत नहीं रह गई है।

पिछले तीन दशकों में, जैसाकि संचार माध्यमों और उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की अनेकों लॉ रिपोर्टों से पता चलता है कि पुलिस का आचरण वर्षों पहले जैसा था उसमें सुधार आने की अपेक्षा गिरावट आई है। विधि आयोग ने अपनी 113वीं रिपोर्ट में पुलिस अधिकारियों के विरुद्ध कैदियों की हिरासत में होने वाली मौत पर पूर्वानुमान होने संबंधी धारा 114ख, साक्ष्य अधिनियम में सम्मिलित करने का सुझाव दिया था। पुलिस हिंसा पर उच्चतम न्यायालय के निर्णयों की काफी संख्या है, पिछले तीन दशकों में इनकी संख्या कम से कम 40 से 50 के बीच है। हम, तथापि, इन निर्णयों में से कुछ महत्वपूर्ण निर्णयों का निर्देश करेंगे।

नन्दनी सत्पथी बनाम पी. एल. दानी : ए. आई. आर. 1978 एस. सी. 1025=1978 (2) एस. सी. सी. 424 मामले में भारत में पुलिस जांच के बारे में, उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि अनुच्छेद 20(3) जांच और परीक्षण के स्तर पर भी लागू होती है। न्यायालय ने 1923 की दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161(2) और साक्ष्य अधिनियम की धारा 26 का भी निर्देश किया (देखें एस. सी. सी का पैरा 22पृष्ठ 435)। न्यायालय ने पैरा 23 में हाल की प्रवृत्तियों की ओर ध्यान दिया है कि समाज के हित को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए और पुलिस को और शक्तियां दी जानी चाहिए। न्यायालय ने अभी भी कृष्णा अय्यर जे. के माध्यम से निम्न प्रकार कहा है :

> ''सबसे पहली बात तो यह है कि हम लोगों के मन से पुलिस उत्पीड़न का भय नहीं निकाल सकते जिसके कारण विगत के बारे में भी स्व-अभिशंसन के लिए दबाव डाला जाता था, भारत का आधुनिक इतिहास इसकी अनुमति नहीं देता, समसामयिक विश्व इतिहास इसकी छूट नहीं देता।''

न्यायालय ने एक लेख का उल्लेख किया-कि ''विश्व भर में उत्पीड़न की तकलीफ अधिक से अधिक नवीनतम होती जा रही है ..... नए तरीकों द्वारा कैदी का मनोबल कुछ ही घंटों में तोड़ा जा सकता है- तथा शरीर पर मार-पीट का कोई निशान तक नहीं दिखाई देता है।'' न्यायालय ने पाया, अनेक भारतीय और विदेशी पुलिस अधिकारी सज्जन हो सकते हैं और यहां तथा अन्यत्र अनेक पुलिस स्टेशन अच्छे हो सकते हैं''। इतना ही नहीं विधि सामान्य लोगों के लिए बनाई गई है और ग्रेशम का नियम पुलिस बल को भी नहीं छोड़ता है। न्यायालय ने **मिरांडा** बनाम **अरिज़ोना** 384 यू. एस. 436 और वकरशम कमीशन रिपोर्ट तथा संस्वीकृति कराने के लिए पुलिस द्वारा पूछताछ के मामलों को उद्धृत किया है। न्यायालय ने कहा है कि पुलिस को अपने बाहुबल पर और मन के उतावलेपन पर नियंत्रण रखना चाहिए। न्यायालय ने अनुच्छेद 20(3) का और 'स्वअभिशंसन' के विरुद्ध अधिकार तथा शान्त रहने के अधिकार का निर्देश किया है। न्यायालय ने अनुच्छेद 22(1) और अधिवक्ता से परामर्श के अधिकार, जो उस व्यक्ति तक को प्राप्त है जिसे गिरफ्तार किया गया है, का निर्देश किया है, न्यायालय ने अन्ततः इस बात पर जोर दिया है (देखें एस. सी. सी. का पैरा 68)।

> ''विशेष प्रशिक्षण, विशेष विधिक पाठ्यक्रम, तकनीकी और अन्य आधुनिकतम जासूसी तकनीकी महत्वपूर्ण है। एक जागरूक पुलिसकर्मी अपराध रहित बनाने के लिए समाज की सम्पत्ति है .... । सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि पुलिसकर्मी को अवपीड़न की आदत नहीं होनी चाहिए और उसे संवैधानिक मूल्यों के प्रति संवेदनशील होना चाहिए।''

हाल ही में, **डी. के. बासु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य** : 1997(1) एस. सी. सी. 416 मामले में उच्चतम न्यायालय ने विधि आयोग की 113वीं रिपोर्ट (पैरा 8 और 27) में पुलिस हिरासत में आई चोटों के संबंध में की गई सिफारिश का निर्देश किया है और भारतीय साक्ष्य अधिनियम में धारा 114ख सम्मिलित करने का सुझाव दिया, जो इस प्रकार है :—

"**धारा 114ख** : (1) किसी अपराध के लिए पुलिस अधिकारी के अभियोजन में उसके द्वारा किसी व्यक्ति को उसके कृत्य से कथित रूप से शारीरिक चोट पहुंचती है और यदि इस बात का प्रमाण है कि यह चोट उस समय लगी है जिस अवधि के दौरान वह व्यक्ति पुलिस हिरासत में था, तो न्यायालय ये अनुमान लगा सकता है कि चोट पुलिस अधिकारी द्वारा उस अवधि में पहुंचाई गई है जिसमें वह हिरासत में था।"

विधि आयोग द्वारा **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राम सागर यादव** : ए.आई.आर. 1985 सु.को. 416 मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय के बाद उपर्युक्त प्रस्ताव किया गया था।

उच्चतम न्यायालय ने **डी.के. बासु** मामले में, **जोगिन्दर कुमार बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** : 1994 (4) एस.सी.सी. 260 और **नीलावती मेहरा बनाम उड़ीसा राज्य** : 1993 (2) एस.सी.सी. 746 मामलों का निदेश करते हुए अनेक निदेश जारी किए थे। ऐसा करने से पूर्व, न्यायालय ने संप्रेक्षण किया कि (देखें पैरा 13) :

"हिरासती हिंसा और पुलिस शक्ति का दुरूपयोग केवल इसी देश में अनोखा नहीं, अपितु सब जगह · · · ऐसा होता है।"

"इंग्लैण्ड में, एक समय ऐसा था जबकि अपराध, सह-अपराधी और मामले की विशेषता अथवा संस्वीकृति प्राप्त करने संबंधी जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्पीड़न एक सामान्य प्रक्रिया थी। (पैरा 14)"

किन्तु मानव अधिकार संबंधी विधिशास्त्र के विकास के साथ-साथ यह स्थिति बदल गई है और धीरे-धीरे जांच के वैज्ञानिक और व्यवसायिक तरीके प्रस्तुत किए गए हैं। इंग्लिश विधि पूछताछ किए जाने वाले व्यक्ति के लिए अनेक सुरक्षोपायों का उपबंध करती है जिनका पुलिस अधिकारी को पालन करना होता है—जैसेकि पुलिस और अपराध साक्ष्य अधिनियम, 1984 में निर्धारित किया है।

डी.के. बासु मामले में उच्चतम न्यायालय ने संप्रेक्षण किया (देखें पैरा 18) :

"अनुभव से पता चलता है कि अधिकारों का सर्वाधिक उल्लंघन जांच के दौरान होता है, जब पुलिस साक्ष्य प्राप्त करने अथवा संस्वीकृति के लिए अवसर थर्ड डिग्री तरीकों का सहारा लेती है। हिरासत में मौत और उत्पीड़न की बढ़ती हुई घटनाओं से ऐसी गम्भीर स्थिति पैदा हो गई है कि इससे विधि नियम और दंड न्याय प्रणाली के प्रशासन की साख प्रभावित हो रही है।"

न्यायालय ने फिर से उत्पीड़न (देखें पैरा 24) पुलिस की प्रवृत्ति का निर्देश किया है—

"· · · आगे जांच के लिए उससे जानकारी प्राप्त करने या मामले की विशेषता जानने या संस्वीकृति प्राप्त करने के लिए · · · · ·"

न्यायालय ने अन्त में इस बात पर जोर दिया है कि पुलिस जांच के अत्याधुनिक तरीकों के बारे में उचित प्रशिक्षण देकर और उन्हें आवश्यक अवसंरचनात्मक सामग्री या उपकरण देकर इसमें सुधार लाया जा सकता है न कि पुलिस के समक्ष संस्वीकृति को ग्राह्य बनाकर। न्यायालय ने **मिरांडा बनाम अरिजोना** 384 यू.एस. 436 मामले में अमरीकी उच्चतम न्यायालय के संप्रेक्षण का निर्देश किया है। उसमें निम्नलिखित संप्रेक्षण किया था :

"इन मामलों में हाल में छिड़ी बहस से यह बात साफ होती है कि विशेषाधिकार से पूछताछ को महत्व देना समाज की आवश्यकता है। इस न्यायालय से यह बहस छिपी नहीं है (देखें, अर्थात् **चैम्बर्स बनाम फ्लोरिडा** 309 यू.एस. 227: 84 एल.ई.डी. 716 : 60 एस.सीटी. 472 (1940)। हमारी पूर्ववर्ती चर्चा दर्शाती है कि **संविधान में वैयक्तिक**

अधिकार विहित है जब उसे सरकार की शक्ति का सामना करना पड़ता है, जब पांचवें संशोधन द्वारा उपबंध किया गया है कि किसी व्यक्ति को स्वयं के विरुद्ध साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। इस अधिकार में कोई कटौती नहीं हो सकती।''

उच्चतम न्यायालय ने **डी.के. बासु** (देखें पैरा 33) मामले में कहा है कि अत: परिप्रश्न करने के अधिकार और स्व-अभिशंसन के विरुद्ध अधिकार के बीच कोई उचित संतुलन बनाना होगा। किसी भी प्रकार की जानकारी प्राप्त करने के लिए, किसी भी प्रकार का उत्पीड़न न तो ठीक है न न्यायोचित है और न ही न्यायसंगत है, इसलिए, इसे अनुच्छेद 21 का दोषी नहीं कहा जा सकता। न्यायालय ने कहा कि—

''इस प्रकार के संदेहास्पद अपराध की अवश्य पूछताछ की जानी चाहिए—वास्तव में, वह पूछताछ अविच्छिन्न और वैज्ञानिक होनी चाहिए, जिसका निर्धारण विधि के उपबंधों के अधीन किया जाना चाहिए। तथापि, जानकारी प्राप्त करने, जुर्म स्वीकार करवाने या सह-अपराधी के बारे में जानकारी लेने के लिए, शस्त्र संबंधी जानकारी आदि के लिए न तो उसे उत्पीडित किया जाना चाहिए या उसके साथ थर्ड डिग्री के तरीके नहीं अपनाए जाने चाहिएं या न ही उसको समाप्त किया जाना चाहिए।''

तत्पश्चात् न्यायालय ने उन 11 आवश्यकताओं का अवलोकन किया (देखें पैरा 35) कि पुलिस को क्या करना चाहिए, और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि (पैरा 36) :

''**एतद्दोपरि उल्लिखित आवश्यकताओं के अनुपालन में असफल रहने** पर संबंधित अधिकारी के विरुद्ध विभागीय कार्यवाही किए जाने के अतिरिक्त, उसे न्यायालय की अवमानना करने के लिए दंड दिया जा सकता है और **न्यायालय की अवमानना** की कार्यवाही उस पर देश के किसी भी उच्च न्यायालय में, जिसके अधिकार क्षेत्र में मामला आता हो, की जा सकती है।''

हमने उपर्युक्त निर्णय का विस्तार से उल्लेख यह बात को प्रकाश में लाने के लिए किया है कि विधि आयोग ने आज से 150 वर्ष पहले अपनी प्रथम रिपोर्ट में जिस बात का उल्लेख किया था, वह बात आज भी लागू होती है और वास्तव में, अब तो हालात में और भी गिरावट आ गई है।

अब तो उच्चतम न्यायालय ने भी पुलिस अधिकारियों के अपराधिक कृत्यों के लिए राज्य के विरुद्ध मुआवजा देने के निर्णय दिए हैं। कुछ मामलों में सीधे वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों के विरुद्ध भी दंडात्मक शिकायतें दर्ज करने के निदेश दिए गए हैं।

वर्ष 2000 के दौरान 'गिरफ्तारी विधि' पर हुए सेमिनार से विधि आयोग ने अनुभव किया है कि अनेक पुलिस अधिकारियों ने सुझाव दिया कि संदेह और गिरफ्तारी का कलंक या हिरासत के दौरान पुलिस द्वारा पूछताछ की अब आवश्यकता नहीं है। इस बारे में यह तर्क दिया गया था कि संदेह के आधार पर गिरफ्तार करने की अनुमति दी जाए तथा पुलिस के समक्ष की गई संस्वीकृति को मान्य माना जाए। हमारी दृष्टि में ये सुझाव आज की वास्तविकता को देखते हुए, जैसाकि समाचार पत्रों और न्यायालय के निर्णयों से पता चलता है कि पुलिस स्टेशन के भीतर क्या कुछ हो रहा है, उचित प्रतीत नहीं होता और इन सुझावों से अनुच्छेद 20 और 21 के खंड (3) के महत्व की अनदेखी होती है।

अत: हम यह कहने के लिए विवश हैं कि आसानी से की गई संस्वीकृति, वैज्ञानिक और व्यवसायिक जांच की आवश्यकता का स्थान नहीं ले सकती। वास्तव में, सभी प्रकार के अपराधों के लिए (उन्हें छोड़ कर जो विशेष श्रेणी में आते हैं, जैसे आतंकवादी द्वारा वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के सामने की गई संस्वीकृति) जिस दिन पुलिस के समक्ष की गई संस्वीकृति को मान्य बना दिया जाएगा और वह विधि बन जाएगी तो उस दिन आजादी का अन्त हो जाएगा। पुलिस पुछताछ की वैज्ञानिक तकनीक नहीं अपनाएगी।

यह बात सच है कि आतंकवाद या संगठित अपराध से संबंधित मामलों में कुछ विशेष अधिनियम के प्रावधान हैं (जैसे टाडा या पोटा या महाराष्ट्र संगठित अपराध अधिनियम) जिनके अधीन पुलिस अधीक्षक के स्तर के वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष संस्वीकृति अभिलिखित करने और कुछ एक शर्तों के साथ, उन्हें मान्य कर लेने के उपबंध हैं। ऐसा करने के अनेक कारण हैं। आतंकवाद जैसे गंभीर अपराध के मामले में सामान्य अनुभव यह है कि दुर्दान्त अपराधी के विरुद्ध कोई भी व्यक्ति साक्ष्य देने के लिए आगे नहीं आएगा। इसके अतिरिक्त, ऐसे अपराधियों का एक वर्ग है जिनके साथ विशेष व्यवहार की आवश्यकता है और ये सामान्य अपराध की श्रेणी से भिन्न अपराध हैं।

आतंकवादियों के मामलें में किया गया अपवाद हमारे विचार से सभी प्रकार के अपराधों में नहीं अपनाया जाना चाहिए। इससे अनुच्छेद 21 और साक्ष्य अधिनियम की धारा 24 और धारा 25 की समाप्ति हो जाएगी तथा अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होगा। अपवाद नियम नहीं बन सकता है।

वास्तव में, **डी.के. बासु** मामले में (देखें पैरा 31) यह बात मान ली गई थी कि गम्भीर अपराधियों का एक विशेष वर्ग है। यह कहा गया है कि—

> "हम इस बात के प्रति सचेत हैं कि भारत में पुलिस को कठिन और नाजुक कार्य करना पड़ता है। विशेष रूप से गिरती हुई कानून व्यवस्था की स्थिति, जातीय दंगे, राजनैतिक उथल-पुथल, विद्यार्थी आन्दोलन और अन्य के साथ-साथ अंडर वर्ल्ड अपराधियों, सशस्त्र गिरोहों और अपराधियों की बढ़ती हुई संख्या को देखते हुए, अनेक दुर्दान्त अतिवादी, आतंकवादी, नशीली औषधियों का धंधा करने वाले गिरोह, संगठित गिरोह वाले तस्करों ने समाज में गहरी जड़ें जमा ली हैं. . . . .। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए, न्याय को बनाए रखने के लिए एक संतुलित दृष्टिकोण की आवश्यकता है।"

यह तथ्य कि आतंकवादी और संगठित गिरोहों के साथ **विशेष व्यवहार** की आवश्यकता है, उच्चतम न्यायालय ने इसे स्वीकार किया है और इस प्रकार के अपराधियों के लिए बनाई गई विशेष विधि का समर्थन किया है।

निरंजन सिंह करण सिंह पंजाबी बनाम **जितेन्द्र भीमराज बिज्जा**, 1990 सु.को. 1962 मामले में उच्चतम न्यायालय ने बताया कि आतंकवाद से संबंधित टाडा उपबंध कठोर है और **वे सामान्य विधि से अलग हैं**, क्योंकि वे नियम आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप में संलिप्त **विशेष श्रेणी** के अपराधियों के लिए पर्याप्त रूप से प्रभावकारी नहीं पाए गए थे। विधान मंडल ने अधिनियम में विशेष उपबंध किए हैं, जिनको कुछ सीमा तक कठोर कहा गया है, ऐसे मामलों के तेजी से निपटान के लिए एक विशेष बल गठित किया गया है, अपराध का पूर्वानुमान लगाने की व्यवस्था की गई है, अपराधियों को जमानत पर रिहा करने पर पाबंदी लगाई गई है तथा उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रक्रिया में उचित परिवर्तन किए गए हैं। ये सभी वैध हैं।

हाल ही में **करमजीत सिंह** बनाम **राज्य** 2001(9) एस.सी.सी. 161 मामले में उक्त निर्णय का पालन किया गया है।

टाडा की धारा 15 का उल्लेख करते हुए तथा वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष संस्वीकृति के संबंध में **करतार सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** 1994(3) एस.सी.सी. 569 में बहुमत का यह निर्णय था कि इस अधिनियम के अधीन विशेष प्रकार के अधिकारी आते हैं और सामान्य विधि से हट कर कार्य करना ऐसे में न्याय संगत है। (पृ. 664 पर पैरा 192)। साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 24 से धारा 27 के अधीन संस्वीकृति से संबंधित विधिक मामलों की पुनरीक्षा करने के पश्चात् उच्चतम न्यायालय ने कहा (देखें पैरा 220) कि आतंकवादी (जैसाकि अधिनियम में परिभाषित है) एक विशेष श्रेणी है जिसके लिए उस अधिनियम की धारा 15 लागू होगी अर्थात् जिनमें वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष दिया गया साक्ष्य मान्य होगा। अनुच्छेद 14 के अन्तर्गत भेदभाव को अवैध करार देने का तर्क नामंजूर कर दिया गया (पैरा 244 और 252)। उच्चतम न्यायालय ने भी राष्ट्रीय पुलिस आयोग की चौथी रिपोर्ट का संदर्भ दिया है, जिसमें पुलिस की बदनामी को स्वीकार करते हुए सुझाव दिया गया था कि इस प्रकार की संस्वीकृति को कम से कम साक्ष्य का अंश माना जाना चाहिए। पैरा 251 में न्यायालय ने देश में व्याप्त बर्बरता और हिरासत में हुई मौतों का उल्लेख किया है।

करतार सिंह के मामले में न्यायमूर्ति पांडियन का विधि संबंधी कथन वर्तमान संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है। उक्त विद्वान न्यायाधीश ने पाया है कि इंग्लैण्ड में पुलिस अधिकारी के समक्ष संस्वीकृति संबंधी विधि निःसंदेह अलग है। विद्वान न्यायाधीश ने कहा कि भारत में आतंकवादियों के संबंध में इंग्लैण्ड की विधि के अन्तर्गत प्रक्रिया अपनाना अनुपयुक्त हो सकता है। वस्तुतः पैरा 263 में न्यायालय ने पुलिस अधीक्षक के लिए उनका अनुपालन करने और यह सुझाव देने के लिए कि उन्हें अधिनियम और नियमों के अन्तर्गत किया जाए, पांच मार्गदर्शी सिद्धान्त जारी किए हैं। इन सुरक्षापायों में किसी व्यक्ति को तत्काल बाद मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत करेगा जो कि अभियुक्त कहना चाहता है। अभियुक्त को शीघ्र चिकित्सीय जांच के लिए भी भेजा जाना चाहिए। यदि अभियुक्त कोई संस्वीकृति नहीं करना चाहता तो पुलिस अधिकारी द्वारा उस पर कथन के लिए दबाव नहीं डाला जाना चाहिए।

किन्तु इन मार्गदर्शी सिद्धान्तों को विशेष अधिनियम में अन्तर्विष्ट नहीं किया गया। उच्चतम न्यायालय ने हाल में दिए एक निर्णय में इस बात पर खेद प्रकट किया कि एक संस्वीकृति मार्गदर्शी नियमों का अनुपालन किए बिना अभिलिखित की गई है, वह अवैध नहीं है : **लालसिंह बनाम गुजरात राज्य** : 2001(3) एस.सी.सी. 22 । ऐसा विचार मुख्यतः इसलिए प्रकट किया गया था कि इन मार्गदर्शी सिद्धान्तों को विशेष अधिनियम में अन्तर्विष्ट नहीं किया गया था।

परन्तु 69वीं रिपोर्ट में यथा प्रस्तावित धारा 26क के प्रभाव के अन्तर्गत कठोर उपबंध करने का प्रस्ताव है जिसके द्वारा टाडा के अन्तर्गत आतंकवाद से संबंधित मामला न होने पर भी प्रत्येक मामले में वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति मान्य होगी। यदि उच्चतम न्यायालय के अनुसार आतंकवादियों का मामला अलग स्तर पर आता है जिसमें वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष दिया गया साक्ष्य मान्य हो सकता है यदि यही सिद्धान्त, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सभी आपराधिक मामलों पर लागू कर दिया जाता है तो हमारे विचार में यह अनुच्छेद 21 का गम्भीर रूप से अतिक्रमण होगा। एक बार विधि का यह भाग उच्चतम न्यायालय के निर्णय द्वारा अन्तिम रूप से निपटा लिया गया है अर्थात् गम्भीर अपराध, जैसे आतंकवाद के मामले में वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति मान्य होगी, धारा 26क में यथा प्रस्तावित उपबंध लागू किया जाता है तो हमारे विचार में इससे भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 21 में निष्पक्ष जांच के संबंध में इन दोनों अनुच्छेदों का उल्लंघन होगा।

इसके अतिरिक्त, 69वीं रिपोर्ट में धारा 26 संबंधी प्रस्ताव (48वीं रिपोर्ट में किए गए एक को स्वीकृत करते हुए) उसी प्रकार के उपबंध हैं कि क्या संस्वीकृति की स्वीकृति वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष की गई संस्वीकृति मान ली जाए या नहीं। दोनों श्रेणी के मामलों में बरती जाने वाली सावधानियां लगभग एक जैसी हैं। सिफारिश किए गए उपबंध को हमारी राय मान कर स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। रिपोर्ट में गम्भीर अपराध और साधारण अपराध के मध्य कोई विभेद नहीं किया गया है। अतः हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 11.17 के प्रस्ताव और 48वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों को स्वीकार नहीं करना चाहते हैं।

आज तक **डी.के. बासु के मामले** में बताए गए मार्गदर्शी सिद्धान्त अथवा सावधानियों को पुलिस ने लागू नहीं किया है। वस्तुस्थिति यह है कि अनेक पुलिस अधिकारियों को इनकी जानकारी ही नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या भारत में हम पुलिस अधिकारी के इस कथन को स्वीकार कर सकते हैं कि वस्तुतः सावधानियां बरती गई थीं, हमारे विचार में हमारे देश में न्यायालय पुलिस के इस कथन को स्वीकार नहीं कर सकते। एक अनिर्णीत जनहित याचिका में जब उच्चतम न्यायालय ने राज्यों से पूछा कि वे यह बताएं कि क्या विभिन्न राज्यों में डी.के. बासु के मार्गदर्शी सिद्धान्तों का पुलिस द्वारा पालन किया जा रहा है तो लगता है न्यायमित्रों ने इस प्रकार कहा है कि राज्यों से सूचना मिली है कि उक्त मार्गदर्शी सिद्धान्तों का पालन नहीं किया जा रहा है। (**आन्ध्र प्रदेश बनाम उपाध्याय**)।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि इस बात में कोई संदेह नहीं है कि आज पुलिस यह चाहती है कि संस्वीकृति आसानी से स्वीकार कर ली जाएं ताकि वैज्ञानिक और व्यवसायिक जांच की आवश्यकता न पड़े। यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ चुकी है कि वे चाहते हैं कि ऐसी स्वीकृति केवल आतंकवाद के मामले में ही नहीं अपितु सभी मामलों में की गई संस्वीकृति को स्वीकार करने के लिए मिल जाए। इससे संविधान के अनुच्छेद 21 में प्राप्त गारंटी का वस्तुतः अन्त हो जाएगा और साथ ही मानव

अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा, 1948 तथा सिविल और राजनैतिक अधिकारों संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, 1966, जिसमें भारत भागीदार था, के निष्पक्ष जांच और स्वतंत्रता के सिद्धान्तों की समाप्ति हो जाएगी और साथ ही यह अनुच्छेद 14 का भी उल्लंघन होगा।

दूसरे देशों की तुलना में पुलिस गिरफ्तारी का कम प्रतिशत बताती है। रिहाई पाने वालों के प्रतिशत के अधिक होने के कई अन्य कारण हैं किन्तु वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष सभी मामलों में की गई संस्वीकृति खतरनाक सिद्ध होगी।

हम ही नहीं, उच्चतम न्यायालय, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग और उच्च न्यायालय भी हिरासत में हुई मौतों को ध्यान में रखते हुए पुलिस पर कोई विश्वास नहीं करना चाहते कि वरिष्ठ पुलिस अधिकारी सभी मामलों में बिना धमकी या जोर जबरदस्ती आदि के संस्वीकृति प्राप्त कर लें। हमें यह कहने में खेद है किन्तु वास्तविकता को देखते हुए हम अपनी आंखें बंद नहीं कर सकते।

निःसंदेह, इंग्लैण्ड में आज जांच के भीतर जांच होती है। इंग्लैण्ड की विधि के अधीन पुलिस को की गई संस्वीकृति मान्य हो और अपराध साक्ष्य अधिनियम, 1948 और धारा 76(1) के अधीन संस्वीकृति को, तब तक स्वीकृत नहीं माना जाता जब तक कि उसे धारा के अधीन हटा दिया जा सकता है, संगत बनाया जाता है। धारा 76(2) में कहा गया है कि "यदि न्यायालय को यह अभ्यावेदन दिया जाता है कि (क) संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति का दमन करके उससे प्राप्त की गई है, या (ख) कोई बात कही गई हो या की गई हो, जिसकी संभावना हो सकती है कि फलतः ऐसी परिस्थितियों में जो उस समय संस्वीकृति के लिए विद्यमान थी और जिसके फलस्वरूप उसने वह संस्वीकृति की हो, न्यायालय उस संस्वीकृति को उसके विरुद्ध प्रमाण नहीं मानेगा सिवाय इसके कि अभियोजक बिना उचित संदेह के न्यायालय के समक्ष यह सिद्ध करे कि (ऐसा हो सकता है कि वह सत्य हो) संस्वीकृति उक्त रूप में नहीं ली गई थी।' 'दमन' शब्द का न्यायालय ने व्यापक अर्थ लिया है जिसमें उत्पीड़न, अमानवीय या अपक्षयकारी, व्यवहार, हिंसा का प्रयोग शामिल हैं। इंग्लैण्ड के 1948 के अधिनियम में संदेहास्पद व्यक्तियों के साथ पुलिस व्यवहार के बारे में विस्तृत उपबंध है, जिसमें उसकी गिरफ्तारी निरुद्ध किए जाने तथा प्रश्न पूछे जाने के बारे में उल्लेख किया गया है। कोड ऑफ प्रैक्टिस की संहिता 'सी' जारी की गई है। धारा 67(11) में कहा गया है कि न्यायालय संहिता में दिए गए किसी भी उपबंध पर अमल कर सकता है, बशर्ते वे कार्यवाही से उत्पन्न किसी मामले से संबंधित हों। फिप्सन कहता है (15वां संस्करण, 2000 का पैरा 31.09) कि अधिनियम या संहिता का उल्लंघन आवश्यक रूप से उत्पीड़न या संस्वीकृति को अमान्य करार देने का कारण नहीं माना जाएगा। 1984 के अधिनियम की धारा 82(1) द्वारा संगत साक्ष्य, जिसमें संस्वीकृति सम्मिलित है, को सामान्य विधि से बाहर रखने का विवेक सुरक्षित रखा गया है। धारा 78 को धारा 76 और 82 में संशोधन किए बिना बाद में जोड़ा गया है और इसमें न्यायालय को अपने विवेक पर किसी संस्वीकृति को अमान्य करने का प्रावधान है, यदि उससे कार्यवाही की निष्पक्षता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो। इस प्रक्रिया से जांच के भीतर जांच होती है। आर बनाम सत भमब्रा (1988) 88 क्रि. अपी.आर. 55 में बताया गया है कि धारा 76 और धारा 82 में संशोधन नहीं किया गया है इसलिए, धारा 82 व्यवहारिक रूप से निष्क्रिय हो गई है।'

इंग्लैण्ड में जिस समय इन उपबंधों को लागू किया गया उस समय वहां मानवाधिकार अधिनियम, 1998 लागू नहीं किया गया था। यहां तक कि फिप्सन भी कहता है कि इंग्लैण्ड में न्यायालयों को भी 1998 के नए अधिनियम के पश्चात् अनेक मानवाधिकार संबंध संस्थाओं के पास जाना होगा। इसके अतिरिक्त, यह कहना गलत नहीं होगा कि भारत में किसी अधिनियम या निर्णय में दिए गए मार्गदर्शी सिद्धान्तों के अनुपालन का स्तर वहीं नहीं है जो कि ब्रिटेन में है।

उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए हम इस बात से सहमत नहीं है कि 69वीं रिपोर्ट और 48वीं रिपोर्ट की सिफारिश कि धारा 26क के अधीन पुलिस अधीक्षक या अन्य द्वारा सभी मामलों में की गई संस्वीकृति को मान्य बनाया जाए और उसे स्वीकार किया जाए। इस प्रकार के उपबंधों से अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 21 तथा उच्चतम न्यायालय के निर्णयों की संतुष्टि नहीं हो सकती। अतः हम 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के बाद भी धारा 26क को लागू करना स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

धारा 26 :

धारा 26 का शीर्षक है "पुलिस की अभिरक्षा में होते हुए अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति का उसके विरुद्ध साबित न किया जाना" इसका पाठ निम्नलिखित है :

"**धारा 26** : कोई भी संस्वीकृति, जो किसी व्यक्ति ने उस समय की हो जब वह पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हो, ऐसे किसी व्यक्ति के विरुद्ध साबित न की जाएगी जब तक कि वह मजिस्ट्रेट की साक्षात उपस्थिति में न की गई हो।"

स्पष्टीकरण : इस धारा में 'मजिस्ट्रेट' के अन्तर्गत फोर्ट सेन्ट जार्ज की प्रेसिडेन्सी में या अन्यत्र मजिस्ट्रेट के कृत्य निर्वहन करने वाला ग्राम प्रमुख नहीं आता, जब तक कि वह ग्राम प्रमुख दंड प्रक्रिया संहिता, 1882 (1882 का 10) के अधीन मजिस्ट्रेट की शक्तियों का प्रयोग करने वाला मजिस्ट्रेट न हो।

69वीं रिपोर्ट में इस धारा को निम्नलिखित रूप में संशोधित करने तथा स्पष्टीकरण हटा देने की सिफारिश की गई है :

"**धारा 26** : कोई भी संस्वीकृति, जो किसी व्यक्ति ने उस समय की हो जब वह पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हो, तब तक ऐसे किसी व्यक्ति के विरुद्ध साबित न की जाएगी जब तक कि उसे दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 के अधीन किसी मजिस्ट्रेट द्वारा अभिलिखित न किया गया हो।"

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 संबंधी आयोग की 154वीं रिपोर्ट में धारा 164क जोड़े जाने के कुछ प्रस्तावों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक हो गया है कि "धारा 164 के अधीन" शब्दों का लोप किया जाए और "अध्याय-12 के अनुसार" शब्द जोड़े जाएं। इस संशोधन के साथ और स्पष्टीकरण का लोप करने के पश्चात् धारा का पाठ इस प्रकार होगा :

<u>पुलिस की अभिरक्षा में होते हुए अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति का उसके विरुद्ध साबित न किया जाना</u>

"**धारा 26** : कोई भी संस्वीकृति, जो किसी व्यक्ति ने उस समय की हो जब वह पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हो, तब तक ऐसे किसी व्यक्ति के विरुद्ध साबित न की जाएगी जब तक कि उसे दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अध्याय-12 के अनुसार किसी मजिस्ट्रेट द्वारा अभिलिखित न किया गया हो।"

हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 27 :

यह धारा साक्ष्य अधिनियम की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण धारा है किन्तु साथ ही यह विवादास्पद भी है। इसका देश के न्यायालय की दंडात्मक कार्यवाही पर व्यापक प्रभाव है। सरकार साक्ष्य (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 534) में धारा 27 की जटिलता और इस धारा में हस्तक्षेप पर सावधानी बरतने को कहा गया है। वह कहता है :

"किसी भी धारा से इतना विवाद और संदेह पैदा नहीं हुआ है जितना कि धारा 27 से तथा अनेक न्यायाधीशों ने धारा 24 से धारा 27 को पुन:प्रारूपित करने का सुझाव दिया है। यह कठिन कार्य अभी तक आरम्भ नहीं किया गया है और न ही इसके निकट भविष्य में आरम्भ किए जाने की संभावना है क्योंकि इस कार्य के लिए सर जेम्स स्टीफन के ख्यातिप्राप्त न्यायाधीशों की आवश्यकता है।"

निश्चित रूप से हमारे सम्मुख यह विकट कार्य है।

धारा 27 का पाठ निम्नलिखित है :

"**धारा 27 : <u>अभियुक्त से प्राप्त जानकारी में से कितनी साबित की जा सकेगी :</u>** परन्तु जब किसी तथ्य के बारे में यह अभिसाक्ष्य दिया जाता है कि किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति से, जो पुलिस ऑफिसर की अभिरक्षा में हो, प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप उसका पता चला है तब ऐसी जानकारी में से, उतनी चाहे वह संस्वीकृति की कोटि में आती हो या नहीं, जितनी तद्द्वारा पता चले हुए तथ्य से स्पष्टतया संबंधित है, साबित की जा सकेगी।"

यह धारा 'परन्तु' शब्द से आरम्भ होती है किन्तु इससे संबंधित धारा का पता नहीं चलता और यह स्पष्ट नहीं है कि धारा 24 से धारा 26 तक की धाराओं में से यह किस धारा का यह परन्तुक है।

69वीं रिपोर्ट (देखें पैरा 11.25 से 11.57) में धारा 27 पर विचार किया गया है और यह विचार व्यक्त किया गया है कि क्या इसे केवल **धारा 26** का परन्तुक माना जाए (अर्थात् **पुलिस की अभिरक्षा में** होते हुए अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति) या इसे **धारा 25** का परन्तुक माना जाए (अर्थात् पुलिस अधिकारी से की गई संस्वीकृति जब यह अभिरक्षा में न हो) तथा धारा 24 का (उत्प्रेरण, धमकी या वचन द्वारा कराई गई संस्वीकृति)।

धारा 27 के अन्तर्गत विचार हेतु अनेक प्रश्न सामने आते हैं। हम उन पर एक-एक करके विचार करेंगे।

(1) **क्या धारा 27 केवल धारा 26 या धारा 25 और धारा 24 का केवल परन्तुक मात्र है ताकि इन धाराओं के अन्तर्गत किए गए कथनों से खोज निकाले गए तथ्यों को अनुमत्य बनाया जा सके ?**

(क) **अनुच्छेद 14 के संबंध में धारा 25 और धारा 27 :**

इस बात में कोई कठिनाई नहीं है कि धारा 27, धारा 26 का परन्तुक है। किन्तु यह धारा 25 का भी परन्तुक है, जिसमें अभिरक्षा में न रहते हुए अभियुक्त द्वारा किए गए कथनों से तथ्यों को खोज निकाला जाना है।

पकाला नरायणस्वामी के मामले में (ए.आई.आर. 1939 पी.सी. 47) प्रिवी काउंसिल ने पाया कि "धारा 27 का आशय धारा 26 के परन्तुक के रूप में लाया गया है।" प्रश्न यह है कि क्या पुलिस अधिकारी के समक्ष किए गए कथन (धारा 25 के अधीन) जो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अधीन पूर्णतः अमान्य है, को यदि वह खोज से संबंधित है, किया गया ऐसा कथन जिसका खोज से संबंध है, धारा 27 के अधीन संगत है, पर प्रिवी काउंसिल ने निर्णय नहीं दिया। उद्धवभान बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ए.आई.आर. 1962 सु. को 1116 मामले में उच्चतम न्यायालय ने धारा 27 को धारा 26 का परन्तुक माना है।

उत्तर प्रदेश राज्य बनाम देवमन उपाध्याय : ए.आई.आर. 1960 सु. को. 1125 मामले में उच्चतम न्यायालय ने (बहुतम से) इस तर्क को खारिज कर दिया कि धारा 27 से अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होता है। पुलिस अभिरक्षा में रहते हुए (धारा 26 के अधीन) तथा अभिरक्षा में न रहते हुए (धारा 25 के अधीन) व्यक्ति के कथन के आधार पर खोज निकाले गए तथ्यों से यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था।

इसके लिए यह तर्क दिया गया कि जैसा धारा 27 में प्रयुक्त भाषा में उल्लेख किया गया है कि पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में रह रहे व्यक्ति के कथन के आधार पर खोजे गए तथ्य भाग को (धारा 26 के अनुसार) संगत बनाया जाएगा तथा धारा 25 के अधीन उस व्यक्ति, जो अभिरक्षा में नहीं है, द्वारा किए गए उसी प्रकार के कथन को नहीं, उससे भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होता है। बहुमत ने इस तर्क को खारिज कर दिया (सुब्बा राव जे. ने भिन्न निर्णय दिया)। बहुमत में शामिल विद्वान न्यायाधीशों ने बताया कि ऐसे व्यक्ति जो पुलिस अभिरक्षा में नहीं है (धारा 25 के अधीन) ऐसे कथन होते हैं जिनसे तथ्यों का पता चले, बहुत कम होते हैं। तथापि, ऐसे व्यक्ति के मामले में जो पुलिस अभिरक्षा में नहीं है, "अपराध की जांच कर रहे पुलिस अधिकारी से सम्पर्क करता है और तथ्यों की जानकारी देने वाली जानकारी की पेशकश करता है" इस पर उच्चतम न्यायालय ने बताया कि उस व्यक्ति को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 46 के अधीन पुलिस को समर्पण किया हुआ

मान लिया जाना चाहिए किन्तु उस पर धारा 27 लागू होगी और जानकारी साबित की जानी होगी। किन्तु यदि इसे समर्थन नहीं माना जाता तो इसे जानकारी देने वाले कथन (जब कोई व्यक्ति अभिरक्षा में नहीं है) साबित करने योग्य नहीं होंगे और वह अमान्य होंगे। उन्होंने कहा है (पृष्ठ 1130) :

"अतः अभिरक्षा में रहते हुए किसी व्यक्ति द्वारा दी गई जानकारी, जो विशेष रूप से तथ्यों का पता लगाने से संबंधित है, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 द्वारा साबित करने योग्य होगी, जो व्यक्ति पुलिस अभिरक्षा में नहीं है, उसके द्वारा पुलिस अधिकारी को अपराध के जांच के दौरान दी गई जानकारी साबित करने योग्य नहीं होगी। यह अन्तर विरोधाभासी प्रतीत होता है।"

बहुमत ने संप्रेक्षण किया कि :

"धारा 25 और धारा 26 का अधिनियमन इसलिए नहीं किया गया कि यह मान लिया जाए कि कथन असत्य होगा, किन्तु प्रमाण के स्रोत के दूषित स्वरूप को देखते हुए, उन्हें प्रमाण मानने से रोका गया है।"

जानकारी देने वाले कथनों का उल्लेख करते हुए बहुमत ने कहा (पृष्ठ 1130) :

"अभिरक्षा में रहते हुए किया गया कथन साबित करने योग्य है अन्यथा नहीं।"

बहुमत इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि अभिरक्षा में न रहते हुए किए गए कथन को अमान्य करने संबंधी विसंगति दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के फलस्वरूप है न कि साक्ष्य अधिनियम में किसी बात के कारण (पृष्ठ 1130-31)। अतः धारा 26 के अधीन अभिरक्षा में रहते हुए किए गए कथन से प्राप्त तथ्यों संबंधी जानकारी को ही मान्य कर देने से तथा धारा 25 के अधीन अभिरक्षा में न रहते हुए व्यक्ति के कथन से प्राप्त तथ्यों संबंधी जानकारी को धारा 27 के अधीन अमान्य कर देने से अनुच्छेद 14 का उल्लंघन नहीं होता है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, यदि पुलिस अधिकारी की स्वेच्छा से कथन दिया जाता है तो कुछ मामलों में यह धारा 46 के अधीन गिरफ्तारी के लिए समर्पण है और ऐसी स्थिति में यदि उस व्यक्ति को गिरफ्तार मान लिया जाता है तो धारा 27 लागू होगी, किन्तु यदि वह पुलिस अधिकारी को पत्र लिखता है तो वह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अधीन अमान्य होगा। उच्चतम न्यायालय ने धारा 25 और धारा 26 के अधीन किए गए कथनों से प्राप्त तथ्यों संबंधी जानकारी के अन्तर की पुष्टि की है, इससे अनुच्छेद 14 का उल्लंघन नहीं होता है। सुब्बा राव जे. (जैसा कि उस समय था) ने तथापि, यह निर्णय दिया कि धारा 27 के उपबंध, यदि केवल धारा 26 के अधीन, धारा 25 के अधीन नहीं, किए गए कथनों पर ही लागू किए जाते हैं तो यह विभेदक है। यह मामले का एक पहलू है।

(ख) <u>क्या उस व्यक्ति के कथनों से प्राप्त जानकारी जो पुलिस अभिरक्षा में नहीं है (अर्थात् धारा 25 के अधीन) धारा 27 के अधीन मान्य होगी।</u>

इन्हें संगत बनाने के पर्याप्त प्राधिकार हैं। वास्तव में, तीन न्यायाधीशों की एक खंड पीठ ने चिन्नास्वामी : ए.आई.आर. 1962 सु. को. 1788 (पृष्ठ 1793) मामले में बताया कि धारा 27, धारा 25 का अपवाद भी है। **अगन्नू नाजीरिया बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1966 सु.को. 119 मामले में इसी बात को दोहराया गया है। देखें **संजय बनाम दिल्ली राज्य सरकार** : 2001(3) एस.सी.सी. 190 = ए.आई.आर. 2001 सु.को. 979 : **पांडुरंग कालू पाटिल और एन.आर. बनाम महाराष्ट्र राज्य** : 2001(1) जे.टी. एस.सी. 229। इसका तात्पर्य यह हुआ कि धारा 25 के अन्तर्गत किए जाने वाले कथनों के अनुसरण में किसी व्यक्ति द्वारा दी गई जानकारी भी अमान्य है।

हमारे विचारों में, धारा 27 केवल धारा 26 का ही नहीं अपितु धारा 25 का भी परन्तुक है।

हम धारा 24 के अन्तर्गत किए गए कथनों से प्राप्त जानकारी पर अलग से विचार करेंगे।

यदि ऐसा है तो धारा 27 में ''किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति'' शब्दों तथा ''जो पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हो'' शब्दों के बीच 'अथवा' जोड़ा जाना चाहिए। इस पहलू पर अगले शीर्षक में विचार किया जाएगा।

(2) प्रश्न यह है कि क्या धारा 27 में 'अथवा' जोड़ा जाए जैसाकि दंड प्रक्रिया संहिता, 1861 की धारा 150 में किया गया था (1869 में यथा संशोधित)

उपर्युक्त बाद में किए गए निर्णयों के संदर्भ में धारा 27 के विधायी इतिहास पर ध्यान देना आवश्यक है ताकि यह पता चले के क्या धारा 27 के विधायी प्रारूप में कोई गलती हुई कि धारा 27 को धारा 25 का परन्तुक आरम्भ में ही नहीं बनाया गया। इस दृष्टि से भी कि क्या 'अथवा' शब्द जो 'किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति से' और 'पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हो', पहले ही धारा 27 में था उसका गलती से लोप किया गया था। धारा 27 की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जो कुछ हद तक 69वीं रिपोर्ट में दिया गया है। सरकार साक्ष्य (1999, 15वां संस्करण, पृष्ठ 532-534) में भी इसका विस्तार से उल्लेख है। इस संदर्भ में विधि आयोग की 152वीं रिपोर्ट का भी संदर्भ आवश्यक होगा।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1861(1861 का अनु. 25) (अर्थात् 1872 के साक्ष्य अधिनियम के अधिनियमन से पूर्व) में तीन खंड थे – धारा 48, जिसमें पुलिस अधिकारी के समक्ष अपराध की स्वीकृति को अनुमत्य नहीं बनाया गया था : धारा 149, पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में किसी व्यक्ति द्वारा की गई संस्वीकृति या स्वीकृति, जो तब तक अनुमत्य नहीं जब तक कि उन्हें मजिस्ट्रेट की उपस्थिति में न किया गया हो; और धारा 150, जिसका संबंध 'प्राप्त जानकारी' से है। धारा 150 निम्नलिखित है :

> ''जब किसी तथ्य के बारे में यह अभिसाक्ष्य दिया जाता है कि किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति से प्राप्त जानकारी के परिणाम स्वरूप उसका पता चलता है, तब ऐसी जानकारी में उतनी चाहे वह अपराध संस्वीकृति अथवा स्वीकार किए जाने के समान है अथवा नहीं, जितनी तद्द्वारा पता चले हुए तथ्य से स्पष्टतया संबंधित है, साक्ष्य में प्राप्त की जा सकेगी।''

यहां पर 'पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में' शब्द पूरी तरह लुप्त हैं। तथापि, इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई कि धारा 150, व्यक्ति द्वारा किए गए कथन, चाहे वह अभिरक्षा में है अथवा नहीं, को लागू करने के लिए पर्याप्त रूप से व्यापक है। (देखें सरकार साक्ष्य, 1999, 15वां संस्करण, पृष्ठ 526 और पृष्ठ 532)

संशोधनकारी अधिनियम 8/1869 के द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा नए रूप में निम्नानुसार सामने आई। नए जोड़े गए शब्द रेखांकित हैं :

> ''धारा 150 : परन्तु जब किसी तथ्य के बारे में साक्ष्य में यह अभिसाक्ष्य दिया जाता है कि किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति से, जो पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हों, प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप उसका पता चलता है, तब ऐसी जानकारी में से, उतनी चाहे वह अपराध संस्वीकृति अथवा स्वीकृति की कोटि में आती हो अथवा नहीं, जितनी तद्द्वारा पता चले हुए तथ्य से स्पष्टता संबंधित है, साक्ष्य में प्राप्त की जा सकेगी।''

यह धारा जो अभिरक्षा में है अथवा नहीं है, के संबंध में स्पष्ट है (देखें सरकार साक्ष्य, 1999, 15वां संस्करण, पृष्ठ 526 और 532)

सरकार (एविडेंस 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 526) में और स्वयं सर जेम्स स्टीफन द्वारा 1872 में अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है:

> ''दंड प्रक्रिया संहिता, 1861 की धारा 148-150 में अंतर्विष्ट उपबंध अब साक्ष्य अधिनियम की धारा 26-27 के अंतर्गत लाए गए हैं और इन धाराओं के अधीन पुलिस के समक्ष की गई संस्वीकृति,यदि उससे तथ्यों संबंधी जानकारी

प्राप्त होती है, बाधित नहीं है। इस अधिनियम के निर्माता स्टीफन का कहना है कि उसने धारा 27 के शब्दशः दंड प्रक्रिया संहिता, 1861 की धारा 150 से लिया है। 'अपराधों' के संबंध में स्वीकृति को सामान्य रूप से संस्वीकृति कहा जाता है। मैंने इनसे संबंधित उपबंधों पर ध्यान दिया कि धारा 25, धारा 26 और धारा 27 स्थानान्तरित कर दी गई हैं, उन्हें दंड प्रक्रिया संहिता, 1861 का 25 से शब्दशः साक्ष्य अधिनियम में स्थानान्तरित कर दिया गया है। (स्टीफन : इन्ट्रॉडक्शन आफ दि एविडेंस एक्ट, पृष्ठ 165, 1872 संस्करण का 1892 संस्करण का पुनः मुद्रण)।''

सरकार कहता है कि :

''जब 1872 में यह अधिनियम अधिनियमित किया गया (जब 1872 में धारा 27 अधिनियमित की गई थी) उस समय धारा 150 साक्ष्य अधिनियम में स्थानांन्तरित कर दी गई थी तथा इसमें 'अथवा' शब्द का लोप करके उसके स्थान पर अल्प विराम लगा दिया गया था।''

यह महत्वपूर्ण है कि 1869 में संशोधन 'अथवा' शब्द जोड़ कर किया गया तथा 1872 के विद्यमान अधिनियम और 1872 में सर जेम्स स्टीफन की टिप्पणी में यह बताया गया है कि दंड प्रक्रिया संहिता 1861 (1869 में यथा संशोधित) की धारा 150 को शब्दशः 1872 के विद्यमान अधिनियम में स्थानांतरित कर दिया गया है। किसी भी स्थिति में उनकी ऐसी मंशा थी।

किन्तु जब 1872 का साक्ष्य अधिनियम पुरः स्थापित हुआ तो उसमें धारा 25, धारा 26 और धारा 27 का प्रारूप इसी रूप में आया जैसाकि वह इस समय है। धारा 25 पुरानी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 148; धारा 26 धारा 149 के और धारा 27 धारा 150 के अनुरूप है। धारा 27 का प्रारूप बनाते समय धारा 150 की भाषा के समान भाषा (1869 में यथा संशोधित) रखी गई है। 'अपराध' और 'अभिरक्षा' के बीच 'अथवा' शब्द का लोप कर दिया गया है। उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, क्या यह कहा जा सकता है कि ऐसा जानबूझ कर किया गया है।

सरकार कहता है (पृष्ठ 533) कि ''तथापि ऐसा कोई सम्भावित कारण समझ में नहीं आता कि जब किसी व्यक्ति से प्राप्त जानकारी, चाहे वह अभिरक्षा में है अथवा अभिरक्षा में नहीं है, धारा 27 के अधीन संगत होने की शर्त पूरी करती है, अर्थात् 'अभियुक्त व्यक्ति से प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप'। धारा 27 उत्तरवर्ती तथ्यों के बारे में प्राप्त जानकारी की पुष्टि के सिद्धान्त पर आधारित है''। वास्तव में, इलाहाबाद उच्च न्यायालय में **देवमन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** (ए.आई.आर. 1960, इला. पृ. 1) (जिसे उच्चतम न्यायालय ने **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **देवमन उपाध्याय** ए.आई. आर. 1960, सु. को. 1283, मामले में उलट दिया था) 1960 में यह निर्णय दिया, इसमें देसाई जे. ने अपनी **विमत** राय देते हुए कहा कि यदि ''अथवा'' शब्द का जानबूझ कर लोप किया गया था, तो इससे ठीक पहले लगाए गए अल्पविराम को भी हटा दिया जाना चाहिए।

जैसाकि ऊपर बताया गया है, उसने भी कहा है कि स्टीफन ने कहा कि ''धारा 150 (धारा 27) को शब्दशः दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 150 से स्थानान्तरित किया गया है। [देखें स्टीफन इन्ट्राडक्शन टू दि एविडेंस एक्ट (1872) पुनः मुद्रित 1892 पृ. 165] देवमन उपाध्याय मामले में सुब्बा राव जे. की विमत्त राय में भी इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि धारा 27 के उपबंध से अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होता है।

इसके अतिरिक्त, जैसाकि श्री वेपा पी. सारथी ने अपने साक्ष्य (15वां संस्करण, 2002, पृ. 139) में कहा है कि धारा 27 के अधीन जो स्वीकार्य है वह है (क) वस्तु सामग्री की प्राप्ति, (ख) स्थान, जहां से वह वस्तु प्राप्त हुई, और (ग) उस वस्तु के संबंध में अभियुक्त की जानकारी, ऐसे में ये तथ्य संगत हैं और अभियुक्त के **पुलिस अभिरक्षा में न होते हुए** भी स्वीकार्य है। ऐसा या तो धारा 8 (पश्चात् आचरण) अथवा धारा 9 (सुसंगत तथ्यों के स्पष्टीकरण या पुरःस्थापन के लिए आवश्यक तथ्य) के अंतर्गत किया जा सकता है। अतः इस बात का कोई कारण नजर नहीं आता कि धारा 25 के अधीन की गई प्राप्तियों संबंधी कथनों के लिए धारा 27 क्यों न लागू की जाए।

69वीं रिपोर्ट में यह प्रस्ताव किया गया था कि धारा 27 के आरम्भ में 'धारा 25 तथा धारा 26 में किसी बात के होते हुए' शब्द भी जोड़े जाएं। इसका अर्थ यह है कि धारा 25 के अन्तर्गत किए गए प्रकटीकरण भी ग्राह्य होंगे। उस प्रस्ताव में आयोग ने 'या' शब्द (देखें पैरा 11.58) तथा कुछ और शब्द भी जोड़ दिए थे। इस प्रकार संगत अंश का पाठ निम्न प्रकार हो गया :

''पुलिस अधिकारी को दी गई जानकारी के आधार पर या जब ऐसा व्यक्ति किसी पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में है, उस समय सूचना दिए जाने पर, किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति से प्राप्त''।

आयोग की 'अभिरक्षा में होने वाले अपराधों' संबंधी 152वीं रिपोर्ट में दो विकल्प सुझाये गये थे (देखें इस रिपोर्ट का पैरा 11.6)। पहला सुझाव यह था कि धारा 27 का पूरी तरह निरसन कर दिया जाए तथा दूसरा विकल्प यह था कि धारा 27 का निम्नलिखित रूप में पुनः प्रारूपण कर दिया जाए :

''धारा 27 : **अभियुक्त के कहने पर तथ्यों का पता लगाना :** जब किसी संगत तथ्य के बारे में यह अभिसाक्ष्य किया जाता है कि किसी अपराध के अभियुक्त व्यक्ति से, चाहे वह व्यक्ति पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हो या न हो, प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप उसका पता चला है, तब ऐसी जानकारी को नहीं बल्कि इस प्रकार पता लगे तथ्य को, चाहे वह जानकारी संस्वीकृति की कोटि में आता हो या नहीं, साबित किया जा सकेगा।''

यह ध्यान देना होगा कि यहां 'या' शब्द इसलिए जोड़ा गया था कि धारा 25 तथा धारा 26 के अधीन आने वाले कथनों से पता चले तथ्यों को भी इसमें शामिल किया जा सके।

हमारी इस रिपोर्ट के पहले प्रारूप के पश्चात् श्री वेपा पी. सारथी ने यह सुझाव दिया था कि धारा 27 में 'या' शब्द न जोड़ा जाए और यह कि जब 1872 में सर जेम्स स्टीफन ने साक्ष्य अधिनियम का प्रारूप तैयार किया था, उसकी धारा 27 में 'या' शब्द को आकस्मिक रूप से नहीं बल्कि जानबूझकर छोड़ा गया था। उसने अपनी राय को कुछ उदाहरणों द्वारा पुष्ट करने का प्रयास किया है। लेकिन इन उपबंधों का पूर्व इतिहास 1861 की दंड प्रक्रिया संहिता की 1869 में यथा संशोधित धारा 150 से जुड़ा है और उससे पता चलता है कि उसमें 1869 तथा 1872 में 'या' शब्द था तथा 1869 में विद्यमान धारा 150 सर जेम्स स्टीफन द्वारा जैसा कि उसने स्वयं कहा था, **शब्दशः** के रूप में तैयार किया गया था और उसे धारा 27 में, पहले ही उल्लिखित प्रश्न के अनुसार, रूपांतरित कर दिया था। अतः हम सिफारिश करते हैं कि जैसाकि 69वीं रिपोर्ट तथा 152वीं रिपोर्ट में स्वीकार किया गया है, इसमें 'या' शब्द जोड़ दिया जाए।

(3) क्या 152वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुसार धारा 27 को पूरी तरह निरसित कर दिया जाए या धारा 24 के अन्तर्गत आने वाले कथनों से पता चलने वाली बातों को अपवर्जित करके केवल आंशिक रूप से निरसित किया जाए ?

अगला प्रश्न यह है कि क्या 152वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुसार धारा 27 को पूरी तरह से निरसित कर दिया जाना चाहिए और जिनसे कुछ बातों का पता चलता हो उन सभी तथ्यों को, यदि वे ऐसे व्यक्ति द्वारा किए गए किसी कथन में चाहे वह धारा 24 के अधीन आता हो या नहीं या ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया गया हो जो अभिरक्षा में न हो (धारा 25) और अभिरक्षा में हो (धारा 26), अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए।

अब जहां तक इसके इस संस्वीकृति वाले अंश का संबंध है, जो अपराध से संबंधित भाग है, निःसंदेह अनुमत्य नहीं है तथा वह प्रश्न पता है चले तथ्य से संबंधित है। क्या धारा 27 का पूरी तरह निरसन करके ऐसे सभी तथ्यों का अपवर्जन कर दिया जाना चाहिए।

69वीं रिपोर्ट में ऐसी कोई नीति स्वीकृत नहीं की गई थी और यह अनुभव किया गया था कि नीति के तौर पर, केवल धारा 24 के अधीन आने वाले कथनों के अनुसरण में पता चली बातों को ही अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए और यदि उन्हें अनुमत्य बना दिया गया हो तो पुलिस संस्वीकृति प्राप्त करने के लिए धमकी, उत्प्रेरण और वचन दे सकती है।

जिस रिपोर्ट में धारा 27 के प्रारूप का प्रस्ताव किया गया था, उसमें यदि ऐसे तथ्य का धारा 24 के अधीन आने वाले कथनों के अनुसरण में पता चला हो तो अननुज्ञेय बना दिया गया था। 69वीं रिपोर्ट में प्रारूप धारा का आरम्भ ही केवल धारा 25 और धारा 26 को शामिल करने वाले इस सर्वोपरि खंड से होता है कि चाहे वे व्यक्ति अभिरक्षा में हो या न हो, लेकिन इसमें धारा 24 शामिल नहीं है। इसका अर्थ यह है कि धारा 24 के अन्तर्गत धमकी, उत्प्रेरण या वचन के अनुसरण में दिए गए कथनों से संबंधित पता चलने वाली सभी बातों को उक्त प्रारूप धारा से बाहर रखा गया है।

लेकिन 152वीं रिपोर्ट में धारा 27 का पूरी तरह निरसन करने का प्रस्ताव किया गया।

हमारे विचार से, विभिन्न देशों में पता चलने वाली बातों की अनुज्ञेयता के इतिहास से दूसरी ओर यह पता चलता है कि आशय यह था कि पता चलने वाली वे सभी बातें, जिनमें वे सम्मिलित हैं जो ऐसे व्यक्तियों के कथनों से पता चली हों, (क) चाहे वे धमकी, उत्प्रेरण या वचन देकर पता की गई हों, या (ख) चाहे उस समय पता की गई जब वे अभिरक्षा में हो या अभिरक्षा में न हो, कुल मिलाकर अनुज्ञेय मानी जाएं। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरीका तथा कनाडा में आज भी यही स्थिति है। यह पता चले तथ्यों की स्वतंत्र पुष्टि के सिद्धान्त पर आधारित है।

ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरीका तथा कनाडा के विचारों में जहां एक ओर पूरी तरह मतभेद है वहीं 152वीं रिपोर्ट में प्रथम विकल्प के रूप में पूर्ण निरसन का सुझाव दिया गया है। 69वीं रिपोर्ट में आधी बात कही गई है और उसमें केवल धारा 24 के अधीन किए गए कथनों के अनुसरण में पता चली बातें ही शामिल हैं।

तथ्यों की पुष्टि का सिद्धान्त

आर बनाम **बैरिक शैल** (1783) 1 लीच. सी. सी. 298 (168 ई. आर. 234) में पहली बार यह नियम निर्धारित किया गया था कि चोरी हुई सम्पत्ति कैदी द्वारा दी गई जानकारी, जोकि अनुज्ञेय थी, के अनुसरण में कैदी के लाजिंग में एक गड्ढे के नीचे से प्राप्त हुई थी। इस नियम में यह कहा गया था :

> "तथ्यों की जानकारी जबरदस्ती कराई गई संस्वीकृति के परिणामस्वरूप प्राप्त हुई या किसी अन्य स्रोत से प्राप्त हुई, इस आधार पर उन्हें स्वीकृति करने या अस्वीकृति करने के बारे में संस्वीकृति को स्वीकार किए जाने के सिद्धान्त की कोई भी उपादेयता नहीं है।"

यह 'पुष्टि के सिद्धान्त' पर आधारित था क्योंकि कोई भी तथ्य यदि वह है तो अनिवार्यतः उसी तरीके से होना चाहिए चाहे वह संस्वीकृति जिससे वह तथ्य प्राप्त हुआ है, अन्य दृष्टियों से सही या गिथ्या हो।

बारिक शैल के मामले में न्यायालय ने कहा था कि "इस मामले पर एक से अधिक बार बारह न्यायाधीशों द्वारा विचार किया जा चुका है; तथा उनमें अधिकांश का यह स्पष्ट मत था कि यद्यपि साक्ष्य में अनुचित ढंग से संस्वीकृतियां नहीं कराई जा सकती तथापि उसके पश्चात् किए गए कोई भी कार्य साक्ष्य में दिए जा सकते हैं, इस बात के होते हुए भी कि वे ऐसी संस्वीकृति के परिणाम में किए गए थे।"

न्यायालय ने कहा था कि जबरदस्ती से कराई गई संस्वीकृतियां अविश्वसनीय है लेकिन यह कि इसके परिणामस्वरूप कोई समस्या उत्पन्न नहीं हुई। "**किसी संदिग्ध व्यक्ति को अपनी दोषसिद्धि के साधन जनने से रोकने मात्र के लिए इन परिणामों को अपवर्जित करना एक नया सिद्धान्त, 'खतरनाक प्रथा' और 'दांडिक विधि के सामान्य सिद्धान्तों' के प्रतिकूल होगा।**"

देवमन उपाध्याय के मामले में (ए. आई. आर. 1960 सु. को. 1125) तत्कालीन न्यायमूर्ति पी. हिदायतुल्ला ने विधि के उपर्युक्त कथन को मानते हुए यह निर्णय दिया था कि धारा 27 के अधीन कथनों से पता चलने वाली सभी बातें पूरी तरह अनुज्ञेय है चाहे संस्वीकृति की दृष्टि से वे कथन अननुज्ञेय हो क्योंकि वे धारा 24 के उपबंधों के अनुसार धमकी, उत्प्रेरण या वचन देकर कराए गए थे।

बारिक शेल वाले मामले तथा **आर बनाम लाकंहार्ट** (1785) 1 लीच सी.सी. 386 =168 ई. आर. 295, का निर्देश करते हुए तत्कालीन न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला ने **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **देवमन** (ए. आई. आर. 1960 सु. को. 1125) वाले मामले में न्यायाधीश नियमावली, 1912 का हवाला दिया था जो सम्राट की बैंच डिविजन ने पुलिस के मार्गदर्शन के लिए तैयार की थी। यह टिप्पणी की गई थी कि इन नियमों में विधि की शक्ति नहीं है बल्कि इनके द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रिया निर्धारित की गई थी। सबसे पहले चार नियम बनाए गए लेकिन बाद में उनमें पाँच नियम और जोड़ दिए गए। ये नियम हाल्सबरीज लॉज ऑफ इंग्लैंड (तीसरा संस्करण) खंड 10, पृष्ठ 470 के पैरा 865 में पुनरुक्त किए गए थे। उच्चतम न्यायालय ने यह टिप्पणी की थी कि इन नियमों में भी, पुलिस अभिरक्षा में और बिना पुलिस अभिरक्षा वाले अपराध के संदिग्ध व्यक्तियों के बीच स्पष्ट रूप से अन्तर किया गया है। शाही कमीशन (1928–29 सी एमडी 3297) की रिपोर्ट का निर्देश किया गया। अन्ततः यह निर्णय दिया गया कि धारा 24 के अधीन आने वाले मामलों में प्राप्त जानकारी अनुज्ञेय है। पैरा 65 में न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला ने (पृष्ठ 1145, कालम 2) में कहा था :

> ''धारा 27, जोकि अपवाद के तौर पर बनाई है, उसे धारा 26 का ही नहीं बल्कि धारा 24–26 का अपवाद बताकर ठीक ही किया गया है। इस धारा की शब्दावली वस्तुतः **आर बनाम लॉकंहार्ट** (1785) लीच 386 : 168 ई आर. 295 से ली गई थी, जिसमें कहा गया था कि :
>
> > ''लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि संस्वीकृति का जितना भाग उससे पता चलने वाले तथ्य से संबंधित है उसे साक्ष्य के दौरान, जबरदस्ती से कराई गई संस्वीकृतियों को अस्वीकृत करने के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है, उसके पीछे यह आशंका है कि उसके द्वारा कैदी को वह बात करने के लिए उत्प्रेरित किया जा सकता है जोकि मिथ्या है; लेकिन पता चले तथ्य से पता चलता है कि संस्वीकृति का जो भाग उससे तात्कालिक रूप से संबंधित है, वह सच है''।''

यदि जो कुछ 'पता चला है' वह सच है और एक तथ्य स्वतंत्र रूप से विद्यमान है, वहां यही तथ्य कि यह बात उत्प्रेरणा, धमकी या वचन द्वारा कराई गई संस्वीकृति के अनुसरण में पता चली, उपर्युक्त कहावत के अनुसार विसंगत थी। यदि पता लगा तथ्य विद्यमान था तो वह उत्प्रेरित संस्वीकृति के बिना भी विद्यमान था। इस प्रकार, न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला के अनुसार, कथनों, जिसमें धमकी आदि के अनुसरण में किए गए कथन शामिल हैं, से पता चले तथ्य अनुज्ञेय हैं।

69वीं रिपोर्ट में उन तथ्यों के अपवर्जन का प्रस्ताव किया गया था जो धमकी, उत्प्रेरण या वचन देकर प्राप्त किए गए हों (धारा 24)।

69वीं रिपोर्ट में यह टिप्पणी की गई थी कि इसके विपरीत नीतिगत मामले के तौर पर धारा 24 के अधीन आने वाले व्यक्तियों के कथनों से पता चले तथ्यों का पूरी तरह अपवर्जन करना होगा। सबसे पहले हम 69वीं रिपोर्ट में दिए गए कारणों का निर्देश करेंगे। पैरा 11.49 में आयोग ने यह टिप्पणी की थी :

> ''लेकिन नीतिगत मामले के रूप में यह प्रश्न पैदा होता है कि अवांछित उत्प्रेरणा, धमकी या वचन द्वारा कराई गई संस्वीकृति, जो परिणामतः धारा 24 के अधीन अननुज्ञेय है, धारा 27 के अधीन इसलिए अनुज्ञेय हो जानी चाहिए क्योंकि किसी तथ्य का पता उसके परिणामवश चला। हमारा विचार है कि धारा 24 में निहित नीति संबंधी सर्वोपरि नियम धारा 27 से ऊपर होना चाहिए.....धारा 24 के अधीन ऐसा नियम बनाया गया है जो सार्वभौमिक रूप से लागू होना चाहिए। यह नियम किसी ऐसे कृत्रिम या विशिष्ट कारणों पर आधारित नहीं है जिन्हें पुलिस के सम्भावित अत्याचारों के साथ जोड़ा जा सके। इसका आशय, संस्वीकृतियों के लिए उत्प्रेरित करने या विवश करने के लिए ''उम्मीदें बंधाने या वचन देने या जबरदस्ती करने को हतोत्साहित करना है।'' ये कारण धारा 24 क के मुकाबले धारा 27 को अधिक महत्व देने के लिए पर्याप्त हैं। धारा 24 केवल सच की कसौटी पर आधारित नहीं है। इसका आशय, संस्वीकृतियां कराने के लिए व्यापक अर्थ में, प्रपीड़न को हतोत्साहित करना है।''

इस प्रकार, आयोग ने यह अनुभव किया कि यदि ऐसे तथ्य धारा 24 में उल्लिखित परिस्थितियों अर्थात् धमकी, उत्प्रेरण या वचन द्वारा की गई संस्वीकृतियों के कथनों का अंग है तो उससे पुलिस को निरंकुशतापूर्वक कार्य करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। अतः धारा 24 के अधीन आने वाले कथनों से उद्घटित तथ्यों को अनुज्ञेय न बनाया जाए।

इस पर आयोग ने **दुरते बनाम सम्राट** : ए. आई आर. 1932 कलकत्ता 297 तथा **सम्राट बनाम मिसरी** (1909) आई. एस. आर. 31 इला. 592, **इब्राहीम बनाम किंग एम्परर** 1914 ए. आई. आर. (पी. सी.) 155 के मामलों, जो धारा 24 के आधार से संबंधित है, का निर्देश करते हुए यह विचार व्यक्त किया था कि यद्यपि धारा 24 में उल्लिखित व्यक्तिगत दबाव, जो संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति के दिमाग में काम करता है, से धारा 27 के अधीन पता लगने वाले तथ्यों का 'सृजन' नहीं होता लेकिन धारा 24 की अन्तर्निहित नीति को देखते हुए, जिस जानकारी से तथ्यों का पता चला है उसे भी अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए।

ब्रिटेन

इस बात को देखते हुए कि धारा 27 के उपबंध वस्तुतः **आर बनाम लाकहार्ट** (1785)1 लीच 386 तथा **आर बनाम बारिक्ल शैल** 1783(1) लीच सी.सी. 283 में किए गए विधि संबंधी कथन से लिए गए थे जैसाकि तत्कालीन न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला ने उपाध्याय मामले में उल्लेख किया है, विधि में तुलनात्मक स्थिति पर गौर करना लाभकारी होगा।

ब्रिटेन में महासम्राज्ञी के बैंच डिविजन द्वारा बनाए गए संशोधित न्यायाधीश नियम (जो 27-1-1964 को प्रवृत्त हुए थे) किसी व्यक्ति द्वारा पुलिस अधिकारियों के समक्ष स्वेच्छा से किए गए कथनों तथा दिए गए उत्तरों के संबंध में उसके विचारण के समय साक्ष्य की ग्राह्यता से संबंधित हैं तथा पुलिस अधिकारियों का उनके कर्त्तव्यों के निष्पादन में मार्गदर्शन करते हैं [इन नियमों के लिए देखें 1964(1) इला. ई. आर. पृष्ठ 237-240]। न्यायाधीश नियम विधि का बल नहीं है तथापि न्यायालय को विवेकाधिकार है कि वह साक्ष्य को स्वीकार कर ले [**आर बनाम स्मिथ** 1961 (3) आल. ई. आर. 972] लेकिन कैदी का प्रतिपरीक्षण अनुमत्य नहीं है। ये नियम पुलिस के आचरण नियम हैं [**आर बनाम आबनैल** 1968(1) आल. ई. आर. 933]। ये नियम सभी व्यवसायिक जांचों पर लागू होते हैं (**आर बनाम निकोलस**) 51 (सी. आर. एल. आर. 233)।

संस्वीकृतियों की अननुज्ञेयता तथा अपवर्जित संस्वीकृति के फलस्वरूप पता चले तथ्यों का अनुज्ञेयता के बारे में फिप्सन का कहना है (देखें फिप्सन, साक्ष्य, 2000, 15वां संस्करण, पैरा 31.29) :

''अपवर्जित संस्वीकृति के फलस्वरूप पता चले तथ्यों की अनुज्ञेयता :

लम्बे समय से यह विधि है कि किसी अननुज्ञेय संस्वीकृति के फलस्वरूप पता चले तथ्य अनुज्ञेय हैं [**आर बनाम बारिक्ल शैल** (1783) 1, लीच, 298]। आखिरकार इस प्रकार के साक्ष्य से संस्वीकृति का संगत भाग अनुज्ञेय नहीं हो जाता [तदैव पृष्ठ 300; **आर. बनाम जैरिमैन** (1854) 6, कावस. 388, 289]; **लामब्बीमिंग बनाम आर** 1991(2) ए.सी. 212 (फीसी) [लेकिन देखें **आर बनाम गोल्ड** (1840)9 सी.एण्ड पी 364] **यह विधि अब सांविधिक है।** पुलिस और दांडिक साक्ष्य अधिनियम 1984 की धारा 76(4), **किसी अपवर्जित संस्वीकृति के फलस्वरूप पता चले किन्हीं भी तथ्यों को अनुज्ञेय बनाती है।** यह साक्ष्य कि कोई तथ्य ऐसी संस्वीकृति के फलस्वरूप पता चला था, अनुज्ञेय नहीं है **जब तक कि प्रतिवादी द्वारा या उसकी ओर से इस बात का साक्ष्य न दिया जाए कि वह तथ्य किस प्रकार पता चला था,** ऐसी स्थिति में वह तथ्य साक्षी के रूप में अभियुक्त की विश्वसनीयता की दृष्टि से संगत होगा।''

यहां हम ब्रिटेन के पुलिस एण्ड क्रिमिनल एविडेंस एक्ट, 1984 की धारा 76 का निर्देश करेंगे जो निम्नलिखित है :

''76. (1) किसी भी कार्यवाही में, किसी भी अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति को उसके विरुद्ध साक्ष्य में दिया जा सकता है यदि वह संस्वीकृति कार्यवाही में विचाराधीन किसी भी मामले की दृष्टि से संगत है तथा इस धारा के अनुसरण में न्यायालय द्वारा अपवर्जित नहीं की गई है।

(2) यदि किसी कार्यवाही में, जहां अभियोजन में किसी अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति को साक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रस्ताव है, वहां न्यायालय को यह अभ्यावेदन किया जाता है कि संस्वीकृति--

(क) कराने वाले व्यक्ति से वह संस्वीकृति अन्यायपूर्ण आचरण द्वारा कराई गई हो; या

(ख) किसी ऐसी कही या की गई बात के परिणामस्वरूप की गई हो जिससे, उस समय विद्यमान परिस्थितियों में, उसके द्वारा की गई कोई संस्वीकृति उसके परिणामस्वरूप अविश्वसनीय ठहराये जाने की सम्भावना हो;

न्यायालय उसके विरुद्ध साक्ष्य में ऐसी संस्वीकृति को दिए जाने की अनुमति देगा लेकिन यह अनुमति नहीं देगा यदि अभियोजन पक्ष न्यायालय के समक्ष समुचित संदेह से परे यह सिद्ध कर देता है कि यह संस्वीकृति (इस बात के होते हुए भी कि वह सच है) उपर्युक्त रूप से प्राप्त नहीं की गई थी।

(3) ऐसी किसी भी कार्यवाही में जहां अभियोजन पक्ष किसी अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति को साक्ष्य में देने का प्रस्ताव करता है, न्यायालय अपनी ही ओर से अभियोजन पक्ष से ऐसा करने की अनुमति देने की शर्त के तौर पर यह सिद्ध करने की अपेक्षा कर सकता है कि संस्वीकृति उपर्युक्त उप-पैरा (2) में निर्देशित ढंग से नहीं कराई गई।

(4) यह तथ्य कि कोई संस्वीकृति इस धारा के अनुसरण में पूर्णरूपेण या आंशिक रूप से अपवर्जित की गई है, साक्ष्य में—

(क) संस्वीकृति के परिणामस्वरूप पता चलने वाले तथ्यों; या

(ख) जहां संस्वीकृति यह दर्शाने की दृष्टि से संगत है कि अभियुक्त संस्वीकृति के जिस भाग के बारे में अपने ढंग से बोलता, लिखता या अभिव्यक्त करता है जो कि यह दर्शाने के लिए जरूरी है कि उसने ऐसा किया है।

(5) यह साक्ष्य कि जिस तथ्य पर यह उपधारा लागू होती है, यह उस अभियुक्त द्वारा किए गए कथन के परिणामस्वरूप पता लगा, तब तक अनुज्ञेय नहीं होगा जब तक स्वयं उसके द्वारा या उसकी ओर से इस बात का साक्ष्य न दिया जाए कि उस तथ्य का किस प्रकार पता लगा।

(6) उपर्युक्त धारा (5)—

(क) ऐसी किसी संस्वीकृति जो इस धारा के अनुसरण में पूरी तरह अपवर्जित है, के परिणामस्वरूप पता चले किसी भी तथ्य पर; तथा

(ख) ऐसे किसी भी तथ्य पर, जो ऐसी संस्वीकृति के परिणामस्वरूप पता चला हो जो आंशिक रूप से इस प्रकार अपवर्जित है यदि वह तथ्य संस्वीकृति के अपवर्जित भाग के परिणामस्वरूप पता चला हो, लागू होती है।

(7) इस अधिनियम के भाग सात की कोई भी बात किसी अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति की अनुज्ञेयता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगी।

(8) इस धारा में, प्रपीड़न में उत्पीड़न, अमानवीय या अपमानजनक व्यवहार तथा हिंसा का प्रयोग या धमकी (चाहे वह उत्पीड़न की कोटि में आता हो या न आता हो) शामिल है।"

इस प्रकार धारा 76(4)(क) के अधीन, चाहे कथन किन्हीं भी परिस्थितियों में किया गया है, पता चले सभी तथ्य संगत होंगे।

धारा 76 से स्पष्ट है कि जहां धारा 76(2) के अधीन प्रपीडन द्वारा या किसी भी कही गई या की गई बात के परिणामस्वरूप प्राप्त संस्वीकृति अविश्वसनीय होगी और उसे न्यायालय द्वारा अविश्वसनीय माना जा सकता है वहीं धारा 76(4) के अधीन इस तथ्य से कि कोई संस्वीकृति धारा 76 के अनुसरण में पूर्णतः या आंशिक रूप से अपवर्जित है—

(क) संस्वीकृति के परिणामस्वरूप पता चले किन्हीं भी तथ्यों; या

(ख) जहां संस्वीकृति इस दृष्टि से संगत है कि उससे यह पता चलता है कि अभियुक्त संस्वीकृति के उतने भाग के बारे में जितना यह दर्शाने के आवश्यक है कि उसने ऐसा किया है, स्वयं किसी विशेष ढंग से बोलता है, लिखता है या अभिव्यक्त करता है, की अनुज्ञेयता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगी और उपधारा (5) के अधीन यह साक्ष्य कि किसी तथ्य, जिस पर यह धारा लागू होती है, का पता अभियुक्त द्वारा किए गए कथन के परिणामस्वरूप चला था, तब तक अनुज्ञेय नहीं होगा जब तक कि उसके द्वारा या उसकी ओर से यह साक्ष्य नहीं दिया जाता है कि वह तथ्य कैसे पता चला था; तथा उपधारा (6) के अधीन यह बताया गया है कि उपधारा (5)—

(क) अपवर्जित है; के परिणामस्वरूप पता चले किसी भी तथ्य पर; और

(ख) ऐसी संस्वीकृति, जो आंशिक रूप से इस प्रकार अपवर्जित है, के फलस्वरूप पता चले किसी भी तथ्य पर लागू होती है यदि वह तथ्य संस्वीकृति के अपवर्जित भाग के फलस्वरूप पता चला है।

हम इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि ब्रिटेन की इस समय वर्तमान विधि के अनुसार भारतीय अधिनियम की धारा 24 में निर्देशित जैसी परिस्थितियों के अधीन पता चली जानकारी से पता लगे सभी तथ्य ब्रिटेन में अनुज्ञेय हैं बशर्ते कि कथन करने वाला व्यक्ति पता लगने के तरीके को स्वीकार कर लेता है।

जैसाकि पहले बताया गया है कि यह प्रस्ताव 69वीं रिपोर्ट में किए गए प्रस्ताव के प्रतिकूल है जिसके द्वारा धारा 24 के अधीन आने वाले कथनों से पता चलने वाली सभी बातें अपवर्जित हैं।

<u>संयुक्त राज्य अमेरीका</u>

जहां तक अमेरीकी विधि का संबंध है, (देखें अमेरीकन ज्यूरिसप्रुडेन्स, भाग 29, पैरा 531) स्थिति यह है कि बल प्रयोग किए जाने पर भी पता चलने वाले सभी तथ्य अनुज्ञेय होते हैं। यह बताया गया है कि मिरांडा बनाम अरिजोना 384 यू.एस. 436, 16 एल., दूसरा संस्करण 694, 86 एस.सी.टी. 1602 के अनुसार अनौच्छिक संस्वीकृति उसकी सत्यता या मिथ्यता के बावजूद अननुज्ञेय है तथा इस तथ्य के बावजूद कि संस्वीकृति की पुष्टि के लिए संस्वीकृति के अतिरिक्त पर्याप्त साक्ष्य है, यह स्थिति है और यदि दोषसिद्धि ऐसी संस्वीकृति के किसी भाग पर आधारित है तो वह अविधिमान्य है। लेखकों का कहना है कि जहां तक इसके परिणामों की बात है:

"लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि क्या संस्वीकृति के कारण पता चले तथ्य, जो स्वयं संस्वीकृति से भिन्न हैं, साक्ष्य में अनुज्ञेय हैं। कई राज्यों के न्यायालयों ने अनुज्ञेय संस्वीकृति के फलस्वरूप पता चले आपराधिक तथ्यों का साक्ष्य स्वीकार किया (देखें **कामनवैल्थ बनाम नैप** 9 पिक (माह) 496; **सेट बनाम डेनली**, 116 एस.सी. 113, 107 एस.ई. 149, 14 ए.एल.आर. 1420; **सिल्वर बनाम स्टेट**, 110 टेक्स ग्रहम 512, 8 एस डब्ल्यू. 2 डी 144, 9 डब्ल्यू. जेड. डी. 358, 60 ए.एल.आर. 290; **मक्कॉय बनाम स्टेट** 24 इण्ड 104, 107 एल.ई. 2डी 43). लेकिन अन्य मामलों में यह कहा या बताया गया है कि ऐसे तथ्यों का साक्ष्य 'विषवृक्ष के फल' के

अन्तर्गत अननुज्ञेय है (देखें **स्टेट** बनाम **शैल्फ** 59 वाश. 2 डी 62, 366 पी. 2डी 193, सर्ट डिनाइड 370 यू.एस. 29, 8 एल.ई.डी. 508 82 एस.सी.टी. 1569) और मामलों में भी न्यायालयों ने इस आशय की अननुज्ञेय संस्वीकृति की सहायता से कि जिस चीज का पता चला है उसका अभिज्ञान संस्वीकृति से अन्य साक्ष्य द्वारा किया जाना चाहिए, प्राप्त साक्ष्य का अनुज्ञेयता के बारे में आक्षेप किया है (**डेनियल्स बनाम स्टेट** 78 गा. 98, **व्हिटले बनाम स्टेट** 78 मिस. 255, 28 एस.ओ. 852)"

अमेरीका में नवीनतम स्थिति प्रो. अखिल रीड अमर की पुस्तक 'दि कॉन्सटीट्यूशन एण्ड क्रिमीनल प्रोसीजर, फर्स्ट प्रिंसीपल्स, 1997' से प्रतीत होती है। पाँचवें संशोधन का संव्यवहार करते समय, लेखक अध्याय-दो में इस पहलू का निर्देश करता है। 1783 में इंग्लिश न्यायालयों द्वारा विनिश्चित ब्रिकशैल के मामले का निर्देश करने के पश्चात्, लेखक निम्नलिखित कहता है (टिप्पण 238, पृष्ठ 225) :

"अमेरीका में, 1960 में यह हार्नबुक लॉ था कि न्यायालय प्रपीडन द्वारा की गई संस्वीकृतियों के परिणामों का अपवर्जन नहीं करेंगे। देखें 2 फ्रांसिस व्हारटन, व्हारटन्स क्रिमिनल एविडेन्स, पैरा 357-58 (रोनाल्डरा एन्डरसन एण्ड, 12 के एड 1953); 3 विगमोर, ट्रीटीज ऑन एंग्लो-अमेरीकन सिस्टम ऑफ एवीडेंस वड ट्रायल्स एट कॉमन लॉ (तीसरा संस्करण, 1940 पैरा 856-59); येल कमिसन, वुल्फ एण्ड लस्टिंग, टेन इयर्स लेटर :

इल्लीगल एविडेंस वड स्टेट एण्ड फेडरल कोर्टस, 43 मिन. एल.रीव. 1083, 1115 एन. 109 (1959)। वास्तव में, मुझे 1960 से पहले या उसके बाद के ऐसे अमेरीकी उच्चतम न्यायालय के मामले की जानकारी नहीं है जिसमें वास्तविक प्रपीडन द्वारा औपचारिक कार्यवाही से बाहर कराई गई संस्वीकृति के वास्तविक लाभों का अपवर्जन किया गया हो। मिरंडा में लाभों के बारे में अस्पष्ट वाक्य दिया गया है, देखें 384 यू.एस. 436, 479 (1966) (पूछताछ के परिणामस्वरूप प्राप्त साक्ष्य के बारे में) लेकिन अब उस वाक्य का निराकरण कर दिया गया है। देखें नोट्स 85-94 में दिया गया पाठ। लेकिन वोंग सोंग बनाम यू.एस. 371 यू.एस. 471 (1963) मामले में, जिसके द्वारा चौथे संशोधन के आधारों का अपवर्जन करके गैर कानूनी गिरफ्तारी के लाभ के रूप में वास्तविक साक्ष्य का अपवर्जन किया गया है।"

प्रोफेसर अमर ने, पृष्ठ 61 पर, न्यूयार्क बनाम क्वार्ल्स 467 यू एस 649 (1984) का निर्देश किया जिसमें न्यायमूर्ति ओ. कॉन्नर ने इस ब्राइट लाइन नियम का तर्क दिया कि मिरंडा उल्लंघन के बाद की किसी संस्वीकृति के परिणामस्वरूप प्राप्त किसी वास्तविक साक्ष्य को अनुज्ञेय माना जाना चाहिए। उसने ओरेगान बनाम एल्स्टाड 470 यू.एस. 290 (1985) में भी यही विचार व्यक्त किए थे। उसने कहा था कि मिरंडा की किसी भी बात के गैर दस्तावेजी साक्ष्य के अपवर्जन की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार जिस कथन के आधार पर तथ्यों का पता चला है उसके बावजूद अमेरीका में, ऐसे पता चले तथ्यों को यदि धमकी, जबरदस्ती से या उत्प्रेरण द्वारा या वचन द्वारा प्राप्त किया गया है, महत्वहीन ठहराया गया है।

<u>कनाडा</u>

कनाडा में भी यही स्थिति प्रतीत होती है (देखें प्रो. अमर की पुस्तक का पृष्ठ 224)। कनाडा में आर बनाम कॉलिन्स 1987 (1) एस सी आर 265 में निर्णय दिया गया था कि ऐसा वास्तविक साक्ष्य जो चार्टर्स का उल्लंघन करने वाले तरीके से (स्वयं को अपराध में फंसाने, अनुचित तलाशी और जब्ती आदि के विरुद्ध संवैधानिक संरक्षण) प्राप्त किया गया हो, केवल इसी कारण से अनुचित तरीके से शायद ही प्रवृत्त होगा। ब्लैक बनाम रेगिना : 1989 (2) एस सी आर 138 (कनाडा) और मैलिनथन बनाम रेगिना : 1992 (3) एस सी आर 615 (कनाडा) भी देखें क्योंकि जिस बात का पता लगा है वह विवश किए परिसाक्ष्य के बिना चल सकता था तथा विवश किए परिसाक्ष्य के बिना पता चले स्वतंत्र

रूप से विद्यमान साक्ष्य के बगैर भी हो सकता था। कनाडियन दांडिक विधि 401 (1991) में डोन स्टुअर्ट के चार्टर जस्टिस में यह कहा गया है कि :

> "हमारे न्यायालय में सामान्य रूप से एक प्रवृत्ति अत्यधिक व्याप्त है कि न्यायपूर्ण विचारण न करके, शस्त्रों या औषधों जैसे किसी भी स्पष्ट साक्ष्य को वास्तविक साक्ष्य मान लेते हैं तथा कालिन्स के अधीन वह सामान्यतः अनुज्ञेय होता है।"

अतः यह स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड, जहां से हमने धारा 27 (धारा 24 के साथ पठित) में अन्तर्निहित सिद्धान्त को ग्रहण किया है—और संयुक्त राज्य अमेरीका तथा कनाडा में जिस जानकारी के आधार पर किसी तथ्य का पता चलता है वह उस स्थिति में भी अनुज्ञेय है जबकि जानकारी अननुज्ञेय संस्वीकृति से प्राप्त हुई है।

<u>पता चले तथ्य अनुज्ञेय क्यों होने चाहिए तथा धारा 27 का पूरी तरह निरसन क्यों नहीं किया जाना चाहिए, इसके कुछ कारण</u>

वास्तव में, प्रो. अमर का विचार है कि "व्हाट इज दि बिग आइडिया" शीर्षक (वही, पृष्ठ 658) के अन्तर्गत उस विशेषाधिकार का आधारभूत तर्काधार क्या है जिसके अधीन मनोवैज्ञानिक क्रूरता जीन के लिए अपने ऊपर आरोप लगाने की अनुमति देती है,—लेकिन अन्तुलनकारी तथ्य क्या है कि अन्यथा, **इस विशेषाधिकर से वास्तव में दोषी व्यक्ति को लाभ मिलता है।** इसके अतिरिक्त, यदि सरकार प्रतिवादी को ऐसा कोई आपराधिक साक्ष्य या जानकारी देने के लिए विवश है जो उसके पास है, सरकार को उपलब्ध क्यों न करने दिया जाए। विधि को लागू करने की दृष्टि से आवश्यक होने पर साक्षी के रूप में कार्य करने की बाध्यता प्रत्येक नागरिक के कर्त्तव्य का भाग है और सामान्यतः विधि को प्रत्येक व्यक्ति के साक्ष्य को प्राप्त करने का हक है। यदि फोटोग्राफ, अंगुलियों के निशान, आवाज की परीक्षा या खून की जांच अनुज्ञेय है तो पता चलने वाले ये तथ्य अनुज्ञेय क्यों नहीं होने चाहिये। **क्या सरकार को प्रमाण का अथवा कम से कम प्रथम दृष्टया प्रमाण का सम्पूर्ण भार अभियुक्त से कोई भी सहायता लिए बिना अपने ऊपर लेना चाहिए।** जहां प्रपीडन द्वारा कहलायी गई बात अनुरोध नहीं हो सकती वहीं ऐसी संस्वीकृतियां जो पूरी तरह विश्वसनीय हैं तथा अक्सर साक्ष्य का अत्याधिक प्रमाणात्मक रूप होती हैं, उनके वास्तविक लाभ को अपवर्जित क्यों किया जाए? प्रोफेसर अमर का निष्कर्ष है:

> "संक्षेप में कहा जाए तो विशेषाधिकार को स्पष्ट करने के लिए बार-बार जो विभिन्न तर्काधार प्रस्तुत किए जाते हैं वे उन्मुक्ति की वर्तमान व्याप्ति से मेल नहीं खाते। तब यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अधिकारों के विधेयक के उपबंधों में वस्तुतः एकमात्र उपबंध जो अपराध में फंसाने संबंधी खंड है, वह सम्पूर्ण बीसवीं शताब्दी के दौरान उन प्रबुद्ध टिप्पणियों के बार-बार विश्लेषणात्मक वार का निशाना बनता रहा है जो यह आग्रह करते रहे हैं कि इस खंड को **सीमित या पूरी तरह निरसित करने के लिए** संविधान में संशोधन किए जाएं।"

लेखक कहता है (पृष्ठ 82) कि पांचवां संशोधन जो मैसाच्यूसैट्स के 1780 के उस संविधान से भिन्न है (जो यह कहता है 'स्वंय अपने विरुद्ध साक्ष्य **प्रस्तुत करने** के लिए विवश नहीं किया जाएगा') सरकार को किसी प्रतिवादी को स्वयं अपने विरुद्ध साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए विवश करने से रोकता है—इस प्रकार विवश किया गया लाभ अनुज्ञेय है लेकिन विवश करके कराया गया परिसाक्ष्य अर्थात् संस्वीकृति अनुज्ञेय नहीं है।

प्रो. अमर कहते हैं (पृष्ठ 84) कि 'लाभ और और वास्तविक साक्ष्य (अर्थात् परिसाक्ष्यात्मक साक्ष्य से विपरीत रूप में) प्रपीडन द्वारा लिए गए परिसाक्ष्य से कहीं अधिक विश्वसनीय हैं।' न्यायाधीश हैनरी जे. फ्रैन्डी की पुस्तक 'दि फिफ्थ अमेन्डमैंड टुमारो' तथा 'दि लॉ ऑफ कान्शटीट्यूशनल चेंज 37, यू. सिविल रीव 671(1968)' में यह बताया गया था कि **विधि को प्रवृत्त कराने की दृष्टि से वास्तविक रूप से की गई पहल** न्यायालय में प्रयोग हेतु कथन कराये जाने से **कहीं अधिक महत्वपूर्ण है,** क्योंकि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुए भारी परिवर्तनों के कारण आज वास्तविक साक्ष्य कहीं अधिक विश्वसनीय जानकारी प्रदान कर सकते हैं। इस बढ़ी हुई विश्वसनीयता ने ही परिसाक्ष्य के लाभों की विशिष्टता जो 1783 में

स्थापित हो गई थी, का सम्मान करने के साक्ष्य को मजबूती प्रदान की है। इन लाभों पर निर्भरता ने जांच के प्रयोजन के महत्व को कम कर दिया है तथा इसका परिणाम उन व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान कर सकता है जिनसे अनावश्यक रूप से पूछताछ की जा रही है या मुकदमा चलाया जा रहा है। ये लाभ मौखिक परिसाक्ष्य से कहीं अधिक विश्वसनीय है।

आयोग ने अपनी 152वीं रिपोर्ट में (देखें उक्त रिपोर्ट का पैरा 11.6) नि:संदेह धारा 27 के निरसन की सिफारिश की थी। उक्त प्रतिवेदन के अध्ययन से पता चलता है कि आयोग को उपर्युक्त पहलुओं पर विस्तार से विचार करने का अवसर नहीं मिला। आयोग का विचार था कि यदि पुलिस के समक्ष की गई संस्वीकृति को अपवर्जित करना है तो बातों का पता लगाने वाले तथ्यों सहित सभी तथ्यों को भी अपवर्जित करना होगा तथा धारा 22 का निरसन कर दिया जाए।

हम धारा 27 के पूर्ण निरसन के पक्ष में नहीं हैं जिसके अन्तर्गत (क) कथन जब तक धारा 24 के अन्तर्गत वह धमकी, उत्प्रेरण या वचन द्वारा नहीं कराया गया है। (ख) उन व्यक्तियों के कथनों से, जो अभिरक्षा में नहीं हैं, पता चलने वाली बातें, जो धारा 25 के अन्तर्गत आता है, (ग) धारा 26 के अन्तर्गत अभिरक्षा में विद्यमान व्यक्तियों से पता चलने वाली बातों को अपवर्जित किया जाए (हम चाहते हैं कि धारा 24 के अन्तर्गत अलग से किए गए कथनों से पता चलने वाली बातों को महत्व दिया जाए)। 69वीं रिपोर्ट में भी यही कहा गया था।

152वीं रिपोर्ट में निरसन के लिए की गई सिफारिश तथा ब्रिटेन, अमेरीका और कनाडा की विधि पूरी तरह भिन्न प्रतीत होती हैं। 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश बीच का रास्ता प्रतीत होता है।

4. धमकी, उत्प्रेरण या वचन द्वारा किए गए कथन से पता चलने वाले तथ्य (अर्थात् धारा 24 के अन्तर्गत आने वाली बातें) 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुरूप अपवर्जित कर दी जानी चाहिए

हम पहले ही इस विषय से संबंधित 69वीं रिपोर्ट में दिए गए पैरे का निर्देश कर चुके हैं। उक्त रिपोर्ट में आयोग ने यह विचार व्यक्त किया था कि यदि ऐसे अनुज्ञेय होते तो उससे पुलिस द्वारा शरीरिक उत्पीड़न के तरीके अपनाए जाने को निश्चित रूप से बढ़ावा मिलेगा। पुलिस यह महसूस कर सकती है कि धारा 27 अप्रत्यक्ष रूप से धमकी, उत्प्रेरण या वचन का प्रयोग करने की अनुमति देती है। इस रिपोर्ट में धारा 25 और धारा 26 के तथ्यों को तो अनुज्ञेय मानने की सहमति दी गई है लेकिन धारा 24 के तथ्यों को नहीं।

मानवाधिकारों और लोकहित में संतुलन रखना

हमने धारा 24 और धारा 27 में संतुलन स्थापित करने के प्रश्न पर गहराई से विचार किया है।

यहां एक ओर हमारे सामने धारा 24 के अन्तर्गत कैदी का यह मानवाधिकार है कि उसे कोई धमकी या शरीरिक हिंसा नहीं दी जानी चाहिए। लेकिन धारा 24 'धमकियों' के अतिरिक्त उत्प्रेरण अथवा वचन से संबंधित है। धारा 24 में हमने यह प्रस्ताव किया है कि इसके स्थान पर 'धमकी, प्रपीडन, हिंसा, यातना' शब्द रखे जाने चाहिए।

अब हम कनाडा पर आ जाते हैं। क्या हम धारा 24 में निर्देशित कथनों को और आगे वर्गीकरण कर सकते हैं? क्या हम 'उत्प्रेरण और वायदे' पर जिसमें 'धमकी, प्रपीडन, या हिंसा, या यातना' अन्तर्ग्रस्त नहीं हैं, अलग से विचार कर सकते हैं और 'उत्प्रेरण और वायदे' द्वारा कराए गए कथनों से पता चलने वाली बातों को 'अनुज्ञेय तथा धमकी, प्रपीडन या हिंसा या यातना' द्वारा प्राप्त किए गए तथ्यों को अननुज्ञेय बना सकते हैं। हमारे विचार से 'हां'। **जहां एक ओर अभियुक्त के अधिकार तथा ऐसे तथ्यों को सुसंगत बनाने में अन्तर्गस्त लोक हित के बीच सही संतुलन रखा जाना चाहिए।** अत: हमारा प्रस्ताव है कि उत्प्रेरण, वायदे को 'धमकी, हिंसा या यातना' से अलग रखा जाए।

हमारा प्रस्ताव है कि धारा 27 में परिवर्तन किया जाए और यदि धारा 24 के अन्तर्गत 'उत्प्रेरण या वायदे' के परिणामस्वरूप कथन किए गए हैं तो उनसे पता चलने वाले तथ्य अनुज्ञेय माने जाएं तथा यदि ये 'धमकी, प्रपीडन, हिंसा या यातना' के परिणामस्वरूप दिए गए हैं तो उन्हें अनुज्ञेय न माना जाए।

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 27 में संशोधन किया जाए तथा धारा 24 के अन्तर्गत निर्देशित 'कथनों से पता चले तथ्यों' के अन्तर्गत अलग से एक वर्गीकरण किया जाए। इससे मानवाधिकारों तथा लोकहित के बीच और अधिक संतुलन स्थापित किया जा सकेगा। हमारे विचार से, 'उत्प्रेरण, वायदे' के अनुसरण में किए गए कथनों से पता चलने वाले तथ्य अनुज्ञेय होने चाहिए तथा 'धमकी, प्रपीडन, हिंसा या यातना' के अनुसरण में किए गए कथनों से पता चले तथ्यों को अपवर्जित किया जाना चाहिए। इससे मानवाधिकारों के उल्लंघन के शिकार लोगों को बड़ी मात्रा में संरक्षण प्रदान किया जा सकेगा।

5. <u>अगला प्रश्न यह है कि क्या धारा 27 में प्रयुक्त शब्दों 'ऐसी जानकारी में से उतनी' को निकाल दिया जाए तथा अनुज्ञेयता पता चले तथ्यों तक सीमित रखा जाए?</u>

यहां धारा 27 को एक बार फिर उद्धृत करना उचित होगा। यह इस प्रकार है :

> "धारा 27 : परन्तु जब किसी तथ्य के बारे में यह अभिसाक्ष्य दिया जाता है कि किसी अपराध के अभियुक्त से, जो पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हो, प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप पता चला है, जब ऐसी जानकारी में से उतनी चाहे वह संस्वीकृति की कोटि में आती हो या नहीं, जितनी एतद्द्वारा पता चले हुए तथ्य से स्पष्टतया संबंधित है, साबित की जा सकेगी।"

इस प्रकार, धारा 27 को सावधानी से देखने से पता चलता है कि 'ऐसी' शब्द किसी व्यक्ति द्वारा किए गए सम्पूर्ण कथन या जानकारी के बारे में प्रयुक्त हैं। 'उतनी' शब्द उन सम्पूर्ण कथनों में से 'उतने' के लिए है जो स्पष्ट रूप से उसके द्वारा पता चले तथ्य से संबंधित है। दूसरे शब्दों में, वस्तुतः कथन का वही भाग संगत है जो एतद्द्वारा पता चले हुए तथ्य से स्पष्टतया संबंधित है।

पुलुकुरी कोट्टया बनाम दि एम्परर : ए. आई. आर. 1947 पी. सी. 67 में प्रिवी काउंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया था कि कथन का अनिदर्शीय भाग धारा 27 के अन्तर्गत भी अनुज्ञेय नहीं है। उस मामले में उच्च न्यायालय ने **इन रि अथप्पा गौंडर** : आई एल आर 1937 मद्रास 695 में दिए गए निर्णय का अनुसरण करते हुए तथा जिससे 'मैंने हत्या की' शब्द को अनुज्ञेय ठहराते हुए अभियुक्त को सिद्धदोष ठहराया था। प्रिवी काउंसिल ने निर्णय दिया कि यह अनुज्ञेय नहीं है तथा उच्च न्यायालय द्वारा उस मामले में दिए गए निर्णय के पश्चात् उसी न्यायालय के पहले के विचार को नामंजूर कर दिया था। उसने टिप्पणी की कि :

> "इस धारा के अन्तर्गत प्रयुक्त शब्द "पता चले तथ्य" को प्रस्तुत वस्तु के बराबर मानना ही भ्रमपूर्ण है; पता चले तथ्य में वह स्थान सम्मिलित है जहां से वह वस्तु प्राप्त की गई है तथा उसके बारे में अभियुक्त की जानकारी तथा दी गई जानकारी स्पष्टतया उस तथ्य से संबंधित होनी चाहिए। प्राप्त वस्तु के पूर्व प्रयोक्ता या उसके पिछले इतिहास की जानकारी उस स्थिति से नहीं जुड़ती जिसमें वह प्राप्त हुई है। अभिरक्षा में विद्यमान किसी व्यक्ति द्वारा दी गई यह जानकारी कि "मैं अपने घर की छत में छिपाए गए चाकू को पेश करूंगा, इससे चाकू की बरामदगी नहीं होती क्योंकि चाकू तो बहुत साल पहले खोज लिया गया था। इस जानकारी से इस तथ्य का पता चलता है कि चाकू सूचनादाता के घर में छिपा है जिसकी उसे जानकारी है और यदि यह साबित होता है कि उसका प्रयोग अपराध में किया गया है तो पता चला तथ्य अत्यन्त संगत है। लेकिन यदि उक्त कथन में ये शब्द जोड़ दिए जाएं, जिससे मैंने 'क' की हत्या की, तो ये शब्द अनुज्ञेय है क्योंकि ये सूचनादाता के घर से चाकू की बरामदगी से संबंधित नहीं है।"

यदि **कोट्टया के मामले** पर विचार किया जाए कि यदि अभियुक्त को यह स्पष्टीकरण नहीं है कि उसे कैसे पता चला कि शव किसी स्थान विशेष पर था, तो उसके विरुद्ध यह माना जाएगा कि उसने केवल <u>उसके छिपाने में मदद की</u> तथा वह भारतीय दंड संहिता की धारा 201 के अधीन अपराध का दोष ही होगा (देखें वेपा पी. सारथी, 2002, पांचवां संस्करण, पृष्ठ 130)।

यदि पुलिस को पहले ही किसी स्थान विशेष में किसी वस्तु के होने के बारे में पता था तो धारा 27 के अधीन किसी बात का पता नहीं लगा, इसका अर्थ यह है कि यदि परिस्थितियां यह दर्शाती हैं कि पुलिस ने उस वस्तु को उस स्थान पर रखा तो उसे अभियुक्त के बताने पर पता चलना कभी नहीं माना जा सकता।

धारा 27 में 'उतनी' शब्द का क्या अर्थ है ?

कई मामलों में बहुत अच्छे सवाल पैदा हुए हैं कि तथ्यों के आधार पर, कथन का कौन सा भाग विशेष किस सीमा तक अनुज्ञेय है। **मिस्बाक बनाम मध्य प्रदेश राज्य** (ए आई आर 1954 सु. को. 39) में संपत्ति की बरामदगी किसी तीसरे पक्ष के खेत से हुई थी तथा अभियुक्त ने अपनी जानकारी से उसका स्पष्टीकरण दिया। यह मामला डकैती के अपराध से संबंधित था। उच्चतम न्यायालय ने उच्च न्यायालय के निर्णय को उलट दिया तथा यह निर्णय दिया कि चुराया गया सामान चूंकि एक खेत से बरामद किया गया था अतः धारा 411 की अपेक्षानुसार अभियुक्त के कब्जे में नहीं था। खेत खुला था तथा उसमें कोई भी आ जा सकता था। यह कहना कठिन था कि अभियुक्त उसका मालिक था।

लेकिन **के. चिन्नास्वामी** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**, ए.आई.आर 1962 सु.को. 1788 में तीन न्यायाधीशों की खंडपीठ ने यह कहा था कि धारा 27 के अधीन 'जहां उसने छिपाया था' शब्द अनुज्ञेय थे क्योंकि जैसाकि **पुलकुटी कोट्टया** के मामले में टिप्पणी की गई थी, ये शब्द 'जिससे मैंने मृतक व्यक्ति को मारा' शब्द केवल यह दर्शा सकते हैं कि उस पर 'अपीलार्थी का कब्जा था' लेकिन उससे अपराध साबित नहीं होता। पुलिस को अभी भी यह दर्शाना होगा कि वे वस्तुएं अपराध से जुड़ी थी अर्थात् चुराई गई थी।

हाल ही के एक मामले अर्थात् **लिम्बाजी** तथा अन्य बनाम **महाराष्ट्र राज्य** 2001 (8) क्सेल पी 527 में दो न्यायाधीशों की एक पीठ ने **चिन्नास्वामी** मामले में तीन न्यायाधीशों की पीठ का अनुसरण करना उचित समझा तथा यह निर्णय दिया कि यद्यपि वस्तुएं उस खेत से बरामद हुई थी जहां उन्हें अभियुक्त ने अपने अधिकार में छिपा रखा था। न्यायालय को साक्ष्य अधिनियम की धारा 114 के दृष्टांत के अन्तर्निहित सिद्धान्त को स्पष्ट करना पड़ा। तीन न्यायाधीशों की न्यायापीठ के मामले में अर्थात् **सन्नवत खान** बनाम **राजस्थान राज्य** : ए.आई.आर 1956 सु.को. 54 का अनुसरण करते हुए न्यायालय ने लिम्बाजी वाले मामले में यह टिप्पणी की थी कि धारा 114 का प्रयोग करने पर भी केवल यह अनुमान लगाया जा सकता है कि व्यक्ति चोरी का माल लेने वाले थे या ऐसे व्यक्ति थे जो चोरी करते थे लेकिन जिनके बारे में यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता था कि उन्होंने उस मृतक की हत्या की थी जिसके कब्जे में वे सारी वस्तुएं थी।

जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि प्रश्न यह है कि क्या कथन के 'उतने भाग' के स्थान पर 'पता चले तथ्यों' की अनुज्ञेयता को सीमित करके धारा 27 में संशोधन कर दिया जाए।

1984 के इंग्लिश अधिनियम की धारा 76, जो उपर्युक्त पैरा दो के अन्तर्गत चर्चा के दौरान उद्धृत की गई है, की उपधारा (4) के अधीन कहा गया है :

"इस तथ्य से कि कोई संस्वीकृति इस धारा के अनुसरण में पूरी तरह या अंशतः अपवर्जित है, साक्ष्य में —

(क) संस्वीकृति के फलस्वरूप पता चले किसी भी तथ्य की अनुज्ञेयता ; या

(ख) जहां संस्वीकृति इस दृष्टि से संगत है कि उससे यह पता चलता है कि अभियुक्त अपनी बात को एक विशेष प्रकार से बोलता, लिखता या संस्वीकृति करता है यदि ऐसी संस्वीकृति का उतना भाग जो यह दर्शाने के लिए आवश्यक है कि उसने ऐसा किया है, तो उसकी अनुज्ञेयता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।"

यहां यह स्पष्ट है कि इंग्लिश अधिनियम में संगतता 'संस्वीकृति उस भाग' तक सीमित न करके 'पता चले तथ्यों' तक सीमित कर दी गई हैं।

इस बारे में किसी भी बहस से बचने के लिए कि 'उतना' शब्द का किस सीमा तक विस्तार किया जा सकता है तथा पुलिस अधिकारियों को धारा 27 का प्रयोग करने और अप्रत्यक्ष रूप से धारा 25 और धारा 26 के उल्लंघन से रोकने के लिए हमारे विचार से यह उचित होगा कि जैसाकि आयोग की 152वीं रिपोर्ट में कहा गया है, धारा 27 को 'पता चले तथ्यों' तक सीमित कर दिया जाए (अभिरक्षा में हुए अपराधों पर रिपोर्ट)। जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है कि उक्त रिपोर्ट में उक्त धारा का संशोधन निम्न प्रकार किया गया था (पैरा 11.6) :

> "धारा 27 : अभियुक्त के कहने पर तथ्यों का पता लगना : जब किसी संगत तथ्य के बारे में यह कहा जाता है कि वह किसी अपराध के अभियुक्त से प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप पता चला, चाहे वह व्यक्ति पुलिस की अभिरक्षा में है या नहीं है, वहां पता चले तथ्य को साबित किया जा सकता है लेकिन उस जानकारी को साबित नहीं किया जा सकता चाहे वह संस्वीकृति की कोटि में आती है या नहीं ।"

धारा 27 में 'परन्तु' शब्द छोड़ दिया गया है तथा उन व्यक्तियों द्वारा दी गई जानकारी सामने लाती है चाहे वे अभिरक्षा में हैं या नहीं हैं, चाहे वह जानकारी संस्वीकृति की कोटि में हो या न हो—लेकिन पता चलने वाले तथ्य को संगत बनाती है तथा जानकारी को नहीं। यह 1984 के इंग्लिश अधिनियम की धारा 76 के समान है।

6. एक अन्य सुझाव यह था कि धारा 27 से 'स्पष्टतया' शब्द का लोप कर दिया जाना चाहिए।

152वीं रिपोर्ट में दिए गए प्रारूप के अनुसार, संशोधित धारा 27 में 'ऐसी जानकारी का उतना' शब्द छोड़ने के साथ ही 'स्पष्टतया' शब्द का भी लोप कर दिया गया। जो तथ्य कथनों के अन्य भागों से अलग थे, उनकी संगतता को सीमित करने के लिए 'स्पष्टतया' शब्द आवश्यक हो गए। वस्तुतः न्यायालय 'स्पष्टतया' शब्द को बनाए रखने के प्रति अत्यंत उत्साही हैं यदि 'ऐसी जानकारी का उतना भाग' शब्दों को बनाए रखा जाए। सरकार कहता है (1999, 15वां संस्करण, पृष्ठ 549) कि टेलर ने 'स्पष्टतया संबंधित है' शब्द प्रयोग किए हैं (देखें धारा 902) जबकि फिप्सन ने 'पूरी से संबंधित है' शब्द प्रयोग किए (8वां संस्करण, पृष्ट 255) जोकि लीच के क्राउन लॉ में मिलते हैं (देखे लीच के नोट्स आर बनाम **खरिकशैल** और आर बनाम **लॉकहार्ट**) उच्चतम न्यायालय ने **मोहम्मद इनायतुल्ला बनाम महाराष्ट्र राज्य** : ए.आई. आर. 1976 सु.को. 483 में बताया था कि 'स्पष्टतया' का अर्थ है 'प्रत्यक्ष रूप से, निःसंदेह, पूरी तरह, सुनिश्चित रूप से'।

यदि 152वीं रिपोर्ट के प्रारूप को स्वीकृत नहीं करना है और उसके वर्तमान प्रारूप को बरकरार रखना है (वस्तुतः जैसाकि पहले चर्चा की जा चुकी है, 'या' शब्द जोड़ दिया जाए), हमें 'स्पष्टतया' शब्द का लोप करके धारा 27 की कठोरता को कम नहीं करना चाहिए। लेकिन यदि 152वीं रिपोर्ट के प्रारूप का प्रयोग करना है तो 'स्पष्टतया' शब्द को 'जानकारी के उतने भाग' शब्दों का भी लोप किया जा सकता है। हमारी सिफारिश है कि बाद वाली स्थिति को स्वीकार किया जाए।

7. धारा 27 दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 का अपवाद है (ऐतिहासिक तथ्य)

1898 की संहिता की धारा 161, 1973 की संहिता की धारा 161 तथा संहिता की धारा 162 नयी संहिता की धारा 162 के समान ही है, जिसमें मामूली परिवर्तन किए गए हैं।

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161(1) पुलिस को किसी भी ऐसे व्यक्ति की जांच करने की अनुमति देती है जिसके बारे में यह सम्भावना हो कि वह मामले के तथ्यों तथा परिस्थितियों से अवगत हैं तथा धारा 161(2) में कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति ऐसे मामले से संबंधित सभी प्रश्नों का सत्यतापूर्वक उत्तर देने के लिए बाध्य होगा। ये प्रश्न उनसे भिन्न होंगे जिनके बारे में यह संभावना होगी कि उससे उसका आपराधिक आरोप बनता हो, शास्ति या जब्ती होती हो। धारा 161(3) में कहा गया है कि कोई भी पुलिस अधिकारी इस धारा के अन्तर्गत जांच के दौरान उसके समक्ष किए गए किसी भी कथन को लिखित रूप में दर्ज कर सकेगा तथा यदि वह ऐसा करता है तो वह प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के जिनका कथन वह दर्ज करता है, कथन का पृथक

और सही अभिलेख तैयार करेगा। धारा 161(1) में प्रयुक्त शब्दों 'कोई भी व्यक्ति' में अभियुक्त व्यक्ति अथवा ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित हैं जो अन्ततः अभियुक्त बन जाते हैं। यदि ऐसा व्यक्ति अभियुक्त है तो उसे चुप रहने का अधिकार है।

1973 की संहिता की धारा 161 के अधीन किए गए किसी भी कथन को सारभूत साक्ष्य के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता लेकिन अभियोजन साक्षी के साक्ष्य का खंडन करने के प्रयोजन से प्रयोग किया जा सकता है। इसे अभियोजन पक्ष के साक्षी के साक्ष्य की पुष्टि करने के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता।

नई संहिता की धारा 162(1) में अपने विद्यमान रूप में यह शर्त रखी गई है कि कथन पर हस्ताक्षर नहीं किए जाएंगे। वास्तव में आयोग ने 154वीं तथा 177वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया कि ऐसे कथन को 'एतस्मिन पश्चात्' यथा उपबंधित के सिवाय अन्य किसी प्रयोजन के लिए प्रयोग नहीं किया जाएगा।

धारा 162 के परन्तुक में कथन को साक्ष्य अधिनियम की धारा 145 के प्रयोजनों के लिए प्रयोग करने की अनुमति दी गई है जबकि धारा 162(2), धारा 27 को अधिरोही प्रभाव प्रदान करती है। हम 1898 की पुरानी संहिता के अन्तर्गत धारा 162 के पिछले इतिहास का उल्लेख करेंगे।

1898 की दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162(2) में 1941 में किए गए संशोधन से पहले कुछ उच्च न्यायालयों द्वारा यह विचार व्यक्त किया गया था कि धारा 162(1) अभियुक्त के साथ अन्य व्यक्तियों द्वारा किए गए कथनों पर लागू होती है जबकि धारा 27 अभियुक्त द्वारा किए गए कथनों से संबंधित है। कुछ अन्य उच्च न्यायालयों ने इसके विपरीत यह विचार व्यक्त किया था कि धारा 162(1) अभियुक्त के कथनों पर भी लागू होती है। पकाला नारायणस्वामी बनाम आर : ए.आई.आर. 1939 पी.सी. 47 मामले में प्रिवी काउंसिल ने बाद वाले विचार को स्वीकार किया था। उसके बाद कुछ उच्च न्यायालयों ने यह निर्णय दिया था कि धारा 27 'विशेष विधि' होने के कारण इस पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 से कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता जबकि कुछ अन्य उच्च न्यायालयों ने इससे विपरीत विचार व्यक्त किया था। इसमें विधायिका ने 1941 के अधिनियम 15 द्वारा मध्यक्षेप किया तथा उक्त अधिनियम की धारा 27 के उपबंधों को प्रवृत्त करने के लिए 'या' शब्द जोड़ दिया, इस प्रकार जहां तक 'पता चले तथ्यों' का संबंध है, उसने धारा 27 को धारा 162(1) में प्रतिषेध का अधिरोहण करने की अनुमति दे दी।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 162(1), वर्तमान अधिनियम की धारा 162(1) के समान ही है तथा इसमें दो परन्तुक हैं। इनमें से पहला साक्ष्य अधिनियम की धारा 145 में उल्लिखित वर्तमान परन्तुक के अनुरूप है। दूसरे परन्तुक में न्यायालय को अभियुक्त को दी गई कथन की प्रति से, प्रकट की गई बात के किसी भी ऐसी बात को जोकि न्याय के हित में अनिवार्य नहीं थी, हटाने का विवेकाधिकार दिया गया है। धारा 161 की उपधारा ने जैसीकि वह 1941 के संशोधन से पूर्व थी, ऐसे कथनों को प्रयोग किए जाने की अनुमति दे दी जो साक्ष्य अधिनियम की धारा 32(1) के अन्तर्गत आते थे। 1941 में ही 'या उक्त अधिनियम की धारा 27 के उपबंधों का प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने के लिए' शब्द धारा 162(2) में जोड़े गये। वर्तमान धारा 162(2), धारा 32(1) तथा धारा 27 के अन्तर्गत किए गए कथनों को स्वीकार करती है और उनका प्रयोग करने की अनुमति देती है। धारा 162 का वर्तमान स्पष्टीकरण प्रयोग किए जाने वाले कथनों के लोप की अनुमति देता है। पुराने अधिनियम की धारा 162 में ऐसा कोई स्पष्टीकरण नहीं था।

इस प्रकार, हमने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 का संक्षिप्त इतिहास तथा 1961 के बाद किए गए संशोधन के बारे में बताया है जिसके द्वारा धारा 27 को अधिरोही प्रभाव दिया है तथा इस प्रकार 'पता चले तथ्य' को अनुमत्य बना दिया गया।

[154वीं रिपोर्ट में आयोग ने धारा 164 क जोड़े जाने का सुझाव दिया है। 179वीं रिपोर्ट में विधि सुधार प्रकीर्ण उपबंध अधिनियम, 2000 का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए धारा 162 और 164 में कतिपय संसाधनों का सुझाव दिया गया था लेकिन वे

और सही अभिलेख तैयार करेगा। धारा 161(1) में प्रयुक्त शब्दों 'कोई भी व्यक्ति' में अभियुक्त व्यक्ति अथवा ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित हैं जो अन्ततः अभियुक्त बन जाते हैं। यदि ऐसा व्यक्ति अभियुक्त है तो उसे चुप रहने का अधिकार है।

1973 की संहिता की धारा 161 के अधीन किए गए किसी भी कथन को सारभूत साक्ष्य के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता लेकिन अभियोजन साक्षी के साक्ष्य का खंडन करने के प्रयोजन से प्रयोग किया जा सकता है। इसे अभियोजन पक्ष के साक्षी के साक्ष्य की पुष्टि करने के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता।

नई संहिता की धारा 162(1) में अपने विद्यमान रूप में यह शर्त रखी गई है कि कथन पर हस्ताक्षर नहीं किए जाएंगे। वास्तव में आयोग ने 154वीं तथा 177वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया कि ऐसे कथन को 'एतस्मिन पश्चात्' यथा उपबंधित के सिवाय अन्य किसी प्रयोजन के लिए प्रयोग नहीं किया जाएगा।

धारा 162 के परन्तुक में कथन को साक्ष्य अधिनियम की धारा 145 के प्रयोजनों के लिए प्रयोग करने की अनुमति दी गई है जबकि धारा 162(2), धारा 27 को अधिरोही प्रभाव प्रदान करती है। हम 1898 की पुरानी संहिता के अन्तर्गत धारा 162 के पिछले इतिहास का उल्लेख करेंगे।

1898 की दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162(2) में 1941 में किए गए संशोधन से पहले कुछ उच्च न्यायालयों द्वारा यह विचार व्यक्त किया गया था कि धारा 162(1) अभियुक्त के साथ अन्य व्यक्तियों द्वारा किए गए कथनों पर लागू होती है जबकि धारा 27 अभियुक्त द्वारा किए गए कथनों से संबंधित है। कुछ अन्य उच्च न्यायालयों ने इसके विपरीत यह विचार व्यक्त किया था कि धारा 162(1) अभियुक्त के कथनों पर भी लागू होती है। पकाला नारायणस्वामी बनाम आर : ए.आई.आर. 1939 पी.सी. 47 मामले में प्रिवी काउंसिल ने बाद वाले विचार को स्वीकार किया था। उसके बाद कुछ उच्च न्यायालयों ने यह निर्णय दिया था कि धारा 27 'विशेष विधि' होने के कारण इस पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 से कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता जबकि कुछ अन्य उच्च न्यायालयों ने इससे विपरीत विचार व्यक्त किया था। इसमें विधायिका ने 1941 के अधिनियम 15 द्वारा मध्यक्षेप किया तथा उक्त अधिनियम की धारा 27 के उपबंधों को प्रवृत्त करने के लिए 'या' शब्द जोड़ दिया, इस प्रकार जहां तक 'पता चले तथ्यों' का संबंध है, उसने धारा 27 को धारा 162(1) में प्रतिषेध का अधिरोहण करने की अनुमति दे दी।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 162(1), वर्तमान अधिनियम की धारा 162(1) के समान ही है तथा इसमें दो परन्तुक हैं। इनमें से पहला साक्ष्य अधिनियम की धारा 145 में उल्लिखित वर्तमान परन्तुक के अनुरूप है। दूसरे परन्तुक में न्यायालय को अभियुक्त को दी गई कथन की प्रति से, प्रकट की गई बात के किसी भी ऐसी बात को जोकि न्याय के हित में अनिवार्य नहीं थी, हटाने का विवेकाधिकार दिया गया है। धारा 161 की उपधारा ने जैसीकि वह 1941 के संशोधन से पूर्व थी, ऐसे कथनों को प्रयोग किए जाने की अनुमति दे दी जो साक्ष्य अधिनियम की धारा 32(1) के अन्तर्गत आते थे। 1941 में ही **'या उक्त अधिनियम की धारा 27 के उपबंधों का प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने के लिए' शब्द धारा 162(2) में जोड़े गये।** वर्तमान धारा 162(2), धारा 32(1) तथा धारा 27 के अन्तर्गत किए गए कथनों को स्वीकार करती है और उनका प्रयोग करने की अनुमति देती है। धारा 162 का वर्तमान स्पष्टीकरण प्रयोग किए जाने वाले कथनों के लोप की अनुमति देता है। पुराने अधिनियम की धारा 162 में ऐसा कोई स्पष्टीकरण नहीं था।

इस प्रकार, हमने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 का संक्षिप्त इतिहास तथा 1961 के बाद किए गए संशोधन के बारे में बताया है जिसके द्वारा धारा 27 को अधिरोही प्रभाव दिया है तथा इस प्रकार 'पता चले तथ्य' को अनुमत्य बना दिया गया।

[154वीं रिपोर्ट में आयोग ने धारा 164 क जोड़े जाने का सुझाव दिया है। 179वीं रिपोर्ट में विधि सुधार प्रकीर्ण उपबंध अधिनियम, 2000 का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए धारा 162 और 164 में कतिपय संसाधनों का सुझाव दिया गया था लेकिन वे

प्रस्तावित संशोधन धारा 27 को प्रतिकूल रूप से प्रभावित नहीं करते या उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता या धारा 27 के संशोधन के वर्तमान प्रस्तावों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव या प्रभाव नहीं डालता।]

सिफारिश :

उपर्युक्त चर्चा को देखते हुए हम सिफारिश करते हैं कि धारा 24, धारा 25 और धारा 26 में अन्तर्विष्ट किसी बात के विपरीत होते हुए भी : शब्द धारा 27 के आरम्भ में रखे जाएं तथा यह कि इस प्रकार इस सर्वोपरि खंड के अन्तर्गत न केवल धारा 25 और धारा 26 बल्कि धारा 24 भी आ जानी चाहिए जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुसार 'या' शब्द जोड़ा जाना है। 'ऐसे' तथा 'स्पष्टतया' शब्दों का लोप कर दिया जाना चाहिए। 'जानकारी का उतना भाग' के बजाए 'पता चले तथ्यों को' अनुज्ञेय माना जाएगा। धारा 27 में प्रस्तावित परन्तुक से तथ्यों को अनुज्ञेय बनाना सीमित कर दिया गया यदि उन तथ्यों का धारा 24 के अन्तर्गत किए गए कथनों से पता चला हो, जहां कथन 'धमकी, प्रपीडन, हिंसा या यातना' के परिणामस्वरूप किए गए थे। धारा 27 के अन्तर्गत 'उत्प्रेरण या वायदे' द्वारा किए गए कथनों से पता चले तथ्य भी अनुज्ञेय होंगे।

हमारा प्रस्ताव है कि धारा 27 निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित की जाए :

अभियुक्त के कहने पर तथ्यों का पता चलना

"27 : धारा 24 से धारा 26 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी जब किसी संगत तथ्य के बारे में यह कहा जाता है कि वह किसी अपराध के अभियुक्त, चाहे वह व्यक्ति पुलिस की अभिरक्षा में है या नहीं है, से प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप पता चला हो, वहां इस प्रकार पता चले तथ्य को साबित किया जा सकता है लेकिन उस जानकारी को नहीं, चाहे वह संस्वीकृति की कोटि में आती है या नहीं :

परन्तु जो तथ्य किसी धमकी, प्रपीडन, हिंसा या यातना का प्रयोग करके पता चला है, वे साबित करने योग्य नहीं होंगे।"

धारा 28 :

धारा 28 'उत्प्रेरण, धमकी या वचन से पैदा हुए प्रभाव के दूर हो जाने के पश्चात् की गई संस्वीकृति सुसंगत है' से संबंधित है :

"**धारा 28.** यदि ऐसी कोई संस्वीकृति जैसीकि यह धारा 24 में निर्दिष्ट है, न्यायालय की राय में उसके मन पर प्रभाव के, जो ऐसी किसी उत्प्रेरणा, धमकी या वचन से कारित हुआ है, पूर्णत: दूर हो जाने के पश्चात् की गई है तो वह सुसंगत है।"

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 11.60) धारा 28 में किसी भी संशोधन का सुझाव नहीं दिया गया है लेकिन चूंकि यह धारा 24 की एक शर्त है, इसका पुन:संख्यांकन करके इसे धारा 24क कर दिया जाना चाहिए।

हमारी राय है कि इस रिपोर्ट में धारा 24 में प्रस्तावित संशोधन को देखते हुए, धारा 28 में 'उत्प्रेरणा, धमकी या वचन' शब्दों के स्थान पर धारा 28 में तथा शीर्षक में, निम्नलिखित प्रतिस्थापित किए जाएं :

"उत्प्रेरणा, वचन, धमकी, प्रपीडन, हिंसा या यातना"

हमारा यह भी विचार है कि धारा 28 को पुनर्संख्यांकित करके धारा 28 का लोप किए जाने की आवश्यकता नहीं है।

धारा 29 :

धारा 29 अन्यथा सुसंगत संस्वीकृति को गुप्त रखने के वचन आदि के विसंगत न हो जाने से संबंधित है। यह धारा निम्न प्रकार है :

"**धारा 29.** यदि ऐसी संस्वीकृति अन्यथा सुसंगत है तो वह केवल इसलिए कि वह गुप्त रखने के वचन के अधीन या उसे अभिप्राप्त करने के प्रयोजनार्थ अभियुक्त व्यक्ति से की गई प्रवंचना के परिणामस्वरूप, या उस समय जबकि वह मत्त था, की गई थी अथवा इसलिए कि वह ऐसे प्रश्नों के चाहे इनका रूप कैसा ही क्यों न रहा हो, उत्तर में की गई थी, जिनका उत्तर देना उनके लिए आवश्यक नहीं था, अथवा केवल इसलिए कि उसे यह चेतावनी नहीं दी गई थी कि वह ऐसी संस्वीकृति करने के लिए आबद्ध नहीं था और कि उसके विरुद्ध उसका साक्ष्य दिया जा सकेगा, विसंगत नहीं हो जाती।"

हम देखते है कि आरोप के संबंध में किसी उत्प्रेरणा, धमकी या वचन द्वारा कारित कोई संस्वीकृति और प्राधिकारवान किसी व्यक्ति से प्राप्त होने वाली (धारा 24) या पुलिस से की गई संस्वीकृति (धारा 25) या पुलिस अभिरक्षा में मजिस्ट्रेट से अन्य किसी व्यक्ति से की गई संस्वीकृति (धारा 26) अनुज्ञेय है। यह धारा अन्यथा सुसंगत संस्वीकृतियों से संबंधित है अर्थात् यदि वह अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध आरोप के संदर्भ में किसी उत्प्रेरण, धमकी या वचन द्वारा अभिप्राप्त की गई है या प्राधिकारवान व्यक्ति के समक्ष अभिप्राप्त की गई है या कोई संस्वीकृत ऐसे किसी अन्य कारण से दूषित नहीं है जो उसे अविधिमान्य या अविश्वसनीय बना देता है। ऐसी संस्वीकृति केवल गैर न्यायिक संस्वीकृति हो सकती है। यह इसलिए विसंगत नहीं हो जाती क्योंकि यह (1) गुप्त रखे जाने के वचन; (2) अभियुक्त से की गई प्रवंचना या कूटोपाय के परिणामस्वरूप; या (3) जब वह मत्त था, प्राप्त की गई थी ; या (4) क्योंकि वह प्रश्नों के उत्तरों के रूप में प्राप्त की गई थी; या (5) क्योंकि उसे इस बारे में कोई चेतावनी नहीं दी गई थी कि ऐसी संस्वीकृति करने के लिए आबद्ध नहीं था और कि वह जो कुछ भी कहे वह उसके विरुद्ध प्रयोग किया जा सकेगा।

धारा 29 का सिद्धान्त, जैसाकि सरकार द्वारा बताया गया है (5वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 581) यह है कि यदि कोई संस्वीकृति अस्वैच्छिक है तो उसे अपवर्जित कर दिया जाए लेकिन यदि वह संस्वीकृति विश्वास का भंग या गुप्तता के वचन का उल्लंघन करके या प्रवंचना करके की गई है तो उसे अपवर्जित न किया जाए। यही विधि भी है, जैसाकि विगमोर में कहा गया है, पैरा 823, 841, जो सरकार में उद्धृत है (वही पृष्ठ 580) तथा इंग्लैण्ड में [**आर बनाम डेरिंग्टन** (1826)2 सी एण्ड पी 418; हैल्सबरी स्टेट्स (तीसरा संस्करण, खंड 10, पैरा 10) में कहा गया है कि इस प्रकार की संस्वीकृति का बहुत कम महत्व है (सरकार, वही, पृष्ठ 582)]।

बर्गिंग (**आर बनाम अली,** दि टाइम्स, 19 फरवरी, 1991) (सी ए) जासूसों द्वारा, गुप्त टेप रिकार्डिंग द्वारा (**आर बनाम काट्ज**) (1990)90 क्रिम.अप.आर 456 (सी ए) द्वारा रिकार्ड की गई संस्वीकृतियों को विधिमान्य ठहराया गया है।

लेकिन प्रश्न यह है कि क्या किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष की गई कोई संस्वीकृति जो धारा 29 के अन्तर्गत आती है, अनुज्ञेय हो सकती है चाहे वह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164(2) का उल्लंघन करके अभिप्राप्त की गई हो।

1973 की दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164(2) [और पुरानी संहिता की धारा 164(3)] में, किसी संस्वीकृति को रिकार्ड करने से पूर्व मजिस्ट्रेट द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रिया विनिर्धारित की गई है। इसे 1973 की दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 463 (पुरानी संहिता की धारा 533) के साथ पढ़ा जाना चाहिए।

नजीर अहमद बनाम एम्परर : ए.आई.आर 1936 पी.सी. 253 में प्रिवी काउंसिल ने अभिनिर्धारित किया कि ऐसी कोई भी संस्वीकृति, जो पूरी तरह पुरानी संहिता की धारा 164 और 364 के उपबंधों के अनुसार रिकार्ड नहीं की गई है, अनुज्ञेय है।

चिन्ना गौडा बनाम मैसूर राज्य : 1963 (2) एस.सी.आर. 517 मामले में यह अभिनिर्धारित था कि जहां अभियुक्त को यह नहीं बताया गया हो कि उसे संस्वीकृति करना आवश्यक नहीं है तो उसकी संस्वीकृति साक्ष्य में अननुज्ञेय होगी तथा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 463 इस दोष का उपचार नहीं करेगी।

यदि कोई मजिस्ट्रेट यह प्रमाणित नहीं करता कि उसके अनुसार संस्वीकृति स्वैच्छिक है, तो यह कमी सांघातिक है **चन्द्रन बनाम तमिलनाडु राज्य** : ए.आई.आर. 1978 सु.को. 1574।

लेकिन, उच्चतम न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की एक पीठ ने **दागडू बनाम स्टेट** : ए.आई.आर. 1977 सु.को. 1579 मामले में यह विचार व्यक्त किया था कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164(2) या उच्च न्यायालय के परिपत्रों का अनुपालन न किए जाने से संस्वीकृति अननुज्ञेय नहीं होती यदि वह साक्ष्य अधिनियम की धारा 24 से धारा 28 तक की शर्तों का उल्लंघन नहीं करती, भले ही वह कथनों के साक्ष्य संबंधी महत्व को क्षति पहुंचाती हो तथा न्यायालय को इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या उसे सत्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार का विचार **अघनू नागेसिया बनाम बिहार राज्य** : ए.आई.आर. 1966 सु.को. 119 मामले में व्यक्त किया गया था।

लेकिन इसके विपरीत विचार अर्थात यह कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164(2) का उल्लंघन करके रिकार्ड की गई कोई संस्वीकृति अननुज्ञेय है, अन्य कई मामलों में व्यक्त किया गया है-देखें **शिवबहादुर सिंह** बनाम **विंध्य प्रदेश राज्य** : ए.आई.आर. 1954 सु.को. 322; सरवन सिंह बनाम पंजाब राज्य: ए.आई.आर. 1957 सु.को. 637; **दीपचंद बनाम राजस्थान राज्य** : ए.आई.आर. 1961 सु.को. 1527।

हाल ही में, **केहर सिंह बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1988 सु.को. 1883 में यह कहा गया था कि धारा 164 की उपधारा (2) का अनुपालन अनिवार्य तथा आवश्यक है और उसका अनुपालन न किए जाने से संस्वीकृति साक्ष्य में अननुज्ञेय हो जाती है।

यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि इस प्रकार का अनुपालन किया गया है, तो उचित रूप में रिकार्ड करने में हुई गलती; साक्ष्य के दौरान उसे अस्वीकार करने का कारण नहीं बनेगी और इस त्रुटि को धारा 463 (पुरानी संहिता की धारा 533) के अन्तर्गत ठीक किया जा सकता है, किन्तु जब धारा 164(2) के अन्तर्गत आवश्यकता, जो अनिवार्य है, का पालन नहीं किया जाता और जब साक्ष्य के दौरान यह बात सामने आती है कि उपर्युक्त उपधारा के अधीन इस प्रकार का अपेक्षित स्पष्टीकरण, यदि मजिस्ट्रेट द्वारा अभियुक्त को नहीं दिया जाता तो इस गम्भीर चूक को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 463 के अधीन ठीक नहीं किया जा सकता।

जहां तक धारा 29 का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई है कि ऐसा धारा 164 (2) के अनुरूप किया जाना चाहिए जिससे कि मजिस्ट्रेट के समक्ष की गई संस्वीकृति, ऐसे मामले में जहां मजिस्ट्रेट प्रक्रिया का उल्लंघन करता है, धारा 29 के अधीन स्वीकार न की जाए। किन्तु हमारे विचार में धारा 164(2) संबंधी 'अपवाद' के स्थान पर, यह अच्छा होगा कि एक दूसरी उपधारा जोड़ी जाए।

69वीं रिपोर्ट में धारा 29 को निम्नलिखित रूप में पुन: प्रारूपित करने की सिफारिश की गई है:

"29. यदि संस्वीकृति अन्यथा सुसंगत है, जो वह केवल इसलिए कि :

(क) (i) वह गुप्त रखने के वचन के अधीन; या

(ii) उसे अभिप्राप्त करने के प्रयोजनार्थ अभियुक्त व्यक्ति से की गई, प्रवंचना के परिणामस्वरूप; था

(iii) उस समय जबकि वह मत्त था, की गई थी; या

(iv) ऐसे प्रश्नों के उत्तर में की गई थी, जिनका उत्तर देना आवश्यक नहीं था; या

(ख) केवल इसलिए कि अभियुक्त व्यक्ति को यह चेतावनी नहीं दी गई थी कि वह ऐसी संस्वीकृति करने के लिए आबद्ध नहीं था कि उसके विरुद्ध उसका साक्ष्य दिया जा सकेगा,

विसंगत नहीं हो जाती।

अपवाद : इस धारा की कोई बात दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 की उपधारा (2) के मजिस्ट्रेटों द्वारा अभिलेख करने के बारे में उपबंध पर विपरीत प्रभाव नहीं डालेगी।''

किन्तु हमारे विचार में प्रस्तावित उपबाद की भाषा वह प्रभाव नहीं डालती जो कि केहर सिंह मामले में अब विनिश्चित किया गया है। हमारी दृष्टि में इसे उपांतरित कर दिया जाना चाहिए। हमारा विचार है कि इसे स्पष्ट किया जाए कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164(2) का उल्लंघन करके की गई कोई संस्वीकृति अग्राह्य होगी, किन्तु यह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 463 के पूर्वाग्रह के बिना होगा।

69वीं रिपोर्ट में यह बताया गया था कि ''अन्यथा सुसंगत'' का जो अर्थ निकलता है उससे दो अर्थ निकलते हैं। पहला दृष्टिकोण, जैसाकि पटना में था कि धारा 24 से धारा 28 में किए गए निर्देश भिन्न की जाने वाली संस्वीकृति। दूसरा दृष्टिकोण बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त कि यह स्वीकार की जा सकती है और धारा 24 से धारा 28 या विधि के किसी अन्य उपबंध से बाहर नहीं रखा जा सकता। बाद का विचार स्वीकार किया गया था और यह सुझाव दिया गया था कि 'अन्यथा सुसंगत' शब्दों के स्थान पर 'किसी अभियुक्त व्यक्ति द्वारा की गई असंगत नहीं है या धारा 24 से धारा 27 के अधीन साबित की जाने योग्य नहीं है' प्रतिस्थापित किए जाएं अथवा 'ऐसी' शब्द को हटा दिया जाए।

आयोग ने धारा 164 के संबंध में धारा 29 पर विचार किया और अनन्त: सिफारिश की कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164(2) के अनुरूप धारा 29 को बनाया जाए। किन्तु हमारी दृष्टि में ऐसा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 463 के अनुसार बिना किसी पूर्वाग्रह के भी किया जाना चाहिए।

हम इन दोनों सिफारिशों से पूर्णरूप से सहमत हैं और हमारी और सिफारिश जोड़ते हुए, धारा 29 को निम्नलिखित रूप में पुन: प्रारूपित किया जाए :

अन्यथा सुसंगत संस्वीकृति का गुप्त रखने के वचन आदि के कारण विसंगत न हो जाना

''29. (1) यदि संस्वीकृति अन्यथा सुसंगत है; जो वह केवल इसलिए कि :

(क) (i) वह गुप्त रखने के वचन के अधीन; या

(ii) उसे अभिप्राप्त करने के प्रयोजनार्थ अभियुक्त व्यक्ति से की गई प्रवंचना के परिणामस्वरूप; या

(iii) उस समय जबकि वह मत्त था, की गई थी; या

(iv) ऐसे प्रश्नों के उत्तर में की गई थी, जिनका उत्तर देना आवश्यक नहीं था, वे प्रश्नों चाहे किसी भी रूप में किए गए हों।

(ख) केवल इसलिए कि अभियुक्त व्यक्ति को यह चेतावनी नहीं दी गई थी कि वह ऐसी संस्वीकृति करने के लिए आबद्ध नहीं था और कि उसके विरुद्ध उसका साक्ष्य दिया जा सकेगा,

विसंगत नहीं हो जाती।

(2) दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 463 के उपबंधों के अध्यधीन उपधारा (1) में अन्तर्निहित कोई बात संहिता की धारा 164 की उपधारा (2) का उल्लंघन करके रिकार्ड की गई संस्वीकृति संगत नहीं हो सकेगी।''

धारा 30 :

धारा 30 'साबित संस्वीकृति को, जो उसे करने वाले व्यक्ति तथा एक ही अपराध के लिए संयुक्त रूप से विचारित अन्यों को प्रभावित करती है' से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''**धारा 30.** जबकि एक से अधिक व्यक्ति एक ही अपराध के लिए संयुक्त रूप से विचारित हैं तथा ऐसे व्यक्तियों में से किसी एक द्वारा, अपने को और ऐसे व्यक्तियों में से किसी अन्य को प्रभावित करने वाली की गई संस्वीकृति को साबित किया जाता है, तब न्यायालय ऐसी संस्वीकृति को ऐसे अन्य व्यक्ति के विरुद्ध तथा ऐसी संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध विचार में ले सकेगा।''

स्पष्टीकरण : इस धारा में प्रयुक्त 'अपराध' शब्द के अन्तर्गत उस अपराध का दुष्प्रेरण या उसे करने का प्रयत्न आता है।

इस धारा के नीचे निम्नलिखित दो दृष्टांत दिए गए हैं :

(क) 'क' और 'ख' को 'ग' की हत्या के लिए संयुक्ततः विचारित किया जाता है। यह साबित किया जाता है कि 'क' ने कहा, ''ख और मैंने 'ग' की हत्या की है।'' 'ख' के विरुद्ध इस संस्वीकृति के प्रभाव पर न्यायालय विचार कर सकेगा।

(ख) 'ग' की हत्या करने के लिए 'क' का विचारण हो रहा है। यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य है कि 'ग' की हत्या 'क' और 'ख' द्वारा की गई थी और यह कि 'ख' ने कहा था कि ''क और मैंने 'ग' की हत्या की।''

न्यायालय इस कथन को 'क' के विरुद्ध विधारार्थ नहीं ले सकेगा, क्योंकि 'ख' संयुक्ततः विचारित नहीं हो रहा है।''

इस धारा द्वारा विचारित संयुक्त विचारण एक ही अपराध के लिए होना चाहिए अर्थात् दंड विधि की उस धारा के अधीन, जिसमें स्पष्टीकरण का कारण-अपराध का दुष्प्रेरण था उसे करने का प्रयत्न शामिल है; और विचारण दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (धारा 223 द्वारा) के उपबंधों के अनुसार होना चाहिए।

69वीं रिपोर्ट में आयोग ने सिफारिश की है (पैरा 11.89) कि धारा 30 का मुख्य रूप से निरसन इसलिए किया जाना चाहिए क्योंकि सह-अभियुक्त उसके साथ किए जाने वाले अभिशंसन का विरोध नहीं कर सकता चूंकि वह अभियुक्त का, जिसने संस्वीकृति की है, प्रतिपरीक्षण नहीं कर सकता। यह महसूस किया था कि यह स्थिति अनेक मामलों में अन्याय का बहुत बड़ा स्त्रोत हो सकता है और व्यवहारिक रूप में इससे इस सिद्धान्त का उल्लंघन होता है कि किसी व्यक्ति को उसकी बात सुने बिना अपराधी नहीं ठहराया जाना चाहिए। सह-अभियुक्त, जिसके विरुद्ध आरोप लगाया गया है, वह साक्ष्य देने के लिए साक्षी बॉक्स में प्रवेश नहीं पा सकता और स्व-अभिशंसन के विरुद्ध उसका विशेषाधिकार प्रतिपरीक्षा से सामने नहीं लाया जा सकता। यदि वह साक्षी-बॉक्स में प्रवेश नहीं पा सकता तो यह अन्याय होगा। वह उस आरोप का विरोध नहीं कर सकेगा, जो कि अन्य अभियुक्त ने लगाए हैं, क्योंकि जिस व्यक्ति ने कथन किया है वह प्रतिपरीक्षण के लिए उपलब्ध नहीं है। यह बताया गया था कि इंग्लैण्ड विधि इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करती है।

यह भी बताया गया था (पैरा 11.93) कि 'साबित' शब्द के अर्थ के बारे में अलग-अलग दृष्टिकोण हैं और यह दृष्टिकोण कि धारा 30 'विचारण के दौरान की गई संस्वीकृति' पर लागू नहीं होती, सत्य है। (हमने बाद में दिए गए इन दृष्टिकोणों को 69वीं रिपोर्ट के पैरा 11.93 में सही दृष्टिकोण मानते हुए, स्वीकार किया है। दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 (1) में अभिव्यक्त भाषा द्वारा भी इसका समर्थन किया गया है)।

दूसरी ओर धारा 30 के पीछे मूल तर्क यह है कि कोई व्यक्ति, जो स्वयं को किसी अपराध में संलिप्त करता है वह सत्य बोल रहा है। 69वीं रिपोर्ट (पैरा 11.80) में यह निष्कर्ष निकाला गया कि यह बात विश्वसनीय नहीं है और स्वयं को अपराध

में संलिप्त करना प्रतिपरीक्षा का स्थान लेने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है। सह-अभियुक्त को नकारात्मक साबित करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता और न ही उसे उस व्यक्ति से प्रतिपरीक्षा करने का अवसर प्राप्त है जिसने इसमें संलिप्त किया है। अमरीका में प्रतिपरीक्षा विरोध करने के अधिकार को दांडिक मामलों में विचार की निष्पक्षता के लिए मूलभूत आधार माना जाता है। अभियुक्त का कथन रंजिश या बदले की भावना अथवा अन्य परिस्थितियों से दिया गया हो सकता है।

धारा 30 का निरसन करने के लिए यह मामला बार एसोसिएशन, न्यायाधीशों और राज्य विधि आयोग (देखे पैरा 11.81) को भेजा गया था और स्वयं विधि मंत्रालय की टिप्पणी के साथ विधि आयोग को भेजा गया था।

अत: आयोग ने धारा 30 के निरसन की सिफारिश की है।

हम एक अलग राय प्रस्तुत करना चाहते हैं कि धारा 30 का निरसन न किया जाए। अब उच्चतम न्यायालय ने **कश्मीरा सिंह बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1952 सु.को. 159 मामले में सह-अभियुक्त को अपील करने की अनुमति देते हुए संप्रेक्षण किया है कि :

> "इस प्रकार के मामले में समुचित दृष्टिकोण अपनाने का तरीका यह है कि सबसे पहले अभियुक्त के विरूद्ध साक्ष्यों को, जिसमें विचार के लिए संस्वीकृति को पूरी तरह से हटा दिया जाए, क्रमबद्ध ढंग से रखा जाए और यह देखा जाए कि क्या, यदि इस बात पर विश्वास हो जाता है, इस पर दोषसिद्धि सुरक्षित ढंग से आधारित की जा सकती है। यदि इस बात से स्वतंत्र रूप से संस्वीकृति विश्वास योग्य बनती है तो तब संस्वीकृति को सहायक के रूप में बुलाने की शायद कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु ऐसे मामले सामने आ सकते हैं, जहां न्यायाधीश अन्य साक्ष्यों पर कार्य करने के लिए तैयार नहीं है, इन्हें यद्यपि, यदि विश्वास हो जाना माना गया है, दोषसिद्धि के लिए पर्याप्त आधार हो सकता है। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश संस्वीकृति को सहायता के रूप में प्रयोग के लिए मंगा सकता है और अन्य साक्ष्य में प्रयोग के लिए इसे आश्वासन के रूप में प्रयोग में ला सकता है और इस प्रकार स्वयं को यह विश्वास करने के लिए सुदृढ़ आधार बना सकता है कि संस्वीकृति की सहायता के बिना उसे क्या स्वीकार नहीं करना है।"

यह बात ध्यान देने के लिए महत्वपूर्ण है कि संस्वीकृति शपथ लेकर नहीं की जाती है और इसे सह-अभियुक्त की दोषसिद्ध के लिए महत्वपूर्ण साक्ष्य के रूप में प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है और न ही इसे **'संगत'** माना जा सकता है, धारा केवल यह कहती है कि न्यायालय सह-अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति को विचार में ले सकेगा।

दूसरी अवधारण यह है कि क्या एक अभियुक्त स्वयं को निरपराध ठहरा कर अपने सह-अभियुक्त को संलिप्त कर सकता है। कुछ उच्च न्यायालयों ने कहा है कि ऐसा करना अनुमत्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, हत्या के अभियोग में, जहां अभियुक्त ने कहा है कि दूसरे अभियुक्त ने हत्या की है और तब धमकी देने पर उसे अर्थात् वादी पर उसके शव को ठिकाने लगाने का दबाव डाला (भारतीय दंड संहिता की धारा 207), ऐसी स्थिति में की गई संस्वीकृति सह-अभियुक्त के विरुद्ध प्रयोग नहीं की जा सकती। (**पेरियास्वामी बनाम आर** : आई.एल.आर. 54 मद्रास 75)।

कुछ उच्च न्यायालयों ने इसके विपरीत मत दिया है कि 'अपराध' शब्द को 'अपराधों' पढ़ा जाए और कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए स्वयं को दोषमुक्त कर सकता है और दूसरे अपराधों के लिए अन्य व्यक्तियों को इनमें संलिप्त कर सकता है (**मिया खान बनाम आर** : ए.आई.आर. 1923 लाहौर 293); **इन रि मानिका पादयाच्ची** : ए.आई.आर. 1921 मद्रास 490; **मिर्जा जाहिद बनाम आर** : ए.आई.आर. 1938 इला. 91; **शिवा बाई बनाम आर** : आई.एल.आर. 50 बम्बई 683।

सरकार कहता है (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 602) कि पहले वाला दृष्टिकोण सही है और यह कि संस्वीकृति में उसे करने वाले को अवश्य संलिप्त किया जाना चाहिए और सभी 'अपराधों' में अन्य अभियुक्तों को जिनके लिए उनका संयुक्त विचारण किया जा रहा है और यह कि इस धारा को सख्ती से परिभाषित किया जाना चाहिए।

ऐसी स्थिति में, वस्तुतः, जहां अभियुक्त की मृत्यु हो जाती है, कथन को धारा 32(2) के अधीन ग्राह्य अभिनिर्धारित किया गया है, देखें **हरिचरण कुरमई** बनाम **बिहार राज्य** : ए.आई.आर. 1964, सु.को. 1184, **बहुबोनी साहु** बनाम **दि किंग:** ए.आई.आर. 1949, पी.सी. 257 मामले में अनुपालन और स्वीकार किया। बाद के मामले में सर जॉन बेउमांट ने संप्रेक्षण किया कि : यह एक कमजोर साक्ष्य है। दिल्ली उच्च न्यायालय ने **पी यू सी एल** बनाम **सी.बी.आई.**, 1987 क्रिम. एल.जे. 3242 (दिल्ली) में संप्रेक्षण किया :

> "……सह-अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति निश्चित रूप से एक कमजोर आधार है। यह साक्ष्य अधिनियम की धारा 3 में दिए गए साक्ष्य की परिभाषा में नहीं आता है। यह न तो शपथ लेकर की जाती है और न ही अपराधी की उपस्थिति में और इसकी प्रतिपरीक्षा द्वारा परीक्षा नहीं की जा सकती। यह एक मुखबिर के साक्ष्य से भी कमजोर साक्ष्य है, जो आशक्तता इसमें है वह उसमें नहीं है। तथापि, धारा 30 में यह व्यवस्था है कि न्यायालय संस्वीकृति को विचार के लिए ले सकेगा, और इसमें निःसंदेह यह एक साक्ष्य बन जाता है, जिस पर न्यायालय कार्यवाही कर सकता है। किन्तु इस धारा में यह नहीं कहा गया है कि संस्वीकृति को प्रमाण माना जा सकेगा, स्पष्ट है कि इसके लिए अन्य साक्ष्य होना चाहिए। संस्वीकृति किसी मामले को साबित किए गए सभी तथ्यों पर विचार के लिए केवल एक तत्व है; इसको एक मानदंड माना जा सकता है और दूसरे साक्ष्य से उसकी तुलना की जा सकती है।"

टाडा की धारा 15 विशेष रूप से यह उपबंध करती है कि सह-अभियुक्त की संस्वीकृति, इस अधिनियम या नियमों के अधीन किसी अपराध के सह-अभियुक्त, दुष्प्रेरक या षडयंत्रकारी के विचारण के समय स्वीकार की जा सकेगी। परन्तु टाडा के अधीन सह-अभियुक्त को विचारित किया जाना चाहिए किन्तु यदि सह-अभियुक्त को टाडा के अधीन विचारित नहीं किया जाता है, तो संस्वीकृति ग्राह्य नहीं होती है।

धारा 30 के संबंध में उच्चतम न्यायालय के अनेक निर्णय हैं। जिनमें नवीनतम राज्य बनाम **नलिनी (राजीव गांधी की हत्या का मामला)** 1995(5) एस.सी.सी. 253 है। इस मामले में, न्यायालय टाडा में सर्वोपरि खंड को लेकर चला, जिसमें साक्ष्य अधिनियम के उपबंधों को हटा दिया गया था और इसके कारण अभियुक्त की संस्वीकृति को स्वीकार करने योग्य बना दिया था अर्थात् महत्वपूर्ण साक्ष्य बना दिया गया था। वाधवा और कादरी जे.जे. ने बहुमत से धारा 30 के अधीन विधि पर विचार किया और अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि धारा में केवल सह-अभियुक्त की संस्वीकृति 'विचार' हेतु स्वीकार करने योग्य है, फिर भी टाडा में इसे 'महत्वपूर्ण साक्ष्य' (देखें पृष्ठ 573, पैरा 680) के रूप में माना गया है। तथापि, न्यायाधीश कादरी ने कहा है (पैरा 706) कि शास्त्र का नियम न्यायिक विवेकाधिकार की चेतावनी देता है कि जब तक कि रिकार्ड किए गए अन्य साक्ष्य से सामान्य रूप से मेल न खाते हों। प्रिवी काउंसिल ने **भूबोनी के साहू** मामले में इस चेतावनी का निर्देश किया था जिसको उच्चतम न्यायालय द्वारा **कश्मीरा सिंह के मामले** में उद्धृत किया गया था। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "अबोध को अपराध में सम्मिलित करने की प्रवृत्ति विशेष रूप से भारत में प्रचलित है, जैसाकि न्यायाधीशों ने अनेक अवसरों पर पाया है और न्यायालय के लिए इस खतरे से लोगों की रक्षा करना एक अत्यंत कठिन कार्य है।"

यदि अभियुक्त की संस्वीकृति को सह-अभियुक्त के विरुद्ध सारभूत साक्ष्य नहीं माना जाता और उसे अन्य विश्वसनीय साक्ष्य के साथ मिलान कराने के अतिरिक्त प्रयोग नहीं किया जा सकता और संस्वीकृति से केवल यह प्रयोजन निकलता है कि इससे अन्यथा उपलब्ध साक्ष्य के लिए आगे आश्वासन प्राप्त होगा, इसकी आलोचना का कारण है कि सह-अभियुक्त, जिस पर दोष लगाया है, का निष्पक्ष विचारण नहीं किया जा सकता क्योंकि वह उस वादी अभियुक्त से प्रतिपरीक्षण नहीं कर सकता जिसने कि संस्वीकृति को न्यायोचित ठहराया है ? हमारी राय में धारा 30 का निरसन करने के विस्तार में नहीं जाना चाहिए, क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने कश्मीरा सिंह मामले में यह स्पष्ट रूप से अभिनिर्धारित किया कि जब दोषसिद्धि के पर्याप्त समर्थन में अन्य विश्वसनीय साक्ष्य मौजूद हैं, तो न्यायालय को सह-अभियुक्त के कथन को आधार बनाने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब अन्य विश्वसनीय साक्ष्य उपलब्ध हैं और न्यायालय उनका कुछ मिलान करने की तलाश में है, तो वह ऐसे में एक अभियुक्त की दूसरे अभियुक्त के प्रति की गई संस्वीकृति प्रयोग में ला सकता है।

तथापि, हम महसूस करते हैं कि संस्वीकृति ऐसे सभी अपराधों संबंधित से होनी चाहिए, जिसमें वादी-अभियुक्त कथित रूप से शामिल है और संस्वीकृति वह नहीं होनी चाहिए जो विचारण के दौरान की जाए। हम संशोधन द्वारा इन दोनों उपधारणाओं को धारा 30 में लाने का प्रस्ताव करते हैं।

शीर्षक को, 'अपराध' शब्द के पश्चात् 'या अपराधों' शब्दों को जोड़कर, संशोधित किया जाएगा।

उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए, हम नहीं सोचते कि धारा 30 को निरसित किया जाए। हम इसे निम्नलिखित उपांतरित रूप में अवधारण करने की सिफारिश करते हैं :

साबित संस्वीकृति को, जो उसे करने वाले व्यक्ति तथा एक ही अपराध के लिए संयुक्त रूप से विचारित अन्य को प्रभावित करती है, विचार में लेना

''**धारा 30.** जबकि एक से अधिक व्यक्ति एक ही अपराध या अपराधों के लिए संयुक्त रूप से विचारित हैं, और विचारण प्रारम्भ होने से पूर्व, ऐसे व्यक्तियों में से किसी एक द्वारा, अपने को और उसी अपराध या सभी अपराधों के संबंध में ऐसे व्यक्तियों में से किसी अन्य द्वारा अपने को और ऐसे व्यक्तियों में से किसी अन्य को प्रभावित करने वाली की गई संस्वीकृति को साबित किया जाता है, तब न्यायालय, जहां ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के विरुद्ध अन्य संगत साक्ष्य है, ऐसी संस्वीकृति को ऐसे अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के विरुद्ध तथा साथ ही ऐसी संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध विचार में ले सकेगा।''

स्पष्टीकरण : इस धारा में प्रयुक्त 'अपराध' शब्द के अन्तर्गत उस अपराध का दुष्प्रेरण या उसे करने का प्रयत्न आता है।

दृष्टांत

(क) 'क' और 'ख' को 'ग' की हत्या के लिए संयुक्ततः विचारित किया जाता है। यह साबित किया जाता है कि 'क' ने कहा, ''ख और मैंने 'ग' की हत्या की है।'' 'ख' के विरुद्ध इस संस्वीकृति के प्रभाव पर न्यायालय विचार कर सकेगा।

(ख) 'ग' की हत्या करने के लिए 'क' का विचारण हो रहा है। यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य है कि 'ग' की हत्या 'क' और 'ख' द्वारा की गई थी और यह कि 'ख' ने कहा था कि ''क' और मैंने 'ग' की हत्या की''। न्यायालय इस कथन को 'क' के विरुद्ध विचारार्थ नहीं ले सकेगा, क्योंकि 'ख' संयुक्ततः विचारित नहीं हो रहा है।

धारा 31 :

धारा 31 का संबंध संस्वीकृतियों के प्रभाव के प्रश्न से है--कि क्या संस्वीकृतियां निश्चायक सबूत नहीं है किन्तु केवल किसी विबंध को कर सकती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''**धारा 31.** संस्वीकृतियां, स्वीकृत विषयों का निश्चायक सबूत नहीं हैं, किन्तु एतस्मिनपश्चात् अन्तर्विष्ट उपबंधों के अधीन विबंध के रूप में प्रवर्तित हो सकेंगी।''

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है (देखें पैरा 11.95) कि धारा 31 में कोई संशोधन अपेक्षित नहीं है।

न्यायालयों ने इस संबंध में विभिन्न सिद्धान्त निर्धारित किए हैं कि किसी स्वीकृति की सम्पूर्णता पर विचार किया जाना चाहिए और उसके एक अंश को स्वीकार किया जा सकता है अथवा रद्द किया जा सकता है। हम नहीं समझते कि धारा 31 में और कुछ जोड़ने की आवश्यकता है।

हम 69वीं रिपोर्ट से पूर्णरूप से सहमत हैं कि धारा 31 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 32 :

धारा 32 और 33 'उन व्यक्तियों के कथन, जिन्हें साक्ष्य में बुलाया नहीं जा सकता' की सुसंगतता से संबंधित हैं। धारा 32 का शीर्षक है 'वे दशाएं जिनमें उस व्यक्ति द्वारा सुसंगत तथ्य का किया गया कथन सुसंगत है, जो मर गया है या मिल नहीं सकता, इत्यादि'। धारा 32 में आठ खंड हैं। धारा 32 के खंड निम्नलिखित दशाओं में सुसंगत है : (1) जबकि वह मृत्यु के कारण से संबंधित है; (2) या कारबार के अनुक्रम में किया गया है; (3) या करने वाले के हित के विरुद्ध है; (4) या लोक-अधिकार या रूढ़ि के बारे में या साधारण हित के विषयों के बारे में कोई राय देता है; (5) या नातेदारी के अस्तित्व से संबंधित है; (6) या कौटुम्बिक बातों से संबंधित विल या विलेख में किया गया है; (7) या धारा 13, खंड (क) में वर्णित संव्यवहार से संबंधित दस्तावेज में किया गया है; और (8) या कई व्यक्तियों द्वारा किया गया है और प्रश्नगत बात से सुसंगत भावनाएँ अभिव्यक्त करता है।

धारा 32 के नीचे 14 दृष्टांत हैं।

69वीं रिपोर्ट में, अध्याय-12 में निम्नलिखित सिफारिशें की गई हैं :

(i) आरम्भिक पैरा पुनरीक्षित किया जाए (पैरा 12.24)

(ii) धारा 32 का खंड (1)—संशोधित किया जाए (पैरा 12.64)

(iii) धारा 32 का खंड (2)—संशोधित किया जाए (पैरा 12.103)

(iv) धारा 32 का खंड (3)—संशोधित किया जाए (पैरा 12.141)

(v) धारा 32 का खंड (4)—परिवर्तन आवश्यक नहीं है (पैरा 12.149)

(vi) धारा 32 का खंड (5) और (6)—परिवर्तन आवश्यक नहीं है (पैरा 12.167)

(vii) धारा 32 का खंड (7)—संशोधित किया जाए (पैरा 12.179)

(viii) धारा 32 का खंड (8)—परिवर्तन आवश्यक नहीं है (पैरा 12.189)

सभी उपखंड अनुश्रुति नियम के अपवादों से संबंधित है।

धारा 32 का आरम्भिक पैरा :

पैरा 12.13 में यह बताया गया था कि धारा 32 और 33 विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों के कथनों का निर्देश करती हैं जबकि धारा 33 भी किसी व्यक्ति के उन कथनों का निर्देश करती है जिसे प्रतिपक्ष द्वारा पहुंच से बाहर कर दिया गया है और यह कि धारा 32 में इस श्रेणी का भूलवश लोप कर दिया गया प्रतीत होता है। पैरा 12.14 में यह भी बताया गया था कि धारा 33 में शब्द 'यदि उसकी उपस्थिति इतने विलम्ब या व्यय के बिना, जितना कि मामले की परिस्थितियों में न्यायालय अयुक्तियुक्त समझता है, अभिप्राप्त नहीं की जा सकती' जबकि धारा 32 में 'जिसकी हाजिरी इतने विलम्ब या व्यय के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती, जितना मामले की परिस्थितियों में न्यायालय को अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है' शब्द रखे गए हैं। यह सिफारिश की गई थी कि धारा 33 की भाषा को अपनाते हुए धारा 32 की भाषा को संशोधित कर देना चाहिए।

इस सुझावों से हम सहमत हैं।

धारा 32 का आरम्भिक भाग निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाएगा :

"मामले के तथ्यों या सुसंगत तथ्यों के लिखित या मौखिक कथन, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा किए गए थे, जो मर गया है या मिल नहीं सकता या जो साक्ष्य देने में असमर्थ हो जाता है या उसकी उपस्थिति इतने विलम्ब या व्यय के बिना, जितना कि मामले की परिस्थितियों में न्यायालय अयुक्तियुक्त समझता है, अभिप्राप्त नहीं की जा सकती।"

धारा 32 का खंड (1) :

धारा 32 का खंड (1) मृत्यु के समय की गई घोषणा से संबंधित है, इसका सिद्धान्त मरते समय कोई आदमी झूठ नहीं बोलता, पर आधारित है। मैथ्यू आरनोल्ड ने **सोहराब और रूस्तम** में कहा है :

"मृत्यु शय्या पर पड़े व्यक्ति की जबान पर सच्चाई का वास होता है।"

शेक्सपियर ने भी किंग जॉन (एक्ट 5 सीन 4) में इसका निर्देश किया है :

"मुझे अपना अन्त यहीं कर देना चाहिए, और इसके बाद सच्चाई से जीना चाहिए।"

मृत्युकालिक कथनों की सुसंगतता की विभिन्न अवधारणों पर बहुत सी निर्णय जनित विधि हैं। और सम्पूर्ण आधारों को इसके अन्तर्गत लाना आवश्यक नहीं है।

69वीं रिपोर्ट में यह बताया गया था कि जब धारा 32 का खंड (1) उस संव्यवहार की किसी परिस्थिति के बारे में किए गए कथन को, जिसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु हुई थी, सुसंगत बनाता है, तब प्रश्न उठता है कि क्या मृत व्यक्ति के कथन का प्रयोजन भी सुसंगत होगा। उच्च न्यायालयों के दृष्टिकोणों में मतभेदों का निर्देश किया गया है। वह स्थिति 1977 में थी।

किन्तु अब उच्चतम न्यायालय द्वारा **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **रमेश प्रसाद मिश्रा** : ए.आई.आर. 1996 सु.को. 2766 मामले में इस प्रश्न का समाधान कर लिया गया है और यह अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 32(1) का व्यापक रीति में अन्वय करना है और यह आपराधिक कृत्य के प्रयोजन के संबंध में मृतक के कथन को सम्मिलित करता है।

न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि मृत्युकालिक कथन किसी दोषसिद्धि के लिए एकमात्र आधार हो सकता है।

तथापि, यह स्वीकार किया गया है कि भारत में यह प्रवृत्ति है कि मृत्यु के समय लोग अपने सभी शत्रुओं को, जिनका अपराध से कोई संबंध नहीं है, उसमें संलिप्त कर देते हैं। इस प्रवृत्ति का सर जेम्स स्टीफन (देखें हिस्ट्री ऑफ क्रिमिनल लॉ इन इंग्लैण्ड, खंड-1, पृष्ठ 448-449) ने निर्देश किया और श्री बेपा पी. सारथी द्वारा 'लॉ ऑफ एविडेंस' की कॉमेन्टरी, 5वां संस्करण, 2002, पृष्ठ 81-82 में उद्धृत किया गया है। इसलिए, भारत में न्यायालयों ने इस बात को स्वीकार किया है कि मृत्युकालिक कथन पर सावधानी बरतते हुए विश्वास किया जाना चाहिए। **गुजरात राज्य** बनाम **खुमन सिंह कारसन सिंह** : ए.आई.आर. 1994, सु.को. 1641 मामले में प्रथम मृत्युकालिक कथन में एक व्यक्ति का नाम लिया गया किन्तु दूसरे और तीसरे में अन्य व्यक्तियों को उसमें संलिप्त कर दिया गया। इससे इन कथनों पर संदेह पैदा हो गया। ऐसे मामले में जहां यह अन्य साक्ष्यों के विपरीत पाया गया हो, इस पर कार्यवाही नहीं की जाती, **जगगा सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** : ए.आई. आर. 1995 सु.को. 135।

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 12.52), निर्णय जनित विधि की चर्चा के बाद यह संप्रेक्षण किया था कि इससे दो प्रश्न उठते हैं :

(1) क्या उस संव्यवहार की किसी परिस्थिति, जिसके फलस्वरूप मृत्यु हुई है, को दूसरे व्यक्ति की मृत्यु का कारण में भी सम्मिलित किया जाएगा ?

(2) क्या खंड जिसमें कहा गया है--कि क्या 'ऐसे कथन, चाहे उस व्यक्ति को, जिसने उन्हें किया है, उस समय जब वे किए गए थे, मृत्यु की प्रत्याशंका थी' को 'मृत्यु की प्रत्याशंका' में किए गए कथन के खंड को सीमित करके उपांतरित कर दिया जाए।

पहली अवधारणा के बारे में 69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि अन्यों की मृत्यु से संबंधित कथन को ग्राह्य करने के लिए एक स्पष्टीकरण जोड़ा जा सकता है।

दूसरी अवधारणा के बारे में 690वीं रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया है कि धारा 32 के खंड (1) में से 'चाहे उस व्यक्ति को, जिसने उन्हे किया है, उस समय जब वे किए गए थे, मृत्यु की प्रत्याशंका थी' शब्दों को हटा कर उपांतरित किया जाए और इंग्लिश मामले **आर. बनाम वुडकोक** (1789) 1 लीच 500 पर विश्वास किया गया कि कथन करने वाला मृत्यु सन्निकट होना चाहिए। प्रवर समिति (1871) (II के अधीन रिपोर्ट) द्वारा दिए गए कारणों से यह रिपोर्ट सहमत नहीं है कि ऐसे कथन सुसंगत है चाहे उस व्यक्ति ने जिसने उन्हें किया है, मृत्यु को आसन्न मान कर किया गया है अथवा न किया गया हो स्वीकार किए जाने की अपेक्षा इस बात पर निर्भर करती है कि उस कथन में कितना वजन है। धारा 32 के खंड (1) का दूसरे पैरे को तदनुसार उपांतरित किया जाना था और उसे स्पष्टीकरण-1 माना था।

जहां तक प्रथम प्रस्ताव का संबंध है, हम पाते हैं कि **रतन गोंड बनाम बिहार राज्य** : ए.आई.आर. 1959 सु.को. 18 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि 'उसकी मृत्यु' शब्द स्पष्ट हैं और अन्य की मृत्यु के बारे में किसी मृत्युआसन्न व्यक्ति द्वारा किया गया कोई कथन ग्राह्य नहीं था। सिफारिश इस निर्णय के विपरीत है और आयोग का पैरा 12.53 में केवल तर्क था कि 'संव्यवहार' और 'परिस्थितियों' शब्दों का अर्थ सदैव व्यापक लगाया जाता रहा है और लगाया जाना चाहिए। आयोग ने उपर्युक्त निर्णय का न तो उल्लेख किया और न ही इस रि पेरिया चेल्लियाह नाडर : ए.आई.आर. 1942 मद्रास 450 और **कप्पामैयाह** बनाम **आर.** : ए.आई.आर. 1931 मद्रास 233 दोनों पूर्वतम निर्णयों में उल्लेख किया है। दो इंग्लिश मामलों, **आर. बनाम मीड** (1842)2 बी एण्ड सी 605 और **आर. बनाम हिन्द** (1860)8 कोक्स क्रिम. केस 300 के निश्चायक न होने के रूप में व्याख्या की थी। आगे यह भी बताया गया था कि यदि यह माना जाता है कि मृत्युआसन्न कोई व्यक्ति साधारणतया सत्य बोलेगा, तब कोई कारण नहीं है कि अन्यों की मृत्यु के कारण के बारे में कथन के लिए उस तर्क को क्यों नहीं लागू किया जाए।

हम यह भी बताना चाहेंगे कि उच्चतम न्यायालय के किसी विनिश्चय से असहमत होने के बावजूद, उपर्युक्त सिफारिश, हम जिस सिद्धान्त के संबंध में विचार कर रहे हैं कि अनुश्रुति को अपवाद मानना, के विपरीत है और इसे 'अन्यों की मृत्यु' के कारण संबंधी मामलों तक विस्तारित नहीं किया जाना चाहिए और इसे घोषणा करने वाले व्यक्ति के कारणों तक ही सीमित रखा जाना चाहिए। फिप्सन (15वां संस्करण, 2000, पैरा 35.62) में उपर्युक्त इंग्लिश मामलों का निर्देश करते हुए उनमें से एक, अर्थात् **आर बनाम मीड,** में पॉलक सी.बी. के संप्रेक्षण का संदर्भ दिया गया है :

> "अपने बारे में बातें करते हुए, मुझे कहना चाहिए कि इस प्रकार के साक्ष्य को स्वीकार करना इंग्लैण्ड की विधि में स्पष्ट रूप से असाधारण अपवाद है, जिसका, मेरे विचार से विस्तार नहीं किया जाना चाहिए।"

फिप्सन उसी पैरे में संप्रेक्षण करता है :

> "यह कहा जाता है कि यह एक दृष्टिकोण है, जिसका पालन किया जाना चाहिए और ऐसे साक्ष्य की ग्राह्यता को मानव हत्या से भिन्न मामलों तक विस्तारित नहीं किया जाना चाहिए, उदाहरण के लिए असावधानी से गाड़ी चलाने के कारण हुई मृत्यु।"

जहां तक सिफारिश के दूसरे भाग, अर्थात् 'मृत्यु की प्रत्याशंका के अधीन, चाहे वह व्यक्ति जिसने उन्हें किया है, उस समय जब वे किए गए थे, था या नहीं' 'हम पाते हैं कि सिफारिश का यह भाग, **पकाला नारायण स्वामी बनाम एम्परर** ए.आई.आर. 1939 पी सी 47 मामले में निम्नलिखित प्रभाव का प्रिवी काउंसिल के संप्रेक्षणों में फिर से आता है :

> "मृतक के समक्ष किया गया कथन मारे जाने की प्रत्याशा का कारण हो सकता है।"

इस दृष्टिकोण को उच्चतम न्यायालय ने **तेहल सिंह बनाम पंजाब राज्य** : ए.आई.आर. 1979 सु.को. 1347 (एन ओ सी) मामले में स्वीकार किया है, जिसमें चिनप्पा रेड्डी जे. ने कहा है (1349-50 पर) कि हम भी डा. चिताले के इस सुझाव में कोई बल नहीं देखते हैं कि हरमेल सिंह का कथन मृत्यु की प्रत्याशंका से नहीं किया गया था और इसलिए, उस पर बल नहीं दिया जाना चाहिए। इस तथ्य के अतिरिक्त कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 32 में यह अपेक्षित नहीं है कि कथन मृत्यु की प्रत्याशंका से किया गया हो . . . . . ।"

निर्णय जनित विधि की तीन न्यायाधीशों की एक पीठ ने **सुधाकर बनाम महाराष्ट्र राज्य** :ए.आई.आर. 2000 सु.को. 1602= 2000(6) एस.सी.सी. 671 मामले में पुनरीक्षा की थी और इसी सिद्धान्त की पुनरावृत्ति की थी। **लैखराज बनाम पंजाब राज्य** : 2000(5) एस.सी.सी. 207=ए.आई.आर.2000 सु.को. 2324 मामला भी देखें। तथापि, इन निर्णयों में सान्निध्य पर बल दिया गया है। वास्तव में, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162(2) को सुस्पष्ट शब्दों में धारा 32(1) के अधीन किए गए कथनों को इसकी सीमा से बाहर रखता है।

यह सत्य है कि इंग्लिश विधि के अधीन जैसा कि लार्ड एलवर्टस्टोन, मुख्य न्यायाधीश ने **आर बनाम पेरी** : 1909(2) के.बी. 679 मामले में कहा है कि आवश्यकता इस बात की है कि उस व्यक्ति को पूर्ण निराशा हो कि मृत्यु की प्रत्याशा है। फिर यह विधि पर निर्भर करता है कि यदि शर्त पूरी होती है, चाहे वह बहुत दिनों तक या हफ्तों तक मौत से जूझता रहे या फिर वह जीवित रह जाए। इंग्लिश विधि के अधीन जीवित रहने की आशा नहीं होनी चाहिए, तथापि, ऐसा विश्वास करने योग्य नहीं। वह तत्काल या तुरन्त मृत्यु नहीं हो सकती, अपितु सन्निकट अथवा आसन्न मृत्यु होनी चाहिए, जैसा कि निश्चित समय पर हुई मृत्यु में अन्तर किया गया है।

सरकार कहता है (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 630) कि भारतीय विधि, इंग्लिश विधि से भिन्न है और इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि व्यक्ति की मृत्यु की प्रत्याशा हो। 1872 से धारा 32(1) का स्पष्ट उपबंध मौजूद है और हमें विधि में परिवर्तन करने का, विशेष रूप से जब प्रिवी काउंसिल और उच्चतम न्यायालय इसे स्वीकार कर चुके हों, कोई उपयुक्त कारण नजर नहीं आता है।

उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, जहां तक धारा 32 के खंड (1) का संबंध है, हम 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों से सहमत नहीं हैं और सिफारिश करते हैं कि उक्त खंड को यथावत रहने दिया जाए।

धारा 32 का खंड (2) :

यह धारा ऐसे व्यक्ति द्वारा किए गए कथन की सुसंगतता से संबंधित है, जब वह कारबार के अनुक्रम में किया है, जिसकी मृत्यु हो गई है या मिल नहीं सकता आदि। यह खंड अत्यंत महत्वपूर्ण है, चूंकि यह भी मृत्युकालिक कथनों से संबंधित है।

धारा 32 के खंड (2) का पाठ निम्नलिखित है :

"(2) अथवा कारबार के अनुक्रम में किया गया है—जबकि वह कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम में किया गया था या तथा विशेषत: जब कि वह, उसके द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम में किया गया था तथा विशेषत: जबकि वह, उसके द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम में या वृत्तिक कर्त्तव्यों के निर्वहन में रखी जाने वाली पुस्तकों में उसके द्वारा की गई प्रविष्टि या किए गए ज्ञापन के रूप में है, अथवा उसके द्वारा धन, माल, प्रतिभूतियों या किसी भी किस्म की सम्पत्ति की प्राप्ति की लिखित या हस्ताक्षरित अभिस्वीकृति है अथवा वाणिज्य के उपयोग में आने वाली उसके द्वारा लिखित या हस्ताक्षरित किसी दस्तावेज के रूप में है अथवा किसी पत्र या अन्य दस्तावेज की तारीख के रूप में है जो कि उसके द्वारा प्राय: दिनांकित, लिखित या हस्ताक्षरित की जाती है।"

भारतीय विधि और इंग्लिश विधि में अब अन्तर है (जैसा कि धारा 32 के खंड (2) में कहा गया है) इंग्लिश विधि के अधीन (देखें सरकार, एविडेंस, 15वां संस्करण, 1999, पृ. 683) ऐसे कथन और प्रविष्टियां केवल तभी सुसंगत हैं यदि (i) वे कर्त्तव्य के निर्वहन के दौरान की गई हो; या (ii) तत्समय की गई थीं; या (iii) ऐसे व्यक्तियों द्वारा की गई हों, जिसको

निजी ज्ञान हो; या (iv) और ऐसे किसी अनुषंगिक मामलों से संबंधित न हो जिनका अभिलेख करने संबंधी कर्त्तव्य न हो। विधायिका ने इंग्लिश विधि में भारतीय विधि की धारा 32 के खंड (2) के द्वारा कोई प्रतिबंध नहीं लगाया है। हमारी विधि के अधीन केवल यह अपेक्षित है कि कथन या प्रविष्टियों में सुसंगत तथ्यों का निर्देश होना चाहिए। (**सीताजी बनाम जिजेन्द्र** : ए.आई.आर. 1954 सु.को. 601)।

साक्ष्य अधिनियम की धारा 34 भी 'लेखा पुस्तकों' की प्रविष्टियों से संबंधित है किन्तु इसका संबंध ऐसी प्रविष्टियों से है, जिन्हें किसी मृत व्यक्ति इत्यादि द्वारा न किया गया हो, जो विशेष रूप से धारा 32 के खंड (2) के अधीन आते हैं। धारा 34, जो प्रविष्टियों को सुसंगत बनाती है, कहती है कि मात्र अकेले प्रविष्टियां दायित्व से भारित करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। धारा 34 के अधीन अनेक निर्णय हैं—देखें **जैन हवाला मामला, सी.बी.आई. बनाम वी.सी. शुक्ला** : 1998(3) एस.सी.सी. 410 और **मनीष दीक्षित बनाम राजस्थान राज्य** : ए.आई.आर. 2001 सु.को. 91 । जहां तक धारा 32 के खंड (2) का संबंध है, **गोपेश्वर सेन बनाम बिजोय चन्द्र महातार** (1928) आई.एल.आर. 55 कलकत्ता पृ. 1175 मामले में यह सुझाव दिया गया था कि धारा 32 के खंड (2) में वैसा ही उपबंध हो कि मात्र प्रविष्टियां ही दायित्व भारित करने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती। परन्तु 69वीं रिपोर्ट में यह महसूस किया गया था (देखें पैरा 12.81 से 12.83) कि धारा 32 के खंड (2) में किसी शब्द को जोड़ने की आवश्यकता नहीं थी।

किन्तु आयोग ने, तथापि खंड (2) को खंड (2) और (2क) में खंडित करने की सिफारिश की है जिसमें पहला, धारा 32 के खंड (2) का प्रथम भाग, जो सामान्य प्रकृति का है और बाद का जो विनिर्दिष्ट विशिष्ट स्थितियों से संबंधित है, निम्न प्रकार है :

आयोग ने 69वीं रिपोर्ट के पैरा 12.103 में धारा 32 के खंड (2) और (2क) के निम्नलिखित प्रारूप सुझाए हैं :

"(2) जबकि वह कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम में किया गया था; तथा विशेषत:, इस खंड के पूर्वगामी उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, जबकि वह उसके द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम में रखी जाने वाली पुस्तकों में उसके द्वारा की गई किसी प्रविष्टि या किए गए ज्ञापन के रूप में है;

(2क) जबकि वह कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा वृत्तिक कर्त्तव्य के निर्वहन में की गई प्रविष्टि या किए गए ज्ञापन के रूप में है अथवा उसके द्वारा धन, माल, प्रतिभूतियों या किसी भी किस्म की सम्पत्ति की प्राप्ति की लिखित या हस्ताक्षरित अभिस्वीकृति है, अथवा वाणिज्य में उपयोग में आने वाली उसके द्वारा लिखित या हस्ताक्षरित किसी दस्तावेज के रूप में है अथवा किसी पत्र या अन्य दस्तावेज की तारीख के रूप में है, जोकि उसके द्वारा प्राय: दिनांकित, लिखित या हस्ताक्षरित की जाती थी।"

'लेखा पुस्तकों' और 'कारबार के अनुक्रम' और 'नियमित रूप से रखी जाने वाली' शब्दों को उच्चतम न्यायालय द्वारा हवाला मामले, **सी.बी.आई. बनाम वी.सी. शुक्ला** : 1998(3) एस.सी.सी. 410 में स्पष्ट किया गया है।

उपर्युक्त प्रस्ताव करने से पूर्व, आयोग ने 69वीं रिपोर्ट में सुसंगत निर्णय जनित विधि और धारा 32 के खंड (2) के तीन सम्भावित निर्वचनों का निर्देश किया है:

(i) 'कारबार के मामूली अनुक्रम में' की अपेक्षा आरम्भिक भाग तक सीमित है न कि विशेष रूप से प्रगणित मामलों से बाद वाले भाग तक कारबार के अनुक्रम में रखी गई पुस्तकें, वृत्तिक कर्त्तव्य के निर्वहन में रखी जाने वाली पुस्तकों से भिन्न हैं।

(ii) पूर्ण खंड आरम्भिक प्रभाग के अध्यधीन है—'कारबार के मामूली अनुक्रम' अथवा क्या इस खंड को गैर-वाणिज्यिक क्रियाकलापों पर भी लागू किया जाना चाहिए।

(iii) पूर्ण खंड आरम्भिक शब्दों के अध्यधीन है—'कारबार के मामूली अनुक्रम' में किए गए कथन केवल ग्राह्य हैं और संव्यवहार कोई वाणिज्यिक होना चाहिए।

धारा 32 के दृष्टांत निर्वचन (i) में दी गई परिभाषा और धारा 21 में दृष्टांत (1) के रूप में भी।

आयोग ने महसूस किया (देखें पैरा 12.102) कि प्रथम निर्वचन, स्पष्टता लाने और कृत्रिमता से बचाए रखने में उच्चतर योग्यता रखती थी। तदनुसार, यह सुझाव दिया गया था (देखें पैरा 12.103) की धारा 32 के खंड (2) का प्रथम भाग, जैसा इस समय है, को 'कारबार के मामूली अनुक्रम' में किए गए कथनों तक सीमित रखा जाए और यह कि एक नया खंड, अर्थात् खंड (2क), जो धारा 32 के खंड (2) के दूसरे भाग में दिए गए प्रगणित प्रकार के कथनों से संबंधित है, जहां ऐसे कथन हों जो कारबार के मामूली अनुक्रम में अथवा अन्यथा किए गए हों, पुर:स्थापित किया जाए (जैसा कि किसी पति द्वारा अपनी पत्नी को लिखे गए पत्र, जिसका **राममूर्ति बनाम सुब्बा राव** : ए.आई.आर. 1937 मद्रास 19 में उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया था)।

हम धारा 32 के खंड (2) को खंड (2) और (2क) में, स्पष्टता और प्रयोजनों के लिए कृत्रिमता से बचाए रखने के लिए, निम्नलिखित रूप में खंडित करने संबंधी सिफारिश से सहमत हैं :

"(2) **अथवा कारबार के अनुक्रम में किया गया** : जबकि वह कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम के किया गया था; तथा विशेषत:, इस खंड के पूर्वगामी उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, जबकि वह उसके द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम में रखी जाने वाली पुस्तकों में उसके द्वारा की गई किसी प्रविष्टि या किए गए ज्ञापन के रूप में है;

(2क) **अथवा वृत्तिक कर्त्तव्य के निर्वहन इत्यादि में किया गया है** : जबकि वह कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा वृत्तिक कर्त्तव्य के निर्वहन में की गई प्रविष्टि या किए गए ज्ञापन के रूप में है अथवा उसके द्वारा धन, माल, प्रतिभूतियों या किसी भी किस्म की सम्पत्ति की प्राप्ति की लिखित या हस्ताक्षरित अभिस्वीकृति है, अथवा वाणिज्य में उपयोग में आने वाली उसके द्वारा लिखित या हस्ताक्षरित किसी दस्तावेज के रूप में है अथवा किसी पत्र या अन्य दस्तावेज की तारीख के रूप में है, जोकि उसके द्वारा प्राय: दिनांकित, लिखित या हस्ताक्षरित की जाती थी।"

धारा 32 का खंड (3) :

यह खंड 'कथन करने वाले के हित के विरुद्ध, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया है जो मर गया है या मिल नहीं सकता' से संबंधित है।

इंग्लिश विधि के अन्तर्गत मृत व्यक्ति इत्यादि द्वारा किए गए कथन तभी ग्राह्य हैं यदि उन्हें केवल धन संबंधी या साम्पत्तिक हित के विरुद्ध अन्यथा नहीं किया गया हो। हमारे अधिनियम की धारा 32 का खंड (3) अधिक व्यापक है और इसमें ऐसे कथन ग्राह्य हैं जो किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता के विरुद्ध अथवा उसे नुकसान पहुंचाने के लिए किए गए हों।

दल बहादुर बनाम विजय : ए.आई.आर. 1930 पी.सी. 79 मामले में प्रिवी कौंसिल ने अभिनिर्धारित किया कि व्यक्ति को यह ज्ञात होना चाहिए कि कथन उसके हित के विरुद्ध है। **रामरति बनाम द्वारिका** : ए.आई.आर. 1967 सु.को. 1134 मामले में इसी प्रकार का दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया गया था।

कथन मौखिक अथवा लिखित हो सकते हैं। उन्हें विवाद्यक तथ्यों से समकालीन होने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें बाद संस्थित करने से पहले का होने की आवश्यकता नहीं है जैसा कि धारा 32 के अन्य खंडों अर्थात् खंड (4), (5), (6) के अधीन अपेक्षित है। इसलिए भारतीय विधि और इंग्लिश विधि के अधीन संबद्ध और सांपार्श्विक साक्ष्य भी सुसंगत होंगे यद्यपि ये किसी एक के हित के विरुद्ध नहीं है परन्तु जो संदर्भ को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है।

भीम सिंह (मृतक) एल.आर. तथा अन्य बनाम कानसिंह : ए.आई.आर. 1980 सु.को. 727 मामले में संव्यवहार के कई वर्षों बाद सांपत्तिक हित के विरुद्ध किए गए कथनों को धारा 32 के खंड (3) और धारा 21 के अधीन ग्राह्य अभिनिर्धारित

किया गया था। विवाद्यक तथ्य था कि क्या संव्यवहार बेनामी था। कथन भानपूर्वक ज्ञान से किया जाना चाहिए कि इसे उसके हित के विरुद्ध उपयोग किया जा सके। (**टी.एस. जॉन बनाम केरल राज्य** : 1984 क्रिम. एल.जे. 753 केरल)।

69वीं रिपोर्ट में किसी तथ्य के परिवर्णन की सुसंगतता के बारे में, जिसमें किसी व्यक्ति के हित के विरुद्ध कथन अन्तर्विष्ट हो सकते हैं, विस्तार से चर्चा हुई है। ऐसे विवरण कुछ पक्षों के बीच दस्तावेजों अथवा ऐसे पक्षों के बीच जिनसे दावा किया गया है अथवा तीसरे पक्ष के लिए निष्पादित किए गए दस्तावेजों में कथन करने वाले से संबंधित हो सकते हैं।

जहां दस्तावेज पक्षकरों से संबंधित नहीं हैं वहां विवरण की सुसंगतता के बारे में पर्याप्त विवाद रहा है। धारा 13 पर चर्चा करते हुए हम इन समस्याओं का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं और इस संबंध में हमने 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों से मतभेद व्यक्त किया है। हमारा दृष्टिकोण है कि वे सुसंगत हैं। धारा 32 के खंड (3) के अधीन प्रश्न यह है कि क्या मृत व्यक्ति (या धारा 32 में निर्देशित श्रेणी के व्यक्तियों) द्वारा किए गए ऐसे कथन, यहां तक कि दस्तावेजों में किए गए जो वाद के पक्षकारों से संबंधित नहीं हैं, सुसंगत है।

69वीं रिपोर्ट में अन्ततः सिफारिश की गई थी कि ऐसे परिवर्णनों को स्वीकार नहीं किया जाएगा और यह कि इसलिए, धारा 32 के खंड (3) के नीचे एक स्पष्टीकरण, जैसा कि नीचे कहा गया है, जोड़ा जाए।

> "स्पष्टीकरण : सीमाओं के परिवर्णन में, तीसरे व्यक्ति की समीपवर्ती भूमि का मालिकाना अथवा प्रकृति के बारे में कथन, इस धारा के अर्थ में धन संबंधी या सम्पत्तिक हित के विरुद्ध कथन नहीं है।"

69वीं रिपोर्ट और साथ ही साथ सरकार (15वां संस्करण, 1999, पृ. 701) यह दर्शाता है कि विनिश्चय एक समान नहीं हैं। ऐसा दृष्टिकोण रखने वाले अनेकों विनिश्चय हैं जिनमें इस प्रकार के परिवर्णन ग्राह्य नहीं हैं जबकि ऐसे ही अनेकों कहते हैं कि ये ग्राह्य हैं परन्तु कथन करने वाले व्यक्ति को इसका भान था कि इसका उसके विरुद्ध उपयोग किया जा सकता है, और यह कि जब यह किया गया था तब यह किसी सुसंगत तथ्य का कथन था (**सोनी बनाम डारबेदेब** : ए.आई.आर. 1935 पटना 167 (एफबी); **रोमन कैथोलिक एण्ड सी बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1976 कर्नाटक 75)।

धारा 13 और दस्तावेजों में सीमाओं, जो वाद के पक्षकारों की नहीं हैं, के बारे में कथनों की सुसंगतता का संव्यवहार करते समय, हम तथ्य का यह निर्देश कर चुके हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि इंग्लिश विधि भिन्न है किन्तु इस बात का कोई कारण नहीं कि ऐसे कथन क्यों सुसंगत नहीं हैं। हम इन सभी कारणों की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। यदि धारा 13 के अधीन जीवित व्यक्ति द्वारा सीमाओं के संबंध में किए गए कथनों को सुसंगत माना जाता है, तो हमारी सिफारिश के अनुसार निश्चय ही मर गए व्यक्ति या जो मिल नहीं सकता आदि द्वारा किए गए ऐसे कथनों को सुसंगत मानने के लिए यह एक मजबूत मामला है।

जहां तक सीमा के परिवर्णन का संबंध है, हम धारा 13 में स्पष्टीकरण-II के रूप में एक स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित करने की सिफारिश कर चुके हैं। हम सिफारिश करते हैं कि धारा 32 के खंड (3) के नीचे निम्नलिखित रूप का एक स्पष्टीकरण जोड़ा जाए :

> "स्पष्टीकरण : ऐसे दस्तावेजों में अन्तर्विष्ट स्थावर सम्पत्ति की सीमाओं के संबंध में परिवर्णन, प्रकृति या स्वामित्व या कथन करने वाले की भूमि पर कब्जा या तीसरे व्यक्तियों की समीपवर्ती भूमि, जो किसी कथन करने वाले के विरुद्ध थी, सुसंगत है और यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज के पक्षकार वहीं होने चाहिए जैसा कि कार्यवाहियों के पक्षकार या उनके संसर्गी हैं।"

धारा 32 का खंड (4) :

यह खंड लोक अधिकार या रूढ़ि या साधारण हित के विषयों के बारे में मृत व्यक्तियों द्वारा किए गए कथनों की सुसंगतता से संबंधित है। कथन विवाद के उत्पन्न होने से पहले किया गया होना चाहिए।

69वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी (देखें पैरा 12.149) की धारा 32 के खंड (4) में कोई संशोधन न किया जाए। यह बताया गया था कि आरम्भिक भाग में संशोधन, जैसा कि अब सुझाव दिया गया है, बम्बई उच्च न्यायालय के दृष्टिकोण का, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया कि कथन केवल तभी सुसंगत होंगे यदि वे विवाद्यक तथ्यों से संबंधित हैं न कि सुसंगत तथ्यों से—एक दृष्टिकोण, जिस पर मद्रास उच्च न्यायालय ने असहमति प्रकट की थी, ध्यान रखेगा। संशोधन बम्बई उच्च न्यायालय के दृष्टिकोण को नामंजूर करता है। हमने दिए गए कारणों का अध्ययन किया है और हम इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि धारा 32 के खंड (4) में किसी विशिष्ट संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 32 का खंड (5) और (6) :

इन दोनों खंडों पर एक साथ विचार किया जा सकता है। 69वीं रिपोर्ट में ऐसा ही किया था।

धारा 32 का खंड (5), किसी ऐसे कथन का निर्देश करता है जो नातेदारी के अस्तित्व से संबंधित है और धारा 32 का खंड (6) ऐसे कथन से जो विल या विलेख में किए गए कौटुम्बिक बातों से संबंधित हैं। दोनों ही उपखंडों में जहां 'नातेदारी' शब्द आया है, वहां 'रक्त, विवाह या दत्तक ग्रहण' शब्द अधिनियम 18/1872 द्वारा जोड़े गए हैं। ये खंड, वंशावली और धर्मजता के मामलों में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

69वीं रिपोर्ट में विस्तृत चर्चा के पश्चात् यह सिफारिश की गई थी (देखें पैरा 12.167) कि इन दोनों उपखंडों में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 32 के खंड (5) के अधीन मृतक (अथवा धारा 32 में निर्देशित अन्य व्यक्ति) द्वारा नातेदारी के बारे में किया हुआ कथन, उस समय जीवित व्यक्तियों के नातेदार हो सकेंगे जिस समय मृतक (अथवा धारा 32 में निर्देशित अन्य व्यक्ति) ने कथन किया था यहां तक कि उस तारीख तक जिनकी मृत्यु हो गई थी। किन्तु धारा 32 के खंड (6) के अधीन कथन विवाद के उत्पन्न होने से पहले किए गए होने चाहिए। धारा 32 के खंड (5) के अधीन ज्ञान के विशेष साधन आवश्यक हैं न कि धारा 32 के खंड (6) के अधीन।

पारिवारिक धार्मिक पुस्तकें, कफन प्लेटें, कुटुम्ब चित्र आदि यहां तक कि जन्म कुंडली, स्कूल रजिस्टर आदि इस खंड के अन्तर्गत आते हैं। कतिपय मामलों में खंड (5) व्यापक है जबकि कुछ मामलों में खंड (6) व्यापक है। धारा 32 के खंड (5) के अधीन कथन करने वाले को विशेष ज्ञान होना चाहिए जबकि खंड (6) के अधीन कथन करने वाले के लिए विशेष ज्ञान होना आवश्यक नहीं है।

कुटुम्ब वंशावली संबंधी साक्ष्य के संबंध में इंग्लिश विधि अधिक कठोर है। इंग्लिश विधि के अधीन मृतक द्वारा किया गया कोई कथन केवल तभी ग्राह्य है जब वंशावली से संबंधित कोई प्रश्न विवाद्यक में हो, खंड (5) और खंड (6) के अधीन कोई घोषणा, किसी विवाद्यक पर उसमें अन्तर्विष्ट तथ्यों के साबित करने के लिए ग्राह्य है। **धनमल** बनाम राम, अध्याय 24 कलकत्ता 265 मामलों में पेथेराम, मुख्य न्यायाधीश ने कहा कि भारत में विधि में रक्त, विवाह या दत्तक ग्रहण द्वारा किसी नातेदारी के अस्तित्व से संबंधित मृतक के कथनों की ग्राह्यता इंग्लैण्ड में विधि से भिन्न है और इस धारा का प्रभाव, उपर्युक्त कथन को, कथन में अन्तर्विष्ट तथ्य को साबित करने के लिए ग्राह्य बनाना है चाहे वे मामले वंशावली से संबंधित हों अथवा न हों, परन्तु अन्य स्थितियों में भी किसी निश्चित समय अथवा संबंधित व्यक्ति की जन्म की तारीख से नातेदारी आरम्भ होने को साबित करना है। रक्त के संबंध में दोनों के एक ही पूर्वज होने का अनुक्रम शामिल है। 'नातेदारी का अस्तित्व' में नातेदारी का अस्तित्व न होना भी शामिल है (**सुब्बा रौत** बनाम **दौन दयाल** : ए.आई.आर. 1941 पृ. 205)।

इसके अतिरिक्त, भारत मे रक्त के संबंध से भिन्न मृतक व्यक्ति का कथन, ज्ञान के विशेष साधन रखने वाले व्यक्ति द्वारा खंड (5) के अधीन ग्राह्य हैं। 'ज्ञान के विशेष साधन रखने' के बारे में प्रतिबंध खंड (6) में नहीं है और यदि कथन वसीयत, औपचारिक वंशावली अथवा समाधिप्रस्तर आदि में अन्तर्विष्ट हैं तो यह पर्याप्त है। इस प्रकार, खंड (5) के अधीन अग्राह्य में कोई कुटुम्ब वंशावली खंड (6) के अधीन ग्राह्य हो सकती है लेकिन इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि खंड (5)

किसी व्यक्ति (मृत या जीवित) के बीच किसी नातेदारी के अस्तित्व का निर्देश करता है जबकि खंड (6) केवल मृत व्यक्तियों के बीच नातेदारी का निर्देश करता है। दोनों ही खंडों के अधीन कथन, वाद के संस्थित होने से पहले, अर्थात् विवाद उत्पन्न होने से पहले किए गए होने चाहिए (न्यायालय में मामला चलने से पहले नहीं)।

इस संदर्भ में साक्ष्य अधिनियम की धारा 50 भी सुसंगत है और यह 'नातेदारी के बारे में राय कब सुसंगत' से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "धारा 50 : जबकि न्यायालय को एक व्यक्ति की किसी अन्य के साथ नातेदारी के बारे में राय बनानी हो, तब ऐसी नातेदारी के बारे में अस्तित्व के बारे में ऐसे किसी व्यक्ति के आचरण द्वारा अभिव्यक्त राय, जिसके पास कुटुम्ब के सदस्य के रूप में या अन्यथा उस विषय के संबंध में ज्ञान के विशेष साधन है, सुसंगत तथ्य है।
>
> परन्तु भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, 1869 (1869 का 4) के अधीन कार्यवाहियों में या भारतीय दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) की धारा 494, 495, 497 या 498 के अधीन अभियोजनों में ऐसी राय विवाह साबित करने के लिए पर्याप्त नहीं होगी।"

धारा 32 के खंड (5) और धारा 50 के अन्तर यह है कि धारा 50 कुटुम्ब वंशावली के मामलों में आचरण द्वारा अभिव्यक्त राय को सुसंगत बनाती है। धारा 50 के अधीन कोई राय उस व्यक्ति द्वारा साबित की जानी चाहिए जिसने वह राय अभिनिर्धारित की है, जबकि धारा 32 ऐसे व्यक्तियों के कथनों से है जो मर गये हैं इत्यादि और बुलाये नहीं जा सकते हैं।

इंग्लैण्ड में, ऐसे व्यक्तियों द्वारा की गई घोषणा को, जो अधर्मज से संबंधित है; इस आधार पर अपवर्जित कर दिया गया कि वे उस परिवार से संबंधित नहीं है। 1855 के अधिनियम 2 की धारा 47 द्वारा इंग्लिश नियम को विखंडित किया गया और इसके द्वारा न केवल परिवार के अधर्मज द्वारा अपितु ऐसे व्यक्तियों, जो यद्यपि रक्त या विवाह से संबंधित नहीं थे किन्तु वे परिवार के सदस्यों और हालत अथवा स्थिति से अभी भी अन्तरतम अवगत थे, के द्वारा की गई घोषणा को भी स्वीकार किया गया है। भारत में, धारा 32 के खंड (1) में, सेवकों, मित्रों और पड़ौसियों द्वारा किए गए कथनों को शामिल किया गया है जिन्हें इंग्लिश विधि में अपवर्जित किया गया है, (देखें 69वीं रिपोर्ट का पैरा 12.163) सम्मिलित किया जा सकेगा।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 12.167 में यह कहा गया है कि धारा 32 के खंड (5) और खंड (6) में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

हम वंशावली साक्ष्य और अन्य संबद्ध मामलों द्वारा शासित होने वाले मूलभूत सिद्धान्त और इंग्लिश और भारतीय विधि में भिन्नता का निर्देश कर चुके है। हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 12.167 में दिए गए दृष्टिकोण से सहमत हैं।

हम तथापि, 1977 के पश्चात् के कुछ मामलों का संक्षिप्त में निर्देश कर सकेंगे। यह अभिनिर्धारित किया गया है कि यद्यपि धारा 32 के खंड (5) के अधीन मूल जन्मकुंडलियां ग्राह्य है फिर भी इसका साक्ष्य संबंधी महत्व मामले के तथ्यों पर निर्भर कर सकेगा। जन्म के पश्चात्वर्ती परन्तु विवाद्यक प्रश्न उत्पन्न होने से पहले तैयार की गई जन्मकुंडलियां ग्राह्य हैं (**सचिव, सरकार, गृह विभाग बनाम हरि राव** : ए.आई.आर. 1978 मद्रास 42)। उसकी विल में किया गया यह कथन कि प्रतिवादी उसका दत्तक पुत्र है किन्तु वह निश्चयात्मक नहीं है और दत्तक ग्रहण साबित करने का भार दत्तक ग्रहण का अभिवाक् करने वाले व्यक्ति पर पूरी तरह जाता है (**बनचारी लाल बनाम त्रिलोक चन्द** : ए.आई.आर. 1980 सु.को. 419)। जन्मकुंडली में जन्म की तारीख के बारे में दिया गया कोई कथन धारा 32 के अधीन सुसंगत नहीं है। किसी जन्मकुंडली में जन्म की किसी तारीख के बारे में दिया गया कोई कथन धारा 32 के अधीन सुसंगत नहीं है, क्योंकि यह नातेदारी से संबंधित नहीं होता है (**सावित्री बाई बनाम सीताराम** : ए.आई.आर. 1986 एम.पी. 219)। जब किसी पक्ष का मामला वंशानुक्रम में अन्तर्विष्ट कड़ी पर आधारित है, तो यहा उस पक्ष के लिए अनिवार्य है कि वह उसकी प्रत्येक कड़ी को साबित करे और यहां तक कि यदि एक भी कड़ी लुप्त पाई जाती है तो विधि की नजर में वंशानुक्रम का साबित नहीं किया गया कहा जाएगा (**बिहार राज्य बनाम श्री राधा कृष्ण सिंह** : ए.आई.आर. 1933 सु.को. 684)।

हम इससे सहमत हैं कि धारा 32 के खंड (5) और खंड (6) में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 32 का खंड (7) :

यह खंड 'धारा 13' खंड (क) में उल्लिखित संव्यवहार से संबंधित दस्तावेज' में कथन से संबंधित है और इसमें कहा गया है कि कब कथन किसी ऐसे विलेख, बिल या अन्य दस्तावेज में अन्तर्विष्ट कथन जो ऐसे किसी संव्यवहार से संबंधित है, जैसाकि धारा 13 खंड (क) में उल्लिखित है, सुसंगत है।

यह खंड केवल धारा 13 के खंड (क) में निर्देशित 'संव्यवहारों' का ही निर्देश करता है और न कि धारा 13, खंड (ख) में निर्देशित उदाहरण का। यह उन मौखिक कथनों को सम्मिलित नहीं करती है जो शब्द धारा 32 के आरम्भिक भाग में अन्तर्विष्ट है, धारा 13, प्राईवेट और सार्वजनिक रूढ़ियों पर लागू होती है और यह धारा भी उन पर लागू होती है। धारा 32 का खंड (7) प्रतिष्ठा से संबंधित मौखिक साक्ष्य देने की अनुमति नहीं देता है यदि किसी दस्तावेज में किया गया कथन असंगत इंग्लिश विधि के सुसंगत है जिसमें प्रतिष्ठा साक्ष्य प्राईवेट अधिक[illegible] संबंधित प्रश्न के मामले में साधारणतया ग्राह्य नहीं है। यूनाइटेड स्टेट में कुछ अधिकार क्षेत्रों में प्रतिष्ठा के सबूत को प्राईवेट सीमाओं के सबूत के रूप में प्राप्त किया जा सकता है (देखें सरकार 15वां संस्करण, 1999, पृ. 727)।

धारा 32 के खंड (7) का प्रभाव यह है कि किसी दस्तावेज में अन्तर्विष्ट किसी सुसंगत तथ्य का कोई कथन जो धारा 13 के खंड (क) के अधीन ग्राह्य है, स्वतः सुसंगत तथ्य हो सकेगा यदि उस कथन को करने वाले पक्ष की मृत्यु हो गई है या वह मिल नहीं सकता है, इत्यादि। धारा 13 के खंड (क) में निर्देशित संव्यवहार, किसी अधिकार या रूढ़ि और इसके सृष्ट, प्रख्यात, मान्यकृत इत्यादि से संबंधित है।

69वीं रिपोर्ट में, धारा 32 के खंड (7) के क्षेत्र को एक स्पष्टीकरण जोड़कर सीमित कर दिया जाएगा कि ऐसे कथन सुसंगत होंगे, जहां न्यायालय के समक्ष कार्यवाही में प्रश्न अधिकार अथवा रूढ़ि के अस्तित्व के बारे में है, प्रस्ताव किया गया था। स्पष्टीकरण में यह भी स्पष्ट किया गया है कि यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज के पक्षकार वही हों जो कार्यवाही के पक्षकार अथवा उनके संसर्गी हैं।

यद्यपि, सिद्धांत रूप में प्रस्ताव के बाद वाले भाग पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती किन्तु हम महसूस करते हैं कि धारा 32 के खंड (7) में निर्देशित सभी प्रकार के दस्तावेजों के लिए यह उपयुक्त नहीं है। उदाहरण के लिए, किसी बिल की दशा में, दो या अधिक पक्षों के होने का, जो स्वयं द्वारा या उनके संसर्गियों द्वारा पहचाने जा सकते हैं, प्रश्न नहीं है, जहां कार्यवाही में कोई बिल एकपक्षीय दस्तावेज है और दो पक्षकारों के बीच का नहीं है। यदि निर्णय जनित विधि को, जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है, प्रस्तावित स्पष्टीकरण के बाद वाले भाग में दिए गए सिद्धांत को व्यापक रूप से स्वीकार किया गया तो इसे किसी स्पष्टीकरण में रखने की कोई आवश्यकता नहीं, विशेष रूप जब कोई बिल नियोजित होने वाली प्रस्तावित भाषा के अनुरूप नहीं होती है।

जहां तक स्पष्टीकरण के प्रथम भाग का संबंध है, आयोग की राय पटना उच्च न्यायालय के खुदीराम बनाम आमोदेश्वर: ए.आई.आर. 1948 पटना 426 (देखें पैरा 12.171 से 12.175) से भिन्न है और राजनारायण बनाम गङ्गाराज: ए.आई.आर. 1937 अवध 133 मामले में अवध न्यायालय के दृष्टिकोण को स्वीकार किया है और यह दृष्टिकोण अपनाया कि ऐसा कथन जहां न्यायालय के समक्ष कार्यवाही के प्रश्न अधिकार अथवा रूढ़ि के अस्तित्व के बारे में है, सुसंगत हैं। इस सिफारिश को समझने के लिए पटना मामले के तथ्यों का निर्देश करना आवश्यक है, जिन पर, वास्तव में, 69वीं रिपोर्ट (पैरा 12.171) में विस्तार से चर्चा की गई थी। उस मामले में, बंधककर्ता 'एम' (जिसकी बाद में मृत्यु हो गई) ने भोगाधिकार बंधपत्र निष्पादित करते समय कहा कि बंधक रखने के अधीन प्राप्त होने वाला धन किसी 'एस' के, जिसकी कि उस समय तक मृत्यु हो गई थी, के श्राद्ध कर्म के प्रयोजनार्थ आवश्यक था। 'एस', वास्तव में, वास्तविक स्वामी था। बंधकदाता का उस पर पहले से ही कब्जा था। उसके पश्चात्, न्यायालय में कार्यवाही चली जो न तो दस्तावेज के उन्हीं पक्षकारों के बीच थी और न ही बंधपत्र के अधीन कोई अधिकार अन्तर्ग्रस्त था। 'एस' विधवा की मृत्यु होने पर, 'एम' ने सम्पत्ति का कब्जा ले लिया और बंधक-पत्र में उसने 'एस', की मृत्यु स्वीकार की थी। बाद में 'एम' के विरुद्ध डिक्री के कारण न्यायालय द्वारा बिक्री किए जाने पर सम्पत्ति बेची गई

और 'ए' द्वारा उसे खरीद लिया गया। 'एस' के पति के उत्तराधिकारी 'ए' के विरुद्ध घोषणा और कब्जेदारी के संबंध में एक वाद दायर किया । 'ए' के बचाव में यह कहा था कि न्यायालय की बिक्री से पूर्व, 'एम' ने 12 वर्षों से भी अधिक समय तक गलत कब्जे द्वारा मालिकाना हक रखा और 'ए' ने इस तथ्य पर विश्वास किया कि 'एम' द्वारा दिया गया पहले बंधक-पत्र में 'एस' की मृत्यु का उल्लेख है और उसने 'एस' की मृत्यु की तारीख संबंधी प्रमाण प्रस्तुत किए हैं ताकि यह साबित किया जा सके कि सम्पत्ति पर उसका कब्जा 'एस' की मृत्यु के समय से है। बाद में दायर किए गए वाद की तारीख तक 'एम' की मृत्यु हो गई। क्योंकि बंधककर्ता द्वारा प्रमाण के रूप में 'एस' की मृत्यु की निश्चित तारीख बताई गई थी, इसलिए यह निर्णय लिया गया कि बंधककर्ता 'एम' का 'एस' की मृत्यु संबंधी कथन न्यायालय की नीलामी द्वारा 'क' के लिए यह साबित करने के लिए ग्राह्य है कि बंधककर्ता 'एम' ने 'एस' के विरुद्ध 12 वर्षों से भी अधिक समय तक गलत कब्जा रखा। न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि धारा 32 के खंड (7) के प्रयोजन के लिए धारा 13, खंड (क) का संदर्भ केवल अधिकार की प्रकृति के संबंध में आवश्यक है और इससे पूर्ण धारा 13 (अर्थात् जिसमें विवाद्य में अधिकार अथवा रूढ़ि होना अपेक्षित है), धारा 32 के खंड (7) के साथ पढ़ा जाना अपेक्षित नहीं है। विवाद उत्पन्न होने से पहले किया गया कथन वाद संस्थित किए जाने से पूर्व विचार करने योग्य है।

69वीं रिपोर्ट में इस निर्णय के विपरीत राय व्यक्त की है और कहा है कि दस्तावेज में मृतक 'एम' के कथन का अपवर्जन कर देना चाहिए क्योंकि बंधककर्ता द्वारा किया गया कथन न्यायालय की नीलामी के खरीदार के विरुद्ध जिसने कि न्यायालय द्वारा की गई नीलामी पर 'एम' से देय धन के लिए, जो विधवा की सम्पत्ति पर काबिज था, सम्पत्ति की खरीद की थी। विधवा की मृत्यु की तारीख बाद के वाद में प्रत्यक्ष रूप से अन्तर्ग्रस्त नहीं थी किन्तु विधवा के विरुद्ध 'एम' के प्रतिकूल कब्जे मुख्य विवाद्यक के संबंध में केवल अप्रत्यक्ष रूप से सुसंगत थी।

हम यहां से वापस धारा 32 के खंड (5) और खंड (6) पर जाते हैं जहाँ हमने यह बताया था कि असदृश इंग्लिश विधि की ही तरह मृतक के कथन का किसी बाद के वाद में उत्पन्न विवाद्यक से प्रत्यक्ष संबंध होना आवश्यक नहीं है। उस मामले के तथ्यों पर हमारा यह विचार है कि 'एस' की मृत्यु के समय के बारे में मृतक 'एम' का कथन सुसंगत और ग्राह्य था, यद्यपि बाद के वाद में वह तिथि विवाद्यक में नहीं थी और मामला केवल 'एस' और उसके उत्तराधिकारियों के विरुद्ध 'एम' का प्रतिकूल काबिज होने के बारे में था।

हमें कोई उचित कारण दिखाई नहीं पड़ता है कि आयोग ने पैरा 12.178 में ऐसा क्यों कहा कि नीति के मामले के रूप में, खंड (7) के अधीन कथनों की सुसंगतता पर कुछ प्रतिबंध लगाए जाने की आवश्यकता है। हम उस नीति को पहचान पाने में असफल हैं जिसको धारा 32 के खंड (7) का संव्यवहार करते समय आयोग ने ध्यान में रखा था और ऐसी नीति धारा 32 के खंड (5) और खंड (6) पर लागू करना क्यों अभिनिर्धारित नहीं किया। हमारा विचार है कि वाद संस्थित किए जाने से पूर्व किए गए कथन पूरी तरह सुसंगत हैं और धारा 32 के खंड (7) के कार्यक्षेत्र को सीमित करने की कोई आवश्यकता नहीं है जबकि वर्तमान रूप में उपबंध 130 वर्षों से भी अधिक समय से मौजूद है, विशेष रूप से जबकि इस प्रकार की नीति परिभाषित नहीं की गई है।

इसलिए, धारा 32 के खंड (7) के लिए प्रस्तावित स्पष्टीकरण के दूसरे भाग को स्वीकार करते हुए हम पहले भाग का अनुमोदन नहीं करते हैं। हमारे विचार से, दस्तावेज में उल्लिखित तथ्य, जिसका मृतक एक पक्ष है, न्यायालय के समक्ष बाद की कार्यवाही में प्रत्यक्ष रूप से प्रश्नगत होना आवश्यक नहीं है। 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित स्पष्टीकरण, हमारे विचार में, निम्नलिखित रूप में उपांतरित किया जाए :

> **स्पष्टीकरण-I :** ऐसे कथन सुसंगत है जहां न्यायालय के समक्ष चल रही कार्यवाही में प्रश्न अधिकार या रूढ़ि के अस्तित्व के बारे में है अथवा यदि ऐसा कथन कार्यवाही के सांपार्श्विक तथ्यों से संबंधित है और यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज से संबंधित पक्ष वही हो, जो कार्यवाही या उनके संसर्गी पक्ष हैं।

इसके परिणामस्वरूप हम पैरा 12.179 की सिफारिश का उपांतरण करते हैं और इस प्रकार उपांतरण के पश्चात् धारा 32 के खंड (7) का पाठ, जिसमें धारा 13 में प्रयुक्त वास्तविक शब्दों का उपयोग करते हुए न केवल धारा 13 का निर्देश मात्र करके, नीचे बताए गए अनुसार होगा। हम उपर्युक्त बताए गए स्पष्टीकरण का प्रस्ताव करते हैं।

अब हम प्रस्तावित अपवाद पर आते हैं, इसका पाठ निम्नलिखित है :

अपवाद : इस धारा की कोई बात सुसंगत नहीं होगी —

(क) किसी तीसरे व्यक्तियों की निकटवर्ती भूमियों की प्रकृति अथवा स्वामित्व के बारे में सीमाओं में अन्तर्विष्ट किसी कथन के बारे में कोई परिवर्तन;

या

(ख) विवाद में प्रश्न उत्पन्न होने के पश्चात् किया गया कोई कथन।

धारा 32 के खंड (7) के संबंध में कुछ विवाद है कि क्या कोई विल अथवा अन्य दस्तावेज कोई संव्यवहार हो सकता है। मद्रास उच्च न्यायालय ने **पेरीआसामी** बनाम **वेरदप्पा** ए.आई.आर. 1950 मद्रास 486 मामले में अभिनिर्धारित किया कि कोई विल (यद्यपि जीवाभ्यंतर नहीं है) संव्यवहार है। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भिन्न दृष्टिकोण अपनाया। हम इस बात से सहमत हैं कि कोई विल एक ऐसा दस्तावेज है जो अधिकार का 'सृजन' कर सकता है और यह कि मद्रास उ. न्या. का दृष्टिकोण सही है। हम 'विल' शब्द को बनाए रख रहे हैं।

हम प्रस्तावित अपवाद के खंड (क) का लोप कर रहे हैं जो दस्तावेजों में सीमा परिवर्तन को, जो एक ही वाद के पक्षकारों के नहीं है, अग्राह्य बनाता है। धारा 13 के अधीन, धारा 13 के लिए उसी प्रकार के प्रस्ताव की नामंजूरी के लिए अपनी चर्चा में दिए गए कारणों की पुनरावृत्ति करने की हम आवश्यकता नहीं समझते। इस संबंध में धारा 32 के खंड (3) के अधीन हमारी सिफारिश भी देखें। हम सीमा परिवर्तन को सुसंगत बनाने के लिए एक स्पष्टीकरण का प्रस्ताव करते हैं। हम, इसलिए, प्रस्ताव करते हैं कि धारा 32 के खंड (7) को निम्नलिखित रूप में पुनःरीक्षित किया जाए :

"(7) अथवा धारा 13, खंड (क) में विनिर्दिष्ट संव्यवहारों से संबंधित दस्तावेजों में किया गया है : जब यह कथन किसी ऐसे विलेख, विल या अन्य दस्तावेज में अन्तर्विष्ट है जो किसी ऐसे संव्यवहार से संबंधित है जिसके द्वारा अधिकार या रूढ़ि, सृष्ट, दावाकृत, उपांतरित, मान्यकृत, प्रख्यात या प्रत्याख्यात की गई थी या जो उसके अस्तित्व से असंगत था, जैसाकि धारा 13 के खंड (क) में विनिर्दिष्ट है।

स्पष्टीकरण-1 : ऐसे कथन सुसंगत हैं जहां न्यायालय के समक्ष चल रही कार्यवाही में प्रश्न अधिकार या रूढ़ि के अस्तित्व के बारे में है अथवा यदि ऐसा कथन कार्यवाही के सांपार्श्विक तथ्यों से संबंधित हैं और यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज से संबंधित पक्ष वही हो, जो कार्यवाही या उनके संसर्गी पक्ष हैं।

स्पष्टीकरण-2 : ऐसे दस्तावेजों में अन्तर्विष्ट स्थावर सम्पत्ति की सीमाओं के संबंध में परिवर्तन, प्रकृति या स्वामित्व या कथन करने वाले की भूमि पर कब्जा या तीसरे व्यक्तियों की समीपवर्ती भूमि, जो किसी कथन करने वाले के विरुद्ध थी, सुसंगत है और यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज के पक्षकार वहीं होने चाहिए जैसा कि कार्यवाहियों के पक्षकार या उनके संसर्गी हैं।"

धारा 32 का खंड (8) :

धारा 32 के खंड (8) में उन व्यक्तियों के कथनों का निर्देश करता है जो मिल नहीं सकते या जिसकी उपस्थिति उपाप्त नहीं की जा सकती और जहां कि किया गया कथन प्रश्नगत बात से सुसंगत किसी व्यक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति के सुसंगत होने का निर्देश करता है, यह धारा बहुत से व्यक्तियों की भावनाओं का निर्देश करती है।

यहां पर दृष्टांत (ढ) सुसंगत है 'ब्यूटी एण्ड दि बीस्ट' का यह प्रसिद्ध मामला है (ड्यू बोस्ट बनाम बेरिसफोर्ड (1810)2 कैमबल्स् की रिपोर्ट 511, 512)

''(ङ) किसी दुकान की खिड़की में अभिदर्शित रंगित उपहासांकन में अभिव्यक्त अपमान लेख के लिए 'ख' पर 'क' वाद लाता है। प्रश्न उपहासांकन की सदृशता तथा उसकी अपमानलेखीय प्रकृति के बारे में है। इन बातों पर दर्शक भीड़ की टिप्पणियां साबित की जा सकेंगी।''

उपर्युक्त निर्देशित मामले के तथ्य, सरकार (15वां संस्करण, 1999, पृ. 730) में विस्तार से दिए गए हैं। लार्ड एलनबो ने अभिनिर्धारित किया कि :

''दर्शकों की घोषणाएं, जब वे प्रदर्शनी कक्ष में तस्वीर देखते हैं, यह दर्शाने के लिए साक्ष्य थी कि चित्रांकित चित्र का तात्पर्य प्रतिवादी की बहिन और जीजा को प्रदर्शित करने का था।''

यहां प्रतिवादी ने, उस महिला, जिस पर उपहासांकित चित्र बनाया गया था, के भाई, तस्वीर को नष्ट कर दिया और उसने उसे हुई क्षति के विरुद्ध वाद दायर किया था।

69वीं रिपोर्ट में यह संप्रेक्षण किया था कि धारा 32 के खंड (8) में संशोधन अपेक्षित नहीं है (देखें पैरा 12.189)। हम इस सिफारिश से सहमत हैं।

धारा 33 :

धारा 33 'किसी साक्ष्य में कथित तथ्यों की सत्यता को पश्चातवर्ती कार्यवाही में साबित करने के लिए उस साक्ष्य की सुसंगति' से संबंधित है।

इसका पाठ निम्नलिखित है :

''धारा 33. किसी साक्ष्य में कथित तथ्यों की सत्यता को पश्चातवर्ती कार्यवाही में साबित करने के लिए उस साक्ष्य की सुसंगति---वह साक्ष्य, जो किसी साक्षी ने किसी न्यायिक कार्यवाही में या विधि द्वारा उसे लेने के लिए प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष दिया है, उन तथ्यों की सत्यता को, जो उस साक्ष्य में कथित है, किसी पश्चातवर्ती न्यायिक कार्यवाही में या उसी न्यायिक कार्यवाही के आगामी प्रक्रम में साबित करने के प्रयोजन के लिए तब सुसंगत है, जबकि वह साक्षी मर गया है या मिल नहीं सकता या वह साक्ष्य देने के लिए असमर्थ है या प्रतिपक्ष द्वारा उसे पहुंच से बाहर कर दिया गया है अथवा यदि उसकी उपस्थिति इतने विलम्ब या व्यय के बिना, जितना कि मामले की परिस्थितियों में न्यायालय अयुक्तियुक्त समझता है, अभिप्राप्त नहीं की जा सकती।

परन्तु यह तब कि—

वह कार्यवाही उन्हीं पक्षकारों या उनके हित प्रतिनिधियों के बीच में थी;

प्रथम कार्यवाही में प्रतिपक्षी को प्रतिपरीक्षा का अधिकार और अवसर था;

विवाद्य प्रश्न प्रथम कार्यवाही में सारतः वहीं थे जो द्वितीय कार्यवाही में है।

स्पष्टीकरण : दांडिक विचारण या जांच इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत अभियोजक और अभियुक्त के बीच कार्यवाही समझी जाएगी।''

इस धारा में वह साक्ष्य अपेक्षित है जो साक्ष्य किसी साक्षी द्वारा किसी पूर्ववर्ती न्यायिक कार्यवाही में या किसी व्यक्ति के समक्ष जिसे विधि द्वारा उसे साक्ष्य लेने के लिए प्राधिकृत किया गया हो, किया गया हो। धारा में बताया गया है कि ऐसा साक्ष्य उन तथ्यों की सत्यता को किसी पश्चात्वर्ती कार्यवाही में साबित करने के प्रयोजन के लिए जो यह बताता है कि जब—

(क) वह साक्षी मर गया है; या

(ख) वह मिल नहीं सकता है; या

(ग) वह साक्ष्य देने के लिए असमर्थ है; या

(घ) प्रतिपक्षी द्वारा उसे पहुंच से बाहर कर दिया गया है; या

(ङ) साक्षी की उपस्थिति इतने विलम्ब या व्यय के बिना, जितना कि मामले की परिस्थितियों में न्यायालय अयुक्तियुक्त समझता है, अभिप्राप्त नहीं की जा सकती, सुसंगत है।

यह तीन शर्तों के अध्यधीन है :

(1) यह कि कार्यवाही (अर्थात पूर्ववर्ती कार्यवाही) उन्हीं पक्षकारों या उनके हित-प्रतिनिधियों के बीच में थी;

(2) यह कि प्रथम कार्यवाही में प्रतिपक्षी की प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार और अवसर था;

(3) यह कि विवाद्यक प्रश्न प्रथम कार्यवाही में सारतः वही थे जैसाकि द्वितीय कार्यवाही में थे।

इस धारा में सिविल और साथ ही साथ दांडिक मामलों पर लागू किया है। 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों पर चर्चा करने से पूर्व हम कुछ इस प्रकार के मामलों का निर्देश करेंगे।

पुरानी दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 में सुपुर्दगी अन्तर्विष्ट है, जिसमें मजिस्ट्रेट के समक्ष सुपुर्दगी के स्तर पर ही साक्षी की जांच की थी और उसकी वहां प्रतिपरीक्षा नहीं की जा सकी थी, तब साक्षी द्वारा सुपुर्दगी न्यायालय में दिए गए साक्ष्य का अभियुक्त के विरुद्ध सेशन विचारण के समय उपयोग नहीं किया जा सकेगा। यदि मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रतिपरीक्षा करने का अवसर था और प्रतिवादी के वकील ने साक्षी का प्रतिपरीक्षण करना नहीं चुना तो सुपुर्दगी कार्यवाही में दिया गया साक्ष्य बाद की कार्यवाहियों में उपयोग में लाया जा सकेगा और प्रतिवादी, जिसने कि मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रतिपरीक्षा करने के अपने अधिकार को नहीं चुना, शिकायत नहीं कर सकेगा।

दो दांडिक कार्यवाहियों में विवाद्यक प्रश्न का अभिन्न होना आवश्यक नहीं है किन्तु यही पर्याप्त है कि वे सारतः समरूपी हैं। रामा रेड्डी (1881) आई.एल.आर. 3 मद्रास 48 में यह अभिनिर्धारित किया था कि :

> "यद्यपि अधिनियम में 'प्रश्नों' शब्द को बहुवचन में दिया गया है, किन्तु ऐसा लगता है कि इसका अभिप्राय यह कि दोनों कार्यवाहियों में सभी प्रश्न अनिवार्यतः एक समान होंगे ताकि साक्ष्य ग्राह्य बनाया जा सके, यह विधि का आशय नहीं है।"

उस मामले में 'आर' ने 'ए' पर विश्वास भंग का आरोप लगाया और 'एस' ने 'आर' के लिए साक्ष्य दिया जबकि 'ए' का प्रतिवाद साक्षी के रूप में परीक्षण किया था। 'ए' को दोषमुक्त कर दिया था। बाद में 'ए' ने 'आर' को उसके विरुद्ध झूठे आरोप लगाने के लिए 'आर' के साक्षी 'एस' पर मिथ्या साक्ष्य देने के लिए अभियोजित किया। इस बाद के अभियोजन में 'ए' के बचाव में साक्षी द्वारा दिया गया पूर्व साक्ष्य दिया हुआ साक्ष्य माना जाना चाहिए क्योंकि साक्षी मर गया था। यह अभिनिर्धारित किया कि जहां तक साक्षी द्वारा किए गए पूर्व कथनों का संबंध था, वे 'आर' के विरुद्ध ग्राह्य थे क्योंकि धारा 33 की सभी शर्तें पूरी की गई थीं परन्तु 'आर' के विरुद्ध नहीं, जोकि पूर्ववर्ती मामले में एकमात्र साक्षी था।

बाल गंगाधर तिलक बनाम श्रीनिवास पंडित : ए. आई. आर. 1915 पी.सी. 7 मामले में प्रिवी काउंसिल ने अभिनिर्धारित किया कि प्रमाण के अभाव में धारा 33 में जो शर्तें बतायी गई हैं, को पूरा किया था, किसी पूर्ववर्ती सिविल कार्यवाही में पहले दिया गया साक्ष्य बाद के किसी दांडिक मामलों में उपयोग में नहीं लाया जा सकेगा।

सिविल मामलों में, सहमति से इस शर्त को छोड़ा जा सकता है, किन्तु दांडिक मामलों में नहीं (कोट्टाम बनाम उम्मा : आई.एल. आर. 46 मद्रास 117)।

पूर्ववर्ती स्थिति, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 263, 264, 273-84, 291, 299 अथवा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 18, नियम 4-17 क में अधिकथित रीति में अभिलिखित की जानी चाहिए। अन्यथा, धारा 33 के अधीन उनका उपयोग नहीं किया जा सकता।

ऐसे किसी मामले में महापराध के लिए तीन कैदियों को अभ्यारोपित किया था और अभियोजन के एक साक्षी को उनमें से एक द्वारा उत्प्रेरण के द्वारा अनुपस्थित साबित कर दिया था, न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि उसके अभिसाक्ष्य को उस व्यक्ति के विरुद्ध साक्ष्य में पढ़ा जाना चाहिए जिसने उसे बाहर रखा था परन्तु उसको अन्य दो के विरुद्ध प्राप्त नहीं किया जा सकेगा। (**आर बनाम स्कैफ** (1851) 20 एल.जे.एम.सी. 229 : टे सौक्सन 472 एफएन)।

सिविल मामलों में, धारा 33 व्यापक रूप में लागू की गई है। रजिस्ट्रेशन अधिनियम की धारा 41(2) के अधीन उप-रजिस्ट्रार द्वारा जांच के लिए साक्षी द्वारा दिया गया साक्ष्य विल की वास्तविकता के लिए उन्हीं पक्षों द्वारा उठाए गए विल की वास्तविकता संबंधी मामले के बाद में, यदि साक्षी मर गए थे और धारा 41 के अधीन जांच में प्रतिपक्ष को उनकी प्रतिपरीक्षा लेने का अवसर प्राप्त हो, ग्राह्य है।

अब हम धारा 33 के अधीन उठने वाले विभिन्न महत्वपूर्ण पहलुओं का निर्देश करेंगे। इनमें से प्रथम, प्रथम परन्तुक से संबंधित है, जिसका पाठ निम्नलिखित है :

"परन्तु यह कि यह कार्यवाही उन्हीं पक्षकारों या उनके हित प्रतिनिधियों के बीच में थी।"

इस परन्तुक का स्पष्ट पाठ इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि पूर्व कार्यवाही के पक्षकार (अथवा उनके प्रतिनिधि), जिसमें किसी साक्षी द्वारा अभिसाक्ष्य दिया गया था, वैसा ही होना चाहिए।

धारा 33 के प्रथम परन्तुक के संबंध में यह प्रश्न उठता है कि क्या पश्चातवर्ती कार्यवाही के पक्षकार, पूर्ववर्ती कार्यवाही के पक्षकार अथवा पक्षकार के प्रतिनिधि होने चाहिए—जैसीकि विभिन्न भारतीय संविधि के अधीन स्थिति है— अथवा क्या विधायिका ने विमर्शपूर्वक प्रथम कार्यवाही में बाद की कार्यवाही के पक्षकारों अथवा उनके विधिक प्रतिनिधियों का होना अपेक्षित किया। इंग्लैण्ड में विधि में हमारे अधिनियम की धारा 33 के अनुरूप अपेक्षाएं अन्य तरीके से है—वहां पर बाद की कार्यवाही के पक्षकार अथवा पक्षकारों का प्रतिनिधि होना ही चाहिए।

कृष्णय्या बनाम वेंकटा कुमार : ए.आई.आर. 1933 पी.सी. 202 मामले में प्रिवी काउंसिल ने महसूस किया कि इस धारा से प्रतिनिधित्व के सामान्य सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं होता है किन्तु सम्भवतः इसमें जानबूझ कर हिन्दू संयुक्त परिवार के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को रखा गया है। प्रिवी काउंसिल ने कहा है कि :

> "तथापि, उनकी लार्डशिप यह बात मानने के लिए तैयार नहीं है कि ऐसा विपरिवर्तन संयोगिक हुआ है। यदि इंग्लैण्ड की विधि को अपनाने की इच्छा होती तो ऐसा सब कुछ इतनी आसानी से नहीं हो जाता अथवा यह अपेक्षा कि दूसरी कार्यवाही के पक्षकार वही हों जो पहली कार्यवाही के प्रिवी इन एस्टेट अथवा पूर्ववर्ती पक्ष से संबंध रखने वाले व्यक्ति हों। इस प्रकार की एक जानी पहचानी शब्दावली प्रयोग में लाने की बजाय एक अधिक लचीला वाक्यांश लागू किया गया है जो कि न तो तकनीकी है और न ही बनावटी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि विधायी प्राधिकरण ने उस देश के बारे में विचार करते हुए जिसमें हिन्दू संयुक्त परिवार रहता हो (अन्य संस्थानों के साथ), एक प्रकार और स्तर के प्रतिनिधियों का हित और परिस्थितियां इंग्लैण्ड की विधि के समान नहीं है, ध्यान में रखा है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, उनकी लार्डशिप इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि इंग्लैण्ड की विधायी पारिभाषिक शब्दावली को गलती से छोड़ा गया है और कम सीमित परिभाषा वाला वाक्यांश 'हित रखने वाले प्रतिनिधि' जानबूझ कर और आशयपूर्वक रखा गया है।"

हमारे विचार में, प्रिवी काउंसिल का उपर्युक्त दृष्टिकोण आलोचना के लिए खुला है। श्री वेपा पी. सारथी (एविडेंस, 2002, 5वां संस्करण, पृ. 155) कहता है कि :

> "यह विस्तृत व्याख्या इस पूर्वानुमान पर आवश्यक हो गई है कि अधिनियम में अपेक्षाएं, इंग्लिश विधि की अपेक्षाओं का प्रतिलोपन है जिसमें दूसरी कार्यवाही के पक्षकार वही अथवा प्रथम कार्यवाही के पक्षकारों का विधिक रूप से प्रतिनिधित्व करने वाले होने चाहिए। यह स्वीकार किया जाता है कि सर जेम्स स्टीफन द्वारा अपनी 'डाइजेस्ट ऑफ दि

लॉ ऑफ एविडेंस' के अनुच्छेद 33 में प्रयोग की गई सर्वसम शैली को ध्यान में रखते हुए कि --विषय पर इंग्लिश विधि का विनिर्देश किया गया है अतः धारा 33 का निर्वचन इस प्रकार होना चाहिए था कि 'तुम विपर्यय संयोगवश हो गया था'।''

प्रिवी काउंसिल ने स्पष्ट रूप से इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि सर जेम्स स्टीफन के डाइजेस्ट में इंग्लिश विधि से कोई अन्तर नहीं है अर्थात् बाद वाली कार्यवाहियों में पक्षकारों की समान अवधारणा वही है कि पक्षकार या पक्षकारों के प्रतिनिधि पूर्ववर्ती कार्यवाही वाले ही हैं। वस्तुतः यदि पूर्ववर्ती कार्यवाही के पक्षकार परवर्ती कार्यवाही के पक्षकारों के प्रतिनिधि ही हों तो मानवजीवन की सीमित अवधि को देखते हुए इस धारा का सिद्धान्त ही ऐसे कुछ मामलों में सीमित हो जाता है जहां पहली कार्यवाही में, ऐसे युवा व्यक्ति संबद्ध किए जाते हैं जो उन जीवित वृद्ध लोगों के प्रतिनिधि होंगे, जो परवर्ती कार्यवाही के पक्षकार हैं। प्रिवी कांउसिल द्वारा हिन्दू विधि में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का निर्देश किए जाने की बात भी अनुपयुक्त प्रतीत होती है।

क्या हिन्दू विधि में कोई ऐसी स्थितियां हैं जहां पूर्व मुकदमे के पक्षकारों ने किसी बाद के मुकदमे के पक्षकारों के माध्यम से दावा किया हो। संयुक्त हिन्दू परिवार के व्यवस्थापक की अवधारणा यद्यपि हिन्दू विधि में नहीं है लेकिन इससे कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होती जहां पहले के मुकदमे के किन्हीं पक्षकारों ने किसी ऐसे व्यवस्थापक के जरिए दावा किया हो जो किसी बाद वाले मुकदमे का पक्षकार है।

'पूर्व विचारणों में अभिसाक्ष्य' पर विचार करते हुए फिप्सन ने (15 वां संस्करण, 1999, पैरा 39.13) कहा था :

''सामान्य विधि में, किसी साक्ष्य द्वारा दिए गए अभिसाक्ष्य और मौखिक साक्ष्य सिविल मामलों में अनुज्ञेय हैं, राइट बनाम डोड तथम (1834) 1 एड. एण्ड ई. एल. (3) मामले में अनुज्ञेय थी तथा अभी भी दांडिक कार्यवाही में, आर बनाम हॉल (पी.बी.) 1973 क्यू. बी. 496 मामले में, बताये गए तथ्यों के प्रमाण में किसी परवर्ती विचारण में (या उसी विचारण के परवर्ती प्रक्रम में) अनुज्ञेय हैं, परन्तु (1) यह कि ये कार्यवाहियां उन्हीं पक्षकारों या उनके संसर्गियों के बीच हों; (2) यह कि वही मुद्दे अन्तर्ग्रस्त हो; (3) यह कि जिस पक्षकार या जिसके संसर्गी के विरुद्ध साक्ष्य दिया गया है उसे पहले प्रतिपरीक्षा का पूरा अवसर दिया गया था; और (4) यह कि साक्षी को दूसरे विचारण के समय बुलाया नहीं जा सकता।''

धारा 33 में उपर्युक्त 'क्रम विपर्यय' से कई व्यावहारिक समस्याएं पैदा हो गई थीं और न्यायालयों को 'हितबद्ध प्रतिनिधियों' शब्द के अर्थ का विस्तार करना पड़ा था।

पटना उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया है कि हितबद्ध प्रतिनिधियों' जैसी अस्पष्ट अभिव्यक्तियों में कम से कम सम्पदा में संसर्गी शामिल किए जाने चाहिए। भागीदार और संयुक्त ठेकेदार भागीदारी संबंधी लेन-देन या संयुक्त ठेकों के संबंध में एक दूसरे के विरुद्ध स्वीकृतियां करने के प्रयोजन के लिए एक दूसरे के एजेन्ट होते हैं। (चन्द्रेश्वर बनाम जगेश्वर : ए. आई. आर. 1927 पटना 61)। मद्रास उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि 'हितबद्ध प्रतिनिधि' शब्द सब प्रयोजनों के लिए, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 इसके अन्तर्गत प्रयुक्त शब्द 'के अधीन दावा करने वाले' व्यक्ति का विकल्प नहीं हो सकता (रामकृष्णा बनाम तिरूनारायण : ए.आई.आर. 1932 मद्रास 198)।

इस तथ्य को देखते हुए कि सर जेम्स स्टीफन ने, इंग्लिश विधि की तरह ही, यह अपेक्षा करके कि बाद वाली कार्यवाही का पक्षकार वही व्यक्ति या उसका प्रतिनिधि होगा जो पहले वाली कार्यवाही में पक्षकार या उसका हितबद्ध प्रतिनिधि रहा है, सही सिद्धान्त का निर्देश किया है, हमारा विचार है कि इस धारा में सर जेम्स स्टीफन के डाइजेस्ट के अनुसार ही संशोधन किया जाना चाहिए। वस्तुतः यही इस प्रकार की स्थितियों के अनुरूप जान पड़ती है, उदाहरण के लिए देखें साक्ष्य अधिनियम की धारा 21, 92, 99, 115।

अब हम धारा 33 को एक बार फिर पढ़ें, तो उसमें इन शब्दों का प्रयोग किया गया है कि ''किसी न्यायिक कार्यवाही में या विधि द्वारा उसे किए जाने के लिए अधिकृत प्राधिकारी के समक्ष साक्षी द्वारा दिया गया साक्ष्य परवर्ती न्यायिक कार्यवाही

में या उसी न्यायिक कार्यवाही में बाद वाले प्रक्रम पर, साबित करने के प्रयोजन के लिए सुसंगत है और परन्तुक के प्रथम खंड में इन शब्दों का प्रयोग किया गया है, कार्यवाही उन्हीं पक्षकारों या उनके हितबद्ध प्रतिनिधियों के बीच थी'' जबकि परन्तुक के तीसरे खंड में ये शब्द प्रयोग किए गए हैं ''कि विवाद्यक प्रश्न सारत: प्रथम कार्यवाही में भी वही थे जो वे दूसरी कार्यवाही में थे।'' यह स्पष्ट है कि मुख्य खंड में 'परवर्ती कार्यवाही' शब्दों का प्रयोग किया गया है जबकि परन्तुक के तीसरे खंड में 'प्रथम' और दूसरी कार्यवाही शब्दों का प्रयोग किया गया है। परन्तुक के प्रथम खंड में 'कार्यवाही' शब्द बिना किसी विशेषण के प्रयोग किया गया है।

69वीं रिपोर्ट में, पैरा 12.2.04 में, प्रिवी काउंसिल के मामले का निर्देश करते हुए यह कहा गया था कि परन्तुक के प्रथम खंड में 'कार्यवाही' शब्द से पहले 'प्रथम' शब्द का प्रयोग किया जाए। रिपोर्ट के पैरा 12.205 में कहा गया है :

''यह नोट किया जाए कि धारा 33 के परन्तुक में इंग्लिश विधि की उस अपेक्षा का क्रम उलट दिया गया है जिसमें यह अपेक्षा की गई है कि दूसरी कार्यवाही के पक्षकारों को विधिक तौर पर उन पक्षकारों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए जो पहली कार्यवाही में पक्षकार रहे हैं या सम्पदा में उनके संसर्गियों द्वारा किया जाना चाहिए। जैसाकि प्रिवी काउंसिल ने कहा, यह क्रम विपर्यय संयोगवशात् नहीं हुआ है।''

यह कहने के बजाए कि द्वितीय कार्यवाही के पक्षकारों को पहली कार्यवाही के हितबद्ध पक्षकारों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए, परन्तुक में अलग भाषा का प्रयोग किया गया है।

पैरा 12.206 में चूंकि प्रिवी काउंसिल ने कहा है कि इंग्लिश विधि से भिन्न भाषा का प्रयोग जानबूझ कर किया गया है।

इस उपबंध की भाषा इस बारे में इंग्लिश नियम के अनुरूप बनाने के लिए उसमें परिवर्तन किया जाना चाहिए।

तैयार किए गए प्रारूप के पैरा 12.215 में यह बात कहने के बाद, जहां तक परन्तुक में प्रथम खंड का संबंध है, रिपोर्ट में यह कहा गया है :

''(1) कि प्रथम कार्यवाही उन्हीं पक्षकारों के बीच या उनके हितबद्ध पक्षकारों के बीच थी।''

स्पष्टत:, यदि इंग्लिश विधि को वापस लाया जाता है, परन्तुक का प्रथम खंड का पाठ इस प्रकार होना चाहिए :

''परन्तु यह कि पश्चात्वर्ती कार्यवाही उन्हीं पक्षकारों के बीच या उनके हितबद्ध पक्षकारों के बीच थी''

स्पष्टत:, यथा प्रस्तावित धारा का प्रारूप सिफारिशों के प्रतिकूल है तथा प्रारूप धारा में, प्रथम शब्द के स्थान पर 'पश्चात्वर्ती' शब्द प्रतिस्थापित करना होगा।

69वीं रिपोर्ट में, कुछ अन्य औपचारिक परिवर्तनों का प्रस्ताव किया गया था, 'न्यायिक कार्यवाही' शब्द धारा के आरम्भ में जोड़े गए थे और 'न्यायालय के समक्ष' शब्दों को उसके पश्चात् जोड़ा गया तथा 'दिए गए साक्ष्य' शब्दों के बाद 'पिछले' शब्द जोड़ा गया। 'या किसी पूर्ववर्ती प्रक्रम में' शब्द आरम्भ में जोड़े गए और 'पश्चात्वर्ती न्यायिक कार्यवाही या उसी न्यायिक कार्यवाही के बाद वाले प्रक्रम में' शब्दों के स्थान पर 'किसी न्यायिक कार्यवाही' शब्द प्रतिस्थापित किए गए हैं। 'विधि द्वारा अधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष' शब्दों से पहले 'किसी भी कार्यवाही' शब्द जोड़े गए हैं। ये सब इस धारा में दिए गए औपचारिक परिवर्तन हैं तथा हम यह स्वीकार करते हैं कि उनसे यह धारा और अधिक स्पष्ट हो गई है तथा सुनिश्चित बनी रह सकती है और हम उन्हें स्वीकार करते हैं।

अब हम स्पष्टीकरण पर आते हैं। उसमें कहा गया है ''किसी दांडिक विचारण या जांच को इस धारा के अन्तर्गत अभियोजक तथा अभियुक्त के बीच की कार्यवाही माना जाएगा''। इस स्पष्टीकरण की व्याप्ति इस प्रकार है : मान लो किसी व्यक्ति को कोई कार कुचल देती है और उस व्यक्ति का पैर कट जाता है। वह उस ड्राइवर के विरूद्ध शिकायत करता है (व्यक्तिगत शिकायत के रूप में) जिस पर राज्य की ओर से मोटर यान अधिनियम या दंड संहिता के अन्तर्गत किए गए अपराध

के लिए मुकदमा चलाया जा रहा है। बाद में क्षतिपूर्ति के लिए ड्राइवर के विरूद्ध मुकदमा दायर कर देता है। दंड न्यायालय में उपस्थित होने वाले उसके साक्षियों में से कुछ उस समय तक मर चुके होंगे, जब तक यह सिविल मुकदमा विचारण के लिए आगे आए। यदि आपराधिक मामले में दिए गए साक्ष्य को सिविल मामले में प्रयोग करने का प्रयास किया जाता है तो उसके विरूद्ध इस आधार पर आपत्ति की जा सकती है कि पक्षकार वही नहीं है क्योंकि आपराधिक मामले में पक्षकार राज्य और ड्राइवर हैं और सिविल मामले में पक्षकार व्यथित व्यक्ति तथा ड्राइवर है। यह स्पष्टीकरण, इस तर्क का खंडन करने के लिए किया गया है और आपराधिक मामले में दिए गए साक्ष्य को सिविल मामले में सुसंगत बनाने के लिए, करने के लिए रखा गया है। (देखें बेपा सारथी, पांचवा संस्करण, 2002, पृष्ट 158–159)

69वीं रिपोर्ट में, विस्तृत चर्चा के बाद आयोग चाहता था कि स्पष्टीकरण को दो भागों में बांट दिया जाए, जिसमें पहला भाग व्यक्तिगत शिकायत के आधार पर दर्ज आपराधिक मामले से संबंधित हो तथा दूसरा उस मामले से संबंधित जिसमें मुकदमा राज्य की ओर से दायर किया गया हो। आयोग ने स्पष्टीकरण में निम्नलिखित दो खंडों की सिफारिश की थी :

''**स्पष्टीकरण** : कोई भी दांडिक विचार या जांच —

(क) जहां दांडिक कार्यवाही किसी निजी व्यक्ति द्वारा आरम्भ की गई है वहां उसे उस व्यक्ति और इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत अभियुक्त के बीच की कार्यवाही माना जाएगा यदि उस व्यक्ति को न्यायालय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 302 के अन्तर्गत अभियोजन चलाने की अनुमति दे दी जाती है;

(ख) अन्य मामलों में, राज्य और अभियुक्त के बीच की कार्यवाही माना जाएगा।''

उपर्युक्त चर्चा के अन्तर्गत, 69वीं रिपोर्ट में विचारित विभिन्न पहलुओं को शामिल किया गया है।

जहां तक दूसरे परन्तुक का संबंध है, उसमें कहा गया है ''परन्तु यह कि प्रथम कार्यवही में प्रतिपक्ष को प्रतिपरीक्षा का अधिकार और अवसर मिला था।''

जहां तक इस परन्तुक का संबंध है, प्रिवी काउंसिल ने बताया था कि प्रतिपक्षी को प्रतिपरीक्षा का अधिकार और अवसर प्रदान किया गया था (**दल बहादुर बनाम बिजोय** : ए.आई.आर. 1930 पी.सी. 79)। इसके पश्चात् **मुलकराज बनाम दिल्ली प्रशासन** : ए.आई.आर. 1974 सु.को. 1723 में भी यही कहा गया था। लेकिन कुछ मामलों में यह कहा गया था कि यदि अवसर दिया गया था तो वह पर्याप्त था और यह आवश्यक नहीं है कि वास्तव में उसकी प्रतिपरीक्षा की जाए (**सुन्दरे बनाम गोपाला** : ए.आई.आर. 1934 मद्रास 100) । बाद वाला विचार उच्चतम न्यायालय ने **बी. एस. वैद्यू बनाम बी. एस. शर्मा** : 1995 (6) एस. सी. सी. 122 मामले में स्वीकार नहीं किया है तथा प्रिवी काउंसिल के विचार को ही दोहराया था।

उपर्युक्त उच्चतम न्यायालय मामले में, न्यायालय ने कहा ''कि प्रतिवादी के विरूद्ध एक पक्षीय कार्यवाही में, उसे साक्षी की प्रतिपरीक्षा करने का कोई अधिकार और अवसर नहीं है।'' परन्तु चूंकि उसे साक्षी की प्रतिपरीक्षा करने का कोई अधिकार और अवसर नहीं है, इसलिए, उसी साक्ष्य को पश्चात्वर्ती कार्यवाही में प्रतिवादी के विरूद्ध प्रयोग नहीं किया जा सकता। उसके द्वारा परन्तुक का आशय उन व्यक्तियों के अधिकारों का संरक्षण करना है जिनके विरूद्ध पिछली कार्यवाही एकपक्षीय कर दी गई थी और उन्हें साक्षी की प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार तथा अवसर नहीं मिला था''।

उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय को देखते हुए हम एकपक्षीय कार्यवाही में दिए गए साक्ष्य के मामले की गहराई में नहीं जाना चाहते।

परिणामत: हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 12.215 में की गई सिफारिश को सामान्य रूप से स्वीकार करते हैं परन्तु हमने प्रस्तावित संशोधनों के प्रारूप में परिवर्तन कर दिया है।

इसलिए, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 33 में निम्न प्रकार संशोधन किया जाए :

किसी साक्ष्य में कथित तथ्यों की सत्यता को पश्चात्वर्ती कार्यवाही में साबित करने के लिए उस साक्ष्य की सुसंगति

"33. किसी साक्षी द्वारा—

(क) पिछली न्यायिक कार्यवाही, या

(ख) उसी न्यायिक कार्यवाही के पूर्ववर्ती प्रक्रम में, या

(ग) साक्ष्य लेने के लिए विधि द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष किसी कार्यवाही में,

दिया गया साक्ष्य उन तथ्यों की सत्यता को, जो उस साक्ष्य में कथित हैं, किसी पश्चात्वर्ती न्यायिक कार्यवाही में या उसी न्यायिक कार्यवाही के आगामी प्रक्रम में, साबित करने के प्रयोजन के लिए सुसंगत है, जबकि उस साक्षी की मृत्यु हो चुकी है या उसे ढूंढा नहीं जा सकता या वह साक्ष्य देने में असमर्थ है, या प्रतिपक्षी द्वारा उसे पहुंच के बाहर कर दिया गया है या यदि उसकी उपस्थिति इतने व्यय या विलम्ब के बिना जितना कि मामले की परिस्थितियों में न्यायालय आयुक्तियुक्त समझता है, अभिप्राप्त नहीं की जा सकती;

परन्तु वह तब जबकि—

(i) न्यायालय के समक्ष परवर्ती कार्यवाही उन्हीं पक्षकारों या उनके प्रतिनिधियों के बीच में है;

(ii) प्रथम कार्यवाही में प्रतिपक्षी को प्रतिपरीक्षा का अधिकार और अवसर था;

(iii) विवाद्यक प्रश्न प्रथम कार्यवाही में सारतः वही थे जो द्वितीय कार्यवाही में है।

स्पष्टीकरण : दांडिक विचारण या जांच, उन मामलों में,—

(क) जहां दांडिक कार्यवाही किसी निजी व्यक्ति द्वारा संस्थित की गई हैं, इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत उस व्यक्ति तथा अभियुक्त के बीच कार्यवाही समझी जाएंगी यदि उस व्यक्ति को न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 302 के अन्तर्गत अभियोजन के लिए अनुज्ञात कर दिया है; और

(ख) खंड (क) में विनिर्दिष्ट से भिन्न मामलों में, राज्य और अभियुक्त के बीच कार्यवाही समझी जाएंगी।

धारा 34 :

धारा 34 से धारा 37 'विशेष परिस्थितियों में किए गए कथन' शीर्ष के अन्तर्गत रखी गई हैं।

अधिनियम की धारा 34 (अधिनियम 21/2000 द्वारा यथा संशोधित) का पाठ निम्नलिखित है :

"**धारा 34. लेखा पुस्तकों की प्रविष्टियां कब सुसंगत हैं** —कारबार के अनुक्रम में नियमित रूप से रखी गई लेखा पुस्तकों की प्रविष्टियां (इलैक्ट्रानिक रूप में रखी गई प्रविष्टियों सहित) जब कभी वे ऐसे विषय का निर्देश करती हैं जिसमें न्यायालय को जांच करनी है, सुसंगत हैं, किन्तु अकेले ऐसे कथन ही किसी व्यक्ति को दायित्व से भारित करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य नहीं होंगे।

धारा 34 के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है, जिसका पाठ निम्नलिखित है :

"**दृष्टांत** : 'ख' पर 'क' 1,000 रुपयों के लिए वाद लाता है और अपनी लेखाबहियों की वे प्रविष्टियां दर्शित करता है, जिनमें 'ख' को इस रकम के लिए ऋणी दर्शित किया गया है। ये प्रविष्टियां सुसंगत है किन्तु ऋण साबित करने के लिए अन्य साक्ष्य के बिना पर्याप्त नहीं है।"

विधि आयोग की 69वीं रिपोर्ट में अध्याय तेरह में 'लेखा पुस्तकों में प्रविष्टियां' शीर्ष के अन्तर्गत इस धारा की गहराई से समीक्षा की गई है। अध्याय का भाग-एक प्रस्तावना है तथा भाग-दो में 'पिछली विधि' दिए गए हैं, भाग-तीन में, 'इंग्लिश और रोमन विधि' का उल्लेख है; भाग-चार में उसकी 'पुष्टि' की गई है तथा भाग-पांच, 'व्याख्या और प्रक्रिया' के बारे में है और भाग-छः में निष्कर्ष दिए गए हैं (देखें पैरा 13.27)

साक्ष्य अधिनियम, 1855 की तद्नुरूपी धारा की भाषा और उसकी धारा 43 का उल्लेख किया गया था, जिसमें अलग तरह की भाषा थी :

> "**धारा 43.** जिन पुस्तकों के बारे में यह साबित हो चुका हो कि कारबार के अनुक्रम में वे नियमित रूप से रखी गई थी, वे पुष्टि करने वाली पुस्तकों के रूप में तो अनुज्ञेय होगी लेकिन वहां कथित तथ्यों के स्वतंत्र प्रमाण के रूप में नहीं।"

और यह बताया गया था कि वर्तमान अधिनियम में 'जिनके बारे में साबित हो चुका हो कि वे नियमित रूप से रखी गई हैं' शब्द प्रयोग किए गए हैं जबकि पूर्व अधिनियमों में 'नियमित रूप से रखी गई हैं' शब्द प्रयोग किए गए थे तथा जैसाकि **डैलिंग्टन बनाम रास बिहारी** : (1874) 22 डब्ल्यू. आर. 549 मामले में मार्कबाई जे. ने कहा था कि इस प्रकार विधि में यह एक परिवर्तन है।

चांसरी प्रैक्टिस अमेन्डमेंट एक्ट, 1852 की धारा 52 (अंग्रेजी) के उन उपबंधों का उल्लेख किया गया था जिसके द्वारा प्रविष्टियों को 'प्रथम दृष्टया' साक्ष्य बना दिया गया था तथा रोमन विधि के अधीन 'अनुपूरक शपथ' की प्रथा का उल्लेख किया गया था (1894 में उच्चतम न्यायालय के नियमों में जोड़े गए आदेश 30, नियम 7 भी देखें) (सरकार, 15वां संस्करण, 1999 पृष्ठ 756)।

69वीं रिपोर्ट के अनुसार (देखें पैरा 13.16) वर्तमान अधिनियम के अधीन लेखा पुस्तकों को यदि किसी व्यक्ति को दायित्व से भारित करने के लिए प्रयोग नहीं किया गया हो तो, किसी अन्य पुष्टि की आवश्यकता के बिना स्वतंत्र साक्ष्य के रूप में प्रयोग किया जा सकेगा लेकिन जब उसका उद्देश्य किसी व्यक्ति को भागी ठहराना हो, तब उन पुस्तकों की पुष्टि की आवश्यकता होगी (देखें सरकार, वही, पृष्ठ 758)। अन्य साक्ष्य उस प्रविष्टि के कर्त्ता का होगा या उस प्रयोजन के लिए साक्ष्य अधिनियम के अधीन सुसंगत कोई भी 'तथ्य' होगा (पैरा 13.17)।

यह बताया गया था कि इस अधिनियम के अन्य उपबंधों, उदाहरण के लिए धारा 32(2), के अधीन लेखा पुस्तकों में की गई प्रविष्टियां, कारबार के अनुक्रम में किसी व्यक्ति द्वारा किए गए कथनों के रूप में या धारा 154 के अधीन किसी साक्षी की स्मृति को ताजा करने के लिए सुसंगत हो सकती हैं यदि वह प्रविष्टि उस साक्षी के द्वारा स्वयं की गई है तथा ऐसे किसी लेन देन से संबंधित है, जिसके बारे में वह अब साक्ष्य दे रहा है।

पुस्तक में किसी प्रविष्टि का अभाव धारा 34 के अधीन सुसंगत नहीं है लेकिन धारा 9 और 11 के अधीन सुसंगत हो सकता है।

69वीं रिपोर्ट के अन्त में यह कहा गया है (देखें पैरा 13.27) कि धारा 34 के अधीन 'ऐसे कथन' शब्दों के स्थान पर 'ऐसी प्रविष्टियां' शब्द प्रतिस्थापित करके शाब्दिक परिवर्तन करने के सिवाय अन्य कोई सारभूत संशोधन करना अपेक्षित नहीं है।

हवाला मामले में, जो उच्चतम न्यायालय में **केन्द्रीय जांच ब्यूरो बनाम विद्याचरण शुक्ल** : ए.आई.आर. 1998 सु.को. 1406 के रूप में गया था, जिसमें **लालकृष्ण आडवाणी बनाम केन्द्रीय जांच ब्यूरो** (1997) क्रिम. एल. जे. 2559 के बारे में दिल्ली उच्च न्यायालय के निर्णय की ही कमोबेश पुष्टि की गई थी, इस धारा की सविस्तार संविक्षा की गई थी। उस मामले में उच्च न्यायालय द्वारा अभियुक्त के पक्ष में दिया गया निर्णय इस निष्कर्ष पर आधारित था कि डायरियों में कथित प्रविष्टियां एक व्यक्ति द्वारा ज्ञापन के रूप में प्रविष्टियां की गई थीं तथा जमा या नफे की कोई प्रविष्टियां नहीं थी तथा धारा 34 के अधीन आने वाली लेखा पुस्तकें नहीं थी। अपील किए जाने पर उच्चतम न्यायालय ने यह टिप्पणी की कि स्पाइरल पैड और स्पाइरल नोट

बुक तो एक लेखा पुस्तक है लेकिन फाइल में रखी गई कागज की खुली शीटें लेखा पुस्तक नहीं हैं। तथापि, न्यायालय ने यह टिप्पणी की थी कि यह जरूरी नहीं था कि 'नियमित रूप से रखी गई की कसौटी पर खरा उतरने के लिए प्रविष्टि संबंधित संव्यवहार किए जाने के समय ही या उसके बारे में ही की जाएं'। इसके अतिरिक्त, अपने संसाधनों के संवर्धन के सुनिश्चित प्रयोजनों से सुव्यवस्थित ढंग से निरन्तर किए गए क्रियाकलाप 'कारबार' की श्रेणी में आते हैं।

प्रिवी काउंसिल को भी **भॉय हांग कांग बनाम रामनाथन** : आई एल. आर. 29 कलकत्ता 334=29 आई. ऐ. 43; **जसवंत बनाम शिवनारायण** : 21 आई. ए. **गंगा प्रसाद बनाम इन्द्रजीत** : 23 डब्ल्यू आर 390; **राजेश्वरी बनाम बालकिशन** : 14 आई. ए. 142; **डिप्टी कमांडर बनाम राम प्रशाद** 26 आई. ए., 254; **द्वारका दास बनाम जानकी दास** : 6 एम. आई. ए. 88; **इमामबंदी बनाम मोटा सुद्दी** : ए.आई.आर. 1918 पी. सी. 11; **गोपाल बनाम श्री ठाकुजी** : ए.आई.आर. 1943 पी. सी. 83; **सोराबजी बनाम कूनमारजी** : 1 एम. आई. ए. 47 **सेठ लक्ष्मी बनाम सेठ इन्द्रा** : 13 एम. आई. ए. 365; **श्री किशन बनाम हरि किशन** : 5 एम. आई. ए. 432; **मुल्का बनाम टिकायत** : 14 डब्ल्यू आर 24 (पी सी); **सेठ मगनमल बनाम दरबारी लाल** : ए. आई. आर. 1929 पी. सी. 39; **फर्राकुहरसन बनाम बारका** : 14 एम. आई. ए. 259 में इस अधिनियम की धारा 34 तथा 1855 के अधिनियम के अधीन तदनुरूपी उपबंध की व्याख्या करने का अवसर प्राप्त हुआ था।

भारत के उच्चतम न्यायालय को भी इस धारा पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ था। हम पहले ही **सी.बी.आई. बनाम वी. सी. शुक्ला** : ए. आई. आर. 1998 सु. को. 1406 मामले का निर्देश कर चुके हैं।

स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया बनाम समाशनापु कृष्णा राव : (ए. आई. आर. 1995 सु. को. 244) मामले में उच्चतम न्यायालय ने टिप्पणी की थी कि नियमित कारबार के क्रम में रखे गए बही खातों की प्रमाणित प्रति धारा 34 के अधीन अनुज्ञेय है तथा दर्ज किए गए किसी भी ऐसे सारभूत साक्ष्य को, जिससे देनदारी का पता चलता हो, दर्शाने वाले साक्ष्य के तौर पर प्रयोग किया जा सकता है। वह तो एक बैंक का मामला था। अन्यथा सामान्य रूप से न्यायालय में, नियमित कारबार के क्रम में रोजनामचे में की गई प्रविष्टियां बही खाते की सामान्य प्रविष्टियों की तुलना में साक्ष्य की दृष्टि से कहीं अधिक महत्व की हैं। पहले **महाशय बनाम नरेन्द्र** ; ए. आई. आर. 1953 सु. को. 431 मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा था कि जांच की दृष्टि से खाते के खुले पन्नों को उतना महत्व नहीं दिया जाता जितना लेजर में की गई सामान्य प्रविष्टियों को। सामान्यतः लेखा पुस्तकों का कोई विशेष स्वरूप निर्धारित नहीं किया गया है। हालांकि ये पुस्तिकाएं संतोषजनक ही होती हैं क्योंकि दैनिक खाते में नामें और खाते की दैनिक प्रविष्टियां की जाती हैं। लेकिन वह एक नियमित लेखा-बही होनी चाहिए, जिसमें स्थिति स्पष्ट होनी चाहिए तथा किसी लेखे में जिस पक्ष की देनदारी बनती है वह स्वतः उसके खाते में आ जानी चाहिए तथा यह किसी अन्य प्रयोजन के लिए मात्र ज्ञापन नहीं होनी चाहिए। इसलिए, केवल कागजों के खुले पन्ने अनुज्ञेय नहीं हैं तथा किसी अकेली प्रविष्टि से लेखा-बही नहीं बन जाती (जोनस, धारा 575) लेखा बहियां इसलिए रखी जानी चाहिए कि उनमें प्रमाण का उल्लेख न होने पर भी यह साबित होना चाहिए कि उनका प्रमाण सही तरह से रखा जा रहा है : **राम जानकी बनाम जग्गी लाल** : ए. आई. आर. 1971 सु. को. 2551। जहां किसी के अंत में की गई किसी नामे की प्रविष्टि से यह पता चलता हो कि किसी सामान की बिक्री की गई है जिसे छोटे-छोटे शब्दों में तथा स्याही से लिखा गया है तो वह स्वीकार्य नहीं हुआ। **वेंकट मालरूया बनाम रामास्वामी एण्ड कं.** : ए.आई. आर. 1964 सु. को. 818।

एस. बनाम गणेश्वर : ए.आई.आर. 1963 सु.को. 1850 मामले में यह कहा गया था कि लेकिन सुसंगत होते हुए भी प्रविष्टियां अपने आप में किसी व्यक्ति पर देनदारी भारित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। 'क' की लेखा पुस्तक में की गई प्रविष्टि पर यद्यपि उसके अपने पक्ष में साक्ष्य तौर पर 'क' के इस साक्ष्य के साथ विचार किया जा सकता है कि 'क' द्वारा वह राशि 'ख' को दी गई थी। **चन्द्रधर बनाम गोहाटी बैंक** : ए.आई.आर. 1967 सु.को. 1058 मामले में यह निर्णय दिया गया था कि बैंक की लेखा पुस्तकों या उसकी प्रतियों में की गई प्रविष्टियां मात्र किसी व्यक्ति पर देनदारी भारित करने के लिए पर्याप्त नहीं है सिवाय इसके जहां संबंधित व्यक्ति ने प्रविष्टियों के सही होने को स्वीकार किया हो। **दादाराव बनाम राज्य** ए.आई. आर. 1974 सु.को. 388 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विश्वास भंग के तर्क की पुष्टि के लिए, पुस्तक की प्रविष्टियों मात्र सुपुर्दगी का पर्याप्त प्रमाण नहीं है ए.आई.आर. 1974 सु.को. 588।

लेखा पुस्तक में प्रविष्टि के न होने को धारा 5 और धारा 11 के अधीन **स्टेट बनाम श्री गणेश्वर** : ए.आई.आर. 1963 सु.को. 1850 मामले में सुसंगत ठहराया गया था। **स्टेट बैंक ऑफ इंडिया** बनाम **श्यामा गौरामनी सिंह** ए.आई.आर. 1994 सु.को. 1644 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि लेखा पुस्तकों में यदि शाखा प्रबंधक तथा अन्य बैंक अधिकारियों के साक्ष्य से संपुष्ट प्रविष्टियां ऋण के लेन-देन का पर्याप्त प्रमाण हैं।

यहां यह दृष्टव्य है कि बैंककार बही के प्रयोजन के लिए, बैंककार बही, साक्ष्य अधिनियम (19/1889, अधिनियम 12/1900 द्वारा यथा संशोधित) में विशेष उपबंध किया गया है। सूचना और प्रौद्योगिक अधिनियम (21/2000) द्वारा भी उसमें संशोधन किया गया है। **बार्कर बनाम विल्सन** : 1980 (1) डब्ल्यू एल आर 884 के पश्चात्, जो कि बैंककार की बही की 'माइक्रो फिल्म' की प्रयोज्यता के बारे में है। इसे बैंककारी अधिनियम, 1987; न्यास बचत बैंक अधिनियम, 1981 ; बिल्डिंग सोसिएटर्स एक्ट, 1986 द्वारा विधायी स्वीकृति दे दी गई है। बैंककारी बही में अब शामिल हैं (i) खाते; (ii) दैनिक बही;(iii) रोकड़ बही;(iv) लेखा बही; (v) बैंक के सामान्य कारबार में प्रयोग किए जाने वाले अन्य रिकार्ड चाहे उन्हें माइक्रो फिल्म, मैगनीटिक टेप या आंकड़े देखने की अन्य कोई यांत्रिक व्यवस्था के अधीन रखे गए हैं। जहां तक प्रविष्टियों का संबंध है, देखे साथ ही इंडियन कम्पनीज एक्ट (1/1956 की धारा 54), या 7 सी.पी.सी.

इंग्लैंड में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के किसी हास्पिटल द्वारा रखा गया किसी व्यक्ति का मेडिकल रिकार्ड (ब्रिटिश) सांख्यिक साक्ष्य अधिनियम, 1965 की धारा 1(1)(क) के अर्थ के अधीन 'व्यापार या कारबार से संबंधित' कोई रिकार्ड नहीं है (देखें **आर बनाम कैरीडन: 1978**)(2) आल ई.आर. 700(सी ए)। परन्तु उक्त अधिनियम के अधीन लोडिंग तथा कार्गो मेनीफैस्ट के बिलों को कारबार के रिकार्ड करार दिया गया है (**आर बनाम सुलीवन:**) 1978 (2) आल.ई आर. 718 (आई.ए.)।

उपर्युक्त निर्णय जन्य विधि और अन्य पहलुओं को देखते हुए हम नहीं समझते कि धारा 34 में और संशोधन किए जाने की आवश्यकता है। अतः हम 69वीं रिपोर्ट में दिए गए इस निष्कर्ष (देखें 69वीं रिपोर्ट का पैरा 13.27) से सहमत हैं कि 'ऐसे कथनों' शब्दों के स्थान पर 'ऐसी प्रविष्टियां' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं।

धारा 35 :

धारा 35 में, कर्त्तव्य पालन में 'पब्लिक रिकार्ड' में की गई प्रविष्टि की सुसंगति का उल्लेख है। अधिनियम 21/2000 द्वारा यथा संशोधित इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

> ''**धारा 35.** किसी लोक या अन्य राजकीय पुस्तक, रजिस्टर या अभिलेख या इलैक्ट्रानिक अभिलेख में की गई कोई प्रविष्टि जो किसी विवाद्यक या सुसंगत तथ्य का कथन करती है और किसी लोक सेवक द्वारा अपने पदीय कर्त्तव्य के निर्वहन में, या उस देश की, जिसमें ऐसी पुस्तक, रजिस्टर या अभिलेख रखा जाता है, विधि द्वारा विशेष रूप से व्यादिष्ट कर्त्तव्य पालन में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा की गई, स्वयं सुसंगत तथ्य है।''

इस धारा में नीचे कोई दृष्टांत नहीं दिए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट के अध्याय 14 में इस धारा का उल्लेख किया गया है। इसका भाग-एक प्रस्तावना है। भाग-दो में ब्रिटिश विधि, भाग-तीन में, प्रविष्टियों की दो श्रेणियों, भाग-चार में, निर्णय जन्य विधि के संदर्भ में 'दृष्टांतों' का, भाग-पांच में 'अन्य उपबंधों' का उल्लेख तथा भाग-छः में सिफारिश हैं। सिफारिश केवल एक रूप में है अर्थात् यह कि सांविधिक कर्त्तव्य के निष्पादन में की गई प्रविष्टि केवल धारा के उत्तरार्ध पर लागू होती है। धारा 35 के पूर्व भाग के अधीन केवल प्रविष्टि के 'लोक या राजकीय स्वरूप' पर बल दिया है, न कि उसके सांविधिक स्वरूप पर। यह धारा खंड (क) तथा खंड(ख) में विभाजित है, जैसाकि नीचे बताया गया है (देखें उक्त रिपोर्ट का पैरा 14.20)। दूसरे शब्दों में, 'विशेष रूप से व्यादिष्ट' खंड लोक सेवकों के लिए नहीं है।

'लोक सेवक' शब्द को भारतीय दंड संहिता की धारा 21 में परिभाषित किया गया है। प्रविष्टियां किसी लोक सेवक द्वारा या विधि द्वारा व्यादिष्ट किसी व्यक्ति द्वारा की गई होनी चाहिए। 'लोक कृत्यकारियों के कार्यों या अभिलेखों' का उल्लेख धारा 74 में 'लोक दस्तावेजों' के रूप में किया गया है। धारा 34 के अधीन प्रविष्टि विवाद्यक तथ्य या किसी संगत तथ्य के बारे में हो सकती है।

यह धारा इस पूर्व अवधारणा पर आधारित है कि लोक पदधारियों ने किसी राजकीय कर्त्तव्य का निष्पादन सही ढंग से किया हो तथा यह कि सांविधिक रूप से व्यादिष्ट व्यक्तियों द्वारा की गई प्रविष्टियां भी सही ढंग से की गई हों तथा कई वर्षों के अंतराल के बाद, वे व्यक्ति साक्ष्य देने के लिए उपलब्ध न हों। धारा 35 पुस्तक, रजिस्टर या अभिलेख का निर्देश करती है।

जैसाकि निर्णय जनित विधि द्वारा तय कर दिया गया है, भारत से बाहर या विदेशी विधि के अधीन रखा गया लोक रजिस्टर या अभिलेख धारा 35 के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत हैं। कर्त्तव्यों का व्यादेश अधिनियम या नियमों द्वारा किया जा सकता है।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 154 के अधीन ली गई प्रथम सूचना, किसी लोक सेवक द्वारा अपने राजकीय कर्त्तव्य के निर्वहन में की गई प्रविष्टि की श्रेणी में आती है तथा धारा 35 के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आती है, परन्तु वह सारभूत साक्ष्य नहीं है और उसमें जिन तथ्यों का उल्लेख है, उनका साक्ष्य भी नहीं है। इसका प्रयोग केवल पुष्टि के लिए (साक्ष्य अधिनियम की धारा 157) या खंडन के लिए (साक्ष्य अधिनियम की धारा 145) पिछले कथन के तौर पर किया जा सकता है (हसीब बनाम राज्य : ए.आई.आर. 1972 सु.को. 283)।

किसी प्रविष्टि का न होना, धारा 35 के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत नहीं आता लेकिन धारा 9 या धारा 11 के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आ सकता है।

धारा 35 के अधीन प्रिवी काउंसिल ने बहुत से निर्णय दिए हैं। 1977 में 69वीं रिपोर्ट प्रस्तुत किए जाने से पहले और 1997 से 2002 के बीच उच्चतम न्यायालय ने भी बहुत से निर्णय दिए हैं। हम यहां उनका उल्लेख नहीं कर रहे हैं क्योंकि उनमें से कुछ में कतिपय अभिलेखों, रजिस्टरों को सुसंगत बनाने के लिए धारा 35 के उपबंध लागू किए गए हैं और कुछ में नहीं।

इस संबंध में देखें इंग्लिश सिविल साक्ष्य अधिनियम, 1968 (फिप्सन, 15वां संस्करण, 2000, अध्याय 36 और पैरा 44.85, पृष्ठ 1321–1322)।

यह कहना पर्याप्त होगा कि हम 69वीं रिपोर्ट में की गई इस सिफारिश (देखें पैरा 14.20) से सहमत हैं कि धारा 35 में मामूली परिवर्तन करके निम्नलिखित रूप में संशोधन किया जाए :

कर्त्तव्य पालन में की गई लोक अभिलेख या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड की प्रविष्टियों की सुसंगति

''35 किसी लोक या अन्य राजकीय पुस्तक, रजिस्टर या इलैक्ट्रानिक अभिलेख में की गई प्रविष्टि जो किसी विवाद्यक या सुसंगत तथ्य का कथन करती है और किसी—

(क) लोक सेवक द्वारा अपने पदीय कर्त्तव्य के निर्वहन में, या

(ख) उस देश की, जिसमें ऐसी पुस्तक, अभिलेख या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड रखा जाता है, विधि द्वारा विशेष रूप से व्यादिष्ट कर्त्तव्य पालन में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा की गई है,

स्वयं सुसंगत तथ्य है।''

धारा 36 :

धारा 36 'मानचित्रों, चार्टों और रेखाकों' के कथनों की सुसंगति से संबंधित हैं तथा (1948, 1950 में यथा संशोधित) इस धारा का पाठ निम्न प्रकार है:

''**धारा 36.** विवाद्यक तथ्यों या सुसंगत तथ्यों के वे कथन जो प्रकाशित मानचित्रों या चार्टों में जो लोक विक्रय के लिए साधारणत: प्रस्थापित किए जाते हैं या केन्द्रीय सरकार के प्राधिकार के अधीन बनाए गए मानचित्रों या रेखांकों में किए गए हैं, उन विषयों के बारे में, जो ऐसे मानचित्रों, चार्टों या रेखांकों में प्राय: रूपित या कथित होते हैं, स्वयं सुसंगत तथ्य है।''

69वीं रिपोर्ट में सबसे पहले यह बताया गया था (देखें पैरा 14.32) कि 'मानचित्र या रेखाओं या चार्टों' शब्द धारा 36 के पहले तथा दूसरे भाग में आने चाहिए। इस समय की स्थिति के अनुसार, पहले भाग में, जो लोक विक्रय के लिए प्रस्थापित रेखाकों से संबंधित है, वे रेखांक शामिल नहीं किए गए हैं जबकि दूसरे भाग में, जो चार्ट सरकार के प्राधिकार के अधीन बनाए गए हैं, वे सम्मिलित नहीं किए जाते हैं।

दूसरे, यह बताया गया था (देखें पैरा 14.34) कि धारा का आरम्भिक भाग, जो 'विवाद्यक तथ्यों या सुसंगत तथ्यों के कथन' से संबंधित है, बाद वाले भाग, अर्थात 'प्रायः रूपित या कथित होते हैं' के शब्दों से शासित होते हैं तथा इस विचार को समुचित संशोधन द्वारा स्पष्ट रूप से प्रकाशित किया जाना चाहिए।

इस संदर्भ में हम राम किशोर सेन बनाम भारत संघ : ए. आई. आर. 1966 सु. को. 644 और धरमसिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य : 1962 सप्ली. (3) एस. सी. आर. 769 का इस दृष्टि से उल्लेख कर सकते हैं कि यह धारा ऐसे रेखांको या मानचित्रों या चार्टों द्वारा केवल 'प्रायः रूपित या कथित' मामलों की सुसंगति से संबंधित हैं और ऐसे मामलों की सुसंगति से संबंधित नहीं है, यदि ऐसे रेखांक या चार्ट या मानचित्र सरकार और किसी व्यक्ति विशेष के बीच मुकदमेबाजी के विशिष्ट प्रयोजन के लिए तैयार किए जाते हैं।

हम यह भी कहना चाहेंगे कि 1908 की सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 26, नियम 10 के अन्तर्गत स्थानीय जांच पड़ताल करने वाले किसी आयुक्त द्वारा तैयार मानचित्र, अपने आप में एक साक्ष्य है।

हम नहीं सोचते कि 69वीं रिपोर्ट की सिफारिश के दूसरे भाग को स्वीकार करना जरूरी है। इसके अतिरिक्त, 'प्रायः रूपित या कथित' शब्दों की आसानी से विशिष्टियां नहीं दी जा सकती।

इसलिए, हम यह सिफारिश करते हैं कि 69वीं रिपोर्ट में धारा 36 के दोनों भागों में उल्लिखित शब्दों 'मानचित्रों, चार्टों और रेखांकों' की दृष्टि से की गई सिफारिश को स्वीकार कर लिया जाए तथा धारा 36 को निम्नलिखित रूप में पुनः प्रारूपित किया जाए :

मानचित्रों, चार्टों और रेखांको में कथनों की सुसंगतता

"**धारा 36.** विवाद्यक तथ्यों या सुसंगत तथ्यों के वे कथन:—

(क) जो प्रकाशित मानचित्रों, चार्टों या रेखांको में जो लोक विक्रय के लिए साधारणतः प्रस्थापित किए जाते हैं; या

(ख) केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के प्राधिकार के अधीन बनाए गए मानचित्रों, चार्टों, या रेखांकों में किए गए हैं,

उन विषयों के बारे में, जो ऐसे मानचित्रों, चार्टों या रेखांको में प्रायः रूपित या कथित होते हैं, स्वयं सुसंगत तथ्य हैं।"

हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 37 :

धारा 37 कतिपय अधिनियमों या अधिसूचनाओं में अन्तर्विष्ट 'लोक प्रकृति' के तथ्यों के कथनों की सुसंगति के बारे में है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है:

"**धारा 37.** जबकि न्यायालय को किसी लोक प्रकृति के तथ्य के अस्तित्व के बारे में राय बनानी है, तब युनाइटेड किंगडम की पार्लियामेंट के अधिनियम में या किसी केन्द्रीय अधिनियम, प्रान्तीय अधिनियम या राज्य अधिनियम में शासकीय राजपत्र में प्रकाशित किसी सरकारी अधिसूचना या क्राउन रिप्रेजेन्टिटिव द्वारा की गई अधिसूचना में या लन्दन गजट या हिज मेजेस्टी के किसी डोमिनियन, उपनिवेश या कब्जाधीन क्षेत्र का सरकारी राजपत्र तात्पर्यित होने वाले किसी मुद्रित पत्र में अन्तर्विष्ट परिवर्णन में किया गया उसका कोई कथन सुसंगत तथ्य है।"

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव (पैरा 14.43) दिया गया था कि यूके संसद या लंदन गजट या डोमिनियन या क्राउन रिप्रेजेन्टिटिव को निर्देशित करने वाले धारा के सुसंगत भागों को पृथक किया जाए और इन खंडों, "अगस्त, 1947 के 15वें दिन से पूर्व की अवधि के उसी रूप में के संबंध में" से पहले एक खंड जोड़कर उसके अन्तर्गत लाया जाए।

इस सिफारिश को स्वीकार करने में कठिनाई नहीं हो सकती। धारा को तब निम्नलिखित रूप में पुनरीक्षित किया जाए :--

किन्हीं अधिनियमों या अधिसूचनाओं में अन्तर्विष्ट लोक प्रकृति के तथ्य के बारे में कथन की सुसंगति

"37. जबकि न्यायालय को किसी लोक प्रकृति के तथ्य के अस्तित्व के बारे में राय बनानी है तब—

(क) किसी केन्द्रीय अधिनियम, क्षेत्रीय अधिनियम या राज्य अधिनियम में; या

(ख) किसी शासकीय राजपत्र में प्रकाशित सरकारी अधिसूचना में; या

(ग) अगस्त, 1947 के 15वें दिन से पूर्व की अवधि के संबंध में—

(i) यूनाइटेड किंगडम की संसद के किसी अधिनियम में; या

(ii) हिज मेजेस्टी के किसी डोमिनियन, उपनिवेश या कब्जाधीन क्षेत्र के सरकारी गजट या लंदन गजट तात्पर्यित होने वाले किसी मुद्रित पत्र में प्रकाशित सरकारी अधिसूचना में; या

(iii) क्राउन रिप्रेजेन्टिटिव द्वारा शासकीय गजट में की गई अधिसूचना में,

अंतर्विष्ट परिवर्णन में किया गया उसका कोई कथन सुसंगत तथ्य है।"

धारा 38 :

धारा 38 जो "विशेष परिस्थितियों में किए गए कथन" शीर्षक के अधीन अन्तिम धारा है और "विधि की पुस्तकों में अंतर्विष्ट किसी विधि के कथनों की सुसंगति" का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "धारा 38 : जबकि न्यायालय को किसी देश की विधि के बारे में राय बनानी है, तब ऐसी विधि का कोई भी कथन, जो ऐसी किसी पुस्तक में अन्तर्विष्ट है जो ऐसे देश की सरकार के प्राधिकार के अधीन मुद्रित या प्रकाशित और ऐसी किसी विधि को अन्तर्विष्ट करने वाली तात्पर्यित है; और ऐसे देश के न्यायालयों के किसी विनिर्णय की कोई रिपोर्ट जो ऐसे विनिर्णयों की रिपोर्ट तात्पर्यित होने वाली किसी पुस्तक में अन्तर्विष्ट है, सुसंगत है।"

69वीं रिपोर्ट में, इस धारा के संदर्भ में एक प्रसांगिक मुद्दा उठाया था अर्थात् जहां तक "किसी देश की विधि" के बारे में सबूत का संबंध है, न्यायालय को इस धारा में निर्दिष्ट रीति में (या किसी विशेषज्ञ को बुलाकर) सबूत अपेक्षित होगा। परन्तु जहां तक भारत में प्रवृत्त विधि का संबंध है, यह ऐसा विषय है जिसकी न्यायिक अवेक्षा लेने के लिए न्यायालय आबद्ध है और इसे साबित करने की आवश्यकता नहीं है। 69वीं रिपोर्ट में बताया गया है कि भारतीय विधि साक्ष्य का विषय नहीं हो सकती और यह कि यह न्यायालय का कर्त्तव्य है कि वह प्रश्न का विनिश्चय भारतीय विधिक प्रणाली के अनुसार करे और वह विशेषज्ञ द्वारा साक्ष्य या इस धारा के अधीन सबूत का विषय नहीं हो सकता। "सर्वाधिक उपयुक्त साक्ष्य" उद्धृत करना उसे कहा गया था जिसे न्यायालय, बिना सबूत के, देश की "सामान्य विधि" को जानने के लिए आबद्ध है। (धारा 57 भी उन तथ्यों के बारे में कहती है जिनको कोई न्यायालय न्यायिक अवेक्षा लेने के लिए आबद्ध है)।

जहां तक भारतीय न्यायालयों की व्यवस्था के सबूतों का संबंध है, फिर यह साक्ष्य का विषय नहीं है। यह प्राधिकरण का विषय है और विधि रिपोर्ट अधिनियम, 1875 (1875 का अधिनियम 18) के अधीन है, धारा 3 यह उपबंध करती है कि कोई न्यायालय ''किसी राज्य सरकार के प्राधिकार के अधीन प्रकाशित होने वाली रिपोर्ट से भिन्न विधिक रिपोर्ट को सुनने के लिए बाध्य नहीं है।'' (हो सकता है, न्यायालय व्यैक्तिक विधि रिपोर्टों को देखें यद्यपि वह ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं है)।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 14.59 में यह सिफारिश की गई थी कि धारा 38 भारतीय विधि को इसके लागू करने को वर्जित करने में संकीर्ण है और यह कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ''किसी देश'' शब्दों के बाद ''भारत से भिन्न कोई देश'' शब्द जोड़े जाएं। सरकार (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 809) भी इस असंगति का निर्देश करता है अर्थात् धारा 38 का अन्तिम भाग, भारतीय विधि रिपोर्ट अधिनियम की धारा 3 के अनुरूप है।

वेपा पी. सारथी ने अपनी ''साक्ष्य विधि (15वां संस्करण, 2002, पृष्ठ 169)'' में कहा है कि भारतीय न्यायालय, भारतीय विधि की न्यायिक अवेक्षा लेते हैं परन्तु विदेशी विधि के संबंध में इसे धारा के अधीन या विशेषज्ञ बुलाकर न्यायालय के समक्ष साबित करना चाहिए।

फिप्सन ने (15वां संस्करण, 1999, पैरा 2.11) में बताया गया है कि इंग्लैण्ड में न्यायालय, इंग्लैण्ड और आयरलैण्ड में प्राप्त अलिखित विधि (अर्थात् संवैधानिक विधि के अतिरिक्त) प्रत्येक शाखा की न्यायिक अवेक्षा लेते हैं (उच्चतम न्यायालय अधिनियम, 1981 की धारा 10)। वह कहता है कि—

> ''इस प्रकार, यदि सामान्य विधि न्यायालय में, यहां तक कि निर्णायक अधिनियमों के समक्ष, औचित्य या संसदीय, गिरजे संबंधी या नावाधिकरण विधि के प्रश्न उठते हैं तो वे विशेषज्ञों को बुलाकर नहीं बल्कि न्यायालय द्वारा स्वयं अपने ज्ञान या जांच द्वारा या प्राधिकारी को सुनकर और तर्क-वितर्क द्वारा निर्धारित किए गए थे तथापि, स्कॉटिस, उपनिवेशिक या विदेशी विधि न्यायिक रूप से अवेक्षित नहीं है परन्तु किसी तथ्य के रूप में कुशल साक्षियों द्वारा उन देशों के न्यायालयों के उपयुक्त संदर्भ द्वारा, स्कॉटिस् विधि के अतिरिक्त और हाऊस ऑफ लार्ड्स् में उत्तरी आयरलैण्ड की विधि या प्रिवी काउंसिल में औपनिवेशिक विधि जब निचले न्यायालय में साक्ष्य द्वारा साबित किए जाने वाले तथ्य का कोई प्रश्न था, जो न्यायिक रूप से अवेक्षित विधि का कोई प्रश्न हो गया है, साबित होना चाहिए।''

तथापि, इंग्लैण्ड में यूरोपीय आर्थिक समुदाय की विधि एक अपवाद है और इसकी न्यायिक अवेक्षा ली जाती है और यूरोपीय समुदाय अधिनियम, 1972 की अनुसूची 11, भाग-I की धारा 3 के कारण उसे विदेशी विधि नहीं माना जाता है। इसी प्रकार यूरोपीय निर्णय कन्वेंशन, 1968 और 1971 का प्रॉटोकॉल और अभिगमन कन्वेंशन और साथ-साथ इन कन्वेंशनों के संबंध में यूरोपीय न्यायालयों के विनिश्चयों की, सिविल क्षेत्राधिकार और निर्णय अधिनियम, 1982 की धारा 2(1) और 3 के कारण, न्यायिक अवेक्षा ली जाती है।

इंग्लिश सिविल साक्ष्य अधिनियम, 1972 की धारा 4(2) किसी अन्य देश या यूनाइटेड किंग्डम राज्य क्षेत्र के बाहर की विधि के बारे में प्रश्नों का निर्देश करती है।

हम, तद्नुसार, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 14.59 में की गई सिफारिश से सहमत हैं परन्तु ''भारत से भिन्न अन्य कोई देश'' शब्दों की बजाए ''भारत के बाहर'' शब्द उपयुक्त है (जैसा कि 1972 के इंग्लिश अधिनियम में) और ''किसी देश'' शब्दों के बाद जोड़े जायें।

धारा 39 :

यह अकेली धारा है जो ''किसी कथन में से कितना साबित किया जाए'' शीर्षक के अधीन आती है। इसका पाठ निम्नलिखित है (अधिनियम 21/2000 द्वारा यथा संशोधित) :—

> ''**धारा 39** : जब कोई कथन, जिसका साक्ष्य दिया जाता है, किसी वृहत्तर कथन का या किसी बातचीत का भाग है या किसी एकल दस्तावेज का भाग है या किसी ऐसे दस्तावेज में अन्तर्विष्ट है जो किसी पुस्तक का अथवा पत्रों या

कागज-पत्रों की संसक्त आवली का भाग है या इलैक्ट्रानिक अभिलेख के भाग में अन्तर्विष्ट है तब उस कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के उतने का ही, न कि उससे अधिक का साक्ष्य दिया जाएगा जितना न्यायालय उस कथन की प्रकृति और प्रभाव की तथा उन परिस्थितियों को, जिनके अधीन वह किया गया था, पूर्णतः समझने के लिए उस विशिष्ट मामले में आवश्यक विचार करता है।"

एक दिलचस्प चर्चा में, 69वीं रिपोर्ट ने इस विषय पर इंग्लिश और अमेरिकी तत्समान विधि का पुनर्विलोकन किया और इस धारा में कुछ सुधारों का सुझाव दिया। जबकि किसी पक्षकार को "कथन किसी बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली को" उतने तक ही सीमित किया जाए, तब प्रश्न यह है कि क्या "जैसा न्यायालय आवश्यक समझता है" शब्द न्यायालय को विवेकाधिकार प्रदान करता है और यदि ऐसा है, तो किस सीमा तक? अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या विरोधी पक्ष को, कथन इत्यादि की "प्रकृति और प्रभाव" की उचित समझ के लिए संपूर्ण कथन, बातचीत, दस्तावेज इत्यादि को रखने का अधिकार है।

धारा, दो दिलचस्प स्थितियों के संबंध में है अर्थात् (i) यह कि किसी पक्षकार को कथन के अपव्ययी या अग्राह्य भाग, बातचीत इत्यादि को न्यायालय के समक्ष रखने की मंजूरी न दी जाए; और (ii) यह कि उसे कथन के विकृत भागों, बातचीत आदि पर विश्वास नहीं करना है।

प्रस्तावित सुधार का संबंध इस दूसरे पहलु से है और विपक्ष को कोई अधिकार उपलब्ध कराने की आवश्यकता है। टेलर बताता है (धारा 733) कि मौलिक रूप में यदि किसी बातचीत का कोई भाग किसी स्वीकृति के रूप में विश्वास किया जाता है तो विरोधी पक्षकार उस बातचीत का उतने ही के बारे में साक्ष्य दे सकता है जितना मामले को पहले से ही न्यायालय के समक्ष स्पष्ट या अर्हित किया गया है। परन्तु इसके अपवाद भी हैं। सरकार ने (15वाँ संस्करण, 1999, पृष्ठ 814) क्वीन मामले (1820) 2 बी एण्ड बी 297 में मुख्य न्यायाधीश एब्बॉट के विनिश्चय का निर्देश किया है जिसमें विद्वत न्यायाधीश ने बातचीत का निर्देश किया जिसमें वाद का कोई साक्षी किसी एक पक्षकार के साथ था और एक किसी तीसरे व्यक्ति के साथ। प्रथम मामले में, यदि वाद के किसी पक्षकार के साथ बातचीत उसके (पक्षकार) विरुद्ध स्वयं साक्ष्य है तब पक्षकार को न्यायालय के समक्ष संपूर्ण बातचीत रखने का अधिकार है और न कि मात्र उतना ही, जितना कि मामला स्पष्ट या अर्हित पूर्ववर्ती परीक्षण द्वारा प्रस्तुत भाग के साथ उचित रूप में संबद्ध न किए गए मामले, वाद की विषय-वस्तु से संबंधित है। दूसरी ओर, जैसा कि प्रिंस बनाम समो 7 एडी एण्ड ई 627 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि यदि यह किसी गैर-पक्षकार साक्षी का मामला है, जिसने साक्ष्य दिया है तब उसकी वादी के अन्य असंबद्ध दृढ़ कथनों के संबंध के बारे में प्रतिपरीक्षा नहीं की जा सकती।

सरकार (पृष्ठ 814-815) ने बिगमौर (पैरा 2113) को भी उद्धृत करते हुए कहा है कि "प्रतिपक्ष, जिसके विरुद्ध किसी अभिव्यक्ति का कोई भाग रखा गया है, अपनी बारी में, प्राधिकरण के लिए सुरक्षित रखने के उद्देश्य से, कुल परिपक्वता काल और अभिव्यक्ति के प्रभाव की एक पूर्ण सूझबूझ, शेष में रखकर उसे प्रस्तावक को प्रथमतः समस्त रखना चाहिए। परन्तु प्रतिपक्ष के अधिकार के बारे में मतभेद भी हो सकता है और नहीं भी यदि स्वयं को शेष में रखकर केवल कोई भाग रखा गया है।" यह तीन शर्तों के अध्यधीन है, (क) विवाद्यक के असंगत कोई अभिव्यक्ति ग्राह्य नहीं है, (ख) अभिव्यक्ति का कोई शेष भाग, जो उसी विषय से संबंधित है और प्रथम भाग का स्पष्टीकारक है, ग्राह्यीय नहीं है, (ग) इस प्रकार प्राप्त शेष भाग समस्त रूप में अभिव्यक्ति की संरचना में सहायता करता है और स्वयं में परिसाक्ष्य नहीं है।

सरकार (देखें पृष्ठ 815) यह कह कर नार्टन (पृष्ठ 203-204) को उद्धृत करता है कि न्यायाधीश इस प्रकार एक रेफरी है जिसके विनिश्चय के द्वारा दस्तावेज इत्यादि में अंतर्विष्ट कथनों, जिन्हें साक्ष्य में रखा जाएगा, की मात्रा को सीमित

करता है। उसका विवेकाधिकार आज्ञा देने के सिद्धान्त द्वारा इतना मार्गदर्शित होता हैं और केवल उतना ही जितना, ''कथन के प्रभाव की प्रकृति और वे परिस्थितियां जिनके अधीन यह बनाया गया था'', स्पष्ट बनाता है।

69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया है (देखें पैरा 15.10) कि सिद्धान्त को धारा 39 में पर्याप्त रूप से प्रतिबिम्बित किया गया है,

''विरोधी पक्षकार के अधिकारों को शब्द विन्यास के स्पष्ट उपबंध द्वारा धारा को एक तरह से सुधारा जा सकेगा''

रिपोर्ट तब कैलिफोर्निया संहिता की धारा 1854 को निम्नलिखित रूप में उद्धृत करती है :—

''जब किसी कार्य, घोषणा, बातचीत या लेख का भाग किसी पक्षकार द्वारा साक्ष्य में दिया जाता है तब दूसरे पक्षकार द्वारा उस मामले पर पूर्ण जांच पड़ताल करनी चाहिए, इसी प्रकार जब कोई पत्र पढ़ा जाता है तब उसका उत्तर दिया जाना चाहिए और कोई असंबद्ध कार्य, घोषणा, बातचीत या लेख साक्ष्य में दिया जाता है तब अन्य कार्य, घोषणा या बातचीत या लेख को भी, जो इसे ज्ञात करने के लिए आवश्यक है, साक्ष्य में दिया जाना चाहिए।''

मॉनटेना संहिता की धारा 3130 में यह उपबंध है कि :—

''जब किसी कार्य, घोषणा, बातचीत या लेख का भाग किसी पक्षकार द्वारा साक्ष्य में दिया जाता है तब दूसरे पक्षकार द्वारा उस मामले पर पूर्ण जांच पड़ताल करनी चाहिए, इसी प्रकार जब कोई पत्र पढ़ा जाता है तब पक्षकारों के बीच उस मामले पर अन्य सभी सामग्री देनी चाहिए।''

तब 69वीं रिपोर्ट में बताया गया है (देखें पैरा 15.14 और 15.20) कि ऐसा नहीं है मानो धारा 39 न्यायालय को कोई विवेकाधिकार देती है। इसमें ''न्यायालय इसे आवश्यक समझता है'' शब्दों का प्रयोग किया गया है। रिपोर्ट पुलिस डायरियों का निर्देश करती है और तब क्वीन इम्प्रैस बनाम मन्नु (1897) आई.एल.आर. 19 इला. 390(पैरा 15.27) मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ का विनिश्चय, जहां बहुमत ने धारा को कोई विवेकाधिकार देना माना है वहीं न्यायमूर्ति पी. सी. बनर्जी का अल्पमत दृष्टिकोण था कि अभियुक्त का अधिकार था जिसका वह अपने विवेकाधिकार से उपयोग कर सकेगा। अभियोजन द्वारा ''स्मृति ताजा करने'' के लिए 'पुलिस डायरियों' के उपयोग करने की दृष्टि से बिन्दु की परीक्षा करना था।

संहिता (दंड प्रक्रिया संहिता, 1898) की धारा 172 यह उपबंध करती है कि यदि कोई पुलिस अधिकारी अपनी स्मृति ताजा करने के लिए किसी डायरी का उपयोग करता है तब साक्ष्य अधिनियम की धारा 161 को और धारा 145 को भी प्रभावी बनाने के लिए, साक्ष्य अधिनियम लागू होगा। साक्ष्य अधिनियम की धारा 161 का पाठ निम्नलिखित है :—

''**धारा 161 : स्मृति ताजा करने के लिए प्रयुक्त लेख के बारे में प्रतिपक्षी का अधिकार** : पूर्ववर्ती अंतिम दो धाराओं के उपबंधों के अधीन देखा गया कोई लेख पेश करना और प्रतिपक्ष को दिखाना होगा, यदि वह उसकी अपेक्षा करे। ऐसा पक्षकार, यदि वह चाहे, उस साक्षी से उसके बारे में प्रतिपरीक्षा कर सकेगा।''

धारा 145 का पाठ निम्नलिखित है :—

''**धारा 145 : पूर्वतन लेखबद्ध कथनों के बारे में प्रतिपरीक्षा** : किसी साक्षी के उन पूर्वतन कथनों के बारे में, जो उसने लिखित रूप में किए हैं या जो लेखबद्ध किए गए हैं और जो प्रश्नगत बातों से सुसंगत है, ऐसे लेख उसे दिखाए

बिना या ऐसे लेख के साबित हुए बिना, प्रतिपरीक्षा की जा सकेगी, किन्तु यदि उस लेख द्वारा उसका खंडन करने का आशय है तो उस लेख को साबित किए जा सकने के पूर्व उसका ध्यान उस लेख के उन भागों की ओर आकर्षित करना होगा जिनका उपयोग उसका खंडन करने के प्रयोजन से किया जाना है।"

69वीं रिपोर्ट कहती है कि इलाहाबाद मामली में बहुमत ने यह अभिनिर्धारित करते हुए कि न्यायालय को कोई विवेकाधिकार प्राप्त है, साक्ष्य अधिनियम की धारा 161 और धारा 145 का निर्देश नहीं किया। तथापि, रिपोर्ट में सिफारिश की गई है कि धारा 39 में एक उपधारा जोड़ी जाए कि जहां कोई पक्षकार कथन, बातचीत आदि के किसी भाग, यथा उपर्युक्त, जो आवश्यक है साक्ष्य देने में असफल रहता है तब दूसरा पक्षकार उस भाग को साक्ष्य में दे सकेगा।

धारा 39 के विद्यमान परन्तुक "जैसा न्यायालय आवश्यक समझे" को निकाला जाना चाहिए। "न्यायालय को विवेकाधिकार" के स्थान पर "दूसरे पक्षकार को दिया गया विवेकाधिकार" प्रतिस्थापित किया गया है। धारा 39 को दो उपधाराओं में विखंडित किया गया है और पुनरीक्षित धारा 39 की निम्नलिखित रूप में सिफारिश की गई है (रेखांकित शब्द नए हैं) :

"39 : (1) जब कोई कथन, जिसका साक्ष्य दिया जाता है—

(क) किसी वृहत्तर कथन का या किसी बातचीत का भाग है या किसी एकल दस्तावेज का भाग है; या

(ख) किसी ऐसे दस्तावेज में अंतर्विष्ट है जो किसी पुस्तक का अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की संसक्त आवली का भाग है,

तब, उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, पक्षकार जो कथन का साक्ष्य दे रहा है, कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रनिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के उतने का ही, न कि उतने से अधिक का साक्ष्य देगा जितना कि उस कथन की प्रकृति और प्रभाव की तथा उन परिस्थितियों को, जिनके अधीन वह किया गया था, पूर्णत: समझने के लिए उस विशिष्ट मामले में आवश्यक है।

(2) जहां ऐसा पक्षकार किसी कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के किसी भाग का साक्ष्य देने में, यथा उपर्युक्त, जो आवश्यक है, असफल रहता है तब दूसरा पक्षकार उस भाग को साक्ष्य में दे सकेगा।"

हम उपर्युक्त सिफारिश से, अधिनियम 21/2000 के अनुवर्ती और संशोधन के अध्यधीन, जिसके द्वारा प्रस्तावित उपधारा (1) के खंड (ख) में "पुस्तक" शब्द के बाद "या इलैक्ट्रानिक अभिलेख के भाग में अन्तर्विष्ट" जोड़कर और बाद में उसी उपधारा (1) में "दस्तावेज" शब्द के बाद "इलैक्ट्रानिक अभिलेख" शब्द जोड़कर, सहमत हैं। हम यह भी सिफारिश करते हैं कि प्रस्तावित उपधारा (2) में "दस्तावेज" शब्द के बाद "इलैक्ट्रानिक अभिलेख" शब्द जोड़े जाएं।

पुनरीक्षित धारा 39 को निम्नलिखित रूप में पढ़ा जाएगा :—

किसी कथन में कितना साबित किया जाए

जबकि कथन किसी बातचीत, इलैक्ट्रानिक अभिलेखों, दस्तावेज, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली का भाग हो तब क्या साक्ष्य दिया जाए

"39 : (1) जब कोई कथन, जिसका साक्ष्य दिया जाता है—

(क) किसी वृहत्तर कथन का या किसी बातचीत का भाग है या किसी एकल दस्तावेज या किसी इलैक्ट्रनिक अभिलेख का भाग है; या

(ख) किसी ऐसे दस्तावेज में अंतर्विष्ट है जो किसी पुस्तक का भाग है या किसी इलैक्ट्रानिक अभिलेख के भाव में अन्तर्विष्ट है अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की संसक्त आवली का भाग है,

तब, उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, पक्षकार जो कथन का साक्ष्य दे रहा है, कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के उतने का ही, न कि उतने से अधिक का साक्ष्य देगा जितना कि उस कथन की प्रकृति और प्रभाव की तथा उन परिस्थितियों को, जिनके अधीन वह किया गया था, पूर्णत: समझने के लिए उस विशिष्ट मामले में आवश्यक है।

(2) जहां ऐसा पक्षकार किसी कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के किसी भाग का साक्ष्य देने में, यथा उपर्युक्त, जो आवश्यक है, असफल रहता है तब दूसरा पक्षकार उस भाग को साक्ष्य में दे सकेगा।"

धारा 40 से धारा 44 :—न्यायालयों के निर्णय कब सुसंगत हैं

धारा 40 उनका उल्लेख करती हैं जहां किसी द्वितीय वाद या विचारण के वारणार्थ पूर्ववर्ती निर्णय सुसंगत है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"**धारा 40** : किसी ऐसे निर्णय, आदेश या डिक्री का अस्तित्व, जो किसी न्यायालय के किसी वाद के संज्ञान से या कोई विचारण करने से विधि द्वारा निर्धारित करता है, सुसंगत तथ्य है, जबकि प्रश्न यह हो कि क्या ऐसे न्यायालय को ऐसे वाद का संज्ञान या ऐसा विचारण करना चाहिए।"

धारा 40, सिविल मामलों में **पूर्व निर्णय** और आपराधिक मामलों में **प्राग दोषमुक्ति** या **पूर्व दोषसिद्धि** के सिद्धान्त से संबंधित है। धारा पूर्वतर निर्णय, आदेश या डिक्री की सुसंगतता के संबंध में चर्चा यह विनिश्चय करने के लिए करती है कि क्या कोई न्यायालय किसी वाद का संज्ञान ले सकता है या कोई विचारण कर सकता है। तथापि, वे शर्तें, जिनके अधीन कोई पूर्व निर्णय, आदेश या डिक्री किसी सिविल या दंड न्यायालय को किसी वाद का संज्ञान लेने से या विचारण करने से रोकेंगे जो साक्ष्य विधि नहीं है परन्तु वे धारा 10-13 में और सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 2, नियम 2 तथा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 300 के **प्राग दोषमुक्ति** के सिद्धान्त में अन्तर्विष्ट है। वाद की संहिता की धारा 298 किसी पूर्ववर्ती दोषसिद्धि या दोषमुक्ति को साबित करने की पद्धति को निर्धारित करती है। यह नोट किया होगा कि सिविल मामलों में किसी विशेष विवाद्यक का विचारण, जिसका पूर्वतर विनिश्चय किया गया है, वर्जित होगा। यहां तक कि आपराधिक मामलों में, ऐसे निर्णय होंगे जो विचारण को किसी पूरे मामले का नहीं परन्तु किसी विशेष विवाद्यक का, जिसे "विबंध विवाद्यक" के रूप में जाना जाता है, वर्जित करते हैं।

69वीं रिपोर्ट में बताया गया था (देखें पैरा 16.7 से 16.11) कि धारा को वस्तुत: केवल सम्पूर्ण मामले के विचारण या वादों के अलावा विवाद्यक को भी वर्जित करने का निर्देश करना चाहिए। **गुज्जुलाल बनाम फतेह लाल** (1980) आई.एल.आर. 6 कलकत्ता 171, पृष्ठ 190 मामले में पूर्ण पीठ के विनिश्चय और अधिनियम VIII की धारा 2 की उसी प्रकार की त्रुटि, जैसाकि **सूजो मोनी बनाम सद्दा चुंद** 12 बंगाल एल. आर. 304 (पी.सी.) मामले में प्रिवी काउंसिल द्वारा उल्लेख किया था, का हवाला दिया गया था। तारीख 12 मार्च, 1872 को सर जेम्स् के व्याख्यान, जब अधिनियम पुरस्थापित किया गया था, विवाद्यक में सुसंगत तथ्य की सामग्रियों पर पूर्ववर्ती विनिश्चय के बारे में बताता है (देखें सरकार, साक्ष्य, 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 816-817)।

वर्तमान धारा 40 का आशय समान पक्षकारों के निर्णयों का निर्देश (और धारा 41 में विनिर्दिष्ट निर्णयों का नहीं) करना है जिनके लिए सिविल प्रक्रिया संहिता में कोई उपबंध नहीं है।

इस संबंध में **के.जी. प्रेम शंकर बनाम पुलिस निरीक्षक** : 2002(6) स्केल 371 मामले में उच्चतम न्यायालय के हाल ही के निर्णय का हवाला दिया जा सकेगा जो धारा 40, धारा 41, धारा 42 और धारा 43 का और किसी सिविल मामले में, किसी परवर्ती आपराधिक मामले में पूर्ववर्ती निर्णय की संबद्धता का निर्देश करता है।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 16.12 में की गई सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 40 निम्नलिखित रूप में पुनरीक्षित हो--

न्यायालयों के निर्णय कब सुसंगत है

द्वितीय वाद का विचारण के वारणार्थ पूर्व निर्णय सुसंगत है।

"40. किसी ऐसे निर्णय, आदेश या डिक्री का अस्तित्व, जो किसी न्यायालय को किसी वाद या विवाद्यक के संज्ञान से या विचारण करने से या किसी प्रश्न के अवधारण करने से विधि द्वारा निवरित करता है, सुसंगत तथ्य है जबकि प्रश्न यह हो कि क्या ऐसे न्यायालय को ऐसे वाद या विवाद्यक, या ऐसे विचारण या ऐसे प्रश्न का अवधारण, यथा स्थिति, करना चाहिए।"

धारा 41 :

धारा 41 अति विस्तृत और प्रोबेट, वैवाहिक न्यायाधिकरण या दिवालियापन विषयक अधिकारिता में किन्हीं निर्णयों की सुसंगतता के संबंध में है जो किसी व्यक्ति को कोई विधिक हैसियत प्रदान करती है, या जो सर्वतः न कि किसी विनिर्दिष्ट व्यक्ति के विरुद्ध किसी व्यक्ति को ऐसी हैसियत का हकदार या किसी विनिर्दिष्ट चीज का हकदार घोषित करती है, जब किसी ऐसे व्यक्ति के हक या डिक्री को धारा में "निश्चायक सबूत" कहा है। "**सर्वबंधी निर्णय**" शब्दों का धारा में प्रयोग नहीं किया जाता है और सर्वबंधी निर्णय की इंग्लिश धारणा जो धारा 41 में अंतर्विष्ट है, के सर्वसम नहीं है। (देखें 69वीं रिपोर्ट का पैरा 16.29 से 16.31)। प्रवर समिति ने बताया है कि धारा की भाषा **कान्हाई लाल बनाम राधा चूर्ण** : 7 डब्ल्यू. आर. 338 (कलकत्ता) मामले में मु. न्यायमूर्ति सर बार्नेस पीकॉक के निर्णय पर आधारित है। (देखें भारत का गजट, 1 जुलाई, 1871, भाग V, पृष्ठ 273 में प्रवर समिति की रिपोर्ट) (सरकार, 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 827 में उत्कथित)। धारा 41 केवल चार प्रकार के मामलों का निर्देश करती है और धारा, यहां तक कि समाज की शान्ति अपेक्षित है, लोक नीति पर आधारित है अर्थात् सामाजिक प्रतिष्ठा के विषय सतत् संदेह में नहीं छोड़े जाने चाहिएं (टेलर धारा 1676)।

धारा 41 भारत में किसी न्यायालय को ही निर्बंधित नहीं करती परन्तु चार प्रकार की विषय-वस्तु के संबंध में निर्णय देने वाले किसी सक्षम विदेशी न्यायालय को भी सम्मिलित करती है।

सरकार कहता है (वही पृष्ठ 833) कि धारा 41 सेना न्यायालय का स्पष्ट उल्लेख नहीं करती है परन्तु सेना न्यायालय—सेना अधिनियम के अधीन आने वाले सेना न्यायालय से भिन्न के भी अधिनियम के प्रचालन (धारा 1) में सम्मिलित किया गया है।

धर्मजता, दत्तक-ग्रहण या साझेदारी या मानक किराये का निर्धारण तथा इसी प्रकार के प्रश्नों पर निर्णय, जो चार प्रगणित संवर्गों के बाहर हैं, सर्वबंधी नहीं है।

तथापि, 69वीं रिपोर्ट में उन्माद क्षेत्राधिकार पर चर्चा की है और सिफारिश की है (पैरा 16.32) कि चूंकि यह चार प्रगणित संवर्गों में से नहीं है इसलिए, भारतीय उन्माद अधिनियम के अधीन उसके पक्ष में आदेश कोई सर्वबंधी निर्णय नहीं है यद्यपि यह दोनों पक्षकारों और संसर्गियों पर बाध्यकारी हो सकेगा।

तथापि, हम नहीं समझते कि यह वर्गीकरण आवश्यक है । यह औरसता, दत्तक-ग्रहण इत्यादि ऊपर निर्देशित मामलों से भिन्न नहीं है।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 16.33 से 16.37 में "प्रोबेट अस्वीकार करने वाले आदेश" का निर्देश किया है और संप्रेक्षण किया है कि नकारात्मक आदेश धारा 41 के अंतर्गत नहीं आते हैं। **चिन्नास्वामी बनाम हरिहरा बब्बा** (1893) 16 मद्रास 380 के विनिश्चय में संप्रेक्षण कि प्रोबेट अनुदान की अस्वीकृति किसी विल के अधीन निष्पादकों या वसीयतदारों या वृत्तिभोगियों की हैसियत को अलग रखती है और यह निश्चायक नहीं था। **गणेश बनाम रामचन्द्र** (1887) आई.एल.आर. 21 बम्बई 563 और **कल्याण चन्द बनाम सीताबाई** ए.आई.आर. 1914 बम्बई 8(एफ.बी.) मामले में बम्बई उच्च न्यायालय ने विपरीत दृष्टिकोण अपनाया। पहले मामले में उक्त न्यायालय ने अपने प्रोबेट क्षेत्राधिकार में अभिनिर्धारित किया कि विल का निष्पादन

साबित नहीं हुआ था। निर्णय में किसी वाद को, जो उसी आवेदक द्वारा जो विल के अधीन वृत्तिभोगी व्यक्ति था, वर्जित न करना अभिनिर्धारित किया था। न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि :

''प्रोबेट अनुदान की किसी अस्वीकृति का यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिए कि न्यायालय की राय में वसीयतकर्ता की विल असली विल नहीं है।''

दूसरे मामले में प्रोबेट को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया था कि वसीयतकर्ता विकृत चित्त का था। बाद में विधवा, अपने अपकृत्य से निष्पादक के रूप में, विल के अधीन निष्पादकों में से होने का दावा करते हुए प्रतिवादी के विरुद्ध वाद दायर किया। न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि धारा 41 लागू नहीं थी और यह कि किसी न्यायालय का यह निष्कर्ष कि प्रयतित सबूत असफल हो गया है, कोई निर्णय नहीं है और यह कि प्रतिवादी निष्पादक अभी भी विल कर सकेंगे।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 16.37 में, धारा 41 में किसी प्रोबेट अनुदान की अस्वीकृति की इस धारणा पर स्पष्टीकरण की सिफारिश की है। हमारा भी यही मत है कि यह किया जाना चाहिए चूंकि अन्यथा प्रोबेट धारा 41 में बताए गए चार विषयों में से एक विषय होने के कारण तर्क मद्रास उच्च न्यायालय के दृष्टिकोण के पक्ष में जा सकता है।

[सरकार (उपर्युक्त पृष्ठ 830) कहता है कि प्रोबेट कार्यवाहियों में कोई निष्कर्ष कि विल का सम्यक् निष्पादन साबित नहीं किया गया है, विल की सत्यता के बारे में अन्तिम विनिश्चय के रूप में नहीं माना जाना चाहिए और निष्पादकों की ओर से किसी नए आवेदन को, जब वे पर्याप्त सबूत से, **गणेश बनाम रामचन्द्र**, आई.एल.आर. 21 बम्बई 563 मामले का, जिसका हवाला पहले ही दिया जा चुका है, हवाला देकर इसे अवलम्ब देने की स्थिति में है, प्रतिबंधित नहीं करेंगे। **कल्याण बनाम सीताबाई** आई.एल.आर. 38 बम्बई 309 (एफबी) का भी निर्देश किया था]

तदनुसार, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 41 के नीचे निम्नलिखित प्रभाव का एक स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित किया जाए :

''**स्पष्टीकरण** : प्रोबेट अनुदान अस्वीकार करने वाला कोई आदेश धारा के क्षेत्र में नहीं आता है।''

धारा 42 :

यह धारा, धारा 41 में वर्णित से भिन्न निर्णयों, आदेशों या डिक्रीयों की सुसंगति और प्रभाव से संबंधित है और उनको निश्चायक सबूत नहीं बल्कि केवल सुसंगत सबूत घोषित करती है यदि वे लोक प्रकृति के विषयों की जांच की सुसंगतता से संबंधित हैं।

धारा 42 के नीचे ऐसा दृष्टांत है जो 'क' द्वारा 'ख' के विरुद्ध, जिसमें 'ख' द्वारा 'क' की भूमि पर किसी लोक अधिकार के अस्तित्व का अभिकथन किया था, आरोप लगाते हुए किसी वाद का निर्देश करता है। यह तथ्य कि 'क' द्वारा 'ग' के विरुद्ध लाए गए किसी वाद में 'ग' द्वारा किसी लोक अधिकार का दावा करना सुसंगत था न कि रास्ते के अधिकार का निश्चायक सबूत।

यह इंग्लिश विधि से लिया गया एक सिद्धान्त है और सामान्य नियम का एक अपवाद है कि वे व्यक्ति जो किसी निर्णय के पक्षकार या संसर्गी नहीं हैं, उसके द्वारा प्रभावित या पूर्वग्राही नहीं होंगे।

वी. शंकय्या बनाम एन.एस. पत्तादेवन ए.आई.आर. 1995 सु.को. 2187 मामले में उच्चतम न्यायालय ने धारा 42 को पंजीयन के कार्यालय में किसी नामांकन और प्रतिष्ठापन की वैधता के संबंध में एक निर्णय लागू किया था। उस आधार पर किसी देशी राज्य की प्रिवी काउंसिल के हाल ही के निर्णय को धारा 42 के अधीन सुसंगत माना गया था यद्यपि वह निश्चायक नहीं था।

वेपा पी. सारथी (साक्ष्य विधि, 2002, पृष्ठ 173) ने धारा 41 से धारा 44 और धारा 13 के बारे में निम्नलिखित रूप में संक्षेप में बताया है :—

''परिणाम इस प्रकार बताया जा सकेगा, (क) यदि कोई निर्णय धारा 41 के अधीन आता है तो यह तीसरे पक्षकार के विरुद्ध भी सुसंगत और निश्चायक है; (ख) यदि यह धारा 42 के अधीन आता है तो यह तीसरे पक्षकार के विरुद्ध सुसंगत है, और (ग) धारा 40 के अधीन अन्य सभी निर्णय केवल दोनों पक्षकारों या उनके प्रतिनिधियों के बीच सुसंगत है।''

लेखक आगे कहता है :—

> "ऐसे निर्णयों का अस्तित्व अर्थात् (ग) में वर्णित तीसरे पक्षकारों के विरुद्ध सुसंगत होंगे यदि किसी निश्चायक का ऐसा अस्तित्व, कोई विवाद्यक तथ्य या धारा 8 के अधीन कोई हेतु या धारा 13 के अधीन कोई सम्पादन के रूप में सुसंगतता से संबंधित अधिनियम की कुछ धाराओं के अधीन सुसंगत है।"

किसी संव्यवहार, जिसमें कोई अधिकार या रूढ़ि आदि को मान्यता दी गई है के रूप में धारा 13 का संव्यवहार करते समय हम पहले ही निर्णय, जो समान पक्षकारों का नहीं है, की सुसंगतता के बारे में चर्चा कर चुके हैं।

69वीं रिपोर्ट किसी सिविल न्यायालय के किसी निर्णय की किसी आपराधिक मामले और प्रतिक्रमात में सुसंगतता के संबंध में है। श्री सारथी भी धारा 40 से धारा 42 और धारा 13 के भी इस दृष्टिकोण (उपर्युक्त पृष्ठ 173) की चर्चा करते हैं और निम्न प्रकार बताते है :—

> "यदि सिविल न्यायालय का निर्णय धारा 41 या धारा 42 के अधीन आता है तो यह किसी आपराधिक मामले में भी सुसंगत हो सकेगा। परन्तु यदि यह दोनों धाराओं के अधीन नहीं आता है तो यह सुसंगत नहीं हो सकता क्योंकि धारा 40 लागू नहीं हो सकती। धारा 40 का लागू होना, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 300 पर निर्भर करता है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 के अधीन, सिविल न्यायालय का कोई निर्णय कतिपय परिस्थितियों में किसी दूसरे सिविल न्यायालय में सुसंगत है और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 300 के अधीन किसी दंड न्यायालय का कोई निर्णय कतिपय परिस्थितियों में दूसरे दंड न्यायालय में सुसंगत है परन्तु सिविल न्यायालय का निर्णय इन दोनों धाराओं में से किसी के भी अधीन किसी दंड न्यायालय में सुसंगत साक्ष्य नहीं बनता है। किसी निर्णय का अस्तित्व अर्थात् किसी निर्णय में निश्चायक धारा 43 के दूसरे भाग के अधीन, जैसाकि दृष्टांत (घ) द्वारा दर्शाया गया है, सुसंगत होगा।"

प्रतिकूल स्थिति का निर्देश करते हुए लेखक कहता है कि :—

> "किसी दंड न्यायालय का निर्णय धारा 41 या धारा 42 के अधीन नहीं आ सकता। इस प्रकार, दोनों धाराओं के अधीन सुसंगत कभी नहीं हो सकता। धारा 40 के अधीन, जैसाकि ऊपर दर्शाया गया है, किसी दंड न्यायालय का कोई निर्णय केवल किसी दूसरे आपराधिक मामले में ही सुसंगत हो सकता है और किसी सिविल मामले में नहीं। तथापि, किसी दंड न्यायालय के किसी निर्णय का अस्तित्व **धारा 43 के दूसरे भाग के अधीन सुसंगत हो सकेगा।**"

अनिल बहारी बनाम **श्रीमती लतिका बाला** ए.आई.आर. 1955 सु.को. 566 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वसीयतकर्ता (उसके पिता) की हत्या के लिए किसी व्यक्ति को दोषसिद्धि करने वाला किसी दंड न्यायालय का निर्णय किसी प्रोबेट के प्रतिसंहारण की कार्यवाही में निर्वसीयतता के उस तथ्य का सबूत नहीं है। निर्णय केवल यह दर्शाने के लिए सुसंगत था कि वह पुत्र की सजा और दोषसिद्धि के परिणामस्वरूप एक विचारण था। उसके द्वारा हत्या के प्रश्न का विनिश्चय पुनः प्रोबेट अनुदान से संबंधित मामले में किया जाना है।

तथापित, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 के अधीन किसी दंड न्यायालय का निर्णय बाद में किसी सिविल मामले में धारा 13 के अधीन कतिपय तथ्यों को साबित करने के लिए सुसंगत माना गया था (**डीनोबॉनी** बनाम **ब्रजमोहिनी**, आई.एल.आर. 29 कलकत्ता 187)। इस मामले की धारा 13 के अधीन विस्तार से चर्चा की गई है।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 16.47 से सहमत है कि धारा 42 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

69वीं रिपोर्ट में धारा 42क का प्रस्ताव किया गया है परन्तु अन्ततः सिफारिश नहीं की

उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए, प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी आपराधिक मामले में, जो सिविल मामलों में सुसंगत है, निर्णय देने के लिए कोई पृथक उपबंध होना चाहिए। 69वीं रिपोर्ट इस पहलू पर पैरा 16.48 आदि में विचार करती है। 1968 की इंग्लिश संविधि पर भी विचार किया गया था और पैरा 16.67 में यह सुझाव दिया था कि धारा 42क प्रारूपित की जाती है परन्तु अन्ततः यह कहा :

''विचारणीय चर्चा के बाद हमने किसी ऐसे परिवर्तन की सिफारिश न करने का विनिश्चय किया है''

इंग्लैण्ड में , **हॉलिंगटन** बनाम **हीवथॉर्न** 1943(1) के बी 587 मामले में यह विधि भी थी कि पूर्ववर्ती दोषसिद्धि किसी बाद के सिविल मामले में असंबद्ध है। वह मामला दो कारों के बीच टक्कर का था। क्षति के लिए किसी परवर्ती कार्रवाई में पूर्वतम दोषसिद्धि को असंबद्ध माना गया था।

इंग्लैण्ड में, सिविल साक्ष्य अधिनियम, 1968 की धारा 11 और धारा 13 द्वारा सामान्य विधि नियम परिवर्तित कर दिया था। धारा 11, सिविल कार्यवाहियों में साक्ष्य के रूप में दोषसिद्धि से संबंधित है और धारा 12 ''सिविल कार्यवाहियों में जारता और प्रसूति के निष्कर्ष साक्ष्य के रूप में'' से।

69वीं रिपोर्ट में, पैरा 16.59 आदि में यू.के. में 1968 के संशोधन के बाद निर्णय जनित विधि का निर्देश किया था। तब धारा 42क सूत्रबद्ध की गई थी और अन्ततः यह कहा गया था कि ''और चर्चा'' के बाद इसकी सिफारिश नहीं की जा रही थी। धारा 42क को जोड़ने के प्रस्ताव को त्यागने के कोई कारण नहीं दिए गए थे।

अब हम पाते हैं कि यू.के. संशोधन सिविल साक्ष्य अधिनियम, 1995 में लाया गया था और फिप्सन द्वारा (15वां संस्करण, 1999, पैरा 38.78) बताया गया है ''लेकिन विधायिका ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया कि ये उपबंध स्वयं द्वारा पर्याप्त नहीं होंगे''। फिप्सन कहता है (पैरा 38.78) :

> ''बेहतर रूप में चाहे जिस नीति को माना जाए, यह माना जाता है कि उन्हें न्यायालयों द्वारा ग्रहण करने के लिए बोधगम्य कारण हैं और विभिन्न घटक जो इस पैराग्राफ में रेखांकित किए गए हैं, सिद्धान्त के लिए एक संयुक्त मूलाधार का उपबंध करते हैं (जो अभिनिर्णयों की एक विस्तृत शृंखला के संबंध में अभी भी प्रभावी है) जो **हॉलिंगटन** बनाम **एफ. हीवथॉर्न एण्ड कम्पनी लि.** 1943 के बी. 587 मामले में पर्याप्त रूप से उच्चरित नहीं था। विनिश्चयों की हाल ही की आलोचनाओं के बावजूद, जिनके उच्च प्राधिकार हैं, (**हन्टर** बनाम **वेस्ट मिलंड्स का मुख्य कांस्टेबल** 1982 ए.सी. 529, **हॉलिंगटन** बनाम **एफ. हीवथॉर्न एण्ड कम्पनी लि.**) को हुई **चीमिंग** बनाम **आर.** :1992 (1) ए.सी. 34 मामले में प्रिवी काउंसिल द्वारा स्पष्ट प्राधिकारी के रूप में माना था। फलस्वरूप, यह कहना सही है कि यह नियम अभी भी उन सभी मामलों में लागू होता है जो सामान्य विधि अपवादों (नावाधिकरण, वैवाहिक, दिवालियापन आदि) या विभिन्न संविधिक अपवादों के अन्तर्गत नहीं आते हैं।''

इंग्लैण्ड में, संशोधनों के बाद भी, एक भावना है कि नए उपबंध पर्याप्त नहीं हैं और हाउस ऑफ लार्ड्स ने 1982 में तथा प्रिवी काउंसिल ने 1992 में **हॉलिंगटन** की विशुद्धता या उपयुक्तता के संबंध में भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। हमारा मत है कि 69वीं रिपोर्ट ने, पूर्ववर्ती दोषसिद्धियों को बाद के मामलों में ग्राह्य बनाने को प्रस्तावित धारा 42क पर कार्यवाही न करके अच्छा ही किया। हम मामले को उसी पर छोड़ते हैं।

धारा 43 :

धारा 42 पर चर्चा करते समय हमने संक्षिप्त में धारा 43 का निर्देश किया था परन्तु अब हम इसका विनिर्दिष्ट रूप में निर्देश करेंगे। धारा 43, धारा 40 से धारा 42 में वर्णित से भिन्न निर्णय आदि कब सुसंगत हैं, के संबंध में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

> ''धारा 43 : धारा 40, धारा 41 और धारा 42 में वर्णित से भिन्न निर्णय, आदेश या डिक्रियां विसंगत है जब तक कि ऐसे निर्णय, आदेश या डिक्री का अस्तित्व –
>
> विवाद्यक तथ्य न हो, या

वह इस अधिनियम के किसी अन्य उपबंध के अंतर्गत सुसंगत न हो।"

यह धारा, निर्णय जो समान पक्षकारों का नहीं है से संबंधित है। धारा 43 के नीचे छः दृष्टांत हैं। दृष्टांत (क), (ख) और (ग) उन स्थितियों का निर्देश करते हैं जहां कोई पूर्वतम निर्णय किसी बाद के मामले से असंबद्ध है। दृष्टांत (क) उस स्थिति का निर्देश करता है जहां दोनों मामले सिविल प्रकृति के हैं, (ख) किसी पूर्वतम आपराधिक मामले और किसी बाद के सिविल मामले को, और (ग) पुनः किसी पूर्वतम आपराधिक मामले और किसी बाद के सिविल मामले को।

दृष्टांत (घ), (ङ) और (च) उन स्थितियों से संबंधित है जहां कोई पूर्वतम निर्णय किसी बाद के मामले में, अन्यथा धारा 40, धारा 41 और धारा 42 के अधीन, सुसंगत है। दृष्टांत (घ) किसी पूर्वतम सिविल मामले और किसी बाद के आपराधिक मामले का निर्देश करता है, (ङ) किसी पूर्वतम आपराधिक मामले और बाद के किसी आपराधिक मामले से, और (च) जब दोनों पुनः आपराधिक मामले हैं। (घ) में, सुसंगतता इसलिए स्वीकार की जाती है क्योंकि सिविल मामले में पूर्वतम निर्णय का अस्तित्व दर्शाया है कि धारा 8 के अधीन हेतुक बाद के आपराधिक मामले से है, (ङ) में सुसंगतता इसलिए स्वीकार की जाती है क्योंकि "विवाद्यक तथ्य" बाद के मामले में है, (च) में सुसंगतता इसलिए स्वीकार की जाती है क्योंकि पूर्वतम निर्णय धारा 8 के अधीन बाद के मामले में साक्ष्य का हेतुक है।

सरकार स्पष्ट करता है (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 838) की धारा 40 से धारा 42 में अधिनियम ने विनिर्दिष्ट स्थितियों का निर्देश किया है, धारा 40 उन स्थितियों का निर्देश करती है जहां किसी पूर्वतम निर्णय ने किसी बाद के (निर्णय) को वर्जित किया है (सिविल और आपराधिक दोनों मामलों में), धारा 41 उन चार वर्गों में निर्णयों का जहां वे पूरे विश्व के विरुद्ध निश्चायक हैं, धारा 42 किसी लोक प्रकृति के निर्णय का जो बाहरी व्यक्तियों के लिए विधिमान्य हैं, और अब धारा 43 इस साधारण नियम का निर्देश करती है कि अन्य सभी निर्णय जो समान पक्षकारों के नहीं है तब तक असंगत हैं जब तक कि उनका अस्तित्व कोई विवाद्यक तथ्य नहीं है, या अधिनियम के अन्य उपबंधों, जैसाकि धारा 8 जो हेतुक, तैयारी और पूर्व के आचरण में अंतर्विष्ट सुसंगतता के नियम के अधीन सुसंगत हैं, धारा 11 जो यह कहती है कि वे तथ्य जो अन्यथा सुसंगत नहीं है कब सुसंगत है, धारा 13 जब किसी अधिकार या रूढ़ि के अस्तित्व के बारे में प्रश्न है तब कोई निष्पादन या वे विशिष्ट उदाहरण जिनमें अधिकार या रूढ़ि दावाकृत, मान्यकृत आदि है, सुसंगत होती है; धारा 54, स्पष्टीकरण (2), कब पूर्व दोषसिद्धि बुरे शील के साक्ष्य के रूप में सुसंगत है, इत्यादि। ऐसे अपवादीय मामलों में निर्णय जो समान पक्षकारों के नहीं हैं, सुसंगत है। जुग्गुलाल बनाम फेतेहलाल : ए.आई.आर. 6 कलकत्ता 171 मामले में पूर्ण पीठ के बहुमत का दृष्टिकोण है कि कोई निर्णय कोई सम्पादन नहीं हो सकता जो दीर्घकाल तक मान्य न हो।

इस धारा को, एस.पी.ई. मद्रास बनाम के.वी. सुन्दरवेदु ए.आई.आर. 1978 सु.को. 1017; जकती बनाम बोरकर ए.आई.आर. 1959 सु.को. 282 मामलों में उल्लेख किया गया है। भूमि अर्जन मामलों में निर्णय जो समान पक्षकारों के नहीं हैं, सुसंगत है यदि वे संपत्ति की उसी स्थिति से संबंधित है और सुसंगत तारीख को स्पष्टतया निकटवर्ती तारीखों को कीमत निर्धारण अन्तर्विष्ट है। (इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट बनाम एच.नारायणैह ए.आई.आर. 1976 सु.को. 2403)।

खजांची लाल बनाम राज्य : ए.आई.आर. 1979 सु.को. 1080 मामले में, किसी दस्तावेज में, अभियुक्त ने धन की तीन मदों के दुरुपयोग को स्वीकार किया। किसी निर्णय में, दो मदों से संबंधित किसी पूर्व मामले में स्वीकारोक्ति स्वेच्छा से नहीं की गई पाई गई थी और अभियुक्त को बरी कर दिया गया था। तीसरी मद से संबंधित किसी परवर्ती मामले में, उस मामले में और उसके विनिश्चय में विवाद्यक को प्रश्नगत दर्शाते हुए पर्वूतम निर्णय को ग्राह्य अभिनिर्धारित किया गया था। मामले की परिस्थितियों में, दस्तावेज में अंतर्विष्ट स्वीकारोक्ति महत्वहीन पायी गई थी और उससे दोषसिद्धि का एक मात्र आधार नहीं बन सकता था।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 16.71 में यह बताया गया था कि धारा 43 में केवल एक परिवर्तन अपेक्षित है (जो धारा 40, धारा 41 और धारा 42 का निर्देश करता है) और प्रस्तावित धारा 42क का निर्देश किया था। इस पैराग्राफ को सम्मिलित पैरा 16.67 के अन्तिम उप-पैरा के पहले प्रारूपित किया जाना चाहिए था, जो स्पष्टतः कहता है : "विचारणीय चर्चा के बाद हमने ऐसे किसी परिवर्तन की सिफारिश न करने का विनिश्चय किया" (धारा 42क में)। उपर्युक्त पैरा 16.67 के उप-पैरे के बाद,

आयोग को, धारा 43 में निर्देशित धाराओं की सूची में धारा 42क को सम्मिलित करने की दीर्घकालिक आवश्यकता न होने के कारण, पैरा 16.71 को निकाल देना चाहिए।

इसलिए, धारा 43 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

(वास्तव में, धारा 42क के संदर्भ को निकालने के लिए दुर्भाग्यवश पैरा 16.95, 16.97, 16.145, को नहीं चुना गया, 69वीं रिपोर्ट की प्रस्तावित धारा 43क)। 69वीं रिपोर्ट में इस धारा का प्रस्ताव (देखें पैरा 16.72 और 16.73) किसी पूर्वतय निर्णय में अभिवाकों के सार को सुसंगत मानने के लिए किया गया था। यह सिफारिश, सिविल न्याय समिति के सुझाव पर (पृष्ठ 497–501, अध्याय 42, पैरा 2.3), **त्रिपूर्णा सीथापतीराव डोरा** बनाम **रोक्कम वेंकन्ना डोरा** (उद्धरण नहीं दिया गया) मामले में मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णय को समाप्त करने के बारे में सुसंगत अभिवाकों को संक्षिप्त बनाने के आधार पर की थी। सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 20, नियम 24, निर्णय में दिए जाने वाले मामले का संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है और यह सामान्यतया अभिवाकों के सार का रूप लेता है। समिति ने कहा कि : यह देखना कठिन है कि ऐसे कथनों को धारा 35 की सीमा में आना क्यों नहीं माना जा सकता है (डयूटी को पूरा करने में की गई प्रविष्टि की सुसंगतता लोक अभिलेख है)।

हम पाते हैं (देखें सरकार, 15वां संस्करण, पृष्ठ 788–789 में धारा 35 के अधीन) कि कलकत्ता उच्च न्यायालय ने ऐसे किसी अभिवाक् के सार को सुसंगत नहीं समझा, जब 1818 के प्रतिवादी के हक के पूर्वाधिकारी के विरूद्ध किसी वाद में डिक्री में अन्तर्विष्ट मामले में किसी अभिवाक् का संक्षिप्त सार, प्रतिवाद के हक का पूर्वाधिकारी द्वारा की गई स्वीकृति पर विश्वास करने के लिए संक्षिप्त सार स्वीकार किया गया था (**परबुत्ती** बनाम **पूर्णा** आई.एल.आर. कलकत्ता 586 मामले का **भाया** बनाम **पाण्डे** 3 कलकत्ता एल.जे. 521, **थामा** बनाम **कोंदन** आई.एल.आर. 15 मद्रास 378 मामलों में पालन किया गया था) निर्णय में अंतर्विष्ट विरोधी पक्ष के हक का पूर्वाधिकारी द्वारा किसी स्वीकृति को कथन माना, **कृष्णास्वामी** बनाम **राजगोपाल** आई.एल.आर. 18 मद्रास 78 मामले के अनुसार धारा 35 के अधीन साक्ष्य है। **बिहार बोर्ड** बनाम **सदन** ए.आई.आर. 199 पटना 23 मामले में इसका पालन किया था। **गोरखपुर के कलेक्टर** बनाम **रामसुन्दर** ए.आई.आर. 193 पी.सी. 157 (जिसे हम धारा 13 के अधीन उद्धृत कर चुके है) मामले में प्रिवी काउंसिल ने सम्प्रेक्षण किया कि "धारा 35 के इस दृष्टिकोण के लिए कहना बहुत अधिक होगा"। इस दृष्टिकोण का **रामास्वामी** बनाम **सुब्बाराया** ए.आई.आर. 1948 मद्रास 388 और **चन्दूलाल** बनाम **पुष्कर** ए.आई.आर. 1952 नागालैण्ड 271 मामलों में पालन किया गया था।

उपर्युक्त विधि को ध्यान में रखते हुए **त्रिपुर्णा सीथापती राव** के मामले में निर्णय के उपरान्त हमारा मत है कि किसी पूर्वतम सुसंगत निर्णय में अंतर्विष्ट अभिवाकों के सार के गठन के लिए पृथक धारा 43क की आवश्यकता नहीं है। किसी लोक अभिलेख के भाग के रूप में न्यायालय द्वारा तैयार किया गया सार धारा 35 के अधीन सुसंगत है। 69वीं रिपोर्ट में, पैरा 16.72 और 16.73 में निर्णय जनित विधि में उपरोक्त परिवर्तन और प्रिवी काउंसिल के संप्रेक्षण को ध्यान नहीं रखा था। अतः हमारे विचार में, 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 43क आवश्यक नहीं है।

धारा 44 :

इस धारा में कहा गया है कि निर्णय अधिप्राप्त करने के 'कपट या दुर्संधि अथवा न्यायालय की अक्षमता' साबित की जा सकेगी। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"44. वाद या अन्य कार्यवाही का कोई भी पक्षकार यह दर्शित कर सकेगा कि कोई आदेश या डिक्री जो धारा 40, धारा 41 या धारा 42 के अधीन सुसंगत है और जो प्रतिपक्षी द्वारा साबित की जा चुकी है, ऐसे न्यायालय द्वारा दी गई थी जो उसे देने के लिए अक्षम था या कपट या दुर्संधि द्वारा अधिप्राप्त की गई थी।"

69वीं रिपोर्ट में, कतिपय मामलों में अल्पसंख्यक अभिमत का निर्देश करने के पश्चात कि झूठी गवाही का सबूत एक आधार हो सकेगा, उपर्युक्त विचार **कादिरवेगू नैपनार** बनाम **कुप्पुस्वामी नाइकर**, 1919 मद्रास 1044 मामले में न्यायमूर्ति सदाशिव अय्यर के इस निर्देश को ध्यान में रखते हुए स्वीकार नहीं किया गया कि यदि ऐसा सिद्धान्त स्वीकार किया गया, तो भारत में मुकदमों का अन्त नहीं होगा।

हम यह उल्लेख भी कर सकेंगे कि धारा 44 के अधीन 'कपट', बाहरी कपट होना चाहिए, जैसाकि न्यायालय के समक्ष अपना साक्ष्य देने या पक्ष प्रस्तुत करने से किसी पक्षकार को रोकना। इसी प्रकार, किसी पूर्ववर्ती मामले की कार्यवाही में गंभीर उपेक्षा नया वाद दायर करने का कोई आधार नहीं होगा, नाबालिग के अभिरक्षक की अपेक्षा के मामले को छोड़कर जिसके लिए सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 और परिसीमा अधिनियम, 1963 के विशेष उपबंध अन्तर्विष्ट हैं।

69वीं रिपोर्ट में, धारा 44 में प्रस्तावित धारा 44के जोड़े जाने के अतिरिक्त और किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं किया गया है। हम धारा 44 में किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

धारा 44क (69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित रूप में)

69वीं रिपोर्ट में प्रस्ताव किया गया है कि किसी अभिरक्षक या नाबालिग के निकट मित्र की उपेक्षा के कारण नाबालिग के विरुद्ध किसी पूर्ववर्ती निर्णय को अपास्त करने या उसे टालने के आधार के रूप में धारा 44क अन्तःस्थापित की जाए। (यह धारा अन्य प्रकार से अशक्त व्यक्तियों के लिए भी लागू होगी)

उपर्युक्त रिपोर्ट में यह महसूस किया गया था कि किसी नाबालिग या किसी अन्य अशक्त व्यक्ति के किसी वादार्थ अभिरक्षक या निकट मित्र की उपेक्षा के आधार पर किसी निर्णय को अपास्त करने के लिए अभियोग चलाने के अधिकार के बारे में उच्च न्यायालयों के बीच कतिपय मतभेद हैं। यह कहा गया था कि प्रिवी काउंसिल या उच्चतम न्यायालय का इस संबंध में कोई सीधा निर्णय नहीं है (पैरा 16.118क, पैरा 16.120)

रिपोर्ट में, इलाहाबाद उच्च न्यायालय के **ब्रजफातमा** बनाम **महमूद अली**, ए.आई.आर. 1932 इला. 293(एफ.बी.), कलकत्ता के **लल्ली शिव चूरनलाल** बनाम **बाकानन्दन दूबे** (1984) ए.आई.आर. 22 कलकत्ता 8 और **महेश चन्द्र** बनाम **महेन्द्रनाथ** ए.आई.आर. 1941 कलकत्ता 401 (तत्कालीन न्यायमूर्ति बी.के. मुकर्जी द्वारा) दिल्ली में **संतभूषण लाल** बनाम **ब्रजभूषण लाल** ए.आई.आर. 1967 दिल्ली 1413; केरल में **नारायणन** बनाम **गोपालन** ए.आई.आर. 1960 केरल 367 (डी.बी.); लाहौर पूर्ण पीठ में **इफ्तिखार** बनाम **बीन्त सिंह**, ए.आई.आर. 1946 लाहौर 233 (तत्कालीन न्यायमूर्ति मेहर चन्द महाजन के अनुसार); मैसूर में **बोर गौडा** बनाम **नेगाराजू** ए.आई.आर. 1964 मैसूर 8, मामलों में दिए गए निर्णयों का निर्देश किया गया है जिनमें किसी अभिरक्षक या निकट मित्र की उपेक्षा के आधार पर निर्णयों को चुनौती देने के किसी नाबालिग के अधिकार की पुष्टि की गई है क्योंकि धारा पद में ऐसी किसी कार्यवाही या प्रतिरक्षा को निषिद्ध नहीं ठहराया गया है। मेदर्न बनाम **रामक**, आई.एल.आर. 1922 एम 273; **एग्प्पा** बनाम **रामनाथन** ए.आई.आर. 1942 मद्रास 384; कामाक्षमा बनाम बलदेव ए.आई.आर. 1950 पी.ए.टी. 97 (एफ.बी.)

विपरीत दृष्टिकोण **कृष्णदास** बनाम **विठोबा** ए.आई.आर. 1939 बम्बई 66 में अंतर्विष्ट है। हमारे विचार में मात्र कृष्णदास बनाम विठाबा ए.आई.आर. 1939 बम्बई 66 तथा बम्बई के ही दो अन्य मामलों के कारण ही पृथक उपबंध करना उचित नहीं होगा।

69वीं रिपोर्ट में तल्लूरी बेंकट शेशैया बनाम तादीकोंडा कोटिश्वरराव (1936)44 आई. ए. 17 मामले में, उन निर्णयों का निर्देश करते हुए जिनमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि 'घोर उपेक्षा' सदैव ही एक आधार है, प्रिवी काउंसिल के निम्नलिखित दृष्टिकोण का निर्देश किया :

> "उनकी लार्डशिप का तात्पर्य इन निर्णयों की वैधता या उपेक्षा और घोर उपेक्षा के बीच भ्रामक अन्तर के विषय में चर्चा करना नहीं है, क्योंकि वे इस बात से संतुष्ट है कि इन मामलों में अन्तर्ग्रस्त सिद्धान्त ऐसे मामलों के लिए इस प्रकार लागू नहीं होता जैसाकि वर्तमान मामले को। **अपने अभिरक्षकों के उपेक्षापूर्ण कृत्यों के विरुद्ध नाबालिगों की सुरक्षा विशेष बात है।**"

प्रिवी काउंसिल का मामला एक ऐसा मामला था जहां उपेक्षा की समता कपट से नहीं की गई (देखें पैरा 16.119) थी, परन्तु इस मामले में भी स्पष्ट विचार व्यक्त किए गए कि अभिरक्षकों की उपेक्षा एक विशेष मामला है। इसके पश्चात प्रिवी

काउंसिल ने **करीं बापन्ना बनाम सुनकारी,** 45 एम.एल.जे. 324 मामले में कपट के साथ अभिरक्षों की घोर उपेक्षा की समता करने के प्रति अपनी विमति प्रकट की।

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 16.118) ही प्रिवी काउंसिल के **आर्फन बोर्ड बनाम चैन लॉसेन** (1825)1 नैप्प 84 (ए.आई.आर. 1950 पैट 77 में उद्धृत) मामले के रूप में पूर्ववर्ती मामले का निम्नलिखित रूप में निर्देश किया गया है (केप ऑफ गुड होप से) :

> "यदि हिज मैजेस्टी अभिरक्षों की उपेक्षा के बारे में निर्णय करने के लिए इस अपील को खारिज करना चाहती है तो, **नाबालिगों को बालिग होने पर इसे पुनर्जीवित करने का अधिकार प्राप्त होगा। नाबालिगों को उनके अभिरक्षकों की उपेक्षा के कारण कोई हानि नहीं पहुंचाई जा सकेगी।** इसके विपरीत, सिविल विधि के अनुसार, जैसाकि डाइजैस्ट में अधिकथित है, लिब, 41, 1.8, नाबालिगों की यद्यपि उनके अभिरक्षकों द्वारा प्रतिरक्षा नहीं की जाती, बाद में, उनके हेतुक सुने जाने पर, उनके विरुद्ध घोषित निर्णयों से मुक्त किए जा सकेंगे।"

69वीं रिपोर्ट में ही उच्चतम न्यायालय के **बिशुन देव बनाम सियोजेम रे** ए.आई.आर. 1951 सु.को. 280 पृष्ठ 283 (पैरा 23) मामले का निर्देश किया गया है जहां न्यायमूर्ति बोस द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्त स्पष्ट रूप से अपनाया गया है। विद्वत न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि समझौते की डिक्री को चुनौती नहीं दी जा सकेगी और यह कि यदि नाबालिग का पक्ष उचित प्रकार से रखा गया है तो डिक्री नाबालिग के लिए बाध्यकारी होगी :

> "जब तक कि नाबालिग वादार्थ अपने निकट मित्र या अभिरक्षक की ओर से किया गया कपट या की गई उपेक्षा नहीं दर्शाता।"

69वीं रिपोर्ट में ही कहा गया है कि बम्बई उच्च न्यायालय ने कतिपय इंग्लिश मामले का निर्देश किया था जिनका अधिकार नकार दिया गया था परन्तु बड़ी संख्या में ऐसे इंग्लिश मामले भी थे। (ए.आई.आर. 1950 में निदेशित) जो अधिकार के पक्ष में थे और जिनका बम्बई उच्च न्यायालय ने निर्देश नहीं किया।

प्रिवी काउंसिल ने दो मामलों को तथा उच्चतम न्यायालय के निर्णय को ध्यान रखते हुए, बम्बई उच्च न्यायालय के मात्र एक निर्णय के कारण धारा 44 में 'उपेक्षा' को एक पृथक आधार के रूप में सम्मिलित करना आवश्यक नहीं है। हम धारा 44क अन्त:स्थापित किए जाने से सहमत नहीं हैं जैसाकि 69वीं रिपोर्ट के पैरा 16.145 में सिफारिश की गई है।

धारा 45 से 51 :

इन धाराओं में 'अन्य व्यक्तियों की राय कब तक सुसंगत है' के बारे में चर्चा की गई है। धारा 45 में 'विशेषज्ञों की राय' का निर्देश है और इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "45. जबकि न्यायालय को विदेशी विधि की या विज्ञान की या कला की किसी बात पर या हस्तलेख (अंगुली चिन्हों) की अनन्यता के बारे में राय बनानी हो तब तक उस बात पर ऐसी विदेशी विधि, विज्ञान या कला में (या हस्तलेख) (या अंगुली चिन्हों) की अनन्यता विषयक प्रश्नों में विशेष कुशल व्यक्तियों की रायें सुसंगत तथ्य हैं।"
>
> ऐसे व्यक्ति विशेषज्ञ कहलाते हैं।

धारा 45 के नीचे तीन दृष्टांत किए गए हैं, एक 'विष' के बारे में, दूसरा 'चित्त विकृति' के और तीसरा 'हस्तलेख की पहिचान' के बारे में है।

69वीं रिपोर्ट में, विस्तृत चर्चा के उपरांत आयोग ने (पैरा 17.44 में) धारा 45 में पैरों के चिन्ह, हथेली की छाप या टाइपराइटिंग, जैसा भी मामला हो, जोड़ने की तथा इसके अतिरिक्त विशेषज्ञ साक्षी द्वारा सभी पक्षकारों को अपनी रिपोर्ट की प्रति उपलब्ध कराने संबंधी उसके कर्तव्य के बारे में, राय के आधारों के साथ, धारा 45क अन्त:स्थापित करने की सिफारिश की है। यह बात नोट की जा सकेगी कि **स्टेट** (केन्द्रीय जांच ब्यूरो के माध्यम से) **बनाम एस.जे. चौधरी** ए.आई.आर. 1996 सु.को.

1491 मामले में यह अभिनिर्धारित करते हुए कि टाइपराइटिंग के बारे में विशेषज्ञों की परीक्षा की जा सकेगी, विधि आयोग की 69वीं रिपोर्ट से उद्धरण दिया गया।

1859 और 1861 की ब्रिटिश विधियों की भांति, दो अधीनताओं के साथ, 'विदेशी विधि' के बारे में विशेषज्ञ की राय की व्यवस्था करने के लिए धारा 45ख का प्रस्ताव किया गया।

धारा 45 को धारा 11 (जब तथ्य अन्यथा सुसंगत न हो कब सुसंगत हो सकेंगे), धारा 38 (विधि की पुस्तकों में अन्तर्विष्ट किसी विधि के कथनों की सुसंगति), तथा धारा 60 के परन्तुक जिनमें ऐसी परिस्थिति का उल्लेख है जब कोई विशेषज्ञ उपलब्ध न हो तो पुस्तकों से उद्धरण दिए जा सकेंगे, के साथ साथ पढ़ना होगा।

धारा 45 विशेषज्ञ के साक्ष्य के बारे में है, किसी स्वचालित फोटोग्राफ या कम्प्यूटर प्रिन्ट आदि मशीन साक्ष्य के बारे में नहीं।

ब्रिटेन में, विशेषज्ञ साक्ष्य की सुसंगति सिविल साक्ष्य अधिनियम, 1972 में तथा हाल ही के सिविल प्रक्रिया नियम, 1995 में अन्तर्विष्ट है। (न्याय तक पहुंच पर लार्ड वुल्फ की रिपोर्ट पर आधारित) जिससे विशेषज्ञ का यह बाध्यकारी कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी राय बताए, चाहे उसकी परीक्षा किसी भी पक्षकार द्वारा की जा रही हो (एल.पी.आर. पी.सी. 35 आर 3); और आपराधिक मामलों में, पुलिस तथा अपराध साक्ष्य अधिनियम 1984 और दांडिक न्याय अधिनियम, 1988 द्वारा (देखें फिप्सन 15वां संस्करण, 1999, पैरा 37.09);

धारा 45 में "विदेशी विधि, विज्ञान और कला या हस्तलेख अथवा अंगुलियों के निशानों की पहिचान" के बारे में विशेषज्ञों का उल्लेख किया गया है।

फिप्सन ने (15वां संस्करण, 1999, पैरा 37.53 से 37.63) इस सूची में व्यापार की एक और मद को सम्मिलित करा लिया है। उसने कहा है (निर्णय जन्य विधि का निर्देश करते हुए) :

> "वस्तुओं की फुटकर बिक्री के परिणामस्वरूप अपशिष्ट का औसत साबित करने के लिए दुकानदारों का बाजार मूल्य साबित करने के लिए, बाजार के बारे में जानकारी रखने वाले व्यक्तियों की, पूंजीगत हानि साबित करने के लिए लेखाकारों की तथा व्यापारिक शब्दावली का अभिप्राय साबित करने के लिए व्यापारियों की राय स्वीकार्य है। इस प्रकार, यद्यपि, पहले यह संदेहास्पद था परन्तु अब यह सुनिर्धारित है कि सगुही बीमा नीति में यह जानने के लिए कि कौन सा तथ्य सारवान है, निम्नांकनों की राय अब स्वीकार्य हैं। चिकित्सा के क्षेत्र से संबंधित व्यक्तियों की राय यह जानने के लिए स्वीकार्य है कि किसी बीमा प्रस्ताव में क्या व्याधियां हैं।"

तथापि, उसने कहा है :

> "क्या किसी व्यापार का नाम धोखा देने के प्रयोजन से रखा गया है, क्या किसी कार्य को छिपाने के लिए या व्यापार वर्णक अधिनियम, 1968 के अधीन कार्यवाहियों के प्रयोजन से व्यापारकर्ता की राय स्वीकार्य नहीं होगी। क्या व्यापारी को वास्तव में धोखा दिया जाए या दिए जाने की संभावना है, इस प्रश्न पर भी उसकी राय इसी प्रकार अस्वीकार्य होगी।"

यह भी बताया गया है :

> "क्या किसी व्यापार पर नियंत्रण रखने के लिए कोई समझौता न्यायोचित है या नहीं, जहां ऐसा कोई प्रश्न उठता है वहां उस स्वरूप के व्यापार में लगे लोगों द्वारा साक्ष्य दिया जा सकेगा, इसमें सामान्य बात यह है कि इस विषय में विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता होगी परन्तु नियंत्रण के औचित्य अथवा अन्यथा के बारे में उनकी राय अस्वीकार्य होगी।

और

"इसी प्रकार, व्यापार के स्वरूप की परिभाषा तथा व्यापार में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के अर्थ, व्यापार में लगे लोगों के विशेषज्ञ साक्ष्य के अधीन होंगे। व्यापार रूढ़ि या व्यापार प्रथा साबित करने के लिए क्या स्वीकार्य है? इस बारे में पर्याप्त पूर्ववर्ती ज्ञान उपलब्ध है परन्तु यह अधिसंभाव्य है कि कोई भी आधुनिक न्यायालय इन विषयों पर विशेषज्ञ साक्ष्य को अपवर्जित नहीं करेगा जब तक कि प्राधिकरण द्वारा इस विषय पर सीधा ही प्रवारित न किया गया हो और न्यायालय के लिए यह बाध्यकारी हो। आयकर की जांच में, आयुक्त कर सकेंगे परन्तु वे विशेषज्ञ साक्ष्य प्राप्त करने के लिए बाध्य नहीं हैं।"

फिप्सन ने पैरा 37.56 में एक अन्य पहलु "तकनीकी शब्दों" की ओर संकेत किया है। स्थानीय और तकनीकी शब्दों की सदैव विशषेज्ञों द्वारा व्याख्या की जाएगी, जब तक कि वे साधारण पाठकों को भी समान रूप से समझ न आते हों, इस प्रकार इंजीनियर्स की राय यह दर्शाने के लिए स्वीकार्य नहीं होगी कि विधिक योजनाओं में कौन से मामले अंकित किए गए हैं और न ही किस विधि में 'नाम मात्र के भाटक' शब्दों के अर्थ के लिए सर्वेक्षकों तथा नीलामकर्ताओं की राय स्वीकार्य होगी। परन्तु पेटेंट के मामलों में विशेषज्ञों को पर्याप्त अनुभव प्राप्त होता है और उन्हें (1) प्रयोग किए गए तकनीकी शब्दों को स्पष्ट करने; (2) सुसंगत वैज्ञानिक सिद्धान्तों के मामले न्यायालय को अनुदेश देने; (3) अनुदान के समय वैज्ञानिक ज्ञान की स्थिति दर्शाने; (4) किसी आविष्कार के स्वरूप, कार्यकरण, मूल तत्वों और अधिसंभाव्य मशीनों, परिणाम दर्शाने तथा यह बताने के लिए कि विशिष्टियों में क्या प्राचीन है और क्या नवीन और उनसे कितनी वैज्ञानिक प्रगति हुई है; और (5) प्रतिस्पर्धी अविष्कारों में समानताएं तथा अन्तर बताने और यह स्पष्ट करने के लिए कि ये कितने सारवान हैं और कितने महत्वहीन, बुलाया जा सकेगा।

दूसरी ओर :

"वे तथापि, विशिष्टि की संरचना के विषय में या उसमें कोई नवीनता है अथवा नहीं, या प्रतिवादी का अविष्कार वाद के पेटेंट का उल्लंघन करता है या नहीं, साक्ष्य नहीं दे सकेंगे क्योंकि इन मामलों पर निर्णय न्यायालय द्वारा किया जाना है।"

पहिचान के प्रश्नों पर आने में, यह कहा जा सकेगा कि पहिचान की सुसंगति के बारे में धारा 9 में चर्चा की गई है (धारा 112 भी देखें) तथापि, यहां हमारा संबंध विशेषज्ञों की राय और पहिचान के प्रश्नों पर उक्त राय की सुसंगतता से है।

अब, आज व्यक्तियों की पहिचान, फिप्सन के अनुसार (वही पैरा 37.62) विशेषज्ञों के साक्ष्य का विषय है। **अंगुलियों के निशानों** का साक्ष्य इस प्रयोजन से पर्याप्त समय से उपलब्ध रहा है और **रक्त परीक्षण** का साक्ष्य (विशेषकर पैतृक वादों में) कई वर्षों से स्वीकार्य रहा है। हाल के वर्षों में उपयुक्त रूप से अहर विशेषज्ञों द्वारा अन्य प्रकार की वैज्ञानिक प्रक्रियाएं न्यायालय के समक्ष रखी गई हैं। **चेहरे की आकृति** का साक्ष्य स्वीकार्य रहा है, अधिक या कम दोनों ही प्रकार से आधुनिक प्रणाली द्वारा [देखें **आर** बनाम **स्टाकबैल** (1993)97 क्रिम. एफ रिप्रे 260 (सी.ए.) और **आर** बनाम **क्लार्क** (1995)(2) क्रिम. एफ रिप्रे 425 (सी.ए.)]। इसी प्रकार आवाज की पहिचान, इस विषय में निपुण विशेषज्ञ द्वारा, स्वीकार्य है यद्यपि, विशेषज्ञ श्रवणेन्द्रिय संबंधी माप की तुलना में श्रव्य प्रभाव पर निर्भर करते हैं [**आर** बनाम **सब** (1991) 93 क्रिम.एफ. आर.आई.जी.एल. (सी.ए.)]

पशुओं की पहिचान के बारे में भी विशेषज्ञ साक्ष्य दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, ऐसा प्रश्न तब उठ सकेगा जब किसी का पालतू कुत्ता किसी अभियुक्त ने कथित रूप से चोरी कर लिया हो।

डी एन ए साक्ष्य भी एक अन्य साक्ष्य है। हमने धारा 9 में इस विषय में विस्तार से चर्चा की है। यह डी एन ए विश्लेषण द्वारा जेनेटिक्स प्रिंटिंग के रूप में जाना जाता है। देखें **आर बनाम गोरडन** (1995 (1) क्रिम. एफ.रिप्रे. 290) (सी.ए.)। तथापि, इंग्लिश न्यायालय अभी तक "अन्तर्ग्रस्त अधिसंभानाओं को बारे में अनुपूरक विशेषज्ञ साक्ष्य" के विरुद्ध रहा है। (**आर** बनाम **एडम्स** सं. I 1996 (2) क्रिम. एफ रिप्रे 467 (सी.ए.); **आर बनाम एडम्स** सं. II 1998 (1) क्रिम. एफ रिप्रे 377 (सी.ए.)। **आर बनाम दोहनी और एडम्स** 1997 (1) क्रिम. एफ रिप्रे 369 (सी.ए.), मामलों में अपीलीय न्यायालय ने डी एन ए साक्ष्य से संबंधित कार्यवाही के बारे में मार्गदर्शी सिद्धान्त निर्धारित किए हैं (पृष्ठ 374-375 उस मामले के)।

जहां तक डी.एल.ए. का संबंध है, कोई विशेषज्ञ केवल "यदा कदा घटित होने वाले अनुपात" उपलब्ध कराने के बारे में साक्ष्य दे सकता है और यदि उसके (स्त्री या पुरुष) पास आवश्यक आंकड़े उपलब्ध हैं तो उनसे यह दर्शाया जा सकेगा कि

समान डी.एन.ए. तत्वों वाले कितने व्यक्ति ब्रिटेन में या उस सीमित सुसंगत उपवर्ग में पाए जाने की संभावना है जिसका दुष्कर्मी के साथ होने की पूरी संभावना है।अभियुक्त द्वारा अनजाने में छोड़े गए नमूने की संभावना का मूल्यांकन करने के लिए किसी विशेषज्ञ के लिए सांख्यिकिय दृष्टिकोण प्रतिपादित करना उनुपयुक्त है [(आर बनाम दोहनी और एडम्स् 1997 (1) क्रिम. एफ रिप्रे 369 (सी.एम.),]।

डी.एन.ए. साक्ष्य में उस व्यक्ति से, जिसकी पहिचान बाद में अन्तर्ग्रस्त है, प्राप्त होने वाली जन्म संबंधी सामग्री और ज्ञात व्यक्ति से प्राप्त जन्म संबंधी सामग्री के बीच तुलना की जाती है। यदि नमूने परस्पर नहीं मिलते हैं तब ज्ञात व्यक्ति और उस व्यक्ति के बीच, जिसके अज्ञात नमूने प्राप्त हुए हैं, पहिचान साबित नहीं हो सकेगी। यदि नमूने मिल भी जाते हैं तो इसका अभिप्राय यह नहीं होगा कि पहिचान निष्कर्ष रूप में साबित हो गई है। तथापि, कोई विशेष डी.एन.ए. नमूनों के डेटाबेस से एक अनुमानित संख्या निकाल सकेगा कि डी.एन.ए. प्रोफाइल या ''अंगुलियों के निशान'' अकसर कितनी बार एक समान पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए, हो सकता है कि सुसंगत प्रोफाइल प्रत्येक 1,00,000 व्यक्तियों में से 1 व्यक्ति में पाया जाता है : इसे ''यदाकदा घटित अनुपात'' के रूप में वर्णित किया गया है (फिप्सन, 1999, 15वां संस्करण, फरा 14.32)।

डी.एन.ए. जांच कार्य के प्रयोजन से अधिक लाभकारी हो सकेगा न कि किसी न्यायालय में पहिचान के बारे में कोई उपधारणा बनाने में।

इस संबंध में, धारा 9 के बारे में हमारे द्वारा की गई चर्चा में निर्देशित आस्ट्रेलियायी विधि सुधार आयोग की रिपोर्ट का निर्देश उपयोगी होगा। उसमें डी.एन.ए. पर विशेषज्ञ साक्ष्य के बारे में आने वाली समस्याओं का उल्लेख किया गया है। इस संबंध में विधि का अभी विकास हो रहा है।

69वीं रिपोर्ट में धारा 45 के लिए ''पैरों के चिन्ह, हथेली की छाप तथा टाइपराइटिंग'' जोड़ने की सिफारिश के अतिरिक्त हमारे विचार से कुछ और चीजें भी जोड़ी जानी चाहिए। अत: हम धारा 45 में तकनीकी शब्द और व्यक्तियों या जानवरों की पहिचान शब्द जोड़े जाने की सिफारिश का प्रस्ताव करते हैं।

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 45 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जाए :

''जबकि न्यायालय को ..... राय बनानी होती है शब्दों से आरम्भ होकर ''ऐसे व्यक्ति विशेषज्ञ कहलाते हैं'' शब्दों से अन्त होने वाले भाग के लिए निम्नलिखित प्रतिस्थापित किया जाए, अर्थात :—

''जबकि न्यायालय को विदेशी विधि की या विज्ञान या कला या हस्तलेख या अंगुलियों के चिन्हों या पैरों के निशान या, हथेली की छाप या टाइपराइटिंग की अनन्यता या व्यापार की प्रथा या तकनीकी शब्दों या, व्यक्तियों या जानवरों की पहिचान की किसी बात के बारे में राय बनानी हो तो तब उस बात पर ऐसी विदेशी विधि विज्ञान या कला में या हस्तलेख, अंगुलियों के चिन्हों, पैरों के निशानों, हथेली की छाप, टाइपराइटिंग, व्यापार की प्रथा, तकनीकी शब्दों या, व्यक्तियों या जानवरों की अनन्यता, जैसा भी मामला हो, विषयक प्रश्नों में विशेष कुशल व्यक्तियों की राय सुसंगत तथ्य हैं। ऐसे व्यक्ति विशेषज्ञ कहलाते हैं।''

[वर्तमान दृष्टिकोण में किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं है]

69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुसार धारा 45क

हम इस विषय में 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों से सहमत है कि किसी विशेषज्ञ साक्षी को अपनी राय के आधारों सहित अपनी रिपोर्ट की एक-एक प्रति सभी पक्षकारों को उपलब्ध कराना उसका कर्त्तव्य होगा, इस आशय को लेकर धारा 45क अन्त:स्थापित की जानी चाहिए। नि:संदेह यह प्रक्रियात्मक है और इसे सिविल तथा दंड प्रक्रिया संहिताओं में अन्त:स्थापित किया जा सकेगा परन्तु इसके उपरान्त भी, यह साक्ष्य अधिनियम में भी अन्त:स्थापित की जानी चाहिए। विशेषज्ञों की रिपोर्ट सत्यापित होनी चाहिए। इस संबंध में हम न केवल धारा 45क, सुझाए गए रूप में, अन्त:स्थापित करने का प्रस्ताव रखते हैं अपितु हम धारा 45क का विस्तार फिप्सन के पैरा 44.74 में दिए गए ब्रिटेन की 'प्रैक्टिस डायरेक्शनस्, सप्लीमेंटरी सिविल प्रैक्टिस

रूल 35' की पद्धति पर करना चाहते हैं। इंग्लिश विधि के अन्तर्गत विशेषज्ञ को एक ऐसा व्यक्ति समझा जाता है जिसके न्यायालय के प्रति दायित्व हैं और वह केवल उस पक्षकार का साक्षी नहीं है जिसने उसे बुलाया है।

विशेषज्ञ की रिपोर्ट की प्रति दिया जाना

"**45क** (1) न्यायालय की अनुमति के सिवाय कोई साक्षी विशेषज्ञ के रूप में तब तक साक्ष्य नहीं देगा जब तक कि उसकी रिपोर्ट की एक प्रति, उपधारा (2) तथा (3) के अनुसरण में, सभी पक्षकारों को न दे दी गई हो।

(2) किसी विशेषज्ञ की रिपोर्ट न्यायालय को संबोधित की जाएगी, उस पक्षकार को नहीं जिसकी ओर से उसकी परीक्षा की जा रही हैं और न्यायालय की सहायता करना उसका कर्त्तव्य होगा और यह कर्त्तव्य पक्षकार के प्रति, जिसकी ओर से उसकी परीक्षा की जा रही है, किसी भी दायित्व पर अभिभावी होगा।

(3) किसी विशेषज्ञ की रिपोर्ट में :—

(क) विशेषज्ञ की योग्यताओं का विवरण दिया जाना चाहिए;

(ख) उस साहित्य अथवा अन्य सामग्री का विवरण दिया जाना चाहिए जिस पर विशेषज्ञ ने अपनी रिपोर्ट तैयार करने में निर्भर किया हो;

(ग) यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि किसने कोई परीक्षण या प्रयोग किया है जिसका विशेषज्ञ ने रिपोर्ट के लिए उपयोग किया है और क्या परीक्षण या प्रयोग विशेषज्ञ के पर्यवेक्षण के अधीन किया गया था अथवा नहीं और कारण, यदि कोई हो, परीक्षण करने वाले व्यक्ति द्वारा दिए जाने चाहिएं;

(घ) ऐसा कोई परीक्षण या प्रयोग करने वाले व्यक्ति की योग्यताएं दर्शायी जानी चाहिए;

(ङ) रिपोर्ट में उल्लिखित विषयों पर, जहां राय की कोई श्रेणी हो—

(i) राय की श्रेणी संक्षिप्त रूप में; और

(ii) अपनी स्वयं की राय के कारण दिए जाने चाहिएं।

(च) निकाले गए निष्कर्ष का सारांश अन्तर्विष्ट होना चाहिए;

(छ) ऐसा कथन अन्तर्विष्ट होना चाहिए कि विशेषज्ञ न्यायालय के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझता था और उसने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है;

(ज) पक्षकार के, जिसकी ओर से उसकी परीक्षा की जा रही है, सभी सारवान अनुदेशों (लिखित या मौखिक) का सारांश दर्शाते हुए एक विवरण अन्तर्विष्ट होना चाहिए;

(झ) निम्नलिखित रूप में सत्य कथन द्वारा सत्यापित होना चाहिए :

"मैं विश्वास करता हूं कि मैंने रिपोर्ट में जिन तथ्यों का उल्लेख किया है वे सत्य हैं और यह कि मैंने जो राय व्यक्त की है वह सही है"; और

(ञ) इस आशय का कथन अन्तर्विष्ट होना चाहिए कि विशेषज्ञ इस बात के प्रति सावधान है कि रिपोर्ट में यदि विवरण की सच्चाई में दृढ़ विश्वास किए बिना ही कोई झूठा विवरण अन्तर्विष्ट हुआ है तो न्यायालय की अनुमति से और उसके निर्देशों के अधीन अभियोजन की या न्यायालय की अवमानना की कार्यवाही की जा सकेगी।"

धारा 45 ख (69वीं रिपोर्ट द्वारा प्रस्तावित)

विदेशी विधि पर विशेषज्ञों की राय के बारे में 69वीं रिपोर्ट में एक पृथक अध्याय (अध्याय-18) अन्तर्विष्ट है और इसमें ब्रिटेन, अमरीका आदि में और भारतीय विधि में प्रक्रिया का निर्देश किया गया है, उदाहरण के लिए, पराक्रम्य लिखित अधिनियम की धारा 26, क्षमता के बारे में ठेका अधिनियम की धारा 11, विदेशी विधि की संवैधानिकता, विशेषकर भारत के लिए लागू होने वाली ब्रिटिश विधियों (धारा 5, भारत के विधि आयोग की रिपोर्ट, पृष्ठ 45, प्रविष्टि 55 और ब्रिटिश स्टेटस् (भारत के लिए लागू) निसरन अधिनियम, 1900 (1960 का अधिनियम 58)। 69वीं रिपोर्ट में कहा गया है (देखें पृष्ठ 348) :

> "क्या इन्हें (ब्रिटिश विधियां) साक्ष्य अधिनियम में या अन्यत्र सम्मिलित किया जाना चाहिए, ब्यौरे का विषय है, जिसे हम प्रारूपकार के लिए छोड़ते हैं"

69वीं रिपोर्ट में (देखें पृष्ठ 348-49) नई धारा अन्त:स्थापित करने की सिफारिश निम्नलिखित है (18.33, यद्यपि पैरा संख्या नहीं दी गई) :

उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए **हम सिफारिश करते हैं :**

(क) किसी सिविल मामले में, जहां कोई पक्षकार विदेशी विधि का कोई प्रश्न उठाना चाहता है वहां नोटिस दिए जाने की अपेक्षा रखने वाले किसी उपबंध का अन्त:स्थापन;

(ख) हमारी विधि में 1859 और 1861 की ब्रिटिश विधियों के सारांश का समाविष्ट किया जाना;

(ग) विदेशी विधि के बारे में सुसंगत सामग्री देखने का अधिकार प्रदान करने वाले, जहां न्यायालय न्याय के हितों में ऐसा करना आवश्यक समझता है, उपबंध का अन्त:स्थापन।"

यद्यपि धारा 45 विदेशी विधि पर किसी विशेषज्ञ के साक्ष्य का निर्देश करती है, हमारा विचार है कि इस संबंध में प्रक्रिया किसी पृथक धारा में दी जानी चाहिए। वास्तव में, किसी विदेशी विधि के बारे में न्यायालय के निर्णय को विधि का प्रश्न समझा जाता है तथ्य का नहीं।

धारा 45ख और 1859 तथा 1861 की ब्रिटिश विधियों के बारे में हमारी सिफारिश

जहां तक दो उपधाराओं के साथ धारा 45ख जोड़ने के लिए की गई उपर्युक्त सिफारिश का संबंध है, हम 69वीं रिपोर्ट में दिए गए कारणों को दोहराना नहीं चाहते परन्तु हम सिफारिश का पूर्णरूप से समर्थन करते हैं।

जहां तक 1859 और 1861 की ब्रिटिश विधियों का सारांश समाविष्ट करते हुए एक पृथक अधिनियम बनाने की सिफारिश का संबंध है, हमारा यह मत है कि यह आवश्यक है।

हम 69वीं रिपोर्ट में अन्तर्विष्ट 1859 और 1861 की विधियों का संक्षेप में निर्देश करेंगे।

यह विषय भारत के विधि आयोग की पांचवीं रिपोर्ट में पृष्ठ 45 पर प्रविष्टि 55 में अन्तर्विष्ट है। वे दो ब्रिटिश विधियां, जिनके सारांश को हमारी विधि में समाविष्ट करने का प्रस्ताव किया गया है, इस प्रकार है :

(1)ब्रिटिश विधि अभिनिश्चय अधिनियम, 1859

(2) विदेशी विधि अभिनिश्चय अधिनियम, 1861.

फिप्सन ने ब्रिटेन की 1859 तथा 1861 की विधियों का निर्देश किया है (देखें पैरा 37.59) और इनका पाठ निम्नलिखित है :

> "ब्रिटिश विधि अभिनिश्चय अधिनियम, 1859 द्वारा कोई भी मामला हर मैजेस्टी की डोमिनियन के उस भाग की विधि का अभिनिश्चय करने हेतु किसी वरिष्ठ न्यायालय की राय जानने के लिए भेजा जा सकता है (देखें लार्ड बलाग कालविन : 1 डी एण्ड एस 24 (स्काटिश विधि); लॉगिन बनाम प्रिन्सेस् ऑफ कुर्ग : 30 बीव, 632 (हिन्दू विधि)

और विदेशी विधि अभिनिश्चय अधिनियम, 1861 द्वारा कोई भी मामला किसी भी विदेशी राज्य के, जिसके साथ हर मैजेस्टी ने ऐसी विधि के अभिनिश्चय के लिए कन्वेंशन में प्रवेश किया हुआ है, न्यायालय की राय जानने के लिए भेजा जा सकेगा। बाद वाला अधिनियम मृत विधान हो गया है क्योंकि इस संबंध में कभी भी कोई कन्वेंशन नहीं हुई है।''

प्रस्तावित धारा 45ख निम्नलिखित है :

विदेशी विधि साबित करने की प्रक्रिया और न्यायालय की शक्ति :

''**45ख** (1) किसी वाद या अन्य सिविल कार्यवाही का कोई पक्षकार जो किसी विदेशी विधि से संबंधित कोई मामला उठाना चाहता है, अपने अभिवाक् में नोटिस देगा या कोई अन्य न्यायोचित नोटिस देगा।

(2) न्यायालय, किसी विशिष्ट मामले में, विदेशी विधि का प्रश्न अवधारित करने में, पक्षकारों को अधिसूचना जारी करने के पश्चात, साक्ष्य के सहित किसी सुसंगत सामग्री या स्रोत पर विचार कर सकेगा, चाहे वह पक्षकार द्वारा प्रस्तुत किया गया हो अथवा नहीं, और न्यायालय के निर्णय को विधि के प्रश्न पर किया गया निर्णय समझा जाएगा।''

धारा 46 :

यह धारा विशेषज्ञों की राय से संबंधित तथ्यों के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''धारा 46 : वे तथ्य, जो अन्यथा सुसंगत नहीं हैं, सुसंगत होते हैं, यदि वे विशेषज्ञों की राय का समर्थन करते हों या उनसे असंगत हों जबकि ऐसी राय सुसंगत हो।''

इस धारा के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं, दृष्टांत (ख) फोक्स बनाम छड्डुड (1872) 3 डोग, 157 मामले पर आधारित है **जो तटों के निर्माण के कारण अन्य बन्दरगाहों को बन्द करने** के बारे में है। इस साक्ष्य ने विशेषज्ञ का समर्थन किया।

69वीं रिपोर्ट में अध्याय 19 में यह उल्लेख किया गया है कि धारा 46 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम इस विचार से सहमत हैं।

धारा 47 :

इस धारा में हस्तलेख के बारे में राय कब सुसंगत होती है का उल्लेख किया गया है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

''47. जबकि न्यायालय को यह राय बनानी हो कि कोई दस्तावेज किस व्यक्ति ने लिखा या हस्ताक्षरित किया था, जब उस व्यक्ति के हस्तलेख से, जिसके द्वारा वह लिखा या हस्ताक्षरित किया गया अनुमानित किया जाता है, परिचित किसी व्यक्ति की यह राय कि वह उस व्यक्ति द्वारा लिखा या हस्ताक्षरित किया गया था या लिखा या हस्ताक्षरित नहीं किया गया था, सुसंगत तथ्य है।''

स्पष्टीकरण : कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के हस्तलेख से परिचित तब कहा जाता है, जबकि उसने उस व्यक्ति को लिखते देखा है या जबकि स्वयं अपने द्वारा या अपने प्राधिकार के अधीन लिखित और उस व्यक्ति को संबोधित दस्तावेज के उत्तर में उस व्यक्ति द्वारा लिखा हुआ तात्पर्यित होने वाला दस्तावेज प्राप्त किया है, या जबकि कारबार के मामूली अनुक्रम में उस व्यक्ति द्वारा लिखा हुआ तात्पर्यित होने वाला दस्तावेज उसके समक्ष रखा जाता रहा है।

धारा 47 के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है।

69वीं रिपोर्ट में, यह उल्लेख किया गया था कि धारा 47 पर्याप्त रूप से स्पष्ट है और किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

फिप्सन (15वां संस्करण पृष्ठ 999, पैरा 37.33) में भी कहा गया है कि किसी गैर विशेषज्ञ का साक्ष्य तब सुसंगत हो सकता है जबकि उस व्यक्ति को किसी के हस्तलेख के बारे में जानकारी हो, (क) कभी किसी समय उसने उस व्यक्ति को लिखते हुए देखा हो, (ख) लिखित सूचना प्राप्त होने पर, या (ग) सामान्य कारबार के दौरान उन दस्तावेजों को देखा हो जो उस व्यक्ति के हस्तलेख में होने तात्पर्यित हैं।

हम 69वीं रिपोर्ट की इस सिफारिश से सहमत है कि धारा 47 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 47क :

यह धारा 17-10-2000 से प्रभावी 2000 के अधिनियम संख्या 21 द्वारा अन्त:स्थापित की गई है और इसमें कहा गया है कि डिजिटल हस्ताक्षरों के बारे में राय कब सुसंगत होगी। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"47क. जब न्यायालय को किसी व्यक्ति के डिजिटल हस्ताक्षरों के बारे में राय बनानी हो, तब प्रमाणकर्ता प्राधिकारी की राय, जिसने डिजिटल हस्ताक्षर प्रमाण-पत्र जारी किया है, सुसंगत तथ्य है।"

यहां हम धारा 4 का निर्देश कर सकेंगे जिसमें कहा गया है कि "प्रमाणकर्ता प्राधिकारी", "डिजिटल हस्ताक्षर", "डिजिटल हस्ताक्षर प्रमाण-पत्र" का वही अर्थ होगा जो इन शब्दों को 'सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000' में दिया गया है।

इस नई धारा में भी और कोई संशोधन आवश्यक नहीं है।

धारा 48 :

इस धारा में कहा गया है कि "अधिकार या रूढ़ि के अस्तित्व के बारे में राय कब सुसंगत हैं"। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"48. जबकि न्यायालय को किसी साधारण रूढ़ि या अधिकार के अस्तित्व के बारे में राय बनानी हो, जब ऐसी रूढ़ि या अधिकार के अस्तित्व के बारे में उन व्यक्तियों की राये सुसंगत हैं जो यदि उसका अस्तित्व होता तो उसे जानते होते।

स्पष्टीकरण : 'साधारण रूढ़ि या अधिकार' के अन्तर्गत ऐसी रूढ़ियां या अधिकार आते हैं जो व्यक्तियों के किसी काफी बड़े वर्ग के लिए सामान्य हैं।"

धारा 48 के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है।

इसका पाठ निम्नलिखित है :

"किसी विशिष्ट ग्राम के निवासियों का अमुक कूप के पानी का उपयोग करने का अधिकार इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत साधारण अधिकार है।"

69वीं रिपोर्ट के अध्याय 19 में धारा 48 और धारा 49 के लिए धारा 32(4) का निर्देश किया गया है जो रूढि या प्रथा के मामलों में साक्ष्य से संबंधित है तथा यह कहा गया है कि इन धाराओं में प्रयुक्त शब्दावली में थोड़ा सा अन्तर है। धारा 32(4) लोक अधिकारों या रूढि या साधारण हित का निर्देश करती है जबकि धारा 48 साधारण रूढ़ि या अधिकार का (स्पष्टीकरण के साथ) और धारा 49 में (मनुष्यों के किसी निकाय या कुटुम्ब की प्रथाओं और सिद्धान्तों का) निर्देश है। 69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि धारा 32(4) में प्रयुक्त शब्द व्यापक हैं अर्थात, लोक अधिकार या रूढ़ि या लोक या साधारण हित के विषय, और इसे धारा 48 में, जो साधारण अधिकार तथा साधारण रूढ़ि का निर्देश करती है, लाया जाना चाहिए क्योंकि धारा 48 को धारा 32(4) की तुलना में अधिक विस्तृत बनाने का विचार नहीं किया गया होगा।

इसका परिणाम धारा 48 का निम्नलिखित पुनर्प्रारूपण होगा :

अधिकार या रूढ़ि के बारे में राय कब सुसंगत है :

"**48.** जबकि न्यायालय को किसी साधारण या लोक अधिकार या रूढ़ि या साधारण या लोक हित के विषय के अस्तित्व के बारे में राय बनानी हो, तब ऐसे अधिकार या रूढ़ि या ऐसे विषय के अस्तित्व के बारे में, जैसा भी हो, उन व्यक्तियों की रायें सुसंगत होंगी जो यदि उसका अस्तित्व होता तो उसे जानते होते।

स्पष्टीकरण : साधारण या लोक अधिकार या रूढ़ि या साधारण या लोक हित के विषय के अन्तर्गत वे रूढ़ियां या अधिकार या विषय आते हैं जो किसी काफी बड़े वर्ग के लिए सामान्य हैं।"

दृष्टांत :

"किसी विशिष्ट ग्राम के निवासियों का अमुक कूप के पानी का उपयोग करने का अधिकार इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत साधारण अधिकार है ।"

हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 49 : इस धारा में कहा गया है कि प्रथाओं, सिद्धांतों आदि के बारे में राय कब सुसंगत होती है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है:

"49. जबकि न्यायालय को—

मनुष्यों के किसी निकाय या कुटुम्ब की प्रथाओं और सिद्धांतों के,

किसी धार्मिक या खैराती प्रतिष्ठान के संविधान और शासन के, या

विशिष्ट, जिनमें विशिष्ट वर्ग के लोगों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले शब्दों या पदों के अर्थों के,

बारे में राय बनानी हो, तब उनके बारे में ज्ञान के विशेष साधन रखने वाले व्यक्तियों की राय सुसंगत तथ्य है।"

69वीं रिपोर्ट के अध्याय 19 में यह कहा गया है कि इस धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इस विचार से सहमत हैं।

धारा 50 :

इस धारा में कहा गया है कि एक व्यक्ति की किसी अन्य के साथ नातेदारी के बारे में राय, ऐसी नातेदारी के अस्तित्व के बारे में ऐसे किसी व्यक्ति के आचरण द्वारा अभिव्यक्त राय, जिसके पास कुटुम्ब के सदस्य के रूप में या अन्यथा उस विषय के संबंध में ज्ञान के विशेष साधन हैं, सुसंगत तथ्य है।

परन्तु भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, 1869 (1869 का अधिनियम 4) के अधीन कार्यवाहियों में या भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 494, 495, 497 या 498 के अधीन अभियोजनों में ऐसी राय विवाह साबित करने के लिए पर्याप्त नहीं होगी।

धारा 50 के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था कि (देखें अध्याय 19) इस समय विद्यमान परन्तुक में केवल भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, 1869 का निर्देश है। तब से अब तक विवाह विच्छेद का अधिकार बहुत सी कुटुम्ब विधि प्रणालियों में सम्मिलित कर लिया गया है और यह कि इसलिए, "या विवाह विच्छेद का उपबंध करने वाली किसी अन्य

अधिनियमिति'' शब्द जोड़े जाने आवश्यक हैं, और जहां तक उपबंध में निर्देशित अभियोजन का संबंध है, तो भी ''या द्वि विवाह के लिए दंड का उपबंध करने वाली किसी अन्य अधिनियमिति के अधीन'' शब्द जोड़ना आवश्यक होगा।

सरकार (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 959) ने कहा है कि ''विधानमंडल के विरुद्ध ऐसी उपधारणा है कि वह सभी विद्यमान विधियों के पूर्ण ज्ञान के साथ विधियां अधिनियमित करता है और धारा 50 में भारतीय दंड संहिता की धारा 304ख और 498क के अनुरूप संशोधन करने में विफल रहना यह दर्शाता है कि इसका आशय वर्तमान विधान का निरसन करना नहीं था'' [**चाड्डे रामाराव बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य** (1990) क्रिम.एल.जे. 1666 या 1671 (ए.पी.)]।

यह देखा जा सकेगा कि धारा 50 के परन्तुक का तात्पर्य यह था कि जहां पक्षकार विवाह साबित करना चाहता है, वह किसी व्यक्ति के आचरण द्वारा व्यक्त की गई राय पर निर्भर नहीं कर सकता। प्रारूपित धारा के दो भाग हैं, (क) कतिपय सिविल कार्यवाहियों से संबंधित जहां विवाह विच्छेद की मांग की गई है—जिसके लिए सर्वप्रथम विवाह का होना आवश्यक है, और (ख) कतिपय दंडात्मक कार्यवाहियों से संबंधित मामलों में भी यह साबित करने के प्रयोजन से कि द्विविवाह, व्यभिचार आदि कतिपय अपराध किए गए थे, पहले विवाह हुआ साबित करना पड़ेगा।

69वीं रिपोर्ट में दिए गए सुझाव के ध्यान कि विवाह विघटन से संबंधित अन्य विधियों का निर्देश करने वाला खंड या द्विविवाह के लिए दंड का उपबंध करने वाली अन्य विधियों का निर्देश करने वाला खंड जोड़ा जाए, हमारा विचार है कि दोनों खंडों को समाविष्ट करने वाला एक सामान्य खंड प्रारूपित किया जा सकता है। वास्तव में, विवाह विघटन या द्विविवाह के मामलों के अतिरिक्त भी ऐसी परिस्थितियां हो सकती है जबकि किसी व्यक्ति पर विवाह साबित करने का दायित्व होगा। यदि आचरण द्वारा राय पर्याप्त नहीं होगी तो यह सिद्धांत ऐसे सभी मामलों के लिए लागू होना चाहिए जहां सर्वप्रथम विवाह साबित करना होता है। इस धारा को केवल विवाह विघटन या द्विविवाह के मामलों तक सीमित रखना ठीक नहीं है।

हम सिफारिश करते हैं कि इस धारा के परन्तुक को निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए :

''परन्तु यह कि ऐसी राय किसी ऐसी सिविल या दांडिक कार्यवाही के लिए पर्याप्त नहीं होगी जहां किसी व्यक्ति को यह साबित करना हो कि विवाह हुआ था।''

धारा 51 :

यह धारा 'राय के आधार कब सुसंगत है' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''51. जब कभी किसी जीवित व्यक्ति की राय सुसंगत है, तब वे आधार भी जिन पर वह आधारित है, सुसंगत हैं।''

धारा 51 के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है जिसका पाठ निम्नलिखित है :

''कोई विशेषज्ञ अपनी राय बनाने के प्रयोजनार्थ किए हुए प्रयोगों का विवरण दे सकता है।''

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। इसके साथ ही हमने धारा 45क में पहले ही यह सिफारिश की है कि किसी विशेषज्ञ को अपनी रिपोर्ट में उसकी राय के कारण भी अन्तर्विष्ट होने चाहिए।

हम इस बात से सहमत है कि धारा 51 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 52 से धारा 55 :

ये धाराएं शील की सुसंगति से संबंधित हैं और साथ-साथ चलती हैं।

.....।

धारा 52 :

यह धारा ऐसे प्रश्न का निर्देश करती है जब सिविल मामलों में अध्यारोपित आचरण साबित करने के लिए शील सुसंगत या विसंगत होता है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"52. सिविल मामलों में यह तथ्य कि किसी सम्पृक्त व्यक्ति का शील ऐसा है जो उस पर अध्यारोपित किसी आचरण को अधिसंभाव्य या अनधिसंभाव्य बना देता है, विसंगत है वहां तक के सिवाय जहां तक कि ऐसा शील अन्यथा सुसंगत तथ्यों से प्रकट होता है।"

धारा 146(3) तथा धारा 155(4) भी शील की सुसंगति से संबंधित है परन्तु ये धाराएं किसी साक्षी के शील के बारे में हैं।

जहां तक साक्ष्य अधिनियम की धारा 155(4) का संबंध है, विधि आयोग ने अपनी 172वीं रिपोर्ट में इस उपधारा को निकाल देने की सिफारिश की थी। उक्त सिफारिश के अनुसरण में संसद ने धारा 155(4) का लोप करते हुए भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 4) अधिनियमित किया है। तथापि, हम देखते हैं कि उसी संशोधन के अधीन धारा 146 के खंड (3) के नीचे एक निम्नलिखित परन्तुक अन्तःस्थापित किया गया है:

"परन्तु यह कि बलात्संग या बलात्संग के प्रयास के अभियोजन में, अभियोक्त्रि से प्रतिपरीक्षा में उसके साधारणतः व्यभिचारिणी होने के बारे में प्रश्न पूछने की अनुमति नहीं होगी।"

सरकार (वही, पृष्ट 963) ने कहा है कि धारा का अन्तिम भाग शील को सुसंगत बनाता है. यदि तथ्य उसे सुसंगत बनाते हों और ये अपवाद निम्नलिखित हैं :

(1) मानहानि, विलुब्ध करने, वायदा खिलाफी तथा व्यभिचार जैसे मामलों में नुकसानी पर प्रभाव डालने वाला शील (देखें धारा 55 और धारा 12)।

(2) अभियुक्त का शील (धारा 53 और 54)।

(3) अभियोक्त्रि का शील (देखें धारा 155(4) और धारा 54)। (यहां यह बात नोट की जा सकेगी कि विधि आयोग ने 172वीं रिपोर्ट में धारा 155(4) को निकाल देने की सिफारिश की है)।

(4) साक्षी का शील (धारा 146, 153, 155)।

(5) जानवरों, स्थानों और वस्तुओं का शील।

(6) मस्तिष्क को प्रभावित करने वाला शील।

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि (देखें अध्याय 20 पृ. 555) धारा 52 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम भी इस बात से सहमत हैं कि धारा 52 में कोई संशोधन आवश्यक नहीं है।

धारा 53 :

धारा 53 और धारा 54 दांडिक मामलों में शील के सुसंगत होने से संबंधित हैं और परस्पर संबद्ध हैं। धारा 53 दांडिक मामलों में पूर्वतन अच्छे शील के सुसंगत होने के बारे में है जबकि धारा 54 'उत्तर में' बुरा चरित्र सुसंगत होने का निर्देश करती है।

धारा 53 का पाठ निम्नलिखित है:-

"धारा 53 : दांडिक कार्यवाहियों में यह तथ्य सुसंगत है कि अभियुक्त व्यक्ति अच्छे शील का है।

स्पष्टीकरण 1 : यह धारा उन मामलों में लागू नहीं है जिनमें किसी व्यक्ति का बुरा शील स्वयं विवाद्यक तथ्य है।

स्पष्टीकरण 2 : पूर्व दोषसिद्धि बुरे शील के साक्ष्य के रूप में सुसंगत है।"

69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया था (पृष्ठ 357) कि धारा 53 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 53क (प्रस्तावित रूप में) :

172वीं रिपोर्ट के पैरा 5.38.1 में विधि आयोग ने निम्नलिखित रूप में धारा 53क अन्त:स्थापित करने की सिफारिश की थी :

"53क. धारा 376, 376क, 376ख, 376ग, 376घ और 376ङ के अधीन किसी अपराध के या ऐसे अपराध करने के प्रयास के अभियोजन में, जहां सम्मति का प्रश्न विवाद्यक है, पीड़ित व्यक्ति के शील का साक्ष्य या किसी व्यक्ति के साथ उसका (पुरुष/स्त्री) लैंगिक अनुभव ऐसी सम्मति या सम्मति की क्वालिटी के प्रश्न पर सुसंगत नहीं होगा।"

यह बात भी नोट की जा सकेगी कि भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 4) धारा 146(3) में एक निम्नलिखित परन्तुक जोड़ दिया गया है :

"परन्तु यह कि बलात्संग या बलात्संग के प्रयास के अभियोजन में, अभियोक्त्री से प्रतिपरीक्षा में उसके साधारणत: व्यभिचारिणी होने के बारे में प्रश्न पूछने की अनुमति नहीं होगी।"

उपर्युक्त संशोधन केवल भारतीय दंड संहिता की धारा 376 से संबंधित प्रतीत होता है । 172वीं रिपोर्ट में जिस संशोधन का प्रस्ताव किया गया है वह महिलाओं के विरुद्ध ऐसे अन्य लैंगिक अपराधों के लिए भी लागू होता है जहां सम्मति सुसंगत तथ्य है और प्रश्न यह उठता है कि उसकी (स्त्री) सम्मति साबित करने के लिए किस प्रकार का साक्ष्य अनुज्ञेय होगा। परन्तु इस रिपोर्ट को अभी विधि के रूप में क्रियान्वित नहीं किया गया है।

उपर्युक्त प्रस्तावित धारा 53क 2003 के अधिनियम 4 द्वारा पुर:स्थापित धारा 146(3) के परन्तुक की तुलना में अधिक व्यापक है। हम सिफारिश करते हैं कि धारा 53क, उपर्युक्त उद्धृत रूप में धारा 53 के पश्चात् धारा 376ङ के निर्देश का लोप करते हुए (जो अभी तक भारतीय दंड संहिता में समाविष्ट नहीं की गई है) अन्त:स्थापित की जाए।

172वीं रिपोर्ट में भारतीय दंड संहिता की धारा 376ङ का निर्देश किया गया है। इसलिए, हम इस समय धारा 376ङ का लोप करने की सिफारिश कर रहे हैं परन्तु जैसे ही रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 376ङ भारतीय दंड संहिता में पुर:स्थापित की जाएगी तब यह उपबंध धारा 53क में भी जोड़ा जाएगा।

हम निम्नलिखित रूप में धारा 53क अन्त:स्थापित करने की सिफारिश करते हैं—

"पीड़ित का शील कतिपय मामलों में सुसंगत नहीं होगा

"53क. धारा 376, 376क, 376ख, 376ग, 376घ और 376ङ के अधीन किसी अपराध के या अपराध करने के प्रयास के अभियोजन में जहां सम्मति का प्रश्न विवाद्यक है, पीड़ित व्यक्ति के शील का साक्ष्य या किसी व्यक्ति के साथ उसका (स्त्री/पुरुष का) लैंगिक अनुभव, ऐसी सम्मति या सम्मति की क्वालिटी के प्रश्न पर सुसंगत नहीं होगा।"

धारा 54 : इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

"54. दोडिक कार्यवाहियों में यह तथ्य कि अभियुक्त व्यक्ति बुरे शील का है, विसंगत है, जब तक कि इस बात का साक्ष्य न दिया गया हो कि वह अच्छे शील का है, जिसके दिए जाने के पश्चात् वह सुसंगत हो जाता है।"

जहां तक धारा 54 का संबंध है, यह कहा गया है (देखें पृष्ठ 357) कि धारा के सार को अक्षत रहने दिया जाना चाहिए परन्तु कतिपय विवरणों के बारे में संशोधन आवश्यक है क्योंकि "जब तक कि इस बात का साक्ष्य न दिया गया हो कि वह अच्छे शील का है" शब्द अभियोजन पक्ष के साक्ष्य या प्रतिवादी के साक्ष्य की प्रतिपरीक्षा के दौरान सामने आ सकते हैं (देखें साक्ष्य अधिनियम की धारा 140 और दंड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 315)।

(तथापि, हम यह कह सकते हैं कि अध्याय 19 के अधीन एक वारंट मामले में और दंड प्रक्रिया संहिता के अध्याय 18 के अधीन सेशन के विचारण में, अभियुक्त जब अपनी प्रतिरक्षा में अच्छे शील का साक्ष्य देता है तब अभियोजन पक्ष, अधिकार स्वरूप, उसके खंडन में साक्ष्य नहीं दे सकता परन्तु न्यायालय को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 116(4) के अधीन खंडन करने वाला साक्ष्य प्रस्तुत करने की अनुमति दे सकेगा जैसाकि **रामास्वामी** बनाम रामालिंगा ए.आई.आर. 1930 मद्रास 448 मामले में कहा गया है। यह तथ्य कि कोई व्यक्ति अभ्यासिक दोषसिद्धि अपराधी है उसकी सामान्य ख्याति के साक्ष्य से या अन्यथा साबित किया जा सकेगा। किसी पूर्वतन दोषसिद्धि का साक्ष्य दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 109 के अधीन सुसंगत है (देखें सरकार 1999, 15वां संस्करण 976, 977)।

प्रतिपरीक्षा में या खंडन करने के साक्ष्य में पूछे जाने वाले प्रश्न के स्वरूप के विषय में **आर.** बनाम **मैक्क लावर्ड** 1994(3) इला. ई. आर. 234 मामले में विभिन्न मार्गनिर्देश जारी किए गए हैं।

पूर्वतन दोषसिद्धि धारा 54 के अतिरिक्त भी अन्यथा सुसंगत है। देखें, दंड प्रक्रिया संहिता धारा 211, 236, 248(3), 298, भारतीय दंड संहिता की धारा 75, इन्डियन आर्टिकल्स ऑफ वार (1869 का अधिनियम सं. 5) का अनुच्छेद 117, साक्ष्य अधिनियम की धारा 8 (अभिप्राय दर्शाने के रूप में) (धारा 43, दृष्टांत (च)) अपराधी जनजाति अधिनियम (1871 का अधिनियम 27) के अधीन बुरा शील भी सुसंगत है। (देखें सरकार, वही पृष्ठ 981)।

हम 69वीं रिपोर्ट में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि :

"जब तक कि इस बात का साक्ष्य न दिया गया हो कि वह अच्छे शील का है" शब्दों के पश्चात् और "जिसके दिए जाने की दशा में वह सुसंगत हो जाता है" शब्दों से पूर्व "चाहे साक्षी के माध्यम से दिया गया हो या अभियोजन पक्ष के साक्षियों की प्रतिपरीक्षा के माध्यम से या अन्य किसी प्रकार" शब्द जोड़े जाने चाहिए।

धारा 55 :

यह धारा इस बात का निर्देश करती है कि नुकसानी पर प्रभाव डालने वाला शील सुसंगत हैं। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"55. सिविल मामलों में यह तथ्य कि किसी व्यक्ति का शील ऐसा है जिससे नुकसानी की रकम पर, जो उसे मिलनी चाहिए, प्रभाव पड़ता है, सुसंगत है।"

स्पष्टीकरण : धारा 52, 53, 54 और 55 में "शील" शब्द के अन्तर्गत ख्याति और स्वभाव दोनों आते हैं किन्तु [धारा 54 में यथा उपबंधित के सिवाय] केवल साधारण ख्याति व साधारण स्वभाव का ही न कि ऐसे विशिष्ट कार्यों का, जिनके द्वारा ख्याति या स्वभाव दर्शित हुए थे, साक्ष्य दिया जा सकेगा।"

यह देखा जा सकेगा कि स्पष्टीकरण वास्तव में धारा 52, 53, 54 और 55 का स्पष्टीकरण है।

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था (देखें पृष्ठ 358) कि किसी व्यक्ति की ख्याति को क्षति पहुंचाने के लिए मानहानि के लिए किसी वाद में 'अपमान संबंधी कार्यवाही में' शील का साक्ष्य उस व्यक्ति के शील के उस पहलू के बारे में ही होना चाहिए जिससे अपमान संबंधित है और यह कि यह सिफारिश 69वीं रिपोर्ट में धारा 12 के प्रति (देखें रिपोर्ट का पैरा 8.40) अपनाए गए दृष्टिकोण को आगे बढ़ाती है।

इस पहलू पर विचार करने पर, हमारा यह मत है कि उपर्युक्त पहलु वास्तव में प्रत्येक मामले में तथ्यों का विषय है और यह कि धारा 55 में अपमान के मामलों के लिए अन्य कोई विशिष्ट उपबंध करने की आवश्यकता नही है। अतः हम 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश से इस बारे में भिन्न मत रखते हैं। हम इस उपबंध में किसी उपांतरण का सुझाव नहीं देते हैं।

धारा 56 से 100 (सबूत के विषय) :

ये धारा अधिनियम के भाग-दो में अन्तर्विष्ट हैं और अध्याय-तीन से आरम्भ होकर अध्याय छः तक जाती हैं जो हमें धारा 100 तक ले जाएगा।

अध्याय-तीन : धारा 56 से धारा 58 :

ये धाराएं ऐसे 'तथ्यों' के बारे में है जिनका साबित किया जाना आवश्यक नहीं है, अर्थात् तथ्य जिनकी न्यायिक अवेक्षा की जा सकेगी या जिन्हें स्वीकार किया जा सकेगा।

धारा 56 :

इसमें कहा गया है कि न्यायिक रूप से अवेक्षा किए जाने वाले तथ्यों को साबित करना आवश्यक नहीं है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"56. जिस तथ्य की न्यायालय न्यायिक अवेक्षा करेगा उसे साबित करना आवश्यक नहीं है।"

यह धारा, जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में बताया गया है, पुरःस्थापना की परिचायक है और उसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 57 :

यह धारा ऐसे तथ्यों का निर्देश करती है जिनकी न्यायालय को न्यायिक अवेक्षा करनी होगी।

इस धारा के 13, खंड हैं और हम पूरी धारा को उद्धृत करना नहीं चाहते हैं। इसके पश्चात् दो अतिरिक्त पैराग्राफ दिए गये हैं।

69वीं रिपोर्ट में धारा 57 के खंड (1) पर अलग से चर्चा की गई है और खंड (2) से खंड (6) तक के बारे में एक साथ चर्चा की गई हैं, खंड (7) पर फिर से पृथक रूप में और खंड (8) से (13) तक के बारे में एक साथ चर्चा की गई है। इसके पश्चात दोनों पैराग्राफ चर्चा के लिए अलग से लिए गए हैं।

इसलिए, हम भी इसी रूप में चर्चा करेंगे।

धारा 57 का खंड (1) :

इसमें कहा गया है कि भारत के राज्यक्षेत्र में प्रवृत्त समस्त विधियों की न्यायिक अवेक्षा की जाएगी।

हमने पाया है कि बर्मा में धारा 57(1) को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया गया है :

"(1) बर्मा के किसी भाग में या भारत में या पाकिस्तान में, समस्त विधियां, या विधियों का बल रखने वाले निगम इस समय या अब से पहले प्रवृत्त या अब के पश्चात् प्रवृत्त होने वाले"

संविधान के अनुच्छेद 13(3)(क) में विधि के अभिप्राय में भारत के राज्यक्षेत्र में विधि का बल रखने वाली "प्रवृत्त विधियां" अध्यादेश, आदेश, उप-विधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि या प्रथा सम्मिलित हैं और अनुच्छेद 13(3)(ख) में कहा गया है कि इसमें भारत के राज्यक्षेत्र में विधान मंडलों द्वारा या अन्य सक्षम प्राधिकरणों द्वारा पारित विधियां सम्मिलित हैं।

"प्रवृत्त विधियां" शब्द भारत के संविधान के अनुच्छेद 372 में भी परिभाषित किए गए हैं।

अनुच्छेद 366(10) में कहा गया "विद्यमान विधि" से संविधान के लागू होने से पूर्व पारित या बनाई गई कोई विधि, अध्यादेश; आदेश, उप-विधि, नियम या विनियम अभिप्रेत हैं।

साधारण खंड अधिनियम, 1897 की धारा 3 (29) में भारतीय विधि को अधिनियम, अध्यादेश, विनियम, नियम, आदेश, उप-विधि का बल रखने वाली अन्य लिखित के रूप में परिभाषित किया गया है।

एडवर्ड मिल्स लिमिटेड बनाम स्टेट ऑफ अजमेर ए.आई.आर. 1955 सु.को. 25 मामले में 'प्रवृत्त विधि' की व्याख्या करते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया था (अनुच्छेद 366(10) और 372 का निर्देश करते हुए) कि उक्त अनुच्छेद न केवल किसी विधायी अधिनियमिति अपितु विधि का बल रखने वाले किसी विनिमय या आदेश को भी सम्मिलित करने के लिए पर्याप्त रूप से व्यापक है। भारत के उच्चतम न्यायालय द्वारा भी बाद के मामलों में इसी दृष्टिकोण की पुष्टि की गई है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या न्यायालय अधिसूचनाओं, उप-विधियों, विधानमंडलों आदि के कार्य संचालन नियमों की न्यायिक अवेक्षा कर सकेंगे या क्या उन्हें उन पर निर्भर करने वाले पक्षकार को साबित करना होगा या न्यायालय को स्वयं ही इस संबंध में अभिनिश्चय करना होगा। किसी राजपत्र में प्रकाशित कोई कार्यकारी अधिसूचना (जो किसी विशिष्ट विधि के अधीन जारी नहीं की गई) विधि नहीं है जैसाकि **स्टेट बनाम गोपाल सिंह** ए.आई.आर. 1956 एम.बी. 138(एफ.बी.) मामले में अभिनिर्धारित किया गया है और इसे साबित करना पड़ेगा।

यह अभिनिर्धारित किया गया था कि हिन्दू विधि के नियम पंडितों की रायों सहित पुस्तकों से एकत्र किए जा सकेंगे (देखें **भगवान** बनाम **बी** आई.एल.आर. 21 इला. 423), **कलक्टर ऑफ मद्रास बनाम समालिंगा मुथ्थु** 12 मूर्स इन्डियन अपील्स 397, परन्तु मुस्लिम धर्म संबंधी विधि के बारे में ऐसा नहीं है (**आर बनाम रमजान** 7 इला. 461)।

समस्या, वास्तव में, किसी सांविधिक शक्ति के अधीन बनाई गई अधिसूचनाओं, उप-विधियों के सबूत के बारे में न्यायालयों के कर्त्तव्य की सीमा के बारे में होती है।

निर्णय जनित विधि का निर्देश करने के पश्चात्, 69वीं रिपोर्ट में धारा 57 के खंड(1) के नीचे निम्नलिखित स्पष्टीकारी स्पष्टीकरण अन्त:स्थापित करने का सुझाव दिया गया हैं (देखें पैरा 21.42)।

> "**स्पष्टीकरण-I** : जहां इस धारा के फलस्वरूप न्यायालय न्यायिक अवेक्षा करने के लिए बाध्य है, और प्रश्न किसी सांविधिक लिखत के शब्दों की विद्यमानता, सीमा तथा प्रवर्तन से संबंधित है वहां न्यायालय प्रश्न का निर्णय करने के प्रयोजन से उपयुक्त पुस्तकों या निर्देश के दस्तावेजों की, यदि ऐसी पुस्तकें या दस्तावेज तत्काल उपलब्ध हैं, संबंधित पक्षकार से ऐसी पुस्तकें या दस्तावेज प्रस्तुत करने के लिए कहने से पूर्व सहायता लेगा।
>
> **स्पष्टीकरण-II** : सांविधिक लिखत से कोई नियम, अधिसूचना, उप-विधि, आदेश, स्कीम या किसी अधिनियमिति के अधीन बनाई गई अन्य लिखित अभिप्रेत है।"

हम इस बात से सहमत हैं कि धारा 57 के खंड (1) के नीचे निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़े जाने चाहिए :—

> "**स्पष्टीकरण-I** : जहां इस धारा के फलस्वरूप न्यायालय न्यायिक अवेक्षा करने के लिए बाध्य है, और प्रश्न किसी सांविधिक लिखत के शब्दों की विद्यमानता, सीमा तथा प्रवर्तन से संबंधित है वहां न्यायालय प्रश्न का निर्णय करने के

प्रयोजन से उपयुक्त पुस्तकों या निर्देश के दस्तावेजों की, यदि ऐसी पुस्तकें या दस्तावेज तत्काल उपलब्ध हों, संबंधित पक्षकार से ऐसी पुस्तकें या दस्तावेज प्रस्तुत करने के लिए कहने से पूर्व सहायता लेगा।

स्पष्टीकरण-II : सांविधिक लिखत से कोई नियम, अधिसूचना, उप-विधि, आदेश, स्कीम या किसी अधिनियमिति के अधीन बनाई गई अन्य लिखत अभिप्रेत है।"

धारा 57 के खंड (2) से खंड (6)

इन खंडों में, विधि युद्ध की नियमावली, संसद की कार्यवाही आदि जैसी मदें हैं, न्यायालय को जिनकी न्यायिक अवेक्षा करनी होगी।

अब धारा 57 का खंड (2) ब्रिटेन की संसद द्वारा पारित सभी अधिनियमों का निर्देश करता है। 69वीं रिपोर्ट के पैरा 21.43 में यह सुझाव दिया गया था कि विदेशी विधि के सबूत के बारे में धारा 37 के अधीन हमने जो कहा है उसको ध्यान में रखते हुए, यह खंड 15-8-1947 से पूर्व पारित ब्रिटेन के अधिनियमों तक ही सीमित रहना चाहिए।

इसी प्रकार 69वीं रिपोर्ट के पैरा 21.45 में यह कहा गया है कि धारा 57 के खंड (4) में ब्रिटेन की संसद की कार्यवाहियों का निर्देश 15-8-1947 से पूर्व की कार्यवाहियों के लिए सीमित होना चाहिए।

इसी प्रकार धारा 57 का खंड (5) जो ब्रिटेन में राज्यारोहण का निर्देश करता है, 15-8-1947 के पूर्व की शक्तियों के लिए सीमित रहना चाहिए।

धारा 57 का खंड (6) इंग्लिश न्यायालय की मुद्राओं का तथा ब्रिटेन से संबंधित अन्य मामलों का निर्देश करता है। पैरा 21.48 में यह सुझाव दिया गया है कि ये सब चीजें 15-8-1947 से पूर्व की अवधि के लिए सीमित होनी चाहिए।

उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए, हम 69वीं रिपोर्ट के इस सुझाव से सहमत हैं कि धारा 57 के खंड (2), (4), (5) और (6) निम्नलिखित रूप में संशोधित किए जाने चाहिए :—

"(2). यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट द्वारा 15 अगस्त, 1947 से पूर्व पारित सभी पब्लिक एक्ट तथा वे सभी स्थानीय और पर्सनल एक्ट, जिनके बारे में उस तिथि से पूर्व यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट ने निर्दिष्ट किया है, की न्यायिक अवेक्षा की जाए।"

"(4). 15 अगस्त, 1947 से पूर्व की यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट की, भारत की संविधान सभा की और उस तिथि से पूर्व संसद की तथा किसी प्रान्त या राज्यों में तत्समय प्रवृत्त विधियों के अधीन स्थापित विधान मंडलों की कार्यवाही का अनुक्रम।"

"(5). 15 अगस्त, 1947 से पूर्व किसी अधिनियम के संबंध में किया गया ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड की यूनाइटेड किंग्डम के तत्समय प्रभु का राज्यारोहण और राज हस्ताक्षर।"

"(6). निम्नलिखित मुद्राएं, अर्थात् —

(क) 15 अगस्त, 1947 से पूर्व किसी अधिनियम के संबंध में वे सभी मुद्राएं जिनकी अंग्रेजी न्यायालय न्यायिक अवेक्षा करते हैं;

(ख) भारत में सभी न्यायालयों की मुद्राएं;

(ग) केन्द्रीय सरकार के प्राधिकार से स्थापित भारत से बाहर सभी न्यायालयों की मुद्राएं;

(घ) 15 अगस्त, 1947 से पूर्व किसी अधिनियम के संबंध में क्राउन के प्रतिनिधि के प्राधिकार द्वारा स्थापित विधिक न्यायालयों की मुद्राएं;

(ङ) नावाधिकरण और समुद्रीय अधिकारिता वाले न्यायालयों की और नोटेरी पब्लिक की मुद्राएं; और

(च) वे सभी मुद्राएं जिन्हें प्रयोग करने के लिए 15 अगस्त, 1947 से पूर्व किसी अधिनियम के संबंध में यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट के किसी अधिनियम द्वारा या भारत के संविधान द्वारा या भारत में विधि का बल रखने वाले किसी अधिनियम या विनियम द्वारा किसी व्यक्ति को प्राधिकृत किया गया है।"

धारा 57 का खंड (7) :

क्योंकि धारा 57 के खंड (7) में भारत में पारित कार्यालयों का निर्देश नहीं किया गया है। इसलिए, 69वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी (पैरा 21.50) कि यह विषय जोड़ा जाना चाहिए और धारा 57 के खंड (7) को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाना चाहिए। इस सिफारिश से हम सहमत हैं।

"(7) भारत में या किसी राज्य में किसी लोक पद पर तत्समय आरूढ़ व्यक्तियों के कोई पदारोहण, नाम, उपाधियां, कृत्य और हस्ताक्षर, यदि ऐसी पद पर उसकी नियुक्ति का तथ्य किसी सरकारी राजपत्र में अधिसूचित किया गया हो।"

धारा 57 के खंड (8) से खंड (13) :

हम 69वीं रिपोर्ट की इस सिफारिश से सहमत हैं कि इन खंडों में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 57 का दूसरा पैरा : यह पैरा धारा 57 के खंड (13) के ठीक नीचे दिया गया है।

इस पैरे में निर्देश के लिए उपयुक्त स्रोतों का निर्देश करने की न्यायालय की शक्तियों का उल्लेख किया गया है और इसमें किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 21.53 के प्रति सहमति व्यक्त करते हैं।

धारा 57 का तीसरा पैरा : यह पैरा उपर्युक्त पैरे के ठीक नीचे दिया गया है।

यह पैरा न्यायालय को, पर्याप्त सामग्री के अभाव में न्यायिक अवेक्षा करने से इंकार करने की शक्ति प्रदान करता है। हम इस बात से सहमत हैं कि इस पैरा में भी किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 57 क :

69वीं रिपोर्ट के अध्याय 22 में, आयोग ने 'अन्तर्राष्ट्रीय तथ्यों' की न्यायिक अवेक्षा के संबंध में महत्वपूर्ण उपबंध– धारा 57क का प्रस्ताव किया है। प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय तथ्यों के बारे में है और (क) किसी राज्य की मान्यता, और (ख) राज्य प्रमुख की मान्यता से संबंधित है।

यह बताया गया था कि सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 87क (2) में इस संबंध में प्रावधान अन्तर्विष्ट है परन्तु वह प्रावधान केवल सिविल कार्यवाहियों के लिए है। यह सुझाव दिया गया था (देखें पैरा 22 :13) कि ऐसा प्रावधान दंडात्मक कार्यवाहियों के लिए भी आवश्यक है और यह कि धारा 87क (2) निकाल दिया जाना चाहिए और इसे साक्ष्य अधिनियम में अन्तःस्थापित किया जाना चाहिए ताकि एक ही प्रावधान सिविल तथा दंडात्मक दोनों प्रकार की कार्यवाहियों के लिए लागू हो सके।

सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 87क निम्नलिखित है :-

''**धारा 87क : 'विदेशी राज्य' और 'शासक' की परिभाषाएं** —

(1) .....

(2) प्रत्येक न्यायालय इस तथ्य की न्यायिक अवेक्षा करेगा—

(क) कि राज्य को केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्यता प्रदान की गई है;

(ख) कि किसी व्यक्ति को केन्द्रीय सरकार ने राज्य प्रमुख के रूप में मान्यता प्रदान की है अथवा नहीं''

यह धारा विदेशी अधिकारिता अधिनियम, 1947 की धारा 6 के अतिरिक्त है और यह भी कतिपय अन्तर्राष्ट्रीय तथ्यों की न्यायिक अवेक्षा के बारे में है :

''**धारा 6** : (1) यदि भारत में या केन्द्रीय सरकार के प्राधिकार से भारत से बाहर स्थापित किसी न्यायालय में किसी सिविल या दांडिक कार्यवाही में, केन्द्रीय सरकार की किसी विदेशी अधिकारिता की विद्यमानता या सीमा के बारे में कोई प्रश्न उठता है, भारत सरकार के उपयुक्त विभाग में कोई सचिव, न्यायालय के आवेदन पर, उस प्रश्न पर केन्द्रीय सरकार का निर्णय अन्तिम होगा।

(2) न्यायालय उक्त सचिव को न्यायालय की मुद्रा के अधीन या न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा हस्ताक्षरित, एक दस्तावेज में उपयुक्त रूप से पूछने के लिए तैयार किए गए प्रश्न भेजेगा और सचिव द्वारा उन प्रश्नों के पर्याप्त उत्तर न्यायालय को जाएंगे और प्राप्त हो जाने पर वे उत्तर, अन्तर्विष्ट विषयों का निश्चयात्मक साक्ष्य होंगे।''

उच्चतम न्यायालय ने **हरदेवदास जगन्नाथ बनाम असम राज्य**, ए.आई.आर. 1970 सु. को. 724 मामले में डोमिनियम ऑफ इन्डिया की प्रान्तीय अधिकारिता के बारे में विदेशी अधिकारिता, अधिनियम, 1947 की धारा 6 का निर्देश किया था। इसके पश्चात्, **मस्तान साहिब बनाम चीफ कमीश्नर** ए.आई.आर. 1962 सु.को. 797 मामले में, इस प्रश्न के बारे में कि क्या पांडिचेरी अधिग्रहीत क्षेत्र था, उसी अधिनियम का निर्देश किया गया था।

राजनयिक संबंध अधिनियम, 1972 की धारा 9 भी सुसंगत है और किसी व्यक्ति की राजनयिक उन्मुक्ति के बारे में है। परन्तु वर्तमान में, हमारा संबंध किसी देश के स्तर से है, क्या उसे मान्यता प्राप्त है अथवा नहीं और किसी व्यक्ति के बारे में क्या वह राज्य का प्रमुख है अथवा नहीं।

फिप्सन में संवैधानिक, राजनैतिक और प्रशासनिक विषय, जिनकी न्यायिक अवेक्षा की जाएगी शीर्षक के अधीन ऐसे बहुत से पहलुओं का निर्देश किया गया है (15वां संस्करण, 1999, पैरा 2.14)।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 22.13 में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 से धारा 87क (2) निकाल दी जाए और धारा 87 में अंक तथा कोष्ठ (1) का लोप किया जाए तथा साक्ष्य अधिनियम में निम्नलिखित धारा 57क जोड़ी जाए : प्रस्तावित धारा 57क की उपधारा (1) के अन्तर्गत वे पहलू आएंगे जो सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 87क(2) में अन्तर्विष्ट हैं। (69वीं रिपोर्ट में धारा 57क में केवल इस पहलू को ही लिया गया है जैसाकि पैरा 22.13 में प्रस्ताव किया गया है)

परन्तु धारा 57क में, विदेशी अधिकारिता अधिनियम, 1947 की धारा 6(1) और (2) में अन्तर्विष्ट प्रमाण-पत्र मंजूर करने की प्रक्रिया के अनुसार प्रक्रिया की व्यवस्था किया जाना आवश्यक है। धारा 57क में उपधारा (2) और (3) और जोड़कर उस प्रक्रिया को लाने का प्रस्ताव करते हैं। (इस पहलू पर 69वीं रिपोर्ट में विचार नहीं किया था)

परिणामतः हम 69वीं रिपोर्ट को स्वीकार करते हैं और उसमें थोड़ा परिवर्तन करने के लिए निम्नलिखित रूप में धारा 57क अन्तःस्थापित करने का प्रस्ताव करते हैं तथा सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 82क(2) को निकालने और 87क के आरंभिक भाग से संख्या (1) का लोप करने का प्रस्ताव करते हैं।

<u>विदेशी राज्यों के संबंध में न्यायालय द्वारा कतिपय विषयों की न्यायिक अवेक्षा</u>

"57क (1) प्रत्येक न्यायालय इस तथ्य की न्यायिक अवेक्षा करेगा--

(क) कि किसी राज्य को केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्यता प्रदान की गई है अथवा नहीं;

(ख) केन्द्रीय सरकार ने किसी व्यक्ति को राज्य प्रमुख के रूप में मान्यता प्रदान की है अथवा नहीं।

(2) यदि, किसी न्यायालय में, उपधारा (1) के बारे में प्रश्न उठते हैं तो उपयुक्त विभाग में नियुक्त भारत सरकार का सचिव, न्यायालय के आवेदन पर, उस प्रश्न पर केन्द्रीय सरकार का निर्णय न्यायालय को भेजेगा और कार्यवाही के प्रयोजन से वह निर्णय अन्तिम होगा।

(3) न्यायालय उक्त सचिव को, न्यायालय की मुद्रा तथा न्यायाधीश के हस्ताक्षरों से एक दस्तावेज में उपयुक्त रूप से प्रश्न उठाने के लिए तैयार किए गए प्रश्न भेजेगा और सचिव वापिसी में उन प्रश्नों के पर्याप्त उत्तर न्यायालय को भेजेगा और प्राप्त हो जाने पर वे उत्तर अन्तर्विष्ट विषयों का निश्चयात्मक साक्ष्य होंगे।"

<u>धारा 58</u> :

इस धारा में यह कहा गया है कि जो तथ्य स्वीकार कर लिए जाते हैं उनको साबित करने की आवश्यकता नहीं है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

"58. किसी ऐसे तथ्य को किसी कार्यवाही में साबित करना आवश्यक नहीं है, जिसे उस कार्यवाही के पक्षकार या उनके अभिकर्ता सुनवाई पर स्वीकार करने के लिए सहमत हो जाते हैं, या जिसे वे सुनवाई के पूर्व किसी स्वहस्ताक्षरित लेख द्वारा स्वीकार करने के लिए सहमत हो जाते हैं या जिनके बारे में अभिवचन संबंधी किसी तत्समय प्रवृत्त नियम के अधीन यह समझ लिया जाता है कि उन्होंने उसे अपने अभिवचनों द्वारा स्वीकार कर लिया है।

परन्तु न्यायालय, स्वीकृत तथ्यों की ऐसी स्वीकृतियों द्वारा साबित किए जाने से अन्यथा साबित किया जाना अपने विवेकानुसार अपेक्षित कर सकेगा।"

यह धारा दंडात्मक कार्यवाहियों के लिए लागू नहीं होती है। 69वीं रिपोर्ट के पैरा 23.6 और 23.9 में कहा गया है कि धारा 58 "किसी कार्यवाही में" शब्दों के पश्चात् "दांडिक कार्यवाही से भिन्न" शब्द जोड़कर इसमें संशोधन करने की आवश्यकता है।

जैसाकि सरकार (वही पृष्ठ 1022) ने कहा है कि विचारण के प्रयोजन से संस्वीकृति की गई समझी जानी चाहिए--

(1) रिकार्ड पर जो—

(क) वास्तविक अर्थात् अभिवचनों में (सिविल प्रक्रिया संहिता आदेश 8 नियम 5) या प्रश्नों के उत्तर में (आदेश 11 नियम 22);

(ख) अभिवचनों में विवक्षित (आदेश 8 नियम 3, 4 और 5)।

(2) पक्षकारों के बीच---

(क) सुनवाई से पूर्व लिखित समझौते द्वारा,

(ख) सूचना द्वारा (आदेश 12, नियम 1, 2, 4)।

(3) पक्षकार या उसके अधिवक्ता द्वारा सुनवाई में (आदेश 10)

सभी सूचनाएं लिखित होनी चाहिए (धारा 142 सिविल प्रक्रिया संहिता)। न्यायालय संस्वीकृति पर डिक्री भी पारित कर सकेगा जैसाकि आदेश 12, नियम 6 में कहा गया है।

यदि कोई संस्वीकृति किसी शर्त के अधीन की जाती है तो वह उस शर्त के अधीन ही स्वीकार की जानी चाहिए अथवा स्वीकार ही नहीं की जानी चाहिए (भोटा भाई बनाम मूलजी 42 इन्द. एफ 103)

किसी तथ्य को स्वीकार करते हुए "न्यायसंगत अपवाद" के अधीन कोई समझौता हो सकता है (चैपलिन बनाम लैवी 23 एल.जे. एम्स. 117)

यदि कोई संस्वीकृति किसी ऐसे दस्तावेज में अन्तर्विष्ट है जिस पर ठीक प्रकार से स्टाम्प नहीं लगा है, तो वह स्टाम्प अधिनियम की धारा 35 के अधीन अस्वीकार्य है जब तक कि कमी को पूरा न किया गया हो या जुर्माने का भुगतान न किया गया हो (विनिमय पत्रों आदि के सिवाय)।

साक्ष्य अधिनियम और दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (धारा 24-27 साक्ष्य अधिनियम और धारा 162 दंड प्रक्रिया संहिता द्वारा) में अन्तर्विष्ट उपबंधों की दृष्टि से कतिपय मामलों में अपराध की संस्वीकृति स्वीकार्य नहीं है।

सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 8 नियम 5(1) के अधीन किसी पक्षकार द्वारा लगाए गए आरोप से यदि प्रतिवादी द्वारा इंकार नहीं किया जाता तो उसे निहितार्थ द्वारा संस्वीकृति मान लिया जाएगा परन्तु विधान मंडल ने इस नियम की कठोरता को नियम में एक परन्तुक जोड़कर उपांतरित करने का प्रयास किया है जो निश्चित ही धारा 58 के परन्तुक के अनुरूप है, जहां न्यायालय इस बात से संतुष्ट हो जाता है कि संस्वीकृति धोखे से प्राप्त की गई है या यह कि कोई अन्य ठीक और पर्याप्त कारण है जहां न्यायालय परन्तुक के अधीन उसे प्राप्त विवेकाधिकार की शक्ति का प्रयोग करते हुए उस तथ्य की ऐसी संस्वीकृति के अतिरिक्त अन्यथा साबित करने के लिए कह सकेगा (ओरियंटल लाइफ इन्श्योरेंस कम्पनी बनाम नरसिंहैया ए.आई.आर. 25 मद्रास 205)। प्रतिवादी द्वारा उस तथ्य से इंकार करने में असफल रहने के उपरान्त भी, न्यायालय परन्तुक के अधीन वादी से तथ्य को साबित करने के लिए कह सकेगा। वेनगैनार्ड मारक बनाम सिथ पिरबी मोगिन ए.आई.आर. 1988 गौहाटी 50 (एस.बी.), विश्वनाथ बनाम देवी प्रसाद ए.आई.आर. 1978 कलकत्ता 533।

न्यायालयों द्वारा उपर्युक्त सिद्धांत विभिन्न मामलों में दिए गए हैं परन्तु धारा 58 में कोई अन्य चीज जोड़ना आवश्यक नहीं है।

हम, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 23.9 से सहमत हैं कि "किसी कार्यवाही में", शब्दों के पश्चात् "किसी दांडिक अभियोजन से भिन्न" शब्द जोड़े जाने चाहिए।

धारा 59 और 60 :

ये दोनों धाराएं अध्याय छः में हैं और 'मौखिक साक्ष्य' से संबंधित हैं।

धारा 59 मौखिक साक्ष्य के द्वारा तथ्यों को साबित किए जाने के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"59. दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु के सिवाय सभी तथ्य मौखिक साक्ष्य द्वारा साबित किए जा सकेंगे।"

दूसरे शब्दों में, धारा का निहितार्थ यह है कि जहां तक दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु का संबंध है, कोई मौखिक साक्ष्य स्वीकार्य नहीं है। जहां तक दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु का संबंध है, धारा के इस भाग में एक आज्ञापक नियम विवक्षित है। इसे अधिनियम की अन्य धाराओं के जैसे धारा 65(3) और धारा 91, 92 के अनुरूप बनाना होगा।

वीडियो कान्फ्रेंसिंग और मौखिक साक्ष्य

आजकल, विभिन्न देशों में 'वीडियों कान्फ्रेंसिंग' तथा विडियों रिकार्ड द्वारा साक्ष्य दिए जाने के बारे में परीक्षण किए जा रहे हैं। अतः यह महसूस किया गया है कि इस पहलु पर विस्तार से चर्चा की जाए।

धारा 59 में कहा गया है कि दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु तथा इलैक्ट्रानिक रिकार्ड के सिवाय सभी तथ्य मौखिक साक्ष्य द्वारा साबित किए जा सकेंगे। धारा 135 में साक्षियों के पेशकरण और उनकी परीक्षा के क्रम का निर्देश किया गया है। धारा 136 से धारा 138 परीक्षा की प्रणाली से संबंधित है। सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश 10, नियम 2 पक्षकार या पक्षकार के किसी साथी की मौखिक परीक्षा से संबंधित है। इन सभी उपबंधों को पढ़ने से पता चलता है कि इनमें अवधारणा न्यायालय कक्ष में उपस्थित किसी साक्षी की परीक्षा के बारे में है। यह स्पष्ट है कि 1872 और 1908 में जब उपर्युक्त विधियां अधिनियमित की गई थीं, प्रौद्योगिकी इतनी विकसित नहीं थी जितनी कि आज है और वे विधियां ऐसे साक्ष्य के स्वीकार्य होने के लिए अधिनियमित नहीं की जा सकती थीं।

यहां हम इस बात का भी उल्लेख कर सकेंगे कि कतिपय राज्यों में, जैसे आन्ध्र प्रदेश, दंड प्रक्रिया संहिता के कतिपय उपबंधों में मजिस्ट्रेटों को रिमांड या जमानत मंजूर करने आदि के स्तर पर जेल में वीडियो कान्फ्रेंसिंग के माध्यम से बंदियों से बात करने का अधिकार देते हुए, संशोधन किए गए प्रतीत होते हैं।

वीडियों कान्फ्रेंसिंग जैसे सीमित माध्यम के अतिरिक्त, उक्त प्रौद्योगिकी को हमारी विचारण न्यायालय प्रणाली में अधिष्ठापित नहीं किया गया है। हिन्दुस्तान टाइम्स् दिनांक 10-11-2001 में प्रकाशित एक समाचार से पता चलता है कि बम्बई के एक विचारण न्यायालय ने एक आपराधिक मामले में अमरीका में रह रहे एक फिजीशियन की वीडियो कान्फ्रेंसिंग के माध्यम से परीक्षा की अनुमति प्रदान की थी। विवाद यह था कि सोलन क्रेसरिंग हास्पिटल, मुम्बई के डॉ. पी.बी. देसाई ने श्री पी.सी. सांधी की पत्नी श्रीमती लीला सांधी की कथित सर्जरी की जो अमरीका में रहने वाले डाक्टर के परामर्श के विपरीत थी। सर्जरी के पश्चात् मरीज की मृत्यु हो गई थी। बम्बई उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के आदेश को खारिज कर दिया। उच्चतम न्यायालय में 9-11-2001 को दायर की गई विशेष अनुमति याचिका पर नोटिस जारी करने के लिए निदेशित किया।

हमें यह भी पता है कि कतिपय माध्यस्थम् के मामलों में पक्षकारों की सम्मति से वीडियो कान्फ्रेंसिंग के माध्यम से साक्ष्य लिया जाता है।

आगे हम वीडियो कान्फ्रेंसिंग साक्ष्य की ग्राह्य के प्रश्न पर अन्य देशों में इस विषय में हुई प्रगति का उल्लेख करेंगे।

सिंगापुर में जहां साक्ष्य अधिनियम भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 के अनुरूप ही है, विधानमंडल ने लाईव-वीडियों या लाईव टेलीविजन सम्पर्क के माध्यम से साक्ष्य के बारे में हाल ही में धारा 62क अन्तःस्थापित की है जो दांडिक कार्यवाहियों से भिन्न अन्य कार्यवाहियों के लिए लागू होंगी। उपर्युक्त धारा के अधीन न्यायालय को, विभिन्न मामलों में संतुष्ट हो जाने पर, अनुमति प्रदान करनी होती है। हम धारा 62क को उद्धृत करेंगे—

'लाईव वीडियो या लाईव टेलीविजन सम्पर्क द्वारा साक्ष्य'

62क (1) इस अधिनियम में अन्य किसी उपबंध के होते हुए भी, किसी दांडिक विषय की कार्यवाहियों से भिन्न किसी भी कार्यवाही में, न्यायालय की अनुमति से, लाईव वीडियो अथवा लाईव टेलीविजन सम्पर्क माध्यम से साक्ष्य दिया जा सकेगा, यदि—

(क) साक्षी की आयु 16 वर्ष से कम है;

(ख) कार्यवाहियों के पक्षकारों के बीच इस प्रकार साक्ष्य दिए जाने पर स्पष्ट सहमति है;

(ग) साक्षी सिंगापुर से बाहर है; या

(घ) न्यायालय इस बात से संतुष्ट हो कि न्याय के हित में ऐसा किया जाना आवश्यक है।

(2) इस धारा के अधीन किसी साक्षी को, जो सिंगापुर से बाहर रहता है, लाईव वीडियो या लाईव टेलीविजन सम्यक् माध्यम से साक्ष्य देने के लिए अनुमति प्रदान करने का विचार करने में, न्यायालय को, निम्नलिखित सहित, मामले के सभी पहलुओं को ध्यान में रखना होगा—

(क) साक्षी किन कारणों से सिंगापुर में साक्ष्य देने में समर्थ नहीं है;

(ख) जहां साक्षी को साक्ष्य देना है वहां किस प्रकार की प्रशासनिक और तकनीकी सुविधाओं की व्यवस्था और प्रबंध किए गए हैं;

(ग) क्या कार्यवाहियों के किसी पक्षकार के साथ अनुचित पक्षपात हो जाएगा।

(3) न्यायालय, उप-धारा (1) के अधीन अनुमति प्रदान करने में निम्नलिखित में से सभी विषयों पर या किसी विषय पर आदेश कर सकेगा :

(क) उन व्यक्तियों के बारे में जो उस स्थान पर उपस्थित रहेंगे जहां साक्षी साक्ष्य देगा;

(ख) कि कोई व्यक्ति उस स्थान से बाहर न कर दिया जाएगा जब साक्षी साक्ष्य दे रहा होगा;

(ग) न्यायालय कक्ष में वे व्यक्ति जिन्हें साक्षी द्वारा या साक्षी के साथ वाले व्यक्तियों द्वारा, सुना जा सकेगा या देखा और सुना जा सकेगा;

(घ) न्यायालय कक्ष में वे व्यक्ति जिन्हें साक्षी द्वारा या साक्षी के साथ वाले व्यक्तियों द्वारा सुना या देखा और सुना नहीं जाना चाहिए;

(ङ) न्यायालय कक्ष में ऐसे व्यक्ति जो साक्षी और साक्षी के साथ के व्यक्तियों को सुन सकें या देख सकेंगे;

(च) कार्यवाहियों में ऐसे चरण जिनके दौरान आदेश का विशिष्ट भाग प्रभावी होगा;

(छ) ऐसे न्यूनतम तकनीकी मानकों के अनुपालन सहित जो मुख्य न्यायाधीश द्वारा निश्चित किए जाएं लाईव वीडियो या लाईव टेलीविजन संपर्क प्रणाली की संचालन पद्धति;

(ज) कोई अन्य आदेश जिसे न्यायालय न्याय के हित में आवश्यक समझता हो।

(4) न्यायालय इस धारा के अधीन किए गए किसी आदेश को समाप्त, निलम्बित या परिवर्तित कर सकेगा, यदि—

(क) लाईव वीडियो या लाईव टेलीविजन संपर्क प्रणाली कार्य करना बन्द कर देती है और कार्यकरण प्रणाली उपलब्ध होने तक प्रतीक्षा करने में अनावश्यक विलम्ब होता है;

(ख) न्यायालय को अपना कार्य पालन करने में यह सुनिश्चित करने के लिए कि पक्षकारों के लिए कार्यवाही निष्पक्ष हों, ऐसा करना आवश्यक हो;

(ग) न्यायालय के लिए ऐसा करना आवश्यक हो ताकि साक्षी किसी व्यक्ति या किसी चीज को पहिचान सके या ताकि साक्षी भाग ले सके या प्रदर्शन या परीक्षण देख सके;

(घ) न्यायालय के लिए ऐसा करना आवश्यक हो क्योंकि कार्यवाहियों का कोई भाग न्यायालय कक्ष से बाहर सुना जा रहा है;

(ङ) न्यायालय के आदेश पारित करने के पश्चात् परिस्थितियों में बहुत महत्वपूर्ण अन्तर आया हो।

(5) न्यायालय इस धारा के अधीन आदेश नहीं करेगा या आदेश में कोई विशिष्ट उपबंध सम्मिलित नहीं करेगा, यदि ऐसा करना यह सुनिश्चित करने के प्रयोजन से कि कार्यवाहियां, कार्यवाहियों के पक्षकारों के लिए निष्पक्ष हो, न्यायालय के कर्तव्य के अनुरूप नहीं है।

(6) इस धारा के अधीन किया गया कोई आदेश प्रभावी होना केवल इस बात से समाप्त नहीं होगा क्योंकि जिस कार्यवाही में यह आदेश किया था उसका अन्तिम निर्णय होने से पूर्व, वह व्यक्ति जिसके बारे में यह आदेश किया गया था, 16 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेता है।

(7) इस धारा के आधार पर लाईव वीडियो या लाईव टेलीविजन संपर्क माध्यम से सिंगापुर में या अन्यत्र साक्षी द्वारा किया गया साक्ष्य दंड संहिता (केप. 224) की धारा 193, 194, 195, 196 और 209 के प्रयोजनों से उन कार्यवाहियों में दिया गया समझा जाएगा जिसमें कि यह दिया गया है।

(8) जहां कोई साक्षी इस धारा के अनुसार साक्ष्य देता है, वह इस अधिनियम के प्रयोजनों से न्यायालय के समक्ष साक्ष्य देता हुआ समझा जाएगा।

(9) उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता अधिनियम (केप. 322) के अधीन गठित की गई नियम समिति ऐसे नियम बना सकेगी जो इस धारा को प्रभावी बनाने के प्रयोजन से और ऐसी कोई चीज अवनिर्धारित करने के लिए जो इस धारा के अधीन अवनिर्धारित की जा सकेगी, ऐसे नियम बना सकेगी जो उसे आवश्यक प्रतीत होते हों।

न्यूजीलैण्ड में साक्ष्य संशोधन अधिनियम, 1994 द्वारा अन्तस्थापित की गई धारा 19 में भी इसी प्रकार न्यायालय को आस्ट्रेलिया से वीडियो संपर्क तथा टेलीफोन कान्फ्रेंस द्वारा साक्ष्य प्राप्त करने के लिए अनुमति लिए जाने का निर्देश है। धारा 20 आस्ट्रेलिया में न्यूजीलैण्ड न्यायालय की शक्तियों के बारे में है और जो न्यूजीलैण्ड न्यायालय को आस्ट्रेलिया में अपनी उन सभी शक्तियों का प्रयोग करने की शक्ति प्रदान करती है जिनका आस्ट्रेलियायी विधि के अधीन आस्ट्रेलिया में प्रयोग करने के लिए अनुमति प्राप्त है। धारा 21 में वीडियो संपर्क द्वारा साक्ष्य देने और आवेदन करने का निर्देश है। धारा 22 में टेलीफोन द्वारा साक्ष्य देने और संस्वीकृतियां करने का निर्देश है। धारा 23 आस्ट्रेलियायी परामर्शियों के अधिकारों के बारे में है। इसी प्रकार धारा 24 में आस्ट्रेलियायी न्यायालयों को न्यूजीलैण्ड में वीडियो संपर्क या टेलीफोन कान्फ्रेंस द्वारा साक्ष्य लेने और आवेदन प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है। धारा 26 में आस्ट्रेलियायी न्यायालयों के आदेशों का निर्देश किया गया है। धारा 27 में इस बात का उल्लेख है कि 'जिस स्थान पर साक्ष्य दिया गया है वह आस्ट्रेलियायी न्यायालय का भाग है'। धारा 28 में आस्ट्रेलियायी कार्यवाहियों में न्यायाधीशों, परामर्शियों और साक्षियों के विशेषाधिकारों, सुरक्षाओं और उन्मुक्तियों का निर्देश है। धारा 29 में न्यूजीलैण्ड में शपथ दिलाने के आस्ट्रेलियायी न्यायालयों की शक्ति का उल्लेख है। धारा 30 न्यूजीलैण्ड में किसी व्यक्ति द्वारा आस्ट्रेलियायी न्यायालय की अवमानना के बारे में है। धारा 31 आस्ट्रेलियायी न्यायालयों को सहायता से संबंधित है।

यू.के. क्रिमीनल जस्टिस एक्ट, 1988 की धारा 32 में भी टेलीविजन संपर्क द्वारा साक्ष्य लेने का निर्देश है। ब्रिटिश विधि आयोग ने अपनी 245वीं रिपोर्ट में यह महसूस किया था कि टेलीविजन संपर्क द्वारा साक्ष्य लेना अनुश्रुत साक्ष्य से बेहतर है।

फ्लोरिडा स्टेट में, 9 मार्च, 1977 को डिस्ट्रीक्ट कोर्ट ऑफ अपील, थर्ड डिस्ट्रीक्ट द्वारा निर्णित एक मामले में वीडियो कान्फ्रेंसी द्वारा साक्ष्य को अनुमति दी गई थी (**डेविड हेरेल बनाम स्टेट ऑफ फ्लोरिडा**)। इस निर्णय की फ्लोरिडा के उच्चतम न्यायालय द्वारा 23-4-98 को पुष्टि की गई (देखें 689 एस.ओ. 2.400 : 65 यू.एस.एल.डब्ल्यू 2679, 22 फ्लो. एल. विकली डी. 582)। उस मामले में प्रतिवादी पर अर्जेन्टीना से आए विदेशी पर्यटकों के साथ डकैती और हमले के आरोप लगाए गए थे। वीडियो कान्फ्रेंसी अर्जेंटीना से आए इन विदेशी पर्यटकों से संबंधित थी।

फ्लोरिडा के जिला अपीलीय न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि पर्यटकों के लाईव सेटलाइट साक्ष्य की स्वीकृति से साक्षी के सम्मुखता के प्रतिवादी के संवैधानिक अधिकार का उल्लंघन नहीं हुआ है। विदेशी साक्षियों का लाईव सेटलाइट साक्ष्य न्यायालय में, शपथ दिलाए जाने के पश्चात न्यायाधीश, ज्यूरी, प्रतिवादी (अभियुक्त), परामर्शी, क्लर्क और न्यायालय के रिपोर्टर की उपस्थिति में दिया गया था और इसलिए इसे विश्वसनीय अभिनिर्धारित किया गया और अनुश्रुत नहीं माना गया। अमरीका में न्यायालयों के लिपिक द्वारा ब्यूनसआयर्स, अर्जेन्टीना के निवासी साक्षियों को शपथ दिलाया जाना बाध्यकारी अभिनिर्धारित था और उसकी विश्वसनीयता आश्वस्थ कराई गई। यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि ऐसे विदेशी साक्षियों का लाईव सेटलाइट साक्ष्य, जो सुनवाई के लिए अमरीका में नहीं आ सकते थे, प्रतिवादी के परामर्शी को साक्षी की समकालिक प्रतिपरीक्षा करने का अवसर प्राप्त था और न्यायाधीश तथा तथ्य के विनयरकर्ता ने साक्ष्य दिए जाते समय ससाक्षियों के आचरण का संप्रेक्षण किया था। सेटलाइट वीडियो कान्फ्रेंसी द्वारा साक्ष्य स्वीकार्य माना गया क्योंकि इससे सम्मुखता खंड की अपेक्षाएं पूरी होती थी क्योंकि इसमें आमने सामने सम्मुखता का अनिवार्य तत्व अंतर्विष्ट था अर्थात शपथ के अधीन साक्ष्य, प्रतिपरीक्षा तथा साक्ष्य देते समय साक्षी का आचरण देखने का अवसर विद्यमान था। विचारण न्यायालय ने बिना किसी पूर्व उद्धरण के ही साक्ष्य की इस नई प्रक्रिया को लागू कर दिया क्योंकि इस प्रक्रिया से महत्वपूर्ण लोक नीति हित का साधन होता था। यह अभिनिर्धारित किया गया कि आपराधिक विचारणों ने सेटलाइट साक्ष्य का प्रयोग करने से, सीमित संसाधनों के कुशल प्रयोग को प्रोत्साहन देने की महत्वपूर्ण नीतियां प्रभावी होती है और विदेशी पर्यटकों के विरुद्ध उनको साक्ष्य देना सुलभ बनाने से, हिंसा की घटनाएं बाधित होती है और इस प्रकार कोई पूर्व उदाहरण न होने पर भी सम्मुखता खंड के अनुरुप इस नई प्रक्रिया को न्यायोचित रूप में लागू किया जा सकेगा।

जिला अपीलीय न्यायालय द्वारा आगे यह विचार व्यक्त किया गया कि विदेशी साक्षियों के सेटलाइट साक्ष्य के दौरान उत्पन्न होने वाली छोटी-मोटी समस्याओं के कारण हुई कोई त्रुटि, जब साक्षी कैमरे की ओर देख रहा होता है और संप्रेक्षण के ओडियो भाग में थोड़ी देर के लिए रुकावट आ जाती है, से कोई हानि नहीं होती क्योंकि न्यायाधीश, जब साक्षी सीधे देखता है, यह आदेश देता है कि विस्तृत दृश्य लेने के लिए पीछे किया जाए और ज्यूरी के सदस्य उसकी विश्वसनीयता और साक्ष्य में साक्षी की भवभंगिमा के बारे में अभिनिश्चय कर सकेंगे। संक्षिप्त अवधि के दौरान भी जब ट्रांसमिशन में पूरी समरूपता नहीं थी तब साक्षी एक दूसरे के साक्ष्य की और पुलिस अधिकारी तथा अपराध स्थल पर प्रतिवादी की अंगुलियों के चिन्हों के साक्ष्य की पुष्टि करते हैं, सेटलाइट साक्ष्य के दौरान प्रतिवादी के संवैधानिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए प्रोटोकाल अपनाए जाएंगे जिनमें जहां साक्षी साक्ष्य दे रहा होगा वहां उस कक्ष में केवल न्यायालय के अधिकारी, न्यायालय का रिपोर्टर और आवश्यक तकनीकी कर्मचारियों के उपस्थित होने की अनुमति होगी; जिसमें दोनों और के रंगीन श्रव्य तथा दृश्य ट्रांसमिशन, वीडियो स्क्रीन को साक्षी स्टेंड पर रख कर तथा कैमरे का फोकस प्रतिवादी तथा साक्षी पर करके, जिसमें पीठासीन न्यायाधीश और अधिवक्ता को प्रश्न पूछते दर्शाते हुए और ट्रांसमिशन कार्य किए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रतिवादी को दोषसिद्ध किया गया।

विचारण न्यायाधीश गर्सटन जे. ने संप्रेक्षण किया कि :

> "सेटलाइट अवेषणों द्वारा भौतिक साक्षियों के साक्ष्य की स्वीकृति विवाद्यकों का एक कवच है जिसका हमारे संस्थापकों द्वारा अवलोकन नहीं किया गया। उदाहरण के लिए, चालू तकनीकी से हम किसी यथार्थ न्यायकक्ष में, जब ज्यूरी किसी सुरक्षित साईबर बातचीत कक्ष में विवेचना करता है, सेटलाइट विचारण कर सकेंगे। दुर्भाग्यवश, संविधान इस विनिर्दिष्ट विवाद्यक को संबोधित नहीं करता परंतु इसकी कालातीत भाषा, जो औद्योगिक क्रांति और तकनीकीय क्रांतियों को बचाए हुए है, सभी न्यायिक कार्यवाहियों पर लागू होनी चाहिए। तथापि, हमारे न्यायालयों को, न्यायालय की मजबूत अवरोधी दीवारों से बाहर तकनीकी विकासवादी वास्तविकता से प्रक्रियायी नियमों को सघटिक करना चाहिए। हम सेटलाइट साक्ष्य की अवधारणा को सदृश्य स्वीकार करते हैं क्योंकि यह न्यायालयों की कार्यक्षमता को बढ़ाता है।"

न्यायाधीश ने अनुश्रुति के अपवर्जन के बारे में फ्लो. स्टेट (1995) की धारा 90.801 (1)(ग) का निर्देश किया है और सम्मुखता के बारे में यू. एस. संविधान के अनुच्छेद IV का निर्देश किया है और साक्ष्य विधि में कोई अन्य नया संशोधन

प्रतीत नहीं होता है। उसने केवल इन रि सेन जुआन डुपोंट प्लाजा होटल फायर लिटिगेशन : 129 एफ.आर.डी. 424 (डी.जी.आर. 1989) से लिए गए प्रोटोकाल का निर्देश किया है जिसका पाठ निम्नलिखित है :

''सेटलाइट ट्रांसमिशन के लिए प्रोटोकाल :

1. **दो तरह का ओडियो/विजुअल ट्रांसमिशन :** दो तरह का आडियों और विजुअल ट्रांसमिशन प्रत्येक साक्षी के लिए उपलब्ध कराया जाएगा।

2. **रंगीन ट्रांसमिशन :** उस स्थान को और उस स्थान से ट्रांसमिशन, जहां साक्षी साक्ष्य देता है, रंगीन होगा।

3. **साक्षियों के साथ उपस्थित व्यक्ति :** जहां साक्षी का साक्ष्य लिया जाता है उस कमरे में प्रेक्षक या परामर्शी को अनुमति नहीं होगी। साक्षी के साथ यूनाइटेड डिस्ट्रीक्ट कोर्ट का, जहां से ट्रांसमिशन प्रारंभ होता है, एक न्यायालयकक्ष उप-लिपिक, यदि आवश्यक हो, एक कोर्ट रिपोर्टर और सेटलाइट ट्रांसमिशन के लिए आवश्यक कोई तकनीकी कर्मचारिवृंद उपस्थित होगा।

   न्यायालय का उप-लिपिक साक्षी को शपथ दिलाएगा, उसे ऐसा दस्तावेज सौंपेगा जिसे साक्षी को अपने साक्ष्य के दौरान निर्देश करने को कहा गया है और ऐसे अन्य कर्तव्य और कार्य करेगा जिन्हें साधारणतया वह न्यायालयकक्ष के उप-लिपिक के रूप में करता है।

4. **दस्तावेजों का साक्षी को दिखाया जाना :** साक्षी को बुलाने वाला पक्षकार दस्तावेज न्यासी को ट्रांसमिशन से कम से कम सात कार्य दिवस पहले सभी दस्तावेजों की सूची देगा जिन्हें सीधे परीक्षण में साक्षी से पूछा जाएगा। दस्तावेज न्यासी न्यायकक्ष उपलिपिक को उन डिस्ट्रीक्ट पर जहां साक्षी सुव्यस्थित होगा, ऐसे सभी दस्तावेजों की प्रतियां पर्याप्त समय से पहले, जब साक्ष्य प्रारंभ होना निश्चित हो गया है, उपलब्ध कराएगा। प्रति परीक्षण का अनुप्रेषित करने के लिए कोई आवश्यक दस्तावेज, जो साक्ष्य स्थान पर, जब प्रतिपरीक्षा प्रारंभ होती है, उपलब्ध नहीं है, तो उनको या उनकी प्रति सेटलाइट द्वारा टेलीकापीयर द्वारा संचालित करके साक्षी को दिखाया जाएगा।

5. **टेलीफोन और टेलीकापीयर :** किसी आवश्यक प्रौद्योगिक पहलु या अन्य बिंदु जो सेटलाइट ट्रांसमीशन के दौरान उठ सकते हैं, समन्वयन के लिए न्यायालय में उपलब्ध होंगे । टेलीफोन नं. (809) 766-5448। साक्षी को बुलाने वाला पक्षकार, विद्यमान टेलीफोन उपस्कर के अनुरूप हैंडसेट/हैडफोन उपलब्ध कराएगा। उस टेलीफोन का उपयोग करने में सक्षम एक टेलीकापियर भी, साक्षी को बुलाने वाले पक्षकार द्वारा न्यायालय में लगाएगा।

   उस कमरे में, जिसमें साक्षी को अपना साक्ष्य देना है, उपस्कर और एक टेलीकापीयर के अनुरूप हैडसेट/ हैडफोन सहित एक टेलीफोन उपलब्ध भी होगा। इस उपस्कर को, यह सुनिश्चित करने के लिए कि वह ट्रांसमिशन के समय उस स्थान में और चालू हालत में है, उपलब्ध कराने और उसके उपयोग से संबंधित सभी खर्चे अदा करने का दायित्व साक्षी को बुलाने वाले पक्षकार का होगा।

   407. साक्षी को बुलाने वाला पक्षकार जिले में, जहां साक्षी उपस्थित होता है, उपयोग होने वाले टेलीफोन और टेलीकापीयर (यदि भिन्न-भिन्न है) की संख्या(यों) के बारे में न्यायालय को सलाह देगा। यह सेटलाइट ट्रांसमिशन का प्रारंभ करना नियत होने के पहले 15 कलेंडर दिन के बाद नहीं किया जाएगा।

6. **अतिरिक्त उपस्कर :** ट्रांसमिशन करने के लिए आवश्यक तकनीकी उपस्कर के अतिरिक्त, साक्षी को बुलाने वाला पक्षकार अपने स्वयं के खर्चे पर निम्नलिखित उपलब्ध कराएगा :—

(क) **प्यूर्टो रिको न्यायालय में :—**

1. विद्यमान मोनीटर के अतिरिक्त, जहां साक्षी उपस्थित है, उस स्थान से एक अंदर के लिए मोनीटर और एक बाहर के लिए मोनीटर।

2. साक्षी स्टैंड पर, जहां साक्षी बैठेगा, रखा जाने वाला स्क्रीन।

3. विद्यमान कैमरों और मोनीटरों के अतिरिक्त एक दूरस्थ नियंत्रित कैमरा प्रश्न करने वाले अधिवक्ता (अटार्नी) को फोकस करते हुए साक्षी स्टैंड पर रखने के लिए और दूसरा कैमरा पीठासीन न्यायाधीश को फोकस करते हुए, प्रत्येक इसके सादृश्य मोनीटर होंगे।

4. अतिरिक्त कैमरों के लिए स्विच वाला।

(ख) **कमरा जहां साक्षी उपस्थित होता है :—**

1. न्यायकक्ष में उपयुक्त व्यक्ति(यों), दस्तावेजों, और/या प्रदर्शन को देखने के लिए साक्षी के लिए मोनीटर।

2. प्यूर्टो रिको में हैडफोन सहित, यदि आवश्यक हो, किसी भी मीटर के दायरे में साक्षी के सुनने के लिए पर्याप्त आवाज।

7. **जिले में तकनीकी मामलों का समन्वयन :** प्यूर्टो रिको में न्यायकक्ष के लिए तकनीकी मामलों पर आवश्यक समन्वयन इस न्यायालय के ऑडियो/वीडियो तकनीशियन, मि. जैम सौटोमेयर द्वारा किया जाएगा।

8. **अन्य जिले(लों) के साथ समन्वयन :** साक्षी को बुलाने वाला पक्षकार इस न्यायालय को प्रत्येक सेटलाइट ट्रांसमीशन के प्रारंभ होने के कम से कम 15 कलेंडर दिन पहले, प्रत्येक ट्रांसमीशन की आशयित तारीख(खों) के संबंध की सलाह देगा।

साक्षी को बुलाने वाले पक्षकार का यह दायित्व होगा कि वह समय पर और निर्बाध ट्रांसमीशन के लिए आवश्यक कार्मिक और संचार तंत्र का उन अन्य सभी जिलों में समन्वय करें। इसमें न्यायालय कक्ष का उप-लिपिक, यदि आवश्यक हो, कोई रिपोर्टर की उपस्थिति का प्रबंध करना और ट्रांसमीशन से पहले सभी उपस्करों को लगाना और उनकी चालू हालत सुनिश्चित करना सम्मिलित है।

9. **ट्रांसमीशन सुरक्षोपाय :** इस न्यायालय के लिखित आदेश के सिवाय, जिस मामले में उस न्यायालय में ऐसी रिकार्डिंग/वीडियो टेप बनाई गई है उस न्यायालय की एकमात्र संपत्ति होगी, कोई भी व्यक्ति कोई रिकार्डिंग/वीडियो टेप या सेटलाइट ट्रांसमीशन की रिकार्डिंग/वीडियो टेप की कोई प्रति न तो बनाएगा और न ही बनाने की अनुमति होगी । साक्षी को बुलाने वाले पक्षकार द्वारा यह सुनिश्चित करने के लिए कि न्यायालय कक्ष में उपस्थित व्यक्तियों से भिन्न अन्य कोई व्यक्ति सेटलाइट ट्रांसमीशन को देख, सुन या अन्यथा मोनीटर न कर सके, आवश्यक उपाय (संहिताबद्ध या अव्यवस्थित) करेगा। इसे सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी रोग निरोधी उपायों का कार्यान्वयन सेटलाइट ट्रांसमीशन के लिए अनुमति की एक शर्त है।

10. **लागत :** इसमें प्राधिकृत प्रक्रियाओं की आवश्यक तकनीकी उपस्कर और साथ ही इन प्रक्रियाओं का सभी सहवर्ती संचार-तंत्रिक प्रबंध की संपूर्ण लागत साक्षी को बुलाने वाले पक्षकार द्वारा वहन की जाएगी। इसमें आवश्यक विलंब या स्थगनों से संबद्ध कोई खर्चा सम्मिलित है और उनके जिन्हें प्रतिपरीक्षा पूरी करने के लिए प्राधिकृत किया है, तथापि, परंतु यह कि आवृत्तिय या संचयी प्रश्न करने सहित किसी प्रतिपरीक्षण का दुरुपयोग या आवृत्तियों द्वारा साक्ष्य को अनावश्यक बढ़ाना या लंबे या तुच्छ आपत्तियां उत्तरदायी पक्षकार के विलंब के कारण लागत निर्धारण परिणाम होंगे।

11. **साक्ष्य का रद्दकरण :** किसी साक्षी के साक्ष्य के रद्द होने की दशा में, उससे संबद्ध लागत साक्षी को बुलाने वाले पक्षकार द्वारा वहन की जाएगी। यदि रद्दकरण परिवर्तनीय या मामला रद्द करने वाले पक्षकार के नियंत्रण में होने के परिणामस्वरूप था, तब साक्षी को बुलाने वाला पक्षकार लागत वहन करेगा। यदि साक्षी किसी विधिमान्य

कारण से साक्ष्य देने के लिए उपलब्ध नहीं है तो साक्षी पर नियंत्रण रखने वाला पक्षकार साक्षी को बुलाने वाले पक्षकार को तुरंत सलाह देगा या अन्य रद्द करने वाला पक्षकार रद्दकरण से संबद्ध लागतों को वहन करेगा।

12. **प्यूर्टो रिको में सपीना करना और साक्ष्य देने का विकल्प :** यदि कोई पक्षकार इसमें बताई गई प्रक्रियाओं के अनुसरण में किसी साक्षी को साक्ष्य देने के लिए बाध्य करता है तो वह आशयित ट्रांसमीशन के कम से कम 15 कलेंडर दिन पहले साक्षी को सपीना कराएगा।

प्यूर्टो रिको ने यदि किसी साक्षी को साक्ष्य के लिए किसी सेटेलाइट ट्रांसमीशन के द्वारा सपीना कराया है तो वह विचारण के बजाए साक्ष्य को चुन सकेगा जिस मामले में ऐसी उपस्थिति का खर्चा साक्षी को बुलाने वाला पक्षकार वहन करेगा। तथापि, यह विकल्प बुलाने वाले पक्षकार को, ट्रांसमीशन के लिए तारीख के कम से कम सात कलेंडर दिन पहले अधिसूचित किया जाना चाहिए जिसमें बुलाने वाला पक्षकार या तो विकल्प को बना कर सकेगा या साक्षी पर नियंत्रण रखने वाला पक्षकार, निष्फल सेटलाइट ट्रांसमीशन से संबंधित कोई खर्चे अर्थात् उत्पादन पूर्व लागत, यदि इनसे नहीं बचा जा सकता है, वहन करेगा।

13. **साक्षियों को दोबारा बुलाना :** यदि कोई साक्षी सेटेलाइट द्वारा साक्ष्य देता है तो उसे विचारण पर तदनन्तर व्यैक्तिक रूप से उपस्थित होने की अनुमति नहीं होगी। उसका परवर्ती साक्ष्य या तो सैटलाइट ट्रांसमीशन द्वारा होगा या निक्षेपण द्वारा। इसके सेटेलाइट ट्रांसमीशन द्वारा होने की दशा में, सभी संबद्ध खर्चे बुलाने वाला पक्षकार वहन करेगा।"

अभियुक्त के दोषसिद्धि वाले उपर्युक्त निर्णय को फ्लोरिडा स्टेट के अपीलीय उच्चतम न्यायालय ने डेविड इरेल बनाम **स्टेट आफ फ्लोरिडा** सं. 90114 दिनांक 23-4-98 (709, सं. 2डी. 1364 = 23 फ्लो. एल वीकली 2236) मामले में अभिपुष्ट किया था (न्यायाधीश हार्डिंग ने निर्णय दिया और कोगन सी.जे., ओवरटॉन, 211 वेलस और एसटीड जे.जे. ने सहमति दी)। स्टेट उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि सन्मुखता खंड के अधीन प्रतिवादी का अपने अभियोक्ता के शारीरिक रूप से सन्मुखता का अधिकार निर्बाध नहीं है और जहां किसी प्रतिवादी का आमने सामने सम्मुखता का अधिकार, मामले की आवश्यकताओं पर लोक नीति के संचालकों को रास्ता देगा वहां इसमें विभिन्न अपवाद भी है। अपवादों की केवल तभी अनुमति है जब विश्वसनीयता अन्यथा सुनिश्चित की जाती है और विश्वसनीयता, सन्मुखता खंड के अन्य तीन तत्वों द्वारा अर्थात् शपथ, प्रतिपरीक्षा और साक्षियों के आचरण के संप्रेक्षण द्वारा प्रदर्शित की जा सकती है। सन्मुखता खंड के प्रयोजनार्थ न्यायालय में किसी स्क्रीन पर प्रतिबिम्ब द्वारा वास्तविक तस्वीर के लिए अपवाद के रूप में अर्हत बनाने के लिए प्रस्तावित प्रक्रिया (1) महत्वपूर्ण हितों, लोक नीतियों या मामले की आवश्यकताओं के आधार पर, किसी विनिर्दिष्ट निष्कर्ष मामले पर तर्कसंगत होना चाहिए, और (2) सम्मुखता खंड को अन्य तीन तत्वों अर्थात शपथ, प्रतिपरीक्षा और साक्षियों के आचरण के संप्रेक्षण को पूरा करना चाहिए। यहां, साक्षी न्यायालय की सपीना करने की शक्ति से बाहर रह रहे थे और उनको न्यायालय में उपस्थित होने के लिए बाध्य करने का कोई तरीका नहीं था, एक साक्षी बहुत कमजोर था और यू.एस. की यात्रा नहीं कर सकता था और दोनों साक्षी आवश्यक रूप से मामले में आवश्यक थे क्योंकि वे अपराध के पीड़ित थे। साक्ष्य को कायम रखने की प्रवृत्तियां, सन्मुखता खंड के अध्यधीन लाइव साक्ष्य उपलब्ध कराने के लिए सेटलाइट प्रक्रिया समुचित है। अवधारण के लिए उचित पहुंच, उन परिस्थितियों को उपलब्ध करने वाले नियमों के अधीन की गई, जिनके अधीन और जिस प्रक्रिया द्वारा कोई पक्षकार, उन साक्षियों के लिए जो उपलब्ध पाए गए हैं, के साक्ष्य को कायम रखने के लिए किसी प्रवृत्ति को ले सकता है, उस पक्षकार के लिए, जो किसी आपराधिक मामले में सेटलाइट साक्ष्य के समावेदन करता है, वृत्तिभोगी (1) विश्वसनीय व्यक्तियों के शपथपत्र के समर्थन द्वारा यह सत्यापित करने के लिए कोई प्रत्याशित साक्षी न्यायालय के प्रादेशिक अधिकार क्षेत्र के बाहर निवास करता है या न्यायालय में उपस्थित होने में असमर्थ है या किसी विचारण या सुनवाई में उपस्थित होने से रोका गया है, और (2) यह सत्यापित करने के लिए कि साक्षी का साक्ष्य भौतिक है और किसी न्याय की असफलता को रोकने के लिए आवश्यक है। ऐसा दर्शाने पर, विचारण न्यायालय सेटलाइट प्रक्रिया को, जो लाइव साक्षी की प्रतिपरीक्षा के लिए समकालिक अवसर प्रदान करता है, अनुमति देगा और आदान-प्रदान के दौरान साक्षी के आचरण का संप्रेक्षण करने के लिए ज्यूरी को

अनुमति देगा। यदि पक्षकारों में इस बात पर झगड़ा है कि क्या सेटलाइट कार्यवाही या साक्ष्य को कायम रखने के लिए कोई प्रवृत्ति अधिक उपयुक्त है, तब विनिश्चय को विचारण न्यायालय के विवेकाधिकर पर छोड़ा जा सकेगा जिसके आधार पर जो भी प्रक्रिया अपनाता है वह न्याय करने के लिए अच्छी होगी। सेटलाइट से साक्ष्य प्रस्तुत करने की प्रक्रिया ने सन्मुखता खंड के शपथ, प्रतिपरीक्षा और साक्षी के आचरण के संप्रेक्षण के सुरक्षोपायों को पूरा किया है, और इस प्रकार साक्षी का साक्ष्य पर्याप्त रूप से विश्वसनीय था, राज्य न्यायालय मुवक्किल द्वारा देश के बाहर के साक्षियों को शपथ दिलाने के अधीन लाया गया था, इसमें प्रतिवादी को साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करने का अवसर दिया गया था और इसके प्रावधनों के अनुसार ज्यूरी साक्षियों को जैसा उन्होंने साक्ष्य दिया है, संप्रेक्षण कर सकेगा, और साक्षी मिथ्या शपथ के लिए संभावित शास्ति के अध्यधीन रखा गया। सन्मुखता खंड द्वारा शपथ केवल तभी प्रभावी है यदि मिथ्या शपथ पर जानबूझकर मिथ्या विवरण करने के लिए अभियोजन के अध्यधीन हो । यह सुनिश्चित करने के लिए कि मिथ्या शपथ की संभावना साक्षी के लिए खाली धमकी नहीं जिसे यू.एस. से बाहर सेटलाइट से साक्ष्य देना है, सम्मुखता खंड की अपेक्षा के अनुरूप शपथ के लिए यह स्थापित होना चाहिए कि साक्षी के देश और यू.एस. के बीच कोई प्रत्यार्पण संधि विद्यमान है और यह कि ऐसी संधि मिथ्या शपथ के अपराध के लिए प्रत्यार्पण की अनुमति देती है। मिथ्या शपथ के लिए अर्जेन्टीना और यू.एस. के बीच प्रत्यार्पण संधि विद्यमान है और यह सेटलाइट द्वारा अर्जेन्टीना के साक्षियों के साक्ष्य, सन्मुखता खंड की शपथ की अपेक्षाओं को पूरा करती है। संभव ओडियों और विजुअल समस्याओं के कारण, जो साक्षियों के साक्ष्य को सेटलाइट ट्रांसमीशन से विकसित कर सकते हैं, विचारण न्यायाधीश को ऐसी समस्याओं को मोनीटर करना चाहिए और यदि समस्याएं सन्मुखता खंड की प्रतिपरीक्षा या साक्षियों के आचरण के संप्रेक्षण की अपेक्षाओं की विश्वसनीयता को चुनौती देती है तो प्रक्रिया को रोक देना चाहिए।

उपर्युक्त कारणों से फ्लोरिडा उच्चतम न्यायालय ने अपील को रद्द कर दिया और दोषसिद्धि की पुष्टि की। हार्डिंग जे ने यह बताते हुए निष्कर्ष निकाला कि न्यायालय गत वर्षों के किसी कोबा में व्यर्थ नहीं बैठ सकते'' :

> ''हमारे न्यायालय आज के विनिश्चय के महत्व के प्रति सतर्क हैं। हम भी अब सतर्क हैं कि हमारा समाज और वास्तव में विश्व सूचना युग के बिल्कुल मध्य में है। अमेरिकन घर-बार और कारबार में कंप्यूटर प्रतिमान हैं, इंटरनेट के द्वारा अनन्त सूचना हमारी अंगुली त्राणों पर उपलब्ध हैं, और सेटलाइट तकनीकी हमें अपने रहने के कमरे को छोड़े बिना विश्व की यात्रा की अनुमति देती है।
>
> इन तकनीकीय नवाचार से विधि व्यवसाय को भी फायदा हुआ है। विधिक अनुसंधान, जिसमें बहुत से घंटे या दिन लगते थे, अब कंप्यूटर और इंटरनेट डेटाबेस द्वारा सैकिंडों में उपलब्ध हो जाता है। सेल्यूलर और वीडियों नवाचार के उपयोग द्वारा मुवक्किल अपने अधिवक्ताओं तक विश्व में कहीं भी पहुंच सकते हैं। इस प्रकार, इसकी सूची बहुत लंबी है।
>
> वास्तव में, हमारे सभी न्यायालयों को, जो नवीन तकनीकीय प्रगति हुई है, पर गर्व है। सेटलाइट द्वारा न्यायालय के समक्ष मौखिक तर्क-वितर्कों का पूरे राज्य में सजीव प्रसारण किया जाता है। ऐसे तर्क वितर्कों को, पक्षों के ब्रीफों सहित आन लाईन पर देखा जा सकता है। फ्लोरिडा उच्चतम न्यायालय की वेबसाइट का, न्यायालय के दरवाजे जनता के लिए खोलने के लिए पूरे विश्व में स्वागत हुआ है। इस प्रकार के सभी कदमों ने न्यायिक प्रणाली तक पहुंच उपलब्ध कराई है जिससे लोक विश्वास और जागरुकता बढ़ी है।
>
> यह कहते हुए बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि इस स्टेट के न्यायालय गत वर्षों के किसी कोबा में व्यर्थ नहीं बैठ सकते जबकि समाज और तकनीकी अगली सहस्त्राब्दि की ओर दौड़ रही है। सौभाग्य से, इस स्टेट के न्यायालय न तो निरर्थक हो गए हैं और न ही वे लापरवाह चाल से चल रहे हैं। न्यायालय में नए परिवर्तनों में, ओडियों टेप आशुलिपिकों और साथ ही प्रथम उपस्थिति आक्षेपों का वीडियों ट्रांसमीशन और अपीलीय मौखिक तर्क-वितर्क, इसी प्रकार के नामों के अनुरूप कुछ और भी सम्मिलित किया है।
>
> हम स्वीकार करते है कि साधारणतया परिवर्तन से लागतें संबद्ध है। फिर भी, न्यायालय में तकनीकी परिवर्तन, हमारे संविधान द्वारा सुरक्षित मौलिक व्यैक्तिक अधिकारों और स्वतंत्रता के मूल्यपर आ सकते। हमें विश्वास है

कि आज की समर्थित प्रक्रिया, जब उचित प्रकार से व्यवस्थित की गई है, पहुंच और न्याय प्रणाली की कार्यक्षमता दोनों को, सुरक्षापायों की आकांक्षाओं से, जो आपराधिक प्रतिवादियों को आश्वस्त करती है, समझौता किए बिना बढ़ाएगी।

हमारे देश का संविधान एक जीवित दस्तावेज है जो समय की परख और परिवर्तन पर खड़ा हुआ है। इस बिन्दु को तथ्य द्वारा दृष्टांत देकर समझाया जा सकता है कि हमारा संविधान हमारे देश के जन्म के 200 वर्षों से भी अधिक समय बीत जाने के उपरांत भी व्यवहार्य है। हमारे देश के संस्थापकों के पास तो तरीका नहीं था जिससे वे नवाचारों का अनुमान लगा सकते जो हमारे समस्त देश के जीवनकाल में स्थान लेंगे। इन परिवर्तनों, में लेजर बिजली, ट्रेन, वायुयान और मोटर परिवहन और यहां तक कि अंतरिक्ष गवेषण में अभिवृद्धि सम्मिलित हैं। हम आज आगे होने वाले परिवर्तनों की भविष्यवाणी नहीं कर सकते। लेकिन हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हमारा संविधान और साथ ही यह महान राष्ट्र भविष्य में होने वाले किसी परिवर्तन को सहन कर सकता है जबकि उसी समय यह सुनिश्चित करना है कि वैयक्तिक अधिकार और स्वतंत्रता बनाए रखी जाएगी।

तदनुसार, ऊपर बताए गए कारणों से, हम सत्यापित प्रश्न का उत्तर सकारात्मक में देते हैं और उस परिणाम का समर्थन करते हैं जिस पर अपीलीय थर्ड डिस्ट्रीक्ट न्यायालय पहुंचा था।

यू.के. (परिवार प्रभाग) व्यवसाय निर्देश में वीडियो कांफ्रेंसिंग : [2002(1) डब्ल्यू.एल.आर. 406]

यूनाइटेड किंगडम में, फैमिली डिविजन में, न्यायमूर्ति डेम एलिजाबेथ बटलर-स्लोस पी के अनुमोदन से वरिष्ठ जिला जर्नल, गेरल एंजल द्वारा जारी व्यवसाय निर्देश के द्वारा वीडियो कांफ्रेंसिंग के लिए प्रक्रिया रखी गई है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"1. वीडियो कांफ्रेंसिंग सुविधा न्यायालय 38 में रॉयल कोर्ट ऑफ जस्टिस (आर.सी.जे.) में उपलब्ध है। फैमिली डिविजन की प्रथम रजिस्ट्री में लंबित कार्यवाहियों में, जिनकी आर.सी.जे. या फर्स्ट एवेन्यू हाऊस में सुनवाई होती है और जिनमें इन सुविधाओं के उपभोग की इच्छा जताई गई है, निम्नलिखित प्रक्रिया का संप्रेक्षण किया जाना चाहिए।

2. (क) वीडियो कांफ्रेंसिंग सुनवाई के लिए निर्देश कार्यवाहियों में किए गए किसी आदेश द्वारा दिए जाने चाहिए। आदेश बिना उपस्थिति के किया जा सकेगा परन्तु सभी पक्षकारों की स्वीकृति होना चाहिए; (ख) आदेश में, सामान्य निबंधन में, सुनवाई का प्रयोजन और तारीख समय, स्थान और सुनवाई की अवधि और स्थान या देश जिसके साथ संपर्क प्रभावित होना है, विनिर्दिष्ट होना चाहिए; (ग) सुविधाओं की उपलब्धता मुलाकात नियत करने के आदेश करने से पहले सुनिश्चित करनी चाहिए। यह उनसे, जो आर.सी.जे. में ("वीडियो मैनेजर"—रोजर लिटिल और नार्मन मुलर, टेलीफोन नं. 0207947 6585, फैक्स 02079476613) वीडियो कांफ्रेंसिंग सुविधा का प्रबंध करने के लिए उत्तरदायी है, से संपर्क करके किया जा सकता है। यदि आदेश, किसी सुनवाई पर किया जाता है तब संबद्ध न्यायालय या लिपिक, कोई उपलब्ध तारीख अभिनिश्चित करने के लिए टेलीफोन करेंगे। बिना उपस्थित किए जाने वाले आदेशों के लिए पक्षकारों को आवेदन पत्र प्रस्तुत करने से पहले सुविधा की उपलब्धता अभि निश्चित कर लेनी चाहिए; (घ) प्रत्येक मामले में, पक्षकारों को, जहां तक संभव हो सके यथाशीघ्र, आदेश होने के बाद, यह सुनिश्चित करने के लिए कि नियत तारीख से पहले टेलीफोन संपर्क स्थापित करने के लिए सभी आवश्यक प्रबंध ठीक से व्यवस्थित कर लिए हैं, वीडियो प्रबंधक से संपर्क करना चाहिए।

3. जहां किसी मामले में मुख्य सुनवाई, आर.सी.जे पर वीडियो कांफ्रेंसिंग सुविधा सुविधापूर्वक उपलब्ध नहीं होने से विलंब हो सकता है वहां बार काउंसिल या ला सोसाइटी पर वीडियो कांफ्रेंसिंग सुविधा का उपयोग करने पर विचार करना चाहिए। यदि आर.सी.जे से दूर सुविधा का उपयोग किया जाता है तो वीडियो कांफ्रेंसिंग सुनवाई के लिए, वीडियो कांफ्रेंसिंग उपलब्ध कराने वाले सहित सभी आवश्यक प्रबंध करने का दायित्व आवेदन करने वाले पक्षकार का होगा।

4. डेम एलिजाबेथ बटलर स्लोज पी के अनुमोदन से जारी किया गया है।

हम यू.के. आपराधिक प्रक्रिया और अन्वेषण अधिनियम, 1996 का भी निर्देश कर सकेंगे, जो टेलीविजन संपर्कों और वीडियो रिकार्डिंग से संबंधित है। (देखें http//www.hmso./gov./uk/acts/1996/96025-n.htm.)

जहां तक वीडियो कांफ्रेंसिंग के बारे में साक्ष्य अधिनियम में कोई उपबंध करने का संबंध है, हमारा विचार है कि इसके पक्ष में कोई उपबंध प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त परिपक्व समय नहीं है। अन्य देशों में प्रस्तुत किए गए उपबंधों का पाठ दर्शाता है कि प्रथम वीडियो कांफ्रेंसिंग के लिए विचारण न्यायालयों में सुविधाएं होनी चाहिए और उनका पूर्ण सबूत होना चाहिए। इन सुविधाओं को उपलब्ध कराने में यथेष्ठ खर्चा सम्मिलित होता है। जहां तक अवमानना विधि का संबंध है, हम देख चुके हैं कि आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड का द्विपक्षीय समझौता है जो नियमों में प्रतिबिंम्बित है। यू.एस.ए. के निर्णय दर्शाते हैं कि जहां तक न्यायाधीन का संबंध है, उन राज्यों में प्रत्यर्पण संधियां होनी चाहिए, जहां साक्षी निवास करता है। सिंगापुर में हम पाते हैं कि आपराधिक कार्यवाहियों से भिन्न अन्य कार्यवाहियों के लिए ये सुविधाएं सीमित हैं।

69वीं रिपोर्ट में, (देखें अध्याय 24) थोड़ी चर्चा करने के पश्चात्, पैरा 24.4में यह बताया गया है कि धारा में जहां तक इसमें एक आज्ञापक नियम विवक्षित है कि दस्तावेजों की अंतर्वस्तु कभी भी मौखिक साक्ष्य से साबित नहीं की जा सकती, उपयुक्त शब्दों का चयन नहीं हुआ है (जैसा कि बुडरोफ और अमीर अली ने कहा है)। कतिपय परिस्थितियों में, दस्तावेजों की अंतर्वस्तु मौखिक साक्ष्य से साबित की जा सकती है जब दस्तावेजों की अंतर्वस्तु का ऐसा साक्ष्य द्वितीयक साक्ष्य के रूप में स्वीकार्य हो (देखें धारा 63(5)धारा 91 और 92 भी देखें)। तथापि, यह कहा गया था कि यह छोटी सी बात है और इसके लिए संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

तथापि, हमारे विचार में यह छोटी बात नहीं है और हम धारा को निम्नलिखित रूप में संशोधित करने का प्रयास करते हैं :

<u>मौखिक साक्ष्य द्वारा तथ्यों का साबित किया जाना</u>

"59(1) उपधारा (2) के उपबंधों के अधीन, सभी तथ्य मौखिक साक्ष्य द्वारा साबित किए जा सकेंगे।

(2) इस अधिनियम में अन्यथा स्पष्ट रूप से उपबंधित के सिवाय, दस्तावेजों की अंतर्वस्तु और इलैक्ट्रानिक रिकार्ड मौखिक साक्ष्य द्वारा साबित नहीं किए जाएंगे"

धारा 60

धारा 60 में कहा गया है कि "मौखिक साक्ष्य प्रत्यक्ष होना चाहिए"

"60—मौखिक साक्ष्य, समस्त अवस्थाओं में चाहे वे कैसी भी हों, प्रत्यक्ष ही होगा, अर्थात्

— यदि यह किसी देखे जा सकने वाले तथ्य के बारे में है, तो वह ऐसे साक्षी का साक्ष्य होगा जो कहता है कि उसने उसे देखा ;

— यदि यह किसी सुने जा सकने वाले तथ्य के बारे में है तो वह ऐसे साक्षी का ही साक्ष्य होगा जो कहता है कि उसने उसे सुना ;

— यदि वह किसी ऐसे तथ्य के बारे में है जिसका किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा या अन्य रीति से बोध हो सकता था, तो वह ऐसे साक्षी का साक्ष्य होगा जो कहता है कि उसने इसका बोध इस इन्द्रिय द्वारा या उस रीति से किया;

— यदि वह किसी राय के, या उन आधारों के, जिन पर वह राय धारित है, बारे में है, तो वह उस व्यक्ति का ही साक्ष्य होगा जो वह राय उन आधारों पर धारण करता है ;

परन्तु विशेषज्ञों की राय, जो सामान्यतः विक्रय के लिए प्रस्थापित की जाने वाली किसी पुस्तक में अभिव्यक्त है, और वे आधार, जिन पर ऐसी राय धारित है, यदि रचयिता मर गया है, या वह मिल नहीं सकता है या वह साक्ष्य देने के लिए असमर्थ हो गया है या उसे इतने विलंब और व्यय के बिना जितना न्यायालय अयुक्तियुक्त समझता है, साक्षी के रूप में बुलाया नहीं जा सकता हो, ऐसी पुस्तकों को पेश करके साबित किए जा सकेंगे।

परन्तु यह भी कि यदि मौखिक साक्ष्य दस्तावेज से भिन्न किसी भौतिक चीज के अस्तित्व या दशा के बारे में हैं, तो न्यायालय यदि ठीक समझे, तो ऐसी भौतिक चीज को अपने निरीक्षणार्थ पेश किए जाने की अपेक्षा कर सकेगा।

दूसरे परन्तुक में 'वास्तविक साक्ष्य' कहे जाने वाले साक्ष्य का निर्देश किया गया है।

69वीं रिपोर्ट में एक अतिरिक्त परन्तुक का सुझाव दिया गया था (देखें पैरा 25.36, 25.37) किसी विशेषज्ञ की परीक्षा के लिए आज्ञापक अपेक्षाएं समय की बर्बादी है और यह कि इसके बजाय, यह मामला न्यायालय के विवेकाधिकार पर छोड़ दिया जाना चाहिए।

इस संदर्भ में, यहां हम इस बात का उल्लेख कर सकेंगे कि इंग्लैण्ड में भी विशेषज्ञों की परीक्षा, जिसके परिणाम स्वरूप सिविल न्यायालयों के विचारण में अनावश्यक विलंब हुआ है, के अधिकार के दुरुपयोग की गंभीर आलोचना हुई है और परिणाम यह हुआ कि सिविल मामलों में विशेषज्ञ के साक्ष्य को स्वीकार करने की समस्त प्रक्रिया ही सिविल प्रक्रिया नियमों द्वारा किए गए परिवर्तनों के कारण मूलभूत रूप में ही परिवर्तित हो गई है। परिवर्तन के ये नियम "एक्सैस टू जस्टिस" (अंतरिक रिपोर्ट जून 1995 और अंतिम रिपोर्ट 1996) शीर्षक से प्रकाशित लार्ड बुल्फ की दो रिपोर्टों को ध्यान में रखते हुए बनाए गए। इंग्लैण्ड में छोटो दावों के लिए किसी विशेषज्ञ की परीक्षा नहीं की जा सकती। 'फास्ट ट्रैक' तथा 'मल्टी ट्रैक' मामलों के लिए पृथक नियम बनाए गए हैं । (देखें फिप्सन, 1999, 15वां संस्करण, पैरा 37.19 से 37.30)।

अतः हम 69वीं रिपोर्ट की सिफारिश से पूरी तरह सहमत है (देखें पैरा 25.37)। प्रस्तावित उपबंध से कोई अन्याय कारित नहीं होता है क्योंकि इससे प्रतिपरीक्षा के लिए किसी विशेषज्ञ को बुलाने के पक्षकार के अधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि आवश्य हो तो स्पष्ट रूप से यह उपबंधित किया जा सकेगा कि पक्षकारों को प्रति परीक्षा के लिए विशेषज्ञ को बुलाने का अधिकार प्राप्त होगा। जहां विशेषज्ञ की राय ऐसी है जिसे **स्वयं पक्षकार** द्वारा व्यक्त किया गया है वहां वह ठीकहै, धारा 154 के अध्यधीन, ऐसा कोई अधिकार प्राप्त नहीं होगा। 69वीं रिपोर्ट की इस सिफारिश से हम पूर्णतया सहमत हैं।

प्रस्तावित परंतुक में भी ऐसे मामलों का ही निर्देश है जहां कोई विशेषज्ञ सरकारी कर्मचारी है।

मोटे रूप में प्रस्तावित प्रारूप का पाठ निम्नलिखित है (देखें पैरा 25.37, 69वीं रिपोर्ट) :

"परन्तु यह और भी कि लिखित में व्यक्त की गई विशेषज्ञ की राय तथा वेआधार जिन पर यह राय धारित है, ऐसे लेख को प्रस्तुत किए जाने पर साबित की जा सकेगी यदि निम्नलिखित शर्तें पूरी होती हैं, अर्थात् :—

(i) विशेषज्ञ सरकारी कर्मचारी है या किसी स्थानीय प्राधिकरण या किसी विश्वविद्यालय का या अनुसंधान कार्य में लगे किसी अन्य संस्थान का कर्मचारी है और न्यायालय ने या तो उससे स्वयं ही बात की है या किसी आवेदन पर;

(ii) विशेषज्ञ ने अपने नियोजन में रहते हुए अपनी राय रिकार्ड की है; और

(iii) न्यायालय मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, न्याय के हित में यह वांछनीय समझा है कि विशेषज्ञ को प्रति परीक्षा के लिए बुलाने के किसी भी पक्षकार के अधिकार के अध्यधीन विशेषज्ञ की राय तथा वे आधार जिन पर वह धारित है, ऐसे किसी लेख को प्रस्तुत किए जाने के लिए साबित किए जाने चाहिए।"

परन्तु हम यह महसूस करते हैं कि मोटे रूप में तैयार किया गया यह प्रारूप दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें कहीं पर भी न्यायालय के विवेकाधिकार का निर्देश नहीं है। हमने इसके स्थान पर परंतुक का निम्नलिखित प्रारूप तैयार किया है :

"परन्तु यह और भी कि किसी विशेषज्ञ की लिखित रूप में अभिव्यक्त राय, तथा वे आधार जिन पर यह राय धारित है, विशेषज्ञ को साक्षी के रूप में बुलाए बिना ही साबित किए जा सकेंगे, जब तक कि न्यायालय, मामलों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अन्यथा निदेशित न करे, जहां विशेषज्ञ—

(i) केन्द्रीय या राज्य सरकार का या किसी स्थानीय प्राधिकरण का या किसी विश्वविद्यालय का या अनुसंधान कार्य में लगे किसी अन्य संस्थान का कर्मचारी है और न्यायालय ने उससे पक्षकार के आवेदन पर या स्वयं अपने प्रस्ताव पर ही परामर्श किया है; या

(ii) अपने नियोजन में रहते हुए ही अपनी राय रिकार्ड की है,

तथापि, यह प्रति परीक्षा के लिए किसी विशेषज्ञ को बुलाने के किसी भी पक्षकार के अधिकार के अध्यधीन होगा"।

धारा 60क (69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित रूप में)

69वीं रिपोर्ट में यह प्रावधान 'आयु के साक्ष्य' के बारे में किया गया था परंतु आयोग ने उपलब्धता के दुरुपयोग के भय से प्रस्ताव को छोड़ दिया। इससे हम सादर सहमति व्यक्त करते हैं।

अध्याय पांच में धारा 61 से 73क

इन सभी धाराओं को एक साथ दस्तावेजी साक्ष्य शीर्षक एक वर्ग में रखा गया है। धारा के अन्य वर्गों पर दूसरे शीर्षकों के अन्तर्गत चर्चा की गई है। हम धारा 61 से 63क तक एक वर्ग के अन्तर्गत ही लेंगे।

धारा 61

इस धारा में दस्तावेजों की अंतर्वस्तुओं के सबूत का निर्देश है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"61 दस्तावेजों की अंतर्वस्तु या तो प्राथमिक या द्वितीयक साक्ष्य द्वारा साबित की जा सकेगी"

धारा 62 प्राथमिक साक्ष्य के बारे में है। धारा 63 द्वितीयक साक्ष्य के, धारा 64 प्राथमिक साक्ष्य द्वारा दस्तावेजों को साबित किए जाने के और धारा 65, ऐसे मामलों के जिनमें दस्तावेजों की अंतर्वस्तु के बारे में द्वितीयक साक्ष्य दिया जा सकेगा, धारा 65क और 65ख में इलैक्ट्रानिक रिकार्ड से संबंधित साक्ष्य तथा उनकी स्वीकार्यता के बारे में विशिष्ट प्रावधानों का उल्लेख है तथा धारा 66 'पेश करने की सूचना के बारे में नियमों का उल्लेख करती है (जो धारा 65 के खंड (क) का निर्देश करती है) 'धारा 67 से 73 में विवरण के अन्य विषयों जैसे हस्ताक्षर के सबूत, निष्पादन, हस्ताक्षरों की तुलना, डिजीटल हस्ताक्षरों के प्रमाणीकरण के सबूत का निर्देश है।'

जहां तक धारा 61 का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट में कहा गया है (देखें पैरा 29.11) कि इसमें किसी से संशोधन की आवश्यकता नहीं है। इससे हम सादर सहमत हैं।

धारा 62

यह 'प्राथमिक साक्ष्य' के बारे में है, इसका पाठ निम्नलिखित है :

"62 प्राथमिक साक्ष्य से न्यायालय के निरीक्षण के लिए पेश की गई दस्तावेज अभिप्रेत है।"

स्पष्टीकरण–1 : जहां कि कोई दस्तावेज कई मूल प्रतियों में निष्पादित है वहां हर एक मूल प्रति उस दस्तावेज का प्राथमिक साक्ष्य है।

जहां कि कोई दस्तावेज प्रतिलेख में निष्पादित है और हर एक प्रतिलेख पक्षकारों में से केवल एक पक्षकार या कुछ पक्षकारों द्वारा निष्पादित किया गया है, वहां हर एक प्रतिलेख उन पक्षकारों के विरुद्ध, जिन्होंने उसका निष्पादन किया है, प्राथमिक साक्ष्य है।

स्पष्टीकरण–2 : जहां कि अनेक दस्तावेज एकात्मक प्रक्रिया द्वारा बनाए गए हैं, जैसा कि मुद्रण, शिलामुद्रण या फोटो चित्रण में होता है, वहां उनमें से हर एक शेष सबकी अंतर्वस्तु का प्राथमिक साक्ष्य है, किंतु जहां कि वे सब किसी सामान्य मूल की प्रतियां हैं वहां वे मूल की अंतर्वस्तु का प्राथमिक साक्ष्य नहीं है।

इस धारा के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है और यह मुद्रित प्लेकार्ड के बारे में है तो सभी एक पूल से मुद्रित किए गए हों। इन प्लेकार्डों में से कोई भी एक दूसरे की अंतर्वस्तु का साक्ष्य है परंतु उनमें से कोई भी मूल की अंतर्वस्तु का प्राथमिक साक्ष्य नहीं है।

फिप्सन ने कहा है (देखें 15वां संस्करण, 1999 पैरा 41.08) कि मूल दस्तावेज इसलिए बना है, ताकि वह इस अर्थ में प्राथमिक साक्ष्य बन सके, यह सुनिश्चित करना सर्वथा सरल नहीं है और कभी-कभी एक ही दस्तावेज एक प्रयोजन से प्राथमिक साक्ष्य हैं और दूसरे से द्वितीयक।

जहां दस्तावेज "रिप्रोग्राफिक, आटोमेटिड या कंप्यूटराईज्ड" प्रणाली से तैयार होते हैं उन पर "मूल" चिह्नित किया जाना चाहिए ताकि यूनिफार्म कस्टम्स एंड प्रैक्टिस आफ डोक्यूमेंटरी क्रेडिट्स के अनुच्छेद 20(ख) (यूसीपीडीसी) का अनुपालन हो सके। ये सामान्यता बैंक के अधिकांश दस्तावेजों में समाविष्ट समझे जाते हैं (**देखें ग्लैनकोर, इंटरलेशनल ए.जी. बनाम बैंक आफ चाइना**) (1996) (1) लामड्स रिप 135 **फैडरल बैंक लिमिटेड बनाम बी.एम. जोग इंजीनियरिंग लिमिटेड** [2001)(1) एस.सी.सी. 663] ।

स्पष्टीकरण–2 यह दर्शाता है कि मुद्रण आदि के मामले में प्रत्येक मूल दस्तावेज प्राथमिक साक्ष्य नहीं है परंतु प्रत्येक मूल दस्तावेज केवल अन्य प्रतियों का प्राथमिक साक्ष्य है। फिप्सन ने कहा है (वही) (पैरा 41.19) कि कापी मशीन से (बनाई गई प्रत्येक प्रति मूल का द्वितीयक साक्ष्य समझी जाती है) [**मोडिन बनाम मुर्रा धारा** (1812) 3 कैम्प 228] और मुद्रित, शिक्षा मुद्रित तथा फोटो चित्रित प्रतियां यद्यपि, जैसाकि हमने देखा है, प्रत्येक की अंतर्वस्तु के प्राथमिक साक्ष्य हैं—सामान्य मूल के केवल द्वितीयक साक्ष्य हैं। **रिस्टीफन्स** में एम आर 9 सी पी 1871 न हटाए जा सकने वाले अभिलेखों के फोटोचित्र प्राप्त हुए, परंतु फोटो चित्रित प्रति का सही होना, विशेषकर बाह्य साक्ष्य का, जैसे नक्शा या प्लान का, न्यायाधीश की संतुष्टि के लिए फोटोग्राफर द्वारा या किसी अन्य के द्वारा जो उसके सही होने के बारे में जानता हो, शपथ पर स्थापित किया जाना चाहिए (**हिन्दसन बनाम एश बी** (1896) 2 सी एम 1, **यू एस शिपिंग बोर्ड बनाम दी सेंट आलबानस** 1931 ए सी 632।

उच्चतम न्यायालय ने **गवर्नमेंट आफ आंध्र प्रदेश बनाम करसीचिना वेंकट रेड्डी**, ए आई आर 1994 पैरा 591 मामले में यह टिप्पणी की है कि जहां किसी दस्तावेज की मौलिकता मूलभूत प्रश्न है वहां मूल रिकार्ड की जांच करने के पश्चात् ही उसकी फोटोस्टेट प्रतियां स्वीकार की जानी चाहिए।

टाइपराइटरों की कार्बन प्रतियां, सभी प्रयोजनों के लिए, समान मानी जाएंगी, यद्यपि नीचे की प्रतियों के पूर्ण रूप से स्पष्ट होने की संभावना कम ही होती है। एक ही समय तैयार की गई कैश मीमो प्राथमिक साक्ष्य है (**गुरुमूर्ति पात्र बनाम स्टेट आफ उड़ीसी**, 1990 क्रिम एल जे (एम ओ सी) 160 (उड़ीसा)। **फैडरल यू एस कंपनी बनाम इंडियन एल एंड एक कंपनी**) (176 इन, 328) मामले में, मशीन की तीन कार्बन प्रतियों में से प्रत्येक को मूल माना गया (**पिरथीचन्द बनाम स्टेट आफ हिमाचल प्रदेश**, ए आई आर 1989 पैरा 702)

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि धारा 62 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 63

धारा 63 में द्वितीयिक साक्ष्य का निर्देश है। इसका पाठ निम्नलिखित है:

"63 द्वितीयिक साक्ष्य से अभिप्रेत है और उसके अंतर्गत आते हैं—

(1) एतस्मिन पश्चात् अंतर्विष्ट उपबंधों के अधीन दी हुई प्रमाणित प्रतियां;

(2) मूल से ऐसी यांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा, जो प्रक्रियाएं स्वयं ही प्रति की शुद्धता सुनिश्चित करती है, बनाई गई प्रतियां तथा ऐसी प्रतियों से मिलान की गई प्रतिलिपियां;

(3) मूल से बनाई गई मिलान की गई प्रतियां;

(4) उन पक्षकारों के विरुद्ध जिन्होंने उन्हें निष्पादित नहीं किया है, दस्तावेजों के प्रतिलेख;

(5) किसी दस्तावेज की अंतर्वस्तु का उस व्यक्ति द्वारा, जिसने स्वयं उसे देखा है, दिया हुआ मौखिक वृत्तांत।

इस धारा के नीचे चार दृष्टांत दिए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट में सदस्यों के बीच 3/3 का मतभेद था। डा. गजेन्द्र गडकर, श्री सेन वर्मा और श्री पी.एम. बख्शी का यह प्रस्ताव था कि धारा 65 के खंड (ख) और (छ) में जो कुछ दिया गया है वह सभी धारा 63 में लाया जाना चाहिए क्योंकि धारा 63 को न्यायालयों द्वारा अन्यथा द्वितीयिक साक्ष्य की परिभाषा का विस्तृत रूप समझा जा रहा है। वास्तव में, इस संबंध में, न्यायालयों के बीच भी मतभेद था। यह मतभेद इसलिए पैदा हुआ क्योंकि धारा 63 में अभिप्रेत और उसके अंतर्गत आते हैं"— शब्दों का प्रयोग किया गया है। दूसरी ओर डा. त्रिपाठी तथा श्री मित्रा का विचार था कि धारा 63 संशोधित नहीं की जानी चाहिए और उन्होंने इस संबंध में एक पृथक् टिप्पण भी दिया है। डा. धवन ने डा. पी.बी. गजेन्द्र गडकर, श्री सेन वर्मा और श्री पी एम बख्शी से असहमति व्यक्त करते हुए एक पृथक टिप्पण दिया हैं। मतभेद को ध्यान में रखते हुए संशोधन के बारे में कोई निर्णय नहीं किया गया।

धारा 63 में पांच प्रकार के साक्ष्यों का निर्देश है। खंड (1), (2) और (3) दस्तावेजों की तीन प्रकार की प्रतियों का निर्देश करते हैं। खंड (4) में प्रतिलेखों का और खंड (5) में दस्तावेजों की अंतर्वस्तु के मौखिक वृत्तांत का निर्देश है।

दृष्टांत (क) में फोटोग्राफ का उल्लेख है, खंड (2) के पहले भाग में कहा गया है कि मूल से मिलान करना आवश्यक नहीं है। दृष्टांत (ख) में प्रति से प्रति का मिलान और खंड (2) के बाद वाले भाग का निर्देश है और इसमें कहा गया है कि मूल से मिलान करना आवश्यक है। दृष्टांत (ग) खंड (3) का, नकल करके तथा मूल से मिलान करके तैयार की गई प्रति का निर्देश करता है। दृष्टांत (घ) खंड (5) का निर्देश करता है और दर्शाता है कि मूल की अंतर्वस्तु का, प्रति का नहीं, मौखिक वृत्तांत द्वितीयिक साक्ष्य होगा।

धारा 65 में कहा गया है कि किसी दस्तावेज के आस्तित्व, दशा या अंतर्वस्तु का द्वितीयिक साक्ष्य दिया जा सकेगा जब —

(क) .....

(ख) जबकि मूल के आस्तित्व, दशा या अंतर्वस्तु को उस व्यक्ति द्वारा, जिसके विरुद्ध उसे साबित किया जाना है, या उसके हित प्रतिनिधि द्वारा लिखित रूप में स्वीकृत किया जाना साबित कर दिया गया है,

(ग) .....

(घ) .....

(ङ) .....

(च) .....

(छ) जबकि मूल ऐसे अनेक लेखाओं या अन्य दस्तावेजों से गठित है जिनकी न्यायालय में सुविधापूर्वक परीक्षा नहीं की जा सकती और वह तथ्य जिसे साबित किया जाना है संपूर्ण संग्रह का साधारण परिणाम है।

धारा 65 में आगे कहा गया है कि खंड (ख) में लिखित स्वीकृति ग्राह्य है और खंड (छ) में किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा, दस्तावेजों के सामान्य परिणाम के बारे में साक्ष्य, जिसने उनकी जांच की है, और जो ऐसे दस्तावेजों की जांच करने के लिए सक्षम है, आवश्यक है।

सरकार (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 1064) ने कहा है कि द्वितीयिक साक्ष्य के अन्य पक्षकारों के बारे में विचार किया गया है जैसे, स्वीकृतियों, मृतक व्यक्तियों के कथन आदि और एक मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि इस अधिनियम के अधीन स्वीकार्य द्वितीयिक साक्ष्य के प्रकारों के बारे में यह धारा विस्तृत है। जहां किसी दस्तावेज की शर्तों को निर्णय द्वारा, जिसमें उसका संव्यवहार अंतर्विष्ट है, साबित किया जाना है वहां न तो अनुवाद और न ही निर्णय में किया गया कथन दस्तावेज की अंतर्वस्तु के द्वितीयिक साक्ष्य समझे जाएंगे। यह **जगन्नाथ बनाम सैक्रेटरी आफ स्टेट** ए. आई. आर. 1922 मद्रास 22, मामले में अभिनिर्धारित किया गया था।

सरकार ने **हाफिज मोहम्मद बनाम हरिराम,** ए. आई. आर. 1937 लाहौर, 370 मामले का भी निर्देश किया है कि यह धारा व्यापक है और संक्षिप्त अनुवाद जो किसी दस्तावेज का सारांश है धारा 63 के कार्यक्षेत्र में नहीं आता है। मध्यस्थों के पंचाट का प्रारूप, जिससे पंचाट तैयार किया गया था, जब तक कि पंचाट की शुद्धि प्रति से मिलान किया गया न दर्शाया गया हो, द्वितीयिक साक्ष्य नहीं है **(गिरधर बनाम अंबिका,** ए आई आर 1969 पैरा 218)

परंतु **कलिमानी अम्मा** बनाम **नारायणन,** ए. आई. आर. 1915, मद्रास 762 (69वीं रिपोर्ट में पैरा 29.10 में निर्देशित) मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि धारा 63 व्यापक नहीं है। मामला दस्तावेज की अंतर्वस्तु की लिखित स्वीकृति के बारे में था। न्यायमूर्ति तैयबजी ने कहा था कि धारा 65 के खंड (ख) और खंड (छ) धारा 63 के पांच खंडों के अंतर्गत नहीं आते हैं।

हिन्दुस्तान कन्स्ट्रक्शन कंपनी बनाम यूनियन आफ इंडिया, ए आई आर 1967, सुका 526, 527 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रति का अर्थ है कि मूल से तैयार किया गया कोई दस्तावेज जो मूल की सही और सत्य प्रति है।

अब हम 69वीं रिपोर्ट में मतभेदों के बारे में चर्चा करेंगे। आयोग के सदस्यों के बीच महत्वपूर्ण मतभेद को अब संक्षिप्त रूप में दिया जाएगा। कलिमानी अम्मा के उपर्युक्त मामले में डा. पी.बी. गजेन्द्र गडकर, श्री सेन वर्मा तथा श्री पी एम बख्शी के अनुसार धारा 65 के खंड (ख) और (छ) धारा 63 में जोड़े जाने चाहिएं क्योंकि न्यायमूर्ति तैयबजी के अनुसार ये खंड धारा 63 के पांचों खंडों के अधीन नहीं आते हैं।

दूसरी ओर डा. त्रिपाठी और श्री बी. सी. मिश्रा के अनुसार जब धारा 65 के खंड (ख) में यह कहा गया है कि 'संस्वीकृति' ग्राह्य है तब वहां यह ऐसी स्थिति का उल्लेख है जहां-जहां द्वितीयिक साक्ष्य स्वीकार्य है और यह स्वीकृति को दस्तावेज के द्वितीयिक साक्ष्य के समतुल्य नहीं बनाता है। ऐसी ही स्थिति धारा 65 (छ) के बारे में है जहां बहुत से दस्तावेजों के सामान्य परिणामों के बारे में साक्ष्य — जो न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने के लिए बहुत बड़ी संख्या में हैं— दिए जा सकते हैं वहाँ उन सभी दस्तावेजों का संपूर्ण रूप से, द्वितीयिक साक्ष्य नहीं होगा।

जहां यह बाद वाला तर्क सही है, हमारे विचार में, डा. त्रिपाठी और श्री बी. सी. मित्रा ने यह नहीं कहा है कि धारा 65 के खंड (ख) और (छ), धारा 63 के पांचों खंडों में से किसी भी खंड के अंतर्गत आ सकते हैं।

श्री धवन के विचारित दृष्टिकोण के बारे में, एक सीमा तक वह इससे सहमत है कि न्यायमूर्ति तैयबजी ने सही कहा है कि धारा 65 के खंड (ख) और (छ) धारा 63 के कार्यक्षेत्र में नहीं आते हैं परंतु इन्हें धारा 65 में जोड़े जाने का अर्थ यह है कि विधानमंडल ने धारा 63 के पांचों खंडों को विस्तृत नहीं माना है। उन्होंने कहा है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के साथ द्वितीयिक साक्ष्य के नए स्वरूप सामने आएंगे और धारा 63 को विस्तृत बनाना वांछनीय नहीं होगा। ऐसा कहने के पश्चात्, सदस्य ने कहा है कि यदि कोई परिवर्तन किया ही जाना है तो, वह ''अभिप्रेत है और उसके अंतर्गत आते हैं'' शब्दों के स्थान पर ''उसके अंतर्गत आते हैं'' शब्द प्रतिस्थापित कराना चाहेंगे।

हम इस बात का उल्लेख कर सकेंगे कि धारा 63 में कहा गया है कि ''द्वितीयिक साक्ष्य से अभिप्रेत है और उसके अंतर्गत आते हैं'' और उनमें उपर्युक्त दिए गए पांच खंड अंतर्विष्ट हैं। धारा 65 को ''अवस्थाएं जिनमें दस्तावेजों के संबंध में द्वितीयिक साक्ष्य दिया जा सकेगा'' शीर्षक दिया गया है।

अब, संशोधन के पक्षधर तीनों सदस्यों ने दो विमति रखने वाले सदस्यों द्वारा, अर्थात् डा० त्रिपाठी और श्री बी०सी० मिश्रा द्वारा, उठाए गए इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया है कि खंड (ख) और (छ) केवल 'स्वीकृति' 'सामान्य वृत्तांत' को द्वितीयिक साक्ष्य के रूप में स्वीकार्य बनाते हैं परंतु उससे, किसी संपूर्ण दस्तावेज का प्रत्येक शब्द रिकार्ड में नहीं आएगा। साथ ही, उक्त दोनों सदस्यों ने पहले तीन सदस्यों द्वारा उठाए गए इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया है कि धारा 65 के खंड (ख) और (छ) के अधीन आने वाले मामले धारा 63 के पांचों खंडों में से किसी खंड के अधीन भी नहीं आते हैं। तीसरा विमित्त दृष्टिकोण काफी सीमा तक संशोधन के पक्ष में है परंतु वह धारा 65 से केवल ''अभिप्रेत'' शब्द का लोप कर दिए जाने से ही संतुष्ट हो जाता है क्योंकि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ नए-नए द्वितीयिक साक्ष्य समाने आएंगे।

हमने सरकार के कथन (पृष्ठ 1064) को नोट किया है कि द्वितीयिक साक्ष्य के कतिपय अन्य स्वरूपों पर, अर्थात् स्वीकृतियों, मृतक व्यक्तियों के कथन आदि, विचार किया गया है। हम इस बात की भी कल्पना कर सकते हैं कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ धारा 63 के खंड (1) से (5) तक में और वृद्धि की जा सकेगी। उस अर्थ में धारा 63 ''केवल वर्तमान के लिए'' विस्तृत है। जहां यह टिप्पणी कि धारा 65 के खंड (ख) और (छ) दस्तावेज के शब्द प्रति शब्द को प्रतिस्थापित नहीं करते हैं और पूरे अर्थ में द्वितीयिक साक्ष्य हैं, तीन खंडों में निर्देशित स्वीकृतियों और सामान्य वृत्तांत ग्राह्य होते हुए, किसी पक्षकार के लिए सबूत का आधार बन सकते हैं।

फिप्सन ने पैरा 41.13 से 41.36 के अंतर्गत द्वितीयिक साक्ष्य का निर्देश किया है परंतु इस चर्चा में केवल वह सब ही नहीं आता है जो धारा 63 में दिया गया है अपितु वह भी जो धारा 65 में है।

उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हमारा विचार है कि खंड (ख) और (छ) को धारा 63 में जोड़कर द्वितीयिक साक्ष्य की परिभाषा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता क्योंकि इनके अंतर्गत संपूर्ण दस्तावेज नहीं आता है। परन्तु क्योंकि खंड (ख) और (छ) साक्ष्य को स्वीकार्य बनाते हैं, मूल दस्तावेज से अन्यथा ऐसा साक्ष्य द्वितीयिक साक्ष्य होना चाहिए यदि यह प्राथमिक साक्ष्य नहीं है क्योंकि हमारे पास साक्ष्य का तीसरा या वैकल्पिक स्वरूप उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार, धारा 63; धारा 65 के खंड (ख) और (छ) में निहित अवधारणों की उपेक्षा नहीं कर सकती। केवल एकमात्र उपाय जिससे इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास के लिए और विस्तार की व्यवस्था की जा सकती है, धारा 63 से ''अभिप्रेत और'' शब्द का लोप करना है। इस संबंध में, हम अपने निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं और इसके लिए हमने श्री धवन द्वारा दिए गए कारणों से अलग या उनके अतिरिक्त कारण दिए हैं। अब हम धारा 63 के अन्य खंडों पर विचार करेंगे।

हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं कि खंड (3) में ''से बनाई गई या मिलान की गई'' शब्दों के स्थान पर ''से बनाई गई और मिलान की गई'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं।

69वीं रिपोर्ट में, तीन शब्दों पर पृथक्-पृथक् चर्चा हुई है (देखें पैरा 29.23 से 29.28) और यह अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 63 के खंड (5) में ''देखा'' शब्द के स्थान पर ''पढ़ा'' शब्द प्रयोग करने के अतिरिक्त अन्य किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। यह उन व्यक्तियों द्वारा अंतर्वस्तु के दिए गए वृत्तांत के बारे में है जिन्होंने दस्तावेज देखा है। निश्चित, ही हमारे विचार में भी, ''पढ़ा'' शब्द बेहतर है।

परिणामस्वरूप, हम धारा के आरंभिक भाग में ''अभिप्रेत है और'' शब्दों को निकालने तथा धारा 63 के खंड (5) में ''देखा'' शब्द के स्थान पर ''पढ़ा'' शब्द प्रतिस्थापित करने की तथा धारा 63 के खंड (3) में ''से बनाई गई या मिलान की गई '' शब्दों के स्थान पर ''से बनाई गई तथा मिलान की गई'' प्रतिस्थापित करने की सिफारिश करते हैं।

धारा 64

इस धारा में प्राथमिक साक्ष्य द्वारा दस्तावेजों के सबूत का निर्देश है

''64 दस्तावेज एतस्मिन पश्चात् वर्णित अवस्था के सिवाय प्राथमिक साक्ष्य द्वारा साबित करना होगी''

69वीं रिपोर्ट में, यह निष्कर्ष निकाला गया है कि धारा 64 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। इससे हम पूर्णतया सहमत हैं।

धारा 65

इस धारा में ऐसे मामलों का निर्देश है जिनमें दस्तावेजों की अंतर्वस्तु के बारे में द्वितीयिक साक्ष्य दिया जा सकेगा। इसमें (क) से (छ) तक छ खंड दिए गए हैं। धारा 63 पर चर्चा करते समय हमने खंड(ख) तथा खंड (छ) के बारे में भी चर्चा की है।

69 वीं रिपोर्ट के पैरा 30.26 में धारा 65 में संशोधन करने के लिए (क) से (ङ) तक पांच सिफारिशें की गई हैं।

अतः, धारा 65 के बारे में विस्तार से चर्चा करना आवश्यक हो जाता है । धारा का पाठ निम्नलिखित है :

''65. किसी दस्तावेज के अस्तित्व, दशा या अंतर्वस्तु का द्वितीयिक साक्ष्य निम्नलिखित अवस्थाओं में दिया जा सकेगा।''

(क) जबकि यह दर्शित कर दिया जाए या प्रतीत होता हो कि मूल ऐसे व्यक्ति के कब्जे में या शक्तयाधीन है,— जिसके विरुद्ध उस दस्तावेज को साबित किया जाना ईप्सित है; अथवा

जो न्यायालय की आदेशिका की पहुंच के बाहर है या ऐसी आदेशिका के अध्यधीन नहीं है; अथवा

जो उसे पेश करने के लिए वैध रूप से आबद्ध है, और जब ऐसा व्यक्ति धारा 66 में वर्णित सूचना के पश्चात् उसे पेश नहीं करता है;

(ख) जबकि मूल के अस्तित्व, दशा या अंतर्वस्तु को उस व्यक्ति द्वारा, जिसके विरुद्ध उसे साबित किया जाना है या उसके हित प्रतिनिधि द्वारा लिखित रूप में साबित किया जाना साबित कर दिया गया है;

(ग) जबकि मूल नष्ट हो गया है या खो गया है, अथवा जबकि उसकी अंतर्वस्तु का साक्ष्य देने की प्रस्थापना करने वाला पक्षकार अपने स्वयं के व्यतिक्रम या उपेक्षा से अनुभूत अन्य किसी कारण से उसे युक्तियुक्त समय में पेश नहीं कर सकता;

(घ) जबकि मूल ऐसी प्रकृति का है कि उसे आसानी से स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता ;

(ङ) जबकि मूल धारा 74 के अर्थ के अंतर्गत एक लोक दस्तावेज है ;

(च) जबकि मूल ऐसा दस्तावेज है, जिसकी प्रमाणित प्रति का साक्ष्य में दिया जाना इस अधिनियम द्वारा या भारत में प्रवृत्त किसी अन्य विधि के द्वारा अनुज्ञात है ;

(छ) जबकि मूल ऐसे अनेक लेखाओं या अन्य दस्तावेजों से गठित है जिनकी न्यायालय में सुविधापूर्वक परीक्षा नहीं की जा सकती और वह तथ्य जिसे साबित किया जाना है संपूर्ण संग्रह का साधारण परिणाम है;

अवस्थाओं (क), (ग) और (घ) में दस्तावेजों की अंतर्वस्तु का कोई भी साक्ष्य ग्राह्य है;

अवस्था (ख) में वह लिखित स्वीकृति ग्राह्य है;

अवस्था (ङ) और (च) में दस्तावेज की प्रमाणित प्रति ग्रह्य हैं किन्तु अन्य किसी भी प्रकार का द्वितीयिक साक्ष्य ग्राह्य नहीं है;

अवस्था (छ) में दस्तावेज के साधारण परिणाम का साक्ष्य ऐसे किसी व्यक्ति द्वारा दिया जा सकेगा जिसने उनकी परीक्षा की है और जो ऐसे दस्तावेजो की परीक्षा करने में कुशल हैं।"

धारा 65 में जिस सूचना की अवधारण की गई है उस सूचना का निर्देश धारा 66 में किया गया है और वह धारा 66 के परंतुक में वर्णित मामलों के सिवाय, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 11 नियम 16 में वर्णित ढंग से जारी की जाएगी।

क्या धारा 65 के विभिन्न खंड परस्पर अनन्य हैं :

(1) 69वीं रिपोर्ट के पैरा 30 में यह कहा गया है कि धारा 65 के विभिन्न खंड इस अर्थ में परस्पर अनन्य नहीं है कि यदि किसी मामले में किसी एक खंड की अपेक्षा पूरी नहीं होती, तो भी यह अन्य खंड के अधीन द्वितीयिक साक्ष्य के रूप में स्वीकार्य होगा। उदाहरण के लिए यदि कोई मामला (क) के अधीन आता है, तब द्वितीयिक स्वीकार्य होगा यदि खंड (ङ) और (च) की शर्तें पूरी न भी हों। रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया है कि इस बात का विरोध करने के अनुरोध को कि खंड परस्पर अनन्य थे, **पुस्संधि के मामले में** (1879) आई० एल० आर० 5 कलकत्ता 568 और **सुंदर बनाम चन्द्रश्वर** (1907) आई० एल० आर० 34 कलकत्ता 293 मामले में अस्वीकार कर दिया गया था।

इसमें यह कहा गया है कि जहां खंड (क) से (घ) और (छ) के संबंध में कोई स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है, वहां धारा के पूर्वान्तिम पैरा के अंतिम भाग में प्रयुक्त नकारात्मक शब्दों के कारण यह आवश्यक है :

"अवस्था (ङ) या (च) में दस्तावेज की प्रमाणित प्रति ग्रह्य है परंतु किसी भी प्रकार का द्वितीयिक साक्ष्य ग्राह्य नहीं हैं।"

69वीं रिपोर्ट में सुझाव दिया गया था कि पूर्वान्तिम पैरा में (देखें पैरा 30.4 और 30.7) 'ग्राह्य हैं' शब्दों के पश्चात् "जब तक इस धारा का कोई अन्य खंड लागू न होता हो" शब्द जोड़े जाने चाहिए।

हम सादर सहमति व्यक्त करते हैं।

इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए, हमारा विचार है कि सिंगापुर या न्यूजीलैंड की भांति टेलीविजन संपर्कों के संबंध में, ऐसे उपांतरणों से, जो आवश्यक हो, समय के उपयुक्त बिन्दू पर हम पृथक विधि ला सकते हैं।

वीडियो रिकार्डिंग

कभी-कभी साक्ष्य वीडियो द्वारा रिकार्ड किए गए किसी कथन को प्रस्तुत करने को कहा जाता है। यहां विभिन्न सुरक्षोपाय, यह देखने के लिए उठाने की आवश्यकता है कि वीडियों रिकार्ड से छेड़छाड तो नहीं की गई है । जैसाकि कोई रिकार्ड यदि पूर्व वीडियो के सेट में है, यह किसी आपराधिक विचारण में ऐसा साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए उपयोगी नहीं हो सकेगा क्योंकि अभियुक्त को यह देखने का अधिकार है कि अभियोजन साक्ष्य उसकी उपस्थिति में रिकार्ड किया गया है। (टेली-कांफ्रेंसिंग द्वारा किसी कारण वीडियो रिकार्डिंग की दशा में यह अधिकार पर्याप्त रूप से रक्षोपायित रह सकेगा)।

आंतकवाद निवारण अधिनियम, 2002 की धारा 30 साक्षियों के संरक्षण के लिए विशेष उपबंध करती है।

यू.के. आपराधिक न्याय अधिनियम, 1988 की धारा 23 (3) ने इस बारे में कुछ उपबंध किए हैं। यह किसी ऐसे व्यक्ति पर लागू होती है जो भय से साक्ष्य नहीं देता है या वह सामने आने से बचता चाहता है।

हम रिकार्ड पूर्व वीडियो के सेट साक्ष्य के संबंध में, जहां तक कि विद्यमान उपबंध ऐसे साक्ष्य की सत्यनिष्ठा या विशुद्धता का ध्यान रख सकते हैं, पहले से ही कोई उपबंध करना आवश्यक नहीं समझते हैं।

(2) धारा 65 (क) :

धारा 65 (क) के संबंध में एक महत्वपूर्ण पहलु जिसकी गहराई से जांच की जानी आवश्यक है, तीसरा खंड है जो वैध रुप से आबद्ध किसी व्यक्ति द्वारा दस्तावेज पेश न किए जाने के बारे में है। ऐसे मामलों में धारा अन्तर्वस्तु के द्वितीयक साक्ष्य की अनुमति देती है।

यह खंड किसी व्यक्ति के लिए लागू होता है जिसका अर्थ 'प्रतिपक्ष' या 'गैर पक्षकार तीसरे व्यक्ति' से जो साक्षी है या जिसे न्यायालय के आदेशों से आबद्ध होने के कारण दस्तावेज को न्यायालय में पेश करने के लिए कहा जाए।

धारा 65 (क) के बारे में विवाद यह है कि क्या वास्तव में इसका आशय ऐसी स्थिति का समाधान करना है जहां मूल दस्तावेज किसी ऐसे व्यक्ति के कब्जे में है जो 'पेश करने के लिए बाध्य नहीं है' उस स्थिति में उस पर निर्भर करने वाला पक्षकार द्वितीयक साक्ष्य पेश करने का अधिकारी होगा। यह बताया गया है कि इंग्लिश विधि के अधीन यह उपबंध ऐसे व्यक्ति के लिए निर्देशनीय है जो किसी विशेषाधिकार के आधार पर, 'विधि के अधीन पेश करने के लिए आबद्ध नहीं है', उदाहरण के लिए यदि यह उसके विरुद्ध जाता है या हक विलेख पर उसका धारणाधिकार है या दस्तावेज उसे अपराध में [**मिल्स** बनाम **औडी**, (1834) 6 सी. एण्ड पी. 728], **हिब्बर्ड बनाम माईट** (1848)2 एक्सपे. 11 : **न्यूटन** बनाम **चैपलिन** (1850) 10 सी.बी. 3361 उसे ..... द्वारा बाध्य करना होगा और वह विशेषाधिकार का स्पष्ट रूप से दावा करेगा (**लायड बनाम मोस्टिन**)(1842) 10 एम.डब्ल्यू. 4761, हेल्सबरी, तीसरा संस्करण, खंड 15, पैरा 647 भी देखे, विगमौर (पैरा 1212) का कहना है कि यदि सपीना तामील किए जाने के बाद, धारक उसका पालन करने से इंकार कर देता है तब प्रस्तावक को माफ किया जाना चाहिए। इंग्लिश विधि के अधीन ऐसे व्यक्ति के मामले में जो पेश करने के लिए आबद्ध है परन्तु वह ऐसा नहीं करता है तो इस पर परनुकसानी के लिए अभियोजन चलाया जा सकेगा। परन्तु भारतीय विधि के अनुसार यह न्यायोचित नहीं है। प्रस्तावक को धारा 65(क) के अधीन ऐसे मामले में द्वितीयक साक्ष्य पेश करने का अधिकार होना चाहिए (देखें सरकार 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 1089)

इस प्रश्न पर चर्चा हुई कि क्या धारा 65 (क) का यह अभिप्राय है या उसमें ऐसे मामले में द्वितीयक साक्ष्य की अनुमति के लिए भी उपबंध होना चाहिए जहां कब्जाधारी व्यक्ति उसे पेश करने के लिए बाध्य नहीं है परन्तु उसे पेश करने के लिए न्यायालय के आदेशों से भी इंकार कर देता है। इन विचारों का उल्लेख सरकार की टिप्पणी में तथा 69वीं रिपोर्ट में भी किया गया है। मर्कमी, कन्निघम, फील्ड, नार्टन तथा सरकार जैसे बहुत से न्यायविदों में से सभी ने कहा है कि धारा में ऐसे मामले में द्वितीयक साक्ष्य की अनुमति होनी चाहिए जहां ऐसा व्यक्ति इंकार करता है जो उसे पेश करने के लिए बाध्य नहीं है। अन्यथा प्रस्तावक के साथ घोर अन्याय होगा यदि उसे द्वितीयक साक्ष्य पेश करने की अनुमति नहीं होगी।

69वीं रिपोर्ट में इस विषय का निर्देश करने के पश्चात (देखें पैरा 30.10 से 30.13) यह स्वीकार किया गया है कि धारा 65 (क) में उक्त अवस्था के लिए भी उपबंध होना चाहिए था। इसमें कहा गया है :

> "यह नोट किया जाना चाहिए कि ऐसे मामलों में,(पेश करने के लिए आबद्ध व्यक्ति का मामला) इंग्लिश विधि में जिस प्रकार के उपचार की व्यवस्था की अनुमति है–नुकसानी के लिए कार्यवाही–शीघ्र पूरी नहीं हो सकेगी, और सम्भवतया पर्याप्त भी न हो, क्योंकि वह व्यक्ति जिसके कब्जे में वह दस्तावेज है कठोर व्यक्ति हो सकता है। हमारा विचार है कि बाद वाला दृष्टिकोण सही है। अत: हम इस विषय में खंड (क) में कोई संशोधन करने का सुझाव नहीं देते हैं। जहां तक ऐसे व्यक्ति का संबंध है जो वैध रूप से आबद्ध नहीं है, हम उनको पृथक रूप में ले रहे हैं"

और उन्होंने पैरा 30.17 से 30.20 तक में यह सिफारिश की है कि संशोधन करके धारा 65(ग) में "अपने स्वयं के व्यतिक्रम या उपेक्षा से अनुभूत अन्य किसी कारण" शब्दों के पश्चात आवश्यक शब्द जोड़कर एक उपबंध किया जाना चाहिए। धारा 65(ग) में जोड़े जाने वाले वास्तविक शब्दों का उल्लेख नहीं किया गया।

तथापि, हमारा विचार है कि शब्द धारा 65(क) में जोड़े जाने चाहिएं 65(ग) में नहीं। हमारे विचार में धारा 65(क) के अन्त में "ऐसा व्यक्ति इसे पेश नहीं करता है" शब्दों के पश्चात् एक अन्य खंड जोड़ा जाना चाहिए या "जो उसे पेश करने के लिए वैध रूप से आबद्ध नहीं है, जहां किसी पक्षकार के कहने पर इसे पेश करने के लिए, न्यायालय की सूचना के पश्चात्, ऐसा व्यक्ति इसे पेश नहीं करता है"। [यह खंड (कक) के अधीन प्रस्तावित है]।

इस संबंध में, सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 10 नियम 16 सहायक नहीं होगा क्योंकि इसमें किसी पक्षकार के लिए नोटिस की अवधारणा की गई है पक्षकार के अतिरिक्त साक्षी के लिए नोटिस की नहीं जो पेश करने के लिए आबद्ध नहीं है, और दस्तावेज को पेश नहीं करता है।

भ्रम से बचने के लिए हम खंड(क) का निम्नलिखित रूप में उप-विभाजन का प्रस्ताव करते हैं :

"(क) जबकि यह दर्शित कर दिया जाए या प्रतीत होता हो कि मूल दस्तावेज ऐसे व्यक्ति के कब्जे में या शक्त्याधीन है--

(i) जिसके विरुद्ध उस दस्तावेज का साबित किया जाना इप्सित है, अथवा न्यायालय की आदेशिका की पहुंच के बाहर है या ऐसी आदेशिका के अध्यधीन नहीं है और ऐसा व्यक्ति मूल दस्तावेज को प्रस्तुत नहीं करता है; या

(ii) जो उसे पेश करने के लिए वैध रूप से आबद्ध है और ऐसा व्यक्ति धारा 66 में वर्णित सूचना प्राप्त होने के पश्चात् इसे पेश नहीं करता है।

(कक) जबकि यह दर्शित कर दिया जाए या प्रतीत होता हो कि मूल दस्तावेज किसी ऐसे व्यक्ति के कब्जे में या शक्त्याधीन है जो उसे पेश करने के लिए वैध रूप से आबद्ध नहीं है और मूल दस्तावेज प्रस्तुत के लिए किसी पक्षकार के कहने पर ऐसा व्यक्ति न्यायालय से सूचना प्राप्त होने के पश्चात् इसे पेश नहीं करता है।"

69वीं रिपोर्ट के पैरा 30.11 में यह सुझाव दिया गया था कि "और जब, धारा 66 में वर्णित सूचना के पश्चात, ऐसा व्यक्ति इसे पेश नहीं करता है" शब्द ऐसे व्यक्ति के लिए, जो "न्यायालय की आदेशिका की पहुंच से बाहर है या आदेशिका के अधीन नहीं है" लागू नहीं होते हैं। हम इससे सहमत हैं और हमने तदनुसार धारा 65(क) में परिवर्तन का सुझाव दिया है।

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था कि (देखें पैरा 30.12) "धारा 66 में वर्णित सूचना के पश्चात्" शब्दों के स्थान पर "जब कोई व्यक्ति मूल दस्तावेज जिसके कब्जे में हैं या शक्त्याधीन है धारा 66 की अपेक्षा के अनुसार सूचना (यदि कोई है) प्राप्त हो जाने पर भी ऐसे मूल दस्तावेजों को पेश नहीं करता है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं और यह कि संख्या "66" के पश्चात् "जब ऐसी सूचना आवश्यह है" शब्द जोड़े जाएं। हमारे विचार में यह आवश्यक नहीं है।

उपर्युक्त प्रारूप में अभी और परिवर्तन किया जाना है क्योंकि हमने पैरा 30.11 के प्रस्ताव के लिए निम्नलिखित सहमति व्यक्त की है:

हमने अन्तिम रूप में यह सिफारिश की है कि धारा 65 के खंड (क) का पाठ, उपर्युक्त संशोधनों के साथ, निम्नलिखित होगा :—

"(क) जबकि यह दर्शित कर दिया जाए या प्रतीत होता हो कि मूल दस्तावेज ऐसे व्यक्ति के कब्जे में या शक्त्याधीन है—

(i) जिसके विरुद्ध उस दस्तावेज का साबित किया जाना इप्सित है, अथवा जो न्यायालय की आदेशिका की पहुंच के बाहर है या ऐसी आदेशिका के अध्यधीन नहीं है और ऐसा व्यक्ति मूल दस्तावेज को प्रस्तुत नहीं करता है; या

(ii) जो उसे पेश करने के लिए वैध रूप से आबद्ध है और ऐसा व्यक्ति धारा 66 में वर्णित सूचना प्राप्त होने के पश्चात् इसे पेश नहीं करता है।

(कक) जबकि यह दर्शित कर दिया जाए या प्रतीत होता हो कि मूल दस्तावेज किसी ऐसे व्यक्ति के कब्जे में या शक्त्याधीन है जो उसे पेश करने के लिए वैध रूप से आबद्ध नहीं है और मूल दस्तावेज को प्रस्तुत के लिए किसी पक्षकार के कहने पर ऐसा व्यक्ति न्यायालय से सूचना प्राप्त होने के पश्चात् इसे पेश नहीं करता है।''

धारा 65(ख) :

69वीं रिपोर्ट में कहा गया था (देखें पैरा 30.15) की धारा 65(ख) में में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। (देखें धारा 65(घ) से (छ)। हम इससे सहमत हैं।

धारा 65(ग) :

इस खंड में संशोधन की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में 69वीं रिपोर्ट में धारा 65(ग) के लिए किसी संशोधन का सुझाव नहीं दिया गया है। तथापि, धारा 65(क) के अधीन उत्पन्न परिस्थिति यह है कि यदि किसी ऐसे व्यक्ति को जो दस्तावेज पेश करने के लिए बाध्य नहीं है, कतिपय शब्द जोड़कर खंड (ग) अधीन लाया जाता है, धारा 65(क) के बारे में चर्चा करते समय हम पहले ही यह कह चुके हैं कि इस विषय को धारा 65(क) के अधीन लाना युक्तियुक्त होगा। हम धारा 65(क) पर विचार करते समय उप-खंड (i) और (ii) भी बनाएं हैं।

अत: धारा 65(ग) में और कोई शब्द जोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

धारा 65(घ) से (छ) :

इनमें कोई परिवर्तन आवश्यक नहीं है। धारा 63 के बारे में विचार करने पर हमने एक विवाद का उल्लेख किया था कि क्या धारा 65(ख) और (छ) धारा 63 में सम्मिलित की जानी चाहिए। हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि ऐसा करना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार धारा 65(घ) और (छ) में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, हम 69वीं रिपोर्ट के इस सुझाव से सहमत हैं कि ''जब तक कि इस धारा का कोई अन्य खंड लागू न होता हो'' शब्द ''ग्राह्य है'' शब्दों के पश्चात् पूर्वान्तिम पैरा में जोडे जाने चाहिए।

धारा 65क और ख :

ये धाराएं अधिनियम 21/2000 द्वारा इलैक्ट्रानिक अभिलेख के बारे में जोड़ी गई हैं।

धारा 65क में कहा गया है कि इलैक्ट्रानिक अभिलेख के सबूत के लिए ये विशेष उपबंध किए गए हैं। धारा 65ख में प्रक्रिया दी गई है। धारा 65ख की उपधारा (1) में कहा गया है कि इस अधिनियम में किसी बात के होते हुए भी, किसी इलैक्ट्रानिक अभिलेख में अन्तर्विष्ट किसी सूचना को भी, जो कंप्यूटर द्वारा उत्पादित और किसी कागज पर मुद्रित, प्रकाशीय या चुंबकीय मीडिया में भंडारित, अभिलिखित या नकल की गई हो (जिसे इसमें इसके पश्चात् कंप्यूटर निर्गम कहा गया है), एक दस्तावेज समझा जाएगा, यदि प्रश्नगत सूचना और कंप्यूटर के संबंध में, इस धारा में उल्लिखित शर्तें पूरी कर दी जाती हैं और वह मूल की किसी अन्तर्वस्तु या उसमें कथित किसी तथ्य के साक्ष्य के रूप में, जिसका प्रत्यक्ष साक्ष्य ग्राह्य होता, अतिरिक्त सबूत या मूल को पेश किए बिना ही किन्हीं कार्यवाहियों में ग्राह्य होगा।

धारा 65ख की उप-धारा (2) में कम्प्यूटर निर्गम की बाबत शर्तें दी गई हैं। धारा 65ख की उप-धारा (3) में कम्प्यूटरों के संयोजन का निर्देश है। उप-धारा (4) में कम्प्यूटर संचालन या प्रबंधन के संबंध में उत्तरदायी पदीय हैसियत में होने वाले व्यक्ति द्वारा प्रमाण-पत्र दिया जाना अपेक्षित है और यह प्रमाण-पत्र में कही गई किसी बात का साक्ष्य होगा। उप-धारा (5) में कतिपय अन्य पहलू स्पष्ट किए गए हैं और इसके साथ ही धारा के नीचे एक स्पष्टीकरण दिया गया है।

हमारे विचार में इन धाराओं में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 66:

यह धारा 'पेश करने की सूचना के बारे में नियमों' से संबंधित है और धारा 65(क) के लिए निर्देशनीय है जिसमें सूचना देने की अपेक्षा की गई है। हम धारा को लम्बी होने के कारण उद्धृत नहीं कर रहे हैं।

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 30.29) यह कहा गया है की धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इस विचारा से सहमत हैं।

धारा 67 :

यह धारा 'जिस व्यक्ति के बारे में अभिकथित है कि उसने पेश की गई दस्तावेजों को हस्ताक्षरित किया था या लिखा था उस व्यक्ति के हस्ताक्षर और हस्तलेख को साबित करने' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''67. यदि कोई दस्तावेज किसी व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षरित या पूर्णत: या भागत: लिखी गई अभिकथित है तो यह साबित करना होगा कि वह हस्ताक्षर या उस दस्तावेज के उतने का हस्तलेख जितने के बारे में यह अभिकथित है कि वह उस व्यक्ति के हस्तलेख में है।''

धारा 67 के बारे में (रजिस्टर्ड दस्तावेजों सहित) थोड़ी चर्चा के पश्चात्, 69वीं रिपोर्ट में कहा गया है (देखें पैरा 31.15) कि इसमें किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु हमारे विचार में धारा 68 से 73 में ''निष्पादन और हस्ताक्षर'' शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ा जाना आवश्यक है।

स्पष्टीकरण : इस धारा में और धारा 68 से 73 में 'विल्स' के संबंध में 'निष्पादन' या 'हस्ताक्षर' अभिव्यक्तियों का वही अर्थ होगा जो भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 63 के अधीन दिया गया है और 'प्रमाणीकरण' से अभिप्रेत होगा प्रमाण द्वारा हस्ताक्षर करना या मोहर लगाना''।

धारा 67क :

यह धारा अधिनियम 21/2000 द्वारा अन्त:स्थापित की गई थी और यह 'डिजिटल हस्ताक्षरों के सबूत' के बारे में है। इसमें कहा गया है कि सुरक्षित अंकीय चिन्हक की दशा के सिवाय, यदि यह अभिकथित है कि किसी हस्ताक्षरकर्ता का अंकीय चिन्हक इलैक्ट्रानिक अभिलेख में लगाया गया है तो यह तथ्य साबित किया जाना चाहिए कि ऐसा अंकीय चिन्हक हस्ताक्षरकर्ता का अंकीय चिन्हक है।

यहां यह बात नोट की जा सकेगी कि सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 (अधिनियम 21/2000) 'अंकीय चिन्हक' तथा 'सुरक्षित अंकी चिन्हक' की परिभाषाएं दी गई हैं। साक्ष्य अधिनियम की धारा 3, जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, में यह निर्देश करते हुए संशोधन किया गया है कि उपर्युक्त अभिव्यक्ति तथा अन्य अभिव्यक्तियों का वही अर्थ होगा जो उन्हें अधिनियम 21/2000 में दिया गया है।

धारा 67क को संशोधित करने का कोई प्रस्ताव नहीं है।

धारा 68 :

यह धारा 'किसी दस्तावेज के निष्पादन के साबित' किए जाने के बारे में है। 69वीं रिपोर्ट में कतिपय संशोधनों का सुझाव दिया गया है और इसलिए, हम इस मामले की विस्तार से परीक्षा करेंगे। धारा 68 का पाठ निम्नलिखित है:

''68. यदि किसी दस्तावेज का अनुप्रमाणित किया जाना विधि द्वारा अपेक्षित है, तो उसे साक्ष्य के रूप में उपयोग में न लाया जाएगा, जब तक कि कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी, यदि कोई अनुप्रमाणक साक्षी जीवित और न्यायालय की आदेशिका के अध्यधीन हो तथा साक्ष्य देने के योग्य हो, उसका निष्पादन करने के प्रयोजन से न बुलाया गया हो।

परन्तु ऐसे किसी दस्तावेज के निष्पादन को साबित करने के लिए, जो विल नहीं है, और भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 (1908 का 16) के उपबंधों के अनुसार रजिस्ट्रीकृत है, किसी अनुप्रमाणक साक्षी को बुलाना आवश्यक होगा, जब तक कि उसके निष्पादन का प्रात्याख्यान उस व्यक्ति द्वारा जिसके द्वारा उसका निष्पादन होना तात्पर्यित है, विनिर्दिष्ट न किया गया हो।''

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की विलों का धारा 57, 58 और 63 के उपबंधों के अधीन, कतिपय दो साक्षियों द्वारा अनुप्रमाणित किया जाना आवश्यक है (कतिपय ऐसी विल भी हो सकती हैं जिनका अनुप्रमाणित किया जाना आवश्यक न हो)। संपत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 59 के अधीन 100 रु. या इससे अधिक राशि के बंधकों को दो साक्षियों द्वारा अनुप्रमाणित किया जाएगा और इसी अधिनियम की धारा 123 के अधीन स्थावर संपत्ति के दान का भी दो साक्षियों द्वारा अनुप्रमाणित किया जाना आवश्यक है।

69वीं रिपोर्ट में, सभी दस्तावेजों के मामले में (विलों के सिवाय) अनुप्रमाणक साक्षी का बुलाया जाना समाप्त करने तथा धारा को केवल विलों तक ही सीमित रखने के लिए बहुत से कारण दिए गए हैं। यह सुझाव भी दिया गया था कि ''विलम्ब और बुलाने पर होने वाले व्यय'' या ''प्रतिपक्ष द्वारा उसको सामने आने से बचाए रखने'' या ''साक्ष्य देने योग्य न होने'' जैसे शब्दों को 'जब तक कि' शब्दों के पश्चात् अपवादों में जोड़ा जाना चाहिए। इस धारा द्वारा उत्पन्न होने वाली ऐसी कठिनाई का भी निर्देश किया गया था कि अनुप्रमाणित किए जाने वाले प्रत्येक दस्तावेज के मामले में (विल्स् के सिवाय) अनुप्रमाणक साक्षी का बुलाया जाना आवश्यक है और इस दृष्टिकोण के समर्थन में सरकार का मत भी दिया गया था। यह भी कहा गया था कि यदि विल 30 वर्ष से अधिक पुरानी है (धारा 90) या सूचना के पश्चात् भी पेश नहीं की गई (धारा 89) है तो धारा 68 लागू नहीं होनी चाहिए।

यहां हम यह कह सकेंगे कि यह प्रस्ताव इंग्लिश विधि के अनुरूप है जैसी कि इसकी स्थिति साक्ष्य अधिनियम, 1938 के पश्चात् है। फिप्सन ने कहा है (पैरा 40.13) :

> ''विधि द्वारा अपेक्षित अनुप्रमाणित किए जाने वाले दस्तावेज (निम्नलिखित अपवादों के अध्यधीन) अनुप्रमाणक साक्षी को बुलाकर साबित करने होंगे। यह नियम अब केवल विलों के मामले में तथा अन्य वसीयती विलेखों के मामले में आवश्यक है। विल आदि के मामलों में साक्षी न्यायालय का साक्षी है और उसे बुलाने वाला पक्षकार उसके सकारात्मक निष्पादन साबित करने वाले साक्ष्य के या किसी सुसंगत विषय पर उसकी प्रतिपरीक्षा कर सकेगा।''

पैरा 40.16(च) में कहा गया है :

साक्ष्य अधिनियम, 1938, धारा 3 द्वारा विधि में बहुत परिवर्तन किया गया है। **विल के अतिरिक्त** या अन्य कोई वसीयती दस्तावेज के अतिरिक्त किसी भी दस्तावेज के मामले में, भूतपूर्व विधि इस उपबंध द्वारा उलट गई है कि जहां दस्तावेज का अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है वह किसी सिविल तथा दांडिक कार्यवाहियों में इस प्रकार साबित किया जा सकेगा जैसेकि कोई अनुप्रमाणक साक्षी जीवित नहीं है। किसी विल या अन्य वसीयती विलेख के मामले में, अधिनियम की पुरानी विधि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसलिए, किसी वसीयती विलेख के मामले में विधि में यह है कि जहां अनुप्रमाणक अधिकारी की मृत्यु हो जाती है या वह मानसिक रूप से विक्षिप्त है, या न्यायालय की अधिकारिता से बाहर है, दूसरे पक्ष ने सांठ-गांठ करके उसे दूर कर रखा है या खोज करने के पश्चात् भी उसे पाया नहीं जा सकता और दस्तावेज 20 वर्ष पुराना नहीं है, वहां निष्पादन का द्वितीयक साक्ष्य साक्षी के हस्तलेख के सबूत द्वारा दिया जाना चाहिए, या यदि यह भी प्राप्त नहीं किया जा सकता हो, तो वहां साक्ष्य किसी उपधारित या किसी अन्य उपलब्ध साक्ष्य द्वारा दिया जाना चाहिए। ऐसा ही संभवतया तब, जब साक्षी गम्भीर रूप से बीमार हो।

यह नोट किया जा सकेगा कि इंग्लैंड में तदनुरूपी विधि केवल विल्स के अतिरिक्त अन्य दस्तावेजों को स्वीकार करने से संबंधित ही नहीं है अपितु, विलों के मामले में भी ऐसी स्थितियों को स्वीकार करने से संबंधित है जहां कि साक्षी को सामने

आने से दूर रखा गया हो। जहां तक ऐसे अनुप्रमाणक का संबंध है, जिसे खोजा नहीं जा सकता है, उस विषय को धारा 69 के अन्तर्गत लिया गया है।

अब हम, इंग्लैण्ड (फिप्सन) तथा भारत (69वीं रिपोर्ट और सरकार) दोनों के लिए ही उन कारणों का संक्षेप में निर्देश करेंगे कि सभी दस्तावेजों के मामलों में (बिलों के अतिरिक्त) किसी अनुप्रमाणक साक्षी को बुलाना क्यों समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

69वीं रिपोर्ट में तथा हमारे द्वारा दिए गए कारण इस प्रकार हैं (एक) किसी अनुप्रमाणक को साक्षी के रूप में बुलाने में होने वाली कठिनाई, क्योंकि वर्षों की अवधि बीत जाने पर अनुप्रमाणक किसी दूरस्थ स्थान पर चला गया हो सकता है, या बूढ़ा या बीमार हो सकता है; (दो) यदि निष्पादक या साक्ष्य, यदि जीवित है, आज्ञापक नहीं है तो अनुप्रमाणक साक्ष्य आज्ञापक क्यों होना चाहिए; (तीन) कुछ भी हो, यदि संपत्ति अन्तरण अधिनियम में कतिपय दस्तावेजों के लिए अनुप्रमाणक अनिवार्य बनाया गया है, तब इसे साबित करना ही होगा। उन दस्तावेजों के मामले में भी जिनमें अनिवार्य अनुप्रमाणन अपेक्षित नहीं है, अनुप्रमाण का सबूत किसी दस्तावेज की मौलिकता के साथ दिया जा सकेगा; (चार) कभी-कभी जब अनुप्रमाणक अपने अनुप्रमाणन का प्रात्याख्यान करता है तब पक्षकारों को उसकी प्रतिपरीक्षा करनी होगी और अनुप्रमाणन साबित करना होगा; (पांच) यह अवश्य ही सर्वोत्तम साक्ष्य नहीं है।

फिप्सन ने भी कहा है (देखे पैरा 40.13) कि मूल सिद्धान्त यह था, कारण यह नहीं है (जैसाकि कभी-कभी मान लिया जाता है) कि अनुप्रमाणक साक्षी, द्वारा सबूत सर्वोत्तम साक्ष्य है, परन्तु वह ऐसा साक्षी है जिसे पक्षकारों ने निष्पादन की परिस्थितियों के बारे में बताने के लिए नियुक्त किया है या सहमति व्यक्त की है, जो एक ऐसा समझौता है जिसे सबूत को त्यागने के प्रयोजन से विचारण में अभिव्यक्त किया जा सकेगा परन्तु भंग नहीं किया जा सकेगा।

परन्तु फिप्सन के अनुसार, यह पुराना सिद्धान्त अब स्वीकार्य नहीं है : ''इस नियम के 'सर्वोत्तम साक्ष्य' सिद्धान्त से कोई संबंध प्रतीत नहीं होता है, जो, जैसाकि पहले ही देखा जा चुका है, काफी बाद में पुनःस्थापित किया गया। वास्तव में, पहले तो किसी विलेख का साक्षी वह व्यक्ति होना आवश्यक नहीं है जिसने इसे निष्पादित किए जाते देखा था अपितु वह व्यक्ति है जो अपने नाम से इसे प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए तैयार है और उसके निष्पादन के बारे में कोई जानकारी न होने के बारे पूछे जाने पर ऐसे साक्षियों के लिए यह कोई असाधारण बात नहीं है।'' उसने आगे कहा है कि ''ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके अधीन अनुप्रमाणक साक्षी का साक्ष्य निश्चयात्मक हो। उस समय उपस्थित अन्य व्यक्ति उसका विरोध करने के लिए बुलाए जा सकते हैं।''

सरकार (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 1124) ने बिगमोर से (पैरा 1288) उद्धृत करते हुए कहा है कि यह सिद्धान्त सही नहीं है कि पक्षकारों को इस बात से सहमत समझा जाना चाहिए कि अनुप्रमाणक एक ऐसा व्यक्ति है, जिसे निष्पादन की परिस्थितियों के बारे में बताना चाहिए और ऐसा कोई समझौता विवक्षित नहीं हो सकता विशेषकर तब, जब न्यायालय द्वारा अनुप्रमाणन अपेक्षित हो। दूसरे शब्दों में विधिक आदेश विवक्षित समझौते के ऐसे किसी सिद्धान्त का अपवर्जन करता है कि ''अनुप्रमाणक'' निष्पादन की परिस्थितियों का साक्षी होगा। बिगमोर ने यह भी कहा है (पैरा 1288) कि अनुप्रमाणक की प्रतिपरीक्षा का अधिकार महत्वपूर्ण सुरक्षोपाय नहीं है। सरकार ने कहा है कि ''बिगमोर ने इस कारण की भी इस आधार पर आलोचना की है कि यह नियम वहां भी लागू होता है जहां धोखाधड़ी, विबाध्यता और समय विवाद्यक नहीं है और कर्ता स्वयं साक्षी के रूप में सक्षम है।'' इसके पश्चात्, अनुप्रमाणक ''व्यवहार में, सामान्यतया ऐसा व्यक्ति नहीं है जो दस्तावेज के निष्पादन से पूर्व की परिस्थितियों के बारे में कोई जानकारी रखता हो, या ऐसे व्यक्ति से अधिक जानकारी रखता है, जो वहां उपस्थित होने के कारण से योग्य साक्षी हो सकेगा'' (सरकार पृष्ठ 1124)।

बिगमोर के अनुसार (पैरा 1288) अनुप्रमाणक की अपेक्षा करने के वास्तविक कारण (अनुप्रमाणक को साक्षी के रूप में बुलाने के लिए नहीं), कपट से सावधानी, किसी साक्षी का अनुप्रमाणक प्राप्त करने में विशेष कठिनाई का न होना, अनपढ़ लोगों द्वारा, जो मृतक है, दस्तावेज के निष्पादन के तथ्य के बारे में अनुप्रमाणक का साक्ष्य अधिकतम वांछनीय तथा विश्वसनीय

साक्ष्य है और अनुप्रमाणक साक्षी को पेश करने का दायित्व उस पक्षकार पर रखने का औचित्य सम्यक् निष्पादन और अनुप्रमाणन साबित करना जिसका कर्तव्य है।

यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 68 के अधीन यह आवश्यक नहीं है कि अनुप्रमाणित करने वाला साक्षी निष्पादन भी साबित करे, इसमें यह अपेक्षा की गई है कि अनुप्रमाणित करने वाले साक्षी को निष्पादन साबित करने के लिए बुलाया जाना चाहिए, परन्तु यदि वह भूल जाता है या भूल जाने का बहाना करता है या निष्पादन का प्रात्याख्यान करता है या विरुद्धपक्षी हो जाता है तो इसे धारा 71 के अधीन अन्य साक्षी द्वारा साबित किया जा सकेगा (देखें **बशीरन** बनाम **मोहम्मद हुसैन** ए.आई. आर. 1942 अवध 201) (सरकार में उद्धृत पृष्ठ 1124)।

इंग्लैण्ड में यू. के. साक्ष्य अधिनियम, 1938 के अधीन 1938 में किए गए परिवर्तन, जिनके बारे में हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, भारत में काफी समय से आवश्यक हैं और भूतपूर्व इंग्लिश विधि को ही जारी रखने से बहुत से मामलों में परिहार्य झूठी गवाही दी जा सकती है।

सरकार ने (15वां संस्करण, 1999) ऐसी 14 परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिनमें किसी अनुप्रमा क को बुलाने या उसकी परीक्षा करना कठिन है (पृष्ठ 1125-1126)। उनमें से एक यह है कि वाणिज्यिक पोत परिवहन अधिनियम, 1894 के अधीन अनुप्रमाणित किए जाने की अपेक्षा रखने वाले दस्तावेज अनुप्रमाणक साक्षियों को बुलाए बिना भी साबित किए जा सकेंगे। हमने देखा है कि ये सभी चीजें 69वीं रिपोर्ट में किए गए प्रस्तावों और हमारे द्वारा सुझाए गए परिवर्धनों के अधीन आ जाती हैं। अतः हम इन चौदह प्रकार के मामलों का निर्देश नहीं कर रहे हैं।

एक अन्य पहलू यह है कि क्या "साक्ष्य के रूप में उपयोग नहीं किया जाएगा" शब्दों का अर्थ यह है कि दस्तावेज समान प्रयोजनों के लिए उपयोग किया जा सकेगा। ऐसा दृष्टिकोण भी पुराने इंग्लिश मामलों का अनुसरण करते हुए **शिब बनाम गौड** : 27 सी. डब्ल्यू. एन. 134 मामलों में स्वीकार नहीं किया गया था। परन्तु अमरीका में विभिन्न अधिकारिताओं में, इस नियम को उदार बनाया गया है जब कोई दस्तावेज, जिसका निष्पादन साबित किया जाना है, ऐसा दस्तावेज नहीं है जो अभिवचनों में आवश्यक रूप से अन्तर्ग्रस्त हो परन्तु समान होने के कारण प्रासंगिक रूप से विवाद विषय में आता हो (विग, धारा 129 सरकार द्वारा उद्धृत पृष्ठ 1129)। तथापि, इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने इस नियम को थोड़ा उदार बनाया है। किसी पूर्व बंधक की बंधकपत्र में किसी अस्वीकृति पर अनुप्रमाणन के सबूत के बिना ही अभिस्वीकृति के रूप में विश्वास किया जा सकेगा (**श्यामलाल** बनाम **लक्ष्मी** ए.आई. आर. 1939 इला. 366) या ..... के हस्तलेख को साबित करने के लिए भी (**मोतीचन्द** बनाम **ललिता** ए.आई.आर. 1940 इला. 266; **मथुरा** बनाम **छेदी** ए. आई. आर. 1915 इला. 254; **राधाकृष्णन** बनाम **भारेथन** ए.आई.आर. 1990 केरल 146)। हम प्रस्ताव करते हैं कि अग्राह्यता केवल प्रभावी होने वाले वसीयती विलेखों के लिए सीमित होनी चाहिए वंश संबंधी मामलों के लिए नहीं जैसाकि किसी बिल में किसी ऋण की अभिस्वीकृति या किसी संबंध आदि के सबूत अन्तर्विष्ट हैं।

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 63 में अपेक्षा की गई है कि 'वसीयतकर्त्ता हस्ताक्षर करे या अपना चिन्ह अंकित करे' परन्तु अनुप्रमाणन का निर्देश करते हुए धारा 63 में 'हस्ताक्षर' शब्द का प्रयोग हुआ है। उच्च न्यायालयों के बीच मतभेद हैं (देखें सरकार, पृष्ठ 1143) और लेखक ने कहा है कि 'चिन्ह' को अनुप्रमाणन के रूप में स्वीकार किया जा सकेगा यह दृष्टिकोण सही है। हमने धारा 67 में एक स्पष्टीकरण जोड़कर पहले ही उपबंध कर दिया है।

इसके पश्चात्, इस विवाद के बारे में कि एक्यॉरेंसिस् रजिस्ट्रार के हस्ताक्षरों का अनुप्रमाणन समझा जाए अस्वीकार्य प्रतीत होता है (देखें **अब्दुल जब्बार** बनाम **वेंकटशास्त्री** ए.आई.आई. 1969 सु.को. 1147), इस बारे में उच्च न्यायालयों के बीच मतभेद हैं कि अनुप्रमाणक साक्षी को क्षमता के रूप में हस्ताक्षर न करने वाले किसी व्यक्ति को अनुप्रमाणन साक्षी समझा

जा सकता है (देखें सरकार पृष्ठ 1147–1155)। उच्चतम न्यायालय ने अब्दुल जब्बार के मामले में कहा है कि कोई लेखक या पहिचानकर्त्ता अनुप्रमाणक साक्षी नहीं हो सकता जब तक कि वह अनुप्रमाणित करने के आशय से अपने हस्ताक्षर नहीं करता है।

धारा 68 के अधीन उठने वाले इन पहलुओं में कुछ के बारे में हमने निर्देश किया है परन्तु न्यायालयों के निर्णयों के विचार से हम नहीं समझते कि इस धारा में कोई विशिष्ट उपबंध किया जाना चाहिए।

परिणामस्वरूप, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 68 केवल बिलों के लिए ही सीमित रहनी चाहिए और इसके पुन:प्रारूपित किए जाने तथा इसमें 69वीं रिपोर्ट में निर्देशित अपवाद अन्त:स्थापित किए जाने की तथा और विस्तार किए जाने की आवश्यकता है।

69वीं रिपोर्ट में पुन:प्रारूपित धारा का पाठ निम्नलिखित है (देखें पैरा 32.34) (एक सदस्य श्री मित्रा ने अपना विमति टिप्पण दिया है) :

"68. यदि किसी बिल का अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है, तो उसे साक्ष्य के रूप में उपयोग में नहीं लाया जाएगा जब तक कि कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी, यदि कोई अनुप्रमाणक साक्षी जीवित और न्यायालय की आदेशिका के अध्यधीन हो तथा साक्ष्य देने के योग्य हो, उसका निष्पादन साबित करने के लिए न बुलाया गया हो, जब तक कि साक्षी साक्ष्य देने के योग्य नहीं हो या प्रतिपक्ष द्वारा उसे सामने आने से दूर रखा गया हो या साक्षी कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसकी उपस्थिति, विलम्बकारित किए बिना या व्यय किए बिना, जिसे मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए न्यायालय न्यायोचित नहीं मानता हो, उपलब्ध नहीं की जा सकेगी।

अपवाद : इस धारा में कोई भी बात ऐसे मामले के लिए लागू नहीं होगी जहां बिल विरोधी पक्ष के कब्जे में हो और न ही इस धारा का धारा 89 और 90 के उपबंधों पर कोई प्रभाव पड़ेगा।"

धारा 89 ऐसे दस्तावेजों के बारे में है जिनको पेश करने के लिए सूचना दी जाती है और धारा 90 ऐसी बिलों के बारे में है जो 30 वर्ष से अधिक पुरानी हैं।

हम कतिपय अन्य परिवर्तनों का सुझाव देते हैं। इनमें से एक यह है कि प्रतिबंध 'वसीयती बिलेख' को साबित करने के बारे में होना चाहिए और वंश संबंधी तथ्यों को साबित करने के लिए नहीं। दूसरा यह कि अपवादों में ऐसे मामले का निर्देश होना चाहिए जहां अनुप्रमाणक साक्षी को किसी अन्य व्यक्ति द्वारा विपक्ष की सांठ-गांठ से सामने आने से दूर रखा जाता है।

अत: हम सिफारिश करते हैं कि धारा 68 निम्नलिखित रूप में पुन:प्रारूपित की जाए :

ऐसी बिल के निष्पादन का साबित किया जाना जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है

"68. (1) यदि किसी बिल का अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है, तो उसे साक्ष्य के रूप में उपयोग में नहीं लाया जाएगा जब तक कि कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी, यदि कोई अनुप्रमाणक साक्षी जीवित और न्यायालय की आदेशिका के अध्यधीन है तथा साक्ष्य देने के योग्य है, उसका निष्पादन साबित करने के लिए न बुलाया गया हो।

(2) उपधारा (1) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी किसी अनुप्रमाणक को किसी बिल का निष्पादन साबित करने के लिए बुलाने की आवश्यतकता नहीं होगी यदि—

(क) अनुप्रमाणक साक्षी साक्ष्य देने के योग्य नहीं है; या उसे विपक्षी पक्षकार, द्वारा या उस पक्षकार से सांठ-गांठ करके किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सामने आने से दूर रखा गया हो या वह ऐसा व्यक्ति हो जिसकी उपस्थित, विलम्बकारित किए बिना या ऐसा व्यय किए बिना, जिसे मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, न्यायालय न्यायोचित नहीं समझता हो, प्राप्त नहीं की जा सकेगी।

(ख) बिल विपक्षी पक्षकार के कब्जे में हो; या

(ग) कोई पक्षकार बिल में अन्तर्विष्ट किसी वंश संबंधी तथ्य का निर्देश करना चाहता हो; या

(घ) धारा 89 और 90 के उपबंध लागू हो सकेंगे।"

धारा 69 :

यह धारा 'जब किसी भी अनुप्रमाणक साक्षी का पता न चले तब सबूत' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"69. यदि ऐसे किसी अनुप्रमाणक साक्षी का पता न चल सके अथवा यदि दस्तावेज का यूनाइटेड किंगडम में निष्पादित होना तात्पर्यित हो तो यह साबित करना होगा कि कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी का अनुप्रमाण उसी के हस्तलेख में है, तथा यह कि दस्तावेज का निष्पादन करने वाले व्यक्ति का हस्ताक्षर उसी व्यक्ति के हस्तलेख में है।"

69वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है (देखें पैरा 32.37 तथा 32.30) और हमारे विचार में यह ठीक ही है कि 'दस्तावेज' शब्द के स्थान पर 'बिल' शब्द प्रतिस्थापित किया जाए तथा "या यदि दस्तावेज का यूनाइटेड किंगडम में निष्पादित होना तात्पर्यित हो" शब्दों का लोप किया जाए।

हम अपनी सहमति व्यक्त करते हैं।

संशोधित धारा, जैसाकि सिफारिश की गई है, निम्नलिखित है :

<u>जब किसी भी अनुप्रमाणक साक्षी का पता न चले तब सबूत</u>

"69. यदि धारा 68 की उपधारा (1) के अधीन विनिर्दिष्ट ऐसे किसी अनुप्रमाणक साक्षी का पता न चल सके तो यह साबित करना होगा कि कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी का अनुप्रमाण उसी के हस्तलेख में है, तथा यह कि बिल का निष्पादन करने वाले व्यक्ति का हस्ताक्षर बिल के निष्पादक के हस्तलेख में है।"

धारा 70 :

धारा 70 अनुप्रमाणित दस्तावेज के पक्षकार द्वारा निष्पादन की स्वीकृति के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"70. अनुप्रमाणित दस्तावेज के किसी पक्षकार की अपने द्वारा उसका निष्पादन करने की स्वीकृति उस दस्तावेज के निष्पादन का उसके विरूद्ध पर्याप्त सबूत होगा, यद्यपि वह ऐसा दस्तावेज है जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है।"

धारा 68 को केवल 'बिलों' के लिए सीमित रखने की सिफारिश को ध्यान में रखते हुए, यह स्पष्ट हो गया है कि धारा 70 भी बिलों के लिए ही सीमित होनी चाहिए। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस तथ्य के उपरांत भी कि बिल केवल उसके

लेखक की मृत्यु के पश्चात् ही प्रभावी होती है, क्या विल के लेखक को, एकमात्र पक्षकार होने के कारण, विल के निष्पादन की स्वीकृति करने का अवसर प्राप्त होगा।

वास्तव में, 69वीं रिपोर्ट में इस पहलु को ध्यान में रखा गया था और निम्नलिखित विचार व्यक्त किया गया था (देखें पैरा 32.47) : "क्योंकि विल उसके लेखक की मृत्यु के पश्चात् ही प्रभावी होती है, उसके निष्पादन का प्रश्न भी अधिकांशतः उसके लेखक की मृत्यु के पश्चात् ही उठेगा। तथापि, यह बात भी समझ में आती है कि इच्छापत्र लिखने वाला अपने जीवन काल में उस कार्यवाही में एक पक्षकार है जिसमें कि विल एक विवाद्यक विषय है—उदाहरण के लिए पारस्परिक विलों के मामले में।"

हमने पाया है कि 69वीं रिपोर्ट पेश किए जाने के पश्चात्, केरल उच्च न्यायालय ने **आर. सरस्वती बनाम भवशी अम्माल** ए. आई. आर. 1989 केरल 228 मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि धारा 70 विल के मामले में लागू नहीं होती है क्योंकि विल का निष्पादनकर्ता, सुसंगत समय पर उसके निष्पादन की स्वीकृति करने के लिए उपलब्ध नहीं होगा।

किसी विल के मामले में, यदि उसके लेखक को अपने जीवनकाल में विल के निष्पादन की स्वीकृति करने का अवसर प्राप्त हुआ था, किसी अन्य रजिस्टर्ड दस्तावेज में या किसी अन्य मामले में साक्ष्य देते हुए, तब लेखक की मृत्यु के पश्चात्, विल के अधीन दावा करने वाले लोग विल के निष्पादन का विरोध करने वालों के विरुद्ध उसे साक्ष्य के रूप में उपयोग कर सकेंगे।

69वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश भी की गई थी (देखें पैरा 32.43 से 32.47) कि दस्तावेज के (अर्थात् विल) निष्पादन की स्वीकृति किसी विधिक कार्यवाही के दौरान किसी अभिवचन में या साक्ष्य में होनी चाहिए, मुकदमा शुरू होने से पूर्व नहीं। आयोग ने इस आशय के विरोधी दृष्टिकोण के विरुद्ध कि स्वीकृति मुकदमे से पूर्व तथा उसके अतिरिक्त भी हो सकती है, इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया है कि यही दृष्टीकोण ठीक है। हम आयोग के इस विचार से और इस तर्क से सहमत हैं कि सिद्धान्त यह है कि "पक्षकार अनुप्रमाण का प्रबंध मुकदमे में साक्ष्य प्राप्त करने के प्रयोजन से करते हैं। (देखें पैरा 32.44)

69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुसार संशोधित धारा का पाठ निम्नलिखित है (देखें पैरा 32.48) :

"70. अनुप्रमाणित विल के किसी पक्षकार की अपने द्वारा उसका निष्पादन करने की स्वीकृति, यदि स्वीकृति किसी अभिवचन में या अन्यथा कार्यवाही के दौरान की गई है, उस विल के निष्पादन का उसके विरुद्ध पर्याप्त सबूत होगा, यद्यपि वह ऐसी विल है जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है।"

इस प्रारूप के संबंध में, हमें भी कुछ कहना है। हमारा विचार है कि धारा में अनुप्रमाणित विल के किसी पक्षकार के बजाय निष्पादनकर्ता का उल्लेख होना चाहिए। दूसरे, केरल के निर्णय को ध्यान में रखते हुए "विल का निष्पादन करने वाले" शब्दों के पश्चात् "ऐसी स्वीकृति" शब्द जोड़ना उपयोगी होगा। इसके साथ ही "उसके विरुद्ध" शब्दों के बजाय "अनुप्रमाण का विरोध करने वालों के विरुद्ध" शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिएं।

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 70 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जाए :

<u>अनुप्रमाणित विल के पक्षकार द्वारा निष्पादन की स्वीकृति</u>

"70. किसी अनुप्रमाणित विल के निष्पादनकर्ता द्वारा उसके निष्पादन की स्वीकृति, यदि ऐसी स्वीकृति उसके जीवनकाल में किसी अभिवचन में या अन्यथा किसी वाद या कार्यवाही के दौरान की गई है, उसके निष्पादन का विरोध करने वालों के विरुद्ध पर्याप्त सबूत होगा, यद्यपि विल, ऐसी है जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है।"

धारा 71 :

धारा 71 'जबकि अनुप्रमाणक साक्षी निष्पादन का प्रात्याख्यान करता है, तब सबूत' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है:

"71. यदि अनुप्रमाणक साक्षी दस्तावेज के निष्पादन का प्रात्याख्यान करे या उसे उसके निष्पादन का स्मरण न हो तो उसका निष्पादन अन्य साक्ष्य द्वारा सबित किया जा सकेगा।"

'दस्तावेज' शब्द के स्थान पर यहां उपर्युक्त दिए गए कारणों से 'विल' शब्द प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए। एक और अन्य पहलु यह है कि जहां एक से अधिक अनुप्रमाणक साक्षी हैं और जो पक्षकार 'विल' को 'साबित' करना चाहता है उसे बुलाता है परन्तु वह पक्षद्रोही हो जाता है या उसे स्मरण नहीं रहता। एक दृष्टिकोण यह था कि दूसरे अनुप्रमाणक साक्षी को बुलाने का, यद्यपि वह उपलब्ध भी है, कोई औचित्य नहीं है (देखें **हसन अली** बनाम **गुरदास,** ए. आई. आर. 1929 कलकत्ता 188; **मानकी** बनाम **हंसराज,** ए. आई. आर 1938 पटना 301; **एनाती** बनाम **मोहम्मद इस्माईल,** ए. आई. आर. 1929 कलकत्ता 441) (न्यायमूर्ति कन्ट्रा मिल्लर)। इस दृष्टिकोण को 69वीं रिपोर्ट में इस आधार पर स्वीकार किया गया है (देखें पैरा 32.51) इस धारा में ऐसा नहीं कहा गया है कि दूसरे अनुप्रमाणकों को बुलाने में असुविधा होगी।

विपरीत दृष्टिकोण का कि तब अन्य अनुप्रमाणक साक्षियों को बुलाया जा सकेगा, प्रिवी काउंसिल द्वारा **सुरेन्द्र** बनाम **बिहारी,** ए. आई. आर. 1939 पी. सी. 117 मामले में की गई टिप्पणी द्वारा समर्थन किया गया है और यह हमें भी अधिक आकर्षक प्रतीत होता है। यह विपरीत दृष्टिकोण कि अन्य अनुप्रमाणक साक्षियों को बुलाया जाना चाहिए, **हरिकृष्ण** बनाम **जगनेश्वर,** ए. आई. आर. 1949 बम्बई 266 मामले में अपनाया गया था। इंग्लैण्ड में भी ऐसी ही विधि है और इस तथ्य को ध्यान में रखा जाता है कि 'विलों' के सबूत को सदैव उच्च स्तर पर रखा गया है। **पिलकिंगटन** बनाम **ग्रे :** 1899 ए. सी. 401 मामले में किसी विल के दो साक्षियों में से एक ने प्रतिकूल साक्ष्य दिया और कहा कि हस्ताक्षर जाली थे। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि दूसरा साक्षी तब तक नहीं बुलाया जा सकता जब तक कि दूसरे अनुप्रमाणन साक्षी की अनुपस्थिति के बारे में संतोषप्रद स्पष्टीकरण नहीं दिया जाता। **कोल्स** बनाम **सी,** 13 एल. टल. 608 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि दूसरे अनुप्रमाणन साक्षी को बुलाया जाए चाहे पक्षकार जानता हो कि वह उसके विरूद्ध है। देखें **ब्राउन** बनाम **हॉगसन** (1867) आई. पी. एण्ड डी. 362; **डेमैन** बनाम **डी,** 71 एल. टी. 699। पटना उच्च न्यायालय ने भी **गोबिन्द** बनाम **पुलिन,** 31 सी. डब्ल्यू. एन. 25 मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि यह तर्क कि यदि उसे बुलाया भी गया, तो वह पक्षद्रोही सिद्ध होगा, स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सरकार ने कहा है कि यह दृष्टिकोण कि अन्य अनुप्रमाणकों को नहीं बुलाया जाना चाहिए सही नहीं है और हम उस विचार से सहमत हैं और 69वीं रिपोर्ट में दिए गए तर्क से सादर असहमति व्यक्त करते हैं। ठीक है, कि धारा 68 में दिए गए अपवाद भी सदैव लागू होंगे जैसाकि अन्य अनुप्रमाणक जीवित ही न हो या दूसरे पक्ष द्वारा उसे सामने आने से दूर रखा जाए आदि।

69वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई है कि धारा 71 में निम्नलिखित संशोधन किया जाना चाहिए :

"71. **यदि निष्पादन साबित करने के प्रयोजन से** बुलाया गया कोई अनुप्रमाणक साक्षी प्रात्याख्यान करता है या उसे उसके निष्पादन का स्मरण न हो तो उसका निष्पादन अन्य साक्ष्य द्वारा साबित किया जा सकेगा और **किसी अन्य अनुप्रमाणक साक्षी को बुलाना आवश्यक नहीं होगा।**"

इसके बजाय, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 71 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जाए :

जबकि अनुप्रमाणक साक्षी निष्पादन का प्रात्याख्यान करता है, तब सबूत :

"71. यदि किसी विल का निष्पादन साबित करने के लिए बुलाया गया अनुप्रमाणक साक्षी विल के निष्पादन का प्रात्याख्यान करे या उसे उसके निष्पादन का स्मरण न हो, तो उसका निष्पादन अन्य साक्ष्य पेश करने से पूर्व, धारा 68 के उपबंधों के अधीन अन्य अनुप्रमाणक साक्षियों को बुलाकर साबित किया जा सकेगा।"

धारा 72-:

यह धारा उस दस्तावेज के साबित किए जाने का निर्देश करती है जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित नहीं है। इसका पाठ निम्नलिखित है:

"72. कोई अनुप्रमाणित दस्तावेज, जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित नहीं है, ऐसा साबित किया जा सकेगा मानो वह अनुप्रमाणित न हो"

69वीं रिपोर्ट में फिर से धारा 72 को बिलों के लिए ही सीमित रखा गया है (नि.संदेह, बिलों की ऐसी श्रेणियां भी हैं जिनका अनुप्रमाणित होना अपेक्षित नहीं है- देखें भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925)। हमने जो प्रस्ताव किया है उसके अनुसार संशोधित धारा 72 का पाठ निम्नलिखित है :

बिलों या अन्य दस्तावेजो का साबित किया जाना जिनका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित नहीं है

"कोई अनुप्रमाणित बिल या दस्तावेज, जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित नहीं है, ऐसे साबित किया जा सकेगा मानो वह अनुप्रमाणित न हो।"

धारा 73 :

यह धारा, "हस्ताक्षर लेख या मुद्रा की तुलना अन्यों से जो स्वीकृत या साबित है", के बारे में है।

धारा का प्रथम भाग न्यायालय को यह अनुमति प्रदान करता है कि वह तात्पर्यित हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा की तुलना अन्यों से, जो स्वीकृत या साबित हैं, अपने संतुष्टि के लिए स्वीकार करने हेतु कर सकेगा।

दूसरे पैराग्राफ में, न्यायालय को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह वहां उपस्थित किसी व्यक्ति को विवादित से तुलना करने के प्रयोजन से किन्हीं शब्दों या अंकों को लिखने का निर्देश दे सकेगा।

धारा के तीसरे पैराग्राफ में कहा गया है कि यह धारा "अंगुलियों की छापों" के लिए भी लागू होगी।

(क) **धारा 73 का पहला भाग :** 69वीं रिपोर्ट में न्यायालयों के निर्णयों की विविधता के विचार से धारा में कतिपय संशोधनों का प्रस्ताव किया गया है। जहां तक पहले पैरा में प्रयुक्त 'तात्पर्यित' शब्द के अर्थ के लिए संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा गया है कि धारा 73 केवल तभी लागू होगी जबकि विवादित लेख में स्वयं ही यह कहा गया हो कि यह प्रश्नाधीन व्यक्ति का लेख है जबकि कतिपय अन्य उच्च न्यायालयों ने इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या की है और यह अभिनिर्धारित किया है कि 'तात्पर्यित' शब्द का अर्थ 'अभिकथित' है। वास्तव में, धारा 73 का तीसरा पैरा न्यायालय को न्यायालय में उपस्थित किसी व्यक्ति को किन्हीं शब्दों या अंकों को लिखने का निर्देश देने की अनुमति देता है।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 33.19 में यह सिफारिश की गई है कि 'तात्पर्यित है' शब्दों के स्थान पर 'अभिकथित है' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं। हम इस सिफारिश से सहमत हैं।

(ख) एक अन्य विवाद यह था कि तुलना करना केवल न्यायालयों के लिए ही सीमित है या यह तुलना किसी विशेषज्ञ या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भी की जानी चाहिए। निर्णय जनित विधि में इस विवाद का निर्देश करने के पश्चात् और विशेषकर, **कैलाशचन्द्र बनाम धोबी बारिक** : ए. आई. आर. 1967 सु. को. 777 और **एम. पी. शर्मा बनाम सतीश चन्द्र** : ए. आई. आर. 1954 सु.को. 300 मामलों में, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 33.23 में कहा गया है कि जबकि धारा 73 में स्पष्टरूप से किसी विशेषज्ञ या किसी अन्य व्यक्ति को प्राधिकृत नहीं किया गया है; परन्तु यह निषिद्ध नहीं है। उदाहरण के लिए, न्यायालय विवादित हस्ताक्षर की स्वीकृति से या ऐसे

हस्ताक्षर से जिसे न्यायालय मौलिक समझता है, तुलना करने के लिए किसी विशेषज्ञ के पास भेजने पर विचार कर सकेगा, यह बताया गया था कि इंग्लैण्ड में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 4 के अधीन ऐसी तुलना साक्षियों द्वारा भी किया जाना अनुमत्य है।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 33.28 में यह मत व्यक्त किया गया है कि यह एक ऐसा विषय है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

धारा 73 का दूसरा पैरा : जहां तक धारा 73 के दूसरे पैरे का संबंध है, किसी साक्षी को उसके हस्ताक्षर या अंगूठे की छाप या लेख देने के लिए बाध्य करने की शक्ति के संबंध में यह नोट किया जाना चाहिए कि इससे भारतीय संविधान के अनुच्छेद 20(3) का उल्लंघन न हो (स्टेट ऑफ बम्बई बनाम काठीकालू ए. आई. आर. 1961 सु. को. 1816)।

69वीं रिपोर्ट में विभिन्न उच्च न्यायालयों के निर्णयों का निर्देश किया गया है जिनमें कहा गया है कि किसी मजिस्ट्रेट का न्यायालय या ऐसा ही कोई न्यायालय हस्ताक्षर या अंगूठे की छाप देने के लिए निर्देश नहीं दे सकता, जब तक कि कोई दांडिक शिकायत जांच के अधीन न हो या न्यायालय द्वारा अपराध का संज्ञान न किया गया हो। तर्क यह दिया गया था कि साक्ष्य अधिनियम केवल न्यायिक कार्यवाहियों के लिए लागू होता है जांच के चरणों के लिए नहीं। इसलिए, पैरा 33.40 में यह सिफारिश की गई थी कि एक स्पष्टीकरण जोड़ा जाए। धारा 73 उस स्थिति में दांडिक न्यायालय के लिए लागू नहीं होती है जब तक कि न्यायालय ने अपराध का संज्ञान न किया हो। निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ने का प्रस्ताव किया गया है:

स्पष्टीकरण:—इस धारा में कोई भी बात दांडिक न्यायालय के लिए, उसके द्वारा अपराध का संज्ञान करने से पूर्व, लागू नहीं होगी।

परन्तु हमारे विचार में, ऐसा प्रतीत नहीं होना चाहिए कि जांच के चरण में, ऐसी शक्ति न्यायालय में निहित नहीं हो सकेगी। ''इस धारा में कोई भी बात'' शब्दों के पहले निम्नलिखित शब्द जोड़े जाने चाहिए :

''किसी अन्य विधि के उपबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना''

धारा 73 का तीसरा पैरा : जहां तक धारा 73 के तीसरे पैरे का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 33.41 में यह सिफारिश की गई है कि धारा ''हथेली की छाप, पैरों के निशान तथा टाइपराइटिंग'' के लिए भी लागू होनी चाहिए। इस संबंध में, यह भी बताया गया कि ये शब्द धारा 45 में भी जोड़े जाने चाहिए। (हमने, तथापि, धारा 45 में पहिचान शब्द जोड़ने का प्रस्ताव किया है) हम उक्त सिफारिश को स्वीकार करते हैं।

इन उपर्युक्त सिफारिशों के अनुसार, जो हमें थोड़े प्रस्तावित उपांतरणों के साथ स्वीकार्य हैं, यह धारा निम्नलिखित रूप में पुनः प्रारूपित की जानी चाहिए :

हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा की तुलना अन्यों से जो स्वीकृत या साबित हैं

''73. (1) यह अभिनिश्चित करने के लिए कि क्या कोई हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा उस व्यक्ति की है जिसके द्वारा उसका लिखा या किया जाना अभिकथित है, किसी हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा की जिसके बारे में यह स्वीकृत है या न्यायालय के समाधानप्रद रूप में साबित कर दिया गया है कि वह उस व्यक्ति द्वारा लिखा या किया गया था, उससे, जिसे साबित किया जाना है, न्यायालय द्वारा या उसके आदेशों के अधीन तुलना की जा सकेगी, यद्यपि वह हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा किसी अन्य प्रयोजन के लिए पेश या साबित न की गई हो।

(2) न्यायालय में उपस्थित किसी व्यक्ति को किन्हीं शब्दों या अंकों को लिखने का निर्देश न्यायालय इस प्रयोजन से दे सकेगा कि ऐसे लिखे गए शब्दों या अंकों की किन्हीं ऐसे शब्दों या अंकों से तुलना की जा सके जिनके बारे में अभिकथित है कि वे उस व्यक्ति द्वारा लिखे गए थे।

(3) यह धारा, किन्हीं अन्य उपांतरों के साथ, अंगुलियों की छाप, हथेली की छाप, पैरों के निशान तथा टाईपराइटिंग के लिए भी लागू होगी।

(4) तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के उपबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, इस धारा में कोई भी बात, दांडिक न्यायालय के लिए, उसके द्वारा अपराध का संज्ञान किए जाने से पूर्व, लागू नहीं होगी।"

धारा 73क :

यह धारा अंकीय चिह्नकों के सबूत के बारे में है और यह सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 (अधिनियम 21/2000) द्वारा अंत:स्थापित की गई है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"73क : यह अभिनिश्चित करने के लिए कि क्या कोई अंकीय चिह्नक उस व्यक्ति का है जिसके द्वारा उसका लगाया जाना तात्पर्यित है, न्यायालय यह निर्देश दे सकेगा कि—

(क) वह व्यक्ति या नियंत्रक या प्रमाणकर्ता प्राधिकारी अंकीय चिह्नक प्रमाणपत्र पेश करे;

(ख) कोई अन्य व्यक्ति अंकीय चिह्नक प्रमाणपत्र में सूचीबद्ध लोक कुंजी के लिए आवेदन करे और उस अंकीय चिह्नक को, जिसका उस व्यक्ति द्वारा नियंत्रक अभिप्रेत है।

स्पष्टीकरण : इस धारा के प्रयोजनों के लिए "नियंत्रक" से सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 की धारा 17 की उपधारा (1) के अधीन नियुक्त नियंत्रक अभिप्रेत है। हमारा विचार है कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।"

धारा 74 :

धारा 74 से 78 'लोक दस्तावेज, प्राइवेट दस्तावेज, लोक दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियां और सबूतों के बारे में' है। हम प्रत्येक धारा पर क्रमानुसार विचार करेंगे :

धारा 74 का पाठ निम्नलिखित है :

"74. निम्नलिखित दस्तावेज लोक दस्तावेज हैं :—

(1) वे दस्तावेज जो—

(I) प्रभुता सम्पन्न प्राधिकारी के,

(II) शासकी निकायों या अधिकरणों के, तथा

(III) (भारत के किसी भाग के या कॉमनवेल्थ के) या किसी विदेश के विधायी, न्यायिक तथा कार्यपालक लोक अधिकारियों के,

कार्य के रूप में या कार्यों के अभिलेख के रूप में हैं।

(2) किसी राज्य में रखे गए प्राइवेट दस्तावेजों के लोक अभिलेख।"

69वीं रिपोर्ट में, लम्बी चर्चा के बाद, पैरा 34.18 में यह प्रस्ताव किया गया था कि आयोजन दावों, लिखित कथनों, याचिकाओं तथा पत्रों को जो पक्षकारों द्वारा फाइल किए जाएं निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़कर लोक दस्तावेज समझा जाना चाहिए :

स्पष्टीकरण :—अभिलेख, जो किसी मामले का भाग है और जिनके परिणामस्वरूप न्यायालय द्वारा निर्णय दिया जाएगा, या किसी लोक अधिकारी का आदेश, यदि आदेश न्यायिक रूप से दिया गया है, स्वयं में लोक दस्तावेज है।

उपर्युक्त सिफारिश करने से पूर्व, 69वीं रिपोर्ट में इस विषय में विभिन्न उच्च न्यायालयों का परस्पर विरोधी निर्णय जनित विधि की समीक्षा की गई।

आयोग ने पैरा 34.13 से 34.15 तक में 'दस्तावेज जो कार्य के रूप में या कार्यों के अभिलेख के रूप में हैं' शब्दों के अर्थ संबंधी समस्या का निर्देश किया है। एक ओर तो आयकर विवरणी से संबंधित निर्णय जनित विधि और दूसरी ओर दंड प्रक्रिया संहिता के संबंध में पुलिस अधिकारी द्वारा मजिस्ट्रेट को भेजे गए पृष्ठों (देखें **नरसिम्हा बनाम वेंकटरमैया** : ए.आई.आर. 1940 मद्रास 768 एफ बी तथा **क्वीन एम्प्रेस बनाम अरूमगम** : (1896) आई एल आर 26 मद्रास 189 (एफ बी) के बारे में विचार किया गया। परन्तु रिपोर्ट के पैरा 34.15 में यह विचार व्यक्त किया गया कि धारा 74 के अधीन आने वाले विभिन्न प्रकार के दस्तावेजों के विचार से सामान्य स्वरूप का स्पष्टीकरण बना पाना सरल कार्य नहीं होगा।

हम, उपर्युक्त विचार से सहमत हैं और अन्ततः इस बात से सहमत हैं कि न्यायिक आदेश घोषित करने वाले न्यायालयों/लोक कार्यालयों के लिए लागू होने वाले सीमित स्पष्टीकरण को ही स्वीकार किया जाए।

हम प्रस्ताव करते हैं कि धारा 74 के खंड (1) में 'समझा जाए' शब्द जोड़ते हुए एक उपांतरित स्पष्टीकरण जोड़ा जाए। सुविधा की दृष्टि से हम फिर से उद्धृत कर रहे हैं —

> "**स्पष्टीकरण** :—अभिलेख, जो किसी मामले का भाग है और जिनके परिणामस्वरूप न्यायालय द्वारा निर्णय दिया जाएगा, या किसी लोक अधिकारी का आदेश, यदि आदेश न्यायिक रूप से दिया गया हो, लोक दस्तावेज समझा जाएगा।"

धारा 75 :

धारा 75 में यह उपबंधित है कि अन्य सभी दस्तावेज प्राइवेट दस्तावेज हैं।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 34.20 में कहा गया था कि इसमें किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 76 :

यह धारा लोक दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियों के बारे में है और इसमें एक स्पष्टीकरण अन्तर्विष्ट है।

इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "76. हर लोक अधिकारी जिसकी अभिरक्षा में कोई ऐसा दस्तावेज है, जिसके निरीक्षण करने का किसी व्यक्ति को अधिकार है, मांग किए जाने पर उस व्यक्ति को उसकी प्रति उसके लिए विधिक फीस चुकाए जाने पर प्रति के नीचे इस लिखित प्रमाणपत्र के सहित देगा कि वह, यथास्थिति, ऐसे दस्तावेज की या उसके भाग की शुद्ध प्रति है तथा ऐसा प्रमाणपत्र ऐसे अधिकारी द्वारा दिनांकित किया जाएगा और उसके नाम और पदाभिधान से हस्ताक्षरित किया जाएगा तथा जब कभी ऐसा अधिकारी विधि द्वारा किसी मुद्रा का उपयोग करने के लिए प्राधिकृत है तब मुद्रायुक्त किया जाएगा, तथा इस प्रकार प्रमाणित ऐसी प्रतियां प्रमाणित प्रतियां कहलाएंगी।
>
> **स्पष्टीकरण** :—जो कोई अधिकारी पदीय कर्त्तव्य के मामूली अनुक्रम में ऐसी प्रतियां परिदान करने के लिए प्राधिकृत है वह इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत ऐसे दस्तावेजों की अभिरक्षा रखता है, यह समझा जाएगा।"

यह धारा, निरीक्षण के अधिकार से प्रारम्भ होती है। 69वीं रिपोर्ट के पैरा 35.3 में यह बताया गया था कि ऐसा अधिकार विभिन्न केन्द्रीय तथा राज्य विधियों में पाया जा सकता है परन्तु वह अधिकार, जैसाकि इंग्लैण्ड में है, विधि के अतिरिक्त भी उपलब्ध था।

पैरा 35.9 में यह बताया गया था कि निरीक्षण का अधिकार तथा प्रतियों का अधिकार तीन प्रकार की विधियों में उपबंधित है :

(क) कोई विधि **निरीक्षण का अधिकार** प्रदान कर सकेगी तथा निरीक्षण की अनुमति से इंकार करने के लिए दंड तथा उपचार का भी उपबंध कर सकेगी। यह बहुत ही कम है; या

(ख) विधि, किसी उपचार का उपबंध किए बिना ही निरीक्षण मात्र का अधिकार दे सकेगी; या

(ग) विधि, स्पष्ट निरीक्षण के अधिकार के बिना प्रमाणित प्रतियों का अधिकार दे सकेगी।

विभिन्न भारतीय विधियों तथा कतिपय इंग्लिश विधियों के उपबंधों का निर्देश करने के पश्चात्, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 35.14 से 35.17 तक में कहा गया है कि यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि

"जहां विधिक उपबंधों, या गैर विधिक नियमों या सरकार द्वारा जारी किए गए आदेश के अधीन किसी व्यक्ति को प्रतियां दिया जाना अपेक्षित है या चाहे गैर विधिक भी हो, उस दस्तावेज को ऐसा दस्तावेज समझा जाना चाहिए जिसका निरीक्षण करने का किसी व्यक्ति को अधिकार है।"

इस संबंध में बम्बई उच्च न्यायालय के **देवीराम** बनाम **श्रीराम** ए.आई.आर. 1932 बम्बई 291 मामले का निर्देश किया गया है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि कोई निर्धारिती अपनी स्वयं की आयकर की विवरणी या आदेश की प्रति प्राप्त नहीं कर सकेगा क्योंकि 1922 के अधिनियम में विवरणी या आदेश का निरीक्षण करने का अधिकार नहीं दिया गया है। परन्तु इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने **सूरज नारायण** बनाम **झेबूलाल** : ए.आई.आर. 1944 इला. 114 मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि क्योंकि किसी निर्धारिती की आयकर मैनुअल के अधीन आदेश की प्रति प्राप्त करने का अधिकार है, तब उसे आदेश का निरीक्षण करने का भी अधिकार होगा। तब यह कहा गया था कि उपर्युक्त स्पष्टीकरण का सुझाव दिया जाए कि यदि किसी विधि के अधीन प्रतियां जारी किया जाना अपेक्षित है, तब नियम या पुस्तिका में, निरीक्षण का अधिकार विवक्षित होना चाहिए। हमने पाया है कि के. पेड्डा जंगैया बनाम मंडल ऑफिसर 1996 ए.पी.एच.सी. 1006 (आंध्र प्रदेश) मामले में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने भी यह अभिनिर्धारित किया है कि प्रमाणित प्रति का अधिकार निरीक्षण के अधिकार पर निर्भर है।

यहां हम, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 11, नियम 15, आदेश 20, नियम 20, आदेश 41 नियम 36वां भी निर्देश कर सकेंगे। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 363 (1), (2), (6) भी देखी जा सकेंगी। हम पैरा 35.17 में की गई सिफारिश से सहमत हैं।

इसके पश्चात् 69वीं रिपोर्ट में गोपनीय दस्तावेजों का निर्देश किया गया है और बम्बई, कलकत्ता तथा इलाहाबाद उच्च न्यायालयों के विरोधी विचारों का निर्देश करने के पश्चात् इसमें यह विचार व्यक्त किया गया है कि निरीक्षण के लिए दस्तावेज की प्रति से इस आधार पर इंकार करना कि वह गोपनीय है, सही नहीं है। पैरा 35.22 में यह ठीक ही कहा गया था कि किसी दस्तावेज को अन्यों से गोपनीय रखना उस व्यक्ति से गोपनीय रखने से भिन्न है जिससे कि वह संबंधित है अथवा जिस पर प्रभाव डालता है। आयोग ने पैरा 32.25 में भी राज्य के कार्यों से संबंधित दस्तावेजों का निर्देश किया है जिनका, किसी भी स्थिति में, न्यायालय परिशीलन करेगा। (दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अधीन, जैसाकि संहिता में विशिष्ट रूप में उपबंधित है, स्थिति भिन्न है)।

इस प्रकार, ऐसे भी दस्तावेज हो सकेंगे जैसे किसी नगरपालिका में जन्म रजिस्टर, जिनका प्रत्येक व्यक्ति निरीक्षण कर सकेगा; कोई आयकर विवरणी या आदेश, जिसका केवल निर्धारिती ही निरीक्षण कर सकेगा तथा राज्य के कार्यों से संबंधित दस्तावेज जिनका किसी को भी निरीक्षण करने की अनुमति नहीं हो सकती।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 35.28 में लोक दस्तावेज का द्वितीयक साक्ष्य प्राप्त करने में विलम्ब के प्रश्न पर विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट का निर्देश किया गया है परन्तु यह महसूस किया गया कि कोई अन्य समाधान सम्भव नहीं है।

इसके पश्चात्, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 35.30 में सिफारिश की गई है कि अब धारा 76 में अन्तर्विष्ट स्पष्टीकरण को स्पष्टीकरण-I के रूप में संख्यांकित किया जाना चाहिए और निम्नलिखित स्पष्टीकरण-II और III और जोड़े जाने चाहिए :

"**स्पष्टीकरण-II**—इस धारा के प्रयोजनों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि जनता को दस्तावेज का निरीक्षण करने का अधिकार होना चाहिए और यही पर्याप्त है कि उसकी प्रति मांगने वाले व्यक्ति उस दस्तावेज का निरीक्षण करने का अधिकारी है जिसकी प्रति उसने मांगी है।

स्पष्टीकरण-III—जहां कोई व्यक्ति किसी दस्तावेज या उसकी प्रति के निरीक्षण का विधि द्वारा अधिकार रखता हो, या सरकार द्वारा बनाए गए नियम या किया गया आदेश उस दस्तावेज की प्रति दिए जाने की अनुमति देता हो, विधि के किसी उपबंध में ऐसी किसी बात के होते हुए भी, कि दस्तावेज अन्य व्यक्तियों के लिए गोपनीय होगा, यह धारा लागू होगी।"

स्पष्टीकरण-III में ऊपर दिए गए स्पष्टीकरण का निर्देश किया गया है कि जिस व्यक्ति को प्रति प्राप्त करने का अधिकार है उसे उसका निरीक्षण करने का भी अधिकार प्राप्त है परन्तु यह विचार इसमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं हुआ है। विधि का सामान्य नियम भी परिलक्षित होना चाहिए। इसके बजाय, स्पष्टीकरण-III का पाठ निम्नलिखित होना चाहिए :

"**स्पष्टीकरण-III**—यदि किसी व्यक्ति को किसी दस्तावेज की प्रति प्राप्त करने का अधिकार है, तो उसे उसके निरीक्षण का अधिकार प्राप्त होना भी समझा जाएगा और जहां किसी व्यक्ति को किसी विधि द्वारा निरीक्षण या उसकी प्रति प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया है या जहां सरकार द्वारा बनाए गए किसी नियम या किए गए किसी आदेश द्वारा उसकी प्रति दिए जाने की अनुमति दी गई है, वहां धारा, विधि के किसी उपबंध में ऐसी किसी बात के होते हुए भी, कि दस्तावेज अन्य व्यक्तियों के लिए गोपनीय समझा जाएगा, लागू होगी।"

हम सिफारिश करते हैं कि 69वीं रिपोर्ट में दिया गया स्पष्टीकरण-II और हमारे द्वारा प्रारूपित स्पष्टीकरण-III इस धारा में अन्त:स्थापित किए जाएं।

धारा 77 :

यह धारा 'प्रमाणित प्रतियों के पेश करने के द्वारा दस्तावेजों के सबूत' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"धारा 77. ऐसी प्रमाणित प्रतियां उन लोक दस्तावेजों की या उन दस्तावेजों के भागों की अन्तर्वस्तु के सबूत में पेश की जा सकेंगी जिनकी वे प्रतियां होना तात्पर्यित है।"

69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया था (देखें पैरा 35.32) कि धारा 77 में "ऐसी" शब्द का प्रयोग उन दस्तावेजों का निर्देश करता है जिनके बारे में निरीक्षण करने का अधिकार है। अब यह धारा **76 के प्रस्तावित संशोधन** के अध्यधीन होगा। 69वीं रिपोर्ट के उक्त पैरा में प्रमाणित प्रतियों ग्राह्यता के बारे में, जहां प्रति ऐसे व्यक्ति को दे दी जाती है जो उसके निरीक्षण का अधिकारी नहीं है, उच्च न्यायालयों के बीच मतभेदों का निर्देश किया गया है। आयोग ने पैरा 35.34 में यह सिफारिश की है कि यदि कोई प्रति वास्तव में दी जाती है, तो यह अधिकार के बावजूद भी ग्राह्य होनी चाहिए। इसका स्पष्टीकरण किया जाना था (देखें पैरा 35.41)।

आयोग ने पैरा 35.35 से 35.40 तक में यह महसूस किया है कि "प्रमाणित उद्धरणों" के मामले में कोई विशिष्ट उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे विशिष्ट उपबंधों के अधीन आता है।

जहां तक उपर्युक्त निर्देशित स्पष्टीकरण का संबंध है, इसका प्रारूपण 69वीं रिपोर्ट में नहीं किया गया था। अतः हम धारा 77 में निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ने की सिफारिश करते है :

स्पष्टीकरण : यदि कोई प्रमाणित प्रति वस्तुतः जारी की जाती है तो यह इसके बावजूद भी ग्राह्य होगी कि यह निरीक्षण करने या प्रमाणित प्रति प्राप्त करने के अधिकार के अनुसरण में जारी की गई थी।''

धारा 78 :

यह धारा कतिपय अन्य लोक दस्तवेजों के अन्य पद्धतियों से दिए गए सबूत के बारे में है।

इस धारा में 6 खंड अन्तर्विष्ट हैं और इनमें विभिन्न वर्गों के लोक दस्तावेजों का तथा विभिन्न पद्धतियों का, जिनके अनुसार वे साबित किए जा सकेंगे, निर्देश किया गया है।

69वीं रिपोर्ट में खंड (1), (2), (3) और (6) में संशोधन का सुझाव दिया गया है। खंड (4) और (5) के लिए कोई परिवर्तन आवश्यक नहीं बताया गया है।

उपर्युक्त प्रस्ताव औपचारिक है और हमारे विचार से उनका निर्देश करना ही पर्याप्त है।

''78. (1) **क्राउन रिप्रेजेन्टेटिव** का निर्देश 15 अगस्त , 1947 से पूर्व की अवधि के लिए सीमित होना चाहिए;

(2) ''विधान मंडलों'' शब्द के स्थान पर''संसद या किसी राज्य का विधान मंडल'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिए;

(3) ''हर मेजेस्टी . . . . . उद्घोषणाएं, आदेश या विनियम'' ''शब्दों से पूर्व'' 15 अगस्त, 1947 से पूर्व'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं;

(4) खंड (6) को निम्नलिखित रूप में विभाजित किया जाए:

''(6) किसी विदेश के किसी अन्य प्रकार के दस्तावेज,''

(क) मूल द्वारा; या

(ख) उसके विधिक पालक द्वारा प्रमाणित किसी प्रति द्वारा, जिस प्रति के साथ किसी नोटरी पब्लिक की या भारतीय कॉन्सिल राजनयिक अधिकर्ता की मुद्रा के अधीन यह प्रमाणपत्र दिया गया है कि वह प्रति मूल की विधि अभिरक्षा रखने वाले अधिकारी द्वारा सम्यक् रूप से प्रमाणित है, तथा उस दस्तावेज की प्रकृति उस विदेश की विधि के अनुसार साबित किए जाने पर।

हम उपर्युक्त सिफारिश को स्वीकार करते हैं।

(5) जैसाकि धारा 78 के अधीन हमारी चर्चा में सिफारिश की गई है, खंड (2क) धारा 78 के खंड (2) के नीचे निम्नलिखित रूप में जोड़ा जाना चाहिए :

''(2क) किसी विधान मंडल या उसकी समितियों की अप्रकाशित या प्राइवेट कार्यवाहियां;

संबंधित विधान मंडल के पीठासीन अधिकारी द्वारा या संबंधित विधान मंडल की समिति के चेयरमैन या प्रमुख द्वारा अपने हस्ताक्षर तथा मुद्रा के अधीन जारी की गई कार्यवाहियों की प्रमाणित प्रति''

धारा 79 :

धारा 79 से 90 तक 'दस्तावेजों के बारे में उपधारणाओं' के बारे में है। यह अध्याय-पांच में धाराओं का अन्तिम वर्ग है। ये ऐसी उपधारणाएं हैं जो 'करनी होंगी' न कि की जा सकेंगी। उपधारणा तार्किक रूप से खण्डनीय हैं देखें **यू.पी. स्टेट रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन बनाम केदार सिंह** ए.आई.आर. 1991 इला. 317; 7वां संस्करण, खंड-1, पृष्ठ 1213-14 से उद्धरण। प्रमाणित प्रति गलत साबित की जा सकेगी यदि उसे चुनौती दी जाए और मूल में कांट-छांट की गई प्रदर्शित की जाए।

प्रमाणपत्र, रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 60, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 298, 331, 337 क्रिश्चियन विवाह अधिनियम, 1872 की धारा 90 आदि के अधीन दिए जा सकेंगे।

उपबंध का केवल वास्तविक अनुपालन अपेक्षित है। **थाग बनाम पारू** ए.आई.आर. 1986 केरल 196।

धारा 79 "प्रमाणित प्रतियों की मौलिकता के बारे में उपधारणा" से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

69वीं रिपोर्ट में विस्तृत चर्चा के पश्चात्, यह सिफारिश की गई थी (देखें पैरा 37.27) कि धारा 79 से निम्नलिखित शब्दों का लोप कर दिया जाए :

"जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी ऐसे अधिकारी द्वारा जो केन्द्रीय सरकार द्वारा उसके लिए सम्यक् रूप से प्राधिकृत हो"

जम्मू और कश्मीर राज्य का निर्देश 1951 में भाग-क, ख और ग के राज्यों की अवधारणा के कारण आवश्यक था और अब यह इसलिए आवश्यक नहीं है क्योंकि अब भाग ख और ग के राज्य नहीं हैं।

हम सिफारिश से सहमत हैं।

एक अन्य सिफारिश संसदीय कार्यवाहियों के बारे में है (देखें पैरा 37.9)। लोकसभा की विशेषाधिकार समिति ने, [रिपोर्ट एफ. सं. 03(1)/55/एल.सी., भाग 1 क्रमांक 5] द्वारा गृह मंत्रालय की टिप्पणियां एफ.सं. 22/4/58-जूडि०[विधि मंत्रालय यू.ओ. सं. 20(1)58-विधायी-II दिनांक 21-7-59], सिफारिश की थी कि सामान्यतया, अब संसद से संबंधित दस्तावेज किसी विधिक न्यायालय में पेश करने होते हैं, तब ऐसे दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियां पर्याप्त साक्ष्य मानी जानी चाहिए और यह कि यदि आवश्यक हो, तो साक्ष्य अधिनियम में आवश्यक संशोधन किया जाना चाहिए।

साक्ष्य अधिनियम की धारा 78(2) के अधीन विधान मंडलों की कार्यवाहियां विधान मंडलों के जर्नलों द्वारा या सम्पृक्त सरकार के आदेश द्वारा प्रकाशित अधिनियमों या संक्षिप्तियों द्वारा मुद्रित होना तात्पर्यित होने वाली प्रतियों द्वारा साबित की जा सकेंगी। यह विधान मंडलों की प्रकाशित होने वाली कार्यवाहियों के बारे में है। अब प्रश्न उन कार्यवाहियों के बारे में उठता है जो प्रकाशित नहीं होती हैं। इन्हें (69वीं रिपोर्ट के पैरा 37.8 के अनुसार) निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकेगा :

(क) दस्तावेज, जिनके अन्तर्गत संसद के अधिनियम और अधिनियमों के अभिलेख आते हैं; और

(ख) दस्तावेज, जो संसद के अधिनियम और अधिनियमों के अभिलेख से पृथक हैं।

(ग) विधि आयोग ने 69वीं रिपोर्ट में (पैरा 37.8) कहा है कि (क) वर्ग के अन्तर्गत आने वाले दस्तावेज, लोक दस्तावेज होंगे जिनका निर्देश धारा 74(1)(iii) में किया गया है ताकि धारा 76 के अधीन इनकी प्रमाणित प्रतियां दी जा सकें और ऐसी प्रमाणित प्रतियों को धारा 77 के अधीन मूल पेश किए बिना ही स्वीकार किया जा सकेगा।

(घ) श्रेणी (ख) के संबध में, विधि आयोग ने कहा है (देखें पैरा 37.9) कि इस संबंध में विचारणीय प्रश्न केवल यह है कि क्या धारा 79 के लाभकारी उपबंधों को (प्रमाणित प्रतियों की मौलिकता के बारे में उपधारणाएं) ऐसे दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियों के लिए भी लागू किया जाना चाहिए। आयोग ने तदनुसार सिफारिश की है।

हम सिफारिश से सहमत है।

इसके अतिरिक्त, जब कभी, सदन या उसकी किसी समिति से संबंधित कोई दस्तावेज न्यायालय में साबित किया जाना अपेक्षित हो, तब न्यायालय को सदन के अध्यक्ष या समिति के चेयरमैन से ऐसे प्रयोजन का उल्लेख करते हुए अनुरोध करना होगा जिसके लिए वह अपेक्षित है तथा तिथि बताते हुए कि वह कब अपेक्षित है। एक फार्म निर्धारित किया गया है (देखें शकधर तथा कौल, भारत में संसदीय प्रक्रिया, पृष्ठ 177 (और लोकसभा वाद-विवाद 13-9-57 पृष्ठ 13760 से 13763)

जनता तथा न्यायालय के लाभार्थ, हम उक्त फार्म को, जो 69वीं रिपोर्ट के पैरा 37.14 में (पृष्ठ 457-476)में दिया गया है, पुनः उद्धृत कर रहे हैं। इसका प्रारूप निम्नलिखित है:

सेवा में,

अध्यक्ष, लोकसभा/सभापति, राज्य सभा, तारीख : .....19.....
संसद भवन,
नई दिल्ली

विषय : (मामले का विवरण)

महोदय,

उपयुक्त कार्यवाहियों में, वादी/प्रतिवादी/परिवादी/अभियुक्त ने उपाबंध में विनिर्दिष्ट दस्तावेजों पर निर्भर होने का प्रस्ताव किया है, जो लोक सभा/राज्य सभा की अभिरक्षा में हैं। यदि आपको आपत्ति न हो, तो मैं दस्तावेजों को मेरी कोर्ट में पेश करने के लिए अनुमति देने के लिए आपसे सदन में समावेदन करने का अनुरोध करता हूं और, यदि ऐसी अनुमति दी जाती है, तो दस्तावेजों/दस्तावेजों की सत्यापित प्रतियों को इस प्रकार भेजने का प्रबंध करें ताकि वे रजिस्टर्ड डाक (पावती पत्र सहित) द्वारा या सदन के सचिवालय के किसी अधिकारी द्वारा मेरे पास तारीख..... .....को या इससे पहले पहुंच जाएं।

उपर्युक्त कार्यवाहियों में, वादी/प्रतिवादी/परिवादी/अभियुक्त ने उपाबंध में विनिर्दिष्ट दस्तावेजों पर निर्भर होने का प्रस्ताव किया है, जो लोक सभा/राज्य सभा सचिवालय के .....अधिकारी (या सदन के सचिवालय के सम्यक् रूप से जानकारी रखने वाले किसी अधिकारी) की उपाबंध में विनिर्दिष्ट मामलों के संबंध में साक्षी के रूप में परीक्षा का प्रस्ताव करता है। यदि अपको आपत्ति न हो, तो मेरी अदालत में उक्त अधिकारी के परीक्षण के लिए, मैं आपसे सदन में समावेदन करने का अनुरोध करता हूं और यदि ऐसी अनुमति दी जाती है, तो अधिकारी को मेरी कोर्ट में तारीख ..... को 11.00 बजे पूर्वाह्न में उपस्थित होने का निर्देश दें।

भावदीय,

उपाबंध :

1. .....
2. .....
3. .....
4. .....

(क) हम निम्नलिखित सिफारिश करते हैं : विधानमंडलों के अप्रकाशित दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियों की मौलिकता के बारे में उपधारणा करने के लिए कोई उपबंध होना चाहिए। ये दस्तावेज धारा 78(2क) के अन्तर्गत आएंगे, जैसा कि प्रस्ताव किया गया है।

(ख) हम सिफारिश करते हैं कि धारा 79 को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाए :

"केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के किसी अधिकारी द्वारा या जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी ऐसे अधिकारी द्वारा, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा, जो इसके लिए सम्यक् रूप से प्राधिकृत हो, सम्यक् रूप से प्रमाणित" शब्दों के स्थान पर—

"केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के किसी अधिकारी द्वारा या सम्पृक्त विधानमंडल के पीठासीन अधिकारी द्वारा या सम्पृक्त विधानमंडल समिति के चेयरमैन या प्रमुख द्वारा सम्यक् रूप से प्रमाणित"

शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं।

धारा 80 :

यह धारा "साक्ष्य के अभिलेख के तौर पर पेश किए गए दस्तावेजों के बारे में उपधारणा" से संबंधित है। इसका पाठा निम्नलिखित है :

"80. जब कभी किसी न्यायालय के समक्ष ऐसा कोई दस्तावेज पेश किया जाता है, जिसका किसी न्यायिक कार्यवाही में या विधि द्वारा ऐसे साक्ष्य लेने के लिए प्राधिकृत किसी अधिकारी के समक्ष, किसी साक्षी द्वारा दिए गए साक्ष्य या साक्ष्य के किसी भाग का अभिलेख या ज्ञापन होना, अथवा किसी कैदी या अभियुक्त का विधि के अनुसार लिया गया कथन या संस्वीकृति होना तात्पर्यित हो और जिसका किसी न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट द्वारा या उपर्युक्त जैसे किसी अधिकारी द्वारा हस्ताक्षरित होना तात्पर्यित हो, तब न्यायालय यह उपधारित करेगा।"

कि वह दस्तावेज असली है कि उन परिस्थितियों के बारे में जिनके अधीन वह लिया गया था, कोई भी कथन जिसका उसको हस्ताक्षरित करने वाले व्यक्ति द्वारा किया जाना तात्पर्यित है, सत्य है, और यह कि ऐसा साक्ष्य,कथन या संस्वीकृति सम्यक रूप से ली गई थी।

यह देखा जा सकेगा कि यह धारा मूलतः किसी न्यायिक कार्यवाही में या ऐसा साक्ष्य लेने के लिए विधि द्वारा प्राधिकृत किसी अधिकारी के समक्ष दिए गए साक्ष्य की या किसी कैदी या अभियुक्त व्यक्ति द्वारा किए गए कथन या संस्वीकृति, यदि यह विधि के अनुसार की गई है और धारा में किए गए उल्लेख के अनुसार हस्ताक्षरित है, की मौलिकता के पक्ष में उपधारणा करने के लिए आशयित है। यह उपधारणा उन परिस्थितियों के विषय में भी की जाएगी जिनके अधीन यह लिया गया/किया गया था।

'साक्ष्य' शब्द को धारा 3 में परिभाषित किया गया है। सिविल मामलों में साक्ष्य अभिलिखित करने की प्रक्रिया, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 18, नियम 5—13 में दी गई है और दांडिक मामलों के लिए दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अध्याय तेईस की धारा 272—283 में। साक्ष्य अधिनियम की धारा 80 दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अधीन पुलिस द्वारा लिए गए कथनों के लिए लागू नहीं होगी। न्यायिक कार्यवाहियों में मजिस्ट्रेटों द्वारा अभिलिखित कथन ग्राह्य हैं और मजिस्ट्रेटों को साक्षयी करने की आवश्यकता नहीं होगी (**मोदीगंगा बनाम राज्य** : ए आई. आर. 1981 सु०को० 1165)। धारा 80 और धारा 24 के अधीन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के अधीन संस्वीकृति अभिलिखित करने में अनियमिताएं धारा 533 द्वारा (1973 के अधिनियम की अब धारा 463) ठीक की जा सकेंगी [**शान्ति बनाम राज्य** : ए. आई. आर. 1978 उड़ीसा 19 (एफ०बी०)]।

69वीं रिपोर्ट में यह बताया गया था (देखें पैरा 385) कि न्यायिक कार्यवाही नामक अभिव्यक्ति के अधीन मजिस्ट्रेट द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के अधीन अभिलिखित किए गए कथन नहीं आते हैं। कथन साक्ष्य भी नहीं हैं और इसलिए संभवतया 'साक्ष्य अभिलिखित करने के लिए विधि द्वारा प्राधिकृत किसी अधिकारी के समक्ष' शब्दों के अन्तर्गत नहीं आते हैं जब तक कि हम उपर्युक्त शब्दों का, केवल अधिकारी की योग्यता का निर्देश करते हुए विस्तृत अर्थ न लगाएं। 69वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई है कि धारा 164 के अधीन मजिस्ट्रेट द्वारा अभिलिखित किए गए कथनों की मौलिकता की उपधारणा का सम्मिलित करने के लिए धारा 80 का संशोधन किया जाए।

उच्च न्यायालयों के परस्पर विरोधी विचारों का निर्देश करने के पश्चात् आगे यह भी कहा गया था (देखें पैरा 38.13) कि यदि उपर्युक्त संशोधन किया जाता है तो इसके अन्तर्गत मजिस्ट्रेटों द्वारा धारा 164 के अधीन अभिलिखित किए गए मृत्युकालिक कथन भी आ जाएंगे। वर्तमान में ऐसे मृत्युकालिक कथन धारा 80 के अधीन नहीं आते हैं क्योंकि ये सदैव कैदियों या अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा ही नहीं किए जाते हैं अपितु दांडिक अपराधों के पीडितों द्वारा भी किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, इस स्तर पर मजिस्ट्रेटों को अपनी न्यायिक हैसियत में कार्य करना भी नहीं कहा जा सकता।

हम उपर्युक्त सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 80 में 'विधि के अनुसार लिया गया' शब्दों के पश्चात् और 'न्यायाधीश द्वारा हस्ताक्षरित होना तात्पर्यित' शब्दों से पूर्व निम्नलिखित शब्द जोड़े जाने चाहिएं (पैरा 38.16) :

''या किसी मजिस्ट्रेट द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 के अधीन अभिलिखित किया गया कथन,''

धारा 81 :

यह धारा 'राजपत्रों, समाचारपत्रों, पार्लियामेंट के प्राइवेट एक्टों और अन्य दस्तावेजों के बारे में उपधारणा' के बारे में हैं। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''81. न्यायालय हर ऐसे दस्तावेज का असली होना उपधारित करेगा जिसका लन्दन गजट या [कोई शासकीय राजपत्र] या ब्रिटिश क्राउन के किसी उपनिवेश आश्रित देश का कब्जाधीन क्षेत्र का [सरकारी राजपत्र] होना या कोई समाचारपत्र या जर्नल होना या [यूनाइटेड किंगडम की] पार्लियामेंट के प्राइवेट एक्ट की क्वीन्स प्रिन्टर द्वारा मुद्रित प्रति होना तात्पर्यित है तथा हर ऐसे दस्तावेज का जिसका ऐसा दस्तावेज होना तात्पर्यित है जिसका किसी व्यक्ति द्वारा रखा जाना किसी विधि द्वारा निर्दिष्ट है यदि ऐसे दस्तावेज सारतः उस प्ररूप में रखे गए हों जो विधि द्वारा अपेक्षित है, और उचित अभिरक्षा में से पेश किया गया हो, असली होना उपधारित करेगा।''

हम 69वीं रिपोर्ट की इस सिफारिश से सहमत हैं (देखें पैरा 39.3) कि (1) लन्दन गजट (2) ब्रिटिश क्राउन के किसी उपनिवेश आश्रित देश का कब्जाधीन क्षेत्र का सरकारी राजपत्र होना या यूनाइटेड किंगडम की पार्लियामेंट के प्राइवेट एक्ट की क्वीन्स प्रिन्टर द्वारा मुद्रित प्रति होना संबंधी उपधारणा 15-8-57 से पूर्व की अवधि के लिए सीमित रहनी चाहिए (देखें, अधिनियम की धारा 37 भी)।

जहां तक समाचारपत्रों तथा जर्नलों का संबंध है, उपधारणा केवल उनकी मौलिकता के बारे में है उनकी अन्तर्वस्तु की सत्यता के बारे में नहीं (**जाबा स्वरूप सिंह बनाम दी क्राउन : ए.आई.आर. 1925 लाहौर 299**)।

''उचित अभिरक्षा'' शब्दों को धारा 90 के स्पष्टीकरण में स्पष्ट किया गया है।

राजपत्र में प्रकाशित होने वाली लोक अधिकारियों की नियुक्ति संबंधी अधिसूचना का न्यायिक सूचना का निर्देश धारा 57 (खंड 7) में किया गया है। गजट पेश करके उद्घोषणाओं, काउंसिल आदि के आदेशों के सबूत धारा 78 के अन्तर्गत आते हैं। हम 1977 के पश्चात्, हाल ही के कुछ मामलों का निर्देश करेंगे।

उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि 1979 में प्रकाशित बम्बई प्रेसीडेन्सी के गजट का खंड III धारा 81 के साथ पठित धारा 35 के अधीन ग्राह्य है (**जालाशंकर महाशंकर भट्टजी बनाम मैरिटी कमीशनर** : ए.आई.आर.

1995 सु.को. 175) जब तक राजपत्र में कोई निर्णय प्रकाशित नहीं होता, तब तक यह उसके लेखक के ज्ञान की सीमा से बाहर नहीं जा सकेगा और आवरण में रहेगा (**कश्मीरीलाल बनाम पंजाब राज्य** : ए.आई.आर. 1984 पी.एण्ड एम. 87)।

आर.एस. नायक बनाम **ए.आर. अन्तुले** : ए.आई.आर. 1986 सु.को. 2045 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि ऐसी अवधारणा होनी चाहिए कि जो कुछ भी सरकारी स्वामित्व के पत्र में प्रकाशित हुआ है वह सरकारी कार्य के संबंध में सही रूप में कार्य की वास्तविक स्थिति को दर्शाता है जब तक कि उसे सफलतापूर्वक चुनौती न दी जाए और कार्य की वास्तविक स्थिति सरकारी प्रकाशन में बताई गई स्थिति से भिन्न न दर्शायी जाए। **लक्ष्मीराज शैट्टी** बनाम **तमिलनाडु राज्य** : ए.आई.आर. 1998 सु.को. 1279 और **एस. बंगारप्पा** बनाम **जी.एन. हैगडे** : 1992 क्रिम. एल.जे. 3788 (कर्नाटक) मामलों में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि समाचारपत्र में प्रकाशित धारा 81 में वर्णित मौलिकता की उपधारणा अभिकथित तथ्यों का सबूत नहीं मानी जाएगी।

समाचार की अनुवादित प्रति न्यायालय द्वारा समाचारपत्र के उपलब्ध न होने की दशा में न्यायालय द्वारा दस्तावेज नहीं मानी जाएगी। (**विनोद कुमार जैन बनाम गोहाटी म्युनिसिपल कॉरपोरेशन** : ए.आई.आर. 1994 गोहाटी 96)

दूरदर्शन तथा समाचारपत्रों के समाचारों को केवल अनुश्रुत माना गया है और उन पर निर्भर नहीं किया जा सकेगा [**नच्छत्तर सिंह बनाम पंजाब राज्य** : 1985 क्रिम.एल.जे. (एन.ओ.सी./115 (एफ.बी.)]।

हम धारा 69 की इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 81 को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाए :

''न्यायालय हर ऐसे दस्तावेज का असली होना उपधारित करेगा जिसका लन्दन गजट होना तात्पर्यित है'' शब्दों के स्थान पर ''न्यायालय 15 अगस्त, 1947 को या इससे पूर्व जारी किए गए प्रत्येक दस्तावेज को मौलिक उपधारित करेगा जिसका लन्दन गजट होना तात्पर्यित है'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं।

69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 81क

69वीं रिपोर्ट में जन्म के रजिस्ट्रीकरण के बारे में धारा 81क की सिफारिश की गई है।

यह बताया गया था (पैरा 39.6) कि विधि आयोग की पांचवी रिपोर्ट में (भारत के लिए लागू होने वाली ब्रिटिश विधि पृष्ठ 44 प्रविष्टि 48), जो भारत के लिए लागू होने वाली ब्रिटिश विधियों से संबंधित है, ब्रिटिश विधियों की समीक्षा की गई है - जन्म, मृत्यु तथा विवाह पंजीकरण (स्कॉटलैण्ड) अधिनियम, 1854 तथा संशोधनकारी अधिनियम, 1910, जिसमें उसमें निर्देशित जन्म रजिस्टर में की गई प्रविष्टि को बिना किसी और सबूत के ग्राह्य बनाया गया और यह कि क्योंकि केन्द्रीय अधिनियम में ऐसा कोई उपबंध नहीं था, अर्थात् जन्म तथा मृत्यु रजिस्ट्रीकरण अधिनियम (1969 का अधिनियम 18) में, साक्ष्य अधिनियम में इसी प्रकार का उपबंध किया जाना चाहिए (पैरा 39.9)।

यहां हम इस बात का उल्लेख कर सकेंगे कि फिप्सन के अनुसार (15वीं संस्करण, 1999) पैरा 36.13, 36.14 और 36.23, यूनाइटेड किंगडम एक्ट, 1836 और 1953 (यू.के.)(धारा 15) के अधीन ऐसे रजिस्टरों की प्रविष्टियां प्रथम दृष्टया प्रविष्टियां हैं परन्तु निश्चयात्मक साक्ष्य नहीं हैं [**क्रियरली** बनाम **ब्रियरली** (1918) पृष्ठ 253]

जहां उपर्युक्त इंग्लिश अधिनियमों और पांचवी रिपोर्ट और 69वीं रिपोर्ट के पैरा 39.8 में की गई सिफारिश के अनुसार प्रविष्टियों को सबूत के बिना ही ग्राह्य और सुसंगत बनाने के लिए उपबंध अपेक्षित है वहां 69वीं रिपोर्ट में उपधारणाओं से संबंधित अध्याय में धारा 81 जोड़ने के लिए क्यों कहा गया है। वास्तव में, ऐसी कोई सिफारिश नहीं है कि मौलिकता की उपधारणा करने के लिए धारा 81क पुर:स्थापित की जानी चाहिए।

अत: हम महसूस करते हैं कि प्रस्तावित धारा 81क अधिनियम की योजना में धारा 81 और 82 के बीच जोड़ना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या अधिनियम में अन्यत्र कहीं, पांचवी रिपोर्ट और 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुसार ऐसी प्रविष्टियों को ग्राह्य बनाने के लिए कोई उपबंध किया जाना चाहिए। हमने पाया है कि जन्म रजिस्टर की प्रविष्टियों को ग्राह्य बनाने के लिए कोई विशेष उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अधिनियम की धारा 35 के अधीन ऐसी प्रविष्टियां ग्राह्य हैं और यह कि, जैसाकि नीचे बताया गया है, ऐसे रजिस्टरों के लिए न्यायालय द्वारा नियमित रूप में यह धारा लागू की जा रही है।

धारा 35 में 'अपने कर्त्तव्य के निर्वहन में किसी लोक अभिलेख में की गई प्रविष्टि की सुसंगति' का निर्देश किया गया है। वास्तव में, सरकार (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 780) में इन प्रविष्टियों की सुसंगति का निर्देश किया गया है और **ब्रियरली** बनाम **ब्रियरली** : 1918 पृष्ठ 257, **स्टेट ऑफ गुजरात** बनाम **इनायत हुसैन मोहम्मदैया** : 1996 क्रिम.एल.जे. 3225 (गुजरात), **अनीता** बनाम **अटल बिहारी** : 1993 क्रिम.एल.जे. 549 मामलों का उल्लेख किया है। यह निश्चयात्मक नहीं है: **पी.सी. पुरूषोथम्मा** बनाम **एस. पेरूमल** : ए.आई.आर. सु.को. 608।

विश्वनाथ बनाम **दुल्हन** : ए.आई.आर. 1968 पृष्ठ 481 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि सही होने की उपधारणा भी पैदा होती है। देखें **प्रकाशचन्द** बनाम **श्रीमती परमेश्वर** : ए.आई.आर. 1987 पी.एण्ड एच 37।

यह बात महत्वपूर्ण है कि **मुहम्मद** बनाम **सुलेखा** 1981 क्रिम.जे. (एमओसी) (केरल) मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रविष्टि की प्रमाणित प्रति, सभी मामलों में रजिस्टर की अन्तर्वस्तु की विश्वसनीयता स्थापित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। **दालिम** बनाम **नन्दारानी** : ए.आई.आर. 1970 कलकत्ता 292, मामले में रजिस्टर को धारा 77 के अधीन लोक अभिलिखित माना गया।

मद्रास अधिनियम 3/1899 के अधीन उद्धरण को **रामालिंग** बनाम **कोटाप्पा** : ए.आई.आर. 1913 मद्रास 451 मामले में ग्राह्य अभिनिर्धारित किया गया था।

दूसरे राज्यों के अधिनियमों के अधीन मामलों की संख्या को बढ़ाना आवश्यक नहीं है। यही कहना पर्याप्त होगा कि यदि धारा 35 के अधीन प्रविष्टियां ग्राहय हैं तो विशेषकर ऐसे रजिस्टरों के बारे में ही अन्य धारा 81क का उपबंध करना आवश्यक नहीं है।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि 69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव नहीं दिया गया था कि न्यायालय मूलत: ऐसे ब्रिटिश रजिस्टरों की प्रविष्टियों की मौलिकता के बारे में उपधारणा करेगा और निर्णय जनित विधि को ध्यान में रखते हुए, हमारे विचार से धारा 81क जैसा उपबंध करना आवश्यक नहीं है। इसलिए, हम इस सिफारिश को स्वीकार नहीं करते हैं।

धारा 81क (अधिनियम 21/2000 द्वारा अन्त:स्थापित रूप में)

सूचना और प्रौद्योगिकी अधिनियम (अधिनियम 21/2000) द्वारा अन्त:स्थापित की गई धारा 81क इलैक्ट्रानिक स्वरूप के गजट के बारे में उपधारणाओं से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है:

> "81क. न्यायालय ऐसे प्रत्येक इलैक्ट्रानिक अभिलेख का असली होना उपधारित करेगा जिसका शासकीय राजपत्र होना तात्पर्यित है या जिसका ऐसा इलैक्ट्रानिक अभिलेख होना तात्पर्यित है जिसका किसी व्यक्ति द्वारा रखा जाना किसी विधि द्वारा निर्दिष्ट है, यदि ऐसा इलैक्ट्रानिक अभिलेख सारत: उस रूप में रखा गया हो, जो विधि द्वारा अपेक्षित है और उचित अभिरक्षा से पेश किया गया हो।"

यह नई धारा वर्ष 2000 में अन्त:स्थापित की गई है और इसमें किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 82 :

इस धारा में 'मुद्रा या हस्ताक्षर के सबूत के बिना इंग्लैण्ड में ग्राहय दस्तावेज के बारे में उपधारणा' का निर्देश है।

इस धारा में कहा गया है कि यदि कोई दस्तावेज इंग्लैण्ड या आयरलैण्ड की विधि द्वारा, इंग्लैण्ड या आयरलैण्ड के न्यायालय में, मुद्रा या स्टाम्प या हस्ताक्षर के उस व्यक्ति द्वारा, जिसके द्वारा उसका हस्ताक्षरित किया जाना तात्पर्यित है, दावाकृत न्यायिक या पदीय हैसियत को साबित किए बिना, ग्राह्य है, तो भारतीय न्यायालय यह उपधारित करेगा कि मुद्रा, स्टाम्प या हस्ताक्षर असली है और न्यायिक तथा पदीय हैसियत वाले व्यक्ति की है और वह दस्तावेज उसी प्रयोजन के लिए ग्राह्य होगा जिसके लिए वह इंग्लैण्ड में होगा।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 39.10 में कहा गया था कि "साक्ष्य के विषय पर कतिपय इंग्लिश पुस्तकों में व्यक्त किए गए विचारों का अध्ययन करने पर, यह प्रतीत होता है कि दस्तावेजों की ऐसी बहुत सी अन्य श्रेणियां हैं जिनके बारे में इंग्लिश न्यायालय हस्ताक्षर या मुद्रा के सबूत के बारे में जोर नहीं देते हैं, अधिकांश मामलों में इन श्रेणियों के दस्तावेज इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड या आयरलैण्ड में निष्पादित किए गए होते हैं।"

इस रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी कि इस धारा को निकाल दिया जाना चाहिए (देखें पैरा 39.11)।

हम इस बात से सहमत हैं कि केवल इंग्लैण्ड के दस्तवेजों के लिए ऐसा विशिष्ट उपबंध रखने की अब कोई आवश्यकता नहीं है। दस्तावेज ग्राह्य होंगे क्योंकि न्यायालय 'न्यायिक अवेक्षा' कर सकेगा या दस्तावेज लोक या न्यायिक दस्तावेज होंगे।

हम धारा 82 को निकाले जाने से सहमति व्यक्त करते हैं।

धारा 83 :

यह धारा 'सरकार के प्राधिकार द्वारा बनाए गए मानचित्रों या रेखांकों के बारे में उपधारणा' करने से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "83. न्यायालय यह उपधारित करेगा कि ये मानचित्र या रेखांक, जो केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के प्राधिकार द्वारा बनाए गए तात्पर्यित हैं, वैसे ही बनाए गए थे और वे शुद्ध हैं किन्तु किसी मामले के प्रयोजनों के लिए बनाए गए मानचित्रों या रेखांकों के बारे में यह साबित करना होगा कि वे सही हैं।"

69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया था कि अधिनियम की धारा 86 में मानचित्रों की सुसंगति का निर्देश है।

"किसी मामले के प्रयोजनों के लिए बनाए गए मानचित्रों" जैसे शब्द भ्रमात्मक हैं परन्तु उनका अभिप्राय है "किसी विशिष्ट मामले के प्रयोजनों के लिए बनाए गए मानचित्र और उस स्थिति में यह धारा लागू नहीं होगी। हम धारा 83 के अन्तिम भाग में 'मामले' शब्द से पहले 'विशिष्ट' शब्द जोड़कर संशोधन करने का विचार करेंगे।"

इसके साथ ही, हम 69वीं रिपोर्ट की इस सिफारिश से भी सहमत हैं कि "मानचित्र तथा रेखांक" के साथ ही 'चार्टस्' भी धारा 83 के अधीन उपधारणा के अन्तर्गत आनी चाहिए।

संशोधित धारा 83 का प्रस्तावित पाठ निम्नलिखित होगा :

सरकार के प्राधिकार द्वारा बनाए गए मानचित्रों, चार्टस् या रेखांकों के बारे में उपधारणा

> "83. न्यायालय यह उपधारित करेगा कि वे मानचित्र या रेखांक या चार्टस्, जो केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के प्राधिकार द्वारा बनाए गए तात्पर्यित हैं, वैसे ही बनाए गए थे और सही हैं, परन्तु किसी विशिष्ट मामले के प्रयोजनों के लिए बनाए गए मानचित्रों या रेखांकों या तालिकाओं के बारे में यह साबित करना होगा कि वे सही हैं"

धारा 84 :

इस धारा में 'विधियों के संग्रह और विनिश्चयों की रिपोर्टों के बारे में उपधारणा' का निर्देश है। इसका पाठ निम्नलिखित है:

"84. न्यायालय हर ऐसी पुस्तक का जिसका किसी देश की सरकार के प्राधिकार के अधीन मुद्रित या प्रकाशित होना और जिसमें उस देश की कोई विधियां अन्तर्विष्ट होना तात्पर्यित है,

तथा हर ऐसी पुस्तक का जिसमें उस देश के न्यायालय के विनिश्चयों की रिपोर्ट अन्तर्विष्ट होना तात्पर्यित है, असली होना उपधारित करेगा।"

इस धारा को धारा 38 के साथ पढ़ना होगा जो किसी देश की, अर्थात् भारत सहित, सरकारी प्राधिकार से मुद्रित पुस्तकों में अन्तर्विष्ट विधियों तथा व्यवस्थाओं के कथनों को सुसंगत बनाती है। धारा 57 में न्यायालय को भारत में और यूनाइटेड किंगडम में विद्यमान सभी विधियों की न्यायिक अवेक्षा करने की अनुमति दी गई है। धारा 74 विधिक अभिलेखों को लोक अभिलेखों के रूप में मान्यता प्रदान करती है जबकि धारा 78 में विधान मंडल द्वारा पारित विधियों को साबित करने की पद्धति निर्धारित की गई है। इस धारा में किसी देश की (विदेशों सहित) सरकारी प्राधिकार से मुद्रित पुस्तकों, जिनमें विधियां तथा न्यायालय के विनिश्चय अन्तर्विष्ट हैं, की मौलिकता को साबित किए जाने से अभिमुक्ति प्रदान की गई है। उनका सही होना सुरक्षित रखा जाना चाहिए। जहां तक भारत में न्यायालयों के निर्णयों को प्राधिकृत रिपोर्टों को अन्तर्विष्ट करने वाली पुस्तकों का संबंध है, उसके लिए इन्डियन लॉ रिपोर्टस् एक्ट देखा जा सकेगा (अधिनियम 1875 का 18)। उसमें प्रकाशित निर्णयों की सुसंगतता साक्ष्य अधिनियम की धारा 38 द्वारा शासित होती है (देखें सरकार 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 1232)(निःसंदेह, उच्चतम न्यायालय की रिपोर्टों को शासित करने वाली ऐसी कोई विधि नहीं है परन्तु धारा 84 निश्चित रूप से लागू हो सकेगी)।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 39.18 में कहा गया था कि धारा 84 में शब्द "किसी देश" के अन्तर्गत भारत भी सम्मिलित है। यह भी कहा गया था कि इस धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 85 :

धारा 85 में 'मुख्तारनामों के बारे में उपधारणा' का निर्देश है। इसका पाठ निम्नलिखित है:

"85. न्यायालय यह उपधारित करेगा कि हर ऐसा दस्तावेज, जिसका मुख्तारनामा होना और नोटरी पब्लिक या किसी न्यायालय, न्यायाधीश, मजिस्ट्रेट, भारतीय कांउसिल या उप कांउसिल या केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के समक्ष निष्पादित या उस द्वारा अधिप्रमाणिकृत होना तात्पर्यित है, ऐसे निष्पादित और अधिप्रमाणीकृत किया गया था।"

मुख्तारनामे, मुख्तानामा अधिनियम, 1882 द्वारा शासित हैं। साक्ष्य अधिनियम की धारा 57(6) के अधीन न्यायालय नोटरी पब्लिक की मुद्रा सहित, उसमें उल्लिखित सभी अधिकारियों की मुद्राओं की न्यायिक अवेखा करने के लिए बाध्य है। नोटरी अधिनियम, 1952 के अधीन, पब्लिक नोटरी केन्द्रीय सरकार द्वारा सभी नोटेरियल प्रयोजनों के लिए, नियुक्त किए जा सकेंगे। धारा 85 विदेशों के पब्लिक नोटरियों के लिए भी लागू होती है (देखें **जुगराज** बनाम **जसवंत** : ए.आई.आर. 1971 सु.को. 761) जिसका अनुसरण **अब्दुल जब्बार बनाम द्वितीय एडीशनल जज** : ए.आई.आर. 1980 इला. 369 और **एन एण्ड जी. बैंक** बनाम **वर्ल्ड साइन्स न्यूज** : ए.आई.आर. 1976 दिल्ली 263 मामलों में किया गया (सरकार 15वां संस्करण, 1999 पृष्ठ 1234)

साक्ष्य अधिनियम की धारा 78, रजिस्ट्रीकरण, अधिनियम 1908 की धारा 33 और स्टाम्प अधिनियम की धारा 2 (21) में भी नोटरी पब्लिक का उल्लेख किया गया है।

1977 के पश्चात् कतिपय निर्णय इस धारा के अधीन हुए हैं परन्तु हम उनका निर्देश करना नहीं चाहेंगे क्योंकि हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं (देखें पैरा 40.8) कि धारा 85 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 85क से 85ग :

धारा 85क से 85ग में इलैक्ट्रानिक अभिलेखों और अंकीय चिन्हकों की उपधारणाओं का निर्देश है और ये वर्ष 2000 में अन्तःस्थापित की गई थीं। धारा 85क, 85ख और 85ग में "उपधारण करेगा" शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन धाराओं में किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 86 :

इस धारा में विदेशी न्यायिक अभिलेखों की प्रमाणित प्रतियों की उपधारणा के बारे में निर्देश किया गया है।

अलेम्मा कुरूविल्ला बनाम पेन्नाम्मा थॉमस 1994(1) क्राइम्स 670 (केरल) मकामल में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अमरीकी न्यायालय द्वारा पारित आदेश की फैक्स प्रति, भारतीय कौन्सलेट द्वारा सम्यक् रूप से प्रमाणित द्वितीयिक साक्ष्य के रूप में ग्राह्य होगी।

यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि धारा 86 में अन्य प्रकार के सबूतों का अपवर्जन नहीं किया गया है।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 14 में निर्धारित किया गया है कि जहां किसी विदेशी निर्णय पर निर्भर किया जाता है, वहां सम्यक् रूप से अधिप्रमाणित निर्णय का पेश किया जाना उपधारित साक्ष्य है कि जिस न्यायालय ने यह किया है उसकी सक्षम अधिकारिता है (**कासिम बनाम ईसाफ मौहम्मद** : आई एल आर कलकत्ता 509)

हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं (देखें पैरा 40.10) कि धारा 86 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 87 :

यह धारा पुस्तकों, मानचित्रों और चार्टों के बारे में उपधारणा का निर्देश करती है और इसमें "उपधारित कर सकेगा" शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "87. न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि कोई पुस्तक, जिसे वह लोक या साधारण हित संबंधी बातों की जानकारी के लिए देखे और कोई प्रकाशित मानचित्र या चार्ट, जिसके कथन सुसंगत तथ्य हैं, और जो उसके निरीक्षणार्थ पेश किया गया है, उस व्यक्ति द्वारा तथा उस समय और उस स्थान पर लिया गया और प्रकाशित किया गया था जिनके द्वारा या जिस समय या जिस स्थान पर उसका लिखा जाना या प्रकाशित होना तात्पर्यित है।"

यह देखा जा सकेगा कि धारा 57 के खंड (13) में यह निर्धारित किया गया है कि उसमें निर्देशित सभी मामलों में तथा लोक इतिहास, साहित्य, विज्ञान और कला के सभी मामलों में भी, न्यायालय अपनी सहायता के लिए उपयुक्त पुस्तकों या निर्देश के दस्तावेजों का आश्रय ले सकेगा। धारा 36 में सामान्यतया सार्वजनिक विक्रय के लिए प्रकाशित मानचित्रों या चार्टों में तथ्यों के कथन की सुसंगतता की उद्घोषणा की गई है। इस धारा में ऐसी उपधारणा का निर्देश है कि यह उस व्यक्ति द्वारा लिखी गई और प्रकाशित की गई थी तथा उस समय और उस स्थान पर उस व्यक्ति द्वारा लिखी गई और प्रकाशित की गई थी जैसाकि धारा में बताया गया है।

यह बात नोट की जा सकेगी कि धारा 87 में मौलिकता की उपधारण की गई है न कि सही होने की। दूसरी ओर, धारा 83 और धारा 86 में सही होने का निर्देश किया गया है। परन्तु, धारा 117 के अधीन, धारा 87 के अन्तर्गत आने वाले मामलों में कतिपय मामलों में, सही होने की उपधारणा भी की जा सकेगी।

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था (देखें पैरा 40.17) कि दो संशोधन आवश्यक हैं—(1) रेखांकों का जोड़ा जाना (धारा 36 की भांति) (2) 'तथ्यों के कथन' के भाग का अधिक स्पष्ट रूप में उल्लेख किया जाना चाहिए। प्रस्तावित संशोधन का प्रारूप नहीं दिया गया।

अत: प्रस्तावित धारा 87 निम्नलिखित रूप में पुन:प्रारूपित की जाएगी :

पुस्तकों, मानचित्रों, रेखांकों तथा चार्टों के बारे में उपधारणा

"87. न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि कोई पुस्तक जिसे वह लोकहित या साधारण हित संबंधी जानकारी के लिए देखें और कोई प्रकाशित मानचित्र या रेखांक या चार्ट, जिसके बारे में कथन सुसंगत तथ्य हैं और जो इसके निरिक्षणार्थ पेश किया गया है, उस व्यक्ति द्वारा तथा उस समय और उस स्थान पर लिखा गया और प्रकाशित किया गया था जिनके द्वारा या जिस समय या जिस स्थान पर उसका लिखा जाना या प्रकाशित होना तात्पर्यित है।"

हम तद्नुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 88 : यह धारा 'तार संदेशों के बारे में उपधारणा' से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"88. न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि कोई संदेश, जो किसी तारघर से उस व्यक्ति को भेजा गया है, जिसे ऐसे संदेश का संबोधित होना तात्पर्यित है, उस संदेश के समरूप है जो भेजे जाने के लिए उस कार्यालय को, जहां से वह संदेश पारेषित किया गया तात्पर्यित है, परिदत्त किया गया था, किन्तु न्यायालय उस व्यक्ति के बारे में, जिसने संदेश पारेषित किया जाने के लिए परिदत्त किया था, कोई उपधारणा नहीं करेगा।"

धारा 88 में, धारा में किए गए उल्लेखानुसार न्यायालय को उपधारणा करने की अनुमति दी गई है। परन्तु धारा 88 में उस व्यक्ति के बारे में जिसने संदेश पारेषित करने के लिए या भेजे जाने के लिए दिया था उपधारणा करना निषिद्ध किया गया है, जहां मूल कथित प्रेषक के हस्तलेख में होना प्रमाणित नहीं किया गया है (**किशोर बनाम गणेश** : ए. आई.आर. 1954 सु.को. 316) और ऐसा कोई साक्ष्य न होने पर कि यह उसके द्वारा भेजा गया था, उसका प्रात्याख्यान सही रहता है (वही)। यद्यपि, धारा 88 के अधीन उस व्यक्ति के बारे में, जिसने पारेषित किए जाने के लिए संदेश परिदत्त किया था, कोई उपधारणा नहीं है कि लेखक होने का सबूत पारिस्थितिक साक्ष्य द्वारा दिया जा सकेगा अर्थात् अन्य पत्र व्यवहार की श्रृंखला के संदर्भ में संदेश की अन्तर्वस्तु द्वारा प्रदान किए गए आन्तरिक साक्ष्य द्वारा (**मोबारक बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1957 सु.को. 857)। इस संदर्भ में धारा 114 (ङ) और धारा 16 सुसंगत हैं।

प्रेषक द्वारा डाकघर में दिया गया फार्म मूल है 8 (**हैंकल बनाम पैपे** : एल.आर. 6 एक्स 7; **आर बनाम रीगन** : 16 कॉक्स. सी.सी. 203) कोई तार भेजने की तारीख और समय के बारे में उपधारणा पत्रों के समान ही की जाएगी (हाल्स, तीसरा संस्करण, खंड 15 पैरा 73) (सरकार 15वां संस्करण, पृष्ठ 1240)।

लेखक होने का सबूत पारिस्थितिक साक्ष्य द्वारा दिया जा सकेगा। **श्रीमती अब्बा बनाम सुरेश** : ए.आई.आर. 1984 एन ओ सी 131 (दिल्ली)। किसी डाकघर के मामले में, ऐसी उपधारणा है कि उपयुक्त रूप से निर्दिष्ट डाक में डाला गया कोई पत्र उपयुक्त समय में पहुंच जाएगा (**ब्रिटिश एण्ड अमरीकन टेली. कम्पनी बनाम कालसन**-एल आर 6 एक्स 122)।

इस धारा के अधीन की गई उपधारणा का खंडन उन संदेशों को पेश करके किया जा सकेगा जो उस व्यक्ति को, जो उपधारणा का खंडन करना चाहता है, वास्तव में जिस तारीख को प्राप्त हुए हैं (**मनचालाल बनाम शाह मणिक चन्द** ए.आई.आर. 1988 कर्नाटक 221)।

धार 62 का स्पष्टीकरण (2) और धारा 63(2) धारा 88 के संदर्भ में सुसंगत हैं।

हम 69वीं रिपोर्ट के इस सुझाव से सहमत हैं (पैरा 40.22) कि धारा 88 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 88क :

यह धारा 'इलैक्ट्रानिक संदेशों के बारे में उपधारणा' का निर्देश करती है। यह धारा अधिनियम 21/2000 द्वारा अन्तःस्थापित की गई थी।

यह धारा 88 ही की भांति है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"88क. न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि प्रवर्तक द्वारा ऐसे प्रेषिती को किसी इलैक्ट्रानिक डाक परिसेवक के माध्यम से अग्रेषित कोई इलैक्ट्रानिक संदेश, जिसे ऐसे संदेश का संबोधित होना तात्पर्यित है, उस संदेश के समरूप है, जो पारेषण के लिए उसके कम्प्यूटर में भरा गया था, किन्तु न्यायालय उस व्यक्ति के बारे में, जिसके द्वारा ऐसा संदेश भेजा गया था, कोई उपधारणा नहीं करेगा।"

इस धारा में 'प्रेषिति' तथा 'प्रवर्तक' शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए एक स्पष्टीकरण दिया गया है।

इसमें संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 89 :

यह धारा ऐसे दस्तावेजों के बारे में है जिन्हें पेश करने की अपेक्षा की गई थी और जो पेश करने की सूचना के पश्चात् पेश नहीं किए गए , विधि द्वारा अपेक्षित प्रकार से अनुप्रमाणित, स्टाम्पित और निष्पादित किए गए थे। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है:

> "89. न्यायालय यह उपधारित करेगा कि हर दस्तावेज जिसे पेश करने की अपेक्षा की गई थी और जो पेश करने की सूचना के पश्चात् पेश नहीं किए गए हैं, विधि द्वारा अपेक्षित प्रकार से अनुप्रमाणित, स्टाम्पित और निष्पादित किए गए थे।"

इस धारा में निर्दिष्ट पेश करने की सूचना को धारा 65(क) और धारा 66 के साथ पढ़ना होगा। उपधारणा का खंडन किया जा सकेगा यद्यपि न्यायालय उपधारणा करने के लिए बाध्य है। उपधारणा, दस्तावेज की अन्तर्वस्तु के सही होने के बारे में नहीं की जा सकेगी।

यह धारा, इस कहावत पर आधारित है कि जब तक कि तत्प्रतिकूल साबित न हो जाए सभी कार्यों के बारे में यह उपधारणा की जाएगी कि उन्हें सही और वैध रूप से तथा सम्यक् औपचारिकता के साथ पूरा किया गया है। यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि दूसरों को अपनी गलती का लाभ नहीं उठाने दिया जाएगा। अनेकों इंग्लिश मामलों में ऐसा ही सिद्धान्त निर्धारित किया गया है (**क्रिस्प** बनाम **एण्डरसन** : स्टार्क. 36, टे एस.एस. 177, 148) जहां कोई दस्तावेज, जिस पर स्टाम्प अपेक्षित हो, खो जाए या सूचना के पश्चात् पेश न किया जाए तो तत्प्रतिकूल साक्ष्य के अभाव में यह उपधारित किया जाएगा कि वह सम्यक् रूप से स्टाम्पित है परन्तु जहां यह दर्शा दिया जाए कि वह स्टाम्पित नहीं था तो वहां तत्प्रतिकूल साबित न किए जाने तक यह उपधारित किया जाएगा कि वह स्टाम्पित नहीं था (**क्लाजमेडयूक बनाम कैरील** 18 सी बी 36; **गैरीन इन्वेस्टमेंट कम्पनी बनाम हैवीसाइड** : एल. आर. 5 एच.एल. 624; देखें; **राजा ऑफ बाघली बनाम इनुगान्टी** : 26 आई.ए. 262(पी) और **अहमद रजा बनाम सईद आबिद** : 43 आई.ए. 264 (पी सी)।

एक बार वादी अपने को इस आधार पर पेश करने से बचा लेता है कि दस्तावेज खोजा नहीं जा सका है या कहीं खो गया है, तब उसे पेश करने का प्रश्न ही नहीं उठता : **मणिलाल बनाम सूरत पुर** : ए.आई.आर. 1978 गुजरात 193।

69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया था कि इस धारा में कोई संशोधन आवश्यक नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 90 :

यह धारा 30 वर्ष पुराने दस्तावेज के बारे में उपधारणा से संबंधित है। न्यायालय उपधारित कर सकेगा। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "90. जहां कोई दस्तावेज, जिसका 30 वर्ष पुराना होना तात्पर्यित है या साबित किया गया है, ऐसी किसी अभिरक्षा में से, जिसे न्यायालय उस विशिष्ट मामले में उचित समझता है, पेश किया गया है, वहां न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि ऐसे दस्तावेज पर हस्ताक्षर और उसका हर अन्य भाग, जिसका किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्तलेख में होना तात्पर्यित है, उस व्यक्ति के हस्तलेख में है और निष्पादित या अनुप्रमाणित दस्तावेज होने की दशा में यह उपधारित कर सकेगा कि वह उन व्यक्तियों द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित और अनुप्रमाणित किया गया था जिनके द्वारा उसका निष्पादित या अनुप्रमाणित होना तात्पर्यित है।
>
> **स्पष्टीकरण :** दस्तावेज का उचित अभिरक्षा में होना कहा जाता है यदि वे ऐसे स्थान में और ऐसे व्यक्ति की देखरेख में है, जहां और जिसके पास वे प्रकृत्या होने चाहिए, किन्तु कोई भी अभिरक्षा अनुचित नहीं है, यदि यह साबित कर दिया जाए कि उस अभिरक्षा का उद्गम विधि सम्मत था या यदि उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियां ऐसी हों जिनसे ऐसा उद्गम अधिसंभाव्य हो जाता है।
>
> यह स्पष्टीकरण धारा 81 को भी लागू है।"

धारा 90 के नीचे तीन दृष्टांत दिए गए हैं।

उत्तर प्रदेश में दो संशोधन किए गए हैं। एक धारा 90 में वहां जहां विद्यमान धारा को खंड (1) के रूप में पुनर्संख्यांकित करते हुए 30 वर्ष को कम करके 20 वर्ष किया गया और धारा 90 में खंड (2) जोड़ा गया जिसमें पेश किए गए मूल दस्तावेज की प्रमाणित प्रति का निर्देश किया गया, भूल दस्तावेज क्योंकि रजिस्ट्रीकृत था और व्यक्ति के हस्तलेख, निष्पादन अनुप्रमाणन के लिए नहीं उपधारणाएं रखी गयी, जो खंड (1) में मूल दस्तावेज के लिए लागू थी वे ही रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज की प्रमाणित प्रति की भूल प्रति के लिए लागू रखी गयीं।

इसके अतिरिक्त, धारा 90क जोड़ी गई और उसका खंड (1) रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज या उसकी सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति का या दस्तावेज की ऐसी कोई भी प्रमाणित प्रति जो न्यायालय के अभिलेख का भाग है, निर्देश करता है। इस प्रकार ऐसी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है कि मूल दस्तावेज 20 वर्ष पुराना ही हो। इस प्रकार, जब ऐसी प्रतियां पेश की जाती हैं तो न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि मूल दस्तावेज उस व्यक्ति द्वारा निष्पादित किया था जिसके द्वारा निष्पादित होना तात्पर्यित था। हस्तलेख या अनुप्रमाणन के लिए कोई उपधारणा नहीं है । धारा 90क के खंड (2) में कहा गया है कि धारा 90क (1) के अधीन उपधारणाएं ऐसे किसी दस्तावेज के बारे में लागू नहीं होंगी जो वाद का या प्रतिरक्षा का आधार है या वाद में जिस पर निर्भर किया गया है या लिखित कथन है।

1(क) 69वीं रिपोर्ट में, धारा 90 में 30 वर्ष की अवधि को कम करके 20 वर्ष करने तथा धारा 90ठ में खंड (2) जोड़कर 20 वर्ष पुराने रजिस्ट्रीकृत दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियों के बारे में उपधारणा करने की सिफारिश की गई यदि न्यायालय में प्रति पेश किए जाने की तारीख तक भूल दस्तावेज का रजिस्ट्रीकरण 20 वर्ष या 20 वर्ष से अधिक पुराना था।

हम इस बात से सहमत हैं। उत्तर प्रदेश की भांति ही धारा 90 में संशोधन किया जाना चाहिए।

इंग्लैण्ड में, साक्ष्य अधिनियम, 1938 की धारा 4 द्वारा 'पुराने दस्तावेजों' के बारे में उपधारणा की अवधि को कम करके 20 वर्ष कर दिया गया है। मूलतः यह अवधि 40 वर्ष थी (देखें गिलबर्ट, पहला संस्करण, पृष्ठ 102) **आर. बनाम फैरिंगटन** (1788) 2 टी.आर. 466 मामले में इसे कम करके 30 वर्ष किया गया और 1938 में इसे 20 वर्ष कर दिया गया। यह नियम पुराने दस्तावेजों से संबंधित साक्षियों को पेश करने की कठिनाई पर आधारित है।

हेल्सबरीज लॉज ऑफ इंग्लैण्ड, चौथा संस्करण (खंड 17, पैरा 129) के अनुसार इस तथ्य के होते हुए भी कि एक साक्षी जीवित है, ऐसे दस्तावेज **स्वयं में प्रमाण** हैं।

क्योंकि धारा 90 में "उपधारणा कर सकेगा" शब्दों का प्रयोग हुआ है, यह अभिनिर्धारित किया गया है कि यदि निष्पादक या अनुप्रमाणन साक्षी जीवित हैं और उपलब्ध है तो न्यायालय धारा 90 के अधीन उपधारणा करने के बजाय साक्षियों के सबूत पर जोर दे सकेगा। इसी प्रकार, यदि निष्पादक या अनुप्रमाणन साक्षी मृतक है, तो न्यायालय इस बात पर विचार करेगा कि धारा 90 के अधीन उपधारणा करने से पूर्व क्या दस्तावेज धारा 69 में निर्धारित की गई प्रक्रिया के अनुसार साबित किया जा सकेगा (**हरधन महाटा बनाम दुखु महाटा** : ए.आई.आर. 1993 पटना 129) **डी. राम गुप्ता** बनाम **एस. रज्जाक** : ए.आई.आर. 1982 कर्नाटक 314 भी देखें। यदि दस्तावेज 30 वर्ष पुराना साबित नहीं होता है तो उपधारणा नहीं की जा सकेगी (**स्टेट ऑफ कर्नाटक बनाम वीरन गोड्डा** : ए.आई.आर. 1995 कर्नाटक 361)। राजस्व अभिलेखों में 30 वर्ष से अधिक पुरानी प्रविष्टियां प्रमाणित उपधारित की जा सकेंगी (**करतार सिंह** बनाम **कलक्टर, पटियाला** : 1996 ए. आई. एम.सी. 1538(पी एण्ड एच)।

प्रिवी काउंसिल द्वारा **बसंत** बनाम **बूतराज** : ए.आई.आर. 1935 पी.सी. 132 मामले में उपधारणाएं बिलों के लिए लागू की गई हैं।

1(**ख**) परन्तु धारा 90 के अधीन उपधारणाएं मूल दस्तावेज के लिए लागू करनी होंगी, जैसी विधि इस समय है, न कि प्रतियों के लिए **काली दिनदी बनाम चिन्तलपति** : ए.आई.आर. 1968 सु.को. 947; **मुन्नालाल** बनाम **काशीबाई** : ए.आई.आर. 1947 पी सी 15। परन्तु **सत्यप्रमोद** बनाम **मूलगुन्नैया** : ए.आई.आर. 1982 ए पी 24, मामले में विशेष वकालत की प्रमाणित प्रति की ग्राह्यता (उस वकालत के अधीन किसी वकील द्वारा हस्ताक्षरित किसी समझौते को स्वीकार करने हेतु) 30 वर्ष पुराने दस्तावेज के मामले में दायर की गई, यह पाए जाने के बाद स्वीकार कर ली गई थी कि मूल दस्तावेज, जो जिला न्यायालय में था, नियमानुसार नष्ट कर दिया गया था। मूल वकालत की विद्यमानता के बारे में उपधारणा की गई थी। देखें **शीतलदास** बनाम **संतराम** : ए.आई.आर. 1954 सु.को. 606; **हरिहर** बनाम **देवनारायण** : ए.आई.आर. 1956 सु.को. 305; **तिलक** बनाम **भीम** 1969 (3) एस.सी.सी. 307; **शिवलाल** बनाम **चेतराम** : ए.आई.आर. 1971 सु.को. 2342।

प्रमाणित प्रतियों के मामले में, यह अभिनिर्धारित किया गया है कि पंजीकरण अधिनियम की धारा 57(5) का आश्रय लिया जा सकता है (**करूपन्ना** बनाम **कोलनदास्वामी** : ए.आई.आर. 1954 मद्रास 495) या रजिस्ट्रार के समक्ष अभिस्वीकृति के बारे में धारा 60(2) का (**काशीभाई** बनाम **विनायक** : ए.आई.आर. 1956 बम्बई 65)। यह कि यदि मूल दस्तावेज खो गया हो, तो प्रमाणित प्रतियां द्वितीयक साक्ष्य के रूप में ग्राह्य हो सकेंगी, विगमोर, (साक्ष्य, धारा 2143) ने कहा है कि "जहां अभिकथित पुराना **मूल दस्तावेज खो गया हो, और कोई पुरानी तात्पर्यित प्रति पेश** की जाती है, जो किसी प्राइवेट हस्तलेखक द्वारा बनाई गई हो, और वह व्यक्ति जिसके द्वारा बनाया जाना तात्पर्यित है अनजाना या मृतक है, तब काफी पहले से यह स्वीकार किया जाता रहा है कि यह पर्याप्त है और यह कि प्रति पुराने दस्तावेजी नियम के अधीन प्राप्त की जा सकेगी।" विगमोर ने यह भी कहा है कि (साक्ष्य, धारा 2143) "जब अभिकथित पुराना मूल दस्तावेज खो जाता है, (या अन्यथा अनुपलब्ध हो) और कोई तात्पर्यित सरकारी अभिलेख पेश किया जाए, जो 30 वर्ष से भी अधिक पहले तैयार किया गया हो, और जो दस्तावेज की अन्तर्वस्तु और निष्पादन को साबित करती हो, तो वहां मामला पहले वाले मामले से भी अधिक सुदृढ़ होगा।"

धारा 90 में किया गया उत्तर प्रदेश संशोधन, 1954 में अवधि को कम करके 20 वर्ष कर दिया गया है और धारा 90 का विस्तार प्रमाणित प्रतियों के लिए कर दिया गया है (**सरदारन** बनाम **सुन्दरलाल** : ए.आई.आर. 1972 इला. 406) हम इन संशोधनों का प्रस्ताव धारा 90 की उपधारा (1) और (2) के लिए कर रहे हैं।

II जहां तक उत्तर प्रदेश संशोधन की धारा 90क का संबंध है, यह मूल रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज या उनकी सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति या मूल की न्यायालय के अभिलेख से प्रमाणित प्रति के बारे में है और उपधारणा केवल तभी लागू होगी यदि मूल दस्तावेज में स्पष्ट रूप से उस व्यक्ति का नाम दर्शाया गया है जिसके द्वारा उसका निष्पादित होना तात्पर्यित है। धारा 90क

के अधीन उपधारणा केवल निष्पादन के बारे की जा सकेगी, और जैसाकि पहले बताया जा चुका है, धारा 90 से संकीर्ण है जिसमें हस्तलेख और अनुप्रमाणन के बारे में भी उपधारणा की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त, धारा 90क के खंड (2) के अधीन, रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज के निष्पादन की मौलिकता के बारे में उपधारणा प्रमाणित प्रति पेश करके नहीं उठ सकेगी जबकि यह वाद का या प्रतिपक्ष का आधार बनती हो।

रामजोग बनाम सुरेन्द्र : ए.आई.आर. 1980 इला. 385(एफ. बी.), **ओम प्रकाश भगवान** : ए.आई.आर. 1974 इला. 389 मामले में विरुद्ध निर्णय दिया गया और **श्रीमती विद्यादेवी** बनाम **नन्दकुमार**: ए.आई.आर. 1981 इला. 274; **भग्गल** बनाम **रंजीलाल**: ए.आई.आर. 1986 इला. 163 मामलों को स्वीकार करते हुए उनके पक्ष में निर्णय दिया गया। ये मामले धारा 90क (2) पर आधारित अभिवचन से संबंधित थे जहां प्रति 20 वर्ष से अधिक पुराने मूल दस्तावेज से संबंधित थी। प्रश्न यह था कि यद्यपि रजिस्ट्रीकृत प्रति धारा 90(2) के अन्तर्गत आती थी, जो तत्समय उत्तर प्रदेश में प्रवर्तन में थी, तब क्या धारा 90क (2) भी लागू होती थी क्योंकि मूल दस्तावेज रजिस्ट्रीकृत था, और क्या, यदि दस्तावेज वाद का आधार था तब यह धारा 90(2) के अधीन, जो उत्तर प्रदेश में प्रवर्तन में थी, नहीं आता था। पूर्ण पीठ द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि यदि प्रमाणित प्रति धारा 90(2) के अधीन आती हैं, ऐसे मूल दस्तावेज की प्रति जो 20 वर्ष से अधिक पुराना था, तो धारा 90क(2) लागू नहीं होगी, केवल धारा 90(2) लागू होगी।

यहां हम, इलाहाबाद उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ द्वारा निर्धारित रामजोस के मामले के (1980) तथ्यों का संक्षेप में निर्देश करेंगे। उस मामले में एक रजिस्ट्रीकृत बिल वाद का आधार थी। मूल दस्तावेज, जो रजिस्ट्रीकृत था, जो 20 वर्ष से भी अधिक पुराना था। दस्तावेज क्योंकि प्रमाणित प्रति था इसलिए धारा 90(1) के अधीन, उत्तर प्रदेश द्वारा संशोधित रूप में, आता था और उस उपधारा के अधीन उपधारणा करने के प्रयोजन से ग्राह्य था। परन्तु तब यह तर्क दिया गया था कि धारा 90क भी लागू होती थी चाहे वे प्रतियां ऐसे मूल दस्तावेज की हों जो 20 वर्ष से अधिक समय पहले रजिस्ट्रीकृत हुए थे या नहीं। यदि यह धारा 90क के अधीन भी आता था तब धारा 90क(2) के अधीन यह ग्राह्य नहीं होगा यदि दस्तावेज वाद का या प्रतिपक्ष का आधार था। पूर्ण पीठ द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि धारा 90 और 90क, दोनों ही, उत्तर प्रदेश द्वारा संशोधित रूप में, एक दूसरे से स्वतंत्र थी और यदि किसी रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज की प्रमाणित प्रति (मूल दस्तावेज 20 वर्ष या 20 वर्ष से अधिक पुराना था) धारा 90(2) के अधीन ग्राह्य थी और न्यायालय उपधारणा कर सकता था तो यह तथ्य, निरर्थक था कि वह वाद का या प्रतिरक्षा का आधार था। दूसरे शब्दों में, धारा 90क(2) केवल तभी लागू होगी जबकि दस्तावेज 20 वर्ष से कम पुराना था या धारा 90क(2) का धारा 90(2) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 41.28 में आयोग की 14वीं रिपोर्ट के खंड (1) पृष्ठ 518 (पैरा 9) और पहले उपपैराग्राफ तथा पृष्ठ 519 पर पैरा में व्यक्त किए गए विचारों का निर्देश किया गया था।

69वीं रिपोर्ट में, जैसा कि कहा जा चुका है, अन्तिम रूप से यह सिफारिश की गई है (पैरा 41.31) की धारा 90 का वर्तमान उपबंध धारा 90 की उपधारा (1) होनी चाहिए और उत्तर प्रदेश की भांति धारा 90 में उपधारा (2) जोड़ी जानी चाहिए ताकि ऐसे दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियों के बारे में उपधारणा करना अनुमत्य हो सके।

अब यदि कोई दस्तावेज जो उत्तर प्रदेश में 20 वर्ष से अधिक पुराना है विधि के अनुसार रजिस्ट्रीकृत हुआ है, तो रजिस्ट्रार ने दस्तावेज पर, निष्पादक द्वारा दस्तावेज के सम्यक् रूप से और उस समय पर जिसके लिए यह तात्पर्यित था, निष्पादित किए जाने के बारे में पृष्ठांकन किया होगा। यदि वर्षों बाद, कोई वाद या लिखित कथन दायर किए जाने से पूर्व, कोई पक्षकार यदि उसकी हाल ही में प्रमाणित की गई प्रति प्राप्त करके, उस दस्तावेज पर निर्भर करना चाहता है जो 20 वर्षों से अधिक पुराना है, तब उस प्रमाणित प्रति में रजिस्ट्रार द्वारा किया गया पृष्ठांकन पुनः उद्धृत किया जाएगा और उस पृष्ठांकन से धारा 90(2) के अधीन हस्ताक्षर तथा ऐसे दस्तावेज के प्रत्येक भाग के बारे में, जो किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्तलेख में होना तात्पर्यित है उस व्यक्ति के हस्तलेख में है, उपधारणा की जा सकेगी तथा निष्पादित या अनुप्रमाणित दस्तावेज के मामले में यह कि वह सम्यक् रूप से निष्पादित या अनुप्रमाणित हुआ था। इस प्रकार 20 वर्ष या 20 वर्ष से अधिक पुराने मूल दस्तावेज की प्रमाणित प्रति अब

केवल धारा 90(2) के अधीन आएगी और निष्पादन, हस्तलेख और अनुप्रमाणन के बारे में उपधारणा धारा 90(2) के अधीन की जा सकेगी। इस पर धारा 90क (2) का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जिसमें कहा गया है कि यदि प्रमाणित प्रतिवाद का आधार है तो उपधारणा नहीं की जा सकेगी।

वास्तव में, उत्तर प्रदेश की धारा 90क का आशय ऐसे मूल दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियों के मामलों के बारे में उपबंध करना था जो रजिस्ट्रीकृत थे और जिनमें मूल दस्तावेजों का निष्पादन न्यायालय में उसकी प्रमाणित प्रति पेश किए जाने की तारीख तक 20 वर्ष से पहले की किसी तिथि को हुआ था। यहां उपधारणा केवल उस व्यक्ति द्वारा निष्पादन तक ही सीमित होगी और यदि दस्तावेज वाद या प्रतिरक्षा का आधार है तो उपधारणा नहीं की जा सकेगी।

69वीं रिपोर्ट में उत्तर प्रदेश संशोधन की भांति धारा 90क(1) और (2) के समान उपबंध करने की सिफारिश की गई है (देखें पैरा 41.32 से 41.38) परन्तु थोड़े से परिवर्तनों के साथ। अब हम उनका उल्लेख करेंगे।

एक छोटे से उपांतरण से धारा 90क(1) में निर्देशित 'न्यायिक अभिलेखों' की प्रमाणित प्रतियों के संबंध में उपधारणा, (देखें पैरा 41.38) (क) रजिस्टर्ड दस्तावेज, (ख), किसी पूर्व के मामले में दस्तावेजों के असली अधिनिर्णित होने तक ही सीमित रहेंगे।

हमारे विचार में, धारा 90क का प्रस्ताव करते समय, जो उत्तर प्रदेश की धारा 90क के अनुरूप है, हम, (1) **रामजोस** ए.आई.आर. 1980 इला. 385 (एफ बी) मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ द्वारा निर्णित विषयों को और उपर्युक्त निर्दिष्ट 69वीं रिपोर्ट के पैरा 41.38 में दिए गए सुझावों को ध्यान में रखेंगे। उत्तर प्रदेश अधिनियम के अधीन धारा 90क किसी रजिस्टर्ड दस्तावेज या उसकी सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति या किसी दस्तावेज की प्रमाणित प्रति, जो न्यायालय के अभिलेख का भाग है, के लिए लागू होगी। जहां तक 'उसकी सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति' का संबंध है, यह वह प्रति है जो रजिस्ट्री करने वाले प्राधिकरण द्वारा जारी की जाती है। जहां तक किसी ऐसे दस्तावेज की, जो न्यायालय अभिलेख का भाग है, प्रमाणित प्रति का संबंध है, यदि न्यायालय में दायर किया गया कोई दस्तावेज, मूल दस्तावेज है जो रजिस्टर्ड भी है तो न्यायालय मूल दस्तावेज की प्रमाणित प्रति देगा और उसका निष्पादन उस व्यक्ति द्वारा उपधारित किया जा सकेगा। जहां तक अन्य मूल दस्तावेजों का संबंध है, यदि न्यायालय प्रमाणित प्रति देता तब केवल उसके असली होने के बारे में उपधारणा की जा सकेगी, यदि ऐसा **असली होना किसी पूर्व के मामले में अभिनिर्णित किया गया हो।**

इसका कारण यह है कि अभिधारण विधियों के अधीन किसी कार्यवाही में जाली दस्तावेज फाइल करने की कतिपय पक्षकारों की आदत बन गई है न्यायालय से प्रमाणित प्रति प्राप्त करें और सिविल न्यायालय में उस प्रति को फाइल कर दें। ऐसी प्रमाणित प्रतियों के बारे में असली होने की उपधारणा करने का प्रश्न नहीं उठेगा जब तक कि अभिधारण न्यायालय के द्वारा उसका असली होना निर्णीत न हुआ हो।

उत्तर प्रदेश संशोधन की धारा 90क में उचित अभिरक्षा का निर्देश है और जहां तक ये शब्द 'रजिस्टर्ड दस्तावेज' के लिए हैं, इसका उचित कारण है परन्तु 'उचित अभिरक्षा' के सिद्धान्त को उसकी सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति के लिए या किसी ऐसे दस्तावेज की प्रमाणित प्रति जो न्यायालय के अभिलेख का भाग है, के लिए भी लागू किया गया है। हमारे विचार में बाद वाली अर्हता अपेक्षित नहीं है क्योंकि रजिस्ट्रार के कार्यालय से या न्यायालय के अभिलेखों से प्रमाणित प्रतियां हाल ही की भी हो सकती हैं जो वर्तमान वाद से ठीक पहले प्राप्त की गई हों।

हम इन सिफारिशों और सुझावों को स्वीकार करते हैं। हम धारा 90 को 90(1) के रूप में पुनर्संख्यांकित करने तथा उप-धारा (2) जोड़ने, जैसा कि उत्तर प्रदेश में किया गया था, का प्रस्ताव करते हैं। हम उत्तर प्रदेश अधिनियम, 1954 की ही भांति एक पृथक् धारा 90क जोड़ने का भी प्रस्ताव करते हैं। धारा 90, 20 वर्ष या इससे पुराने दस्तावेजों के लिए लागू होती है और धारा 90क 20 वर्ष से कम पुराने दस्तावेजों के लिए।

हम निम्नलिखित पुनरीक्षित धारा 90 और 90क की सिफारिश करते हैं :

90. बीस वर्ष पुराने दस्तावेजों के बारे में उपधारणा—जहां कोई दस्तावेज—

"90. (1) जहां कोई दस्तावेज, जिसका 20 वर्ष पुराना होना तात्पर्यित है या साबित किया गया है, ऐसी किसी अभिरक्षा में से, जिसे न्यायालय उस विशिष्ट मामले में उचित समझता है, पेश किया गया है, वहां न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि ऐसे दस्तावेज पर हस्ताक्षर और उसका हर अन्य भाग, जिसका किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्तलेख में होना तात्पर्यिक है, उस व्यक्ति के हस्तलेख में है, और निष्पादित या अनुप्रमाणित दस्तावेज होने की दशा में, यह उपधारित कर सकेगा कि वह उन व्यक्तियों द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित और अनुप्रमाणित किया गया था जिनके द्वारा उसका निष्पादित और अनुप्रमाणित होना तात्पर्यित था;

(2) जहां उपधारा (1) में निर्दिष्ट जैसा कोई दस्तावेज इस दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण संबंधी विधि के अनुसार रजिस्ट्रीकृत हुआ था और उसकी सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति पेश की जाती है, वहां न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि हस्ताक्षर और ऐसे दस्तावेज का हर भाग, जो किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्तलेख में होना तात्पर्यित है, उस व्यक्ति के हस्तलेख में है और निष्पादित या अनुप्रमाणित दस्तावेज होने की दशा में यह उपधारित कर सकेगा कि वह उन व्यक्तियों द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित और अनुप्रमाणित किया गया था जिनके द्वारा उसका निष्पादित और अनुप्रमाणित होना तात्पर्यित था।"

स्पष्टीकरण : उप-धारा (1) में निर्दिष्ट दस्तावेजों का उचित अभिरक्षा में होना कहा जाता है, यदि वे उस स्थान में है और उस व्यक्ति की अभिरक्षा में है जहां और जिसके पास वे प्रकृत्या होने चाहिए, परन्तु कोई भी अभिरक्षा अनुचित नहीं होगी, यदि उसका उद्गम विधि सम्मत साबित कर दिया जाए या उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियां ऐसी हैं जिनसे उद्गम अधिसंभाव्य हो जाता है।

यह स्पष्टीकरण धारा 81 के लिए और 90 क के खंड (क) के लिए भी लागू होगा।

दृष्टांत :

(क) 'क' भू-सम्पत्ति पर दीर्घ काल से कब्जा रखता आया है। वह उस भूमि संबंधी विलेख, जिनसे उस भूमि पर उसका हक दर्शित होता है, अपनी अभिरक्षा में से पेश करता है। यह अभिरक्षा उचित है।

(ख) 'क' उस भू-सम्पत्ति से संबंधित विलेख, जिसका वह बंधकदार है, पेश करता है। बंधककर्ता संपत्ति पर कब्जा रखता है। वह अभिरक्षा उचित है।

(ग) 'ख' का संसर्गी 'क', ख के कब्जे वाली भूमि से संबंधित विलेख पेश करता है, जिन्हें 'ख' ने उसके पास सुरक्षित अभिरक्षा के लिए निक्षिप्त किया था। यह अभिरक्षा उचित है।

20. वर्ष से कम पुराने दस्तावेजों के बारे में उपधारणा—

90क. जहां—

(क) दस्तावेजों के रजिस्ट्रीकरण से संबंधित विधि के अनुसार रजिस्ट्रीकृत कोई दस्तावेज किसी अभिरक्षा से पेश किया जाता है, जो न्यायालय उस विशिष्ट मामले में उचित समझता है, और रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज 20 वर्ष से कम पुराना है; या

(ख) दस्तावेजों के रजिस्ट्रीकरण से संबंधित विधि के अनुसार रजिस्ट्रीकृत किसी दस्तावेज की सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति, जिसका मूल दस्तावेज 20 वर्ष से कम पुराना है, पेश किया जाता है; या

(ग) किसी दस्तावेज की, जो न्यायालय के अभिलेख का भाग है, सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति, जिसका मूल किसी पूर्व के मामले में असली साबित किया जा चुका है और जिसका मूल 20 वर्ष से कम पुराना है, पेश किया जाता है,

न्यायालय खंड (क) में उल्लिखित रजिस्ट्रीकृत दस्तावेजों या खंड (ख) या (ग) में निर्दिष्ट दस्तावेजों के मूल के बारे में यह उपधारित कर सकेगा कि वह उस व्यक्ति द्वारा निष्पादित किया गया है जिसके द्वारा निष्पादित होना तात्पर्यित है।

परन्तु यह कि इस धारा के अधीन ऐसे किसी दस्तावेज के बारे में जो किसी वाद या प्रतिरक्षा का आधार है या जहां वाद में या लिखित कथन पर निर्भर किया जाता है, ऐसी कोई उपधारणा नहीं की जाएगी''।

धारा 90क :

यह धारा अधिनियम 21/2000 द्वारा परः स्थापित की गई और इसे 90ख के रूप में पुनर्संख्यांकित किया जाएगा।

धारा 91 :

यह धारा तथा 92 से 100 तक धाराएं अधिनियम के अध्याय छः में अन्तर्विष्ट हैं और ये 'दस्तावेजी साक्ष्य द्वारा मौखिक साक्ष्य के अपवर्जन' के विषय में हैं।

हम धारा 91 से आरम्भ करते हैं। यह बड़ी धारा है और इसमें दो अपवाद और तीन स्पष्टीकरण दिए गए हैं। इस धारा के नीचे पांच दृष्टांत दिए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट में, पैरा 42.1 से 42.40 तक में विस्तृत चर्चा के पश्चात और मुख्य धारा के उपबंधों, दो अपवादों तथा तीन स्पष्टीकरणों पर विचार करने के पश्चात् यह सिफारिश की गई थी कि इस धारा में कोई संशोधन आवश्यक नहीं है (देखें पैरा 42.25, 42.37, 42.40क)।

परन्तु यह कहा गया था कि यह धारा तथा अगली धारा अर्थात् धारा 92 एक दूसरे की पूरक हैं। धारा 92 में चर्चा के पश्चात् कतिपय संशोधनों का सुझाव दिया गया (देखें पैरा 43.18 और 48.20)।

क्योंकि दोनों धाराएं एक दूसरे की पूरक हैं तो धारा 91 के और उसकी मुख्य योजना के बारे में निर्देश करना आवश्यक हो जाता है। धारा 91 का पाठ निम्नलिखित है। इसका शीर्षक है :

''दस्तावेजों के रूप में लेखबद्ध संविदाओं, अनुदानों तथा संपत्ति के अन्य व्ययनों के निबन्धनों का साक्ष्य''।

धारा 91 का पाठ निम्नलिखित है :

''91. जबकि किसी संविदा के या अनुदान के या संपत्ति के किसी अन्य व्ययन के निबन्धन दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध कर लिए गए हों तब, तथा उन सब दशाओं में, जिनमें विधि द्वारा अपेक्षित है कि कोई बात दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध की जाए, ऐसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन के निबंधनों के या ऐसी बात के साबित किए जाने के लिए, स्वयं उस दस्तावेज के सिवाये या उन दशाओं में जिनमें ऐतिस्मिनपूर्व अन्तर्विष्ट उपबंधों के अधीन द्वितीयक साक्ष्य ग्राह्य है, उसकी अन्तर्वस्तु के द्वितीयक साक्ष्य के सिवाए, कोई भी साक्ष्य नहीं दिया जाएगा।''

अपवाद-I : जबकि विधि द्वारा यह अपेक्षित है कि किसी लोक अधिकारी की नियुक्ति लिखित रूप में हो और जब यह दर्शित किया गया है कि किसी विशिष्ट व्यक्ति ने ऐसे अधिकारी के नाते कार्य किया है तब उस लेख का, जिसके द्वारा वह नियुक्त किया गया था, साबित किया जाना आवश्यक नहीं है।

अपवाद-II : जिन विलों का भारत में प्रोबेट मिला है वे प्रोबेट द्वारा साबित की जा सकेंगी।

स्पष्टीकरण-I : यह धारा उन दशाओं को, जिनमें निर्दिष्ट संविदाएं, अनुदान या संपत्ति के व्ययन एक ही दस्तावेज में अन्तर्विष्ट हैं तथा उन दशाओं को, जिनमें वे एक से अधिक दस्तवोजों में अन्तर्विष्ट हैं, समान रूप से लागू हैं।

स्पष्टीकरण-II : जहां कि एक से अधिक मूल दस्तावेज हैं, वहां केवल एक मूल दस्तावेज साबित करना आवश्यक है।

स्पष्टीकरण-III : इस धारा में निर्दिष्ट तथ्यों से भिन्न किसी तथ्य का किसी भी दस्तावेज में कथन, उसी तथ्य के बारे में, मौखिक साक्ष्य की ग्राह्यता का प्रवारण नहीं करेगा।

दृष्टांत तथा उनका तात्पर्य

(क) यदि कोई संविदा कई पत्रों में अन्तर्विष्ट है तो वे सभी पत्र जिनमें वह अन्तर्विष्ट है, साबित करने होंगे।

(ख) यदि कोई संविदा किसी विनिमय पत्र में अन्तर्विष्ट है तो वह विनिमय पत्र साबित करना होगा।

(ग) यदि विनिमय पत्र तीन परतों में लिखित है, तो केवल एक को साबित करना आवश्यक है।

(घ) 'ख' से कतिपय निबन्धनों पर 'क' नील के परिदान के लिए संविदा करता है। संविदा इस तथ्य का वर्णन करती है कि 'ख' ने 'क' को किसी अन्य अवसर पर मौखिक रूप से संविदाकृत अन्य नील का मूल्य चुकाया था।

मौखिक साक्ष्य पेश किया जाता है कि अन्य नील के लिए कोई संदाय नहीं किया गया था। यह साक्ष्य ग्राह्य है।

(ङ) 'ख' द्वारा दिए गए धन की रसीद 'ख' को 'क' देता है। संदाय करने का मौखिक साक्ष्य पेश किया जाता है यह साक्ष्य ग्राह्य है (यह तीसरे स्पष्टीकरण का दृष्टांत भी है)।

इस धारा में 'प्राथमिक साक्ष्य नियम' तथा 'द्वितीयिक साक्ष्य नियम' का निर्देश है और ये दो प्रकार के दस्तावेजों के लिए लागू होते हैं :

(1) दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध किसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के किसी अन्य व्ययन के निबंधनों का साक्ष्य;

(2) उन सब दशाओं में, जिनमें विधि द्वारा अपेक्षित है कि कोई बात दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध की जाए (जैसे, रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 17)।

इन मामलों में प्राथमिक दस्तावेज पेश किया जाना चाहिए और ऐसे मामलों में उसकी अन्तर्वस्तु का द्वितीयिक साक्ष्य दिया जा सकेगा जिनमें अधिनियम के उपबंधों के अधीन द्वितीयिक साक्ष्य ग्राह्य है (धारा 65, 66)।

दो अपवादों के अतिरिक्त, स्पष्टीकरण-3 में भी एक अन्य अपवाद उपबंधित है--कोई लिखित दस्तावेज विवाद्यक तथ्य के बारे में नहीं है और केवल किसी तथ्य को साबित करने के लिए पेश किया गया है, मौखिक साक्ष्य अन्यत्र से, ग्राह्य है जैसा कि किसी संदाय की, यद्यपि उसकी रसीद दे दी गई थी, मौखिक साक्ष्य द्वारा साबित किया जा सकेगा।

इस विषय पर प्रिवी काउंसिल, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के निर्णयों में बहुत बड़ी मात्रा में निर्णय जनित विधि उपलब्ध है। सरकार ने (साक्ष्य, 15वां संस्करण, 1999) निर्णय जनित विधि के बारे में पृष्ठ 1267 से 1305 तक में चर्चा की है और इंग्लिश मामलों का निर्देश भी किया है। लेखक ने भी विधि आयोग की 69वीं रिपोर्ट के पश्चात् निर्णय जनित विधि का निर्देश किया है। हमने सरकार तथा अन्यत्र निर्देशित निर्णय जनित विधि की समीक्षा की है।

बेपा पी. सारथी ने अपनी पुस्तक साक्ष्य में (पांचवां संस्करण, 2002) (पृष्ठ 299) उच्चतम न्यायालय द्वारा धारा 91 के अधीन दिए गए निर्णयों का निर्देश किया है, हम केवल 1977 से पूर्व के तथा पश्चात् के, मामलों की सूची देंगे। निर्णय जनित विधि के बारे में चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि हमारे विचार से धारा 91 में किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है। उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णीत मामले निम्नलिखित हैं :

राधासुन्दर दास बनाम **मो. जहादुर रहीम** : ए.आई.आर. 1959 सु.को. 24; **अनामतुल्ला** बनाम **कमीशन (ऑफ मुस्लिम वक्फ)** : 1991 सप्ली. (1) एस.सी.सी. 396; **टी.एम. स्टेट एज्यूकेशन बोर्ड** बनाम **एम. राजूरेड्डी** :

1996 (4) एस.सी.सी. 551; **जन. कोर्ट मार्शल** बनाम **अनिल तेज सिंह धालीवाल** : 1908 (1) एस.सी.सी. 756; **ईश्वर दास जैन** बनाम **सोहन लाल** : 2000 (1) एस.सी.सी. 434; **जहूरी शाह** बनाम **द्वारका प्रसाद** : 1966 (2) एस.सी.डब्ल्यू.आर. 189 ; **गुरनाम सिंह** बनाम **सुरजीत सिंह** : 1976 (4) एस.सी.सी. 404; **महेन्द्र** बनाम **स्टेट ऑफ हरियाणा** : 1974 (4) एस.सी.सी. 285; **भैरिश्वर स्वामी** बारू **टेम्पल** बनाम **पेड्डाधुडी** : 1973 (2) एस.सी.सी. 261; **फोर्ट ग्लास्टर इन्डस्ट्रीज** बनाम **सेठिया मर्केन्टाईल** : 1972 (4) एस.सी.सी. 252; **अब्दुल्ला अहमद** बनाम **अनिमेन्द्र** : 1950 एस.सी.आर. 30; **वीरमचनेरी** बनाम **आन्ध्र बैंक** : 1971 (1) एस.सी.सी. 874; **फीरोज जामन जी. देसाई** बनाम **चन्द्रकान्त** : 1979 (1) एस.सी.सी. 661; **महेन्द्रा एण्ड महेन्द्रा** बनाम **यूनियन ऑफ इन्डिया** : 1979 (2) एस.सी.सी. 59।

धारा उन व्यक्तियों के बीच के लिए भी लागू होती है जो पक्षकार हों या धारा 92 की तरह गैर-पक्षकार हों।

ऐसे दस्तावेजों के बारे में भी जो रजिस्टर होने अपेक्षित हैं परन्तु किए नहीं गए, जिनका सुसंगत स्टाम्प विधि के अधीन स्टाम्पित होना अपेक्षित था परन्तु स्टाम्पित नहीं थे वंश संबंधी तथ्यों के संबंध में पर्याप्त निर्णय जनित विधि उपलब्ध है (स्पष्टीकरण-3 के अधीन) हमें ऐसे विभिन्न विषयों का उल्लेख करने का कोई तर्क दृष्टिगत नहीं होता है जहां धारा लागू होना अभिनिर्धारित की गई है क्योंकि इससे धारा 91 में स्पष्ट रूप से निर्धारित सिद्धान्तों के लागू होने या न होने पर प्रभाव पड़ेगा।

हम 69वीं रिपोर्ट में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 92 :

यह धारा 'मौखिक करार के साक्ष्य का उपवर्जन' के बारे में है। मुख्य भाग के अतिरिक्त, इसमें (1) से (6) तक परन्तुक अन्तर्विष्ट हैं। धारा के नीचे (क) से (ज) तक दस दृष्टांत दिए गए हैं।

क्योंकि 69वीं रिपोर्ट में धारा 92 में कतिपय संशोधनों का प्रस्ताव किया गया है। यह धारा 92 का पाठ उद्धृत करना आवश्यक है। यह निम्नलिखित है :

"92.' जबकि ऐसी संविदा या अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन के निबन्धनों को, या किसी बात को, जिसके बारे में विधि द्वारा अपेक्षित है कि वह दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध की जाए, अन्तिम पिछली धारा के अनुसार साबित किया जा चुका हो, तब ऐसी किसी लिखित के पक्षकारों या उसके हित प्रतिनिधियों के बीच के किसी मौखिक करार या कथन का कोई भी साक्ष्य उसके निबंधनों का खंडन करने के या उनमें फेरफार करने के या जोड़ने के या उनमें से घटाने के प्रयोजनों के लिए ग्रहण न किया जाएगा :

परन्तुक (1) — ऐसा कोई तथ्य साबित किया जा सकेगा, जो किसी दस्तावेज के अविधिमान्य बना दे या जो किसी व्यक्ति को तत्संबंधी किसी डिक्री या आदेश का हकदार बना दे, यथा, कपट, अभित्रस, अवैधता, सम्यक् निष्पादन का अभाव किसी संविदाकारी पक्षकार में सामर्थ्य का अभाव, प्रतिफल का अभाव या निष्फलता या विधि की या तथ्य की भूल।

परन्तुक (2) — किसी विषय के बारे में, जिसके बारे में दस्तावेज मौन है और जो उसके निबंधनों से असंगत नहीं है किसी पृथक मौखिक करार का अस्तित्व साबित किया जा सकेगा। इस पर विचार करते समय कि यह परन्तुक लागू होता है या नहीं न्यायालय दस्तावेज की प्रारूपतिता की मात्रा को ध्यान में रखेगा।

परन्तुक (3) — ऐसी किसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के व्ययन के अधीन कोई बाध्यता संलग्न होने की पुरोभाव्य शर्त गठित करने वाले किसी पृथक मौखिक करार का अस्तित्व साबित किया जा सकेगा।

परन्तुक (4) — ऐसी किसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के व्ययन को विखंडित या उपांतरित करने के लिए किसी सुभिन्न पाश्चिक मौखिक करार का अस्तित्व उन अवस्थाओं के सिवाय साबित किया जा सकेगा,

जिनमें विधि द्वारा अपेक्षित है कि ऐसी संविदा, अनुदान या संपत्ति का व्ययन लिखित हो अथवा जिनमें दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण के बारे में तत्समय प्रवृत्त विधि के अनुसार उसका रजिस्ट्रीकरण किया जा चुका है।

परन्तुक (5) —कोई प्रथा या रुढ़ि, जिसके द्वारा किसी संविदा में अभिव्यक्त रूप से वर्णित न होने वाली प्रसंगतियां उस प्रकार की संविदाओं से प्रायः उपाबद्ध रहती हैं, साबित की जा सकेंगी :

परन्तु यह तब जबकि ऐसी प्रसंगतियों का उपाबंधन संविदा के अभिव्यक्त निबंधनों के विरूद्ध या उनसे असंगत न हो।

परन्तुक (6) —कोई तथ्य, जो यह दर्शित करता है कि किसी दस्तावेज की भाषा वर्तमान तथ्यों से किस प्रकार संबंधित हैं, साबित किया जा सकेगा।

[धारा 92 के नीचे (क) से तक छः दृष्टांत दिए गए हैं]

धारा 91 के अधीन, जब किसी संव्यवहार के निबंधनों को दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध कर लिया गया हो, तब उन्हें दस्तावेज पेश करके साबित किया जा सकेगा जब तक कि द्वितीयिक साक्ष्य की सुनवाई के लिए आधार न दिए गए हों। दूसरे शब्दों में, धारा 91 के अधीन किसी संव्यवहार के निबंधों का 'प्रतिस्थापन' अनुमत्य नहीं है। धारा 92 के अधीन, निबंधनों में किसी प्रकार का फेरफार करना अनुमत्य नहीं है। अतः धारा 92, धारा 91 से न्यायोचित रूप से संबद्ध है।

धारा 92 का लागू होना केवल दस्तावेज के पक्षकारों के लिए सीमित है जबकि धारा 91 सभी व्यक्तियों के लिए लागू होती है चाहे वे दस्तावेज के पक्षकार हैं अथवा नहीं।

इस विषय पर पर्याप्त मात्रा में निर्णय जनित विधि उपलब्ध हैं। सरकार (15वां संस्करण 1999) ने पृष्ठ 1309 से 1405 तक (लगभग 96 पृष्ठों में) धारा 92 के बारे में चर्चा की है। धारा 92 के विभिन्न पहलुओं पर प्रिवी काउंसिल, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के अनेकों निर्णय उपलब्ध हैं।

69वीं रिपोर्ट में विचार किया गया है कि धारा के मुख्य भाग के थोड़े भाग को फिर से प्रारूपित किए जाने की आवश्यकता है। उसमें धारा के प्रारम्भिक भाग तथा अन्तिम भाग के बीच अन्तर के विषय में भी चर्चा की है अर्थात पहले भाग में ऐसी संविदाओं, अनुदानों तथा संपत्ति के अन्य व्ययनों का निर्देश है जो एक या अधिक पक्षकारों के बीच हों; और ऐसे दस्तावेजों के पक्षकारों या उनके हित प्रतिनिधियों के बीच से व्यवहारों का निर्देश करने वाले दस्तावेजों से भिन्न किसी मौखिक करार या कथन के साक्ष्य का निषेध करती है। एक दृष्टिकोण यह है कि बाद वाला भाग भी द्विपक्षीय दस्तावेजों तक ही सीमित है और एकपक्षीय दस्तावेजों के लिए, जैसे (i) अभियुक्त की संस्वीकृति का कथन (ii) साक्षियों के कथन (iii) न्यायालय की अन्य कार्यवाहियां (डिक्रियों के अतिरिक्त); और (iv) कम्पनियों के संकल्प जो लेखबद्ध होने अपेक्षित हों (देखें 69वीं रिपोर्ट का पैरा 43.19), लागू नहीं होता है। जहां तक डिक्री में किसी फेरबदल का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 43.22 में कहा गया है कि यह प्रक्रिया का विषय है साक्ष्य का नहीं। किसी डिक्री में न्यायालय के सिवाय, पक्षकारों द्वारा स्वयं कोई फेरबदल नहीं किया जा सकता। जहां तक निष्पादनकारी न्यायालय का संबंध है, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 21, नियम 2 में फेरबदल की मान्यता की प्रक्रिया का स्पष्ट रूप से कहा गया। इस प्रकार, डिक्रियों की धारा 92 के द्वारा सुरक्षा की आवश्यकता नहीं है।

जहां उपर्युक्त निर्देशित एक पक्षीय दस्तावेज़ों का संबंध है, यह स्पष्ट है कि धारा 92 लागू नहीं होती है और इस प्रकार दस्तावेज से भिन्न मौखिक साक्ष्य अनुज्ञेय है। ऐसा दृष्टिकोण, 69वीं रिपोर्ट के अनुसार स्वीकार नहीं किया जा सकता और इसे इस आशय का उल्लेख करके ठीक किया जा सकेगा कि किसी दस्तावेज में फेरबदल करने वाले किसी मौखिक साक्ष्य का निषेध करने से संबंधित जोड़े जाने वाला उपबंध एकपक्षीय दस्तावजों के लिए भी लागू होना चाहिए।

69वीं रिपोर्ट में विभिन्न न्यायालयों के परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का निर्देश करते हुए अन्तिम रूप में बाई हीरा बाई देवी बनाम ऑफिशियल एसाइनी बम्बई (ए आई आर 1968 सु को 448 मामले में उच्चतम न्यायालय के विचारों का उल्लेख किया गया है। उस मामले में सरकारी समनुदेशिती ने प्रेजीडेन्सी टाउन इन्सालवेंसी एक्ट की धारा 55 के अधीन दिवाला न्यायालय में एक वाद दायर किया जिसमें दिवालिया व्यक्ति द्वारा अपनी पत्नी और पुत्र के पक्ष में निष्पादित किए गए दान विलेख को प्रतिफल के बिना विलेख मानते हुए खारिज किए जाने का अनुरोध किया गया था। यह अभिनिर्धारित किया गया कि अपीलार्थी (पत्नी और पुत्र) यह दर्शाने हेतु मौखिक साक्ष्य देने के लिए स्वतंत्र हैं कि संव्यवहार विलेख के रूप में जिसका साक्ष्य विधमान है, वास्तव में दान नहीं था अपितु सप्रतिफल अन्तरण था और यह कि क्योंकि विवाद संव्यवहार के पक्षकारों के बीच नहीं था अपितु अन्तरणकर्ता की पत्नी और पुत्र तथा तीसरे पक्ष (सरकारी समनुदेशिती) के बीच पड़ा हुआ था इसलिए यह दर्शाने के लिए मौखिक साक्ष्य ग्राह्य है कि विलेख दान नहीं प्रतिफल था और इसलिए यह प्रतिफल का अन्तरण था। उस स्थिति में यह दस्तावेज बैध होगा, सरकारी समनुदेशिती द्वारा जिसका अपहरण नहीं किया जा सकेगा। इसी संदर्भ में, उच्चतम न्यायालय ने कहा कि धारा 92 के बाद वाले भाग में निषेध का प्रावधान दस्तावेज के पक्षकारों के बीच विवाद्य विषयों तक सीमित है न कि दस्तावेज के निबंधनों में फेरबदल करने के बारे में, विवाद दस्तावेज के किसी पक्षकार और गैर पक्षकार (तीसरा पक्ष) के बीच उठने की स्थिति में भी यह उपबंध लागू होगा। इसमें साक्ष्य अधिनियम की धारा 99 का भी निर्देश किया गया जिसमें ऐसे व्यक्तियों को भी दस्तावेज के निबंधनों में फेरबदल करने के बारे में साक्ष्य देने का स्पष्ट अधिकार दिया गया है जो दस्तावेज के पक्षकार नहीं हैं।

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव नहीं दिया गया है कि बाई हीरा बाई मामले में दिए गए निर्णय के प्रभाव को सही करना होगा। इसमें निर्णय का केवल यह दर्शाने के लिए निर्देश किया गया है कि उच्चतम न्यायालय के अनुसार, धारा 92 के पहले और बाद वाले दोनों भाग दस्तावेज के पक्षकारों के बीच हुए संव्यवहारों के लिए लागू होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धारा 92, जैसाकि वर्तमान में है, एकपक्षीय दस्तावेज — (i) अभिव्यक्त की संस्वीकृतियों, (ii) साक्षियों के कथनों; (iii) न्यायालय की कार्यवाहियों (डिक्री और निर्णय से भिन्न); और (iv) कम्पनियों के संकल्पों जब वे लिखित में अपेक्षित हों, के लिए लागू नहीं होती है।

यह बात स्पष्ट है कि ऐसे दस्तावेज, यद्यपि एकपक्षीय हैं, मौखिक साक्ष्य द्वारा इनमें फेरफार करने या उपांतरित करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। सरकार ने (15वां संस्करण, 1899, पृष्ठ 1312 से 1316) बताया है कि उदाहरण के लिए, धारा जैसी इस समय है, किसी अभिसाक्ष्य में बताए गए तथ्यों का, मौखिक साक्ष्य में खंडन किया जा सकता है क्योंकि धारा 92 केवल दस्तावेज के पक्षकारों के बीच के लिए लागू होती है। लेखक ने कहा है कि बयानों का विरोध करने वाले बाह्य साक्ष्यों की ग्राह्यता के बारे में नियम इंग्लैण्ड में अन्यथा प्रतीत होते हैं। वहां भी बाह्य साक्ष्य के अपवर्जन का नियम किसी सिविल या दांडिक कार्यवाही में साक्षी के सांविधिक बयान और किसी जैसी को सांविधिक परीक्षा के लिए लागू होता है और इनमें से किसी का भी बाह्य साक्ष्य द्वारा कोई विरोध या किसी में भी कोई फेर बदल नहीं की जा सकेगी। (फिप्सन 11वां संस्करण, पृष्ठ 780, 15वें संस्करण में फिप्सन ने कहा है (देखें पैरा 42-17) किसी सिविल या दांडिक कार्यवाही में साक्षी के सांविधिक अभिसाक्ष्य के लिए भी यही नियम लागू होता है जिसका बाह्य साक्ष्य द्वारा विरोध नहीं किया जा सकता और न ही उसमें कोई फेरबदल की जा सकती है। (यह नोट किया जाए कि एक ऐसा दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है कि किसी बयान में कोई बात जोड़ने के लिए मौखिक साक्ष्य अनुज्ञेय हो सकता। (देखें लीच बनाम सिम्पसन : 5 एम एण्ड डब्ल्यू 309); [सिडनी बालासम इन्वेस्टमेंट ट्रस्ट लिमिटेड बनाम ई कमियोन एण्ड कम्पनी लि. 1956 (1) क्यू. बी. 529]। (यद्यपि जब साक्षी की अनुपस्थिति में बयान का प्रयोग किया जाएगा तब कोई बात जोड़ने या किसी बात का विरोध करने के लिए बाह्य साक्ष्य देना संभव नहीं हो सकेगा क्योंकि ग्राह्यता संबंधी सांविधिक शर्तें पूरी नहीं होंगी)। पैरा 42-04 में भी अभिसाक्ष्य के बारे में कुछ विचार व्यक्त किए गए हैं कि मौखिक साक्ष्य द्वारा इनमें फेरबदल की जा सकेगी (देखें लीच बनाम सिम्पसन : 5 एम एण्ड डब्ल्यू 309)।

इसलिए, उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, धारा 92 के मुख्य भाग में (क) जहां तक द्विपक्षीय संव्यवहारों का संबंध है, इसको फिर से प्रारूपित किया जाना, और (ख) एकपक्षीय संव्यवहारों में फेरबदल करने के लिए मौखिक साक्ष्य निषिद्ध करने हेतु उपबंध जोड़ा जाना अपेक्षित है। यही सिफारिश 69वीं रिपोर्ट के पैरा 43.18 और 43.20 में की गई है।

धारा 92 के मुख्य भाग के बारे में यह सिफारिश की गई है कि धारा 92 (1) को धारा (1)(क) और (ख) के रूप में विभाजित किया जाए। संविदाओं, अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन का निर्देश करने संबंधी पक्षकारों के बीच के दस्तावेजों को धारा के खंड (क) में किया जाए और खंड (ख) में ऐसे दस्तावेजों का निर्देश किया जाए जिनकी अन्तर्वस्तु का दस्तावेज के रूप में अभिलिखित किया जाना विधि द्वारा अपेक्षित हो। ऐसे विषयों के लिए जिन्हें दस्तावेज का रूप दिया जाना अपेक्षित हो परन्तु जो दो या दो से अधिक पक्षकारों के बीच संव्यवहारों के अन्तर्गत न होते हों, धारा 92(2) जोड़ी जानी चाहिए।

हम, धारा 92 के आरम्भिक पैराग्राफ में संशोधन के बारे में 69वीं रिपोर्ट के पैरा 43.18 में प्रस्तावित प्रारूप की सिफारिश करते हैं। हम आगे यह सिफारिश करते हैं कि कतिपय एकपक्षीय दस्तावेजों में मौखिक साक्ष्य के अपवर्जन के लिए, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 43.20 में दिए गए उपबंध के साथ-साथ निम्नलिखित शब्द जोड़े जाने चाहिए "जैसे अभियुक्त की संस्वीकृतियां, साक्षियों के कथन, निर्णयों, डिक्रियों या आदेशों के अतिरिक्त न्यायालय की कार्यवाहियां, किसी कम्पनी का संकल्प जिसका लिखित में होना अपेक्षित हो"। परन्तु इन्हें धारा 92 की उपधारा (2) में लाने के बजाय, हम सिफारिश करते हैं कि यह सामग्री नई धारा 92क में समाविष्ट की जानी चाहिए।

हम धारा 92 के आरम्भिक पैराग्राफ के लिए संशोधन के निम्नलिखित प्रारूप की और नई धारा 92क के अन्तःस्थापन की सिफारिश करते हैं :

"92. जबकि ऐसी संविदा या अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन के निबन्धनों को, जैसा कि धारा 91 में निर्दिष्ट है, या किसी बात को, जिसके बारे में विधि द्वारा अपेक्षित है कि वह ऐसे दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध की जाए, जिससे दो या दो से अधिक पक्षकारों के बीच कोई संव्यवहार बनता हो, धारा 91 के अनुसार साबित किया जा चुका हो, तब किसी मौखिक करार या कथन का साक्ष्य ग्रहण नहीं किया जाएगा—

(क) ऐसी किसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन के पक्षकारों या उनके हित प्रतिनिधियों के बीच दस्तावेज के निबंधनों का खंडन करने या उनमें फेर बदल करने या उनमें कुछ जोड़ने या घटाने के प्रयोजन के लिए; या

(ख) ऐसे संव्यवहार के पक्षकारों या उनके हित प्रतिनिधियों के बीच दस्तावेज, जिसकी अन्तर्वस्तु को विधि द्वारा दस्तावेज के रूप में अभिलिखित किया जाना अपेक्षित है, के निबंधनों का, यथा स्थिति, खंडन करने या उनमें फेरबदल करने या उनमें कुछ जोड़ने या घटाने के प्रयोजन के लिए।

कतिपय एकपक्षीय दस्तावेजों के मामले में मौखिक साक्ष्य का अपवर्जन

"92क. जबकि कोई बात, जिसके लिए विधि द्वारा अपेक्षित है कि वह दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध की जाए और जिससे पक्षकारों के बीच कोई संव्यवहार न बनता हो, जैसे, किसी अभियुक्त की संस्वीकृति, किसी साक्षी का कथन, न्यायालय की कार्यवाही (निर्णय, डिक्री या आदेश से भिन्न) किसी कम्पनी का संकल्प जिसका लिखित में होना विधि द्वारा अपेक्षित हो, इस प्रकार लेखबद्ध की जाती है और धारा 91 के अनुसार साबित कर दी जाती है, तब दस्तावेज की अन्तर्वस्तु का खंडन करने, उसमें फेर-फार करने या कुछ जोड़ने अथवा घटाने के प्रयोजन से किसी मौखिक कथन का कोई साक्ष्य ग्रहण नहीं किया जाएगा।"

(ख) अब हम धारा 92 के छः परन्तुकों के बारे में विचार करेंगे। 69वीं रिपोर्ट में चर्चा को विभाजित करके पहले पांच परन्तुकों को (क) के अन्तर्गत चर्चा में लिया गया है और छठे परन्तुक को (ख) के अधीन सुविधा के लिए, हम भी इसी प्रक्रिया को अपनाएंगे।

(क) <u>धारा 92 के पहले पांच परन्तुक</u>

(1) जहां तक पहले परन्तुक का संबंध है, इस परन्तुक में किसी ऐसे तथ्य के साबित करने की अनुज्ञा दी गई है जो किसी दस्तावेज को अविधिमान्य बना दे या जो किसी व्यक्ति को तत्संबंधी किसी डिक्री या आदेश का हकदार बना दे, यथा

कपट, अभत्रास, अवैधता सम्यक् निष्पादन का अभाव, किसी संविदाकारी पक्षकार में सामर्थ्य का अभाव, प्रतिफल का अभाव या निष्फलता या विधि की या तथ्य की भूल। इस संबंध में दृष्टांत (ङ) देखा जा सकता है।

जहां तक भूलों का संबंध है, विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1877 की धारा 31 और विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 26 में सुधार के द्वारा भूल को ठीक करने की अनुज्ञा भी दी गई है। तथापि, यह परन्तुक लिखतों में सुधार करने के लिए वादों के लिए ही लागू होने तक सीमित नहीं है **महेन्द्र** बनाम **जोगेन्द्र** 2 सी डब्ल्यू एन 260; **राजाराम** बनाम **मानिक** ए.आई.आर. 1952 नाग. 90। वास्तव में, तथ्य की भूल का प्रतिरक्षा में अभिवचन किया जा सकता है।

एकपक्षीय भूल (जो कपट, विधिक या न्याय न हो) सुधार का आधार नहीं है और इसलिए, यदि साबित हो जाता है, तो इसे अभिकथित करने वाला पक्षकार किसी डिक्री या आदेश में सुधार कराने या दस्तावेज को रद्द कराने का हकदार नहीं होगा (**यूनाइटेड स्टेट** बनाम **मोटर ट्रक्स लिमिटेड** 1924 ए सी 200)। परन्तु जहां भूल सभी पक्षकारों के लिए सामान्य हो, वहां परन्तुक (1) के रूप में, साक्ष्य ग्राह्य होगा (**जनार्दन** बनाम **वेंकटेश** ए.आई.आर. 149)।

किसी व्यक्ति की पहिचान के बारे में भूल, छटे परन्तुक के अन्तर्गत आएगी। सम्पत्ति के बारे में गलत बयानी के लिए, धारा 95 और 97 में पृथक उपबंध किया गया है।

जहां परस्पर भूल या कपट अभिकथित है, वहां सामान्य नियम के रूप में मौखिक साक्ष्य प्राप्त किया जा सकेगा। देखें **रिखीराम** बनाम **घासीराम** ए.आई.आर. 1978 एम.पी. 189।

हम, परन्तुक (1) में किसी प्रकार के संशोधन का सुझाव नहीं देते हैं।

<u>परन्तुक (2)</u> किसी विषय के बारे में, जिसके बारे में दस्तावेज मौन है और जो उसके निबंधनों से असंगत नहीं है किसी पृथक मौखिक करार का अस्तित्व साबित किया जा सकेगा। इस पर विचार करते समय कि यह परन्तुक लागू होता है या नहीं, न्यायालय दस्तावेज की प्रारूपिता की मात्रा को ध्यान में रखेगा।

यहां दृष्टांत (च), (छ) और (ज) सुसंगत हैं। शब्द "जा सकेगा" न्यायालय के विवेकाधिकार को दर्शाता है।

हम परन्तुक (2) में किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

<u>परन्तुक (3)</u> इसमें कहा गया है कि ऐसी किसी संविदा, अनुदान या सम्पत्ति के व्ययन के अधीन कोई बाध्यता संलग्न होने की पुरोभाव्य शर्त गठित करने वाले किसी पृथक मौखिक करार का अस्तित्व साबित किया जा सकेगा।

इस परन्तुक का दृष्टांत (ख) तथा (ञ) द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है।

हम परन्तुक (3) में किसी संशोधन का सुझाव नहीं देते हैं।

<u>परन्तुक (4)</u> इसमें कहा गया है कि ऐसी किसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के व्ययन को विखंडित या उपांतरित करने के लिए किसी सुभिन्न पाश्चिक मौखिक करार का अस्तित्व उन अवस्थाओं के सिवाय किया जा सकेगा, जिसमें विधि द्वारा अपेक्षित है कि ऐसी संविदा अनुदान या संपत्ति का व्ययन लिखित हो अथवा जिनमें दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण के बारे में तत्समय प्रवृत्त विधि के अनुसार उसका रजिस्ट्रीकरण किया जा चुका है।

हम इस परन्तुक में किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं कर रहे हैं।

<u>परन्तुक (5)</u> इसमें कहा गया है कि कोई प्रथा या रूढ़ि, जिसके द्वारा किसी संविदा में अभिव्यक्त रूप से वर्णित न होने वाली प्रसंगतियां उस प्रकार की संविदाओं से प्रायः उपाबद्ध रहती हैं, साबित की जा सकेंगी। इस परन्तुक में कहा गया है कि ऐसी प्रसंगतियां संविदा में अभिव्यक्त निबंधनों के विरुद्ध नहीं होनी चाहिए।

इस परन्तुक के अन्तर्गत नियम सामान्यतया वाणिज्यिक संव्यवहारों के लिए लागू होता है और मूलतया वाणिज्यिक संव्यवहारों के लिए ही सीमित नहीं है।

रूढ़ि के उपयोग द्वारा किसी संविदा से उपाबद्ध प्रसंगतियों से वे चीजें अभिप्रेत हैं जो परम्परागत रूप से प्रसंगति और मौखिक साक्ष्य को सहायक समझी जाती है और ऐसा साक्ष्य यह साबित करने के लिए अनुज्ञेय है कि ऐसी प्रसंगतियाँ उसी संव्यवहार का भाग समझी जाएंगी।

हम परन्तुक (5) में किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

परन्तुक (6) इस परन्तुक में कहा गया है कि कोई तथ्य, जो यह दर्शित करता है कि किसी दस्तावेज की भाषा वर्तमान तथ्यों से किस प्रकार संबंधित है, साबित किया जा सकेगा।

वास्तव में, धारा 93 से 98 तक विशिष्ट परिस्थितियों के बारे में है। यद्यपि ये भी ऐसे प्रश्नों का समाधान करती हैं यह परन्तुक (6) वास्तव में संविदा की व्याख्या के सिद्धान्त का निर्देश करता है।

69वीं रिपोर्ट में परन्तुक (6) के बारे में विस्तार से विचार किया गया है, परन्तु अन्ततः यही कहा गया है (देखें पैरा 43.33) कि परन्तुक में फिर भी, किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

जिस विषय में यह चर्चा की गई है उसके संदर्भ में उच्च न्यायालयों के कतिपय निर्णयों में यह कहा गया है कि यह धारा थोड़ी अस्पष्ट है, (**भारतेंडु बनाम अमृतराव**), मुख्य न्यायाधीश मैकलायड के अनुसार ए.आई.आर. 1925 बम्बई 501। परन्तु आयोग ने यह विचार व्यक्त किया है कि धारा और अधिक स्पष्ट बनाई जा सकती है और वास्तव में, ऐसी आलोचना अधिनियम के बहुत से अन्य उपबंधों के लिए भी लागू होती है। यह विचार व्यक्त किया गया कि परन्तुक (6) के बारे में उपर्युक्त टिप्पणी के बावजूद भी, इसके पीछे निहित सिद्धान्त को देख पाना कठिन नहीं है, अर्थात् कि मौखिक साक्ष्य किसी लिखत के शब्दों और बाह्य वास्तविकता के बीच संबंध स्थापित करने के लिए अनुज्ञेय है। चारों ओर की परिस्थितियों को, जिनके बारे में न्यायालय ध्यान दे सकेगा, गुडीव द्वारा एक लैम्प के रूप में वर्णित किया गया है (साक्ष्य, पृष्ठ 586, बुडरोफ द्वारा उद्धृत) (69वीं रिपोर्ट पैरा 43.33)।

सरकार (15वाँ संस्करण, 1999, पृष्ठ 1395) ने कहा है कि जबकि चारों ओर की परिस्थितियों के साक्ष्य की ग्राह्यता का उद्देश्य पक्षकारों का वास्तविक आशय यह सुनिश्चित करना है कि उक्त आशय दस्तावेज की सीधी भाषा से निकाला जाना चाहिए जैसाकि बाह्य साक्ष्य द्वारा स्पष्ट किया गया हो। परन्तु साथ ही, सीधे अर्थ से अननुरूप किसी आशय का कोई साक्ष्य ग्राह्य नहीं होगा।" व्याख्या का यह नियम इतना सरल नहीं है जितना प्रतीत होता है। और प्रत्येक मामले अन्तर्ग्रस्त संदेव बदलते रहने वाले तथ्यों की दृष्टि से, इसकी निश्चित सीमाएं परिभाषित करना संभव नहीं है" ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्य न्यायाधीश मैकलायड ने एक अन्य मामले में, **गनपतराम बनाम बापू तुकाराम**, ए.आई.आर. 1920 बम्बई 43, कहा है कि परन्तुक (6) न्यायाधीशों के लिए 'निराशा' और वकीलों के लिए 'प्रसन्नता' का विषय है।

राजकुमार बनाम हिमाचल प्रदेश राज्य ए.आई.आर. 1990 सु. को. 1833 मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि यदि प्रयुक्त भाषा अस्पष्ट है और उससे विभिन्न अर्थ निकाले जा सकते हैं तो परन्तुक (6) का अवलम्ब लिया जा सकेगा। परिस्थितियों का मौखिक साक्ष्य स्वीकार करने का उद्देश्य पक्षकारों का वास्तविक आशय जानने में न्यायालय की सहायता करना और इस प्रकार अस्पष्टता से आयी कठिनाई का समाधान करना है। ऐसे मामले में, पक्षकारों का मौखिक आचरण साक्ष्य प्रस्तुत कर सकेगा जिससे अस्पष्टता समाप्त हो जाएगी और पक्षकारों का वास्तविक आशय जाना जा सकेगा।

इस धारा के सिद्धान्त को 'विलों' के लिए भी लागू किया गया है।

परन्तुक (6) से संबंधित सभी पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि परन्तुक को जैसा है वैसा ही रहने दिया जाए।

धारा 93

यह धारा 'संदिग्धार्थ दस्तावेज को स्पष्ट करने या उसका संशोधन करने के साक्ष्य का अपवर्जन' करने के बारे में है। यह धारा तथा धारा 94 से 98 दस्तावेजों की व्याख्या से संबंधित हैं। धारा 93 का पाठ निम्नलिखित है :—

"93. जबकि किसी दस्तावेज की प्रयुक्त भाषा देखते ही संदिग्धार्थ या त्रुटिपूर्ण है, तब उन तथ्यों का साक्ष्य नहीं दिया जा सकेगा, जो उनका अर्थ दर्शित या उसकी त्रुटियों को पूर्ति कर दे"

धारा 93 के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं।

इस धारा का, विलों की संरचना के बारे में भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 74 से 111 तक में अन्तर्विष्ट किसी उपबंध पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है।

धारा 93 में प्रयुक्त भाषा को देखते ही संदिग्धार्थ या त्रुटिपूर्ण होने का निर्देश करती है। यह प्रच्छन्न संदिग्धार्थ से भिन्न 'प्रत्यक्ष संदिग्धार्थ' के रूप में जानी जाती है। प्रच्छन्न संदिग्धार्थ का धारा 95, 96 और 97 में निर्देश हुआ है।

दृष्टांत (क) ऐसे दस्तावेज का निर्देश करता है जिसकी भाषा देखते ही इतनी अस्पष्ट और त्रुटिपूर्ण कि उसका कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता और दृष्टांत (ख) अन्तर्निहित संदिग्धार्थ का निर्देश करता है जिससे आशय के बारे में मात्र अनुमान लगाया जा सकता है।

ठेका अधिनियम की धारा 29 के अधीन, ऐसे करार, जिनका अर्थ निश्चित नहीं है या निश्चित बनाने में सक्षम नहीं है, शून्य हैं।

केशव बनाम लालभाई ए.आई.आर. 1958 सु.को. 512, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि, उचित संरचना पर भी, दस्तावेज में उल्लिखित शर्त अस्पष्ट या अनिश्चित प्रतीत होती हो, तो उक्त साक्ष्य या अस्पष्टता को दूर करने के लिए कोई साक्ष्य ग्रहण नहीं किया जाएगा।

69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया था (देखें पैरा 44.21) कि धारा 93 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम भी इससे सहमत हैं।

धारा 94

यह धारा 'विद्यमान तथ्यों को दस्तावेज के लागू होने के विरुद्ध साक्ष्य के अपवर्जन' का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"94. जबकि दस्तावेज में प्रयुक्त भाषा स्वयं स्पष्ट हो और जब वह विद्यमान तथ्यों को ठीक-ठीक लागू होती है, तब यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य नहीं दिया जा सकेगा कि वह ऐसे तथ्यों को लागू होने के लिए अभिप्रेत नहीं थी।"

यह धारा किसी प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न संदिग्धार्थ का निर्देश नहीं करती है। इसमें कहा गया है कि यदि भाषा स्पष्ट है और विद्यमान तथ्यों के लिए सही रूप में या निश्चित रूप में लागू होती है, जब ऐसे किसी साक्ष्य के लिए अनुमति नहीं दी जाएगी जो यह दर्शाता हो कि पक्षकारों का आशय कुछ और था।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.3 से सहमत हैं कि धारा 94 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 95

इस धारा में 'विद्यमान तथ्यों के संदर्भ में अर्थहीन दस्तावेज के बारे में साक्ष्य' का निर्देश है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"95. जबकि दस्तावेज में प्रयुक्त भाषा स्वयं स्पष्ट हो किन्तु विद्यमान तथ्यों के संबंध में अर्थहीन हो, तो यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य नहीं दिया जा सकेगा कि वह एक विशिष्ट भाव में प्रयुक्त की गई थी।"

धारा 95 के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है जिसका पाठ निम्नलिखित है :

"ख' को 'क' "मेरा कलकत्ते का गृह" विलेख द्वारा बेचता है

'क' का कलकत्ते में कोई गृह नहीं था किन्तु यह प्रतीत होता है कि उसका हावड़ा में एक गृह था जो विलेख के निष्पादन के समय से 'ख' के कब्जे में था।

इन तथ्यों को यह दर्शित करने के लिए साबित किया जा सकेगा कि विलेख का संबंध हावड़ा के गृह से था।

इस धारा में एक विशेष प्रकार का प्रच्छन्न संदिग्धार्थ है जिसका उल्लेख धारा 93 में किया गया है। धारा 96 और 97 भी प्रच्छन्न संदिग्धार्थ से संबंधित हैं। धारा 95 को धारा 97 के साथ पढ़ना होगा जिसमें ऐसी भाषा का निर्देश है जो दो प्रकार के तथ्यों के लिए लागू होती है।

ये तीनों धाराएं-95, 96 और 97 इस कहावत पर आधारित हैं कि त्रुटिपूर्ण वर्णन से दस्तावेज दूषित नहीं हो जाता है।

सर्वेक्षण में संख्या की त्रुटियों को किसी दस्तावेज में दी गई संपत्ति की सीमाओं को ध्यान में रखकर अनदेखा किया जा सकता है।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.4 में कहा गया है कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 96

यह धारा 'उस भाषा को लागू होने के बारे में साक्ष्य जो कई व्यक्तियों में से केवल एक को लागू हो सकती है' का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"96. जबकि तथ्य ऐसे हैं कि प्रयुक्त भाषा कई व्यक्तियों या चीजों में से किसी एक को लागू होने के लिए अभिप्रेत हो सकती थी तथा एक से अधिक को लागू होने के लिए अभिप्रेत नहीं हो सकती थी, तब उन तथ्यों का साक्ष्य दिया जा सकेगा जो यह दर्शित करते हैं कि उन व्यक्तियों या चीजों में से किसको लागू होने के लिए वह आशयित थी।"

धारा 96 के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं।

यह धारा भी प्रच्छन्न संदिग्धार्थ का निर्देश करती है। इसे 'द्वियार्थकता की व्याख्या' कहा जा सकता है।

इस धारा के दृष्टांत (क) और (ख) इस धारा का अभिप्राय: स्पष्ट करते हैं। इनका पाठ निम्नलिखित है :—

(क) 'क', 1000 रु. में 'मेरा सफेद घोडा', 'ख' को बेचने का करार करता है। 'क' के पास दो सफेद घोडे हैं। उन तथ्यों का साक्ष्य दिया जा सकेगा कि उनमें से कौन सा घोडा अभिप्रेत था।"

(ख) 'ख' के साथ 'क' हैदराबाद जाने के लिए करार करता है। यह दर्शित करने वाले तथ्यों का साक्ष्य दिया जा सकेगा कि दक्षिण का हैदराबाद अभिप्रेत था या सिन्ध का हैदराबाद।"

ऐसे प्रश्न उठे हैं कि क्या किसी दस्तावेज में खाली स्थान किसी बाह्य साक्ष्य से भरा जा सकेगा। निर्णीत मामले यह दर्शाते हैं क. यदि दस्तावेज अधूरा है और अपना आशय प्रकट नहीं करता है या अनिवार्य स्थान रिक्त हैं, तब कोई बाह्य साक्ष्य नहीं दिया जा सकेगा (देखे सरकार-15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 1429)

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.6 से सहमत हैं कि इस धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 97

इस धारा में 'तथ्यों के दो संवर्गों में से जिनमें से किसी एक को भी वह भाषा पूरी की पूरी ठीक-ठीक लागू नहीं होती, उनमें से एक की भाषा के लागू होने के बारे में साक्ष्य' का निर्देश है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"97. जबकि प्रयुक्त भाषा भागत: विद्यमान तथ्यों के एक संवर्ग को और भागत: विद्यमान तथ्यों के अन्य संवर्ग को लागू होती है, किन्तु वह पूरी की पूरी दोनों में से किसी एक को भी ठीक-ठीक लागू नहीं होती, तब यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य दिया जा सकेगा कि वह दोनों में से किसी को लागू होने के लिए अभिप्रेत थी"

धारा 97 के नीचे दिए गए दृष्टांत का पाठ निम्नलिखित है :—

"ख" मेरी 'भ' में स्थित 'म' के अधिभोग में भूमि "बेचने का 'क' करार करता है। 'क' के पास 'भ' में स्थित भूमि है, किन्तु वह 'म' के कब्जे में नहीं है तथा उसके पास 'भ' के कब्जे वाली भूमि है किन्तु वह 'भ' में स्थित नहीं है। यह दर्शित करने वाले तथ्यों का साक्ष्य दिया जा सकेगा कि उसका अभिप्राय कौन सी भूमि बेचने का था"

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.10 से सहमति व्यक्त करते हैं कि धारा 97 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 98

यह धारा 'न पढ़ी जाने वाली लिपि आदि के अर्थ के बारे में साक्ष्य' का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है:—

"98. ऐसी लिपि का जो पढ़ी न जा सके या जो सामान्यतया समझी न जा सकती हो, विदेशी, परिभाषिक, स्थानीय और प्रान्तीय शब्द प्रयोग का, संक्षेपाक्षरों का और विशिष्ट भाव में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ दर्शित करने के लिए साक्ष्य दिया जा सकेगा"

धारा 98 के नीचे दिए गए दृष्टांत का पाठ निम्नलिखित है :

"एक मूर्तिकार 'क' मेरी सभी प्रतिमाएं" 'ख' को बेचने का करार करता है। 'क' के पास प्रतिमान और प्रतिमा बनाने के औजार भी हैं। यह दर्शित कराने के लिए कि वह किसे बेचने का अभिप्राय रखता था, साक्ष्य दिया जा सकेगा।"

69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.14 से सहमत हैं, जिसमें कहा गया है कि धारा 98 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 99

यह धारा 'दस्तावेज के निबंधनों में फेरफार करने वाले करार का साक्ष्य कौन ले सकेगा' जैसे प्रश्न के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"99. वे व्यक्ति जो किसी दस्तावेज के पक्षकार या उनके हित प्रतिनिधि नहीं हैं, ऐसे किन्हीं भी तथ्यों का साक्ष्य दे सकेंगे जो दस्तावेज के निबंधनों में फेरफार करने वाले किसी समकालीन करार को दर्शित करने की प्रवृत्ति रखते हों।"

इस धारा के नीचे दृष्टांत दिया गया है, जो इस प्रकार है :

"क" और 'ख' लिखित संविदा करते हैं कि 'क' को कुछ कपास 'ख' बेचेगा जिसके लिए संदाय कपास का परिदान कर दिए जाने पर किया जाएगा। उसी समय में वे एक मौखिक करार करते हैं कि 'क' को तीन मास का प्रत्यय दिया जाएगा। 'क' और 'ख' के बीच यह तथ्य दर्शित नहीं किया जा सकता था, किन्तु यदि यह 'ग' के हित पर प्रभाव डालता है तो यह 'ग' द्वारा दर्शित किया जा सकेगा।"

69वीं रिपोर्ट में तीन पहलुओं पर विचार किया गया है और धारा 99 के लिए तीन संशोधनों का सुझाव दिया गया है। पहला यह कि बाह्य साक्ष्य देना संभव बनाने वाला धारा का भाग वहां लागू होना चाहिए जहां मामले में दोनों पक्षकार दस्तावेज के लिए अपरिचित हों या एक पक्षकार अपरिचित हो। दूसरे, इस धारा में फेरफार करने वाले साक्ष्य की अनुमति दी गई है। दूसरी धाराओं में प्रयुक्त खंडन करने, जोड़ने या घटाने जैसे शब्द इस धारा में भी जोड़े जाने चाहिए। तीसरे, जहां दस्तावेज के तीसरे पक्षकार अन्तर्ग्रस्त हों, वहां इंग्लैण्ड की भांति एक अपवाद की व्यवस्था होनी चाहिए। आयोग ने क्रास ऑन एविडेंस, 1974 पृष्ठ 540 में यह सुझाव स्वीकार कर लिया कि मौखिक साक्ष्य द्वारा खंडन करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए, अपरिचितों को भी, यदि विषय को लेखबद्ध किया जाना विधि द्वारा अपेक्षित हो।

हम उपर्युक्त प्रस्ताव से तथा 69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.27 में दिए गए पुनरीक्षित प्रारूप से, निम्नलिखित थोड़े उपांतरणों के साथ सहमत हैं :

दस्तावेज के निबंधनों के फेरफार करने वाले करार का साक्ष्य कौन ले सकेगा।

99. किसी ऐसे तथ्य का साक्ष्य दिया जा सकेगा जो दस्तावेज के निबंधनों का खंडन करने, उनमें फेरफार करने, जोड़ने या घटाने वाले किसी समकालीन करार को दर्शित करने की प्रवृत्ति रखता हो—

(क) ऐसे व्यक्तियों के बीच जो दस्तावेज के पक्षकार नहीं है या उनके हित प्रतिनिधि नहीं है; या

(ख) ऐसे व्यक्ति जो दस्तावेज के एक पक्षकार या उसका हित प्रतिनिधि है और ऐसे व्यक्ति के बीच, जो पक्षकार या उसका हित प्रतिनिधि नहीं है :

परन्तु यहकि ऐसा कोई साक्ष्य नहीं दिया जा सकेगा जहां कि विषय, विधि के अनुसार, लेखबद्ध किया जाना अपेक्षित है।

दृष्टांत

''क' और 'ख' एक लिखित करार करते है कि 'ख' कुछ कपास बेचेगा, जिसका संदाय परिदान करने पर किया जाएगा, साथ ही वे एक मौखिक करार भी करते हैं कि 'क' को तीन महीने का उधार दिया जाएगा। यह 'क' और 'ख' के बीच दर्शित नहीं किया जा सकेगा परन्तु यह 'ग' द्वारा दर्शित किया जा सकेगा यदि इससे उसके हित को क्षति पहुंचती है''

धारा 100

यह धारा 'भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम के विल संबंधी उपबंधों की व्यावृत्ति' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''100. इस अध्याय की कोई भी बात विल का अर्थ लगाने के भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, (1865 का 10) के किन्हीं उपबंधों पर प्रभाव डालने वाली नहीं समझी जाएगी।''

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि ''भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1865 (1865 का 10)'' शब्दों के स्थान पर 'भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925' शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिए, हम इस सुझाव से सहमत हैं।

धारा 101 से 167

अधिनियम का भाग तीन 'साक्ष्य के पेश किए जाने और उसके प्रभाव' से संबंधित है।

इस भाग में अध्याय सात से अध्याय ग्यारह तक अन्तर्विष्ट हैं। अध्याय सात (सबूत के भार के विषय में) (धारा 101 से 114क तक), अध्याय आठ (विबंधन) (धारा 115 से 117); अध्याय नौ (साक्षियों के विषय में) (धारा 118 से 134); अध्याय दस (साक्षियों की परीक्षा के विषय में) (धारा 135 से 166) और अध्याय ग्यारह (साक्ष्य के अनुचित ग्रहण और अग्रहण के विषय में) (धारा 167)।

हम अध्याय 7 की धारा 101 से आरम्भ करते हैं, जो सबूत के भार से संबंधित है।

धारा 101

इस धारा का शीर्षक है "सबूत का भार"। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"101. जो कोई न्यायालय से यह चाहता है कि वह ऐसे किसी विधिक अधिकार (या दायित्व) के बारे में निर्णय दे, जो उन तथ्यों के अस्तित्व पर निर्भर है, जिन्हें वह प्राख्यात करता है, उसे साबित करना होगा कि उन तथ्यों का अस्तित्व है।"

जब कोई व्यक्ति किसी तथ्य का अस्तित्व साबित करने के लिए आबद्ध है, तब यह कहा जाता है कि उस व्यक्ति पर सबूत का भार है।

धारा 101 के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट के 45वें अध्याय में, आयोग ने धारा 101 पर विचार किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि धारा 101 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। (देखें पैरा 45.18)

परन्तु आयोग ने किसी मामले को स्थापित करने के भार के बारे में सिविल मामलों में प्रभुख सिद्धान्त का निर्देश किया है यथा विधि भार (या सहमत कराने का भार) जो कभी नहीं बदलता और 'साक्षीय भार' जो सुनवाई के दौरान एक पक्ष के दूसरे पक्ष की ओर बदल जाता है। किसी दांडिक मामले में भार सदैव अभियोजन पक्ष पर होता है कि वह यह साबित करे कि अभियुक्त दोषी है। यद्यपि, ऐसी विशेष विधियां भी होंगी जिनमें अभियुक्त से कतिपय तथ्यों को साबित करने की अपेक्षा की गई हो जब कभी अभियोजन पक्ष ने कतिपय अन्य तथ्य साबित किए हों।

ये सिद्धान्त भली-भांति ज्ञात है और मूल है। हम अभिवचनों के आधार पर भार और साक्षीय भार के बारे में निर्णय जनित विधि का निर्देश करना नहीं चाहते हैं। हम इस अध्याय की अन्य धाराओं पर चर्चा करेंगे।

हम 69वीं रिपोर्ट की इस सिफारिश से सहमत हैं कि इस धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 102

यह धारा इस प्रश्न से संबंधित है कि "सबूत का भार किस पर होता है"। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :—

"102. किसी वाद या कार्यवाही में सबूत का भार उस व्यक्ति पर होता है जो असफल हो जाएगा, यदि दोनों में से किसी ओर से भी साक्ष्य न दिया जाए"

धारा 102 के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं।

इस धारा में फिर से मौलिक तथ्य निर्धारित किया गया है और हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं (देखें पैरा 45.19) कि धारा 102 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 103

यह धारा 'विशिष्ट तथ्य के बारे में सबूत के भार से संबंधित है'। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"103. किसी विशिष्ट तथ्य के सबूत का भार उस व्यक्ति पर होता है जो न्यायालय से यह चाहता है कि उसके अस्तित्व में विश्वास करे जब तक कि किसी विधि द्वारा यह उपबंधित न हो कि उस तथ्य के सबूत का भार किसी विशिष्ट व्यक्ति पर होगा।"

इस धारा के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है और उसे (क) के रूप में दिया गया है। [दृष्टांत (ख) जैसा कोई दृष्टांत नहीं दिया गया है] इसमें कहा गया है कि यदि 'क', 'ख' को चोरी के लिए अभियोजित करता है तो 'क' को तथ्य साबित करना होगा। परन्तु यदि 'ख' कहीं अन्यत्र होने का अभिवचन करता है तो उसे यह साबित करना होगा।

इस धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु दृष्टांत से (क) निकाला जा सकता है। तदनुसार, यह सिफारिश की जाती है।

धारा 104

इस धारा में 'साक्ष्य को ग्राह्य बनाने के लिए जो तथ्य साबित किया जाना हो उसे साबित करने का भार' का निर्देश किया गया है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :—

"104. ऐसे तथ्य को साबित करने का भार जिसका साबित किया जाना किसी व्यक्ति को किसी अन्य तथ्य का साक्ष्य देने को समर्थ करने के लिए आवश्यक है, उस व्यक्ति पर है जो ऐसा साक्ष्य देना चाहता है"

धारा 104 के नीचे दो दृष्टांत (क) और (ख) दिए गए हैं। उनका पाठ इस प्रकार है :

"(क) 'ख' द्वारा किए गए मृत्यु कालिक कथन को 'क' साबित करना चाहता है। 'क' को 'ख' की मृत्यु साबित करनी होगी।

(ख) 'क' किसी खोई हुई दस्तावेज की अन्तर्वस्तु को द्वितीयक साक्ष्य द्वारा साबित करना चाहता है।

'क' को यह साबित करना होगा कि दस्तावेज खो गई है।"

69वीं रिपोर्ट में, पैरा 45.22 में यह सिफारिश की गई थी कि धारा 104 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है और हम इस सिफारिश से सहमत हैं।

धारा 105

यह धारा 'यह साबित करने के भार कि अभियुक्त का मामला अपवादों के अन्तर्गत आता है' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"105. जबकि कोई व्यक्ति किसी अपराध का अभियुक्त है तब उन परिस्थितियों के अस्तित्व को साबित करने का भार, जो उस मामले को भारतीय दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) के साधारण अपवादों में से किसी के अन्तर्गत या उसी संहिता के किसी अन्य भाग में, या उस अपराध की परिभाषा करने वाली किसी विधि में, अन्तर्विष्ट किसी विशेष अपवाद या परन्तुक के अन्तर्गत कर देते हैं, उस व्यक्ति पर है और न्यायालय ऐसी परिस्थितियों के अभाव की उपधारणा करेगा।"

धारा 105 के नीचे तीन दृष्टांत दिए गए हैं। उनका पाठ निम्नलिखित है :

(क) हत्या का अभियुक्त 'क' अभिकथित करता है कि वह चित्त विकृति के कारण उस कार्य की प्रकृति को नहीं जानता था। सबूत का भार 'क' पर है।

(ख) हत्या का अभियुक्त 'क' अभिकथित करता है कि वह गंभीर और अचानक प्रकोपन के कारण आत्मनियंत्रण की शक्ति से वंचित हो गया था।

सबूत का भार 'क' पर है।

(ग) भारतीय दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) की धारा 325 उपबंध करती है कि जो कोई उस दशा के सिवाय जिसके लिए धारा 325 में उपबंध है, स्वेच्छाया घोर उपहित करेगा, वह अमुक दंडों से दंडनीय होगा।

'क' पर स्वेच्छा या घोर उपहित करने का, धारा 325 के अधीन आरोप है

इस मामले की धारा 335 के अधीन लाने वाली परिस्थितियों को साबित करने का भार 'क' पर है।

निर्णय जनित विधि में निम्नलिखित सिद्धान्त निर्धारित किए गए हैं :

(1) धारा 105 के अधीन विधि उच्चतम न्यायालय के द्वारा **दाहियाभाई बनाम स्टेट ऑफ गुजरात,** ए.आई.आर. 1964 सु.को. 1563, मामले में दिए गए निर्णय से निश्चित की गई। इस निर्णय में कहा गया है कि अभियुक्त के दोष को साबित करने का भार अभियोजन पक्ष पर है (**बुलमिंगटन बनाम डी.पी.पी.** 1935 ए.सी. 462); (2) परन्तु जहां अभियुक्त यह अभिवचन करता है कि उसके लिए कोई विशिष्ट प्रतिरक्षा खुली है, वहां भार अभियुक्त पर है और वह प्रतिरक्षा में 'अधिसंभावनाओं के अधिक्य' द्वारा साबित कर सकेगा (सिविल मामलों की तरह) और अपनी प्रतिरक्षा में न्यायोचित संदेह से अधिक साबित करने की आवश्यकता नहीं है; (3) वह मौखिक या दस्तावेजी साक्ष्य, उपधारणा या संस्वीकृति या अभियोजन पक्ष के साक्ष्य पर, यदि वह समझदार व्यक्ति होने के परीक्षण पर खरा उतरता है, निर्भर कर सकेगा; (4) अभियुक्त द्वारा इस प्रकार दिया गया साक्ष्य, यद्यपि वह धारा 105 के अधीन अपने भार से मुक्त नहीं हो सकेगा, यदि न्यायाधीश के मस्तिष्क में ऐसा न्यायोचित संदेह पैदा कर देता है कि यह या वह स्वयं अपराध के आवश्यक घटांग हो सकते हैं, उसके लिए इतना ही पर्याप्त होगा। इस स्थिति की **योगेन्द्र मोरारजी** बनाम **स्टेट ऑफ गुजरात,** ए.आई.आर. 1980 सु.को. 60, और **पैरिमासामी** बनाम **स्टेट ऑफ तमलिनाडु** 1996 (6) एस.सी.सी. 457, मामलों में पुनरावृत्ति की गई जहां उपर्युक्त व्यवस्थाओं का अनुसरण किया गया।

दांडिक मामलों में साबित करने के भार के प्रश्न पर पागलपन के अभिवचन के मामलों पर विशेष ध्यान दिया गया है। 69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 46.14 से 46.17) **मैकनाटन मामले** का, (1843) 10 सी. एल. एण्ड एफ. एन. 200, और मामले के तथा पश्चातवर्ती मामलों के आधार पर बनाए गए मैकनाटन नियमों का निर्देश किया गया था।

जबकि इंग्लिश विधि यह है कि पागलपन साबित करने का भार, अधिसंभावनाओं के संतुलन के आधार पर, प्रतिवादी पर रहेगा, 69वीं रिपोर्ट में युनाइटेड स्टेट्स के अधिकांश राज्यों में 'पागलपन न होना' साबित करने का भार अभियोजन पक्ष पर है। इसके समर्थन में, गुल्बैक द्वारा दंड विधि में प्रतिरक्षा के रूप में 'मानसिक अस्वस्थता', पृष्ट 41 के उद्धरण दिया गया है। इसे 1948 में ड्राफ्ट मॉडल पैनल कोड में भी स्वीकार किया गया (देखें ग्रनहट पृष्ट 436)। यही नियम महाद्वीप में भी है [देखें, पीटर क्लार्क, दि इनसैनिटी डिफैन्स इन पैनसिल्वैनिया (फॉल, 1971) 451 टैम्पल ला. क्वार्टरली]। 69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया था (देखें पैरा 46.10) कि अमरीका में आधे राज्यों में न्यायोचित संदेह से परे प्रतिवादी की मानसिक स्वस्थतता साबित करने का भार अभियोजन पक्ष पर रखा गया है जबकि दूसरे आधे राज्यों में (पैनसिल्वैनियका सहित) पागलपन साबित करने का भार प्रतिवादी पर रखा गया है। यह कहा गया है कि हाल की प्रवृत्ति पहले वाले के पक्ष में है (वेहोफेनन मैन्टल डिसार्डर एज ए क्रिमिनल डिफेन्स, 1954, पृष्ट 12-13, 238 और मैकारमिक, साक्ष्य, धारा 321 से उद्धृत करते हुए) **डेविस** बनाम **यूनाइटेड स्टेट्स,** (1959) यू.एस. 469 तथा अन्य मामलों का और **इन रि बबनाशिप** (1970) 397 यू.एस. 358 मामलों का निर्देश किया गया था।

69वीं रिपोर्ट के 46.18 में देखा गया है कि आस्ट्रेलिया में पागलपन साबित करने का भार अभियुक्त पर है और वह अधिसंभावना का संतुलन स्थापित करके ऐसा कर सकता है और **सोडमैन बनाम आर** (1936) 55 सी.एल.आर. 192 (228), मामले में आस्ट्रेलियायी, उच्च न्यायालय के दृष्टिकोण की प्रिवी काउंसिल द्वारा **आर** बनाम **सोडमैन** 1936 (2) ए.एल.एल.ई.आर. 1138 (पीसी), मामले में अभिपुष्टि की गई।

इंग्लिश विधि अभी भी ऐसी ही है—देखें **आर** बनाम **कर्र-ब्रियान्टल** 1943 के.बी. 607; **आर.** बनाम **ग्राऊन** (1971) 55 कि. अप्पे/ रि 478 (सीए); **आर** बनाम **स्वेजलैण्ड :** दि टाइम्स : अप्रैल 15, 1987 (सी.सी.ए.) (देखें फिप्सन, 15वां संस्करण पैरा 4.33)

हम इस विषय पर और साहित्य का निर्देश कर सकेंगे;

(i) पी राबर्ट्स : टेकिंग दी बर्डन ऑफ प्रूफ सीरियसली (1995) क्रिम. . सि. 783 (285-7)

(ii) टी.एच. जोन्स : इन्सेनिटी, आटोमैटिज्म एण्ड दी बर्डन ऑफ प्रूफ ऑन दी एक्यूजड (1995) 111 एल क्यू आर 475

(iii) टी.एच. जोन्स : इन्सेनिटी एण्ड दी बर्डन ऑफ प्रूफ ऑन दी एक्यूजड : प्रोसिडिंग्स ऑफ दी फर्स्ट वर्ल्ड कान्फ्रेन्स ऑन ट्रैन्डस इन क्रिमिनल इन्वैस्टीगेशन एण्ड एवीडेन्स (1997) नामक पुस्तकों में मानवाधिकार संबंधी दृष्टिकोण।

उपर्युक्त लेखों का साक्ष्य संबंधी पुस्तक में निर्देश किया गया है (टैक्सट्स एण्ड मैटिरियल्स) स्ड्रयू चु 1988 (पृष्ठ 42-43)

लेखक ने यह भी कहा है : "कनाडा के उच्चतम न्यायालय के समक्ष विचारार्थ यह विषय आया कि क्या कनाडा की दंड संहिता में उल्लिखित मानसिक स्वस्थता की उपधारणा से कनाडा के चार्टर ऑफ फ्रीडम में गारंटी की गई निर्दोषिता की उपधारणा का उल्लंघन होता है। उच्चतम न्यायालय ने बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि उल्लंघन होता है, परन्तु यह कि चार्टर की धारा 1 के अर्थ के अन्तर्गत अभियुक्त पर विधि भार डालने की एक न्यायोचित सीमा है।

लेखक ने यह भी कहा है (पृष्ट 43) जहां कोई अभियुक्त, जिस पर हत्या करने का आरोप है, अपनी प्रतिरक्षा में पागलपन या उत्तरदायी न होने की बात उठाता है तो यू.के. दंड प्रक्रिया अधिनियम (1964) की धारा 6 अभियोजक को अन्यथा साबित करने के साक्ष्य देने की अनुमति प्रदान करती है। इस स्थिति में सबूत का विधिक भार अभियोजक पर आ जाता है। इसी अधिनियम की धारा 4 किसी प्रतिवादी या अभियोजक द्वारा उठाए गए अयोग्यता के विषय की सुनवाई की अनुमति देती है, जहां यह मामला अभियोजक द्वारा उठाया गया है वहां विषय को साबित करने का विधिक भार अभियोजन पक्ष पर होगा। (आर बनाम **राबर्टसन**) 1968 (1) डब्ल्यू एल आर 1767।

लेखक ने ए. एश्वर्य और एम. ब्लेक 1 (1996) दंड विधि पुनरीक्षा 306 (315) द्वारा इंग्लिश दंड विधि में निर्दोशिता की उपधारणा का निर्देश भी किया है।

फिप्सन (1999, 15वां संस्करण, पैरा 4.07) ने कहा है कि जहां अभियुक्त अपनी प्रतिरक्षा में पागल होने का अभिवचन करता है, वहां पागलपन को साबित करने का भार भी उसी पर होगा। (देखें मैकनाटन का मामला, बुलमिंगटन का मामला, सोडमैन बनाम आर बनाम कर्रब्रिल्ट उपर्युक्त निदेशित)

लेखक ने कहा है (पैरा 4.08) कि ऐसे भी मामले हैं जहां प्रतिरक्षा में पागलपन और उत्तरदायित्व न होने जैसे तर्क दिए जाते हैं (**ब्रेट्टी बनाम ए.जी.** नार्दर्न आयरलैण्ड) 1963 ए.सी. 306 (आटोमेटिज्म)। इस प्रकार, जब प्रतिवादी हत्या के आरोप पर, पागलपन या उत्तरदायी न होने जैसे तर्क देता है तब अभियोजन पक्ष को इनके विपरीत साबित करने के लिए साक्ष्य देने की अनुमति है (आर बनाम **ग्रान्ट**) (1960) क्रिम.एल.आर. 424।

अन्यत्र चाहे जैसी भी स्थिति हो, भारत में वही विधि चली आ रही है जोकि उच्चतम न्यायालय ने दहैयाभाई के मामले में 1964 में निर्धारित की थी और आज भी यह एक स्वस्थ विधि है जैसीकि **पैरियासामी** बनाम **स्टेट ऑफ तमिलनाडु**, 1996 (6) एस.सी.सी. 457 मामले में घोषित की गई। दहैयाभाई के मामले के निर्णय को **स्टेट ऑफ हिमाचल प्रदेश** बनाम ज्ञानचन्द 2001 (6) एस.सी.सी. 71 पृष्ट 83, **लक्ष्मण** बनाम **स्टेट ऑफ कर्नाटक** मामलों में लागू किया गया।

69वीं रिपोर्ट में पागलपन की प्रतिरक्षा के बारे में, एक विशिष्ट उपबंध प्रास्थापित किया गया (देखें पैरा 46.35) जिसमें दहैयाभाई के मामले की विधि को उलटा नहीं गया है अपितु इस बात की फिर से पुष्टि की गई है कि भार अभियुक्त पर है और वह

उससे मुक्त हो सकेगा "यदि किसी ऐसे तथ्य का साक्ष्य है जिससे अभियुक्त के मस्तिष्क के स्वस्थ होने के बारे में न्यायोचित संदेह पैदा होता हो"। परन्तु बाद में पैरा 46.36 में आयोग इससे आगे नहीं बढ़ पाया क्योंकि कुछ तत्कालीन सदस्यों का विचार था कि इस सीमित सी छूट से भी अन्य प्रतिरक्षाओं के मामलों में धारा 105 के कार्य संचालन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

इस मामले का गहराई से अध्ययन करने के पश्चात, हम इस बात से सहमत है कि जहां तक पागलपन जैसी प्रतिरक्षा का संबंध है, कोई और छूट देना वांछनीय नहीं होगा और इसमें किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 106

यह धारा विशेषत : ज्ञात तथ्य को साबित करने के भार के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"106. जबकि कोई तथ्य विशेषत: किसी व्यक्ति के ज्ञान में है, तब उस तथ्य को साबित करने का भार उस पर है"

धारा 106 के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं। ये निम्नलिखित हैं :

(क) जबकि कोई व्यक्ति किसी कार्य को उस आशय से भिन्न किसी आशय से करता है जिसे उस कार्य का स्वरूप और परिस्थितियां इंगित करती हैं, तब उस आशय को साबित करने का भार उस व्यक्ति पर है।

(ख) 'क' पर रेल से बिना टिकट यात्रा करने का आरोप है, यह साबित करने का भार कि उसके पास टिकट था 'क' पर है।

विशेषत: शब्द यह दर्शाता है कि तथ्य जिस व्यक्ति के ज्ञान में है, विधि द्वारा अपेक्षा की जाती है कि वह उस भार से अवमुक्ति प्राप्त करे। उच्चतम न्यायालय ने **शम्भूनाथ** बनाम **स्टेट ऑफ अजमेर** ए.आई.आर. 1956 सु.को. 404 मामले में सावधान किया है कि यह एक ऐसा मामला था जहां अभियुक्त ने बिना भाडा दिए रेलगाडी में द्वितीय श्रेणी में यात्रा की थी, दृष्टांत 'क' के अन्तर्गत धारा की समस्त अन्तर्वस्तु नहीं आ जाती है और न ही दृष्टांत धारा की अन्तर्वस्तु को घटा सकता है और न ही उसका विस्तार कर सकता है। न्यायालय ने बताया है कि दृष्टांत (ख) एक विशेष स्थिति है क्योंकि यह पता लगाना रेलवे के लिए असंभव है कि यात्री ने यात्रा कहां से आरम्भ की थी और उसे कहां पहुंचना था। उच्चतम न्यायालय ने बताया है कि यह धारा किसी हत्या के दोषी अभियुक्त के लिए इस तर्क पर लागू नहीं होगी कि यदि उसने हत्या की है, तो उसे पूरा ज्ञान होगा। इसका आशय यह होगा कि पहले तो यह उपधारित करना होगा कि वह हत्यारा है। यह कोई विशेष मामला होगा। विशेषत: शब्द महत्वपूर्ण है। इस धारा पर 1956 के पश्चात् उच्चतम न्यायालय द्वारा बहुत से मामलों में विचार किया गया है। नवीनतम मामलों, **विशाल** बनाम **वीरासामी** 1991(2) एस.सी.सी. 375; **जवाहरलाल चाडी** बनाम **स्टेट ऑफ जम्मू और कश्मीर** 1993(2) एस.सी.सी. 381; **बलराम** बनाम **स्टेट ऑफ बिहार** 1997 (9)एस.सी.सी. 338; **संजय कुमार बाजपेयी** बनाम **यूनियन ऑफ इन्डिया** 1997 (10) एस.सी.सी. 312। प्रिवी काउंसिल ने **सेनीविरतने** बनाम **आर ए.आई.आर** 1938 पी सी 289 मामले में बताया है कि धारा में निर्दोषिता साबित करने का भार अभियुक्त पर नहीं है।

इंग्लैण्ड में, हाल ही में, अभियुक्त के मौन रहने के अधिकार को क्रिमिनल जस्टिस एण्ड पब्लिक आर्डर एक्ट, 1994 की धारा 34, 36 और 37 द्वारा सीमित कर दिया गया है, जहां यदि संदेहास्पद व्यक्ति या अभियुक्त, कतिपय तथ्य साबित हो जाने के पश्चात् भी, उत्तर नहीं देता है जबकि उससे बोलने की न्यायोचित रूप में अपेक्षा की जाती है, तब न्यायालय ऐसी असफलता से निष्कर्ष निकाल सकेगा जो न्यायोचित प्रतीत हो सकेगा। मुरे बनाम यूके 1996 खंड 22 ई एच एच आर 29 मामले में योरोपीय न्यायालय के निर्णय के, ऐसे निष्कर्ष की अनुमति केवल तभी दी गई जबकि संदेहास्पद व्यक्ति या अभियुक्त को पूछताछ के समय किसी वकील को उपस्थित करने के उसके अधिकार के विषय में उसे बता दिया गया हो। अन्यथा, योरोपीय कन्वेंशन के अनुच्छेद 6 का उल्लंघन हुआ कहा जाएगा। इसके परिणामस्वरूप इन तीनों धाराओं में इस प्रकार के आवश्यक उपबंध को यूथ जस्टिस एण्ड क्रिमिनल एवीडेंस एक्ट, 1999 की धारा 38 द्वारा अन्त:स्थापित करना पड़ा। एक अन्य **कन्ड्रोन** बनाम **यूके** (2001) 31 ई.एच एच आर। मामले में वर्ष 2001 में योरोपीय न्यायालय के समक्ष इस दृष्टिकोण की पुष्टि की गई

परन्तु इसमें संदेहास्पद व्यक्ति/अभियुक्त के उत्तर को तथा उसके अधिवक्ता के परामर्श को निर्देशित किया। देखें **एवरिल बनाम यूके** (2001) 31 ई.एच एच आर (839)।

कोई वकील अपने मुवक्किल को मौन रहने का परामर्श दे सकेगा। यद्यपि वकील का परामर्श गलत था, अभियुक्त को इससे हानि होगी। ब्रिटेन में इस प्रक्रिया की बहुत आलोचना हुई है जिसमें वकील और उसके मुवक्किल से साक्ष्य देने की अपेक्षा की गई है। भारत में इससे संविधान के अनुच्छेद 20(3) में स्वयं को अपराध में फंसाने के विरुद्ध दी गई गारंटी का उल्लंघन होगा। हाल ही में, आस्ट्रेलियायी विधि आयोग ने इंग्लिश संशोधन को स्वीकार करने से इंकार कर दिया है।

मौन रहने के अधिकार के बारे में हाल ही में पेश की गई हमारी रिपोर्ट में (रिपोर्ट सं. 180) इन सभी पहलुओं का निर्देश किया गया है जहां तक यह सिफारिश की गई है कि हमारे देश में मौन रहने के अधिकार को सीमित नहीं किया जा सकता।

आयरिश विधि आयोग ने हाल ही में एक रिपोर्ट दी है (राज्य अधिनियम, 1939-1988 के विरुद्ध अपराधों की पररीक्षा करने के लिए गठित समिति की रिपोर्ट, मई, 2002) और इसमें अध्याय आठ में मौन रहने के अधिकार के बारे में चर्चा की गई है। आयरलैण्ड में न्यायालयों के सामने आ रही विभिन्न कठिनाइयों का उल्लेख, करने के पश्चात, जिनके परिणामस्वरूप मौन रहने का अधिकार सीमित हो गया है, आयोग ने हाल ही के योरोपीय न्यायालय के दो मामलों का निर्देश किया है-**कन्ज्रोन बनाम यूके** (2001) 31 ई.एच एच आर I और **एवरिल बनाम यूके** (2001) 31 ई.एच एच आर (839), और यह अभिनिर्धारित किया है कि पुलिस द्वारा अभियुक्त को अपना वकील बुलाने की सूचना देने की शर्त का अनुपालन न किए जाने के कारण, उपर्युक्त मामलों में अभियुक्त को अवमुक्त करना पड़ा था।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 47.28 से सहमत है कि धारा 106 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 107

यह धारा उस व्यक्ति की मृत्यु साबित करने के भार, जिसका तीस वर्ष के भीतर जीवित होना ज्ञात है के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

> "107. जबकि प्रश्न यह है कि कोई मनुष्य जीवित है या मर गया है और यह दर्शित किया गया है कि वह तीस वर्ष के भीतर जीवित था, तब यह साबित करने का भार कि वह मर गया है उस व्यक्ति पर है, जो उसे प्रतिज्ञात करता है।"

यह धारा चीजों के उसी स्थिति में विद्यमान होने, जिनमें कि वे पहले विद्यमान थीं के सिद्धान्त पर आधारित है, जैसाकि धारा 114 में दृष्टांत (घ) में कहा गया है। जैसाकि 69वीं रिपोर्ट के पैरा 48.5 में और फिप्सन (15वीं संस्करण, 1999) के पैरा 76.18 के निर्देश में कहा गया है कि इंग्लैण्ड में विधि समान हीं है परन्तु विधि की उपधारणा के रूप में नहीं समझी जाती है। 69वीं रिपोर्ट के पैरा 48.6 और 48.7 में बताया गया है कि अवधि को कम करने की आवश्यकता नहीं है। अवधि जितनी लम्बी होगी, उपधारणा उतनी ही दुर्बल हो जाएगी।

यद्यपि, जीवित होने की उपधारणा है, विधि को, मानव जीवन की सामान्य अवधि की दृष्टि से , ऐसी धारणा नहीं करनी चाहिए जो प्रत्यक्षत: असंभव हो। (**स्प्रिग बनाम माओले** 92 ए एम दिस. 698; टेलर्स 2000) (सरकार 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 1555)। 69वीं रिपोर्ट में मैसूर उच्च न्यायालय द्वारा **शंकरप्पा बनाम शिवारूद्राप्पा** ए.आई.आर 1963 मैसूर, 115 मामले में दिए गए निर्णय के धारा 107 को निकालने के सुझाव का निर्देश किया गया था क्योंकि विमानों तथा स्पुतनिकों के इस युग में मृत्यु किसी अज्ञात स्थान पर अज्ञात परिस्थितियों में हो सकती है। आयोग ने पैरा 48.9 में यह विचार व्यक्त किया है कि ऐसा होने पर भी, साधारण मनुष्य के लिए ऐसा विश्वास करना बहुत कठिन है कि कोई व्यक्ति जो पहले जीवित था अब जीवित नहीं है।

परन्तु आयोग ने पैरा 48.10 में, न्यायालय को वहां एक विवेकाधिकार प्रदान करते हुए, जहां न्यायालय को यह प्रतीत होता हो कि संबंधित व्यक्ति दुर्घटनाग्रस्त या किसी आपदाग्रस्त था, धारा में एक परन्तुक जोड़ने की सिफारिश की है। धारा 107 के नीचे परन्तुक का पाठ, जैसा कि पैरा 48.11 में सिफारिश की गई है, निम्नलिखित है :—

"परन्तु यह कि जहां न्यायालय को साक्ष्य से यह प्रतीत होता हो कि संबंधित व्यक्ति उन परिस्थितियों में दुर्घटना या आपदा में अन्तर्ग्रस्त था, जो दुर्घटना या आपदा में उस व्यक्ति की मृत्यु को अत्यंत अधिसंभाव्य बनाती हों, न्यायालय, कारण अभिलिखित करके, यह निर्देश दे सकेगा कि इस धारा के उपबंध लागू नहीं होंगे।"

हम इस संबंध में धारा 107 (तीस वर्ष के भीतर जीवित होना) और धारा 108 (यदि सात वर्ष तक किसी व्यक्ति के बारे में कोई जानकारी प्राप्त न हुई हो, तो उसकी मृत्यु की उपधारणा) के बारे में संयुक्त चर्चा का निर्देश करना चाहेंगे, सरकार के 15वें संस्करण, 1999, के पृष्ठ 1555 पर विद्वान लेखक ने भी 69वीं रिपोर्ट में व्यक्त किए गए विचार जैसा ही विचार व्यक्त किया है:

"यदि कोई व्यक्ति किसी विमान से जाता है और वह विमान अपने गंतव्य स्थल पर पहुंचने के निश्चित समय से बहुत समय पश्चात् भी नहीं पहुंचता है और किसी पर्वत पर या समुद्र में उसके दुर्घटनाग्रस्त होने के कारण उसका कोई अता-पता नहीं चल पाता है, तब क्या सात वर्ष से पूर्व उसकी मृत्यु उपधारित नहीं की जानी चाहिए क्योंकि उसका शरीर नहीं पाया जा सकता था ? यदि आकस्मिक परिस्थितियों में उसका जीवन बच भी गया हो, तो वह अपने संबंधियों या मित्रों को कुछ ही दिनों के भीतर तथ्य से अवगत करा देगा। **ऐसे तथा अन्य विशेष मामलों में विधि को सात वर्ष पूर्व मृत्यु की उपधारणा करने की अनुमति देनी चाहिए और न्यायालय को ऐसा विवेकाधिकार प्राप्त होना चाहिए।**"

वास्तव में, धारा 108 भी धारा 107 का परन्तुक ही है। यह अभिनिर्धारित किया गया है कि एक ही मामले में धारा 107 और 108 दोनों का एक साथ लागू करना उसी प्रकार त्रुटिपूर्ण है, जैसाकि कोई व्यक्ति एक ही समय जीवित और मृतक नहीं हो सकता।

धारा 108, धारा 107 के परन्तुक के रूप में आती है। किसी मामले में जहां परन्तुक (धारा 108) धारा 107 के साथ संलग्न कर दिया जाता है वहां यह धारा लागू नहीं हो सकेगी (**सरोजिनी बनाम शिवजन्दन**, ए.आई.आर. 1956 टीसी 129)।

मलेशियाथी उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि धारा 108 न्यायालय को ऐसा परिस्थितिक साक्ष्य खोजने से नहीं रोकती है कि अमुक व्यक्ति की मृत्यु उसके लापता होने से सात वर्ष की अवधि समाप्त होने से पूर्व ही हो गई थी (**ओसमान बिन बाचित**, रि, 1997 (4) मलायन एल.जे. 445 (मेलाका उच्च न्यायालय)।

यह ठीक है कि जब कोई व्यक्ति किसी हत्या के आरोप की सुनवाई से बचने के लिए न्यायालय से छिपता है, तब धारा 108 की उपधारणा (मृत्यु के बारे में) लागू नहीं होती है, क्योंकि वह अपने संबंधियों से पत्रव्यवहार करेगा (**ईस्ट पंजाब बनाम बच्चन**, ए.आई.आर. 1957 पंजाब 316)।

उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए, हम इससे सहमत हैं कि 69वीं रिपोर्ट के पैरा 48.11 में ऊपर उद्धृत किए गए परन्तुक को धारा, जैसीकि यह इस समय है, के नीचे जोड़ा जाए।

धारा 108

यह धारा 'यह साबित करने के भार कि वह व्यक्ति, जिसके बारे में सात वर्ष से कुछ सुना नहीं गया है, जीवित है' के बारे में है। धारा का पाठ निम्नलिखित है :—

"108. परन्तु जबकि प्रश्न यह है कि क्या कोई मनुष्य जीवित है या मर गया है और यह साबित किया गया है कि उसके बारे में सात वर्ष से उन्होंने कुछ नहीं सुना है, जिन्होंने उसके बारे में यदि वह जीवित होता, तो स्वाभाविकतया सुना होता तब यह साबित करने का भार कि वह जीवित है, उस व्यक्ति पर चला जाता है जो उसे प्रतिज्ञात करता है।"

इस धारा में अन्तर्ग्रस्त सिद्धान्त इंग्लैण्ड में निर्धारित किए गए, ''रि फैनीज ट्रस्ट में'' (1869) एल आर 5 सी.एम. '139, एक सिद्धान्त से' लिया गया है और 69वीं रिपोर्ट (पैरा 49.5) के अनुसार इसे 1603 के विधि के कथन में पाया जा सकता है। सात वर्ष की अवधि का उल्लेख भारतीय दंड संहिता की धारा 494, विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की धारा 27(ज) के अपवाद में और हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13(8) में भी किया गया है। रिपोर्ट के पैरा 49.10 इंग्लिश मामलों का निर्देश किया गया है, जहां कोई महिला ईमानदारी के साथ यह विश्वास करते हुए कि उसके पति की मृत्यु हो गई है, क्योंकि सात वर्ष से उसके बारे में कुछ भी सुना नहीं गया है, दूसरे विवाह के लिए दोषी अभिनिर्धारित नहीं की गई। भारत में भी विधि इसी प्रकार की है क्योंकि भारतीय दंड संहिता की धारा 79 में तथ्य या किसी सद्भावपूर्वक की गई किसी त्रुटि के विरुद्ध प्रतिरक्षा का अधिकार देती है।

धारा 108 के अधीन वास्तविक विवाद 'मृत्यु की तिथि' के बारे में है। प्रिवी काउंसिल ने, लालचन्द बनाम महंत रूपराम, ए.आई.आर. 1926 पी.सी. 4 मामले में 'रि फैनीज ट्रस्ट' मामले का अनुसरण करते हुए कि ऐसी कोई उपधारणा नहीं है कि मृत्यु धारा में निर्दिष्ट सात वर्ष की अवधि समाप्त होने के पश्चात् हुई समझी जाए। उच्चतम न्यायालय ने भी जयालक्ष्मी अम्माल (एन) बनाम आर गोपालाल पाथर, ए.आई.आर. 1995 सु.को. 995 मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि यह प्रश्न कि कोई व्यक्ति जीवित है या किसी अमुक तिथि को मर गया है, सुनवाई की तारीख को, उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर निर्णीत होगा। यहां लालचन्द के मामले में प्रिवी काउंसिल के विचारों का निर्देश करना उपयुक्त होगा :

> ''रि फैनीज ट्रस्ट के मामले में इन शब्दों का अनुसरण करते हुए, यह धारित किया जाता है— संभवतया अस्वाभाविक रूप से नहीं— **जहां गायब हो जाने की अवधि सात वर्ष से अधिक हो जाती है, मृत्यु, जिसकी उपधारणा सात वर्ष की अवधि के भीतर नहीं की जा सकेगी, इस अवधि के समाप्त होने पर आधारित की जा सकेगी। परन्तु यह भी निश्चित नहीं है।** यदि अवधि सात वर्ष से अधिक भी हो जाती है तब भी उपधारणा वही रहेगी। अवधि एक ही है और निरन्तर है । यह कहना सही होगा कि गायब होने की अवधि **सात वर्ष से अधिक** होनी चाहिए, सात वर्ष से कम नहीं।

प्रिवी काउंसिल ने आगे यह विचार व्यक्त किया है कि इंग्लिश विधि, और भारतीय विधि एक समान है—ऐसी कोई उपधारणा नहीं है कि कोई व्यक्ति जिसके बारे में सात वर्ष से कुछ भी नहीं सुना गया है, सात वर्ष बीत जाने पर उसे मृतक समझ लिया जाए।

सरकार ने, तथापि, (देखें 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 1560) विभिन्न उच्च न्यायलयों के बहुत से निर्णयों का जयशंकर बनाम बाई दिवाली, ए.आई.आर. 1920 बम्बई 85 से आरम्भ करते हुए मद्रास, कलकत्ता, पंजाब और हरियाणा तथा राजस्थान के उच्च न्यायालयों के अन्य निर्णयों का निर्देश किया है और बताया है कि सात वर्ष बीत जाने पर, यदि कोई वाद दायर किया जाता है, तो यह उपधारित किया जा सकेगा कि वाद की तारीख को व्यक्ति की मृत्यु हो चुकी थी। परन्तु सरकार ने यह भी कहा है कि ये निर्णय इंग्लिश विधि के विपरीत हैं और प्रिवी काउंसिल का यह कहना कि इंग्लिश विधि और भारतीय विधि एक समान है, सही नहीं है।

इंग्लैण्ड में, तथापि, विधि में कोई परिवर्तन किया गया प्रतीत नहीं होता है (देखें फिप्सन, साक्ष्य, 1999, 15वां संस्करण, पैरा 4.24 और 4.25)। परन्तु यह बताया गया है कि 'मट्रीमोनियल कॉजेज एक्ट, 1973' की धारा 19 में, यह उपबंधित है कि याचिकादाता ऐसी याचिका दे सकता है जिसमें कहा गया हो कि सात वर्ष की अनुपस्थिति के पश्चात् विवाह शून्य हो जाएगा जहां याचिकादाता के पास यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि उस अवधि में दूसरा पक्ष जीवित था। [**थाम्पसन बनाम थाम्पसन**, 1956 (1)ए.एल.एल.ईआर. 603]

भारतीय विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की धारा 27(ज) और हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13(7) में यह उपबंध किया गया है कि यदि सात वर्ष या इससे अधिक अवधि तक व्यक्ति के जीवित होने के बारे में उन लोगों ने कुछ भी नहीं सुना है जो यदि वह जीवित होता तो वे उसके बारे में स्वाभाविकतया सुनते तब यह दूसरे पक्ष के कहने पर विवाह विच्छेद का आधार बन जाता है।

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया है कि धारा 108 की उपधारणा सहायक सिद्ध नहीं हुई है और यह कि पुनर्विवाह के मामले में विवाह की तारीख को मृत्यु की उपधारणा पर विश्वास करना, सात वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् किए गए बीमे के दावे और विलेखी उत्तराधिकार के मामलों में एक पक्षकार को हानि पहुंचती है क्योंकि वह (स्त्री/पुरुष) मृत्यु की निश्चित तारीख बताने में सक्षम नहीं है (देखें पैरा 49.18 और 49.19) । आयोग ने यह सुझाव दिया है कि पैरा 49.20 में बताए गए रूप में धारा 108 फिर से प्रारूपित की जाए जिसमें यह उल्लेख किया जाए कि (क) कि सात वर्ष समाप्त होने के पश्चात् वह जीवित था यह साबित करने का भार उस व्यक्ति पर जाएगा जो उसे प्रतिज्ञात करता है; और (ख) न्यायालय, जहां तक सात वर्ष के पश्चात् की अवधि का संबंध है, यह उपधारणा करेगा कि उस व्यक्ति की मृत्यु हो गई है। अब, जहां तक उपर्युक्त खंड (क) में उल्लिखित पहले प्रस्ताव का संबंध है, इसमें कोई नई बात नहीं है। यह उसका स्पष्टीकरण है जो कुछ धारा 108 में अन्तर्विष्ट है अर्थात् कि साबित करने का भार उस पक्ष पर चला जाता है जो यह कहता है कि वह व्यक्ति जीवित है। परन्तु जहां तक उपर्युक्त खंड (ख) में की गई सिफारिश का संबंध है, इसमें कहा गया है कि न्यायालय ऐसी अवधि के बारे में (अर्थात् सात वर्ष पश्चात्), यह उपधारणा करेगा कि वह व्यक्ति जीवित नहीं है। तब प्रश्न खंड (ख) के बारे में उठता है।

हम सिफारिश करते हैं कि खंड (ख) में, जैसीकि सिफारिश की गई है, निम्नलिखित रूप में उपांतरण किया जाए "यदि उक्त भार से अवयुक्ति नहीं होती है न्यायालय ऐसी अवधि के बारे में सात वर्ष समाप्त होने से आरम्भ करते हुए, यह उपधारणा करेगा कि व्यक्ति की मृत्यु हो गई है।" हम इस उपबंध का प्रारूप बाद में देंगे।

इन शब्दों के जोड़े जाने का कारण इस प्रकार है : धारा 108 में पहले यह कहा गया है कि जब यह साबित कर दिया जाता है कि उसके बारे में सात वर्ष से उन्होंने कुछ नहीं सुना है जिन्होंने उसके बारे में यदि वह जीवित होता तो स्वाभाविकतया सुना होता, तब यह साबित करने का भार कि वह व्यक्ति जीवित है, दूसरे पक्ष पर चला जाता है जो यह कहता है कि सात वर्ष के पश्चात भी वह व्यक्ति जीवित था, और यह कि वह व्यक्ति अपने उस भार से अवमुक्त नहीं होता है जो उस पर आ गया है, तब न्यायलय यह उपधारणा करेगा कि उस अवधि के समाप्त हो जाने पर वह व्यक्ति मर चुका है।

सात वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर मृत्यु की उपधारणा (यदि वह व्यक्ति, जिस पर साबित करने का भार आ गया है, यह साबित नहीं करता कि सात वर्ष की अवधि के पश्चात वह व्यक्ति जीवित है) हमारे विचार में 'रि फैनीज ट्रस्टस् (1970) 5 सी.एच. 139; (1961—1973) ए.एल.एन.ई.आर. 514' मामले में निर्धारित सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। उस मामले में निर्धारित सिद्धान्त कि मृत्यु की तारीख के बारे में कोई उपधारणा नहीं है, **सात वर्ष की अवधि के भीतर** के संदर्भ में था। यह मामले के तथ्यों तथा निर्धारित परिस्थितियों, दोनों से ही स्पष्ट हो जाता है। एक मामले में इच्छा-पत्र लिखने वाले की जनवरी 1861 में मृत्यु हो गई और उसने अपनी एस्टेट अपने भतीजों, भतीजियों के लिए छोड़ी। उसके एक भतीजे के बारे में अगस्त, 1958 से यां इच्छा-पत्र लिखने वाले की मृत्यु के सात महीने पहले से (अर्थात जून, 1860 से) कुछ भी नहीं सुना गया था, जब से उसने अमरीकी नौसेना छोड़ी थी। उसकी मृत्यु की उपधारणा करते हुए संपत्ति के उसके अंश का दावा किया गया। परन्तु न्यायालय यह उपधारणा नहीं करेगा कि वह इच्छा-पत्र लिखने वाले का उत्तराधिकारी था क्योंकि उसके लापता होने और इच्छा-पत्र लिखने वाले की मृत्यु के बीच की अवधि बहुत कम थी और यह उपधारणा की जा सकेगी कि वह जनवरी, 1861 तक जीवित था जब इच्छा-पत्र लिखने वाले की मृत्यु हुई थी। उस मामले में सात वर्ष की अवधि 1867 तक समाप्त होगी और उसके पश्चात ही भतीजे के उत्तराधिकारियों द्वारा दावा किया जा सकेगा परन्तु यह कि यदि उन्होंने यह तर्क दिया हो कि इच्छा-पत्र लिखने वाले के भतीजे की 1867 तक मृत्यु की उपधारणा की गई थी और दूसरे पक्ष को यह साबित करने के लिए बुलाया था कि वे 1867 के पश्चात उसका जीवित होना साबित करें। ऐसा करने में असफल रहने पर 1867 तक उसकी मृत्यु होने की उपधारणा कर ली जाएगी। परन्तु यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि भतीजे की जनवरी, 1861 (इच्छा-पत्र लिखने वाले की मृत्यु की तिथि) से पूर्व मृत्यु हो जाने की उपधारणा नहीं की जा सकेगी और विरोधी पक्ष द्वारा, भतीजे के उत्तराधिकारियों को वंचित रखने के लिए, ऐसा तर्क दिया जाता है, तब यह न्यायालय को स्वीकार्य नहीं होगा। भतीजे के उत्तराधिकारी यह तर्क

दे सकते हैं कि उपधारणा यह है कि भतीजा इच्छा-पत्र लिखने वाले का, जिसकी 1861 में मृत्यु हुई थी, उत्तरजीवी था। स्टीव उल्लोव (एवीडेंस, टैक्सट्स एण्ड मैटिरियलय : 1996, पृष्ट 699) ने टिप्पणी की है :

> "न्यायालय ने प्रत्यक्षत: इस तथ्यात्मक निहितार्थ पर विचार नहीं किया कि वह इच्छा-पत्र लिखने वाले का उत्तरजीवी था।"

वास्तव में, धारा 107 में अन्तर्विष्ट सिद्धान्त को लागू करके (तीस वर्ष के भीतर जीवित दर्शाये गए किसी व्यक्ति के बारे में उस अवधि में उसके जीवित होने की उपधारणा की जाएगी जब तक कि उसके प्रतिकूल साबित न किया जाए) न्यायालय कह सकता था कि यदि भतीजा जून, 1860 से ठीक पहले जीवित था तब यह उपधारणा की जाएगी कि वह कम से कम जनवरी, 1961 में तो जीवित था जब इच्छा-पत्र लिखने वाले की मृत्यु हुई थी—और यह कि वह उस अंश का हकदार हुआ होता जो सात वर्ष के पश्चात और वाद दायर करने से पूर्व मृत्यु की उपधारणा के सिद्धान्त को लागू करके, उसके उत्तराधिकारियों को गया होता (धारा 108 के उपबंधानुसार)।

हम एक बार उसका उल्लेख करेंगे जो 'रि फैनीज ट्रस्टस्' के मामले में कहा गया है :

> "यदि किसी व्यक्ति के बारे में सात वर्ष तक कुछ न सुना गया हो, तो विधि में ऐसी उपधारणा है कि वह मर गया है, परन्तु उस अवधि के भीतर किस समय उसकी मृत्यु हुई यह उपधारणा का विषय नहीं है अपितु साक्ष्य का है और यह साबित करने का भार कि सात वर्ष के भीतर किस विशिष्ट समय उसकी मृत्यु हुई उस व्यक्ति पर है जो उसके प्रतिष्ठान के लिए दावा करता है जिसके लिए तथ्य अनिवार्य है।"

यह सिद्धान्त भतीजे के उत्तराधिकारियों के विरोधियों के लिए लागू होता है।

परन्तु, यह स्पष्ट नहीं है कि ऐसी उपधारणा क्यों नहीं की जानी चाहिए कि जून, 1860 में जीवित व्यक्ति जनवरी, 1861 में भी जीवित था जब तक कि दूसरा पक्ष यह बात साबित नहीं कर देता कि उसकी मृत्यु जनवरी, 1861 से पहले हो गई थी। तथ्यों के बारे में जो भी निर्णय हो, तय यह है कि 'फैनीज ट्रस्टस्' का अनुच्छेद केवल सात वर्ष के भीतर मृत्यु की उपधारणा का निर्देश करता है। यह मामला इस विषय पर ऐसा प्राधिकारवान तथ्य नहीं कि एक बार सात वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर मृत्यु की उपधारणा नहीं की जा सकेगी।

69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित संशोधन में स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा गया है कि एक बार सात वर्ष की अवधि बीत जाने पर व्यक्ति की मृत्यु उपधारित कर दी जानी चाहिए। हमारे विचार में, धारा 108 के अधीन, यदि यह साबित कर दिया जाता है कि व्यक्ति के बारे में सात वर्ष से कुछ भी नहीं सुना गया है और विपक्षी पक्षकार यह नहीं दर्शा पाता है कि व्यक्ति सात वर्ष के पश्चात भी जीवित था, तब सात वर्ष की समाप्ति पर व्यक्ति की मृत्यु की उपधारणा की जा सकेगी। हम यह नहीं कह रहे हैं कि व्यक्ति की मृत्यु सात वर्ष की अवधि के दौरान किसी विशेष तिथि को होने की उपधारणा की जानी चाहिए।

हम प्रिवी काउंसिल द्वारा निर्णीत लालचन्द के मामले की भी समीक्षा करेंगे। उस मामले में, एक महंत ने आवश्यक रूप से कई बार अन्य संक्रामण किया और संपत्तियों को उसके उत्तराधिकारी से वापस लेने की मांग की। वाद दो चरणों में था। यह मामला दूसरे वाद से, जो 30-11-1916 को आरम्भ हुआ था, प्रिवी काउंसिल के सामने आया। महंत ने, जिसने अन्य संक्रामण किया था, 1880 में अपना पदभार संभाला था और उसने 1892 में मढ को वादी को (अपने चेले को) सौंप दिया और साथी चेले के साक्ष्य के अनुसार 27-4-1892 को महंत की मृत्यु हो गई। अन्य संक्रमिति से संपत्ति वापस लेने का वाद—जिसकी सीमा उत्तराधिकार की तारीख से 12 वर्ष थी—16-4-1895 को आरम्भ हुआ। यह तर्क खारिज कर दिया गया कि महंत की मृत्यु 27-4-1892 को हुई थी क्योंकि प्रतिवादी ने ऐसा साक्ष्य दिया था कि महंत को 16-4-95 को वाद दायर किए जाने के बाद, 1895 में जीवित देखा गया था। वाद 27-1-1896 को खारिज कर दिया गया क्योंकि ऐसा कोई सबूत नहीं था चेले के पक्ष में उत्तराधिकार उपलब्ध था। डिक्री की उच्च न्यायालय द्वारा 30-11-1897 को पुष्टि कर दी गई। क्योंकि अपील भी खारिज कर दी गई थी, वादी ने यह धारित किया, जब उसने दूसरा वाद दायर किया, कि यह धारित किया जाना चाहिए कि महंत की

मृत्यु 30-11-1897 तक भी नहीं हुई थी। अन्यथा, उच्च न्यायालय यह अभिनिर्धारित कर सकता था कि वाद हेतुक पैदा हो गया था और उच्च न्यायालय द्वारा अनुतोष मंजूर किया जा सकता था। यह वादी की धारणा थी। (ठीक है, वह अपनी सुविधा के लिए यह भूल गया था कि पहले के वाद में यह पाया गया था कि महंत को अन्तिम बार 1895 में देखा गया था और सात वर्ष की समाप्ति 1902 तक होती)।

वादी ने 19 वर्ष तक प्रतीक्षा की और वाद दायर किए (प्रिवी काउंसिल में अपील की सीमा तक गए), जिनमें यह तर्क दिया गया था कि उच्च न्यायालय द्वारा महंत को 30-11-1897 को जीवित समझा गया था और यह कि, जैसाकि धारा 108 में निर्धारित किया गया है, 30-1-1897 से सात वर्ष तक, महंत के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं था और यह कि उसे 3-11-1904 तक मृतक समझा जाना चाहिए (सात वर्ष की अवधि की समाप्ति) और यह कि वर्तमान वाद 30-11-1916 को ठीक समय में दायर किया गया था। विचारण न्यायाधीश द्वारा वाद को काल वर्जित रूप में खारिज कर दिया गया, उत्तराधिकार आरम्भ होने की तिथि से 12 वर्ष की अवधि बीत जाने के कारण। परन्तु उच्च न्यायालय ने उक्त डिक्री के विपरीत निर्णय देते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादियों द्वारा यह साबित किया जाना चाहिए था कि उच्च न्यायालय के पहले निर्णय की तारीख से अर्थात् 30-11-1897 से सात वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने के बाद जीवित था और यह मानते हुए कि महंत की मृत्यु 1903 तक हो गई थी, 30-11-1896 से तीन वर्ष के लिए अंतःकालीन लाभ मंजूर किया जा सकता था। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि पहले वाद में वादी का यह तर्क कि महंत की मृत्यु 27-4-1892 को हो गई थी, स्वीकार नहीं किया गया था और यह कि यह निष्कर्ष दोनों पक्षों के लिए बाध्यकारी था, यह कि प्रतिवादी ने यह नहीं कहा था कि महंत की मृत्यु 27-4-1892 को हो गई थी और यह कि वादी से दूसरे वाद में अब यह नहीं कहा जा सकेगा कि उसने 16-4-1895 के पहले वाद में यह कहा था कि महंत की मृत्यु 27-4-1892 को हो गई थी और यह कि उसका वाद समय वर्जित था। पहले वाद के परिपक्व बताते हुए इस आधार पर खारिज करना कि ऐसा साक्ष्य दिया गया था कि महंत अप्रैल, 1895 के पश्चात् जीवित था और वर्तमान वाद को समय वर्जित बताकर खारिज करना उत्तेजना में दिया गया निर्णय था। परन्तु, आश्चर्य की बात यह है कि प्रिवी काउंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया था कि वाद 27-4-1892 से, वह तिथि जो वादी ने पहले वाद में महंत की मृत्यु की तिथि बताई थी, यद्यपि यह तिथि पहले वाद में विचारण न्यायालय द्वारा तथा उच्च न्यायालय द्वारा स्वीकार नहीं की गई थी, 12 वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर समय वर्जित था। यह इस संदर्भ में है कि फैनीज ट्रस्ट के मामले का निर्देश किया गया था और उसका अनुसरण किया गया था।

मामले के तथ्यों का अध्ययन करने पर यह देखा जा सकेगा कि पहले वाद को, वादी के इस अभिवचन का अविश्वास करते हुए कि महंत की मृत्यु 1892 में हो गई थी, अपरिपक्व बताकर खारिज कर दिया गया था परन्तु पश्चात्वर्ती वाद को प्रिवी काउंसिल द्वारा समय वर्जित बताकर फिर से खारिज कर दिया गया था क्योंकि वादी ने पहले वाद में यह अभिवचन किया था कि महंत की मृत्यु 1892 में हो गई थी। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि क्योंकि महंत की 1892 में मृत्यु के अभिवचन का पहले वाद में विश्वास नहीं किया गया था और वह निष्कर्ष दोनों पक्षों के लिए बाध्यकारी था और वादी को दूसरे वाद में, उसके पहले वाद में किए गए अभिवचन के आधार पर, वाद से वंचित नहीं किया जा सकेगा। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिवी काउंसिल द्वारा दिये गए कारण सही नहीं हैं। हम, अन्तिम निर्णय के समर्थन में, प्रिवी काउंसिल द्वारा दिए गए कारणों के अतिरिक्त कारण देंगे। परन्तु जो भी हो, लालचन्द के मामले में जो तथ्य निर्धारित किया गया था वह रिफैनीज ट्रस्ट मामले में किए गए अभिनिर्धारण की पुनरावृत्ति मात्र ही है अर्थात् सात वर्ष के भीतर किसी विशिष्ट तिथि को मृत्यु की उपधारणा नहीं की जा सकेगी।

लालचन्द के मामले में, यदि पहला वाद इस आधार पर खारिज किया गया था कि महंत को अन्तिम बार 1895 में जीवित देखा गया था (अप्रैल के पश्चात्) तब 1902 में (अप्रैल के पश्चात) उसकी मृत्यु की उपधारणा की जा सकेगी परन्तु वाद 30-11-1916 को दायर किया गया था। प्रतिवादी यह तर्क दे सकता था। तब वादी पर यह साबित करने का भार था कि 1902 के पश्चात् भी, वह 30-11-1904 तक जीवित रहा था। यह उसने साबित नहीं किया और वाद खारिज किया जाना संभावित हो गया था। इस प्रकार, प्रिवी काउंसिल का निर्णय तथ्यों के आधार पर सही हो सकता है, यद्यपि अन्य कारणों से, वे

यह नहीं कह पाए कि **फैनीज ट्रस्ट** के मामले में यह निर्णय किया गया था, कि सात वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् भी, सात वर्ष की अवधि बीत जाने की तारीख से भी मृत्यु की उपधारणा नहीं की जा सकेगी।

दूसरे शब्दों में, **फैनीज ट्रस्ट** मामले में सिद्धान्त यह था कि किसी व्यक्ति के लापता होने के पहले सात वर्षों में कोई यह नहीं कह सकेगा कि सात वर्ष की अवधि के **भीतर** किसी विशिष्ट तारीख को व्यक्ति को मृतक समझ लिया जाना चाहिए। सिद्धान्त यह नहीं है कि आप सात वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने के बाद भी उसकी मृत्यु की उपधारणा नहीं कर सकते और यह साबित करने का भार दूसरे पक्ष पर नहीं डाल सकते कि सात वर्ष के **पश्चात्** भी वह व्यक्ति जीवित था।

हमने पाया है कि यूनीफार्म प्रोबेट कोड (1972) (पैरा 1-107) (विगमोर 1981 के खंड 9 के पैरा 2531, पृष्ठ 605 में उद्धृत) खंड (3) में निम्नलिखित कहा गया है :

> "(3) कोई व्यक्ति, जो निरन्तर 5 वर्ष से अनुपस्थित है, और इस अवधि में उसके बारे में कुछ भी नहीं सुना गया है, जिसकी अनुपस्थिति के बारे में, पर्याप्त रूप से खोज, बीन और जांच पडताल करने के पश्चात् कोई संतोषपूर्ण स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है, मृतक उपधारित किया जा सकता है जब तक कि यह सुनिश्चित करने के लिए कि उसकी मृत्यु पहले हो चुकी थी, पर्याप्त साक्ष्य न हो।"

यू एस कौड का यह उपबंध इस विषय के संदेह को दूर कर देता है कि मृत्यु, उस पक्षकार द्वारा ना साबित किए जाने के अध्यधीन जो यह कहता है कि सात वर्ष के पश्चात् भी वह जीवित था, निर्धारित अवधि के अन्त में हुई उपधारित की जानी चाहिए। मृत्यु की उपधारणा का न किया जाना निर्धारित अवधि से संबंधित है और इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि कोई यह कहता है कि मृत्यु निर्धारित अवधि के दौरान हुई, तो उसे इस बात को साबित करना होगा। (बीमे के बारे में) अमरीका की विधि में विशिष्ट संविदा खंडों और लम्बी अवधियों का प्रावधान किया जाता है ताकि कोई व्यक्ति अपने विधि सम्मत उत्तराधिकारियों को या मनोनीत व्यक्तियों को बीमा राशि का दावा करने का अधिकारी बनाने के लिए, जानबूझकर लापता न हो जाए। (विगमोर पृष्ठ 613, पैरा 2531 क)।

विगमोर (1981) ने स्पष्ट कहा है (पैरा 2531 पृष्ठ 610) कि उपधारणा का नियम अवधि के अन्त से या उसके पश्चात् केवल मृत्यु के तथ्य के लिए लागू होता है, इस अवधि में मृत्यु के **साक्ष्य** को विनिर्दिष्ट किया जाना जैसी चीज नहीं समझी जानी चाहिए।

अवधि समाप्त होने से पूर्व अवधारणा 'विशिष्ट विषय' के मामलों के लिए सीमित रखी गई है [पैरा 2531 (क) देखें] **दवे** बनाम **ब्रिग्स** : (1878) 97 यू एस 628।

अत: हम इस बात से सहमत हैं कि जिस तिथि से किसी व्यक्ति का कोई अतापता न हो, जैसाकि धारा 108 में कहा गया है, **सात वर्ष समाप्त होने पर उपधारणा की जाएगी** और तब, जैसाकि धारा 108 में उपबंधित है, सात वर्ष के पश्चात् यह साबित करने का भार कि वह व्यक्ति सात वर्ष के पश्चात् भी जीवित था उस व्यक्ति पर चला जाएगा जो यह बात साबित करना चाहता है। यदि इस भार से अवमुक्ति नहीं हो पाती है, तो सात वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर मृत्यु की उपधारणा की जानी चाहिए। यह बात भी स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि यदि कोई व्यक्ति ऐसा तर्क देता है कि जिस व्यक्ति के बारे में कुछ अतापता नहीं था उसकी सात वर्ष के भीतर किसी विशिष्ट तिथि को मृत्यु हुई थी, जैसाकि **रि फैनीज** ट्रस्ट और लालचन्द के मामले में कहा गया है यह साबित करने का भार उस व्यक्ति पर ही होगा जिसने ऐसा कुछ कहा है।

हम 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित नई धारा 108 का और उसमें कुछ और शब्द जोड़ने के अपने सुझाव का पहले ही निर्देश कर चुके हैं। उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए प्रस्तावित धारा के लिए एक और स्पष्टीकरण की आवश्यकता पड़ेगी कि सात वर्ष की अवधि के दौरान मृत्यु की कोई उपधारणा नहीं की जाएगी।

69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 108 के प्रारूप को निम्नलिखित रूप में आंतरित करने की सिफारिश की गई है :

यह साबित करने का भार कि वह व्यक्ति, जिसके बारे में सात वर्ष से कुछ सुना नहीं गया है, जीवित है

"**108.** धारा 107 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, जहां प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति जीवित है या मर गया है या किसी विशिष्ट समय जीवित था या मर गया था, और यह साबित कर दिया जाता है कि सात वर्ष या अधिक समय से उसके बारे में उन्होंने कुछ नहीं सुना है, जिन्होंने उसके बारे में यदि वह जीवित होता तो स्वाभाविकतया सुना होता, तब यह साबित करने का भार कि सात वर्ष की अवधि समाप्त होने के पश्चात् किसी समय वह जीवित था उस व्यक्ति पर होगा जो उसे प्रतिज्ञात करता है और यदि भार से अवमुक्ति नहीं होती है, तो न्यायालय, ऐसी अवधि के बारे में सात वर्ष की अवधि समाप्त होने के समय से आरम्भ करते हुए, उपधारणा करेगा कि व्यक्ति मर गया था।

स्पष्टीकरण—यदि ऐसा कोई प्रश्न उठता है कि व्यक्ति की मृत्यु उपर्युक्त सात वर्ष की अवधि के दौरान किसी विशिष्ट तारीख को हुई तब यह साबित करने का भार कि उसकी मृत्यु उस अवधि के दौरान ऐसी तारीख को हुई उस व्यक्ति पर होगा जो उसे प्रतिज्ञान करता है और इस धारा में निर्देशित की गई उपधारणा लागू नहीं होगी।"

धारा 108क (69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित रूप में)

यह धारा किसी एक घोर आपत्ति में, जैसे दुर्घटना, डूबना, विमान दुर्घटना, युद्ध, भूचाल या ऐसी अन्य बहुत से व्यक्तियों की मृत्यु की उपधारणा के बारे में है।

इस पहलू पर न्यायालयों तथा टीकाकारों ने धारा 108 के भाग के रूप में विचार किया है। हम इस बात से सहमत हैं कि प्रस्तावित धारा 108क जैसी एक पृथक धारा होनी चाहिए जिसमें ऐसे मामलों में उपधारणा का निर्देश हो।

यहां सुसंगत उपधारणा को उत्तरजीविता की उपधारणा कहा गया है। जब उपर्युक्त जैसी किसी घोर आपत्ति में एक से अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है, तब यह साबित करना कठिन है कि किसकी मृत्यु पहले हुई। मृत्यु का क्रम उत्तराधिकार के मामलों में सुसंगत होगा।

भारत में, आयु या लिंग के आधार पर उत्तरजीविता की कोई उपधारणा नहीं की जाती है और इस संबंध में कोई विधायी अधिनियमिति ही है। (देखें **के.एस. आगा मीर मोहम्मद बनाम मुदास्सिरशाह**, ए.आई.आर. 1944 पी.सी. 100)। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धरा 21 में यह उपबंधित है कि जब तक कि विपरीत साबित न किया जाए, यह उपधारित किया जाएगा कि ऐसी परिस्थितियों में कि बड़े के स्थान पर छोटा व्यक्ति उत्तरजीवी है। यह धारा हिन्दूओं के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के उत्तराधिकार के लिए लागू नहीं होती है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 21 का पाठ निम्नलिखित हैं :

"**धारा 21.** एक साथ मृत्यु के मामलों में उपधारणा : जब दो व्यक्ति ऐसी परिस्थितियों में मरे हैं जिनमें यह अनिश्चित है कि क्या उनमें से कोई, और यदि हो तो, कौनसा दूसरे का उत्तरजीवी रहा, तब, जब तक कि विरुद्ध सिद्ध न हो, संपत्ति के उत्तराधिकार संबंधी सभी प्रयोजनों के लिए, यह उपधारणा की जाएगी कि कम आयु वाला अधिक आयु वाले का उत्तरजीवी रहा।"

धारा 21 वसीयती या बिना मृत्युलेख के उत्तराधिकार के लिए लागू होती है (**इन रि महाबीर सिंह** : ए.आई.आर. 1963 पंजाब 66)

इंग्लैण्ड में लॉ ऑफ प्रापर्टी एक्ट, 1925 की धारा 184, जिसका पाठ निम्नलिखित है, सम्पत्ति पर हक के बारे में है :

"**184.** सभी मामलों में जहां, इस अधिनियम के प्रवर्तन के पश्चात्, दो या अधिक व्यक्ति ऐसी-ऐसी परिस्थितियों में मरे हैं जिनमें यह अनिश्चित है कि कौनसा किसका उत्तरजीवी है, ऐसी मृत्यु (न्यायालय के आदेश के अध्यधीन)

संपत्ति के हक से संबंधित सभी प्रयोजनों के लिए, वरिष्ठता के क्रम में हुई समझी जाएगी और तदनुसार कम आयु वाले को बड़े का उत्तरजीवी समझा जाएगा।''

''न्यायालय के आदेश के अध्यधीन'' शब्द खंडन की अनुमति देने वाले आदेश का निर्देश करते हैं (69वीं रिपोर्ट का पैरा 50.11, पाद टिप्पण 5)। तथापि, देखें एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ एस्टेट्स एक्ट, 1925 की धारा 46(3), इन्टैस्टेटस् एस्टेट्स एक्ट, 1952 की धारा 1(4) के साथ, (बिना मृत्युलेख की परिसम्पत्ति का निपटान करते समय, जहां पति और पत्नी की ऐसी परिस्थितियों में मृत्यु हुई है जहां यह मृत्युलेख लिखे पहला मृतक समझा जाएगा) यह उपबंध 69वीं रिपोर्ट के पैरा 50.12 में पूरी तरह से उद्धृत किया गया है :

> ''धारा 46(3). जहां निर्वसीयती और निर्वसीयती के पति या पत्नी की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में हुई हो जिनमें यह अनिश्चित है कि उनमें से कौन उत्तरजीवी है, और निर्वसीयती की पति या पत्नी लॉ ऑफ प्रोपर्टी एक्ट, 1925 की धारा 184 के अनुसार, निर्वसीयती के उत्तरजीवी समझे जाते हैं, तो भी यह धारा निर्वसीयती के लिए प्रभावी समझी जाएगी कि पति और पत्नी निर्वसीयती के उत्तरजीवी नहीं रहे हैं।''

इस सिद्धान्त में ऐसा प्रतीत होता है कि यदि कोई निर्वसीयती, (पुरूष या स्त्री) अपनी पत्नी/पति के साथ किसी महान आपदा में मर जाता है; वहां यह उपधारित किया जाएगा कि पति/पत्नी उनके अतिरिक्त, जिनका उत्तराधिकार प्रश्नाधीन है, की मृत्यु पहले हो चुकी है और इस प्रकार केवल निर्वसीयती के उत्तराधिकारियों को ही निर्वसीयती का उत्तराधिकारी होना अनुज्ञेय होगा ताकि निर्वसीयती की सम्पत्ति दूसरे पति/पत्नी में से दूसरे के, किसी अन्य उत्तराधिकारी को नहीं जाएगी, जिसकी मृत्यु उसी आपदा में हो चुकी है।

हिकमैन बनाम पीसे 1945 ए सी 314 मामले में हाऊस ऑफ लार्डस् ने यह अभिनिर्धारित किया कि चार व्यक्तियों के बारे में, जिनकी बम विस्फोट में मृत्यु हो गई थी, यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि जो व्यक्ति दूसरे से आयु में बड़ा था उसकी मृत्यु हो गई है। यह सिद्धान्त सामान्य आपत्तियों के लिए भी लागू किया गया था।

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 50.19) उस घटना के बारे में एक रोचक चर्चा हुई है जो 1872 में साक्ष्य अधिनियम, 1872 के प्रयोजनों के लिए विधेयक तैयार करते समय घटित हुई थी। एक सामान्य धारा में, जो अब धारा 103 के रूप में ज्ञात है, जो विधेयक का खंड 95 थी, एक दृष्टांत अन्तर्विष्ट था उसे अधिनियम पारित होने के समय छोड़ दिया गया और वह दृष्टांत इस प्रश्न से संबंधित था। यह इस प्रकार था—'क' और 'ख' पति और पत्नी एक दुर्घटना में दोनों डूब गए। 'ग' सम्पत्ति का हकदार है यदि 'ख' उत्तरजीवी है जबकि 'घ' उस सम्पत्ति का हकदार है यदि 'क' उत्तरजीवी है। यदि 'ग' सम्पत्ति का दावा करता है तब उसे 'क' की उत्तरजीविता को साबित करना होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि मेजर अल्फ्रेड विलकिन्सन, पदेन डिप्टी कमीश्नर, लखनऊ ने इस आधार पर दृष्टांत का विरोध किया कि यदि 'क' और 'ख' की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति 'घ' के कब्जे में है तब 'क' द्वारा दायर किए गए वाद में 'घ' जीत जाएगा, इस प्रकार 'घ' द्वारा दायर किए गए वाद में सम्पत्ति 'ग' के कब्जे में है तो 'ग' जीत जाएगा।

> ''दिए गए दृष्टांत में, यह साबित करना असंभव प्रतीत होता है कि 'क' की मृत्यु पहले हुई या 'ख' की, इस प्रकार, यदि सम्पत्ति के लिए 'ग' 'घ' पर दावा करता है, तो 'घ' जीत जाएगा और या 'घ' दावा करता है तो 'ग' जीत जाएगा; **प्रभाव यह होगा कि जो भी पहले सम्पत्ति पर कब्जा कर लेगा वही उसे प्राप्त कर सकेगा।** परन्तु यदि सम्पत्ति 'ङ' के कब्जे में थी ('क' का निष्पादक) वह 'ङ' इसे धारित कर सकेगा, यद्यपि यह स्पष्ट रूप से 'ग' या 'घ' की थी, जिनमें से कोई डिक्री प्राप्त नहीं कर सकेगा।''

धारा 103 के बारे में कठिनाई यह है कि इसमें यह अपेक्षा की गई है कि जो व्यक्ति किसी तथ्य का उल्लेख करेगा वही उसे साबित करेगा। परन्तु यदि यह निश्चित करना असंभव हो कि, वहां ऐसी विपत्ति में एक से अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हुई हो, कि किसकी मृत्यु पहले हुई—जो भी वादी होगा वह असफल हो जाएगा क्योंकि यह साबित करना उसके लिए असंभव हो

जाएगा कि जिस व्यक्ति का वह उत्तराधिकारी है, उसकी मृत्यु पहले हुई है। इसलिए, 69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया है कि धारा 103 की कठिनाई को तभी दूर किया जा सकता है जब इंग्लैण्ड के लॉ ऑफ प्रोपर्टी एक्ट, 1925 की धारा 184 के अधीन उपधारणा करने के लिए भारतीय विधि में भी ऐसा ही उपबंध किया जाए और इसके साथ-साथ एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ एस्टेटस् एक्ट, 1925 की धारा 46(3)(इंस्टेटस् एस्टेट्स एक्ट, 1925 में लाई गई) में निर्दिष्ट उपबंध की भांति एक और उपबंध भी किया जाए। यह बात नोट की जानी चाहिए कि जबकि इंग्लिश एक्ट की धारा 184 में उपधारणा करने की व्यवस्था है, दूसरे इंग्लिश एक्ट की धारा 46(3) में पति/पत्नी में से दूसरे को पहले मृतक समझा जाता है, इसमें कोई ऐसी उपधारणा नहीं की जा सकती है कि पति/पत्नी में से एक की मृत्यु पहले ही हो चुकी है।

इसका कारण यह था कि अधिकांश मामलों में पत्नियां आयु में कम होती है और धारा 184 के अधीन उन सभी को उत्तरजीवी समझा जाएगा। पति और पति की सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों को नहीं जाएगी। ऐसा स्पष्टीकरण 69वीं रिपोर्ट के पैरा 50.13 में दिया गया है। ब्रिटेन में यह महसूस किया गया था कि इससे पत्नी के परिवारों को सहायता मिलेगी यदि पति की ऐस्टेट सहित सारी संपत्ति मिल जाती है, जो उसके उत्तराधिकारियों को; उसकी मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होगी और यह कि इसलिए यह ठीक नहीं था।

अब लॉ ऑफ प्रोपर्टी एक्ट, 1925 की धारा 184 (पहले ही उद्धृत की जा चुकी है) साधारण है और इसमें ऐसी उपधारणा करने की व्यवस्था है कि व्यक्तियों में से बड़े की मृत्यु पहले हुई समझी जाएगी। जहां तक एक ही आपदा में हुई पति और पत्नी की मृत्यु के मामले में इस नियम के उपांतरण का संबंध है, इस विचार को ध्यान में रखते हुए कि किसी एक के विधिक उत्तराधिकार से वंचित न हो, यह उपबंध किया गया है कि पति और पत्नी की मृत्यु साथ-साथ होने के मामले में यह समझा जाएगा कि "पति या पत्नी (निर्वसीयती के) निर्वसीयती के उत्तरजीवी नहीं थे।"

69वीं रिपोर्ट के पैरा 50.13 में यह स्पष्ट किया गया था कि उस स्थिति में धारा 184 लागू नहीं होगी और निर्वसीयती का, जिसका एस्टेट प्रश्नाधीन है, पति/पत्नी कोई भी जीवित नहीं बचा है (अर्थात धारा में कहा गया है कि पति/पत्नी में से कोई भी एक निर्वसीयती का उत्तरजीवी नहीं रहा)।

69वीं रिपोर्ट में, उपधारणाओं के बारे में उपर्युक्त सिद्धान्तों को नई धारा 108क अन्तःस्थापित करके अन्तर्विष्ट करने का विचार किया गया था। हम उसको उद्धृत करेंगे परन्तु हमें उपबंध के बाद वाले भाग के बारे में, जो पति और पत्नी की मृत्यु से संबंधित है, एक छोटी सी टिप्पणी करनी है। यदि पति के विधिक उत्तराधिकारी के रूप में किसी व्यक्ति द्वारा दावा किया जाता है, प्रस्ताव यह है कि—जैसाकि (यूके) एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ एस्टेट एक्ट, 1925 (1952 में संशोधित रूप में) की धारा 46(3) के अधीन, उत्तराधिकार इस प्रकार समझा जाना चाहिए कि जैसे पत्नी की मृत्यु पहले हुई (या इसके विपरीत)। परन्तु, उपर्युक्त उदाहरण में, यदि पति के अन्य दावेदारों के साथ एक उत्तराधिकारी भी है तब क्या उसे संपत्ति में अंश का हकदार नहीं समझा जाएगा और क्या उसके उत्तराधिकारी को उसके अंश का दावा करने के अधिकार से वंचित रखा जाएगा।

उदाहरण के लिए, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अधीन यदि किसी पुरूष की, निर्वसीयती, मृत्यु हो जाती है तो श्रेणी-1 में उसके उत्तराधिकारी, उसकी पत्नी, माता, पुत्र और पुत्रियां होंगे। अब हम यह कल्पना करते हैं कि पुरुष और उसकी पत्नी की एक ही दुर्घटना में मृत्यु हो गई। अब दावा, यदि यह पुरुष की सम्पदा से संबंधित है, तो यह समझा जाएगा (इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि यहां कोई उपधारणा नहीं की जा रही है) कि उसकी पत्नी की मृत्यु उससे पहले हुई और उसे अन्य उत्तराधिकारियों के साथ उसका अपना भाग भी नहीं मिलेगा। इसलिए, यहां एक और ऐसे अपवाद की व्यवस्था करना न्यायोचित होगा कि यदि वह (पत्नी) भी अपने मृतक पति की संपदा की उत्तराधिकारी है तब उसके अंश का भाग, जो उसे यदि वह पति की उत्तरजीवी होती, तब मिलता, पहले उसके हिस्से में आएगा और उस भाग के बराबर तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारी उसके हकदार होंगे। इसका कारण यह है कि जब विधि द्वारा, अनिश्चितता के मामले में, किसी निश्चित को अन्तः स्थापित करने की अपेक्षा की जाती है, और किसी बात से ऐसी कोई उपधारणा नहीं बनती है—कि निर्वसीयती के पति/पत्नी में से किसी एक की पहले मृत्यु हो गई है, तब हम पत्नी को उसके अंश से, और तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों

को उसके अंश से वंचित नहीं कर सकते यदि वह उस अंश की हकदार थी। इसका यह अर्थ नहीं है कि समस्त संपत्ति, जो प्रश्नाधीन है, उसके अतिरिक्त दूसरे पति/पत्नी को चली जाएगी।

69वीं रिपोर्ट में न्यू लॉ जरनल (यूके)(खंड 119) में प्रकाशित एक लेखक का और आस्ट्रेलियन लॉ जरनल, खंड 36, पृष्ठ 193 (1962) का निर्देश किया गया है।

अमरीका में, उपधारणा के साक्षीय नियम के बजाए, विधि द्वारा सम्पत्ति के विभाजन के लिए नए नियम निर्धारित किए गए हैं [देखें खंड IX, विगमोर, 2532(क), पृष्ठ 622-623]। यह 1940 में पारित हुए और 1953 में नेशनल कान्फ्रेंस ऑफ कमीशन से आन यूनिफार्म स्टेट लॉज द्वारा संशोधित किए गए यूनिफोर्म साइमलटेनियस डेथस् एक्ट में अन्तर्विष्ट है। अधिनियम की योजना और उद्देश्य तथा इसे स्वीकार करने के कारणों का एक स्पष्ट कथन कमीश्नरों की प्रस्तावना टिप्पण में दिया गया है। अधिनियम का पाठ (जैसा कि विगमोर में पृष्ठ 622-623 पर उद्धृत किया गया है) निम्नलिखित है :

> "उत्तरजीविता का पर्याप्त साक्ष्य न होना : जहां सम्पत्ति के हक या उसका न्यागत होना मृत्यु की प्राथमिकता पर निर्भर करता हो और इस बात का पर्याप्त सबूत न हो कि व्यक्तियों की मृत्यु साथ-साथ न होकर अन्यथा हुई है, वहां प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति का निपटारा इस प्रकार किया जाएगा जैसे कि वह उत्तरजीवी था, जब तक कि इस अधिनियम में अन्यथा उपबंधित न हो।"

यू.एस. अधिनियम की धारा 2 में जिसमें लाभार्थियों के बीच के लिए नियम विहित किए गए हैं धारा 3 में संयुक्त अभिनिर्धारित या पूर्ण अधिधारियों के बारे में नियम विहित किए गए हैं। धारा 4, पति और पत्नी की सामुदायिक संपत्ति के बारे में है, धारा 5, बीमा पॉलिसियों से संबंधित है। धारा 6, बिलों, विद्यमान ट्रस्टों, न्यासों, विलेखों, बीमे की संविदाओं में विशिष्ट उपबंधों को स्वीकार करती है। धारा 4, पति और पत्नी की, जिनकी किसी आपदा में मृत्यु हो गई थी, साभुदयिक संपत्ति का, पति और पत्नी के उत्तराधिकारियों के बीच समान स्तर से विभाजन करने का उपबंध करती है।

69वीं रिपोर्ट में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 21 को निरसित करने का और धारा 108क (देखें पैरा 50.26) निम्नलिखित रूप में अन्तःस्थापित करने का प्रस्ताव किया गया है :

> "108क. साथ-साथ होने वाली मृत्यु के मामले में उपधारणा : जहां, दो या अधिक व्यक्तियों की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में हुई है जिसमें यह अनिश्चित है कि कौन किसका उत्तरजीवी है, वहां ऐसी मृत्यु, सभी प्रयोजनों से, आयु की वरिष्ठता के क्रम में हुई उपधारित की जाएगी और तदनुसार छोटे को बड़े का उत्तरजीवी समझा जाएगा।"
>
> परन्तु यह कि जहां निर्वसीयती या वसीयती हक का प्रश्न उठता है जिसमें यह अनिश्चित है कि कौन किसका उत्तरजीवी है, और इस धारा में उपबंधित द्वारा पति या पत्नी निर्वसीयती या वसीयती समझे जाते हैं, तब उत्तराधिकार विधि, निर्वसीयती या वसीयती के बारे में इस प्रकार से प्रभावी होगी जैसेकि पति या पत्नी निर्वसीयती या वसीयती के उत्तरजीवी नहीं थे।

हम इस सिफारिश को कुछ उपांतरणों के साथ सहमति व्यक्त करते हैं और निम्नलिखित रूप में नई धारा 108क अन्तःस्थापित करने की सिफारिश करते हैं :

<u>साथ-साथ होने वाली मृत्यु के बारे में उपधारणा</u>

> "108क. : (1) उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, जहां, दो या अधिक व्यक्तियों की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में हुई है जिसमें यह अनिश्चित है कि कौन किसका उत्तरजीवी है, ऐसी मृत्यु, सभी प्रयोजनों से, आयु की वरिष्ठता के क्रम में हुई समझी जाएगी और जब तक कि विपरीत प्रमाणित न किया जाए, छोटे को बड़े का उत्तरजीवी समझा जाएगा।

(2) ऐसे मामले में जहां पति और पत्नी की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में हुई हो जिसमें यह अनिश्चित हो कि उनमें से कौन उत्तरजीवी है और

(क) जहां मृतक पति/पत्नी की संपत्ति के निर्वसीयती या वसीयती उत्तराधिकार के हक का प्रश्न उठता हो; और

(ख) पति/पत्नी को, उपधारा (1) में उपबंधित के अनुसार दोनों में से आयु में छोटा होने के नाते, निर्वसीयती या वसीयती उत्तरजीवी उपधारित किया जाता हो, /

वहां उत्तराधिकार चाहे निर्वसीयती हो या वसीयत के अधीन निर्वसीयती या वसीयत के बारे में इस प्रकार से प्रभावी होगा कि अल्पायु वाले पति/पत्नी की निर्वसीयती या वसीयती से पहले मृत्यु हुई है।

परन्तु यह कि जहां छोटी आयु वाला पति/पत्नी, जिसे इस प्रकार निर्वसीयती या वसीयती से पहले मृतक समझा जाता है, विधि के अनुसार, निर्वसीयती या वसीयती की संपत्ति का, एकमात्र उत्तराधिकारी है या अन्यों के साथ उत्तराधिकारी है, तब अल्पायु वाले पति/पत्नी को इस धारा के अधीन निर्वसीयती या वसीयती से पहले मृतक नहीं समझा जाएगा और निर्वसीयती या वसीयती की संपत्ति अल्पायु वाले पति/पत्नी के लिए विधि के अनुसार भागतः होगी और उक्त पति/पत्नी के उत्तराधिकारी उसकी सम्पदा का दावा कर सकेंगे।

दृष्टांत

(क) दो भाईयों 'क' और 'ख' की साथ-साथ मृत्यु होती है और स्थिति में छोटा भाई 'ख' को 'क' का उत्तरजीवी समझा जाएगा।

(ख) पति 'क' और पत्नी 'ख' की किसी दुर्घटना में साथ-साथ मृत्यु हो जाती है। पति 'क' के पास कृषि भूमि है और पत्नी के पास गृह संपत्ति। 'क' पति की सम्पदा के उत्तराधिकार के मामले में, पति के उत्तराधिकारियों द्वारा यह उपधारित किया जाएगा कि 'ख' पत्नी की मृत्यु पहले हुई थी और इसलिए 'ख' के उत्तराधिकारी पति की सम्पदा का दावा करने के हकदार नहीं होंगे। 'ख' पत्नी की सम्पदा के उत्तराधिकार के बारे में पत्नी के उत्तराधिकारियों द्वारा यह उपधारित किया जाएगा कि 'क' पति की मृत्यु पहले हुई और 'क' के उत्तराधिकारी पत्नी की संपदा का दावा करने के हकदार नहीं होंगे।

(ग) दृष्टांत (ख) के पहले भाग में यदि पत्नी 'ख' पति 'क' से आयु में कम है परन्तु उसे पति से पहले मृतक समझा जाता है, उपधारा (2) के कारण से, उसे इस प्रकार नहीं समझा जाएगा जहां, यदि वह पति 'क' की उत्तरजीवी होती तो वह एकमात्र उत्तराधिकारी हुई होती या अन्य के साथ-साथ उसके पति की एस्टेट में उसका अंश भी रहा होता, चाहे निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा होता या वसीयती द्वारा और उस स्थिति में, एक बार पति 'क' की सम्पत्ति पत्नी 'ख' के लिए न्यायगत हो जाती है तब उसके (पति के) उत्तराधिकारी भी उसका दावा करने के अधिकारी हो जाएंगे।

(घ) दृष्टांत (ख) के दूसरे भाग में, यदि पति 'क' पत्नी 'ख' से आयु में छोटा था परन्तु अपनी पत्नी से पहले मृतक समझा जाता, उपधारा (2) के कारण से उसे इस प्रकार नहीं समझा जाएगा जहां यदि पति 'ख' का उत्तरजीवी होता, तो वह निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा या वसीयती उत्तराधिकार द्वारा, एकमात्र उत्तराधिकारी होता या अन्य के साथ अपनी पत्नी की एस्टेट में अपने अंश का उत्तराधिकारी होता और उस स्थिति में, एक बार पत्नी 'ख' की सम्पत्ति पति 'क' के लिए न्यायगत हो जाती तो उसके उत्तराधिकारी भी उसका दावा करने के हकदार हुए होते।

धारा 109 :

यह धारा, भागीदारी, भूस्वामी और अभिधारी, मालिक और अभिकर्ता के मामलों में सबूत के भार से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"109. जबकि प्रश्न यह है कि क्या कोई व्यक्ति भागीदार, भूस्वामी और अभिधारी, या मालिक और अभिकर्त्ता है, और यह दर्शित कर दिया गया है कि वे इस रूप में कार्य करते रहे हैं, तब यह साबित करने का

भार कि क्रमशः इन संबंधों में वे परस्पर अवस्थित नहीं है या अवस्थित होने से परिविरत हो चुके हैं, उस व्यक्ति पर है, जो उसे प्रतिज्ञात करता है।''

यह धारा भी 'जारी रहने' की अवधारणा पर आधारित है और धारा 114 के दृष्टांत (घ) से संबंधित है।

भागीदारी के जारी रहने के बारे में उपधारणा संविदा अधिनियम, 1872 की धारा 256 में, जैसीकि यह अपने मूल रूप में थी, दी गई थी और वह धारा अब भागीदारी अधिनियम, 1932 की धारा 47 बन गई है।

इस प्रकार भूस्वामी और अभिधारी के संबंधों के जारी रहने के बारे में उपधारणा की जाती है।

इस प्रकार मालिक और अभिकर्ता के संबंधों के बारे में 169वी रिपोर्ट के पैरा 51.6 में यह कहा गया था कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है और हम इससे सहमति व्यक्त करते हैं।

<u>धारा 110 :</u>

यह धारा 'स्वामित्व के बारे में सबूत के भार' से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है:

''110. जबकि प्रश्न यह है कि क्या कोई व्यक्ति ऐसी किसी चीज का स्वामी है जिस पर उसका कब्जा होना दर्शित किया गया है, तब यह साबित करने का भार कि वह स्वामी नहीं है उस व्यक्ति पर है, जो प्रतिज्ञात करता है कि वह स्वामी नहीं है।''

इस धारा में कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति का कब्जा है और प्रश्न उसके बारे में हक का उठता है तो इसे आरम्भ करने का भार उस व्यक्ति पर होगा जो इस बात का विरोध करता है कि कब्जाधारी व्यक्ति उसका स्वामी है। दूसरे शब्दों में कब्जा होना स्वामित्व का प्रथमदृष्टया सबूत है।

इसके कुछ संबंधित पहलू भी हैं। परिसीमन अधिनियम, 1963 के अधीन, अनुच्छेद 64 और 65 कब्जे से संबंधित वादों के बारे में हैं। अनुच्छेद 65 विपरीत स्थिति के बारे में है कि हक रखने वाला व्यक्ति किस प्रकार इसे अतिचारी के पक्ष में खो देता है जो 12 वर्ष से प्रतिकूल रूप में उस पर कब्जिज है।

एक और अन्य पहलू है। यदि किसी व्यक्ति का कब्जा है तब वह सच्चा स्वामी है या अतिचारी और कोई अन्य व्यक्ति उससे कब्जा छीन लेता है तब वह हक साबित किए बिना कब्जा वापस लेने के लिए विशिष्ट राहत अधिनियम, 1963 की धारा 6 के अधीन संक्षिप्त उपचार के लिए आवेदन कर सकता है, यदि वाद कब्जा खाली होने के छः महीने की अवधि के भीतर दायर कर दिया गया हो।

विधि भी इस प्रकार की है कि जिस व्यक्ति का कब्जा है, वह स्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी के भी विरुद्ध अपने कब्जे की प्रतिरक्षा कर सकेगा। यदि वास्तविक स्वामी उस व्यक्ति से कब्जा खाली करा लेता है, तो वह विशिष्ट राहत अधिनियम, 1963 की धारा 6 के अधीन, 6 महीने की अवधि बीत जाने पर, फिर से कब्जा प्राप्त नहीं कर सकेगा। (नायर **सर्विस सोसाइटी** बनाम **अलेक्जेन्डर** : ए.आई.आर. 1968 सु.को. 1165)। एक और सिद्धान्त भी है कि खाली पड़ी भूमियों के बारे में कब्जा वास्तविक स्वामी का समझा जाता है। यदि किसी अतिचारी से कब्जा खाली करा लिया जाता है, तब पहला अतिचारी उसका वापस कब्जा अपने पहले के कब्जे के आधार पर ही पा सकेगा। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 145 भी कब्जे के विवादों के प्रश्न पर सुसंगत है।

69वीं रिपोर्ट में इस विषय से संबंधित पहलुओं पर थोड़ी चर्चा हुई है और अन्ततः पैरा 52.1 में यह कहा गया है कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम इस सुझाव से सहमत हैं।

धारा 111 :

यह धारा उन संव्यवहारों में सद्भाव साबित किए जाने के बारे में है जिनमें एक पक्षकार का संबंध सक्रिया विश्वास का है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

"111. जहां कि उन पक्षकारों के बीच के संव्यवहार के सद्भाव के बारे में प्रश्न है, जिनमें से एक दूसरे के प्रति सक्रिय विश्वास की स्थिति में है, वहां उस संव्यवहार के सद्भाव को साबित करने का भार उस पक्षकार पर हो जो सक्रिय विश्वास की स्थिति में है।"

इस धारा के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं। इनका पाठ निम्नलिखित है :

(क) कक्षीकार द्वारा अटर्नी के पक्ष में लिए गए विक्रय का सद्भाव कक्षीकार द्वारा लाए गए वाद में प्रश्नगत है। संव्यवहार का सद्भाव साबित करने का भार अटर्नी पर है।

(ख) पुत्र द्वारा, जो हाल ही में प्राप्तवय हुआ है, पिता को किए गए किसी विक्रय का सद्भाव पुत्र द्वारा लाए गए वाद में प्रश्नगत है। संव्यवहार के सद्भाव को साबित करने का भार पिता पर है।

धारा 111. एक सामान्य उपबंध है और केवल संविदाओं के लिए सीमित नहीं है। भारतीय संविदा अधिनियम की धारा 16 में एक संबंधित उपबंध है। धारा 16 की उपधारा (3) में कहा गया है कि धारा 16 के उपबंध से भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 111 पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 53.4, 53.5) विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि दोनों उपबंधों को एक साथ मिलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका एक कारण यह था कि धारा 111 एक सामान्य धारा है और सभी प्रकार के संव्यवहारों के लिए लागू होती है जबकि धारा 16 संविदाओं के लिए ही सीमित है। धारा 111 में साबित करने का भार उस व्यक्ति पर है, जो विश्वास की स्थिति में था जबकि संविदा अधिनियम की धारा 16 में 'आवश्यक प्रभाव' को परिभाषित किया गया है और उसकी उपधारा (3) में यह अपेक्षा की गई है कि मूलतः यह स्थापित किया जाना चाहिए कि संविदा को देखने पर या दिया गया साक्ष्य अविश्वासनीय हो, केवल तभी साबित करने का भार दूसरे पक्ष पर जाएगा।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 53.5 में कहा गया है कि धारा 111 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 111क :

यह धारा आतंकवादी क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम, 1984 द्वारा पुरस्थापित की गई थी और यह 'कतिपय अपराधों के बारे में उपधारणा' से संबंधित है। यह धारा, स्पष्टतः 69वीं रिपोर्ट की विषय-वस्तु नहीं थी।

इसका पाठ निम्नलिखित है :

"111क. (1) जहां कोई व्यक्ति उपधारा (2) में विनिर्दिष्ट ऐसे किसी अपराध के—

(क) ऐसे किसी क्षेत्र में जिसे उपद्रव को दबाने के लिए और लोक व्यवस्था की बहाली और उसे बचाए रखने के लिए उपबंध करने वाली किसी तत्समय प्रवृत्त किसी अधिनियमिति के अधीन विक्षुब्ध क्षेत्र घोषित किया गया है; या

(ख) ऐसे किसी क्षेत्र में, जिसमें एक मास से अधिक की अवधि के लिए लोक शान्ति में व्यापक विघ्न रहा है,

किए जाने का अभियुक्त रहा है और यह दर्शित किया जाता है कि ऐसा व्यक्ति ऐसे क्षेत्र में किसी स्थान पर ऐसे समय पर था जब उसने किसी शस्त्र बल या बलों के, जिन्हें लोक व्यवस्था बनाए रखने का भार सौंपा गया है, ऐसे सदस्यों

पर, जो अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन कर रहे हैं, आक्रमण करने के लिए, या उनका प्रतिरोध करने के लिए उस स्थान पर या उस स्थान से अन्यायुधों या विस्फोटकों का प्रयोग किया गया था, वहां जब तक कि तत्प्रतिकूल दर्शित नहीं किया जाता, यह उपधारणा की जाएगी कि ऐसे व्यक्ति ने ऐसा अपराध किया है।

उपधारा (1) में निर्दिष्ट अपराध निम्नलिखित हैं, अर्थात्—

(क) भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 121, 121क, 122 या धारा 123 के अधीन कोई अपराध;

(ख) आपराधिक षड़यंत्र या भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 122 या 123 के अधीन कोई अपराध करने का प्रयत्न या दुष्प्रेरण।

1984 से आतंकवादी गतिविधियां बढ़ रही हैं और 11 सितम्बर, 2001 को ये अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई। इसके पश्चात् संसद ने आतंकवाद निरोधक अधिनियम, 2002 पारित किया। इन परिस्थितियों में, हमारे विचार से धारा 111 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 112 : इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

"112. विवाहित स्थिति के दौरान जन्म होना धर्मजत्व का निश्चयात्मक सबूत है—यह तथ्य कि किसी व्यक्ति का जन्म उसकी माता और किसी पुरुष के बीच विधिमान्य विवाह के कायम रहते हुए, या उसका विघटन होने के उपरान्त माता के अविवाहित रहते हुए दो सौ अस्सी दिन के भीतर हुआ था, इस बात का निश्चयात्मक सबूत होगा कि वह उस व्यक्ति का धर्मज पुत्र है जब तक यह दर्शित न किया जा सके कि विवाह के पक्षकारों को परस्पर पहुंच ऐसे किसी समय नहीं थी कि जब उसका गर्भाधान किया जा सकता था।"

यह धारा ऐसी कहावत पर आधारित है जिसका अर्थ है "वह पिता है जिसे विवाह दर्शाता है"। इस धारा में बच्चे के जन्म के धर्मजत्व के बारे में 'निश्चयात्मक सबूत' का नियम निर्धारित किया गया है।

(1) बच्चे की माता और किसी व्यक्ति के बीच विधिमान्य विवाह के कायम रहते हुए; या

(2) जन्म, विवाह के विघटन होने के उपरान्त दो सौ अस्सी दिन के भीतर माता के अविवाहित रहते हुए।

इस धारा में उपबंधित एकमात्र अपवाद यह है कि जहां यह दर्शित किया जा सके कि विवाह के पक्षकारों की परस्पर पहुंच ऐसे किसी समय नहीं थी जब उसका गर्भाधान किया जा सकता था।

इस उपधारणा का खंडन किया जा सकता है और इसे केवल साक्ष्य के अत्याधिक प्रभाव से ही विस्थापित किया जा सकता है अधिसंभावनाओं के संतुलन मात्र से नहीं (**गौतम कुंडु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य** : ए.आई.आर. 1993 सु.को. 2295) देखें **एस.पी.एस. बालासुब्रमणियम बनाम सुरूतायन** : ए.आई.आर. 1997 सु.को. 756।

जब मातृत्व विवादित हो, पितृत्व नहीं तब धारा 112 लागू नहीं होगी (**नन्द बनाम गोपाल** : ए.आई.आर. 1940 पी.सी. 93)। किसी तिथि को विवाह साबित किए जाने पर, न्यायालय किसी बाद की तिथियों को विवाह का अस्तित्व साबित किया गया समझेगा जब तक कि इसे नासाबित न किया जाए या न्यायालय अपने विवेकाधिकार से उसका सबूत मांगे (**इरावतुर अकाया गौंडिन** : ए.आई.आर. 1941 पी.सी. 11)। यदि लोग, विशेषकर संबंधीगण, किसी व्यक्ति को, अपने किस कर, विवाह संस्कार के बंधन में बंधा मानते हुए, धर्मज पुत्र मानते और स्वीकारते हैं तब यह अभिनिर्धारित करने के लिए यह सुदृढ़ आधार माना जाएगा कि वह व्यक्ति अपने पिता का धर्मज पुत्र है

(के. गोविन्दु राजू बनाम के. मुनिस्वामी गौंडर : ए.आई.आर. 1997 सु.को. 10 ; महाभाट बनाम मोहम्मद इब्राहीम : ए.आई.आर. 1929 पी.सी. 135)।

जब तक परस्पर पहुंच न होना स्थापित नहीं किया जाता, धर्मजत्व की उपधारणा को विस्थापित नहीं किया जा सकेगा (पेरूमल बनाम पोन्नूस्वामी : ए.आई.आर. 1971 सु.को. 2523; वेंकटेश्वरलू बनाम वेंकटनारायण : ए.आई.आर. 1954 सु.को. 176 और अप्पया भाई बनाम कुमारिसेन : ए.आई.आर. 1967 सु.को. 569 मामलों पर निर्भर करते हुए)।

पहुंच या ना पहुंच होने से वैवाहिक समागम होने या न होने से अधिक कुछ अधिप्रेत नहीं है (वेंकटेश्वरलू बनाम वेंकटनारायण : ए.आई.आर. 1954 सु.को. 176) धारा में अपेक्षा की गई है कि पितृत्व का विरोध करने वाले पक्षकार के लिए उपधारणा को समाप्त करने के लिए पहुंच न होना साबित करना होगा। पहुंच का अर्थ साथ-साथ निवास करना नहीं है (गौतमकुंडु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य : ए.आई.आर. 1993 सु.को. 2295)।

कृष्णैया बनाम महीपती : 40 सी डब्ल्यू एन 12 (पी सी), मामले में, प्रिवी कौंसिल ने इस बात पर विचार नहीं किया कि क्या धर्मजत्व के प्रश्न पर नपुंसकता का साक्ष्य स्वीकार किया जा सकेगा (धारा में ऐसा साक्ष्य अनुज्ञेय नहीं है) उपधारणा निश्चयात्मक है और केवल सुसंगत समय पर पहुंच न होना साबित करके ही विस्थापित की जा सकेगी। पहुंच न होने का ठोस सबूत होना चाहिए। वेंकटेश्वरलू बनाम वेंकटनारायण : ए.आई.आर. 1954 सु.को. 176; कान्ता देवी बनाम योशीराम : ए.आई.आर. 2001 सु.को. 2226।

यह तथ्य कि पत्नी का कोई अवैध प्रेमी था (जी.आर.साने बनाम डी.ए. सोनावने एण्ड कम्पनी : 1946 बम्बई 110) या यह कि पति ने नसबंदी आपरेशन करा लिया था (जब तक कि ऐसा विश्वसनीय साक्ष्य न हो कि नसबंदी आपरेशन सफल रहा था) [चन्द्रमथी बनाम पाजेट्टी बातम : ए.आई.आर. 1982 केरल 68; चिरुथा कुट्टी बनाम सुब्रह्मणियम : ए.आई.आर. 1987 केरल 5] उपधारणा का खंडन करने के लिए पर्याप्त नहीं है। ना ही पति की गम्भीर बीमारी पर्याप्त है (नरेन्द्र बनाम रामगोविन्द : ए.आई.आर. कलकत्ता 114 (पीसी)।

श्रीमती दुखतर जान बनाम **मोहम्मद फारूख** ए.आई.आर. 1987 सु. को. 1049, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि बच्चे का जन्म विवाह के लगभग सात मास बाद हुआ था इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि बच्चा विवाह पूर्ण होने की तिथि से पूर्व ही गर्भ में आ गया था।

हिन्दू विधि और मुस्लिम विधि, दोनों में ही, जैसाकि धारा में कहा गया है, धर्मजत्व के बारे में उपधारणा समान है, परन्तु जबकि इंग्लिश विधि में जन्म के समय को महत्व दिया गया है, मुस्लिम विधि में गर्भाधान के समय को महत्व दिया गया है।

इंग्लिश विधि की नीति 1049 तक यह थी कि न्यायालय से बाहर माता-पिता द्वारा दिया गया प्रमाण या की गई घोषणा, विवाह के दौरान बच्चे के वर्णसंकर होने के लिए पहुंच या ना पहुंच होना साबित करने के लिए स्वीकार्य नहीं थी। इंग्लैण्ड में यह नियम लॉ रिफॉर्म (मिसलेनियस प्रौविजनस्) एक्ट, 1949 द्वारा समाप्त कर दिया था और अब मैट्रीमोनियल कॉज एक्ट, 1965 की धारा 45(1) में यह उपबंध किया गया है।

धारा 112 के अधीन चर्चा को अन्य दो भागों में विभाजित किया जाएगा, भाग-क और भाग-ख। (यहां हम कृत्रिम गर्भाधान, प्रतिनिधि मातृत्व, क्लोनिंग के मामलों पर विचार नहीं करेंगे जिनके बारे में पृथक से विचार करने की आवश्यकता है)

(क) क्या धारा 112 के अधीन पितृत्व के प्रश्नों में विवाह शून्य होने से उत्पन्न मामलों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए, जहां विवाह शून्य घोषित कर दिया गया है परन्तु ऐसे विवाह से जन्मे बच्चे किसी विधि द्वारा धर्मज माने

जाते हैं और क्या धारा 112 में सीमित प्रयोजनों के लिए ऐसे विवाहों को भी वैध समझने के लिए कोई उपबंध प्रस्तावित किया जाना चाहिए?

(ख) क्या धारा 112 में 'पहुंच न होने' के अतिरिक्त भी कोई अपवाद, जैसे नपुंसकता या नसबंदी, रक्त परीक्षण या डी.एन.ए. परीक्षण जैसा सबूत कि कोई व्यक्ति पिता नहीं है, पुर:स्थापित किया जाना चाहिए।

(क) क्या शून्यकरणीय विवाहों के अतिरिक्त शून्य विवाह भी धारा 112 के क्षेत्राधिकार में लाए जाने चाहिए

69वीं रिपोर्ट में, विधि के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करने के पश्चात्, इस तथ्य का निर्देश किया गया था (देखें पैरा 54.9) कि विवाह संबंधी विधि में, विशेषकर हिन्दुओं के बारे में, विभिन्न परिवर्तन हुए हैं।

धारा में यह अपेक्षा की गई है कि अपत्य के जन्म की तिथि को वैध विवाह की स्थिति होनी चाहिए। यहां धारा में कहा गया है कि जन्म के समय विधिमान्य विवाह की स्थिति होनी चाहिए (देखें 69वीं रिपोर्ट, पैरा 54.17, 54.18 और 54.26) इंग्लिश साधारण विधि के अधीन विवाह के दौरान बच्चा गर्भाहित होना आवश्यक नहीं है। यही पर्याप्त है कि जन्म की तिथि को माता-पिता विवाहित हों (पैरा 54.19)। 69वीं रिपोर्ट में बताया गया है कि प्रिवी काउंसिल द्वारा पेड्डा अर्मागी बनाम जमींदार ऑफ मारूनगापुरी (1874) एल.आर.-I आई ए 29 मामले में यह अभिनिर्धारित करना सही नहीं था कि इंग्लिश विधि तथा भारतीय विधि एक समान हैं (देखें पैरा 54.25 से 54.27)।

इन पहलुओं का उल्लेख करने के पश्चात् 69वीं रिपोर्ट में जन्म के मामलों को धारा के अन्तर्गत लाने के लिए "या विघटन के दो सौ अस्सी दिन के भीतर" शब्दों के स्थान पर "इसे शून्य या परिवर्जनीय घोषित किए जाने के दो सौ अस्सी दिन के भीतर" शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिए। (देखें पैरा 54.29 से 54.37)।

धारा 112 'विधिमान्य विवाह' और किसी व्यक्ति का जन्म (क) विधिमान्य विवाह के कायम रहते, या (ख) उसके विघटन के दो सौ अस्सी दिन के भीतर माता के अविवाहित रहते हुए (अर्थात् उन दो सौ अस्सी दिनों की अवधि में अविवाहित रहते हुए) जैसा उल्लेख किया गया है। तब, जब तक परस्पर पहुंच न होना साबित नहीं किया जाता, पति को पिता समझा जाता है और क्योंकि धारा में 'निश्चायात्मक' शब्द का प्रयोग किया गया है, परस्पर पहुंच न होने के सिवाय पति द्वारा दिया कोई अन्य तर्क अनुज्ञेय नहीं होगा।

69वीं रिपोर्ट में इस विषय पर भी विचार किया गया है कि क्या शून्यकरणीय विवाहों के मामलों के अतिरिक्त, जो पहले ही सम्मिलित हैं, अकृत और शून्य विवाह भी इसमें सम्मिलित किए जाने चाहिए।

इस संबंध में, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में हुए परिवर्तनों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। जहां तक हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 का संबंध है, (1976 के संशोधन से पूर्व) 1955 में इसमें धर्मजत्व के बारे में एक निम्नलिखित उपबंध अन्तर्विष्ट था।

> "धारा 16 : जहां धारा 11 या धारा 12 के अधीन शून्यकरणीय विवाह के संबंध में अकृतता की डिक्री मंजूर की जाती है वहां डिक्री की जाने से पूर्वजनित या गर्भाहित ऐसा कोई अपत्य, जो यदि विवाह डिक्री की तारीख को अकृत किए जाने के बजाय विघटित कर दिया गया होता तो विवाह के पक्षकारों का धर्मज अपत्य होता, अकृतता की डिक्री होते हुए भी उनका धर्मज अपत्य समझा जाएगा।"

परन्तु यह कि इस धारा में किसी भी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह ऐसे विवाह के किसी ऐसे अपत्य को, जो अकृत और शून्य है या जिसे अकृतता की डिक्री द्वारा अकृत किया गया है, उसके माता-पिता से भिन्न किसी व्यक्ति की सम्पत्ति में या सम्पत्ति के लिए कोई अधिकार किसी ऐसी दशा में प्रदान करती है जिसमें कि यदि वह अधिनियम पारित न किया गया होता तो वह अपत्य अपने माता-पिता का धर्मज अपत्य न होने के कारण ऐसा कोई अधिकार रखने या अर्जित करने में असमर्थ होता।

इस धारा के अधीन जैसी कि यह 1955 में थी, एक शून्य विवाह में विवाह के पक्षकारों को धारा 11 के अधीन न्यायालय में याचिका दायर किया जाना अपेक्षित है। धारा 12 शून्यकरणीय विवाहों का निर्देश करता है जो अकृतता की डिक्री द्वारा बातिल किए जा सकेंगे। धारा 11 के अधीन मामलों में, जहां विवाह शून्य था और किसी ने भी याचिका दायर नहीं की थी, वहां 1955 के अधिनियम की धारा 16 का लाभ ऐसे शुभ विवाह से जन्में अपत्य को नहीं मिलेगा।

इसलिए 1976 में ऐसे अपत्यों को धर्मज बनाने के लिए धारा 16 में संशोधन किया गया, विवाह को अकृत घोषित करने के लिए चाहे किसी ने भी याचिका न दी हो।

1976 में हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 16 में परिवर्तन के पश्चात् धारा का पाठ निम्नलिखित है :

धारा 16—शून्य और शून्यकरणीय विवाहों के अपत्यों की धर्मजता।

(1) इस बात के होते हुए भी कि विवाह धारा 11 के अधीन अकृत और शून्य है, ऐसे विवाह से उत्पन्न कोई भी संतान वैध होगी यदि वह उस समय भी वैध होती जब विवाह वैध हुआ होता चाहे वह संतान विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 (1976 का 68) के लागू होने से पूर्व उत्पन्न हुई हो या बाद में और चाहे **"उस विवाह के संबंध में अकृतता की डिक्री इस अधिनियम के अधीन मंजूर की गई हो या नहीं और चाहे वह विवाह इस अधिनियम के अधीन याचिका से भिन्न आधार पर शून्य अभिनिर्धारित किया गया हो अथवा नहीं।**

(2) जहां धारा 12 के अधीन शून्यकरणीय विवाह के संबंध में अकृतता की डिक्री मंजूर की जाती है वहां यदि कोई संतान डिक्री पारित किए जाने के पहले ही उत्पन्न हो जाती है या गर्भ में आ जाती है, जो विवाह के पक्षकारों की वैध संतान उस समय हुई होती जब डिक्री की तारीख पर वह विवाह अकृत किए जाने के बजाय विघटित किया गया होता, तो वह अकृतता की डिक्री होते हुए भी वैध मानी जाएगी।

(3) उपधारा (1) या उपधारा (2) की किसी बात का अर्थ यह नहीं लगाया जाएगा कि वह उस विवाह में जो अकृत और शून्य है या जिसको धारा 12 के अंतर्गत अकृतता की डिक्री द्वारा कृत कर दिया जाता है, उत्पन्न किसी संतान को अपने माता-पिता से अन्य किसी और व्यक्ति की संपत्ति में कोई अधिकार किसी ऐसे मामले में प्रदान करती है जिसमें वह अधिनियम पारित होने के सिवाय, अपने माता-पिता की वैध संतान न होने के कारण वैसा कोई अधिकार प्राप्त करने के अयोग्य हुई होती।"

विशेष विवाह अधिनियम में भी ऐसा ही उपबंध किया गया है और इससे पूर्व भी विवाह विच्छेद अधिनियम, 1869 की धारा य में भी।

उच्चतम न्यायालय ने, **पैक कलियानी अम्मा बनाम के. देवी : ए.आई.आर 1996 सु.को. 1963**, मामले में, एक निर्णय में जिसके दूरगामी प्रभाव थे, (देखें मुल्ला, 1891 संस्करण, 2001 खंड 2 पृष्ठ 173) धारा 16 की उपधारा (1) की समीक्षा की थी और यह टिप्पणी की थी कि "इस बात के होते भी विवाह धारा" के अधीन अकृत और शून्य था, शब्दों के आधार पर यह धारा 11 से स्वतंत्र है। संशोधित धारा, जिसका आशय शून्य विवाह से उत्पन्न संतान को धर्मजता (वैधता) प्रदान करना है, धारा 11 में यह उपबंध होते हुए भी कि अधिनियम के लागू होने के पश्चात् होने वाले विवाह ही, और जो धारा 5 के उल्लंघन में होते हैं, अकृत होंगे, प्रभावी होगी। इस विधिक कल्पना के आधार पर, शून्य विवाह से उत्पन्न अपत्य सभी प्रयोजनों के लिए, अपने माता-पिता की संपत्ति के उत्तराधिकार सहित, धर्मज समझे जाएंगे। कुल मिलाकर इसका प्रभाव यह है कि संशोधन की तिथि से पूर्व या पश्चात् जन्म लेने वाले किसी अपत्य को धर्मजता का लाभ प्रदान किया गया है। इसका अर्थ यह होगा कि यदि किसी विवाह का होना ऐसे समय निश्चित हुआ हो जब ऐसे विवाह पर विधिक प्रतिबंध

था, तब भी ऐसे विवाह से जन्में अपत्यों को धर्मज समझा जाएगा। ऐसा अपत्य अपने माता-पिता/ माता की संपत्ति के उत्तराधिकार का अधिकारी होगा। (वहीं मुल्ला, पृष्ठ 174)

उपधारा (2) शून्यकरणीय विवाह जिसके बारे में धारा 12 के अधीन अकृतता की डिक्री दी जा सकेगी, के अपत्यों के बारे में है। तब भी, जब किसी भी पक्षकार द्वारा विवाह की वैधता को चुनौती दी गई हो और विवाह अभी तक अकृत नहीं किया गया हो, यह विवाह शून्य माना जाएगा और ऐसे विवाह से उत्पन्न अपत्य निःसंदेह धर्मज होंगे। यदि दूसरी ओर विवाह को किसी पक्षकार के कहने पर अकृत घोषित कर दिया जाता है, तब ऐसे विवाह से उत्पन्न अपत्य, उपधारा (2) के प्रभावी होने से, सभी हितों और प्रयोजनों के लिए, उपधारा (3) में उपबंधित के सिवाए कि ऐसे अपत्य अपने माता-पिता के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति की संपत्ति में किन्हीं अधिकारों का दावा नहीं कर सकेंगे, माता-पिता की धर्मज संतान समझे जाएंगे। (मुल्ला, वही पृष्ठ 174)

उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि 1976 में हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के संशोधन से पूर्व विधि की जो स्थिति थी वह असंतोषप्रद थी। मुल्ला के पहले संस्करण में यह बताया गया था कि शून्य विवाह से जन्म लेने वाले अपत्य को धारा का संरक्षण प्राप्त नहीं होगा, जब तक कि पक्षकारों में से किसी एक के कहने पर न्यायालय द्वारा डिक्री पारित न की गई हो। अब उपधारा (1) में कहा गया है कि 1976 के संशोधन के पश्चात्, शून्य विवाह के मामले में, अपत्य धर्मज होगा (चाहे उसका जन्म 1976 के संशोधन के पूर्व हुआ हो या बाद में) और

> "चाहे उस विवाह के संबंध में अकृतता की डिक्री इस अधिनियम के अधीन मंजूर की गई हो या नहीं और चाहे वह विवाह इस अधिनियम के अधीन याचिका से भिन्न आधार पर शून्य अभिनिर्धारित किया गया हो या नहीं"

इस नए उपबंध से तुलसी अम्माल बनाम गोरी अम्माल ए.आई.आर 1964 मद्रास 118, मामले में तथा अन्य मामलों में निर्धारित किया गया सिद्धांत रद्द हो जाता है, जहां न्यायालय ने पुरानी धारा 16 के अधीन यह अभिनिर्धारित किया था कि जब तक अकृतता की डिक्री पारित नहीं होती, डिक्री से पूर्व जन्म लेने वाला अपत्य धर्मज नहीं समझा जाएगा। धारा 11 1955 के अधिनियम के विवाहों के लिए लागू होती है जबकि धारा 12 ऐसे विवाहों के लिए जिनका अनुष्ठान 1955 के अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व हुआ हो या बाद में।

अब हम संक्षेप में यह कहेंगे --

(क) **पहले,** 69वीं रिपोर्ट को देखें तो उसमे यह कहा गया था (देखें पैरा 54.30) कि जहां तक पितृत्व का संबंध है यह धारा, जिसमें विधिमान्य विवाह के विघटन का निर्देश है, शून्य विवाहों के लिए भी लागू होनी चाहिए, यद्यपि धारा में स्पष्ट रूप से शून्यकरणीय विवाहों का उल्लेख है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की पुरानी धारा 16 के और विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की धारा 26 में इस संबंध में दोष बताए गए थे। यह बताया गया था कि विवाह विच्छेद अधिनियम, 1854 की धारा 21 डिक्री से पूर्व पैदा होने वाले अपत्यों के लिए लागू होती है और ऐसी ही नीति उपर्युक्त अधिनियमों में भी दर्शायी जानी चाहिए। (देखें पैरा 54.31)

(ख) **दूसरे,** 69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 54.33) यह कहा गया था कि ऐसा संदेह था कि अकृतता की डिक्री विघटन से भिन्न थी, जैसा कि हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1955 की पुरानी धारा 16 में (वर्तमान में 1976 के संशोधन के पश्चात् धारा 16(2) में) निर्देशित है। यह संदेह, कहा गया है, अन्य अधिनियमों के

संबंध में भी है। इसके अतिरिक्त, धारा 16(2) में, आवश्यक उपबंध लागू होने से पूर्व, डिक्री से पहले गर्भाधान साबित करने की अपेक्षा की गई है।

बताया गया है कि साक्ष्य अधिनियम के अधीन स्थिति भिन्न थी जिसके अधीन गर्भाधान की तिथि साबित किए जाने की आवश्यकता नहीं थी और धर्मजता के लिए जन्म की तिथि का सबूत ही पर्याप्त था।

(ग) **तीसरे**, 69वीं रिपोर्ट में शून्य विवाहों का निर्देश किया गया है। 69वीं रिपोर्ट में यह कहने के पश्चात् कि धारा 112 शून्य विवाहों के लिए भी लागू होनी चाहिए, 69वीं रिपोर्ट में धारा 112 में संशोधन करने के लिए, उसके पहले तथा दूसरे भाग दोनों में, धारा का निम्नलिखित प्रारूप दिया गया है :

"112. यह तथ्य कि किसी व्यक्ति का जन्म उसकी माता और किसी पुरुष के बीच विधिमान्य विवाह के कायम रहते हुए, या उसका विघटन होने के उपरांत या उसे अकृत और शून्य किए जाने के उपरांत माता के अविवाहित रहते हुए दो सौ अस्सी दिन के भीतर हुआ था इस बात का निश्चायक सबूत होगा कि वह उस पुरुष का धर्मज अपत्य है जब तक कि यह दर्शित न किया जाए कि विवाह के पक्षकारों की परस्पर पहुंच ऐसे किसी समय नहीं थी जब उसका गर्भाधान किया जा सकता था।

स्पष्टीकरण : जहां तत्समय प्रवृत किसी अधिनियमिति द्वारा, यह उपबंधित हो कि किसी विवाह के अपत्य, जो अकृत और शून्य कर दिया जाता है, फिर भी धर्मज होंगे, विवाह, इस धारा के प्रयोजनों से, वैध समझा जाएगा जब तक यह अकृत और शून्य न कर दिया गया हो।"

इस बात पर आश्चर्य होता है कि धारा 112 के आरंभिक भाग में "विधिमान्य विवाह" शब्दों के पश्चात् इस सिफारिश के बावजूद भी कि "शून्य" शब्द का प्रयोग दो भागों में किया जाना चाहिए, 'शून्य विवाह' शब्द सम्मिलित नहीं किए गए है। यह देखा जा सकेगा कि जहां तक आरंभिक भाग का संबंध है उसमें यह अपेक्षा स्पष्टीकरण द्वारा पूरी कर दी गई है, धारा 112 के प्रयोजनों से यदि विवाह शून्य भी था, उसे वैध समझता है जहां ऐसे शून्य विवाह के अपत्यों को धर्मज बनाने के लिए विधि बनाई गई है। स्पष्टतया ऐसे बच्चों की धर्मजता और किसी व्यक्ति को उसका पिता समझने या न समझने के अधिकार के बीच किसी प्रकार का संबंध होना चाहिए। इसी कारण से स्पष्टीकरण जोड़ा गया था। उस स्थिति में, एक बार ऐसा स्पष्टीकरण जोड़ दिए जाने पर धारा 112 आरंभिक भाग में "शून्य विवाह" शब्द जोड़ना आवश्यक नहीं है क्योंकि स्पष्टीककरण में उन्हें वैध माना गया है या ऐसे शून्य विवाह के अपत्यों के धर्मजता प्रदान करने के लिए कोई विधि है। हमारे विचार में, धारा 112 का प्रारूप तैयार करने और शून्य विवाहों को इस धारा के अधिकार क्षेत्र में लाने की यह उपयुक्त पद्धति है। यह स्पष्ट है कि स्पष्टीकरण के अंतर्गत हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 16(1) (1976 के संशोधन के पूर्व और पश्चात् के) के अधीन तथा विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अधीन शून्य विवाह भी आ जाते हैं। आयोग ने कहा है कि भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, 1869 की धारा 21 में ऐसा उपबंध पहले से ही विद्यमान है। स्पष्टीकरण के अधीन, ऐसे शून्य विवाह धारा 112 के आरंभिक भाग में विधिमान्य समझे जाएंगे जब तक न्यायालय द्वारा इन्हें अकृत न घोषित किया जाए। इसके अतिरिक्त, धारा 112 की अंतर्वस्तु में अकृत शब्द जोड़ने के प्रस्ताव में शून्य विवाहों के मामले भी आ जाते हैं जबकि "विघटित" और "परिवर्जनीय" शब्द विधिमान्य विवाहों को शून्य बनाने का निर्देश करते हैं। हम यह नहीं समझ पाए हैं कि धारा 112 में 'विघटन' और 'परिवर्जन' दोनों शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया है। हमारे विचार में, 'अकृत घोषित' शब्द ऐसे विवाहों के लिए जो शून्य हैं और शून्यकरणीय विवाहों के लिए 'विघटन द्वारा परिवर्जन' शब्दों का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा।

हमारे विचार में धारा 112 तथा उसके स्पष्टीकरण को भी फिर से प्रारूपित किया जाना चाहिए (यहां इसके पश्चात् उल्लिखित कतिपय अन्य शब्दों को जोड़ते हुए और शून्य विवाह को विधिमान्य समझने पर मत देते हुए स्पष्टीकरण को भी से प्रारूपित करके)।

अब हम (ख) से संबंधित प्रश्नों पर विचार करेंगे कि 'परस्पर पहुंच न होने' के अतिरिक्त अन्य आधार भी पुरःस्थापित किए जाने चाहिए।

(ख) <u>परस्पर पहुंच न होने के अतिरिक्त क्या कोई अन्य अपवाद भी अंतःस्थापित किया जाना चाहिए</u>

धारा 112 में, जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, "निश्चायक सबूत" शब्दों का प्रयोग किया गया है और 'परस्पर पहुंच न होने' का एकमात्र अपवाद के रूप में निर्देश किया गया है। इसलिए, धारा की भाषा जैसी है, उसके अनुसार यह साबित करने के लिए कि कोई व्यक्ति पिता नहीं है, 'परस्पर पहुंच न होने' के अतिरिक्त 'कोई अन्य साक्ष्य अनुज्ञेय नहीं' है। यही बहुत से निर्णीत मामलों में अभिनिर्धारित किया गया है तथा उच्चतम न्यायालय द्वारा भी हाल ही में **कान्ती देवी** बनाम **पोशीराम** : 200 (सी एस) एस. सी. सी. 311 = ए.आई.आर. 2001 सु.को. 2266, मामले में यही अभिनिर्धारित किया गया है। उस मामले में डी एन ए साक्ष्य दिया गया परंतु उच्चतम न्यायालय ने साक्ष्य स्वीकार करने से इस आधार पर इंकार कर दिया कि 'परस्पर पहुंच न होने' के अतिरिक्त यह साबित करने के लिए कि कोई व्यक्ति पिता नहीं है कोई अन्य साक्ष्य अनुज्ञेय नहीं है।

<u>उत्तरवर्ती विवाह :</u>

नपुंसकता के बारे में निर्देश करने से पूर्व, हम **उत्तरवर्ती विवाहों** के बारे में चर्चा करेंगे। इस अधिनियम के बारे में, हमारे विचार से कोई अन्य उपबंध जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। यह कहा गया है कि यदि कोई महिला अपने पूर्व विवाह के विघटन के तुरंत पश्चात् विवाह कर लेती है और तब किसी बच्चे का जन्म होता है, तब दूसरा पति बच्चे का पिता समझा जाएगा। इसे महाद्वीपीय विधिशास्त्र में 'टरबेरियो सेंविन्ट्स' कहा जाता है ऐसी स्थिति उन मामलों में भी पैदा हो सकती है जहां किसी विधि में पहले विवाह के विघटन और दूसरे विवाह की तिथि में अंतराल अपेक्षित हो। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इग्लैंड में यह साबित करना अनुज्ञेय है कि अपत्य पहले विवाह से जन्मा है। **इन रि ओवर बरी** बनाम **मैथ्यूजः** 1954 (3) ए.एल.एल.ई.आर. 307 (देखें पैरा 54.47, 69वीं रिपोर्ट)। 69वीं रिपोर्ट में (पैरा 54.24) कहा गया है कि कोई व्यक्ति जो किसी महिला से, जो गर्भवती थी, विवाह करता है, बच्चे का पिता समझा जाना चाहिए (देखें) हेल्सबरीज लाज आफ इग्लैंड, खण्ड I पैरा 691 नोट्स 12,13) लिटिलटन पैरा 244 (क) के बारे में कोक को उद्धृत करते हुए। **बार्डनर** बनाम **गार्डनर** : (1877) एस सी 723 ला देखें, **लायड** बनाम **पावेल डफ्री स्टीम कोल कंपनी लिमिटेड** : 1914 ए सी 733 : **आर** बनाम **लूफे** : (1807) 8 ईस्ट 198 (पृष्ठ 208) है, अमरीका में भी विधि इसके समान ही है। जहां तक इस पहलू का संबंध है, हम गिबमोर साक्ष्य (1981) (सप्ली. 2000-2001) (पैरा 2527 पृष्ठ 1279) का निर्देश कर सकते हैं। **जागेराम** बनाम **बीवन 6 ओहियों ए** (तीसरा) 17 (1972), मामले में यह टिप्पणी की गई थी :

> "..... कोई पुरुष किसी महिला से विवाह करता है यह जानते हुए कि वह गर्भवती थी, तब विधि में उस पुरुष को किसी औपचारिक अभिस्वीकृति के बिना ही बच्चों के जन्म लेने पर इसका पिता उपधारित किया जाएगा।"

यह सिद्धांत मानव आचरण के साधारण विधि नियमों पर आधारित है कि सामान्यतया पुरुष विवाह से पूर्व किसी महिला के साथ सहवास कर सकेगा और महिला के गर्भवती हो जाने पर वह उसके साथ विवाह कर लेता है। परंतु, यदि वह यह जानता है कि वह पिता नहीं है, जब वह उससे कदापि विवाह नहीं करेगा। अतः, हमारे विचार से किसी पुरुष से विवाह करने वाली गर्भवती महिला उसके पश्चात् जन्म लेने वाले बच्चे के बारे में कोई विशिष्ट उपबंध नहीं किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त जैसे मामले पर चर्चा करने के पश्चात्, अब हम यह साबित करने के लिए कि कोई व्यक्ति पिता नहीं है (1) नपुसंकता या नसबंदी (2) रक्त परीक्षण और (3) डी एन ए परीक्षण जैसे अपवादों के बारे में विचार करेंगे।

(1) **नपुंसकता**

धारा की कठोरता के उपरांत भी कतिपय उच्च न्यायालयों में नपुंसकता के अपवाद को सम्मिलत किया है। (देखें **रूज़ारिड बनाम इंजलीज** : आई एल आर 18 बम्बई 468, **बीरेन्द्र** बनाम **हेमलता** 24, सी डब्ल्यू एन 914) (सरकार, वही, पृष्ठ 1614) प्रिवी काउंसिल द्वारा अभिनिर्णीत मामले में, [**कुशनैया बनाम महापात्र** 40 सी डब्ल्यू एन (पी सी)] एक पति, जो आयु में बहुत कम, अवयस्कता के बारे में यह तर्क दिया गया था कि एक व्यक्ति जो अवयस्क या शारीरिक रूप से अक्षम था। प्रिवी काउंसिल ने इस तर्क को रद्द करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि अपरिपक्कव पौरूष के बारे में सभी संभावनाओं को अपवर्जित किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि कतिपय चिकित्सा संबंधी पुस्तकों के अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि 13 वर्ष की आयु का लड़का यौन सहवास के लिए अक्षम था।

पति को नपुंसकता के संबंध में भी, विधि भारत के समान कठोर नहीं है। फैमिली ला रिफार्म एक्ट, 1961 की धारा 26 का पाठ निम्नलिखित है (फिप्सन, 15वां संस्करण 1999 पैरा 4.20, भी देखें) :

> "26. किसी व्यक्ति की धर्मजता या अधर्मजता के बारे में विधि की किसी उपधारणा का, सिविल कार्यवाहियों के ऐसे साक्ष्य द्वारा खंडन किया जा सकेगा जो यह दर्शाता हो कि, यथास्थिति, किसी व्यक्ति का अधर्मज या धर्मज होना अधिक अधिसंभाव्य है और उपधारणा को खंडित करने के लिए किसी तथ्य को न्यायोचित संदेह से परे साबित करना आवश्यक नहीं होना चाहिए।"

दूसरे शब्दों में, धर्मजता या अधर्मजता का सबूत न्यायोचित संदेह से दूर होने के बजाय, अब अधिसंभावनाओं पर बल देकर दिया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त, इसी अधिनियम की धारा 23 न्यायालय को ऐसा आशय निकालने के लिए प्राधिकृत करती है जो परिस्थितियों में उपयुक्त प्रतीत होता हो जहां व्यक्ति रक्त परीक्षण के लिए न्यायालय के निर्देशों का पालन नहीं करते।

इंग्लिश विधि में नपुंसकता साबित किया जाना अनुज्ञेय है। (देखें हेल्सबरीज लॉ ऑफ इंग्लैंड) (खंड 1 चौथा संस्करण पैरा 691) **बारबरी पीरचरेज** 1 811(1 सिम एंड एसटी 153, **लैग्गे बनाम एडमन्डस**)1855(25 एल जो सी एम 125 मामले को उद्धृत करते हुए, तथ्यों के बारे में **डब्लू बनाम डब्लू** : (1953)(2) ए एल एल ई आर 1013 और **फ्रांसिस बनाम फ्रांसिस** : 1959 (3) ए एल एल ई आर 206, पति का यह सबूत कि वह निरोधों का प्रयोग कर रहा था उपधारणा को खंडित नहीं कर सका।

अमरीका में भी नपुंसकता अनुज्ञेय अभिवचन है। विगमोर एवेडीन्स में, (खंड-नौ, पैरा 2527 पृष्ठ 585 से 589) विभिन्न राज्यों की निर्णय जनित विधि उद्धृत की गई है। इसके अतिरिक्त, बहुत से राज्यों में, विधि में नपुंसकता के बारे में एक अनुज्ञेय आधार के रूप में विशिष्ट रूप से निर्देश किया गया है। कैलीफोर्निया एवीडेन्स कोड की धारा 621 (1975 में संशोधित रूप में) और नई धारा 621 (1984 में संशोधित रूप में) इस संबंध में देखी जा सकती हैं।

श्रीलंका में 'नपुंसकता' को अनुज्ञेय अभिवचन बनाते हुए धारा 112 को संशोधित किया गया है। (देखें सरकार, 15वां संस्करण 1999, पृष्ठ 1603, 1614)

भारत में, बहुत सी विवाह विधियों में, 'नपुंसकता' विवाह को शून्य करने का वैध आधार है [देखें हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 12(क)] उच्चतम न्यायालय ने **दिग्विजय सिंह** बनाम **प्रताप कुमारी** ए.आई.आर. 1970 सु को 137 मामले में तथा विभिन्न उच्च न्यायालयों ने नपुंसकता को विवाह के विघटन का वैध आधार माना है। यह ठीक है कि नपुंसकता किसी व्यक्ति विशेष के मामले में, जो पति है या पत्नी, शारीरिक तथा मानसिक स्थिति दोनों प्रकार की हो सकेगी। यह तथ्य कि नपुंसकता, हमारी विवाह विधियों के अधीन तलाक के लिए एक आधार है, हमें इस पहलु को यह निर्णय लेते समय ध्यान में रखना होगा कि क्या हमारी विधि के अधीन 'नपुंसकता' एक अतिरिक्त आधार हो सकता है।

हमारे विचार में, लंका सहित बहुत से अन्य देशों की विधियों को देखते हुए, पति की नपुंसकता को धारा 112 में सम्मिलित किया जाना चाहिए, परंतु 'नपुंसकता' चिकित्सा परीक्षणों द्वारा निश्चायक रूप में, अर्थात् सभी संदेहों से परे स्थापित की जानी चाहिए। अधिसंभावनाओं के अत्यधिक प्रभाव को क्षति नहीं पहुंचेगी। जबकि 'परस्पर पहुंच न होना' बहुत ही सुदृढ़ साक्ष्य द्वारा साबित किया जा सकेगा, जैसाकि उच्चतम न्यायालय ने कई मामलों में अभिनिर्णीत किया है, हमारा विचार यह है कि 'नपुंसकता' के संबंध में अपेक्षित सबूत इतना निश्चायक होना चाहिए कि न्यायालय के पास कोई अन्य विकल्प ही न रहे।

2. रक्त परीक्षण

जहां तक रक्त ग्रुप का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट में पैरा 54.50 में निम्नलिखित उदाहरण दिए गए हैं। वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार, किसी बच्चे का रक्त ग्रुप अपनी माता या पिता के रक्त ग्रुप के समान होगा। यदि माता का रक्त ग्रुप 'ओ' है और बच्चे का 'ए' तब **'बी' रक्त ग्रुप का व्यक्ति शिशु का पिता नहीं हो सकता** परंतु यदि 'शिशु' की भांति प्रश्नाधीन पुरुष का रक्त ग्रुप 'ए' है तब भी यह कहना संभव नहीं है कि वह व्यक्ति पिता है। यूरोप में और अमरीका में, राज्यों में भी, यही स्थिति है (देखें 69वीं रिपोर्ट का पैरा 54.56)

जहां तक रक्त परीक्षणों का संबंध है, अमरीकी विधियों में यह अपेक्षा की गई है कि जहां एक से अधिक विशेषज्ञों की परीक्षा हो वहां पूर्ण एकमत होना चाहिए। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, जहां रक्त ग्रुपों का विश्लेषण करने पर रक्त परीक्षणों में यह दर्शाया गया हो कि पति पिता नहीं है, आज ऐसा परिणाम निश्चायक के रूप में स्वीकार किया जाता है कि पति पिता नहीं है। अपवर्जन परीक्षण निश्चित है परंतु शामिल परीक्षण संदिग्धार्थक है जैसाकि पहले बताया जा चुका है। उच्चतम न्यायालय ने **गौतमकुंडु बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य,** ए आई आर 1993 सु को 2295, मामलों में धारा 112 के संदर्भ में, रक्त परीक्षण के लिए आदेश किए जाने से पूर्व चार शर्तें निर्धारित की हैं। ये निम्नलिखित हैं :—

(1) भारतीय न्यायालय सामान्यतया रक्त परीक्षण का आदेश नहीं दे सकते;

(2) जहां अनुरोध करते हुए आवेदन किए जाते हैं वहां रक्त परीक्षण के लिए चारों ओर से जांच पड़ताल करने के लिए अनुरोध स्वीकार नहीं किए जा सकते;

(3) धारा 112 के अंतर्गत उठने वाली उपधारणा को दूर करने के लिए पृथमदृष्टया ऐसा मामला होना आवश्यक है कि पति को उसकी पहुंच न होना साबित करना होगा;

(4) न्यायालय को इस विषय में सावधानीपूर्वक विचार करना चाहिए कि रक्त परीक्षण का आदेश देने का परिणाम क्या हो सकेगा या इससे कोई अपत्य वर्णसंकर और माता चरित्रहीन साबित हो सकेगी;

(5) किसी को विश्लेषण के लिए रक्त का नमूना देने के लिए विवश नहीं किया जाएगा।

(इसी कारण से इंग्लिश विधि 1969 की धारा 23 न्यायालय को सिविल मामलों में प्रतिकूल निहितार्थ निकालने की अनुमति देती है यदि पक्षकार रक्त देने से इंकार कर देता है)

कैलीफोर्निया के ला एंड एवीडेंस कोड की धारा 621, संशोधित रूप में (विगमोर 2000-2001, सप्ली. पृष्ठ 1278, पैरा 2527 में उद्धृत द्वारा नपुंसकता तथा नसबंदी को भी सम्मिलित किया गया है। इसका पाठ निम्नलिखित है (वैस्ट सप्ली. 1984)

धारा 621 :

(क) उप-प्रभाग (ख) में उपबंधित के सिवाय, अपने पति के साथ, जो नपुंसक या पौरुष विहीन नहीं है, सहवास करने का किसी पत्नी के मामले में निश्चायक रूप से विवाह का अपत्य उपधारित किया जाता है,

(ख) उप-प्रभाग (क) में किसी उपबंध के होते हुए भी, यदि न्यायालय यह पाता है कि सभी विशेषज्ञों का निष्कर्ष, जैसा कि साक्ष्य से ज्ञात हुआ है जो पितृत्व अभिनिश्चित करने के लिए यूनीफार्म एक्ट आन ब्लड टेस्ट के अनुसरण में किए गए रक्त परीक्षण पर आधारित है, यह है कि पति अपत्य का पिता नहीं है, तब पति के पितृत्व के प्रश्न का निश्चय तदनुसार किया जाएगा।

(ग) उप-प्रभाग (ख) के अधीन रक्त परीक्षण के प्रस्ताव का नोटिस अपत्य के जन्म से दो वर्ष के अनधिक अवधि के भीतर पति द्वारा दिया जा सकेगा।

(घ) उप-प्रभाग (ख) के अधीन अपत्य की माता द्वारा रक्त परीक्षण के प्रस्ताव का नोटिस अपत्य के जन्म से दो वर्ष से अनधिक अवधि के भीतर दिया जा सकेगा यदि अपत्य के जीवी पिता ने अपत्य के पितृत्व की अभिस्वीकृति करते हुए न्यायालय में शपथपत्र दायर किया हो।

(ङ) उप-प्रभाग (ख) का उपबंध सिविल संहिता की धारा 7005 के अंतर्गत आने वाले किसी भी मामले में या ऐसे किसी मामले में जहां पत्नी, पति की सहमति से, शल्य प्रक्रिया के माध्यम से गर्भधारण करती है, लागू नहीं होगा।

(च) उप-प्रभाग (ख) के अनुसरण में रक्त परीक्षण के प्रस्ताव का नोटिस पेशकर्ता पक्षकार द्वारा शपथपत्र पर की गई घोषणा द्वारा समर्थित होगा जिसमें पितृत्व का मामला न्यायालय के समक्ष लाने के लिए तथ्यात्मक आधार का उल्लेख किया जाएगा। यह अपेक्षा ऐसे किसी मामले के लिए लागू नहीं होगी जो सितंबर, 1980 को न्यायालय के समक्ष अनिर्णीत हो।

(छ) उप-प्रभाग (ख) के उपबंध किसी ऐसे हेतुक के लिए लागू नहीं होंगे जो 30 सितंबर, 1980 को अंतिम निर्णय की स्थिति में पहुंच गया हो''

बिगमोर (खंड नौ, 1981 पैरा 2527 पृष्ठ 585-586) ने कैलीफोर्निया सिविल कोड के पैरा 7004 (1975 में संशोधित रूप में) का भी निर्देश किया है (यह स्पष्ट नहीं है कि उपर्युक्त धारा 621 में उद्धृत धारा 7005 क्या है)

''धारा 7004 : (क) कोई व्यक्ति किसी अपत्य का प्रकृत पिता उपधारित किया जाएगा यदि वह एवीडेंस कोड की धारा 621 की या निम्नलिखित उप-प्रभाग में से किसी की भी सभी शर्तें पूरी करता हो।

(1) वह और अपत्य की प्रकृत माता एक दूसरे के साथ विवाहित है या विवाह हुआ है और अपत्य का जन्म, विवाह के दौरान या विवाह, अकृत, अविधिमान्य घोषित किए जाने, या विवाह विच्छेद (तलाक) या न्यायालय द्वारा पारित पृथक्करण की डिक्री के पश्चात् द्वारा, विवाह रद्द किए जाने के पश्चात् 300 दिन के भीतर हुआ है।

(2) अपत्य के जन्म से पूर्व, उसने और अपत्य की प्रकृत माता ने विधि के प्रत्यक्ष अनुसरण में एक दूसरे के साथ विवाह करने का प्रयास किया है, यद्यपि इस प्रकार का प्रयतित विवाह अविधिमान्य घोषित किया जाता है या किया जा सकेगा; और

(i) यदि प्रयतित विवाह केवल न्यायालय द्वारा अविधिमान्य घोषित किया जा सकेगा, अपत्य का जन्म विवाह के दौरान, या मृत्यु, अविधिमान्य घोषित किए जाने, या तलाक द्वारा विवाह रद्द किए जाने के पश्चात् 300 दिन के भीतर हुआ है, या

(ii) प्रयतित विवाह न्यायालय के आदेश के बिना ही अविधिमान्य है।

(3) अपत्य के जन्म के पश्चात्, उसने और प्रकृत माता ने एक दूसरे के साथ विधि के स्पष्ट अनुसरण में विवाह किया है, या विवाह करने का प्रयास किया है, यद्यपित प्रयति विवाह अविधिमान्य है या किया जा सकेगा;

(i) उसकी सहमति से, उसे अपत्य के जन्म प्रमाणपत्र पर उसके पिता का नाम दिया गया है; या

(ii) वह लिखित स्वैच्छिक आश्वासन के अधीन या न्यायालय के आदेश द्वारा अपत्य का पालन-पोषण करने के लिए बाध्य है।

(4) वह अपत्य को अपने गृह में स्वीकार करता है और स्पष्ट रूप में उसे अपना प्रकृत अपत्य अभिधारित करता है।

(5) एवीडेंस कोड की धारा 621 में उपबंधित के सिवाय, इस धारा के अधीन की गई उपधारणा के सबूत को प्रतिकूल साबित करते हुए खंडन किया जा सकेगा और उपधारणा स्पष्ट तथा विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा केवल उपयुक्त कार्यवाही में खंडित की जा सकेगी। यदि इस धारा के अधीन दो या अधिक उपधारणाएं बनती हैं जो एक दूसरे की विरोधी हों तो वह उपधारणा की जाएगी जो तथ्यों के अधार पर नीति और तर्क के अनुसार अधिक महत्वपूर्ण समझी जाए। उपधारणा न्यायालय की डिक्री द्वारा अपत्य का पितृत्व किसी अन्य व्यक्ति में स्थापित करते हुए खंडित की जाती है।

जहां तक रक्त परीक्षणों का संबंध है, उपर्युक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए, हमारा विचार यह है कि रक्त ग्रुप परीक्षण ऐसी निश्चितता के साथ परिणाम देते हैं कि कोई व्यक्ति पिता नहीं है परंतु परिणाम इस विषय में निश्चायक नहीं है कि व्यक्ति पिता है। विज्ञान की वर्तमान स्थिति में तथा अन्य देशों की स्थिति के विचार से, हमारा विचार है कि माता और व्यक्ति का रक्त परीक्षण विश्लेषण (उनकी सहमति से किया गया) न्यायालय को यह निश्चित करने में सक्षम नहीं बनाता है कि कोई व्यक्ति पिता है। हमारा यह भी विचार है कि यदि एक से अधिक परीक्षण किए जाते हैं तो सभी परीक्षणों का परिणाम एक समान होना चाहिए।

डी. एन. ए. परीक्षण :

डी. एन. ए. परीक्षण के बारे में हम धारा 9 के अधीन पहले ही चर्चा कर चुके हैं। हमने बताया है कि आज विज्ञान के विकास के अनुसार डी. एन. ए. परीक्षण का परिणाम निश्चित रूप से यह साबित कर सकेगा कि कोई व्यक्ति पिता नहीं है, जहां दोनों नमूनों में समानता न पाई जाती हो। परंतु जहां नमूनों में समानता पाई जाती है, विवाह बना रहता है—और सांख्यिकीय अधिसंभावनाओं और उनकी सुसंगतता के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। अब यह निर्धारित है कि जहां नमूने एक समान पाए जाते हैं वहां व्यक्ति की पहचान के बारे में अधिसंभावना देश की पुरुष जनसंख्या, जिनके बारे में डी. एन. ए. रिकार्ड उपलब्ध है, में इस प्रकार की समरूपता की अधिसंभावना पर निर्भर करती है। यदि डी. एन. ए. डाटा की मात्रा कम है और देश की पूरी जनसंख्या उसके अंतर्गत नहीं आती है तो समरूपता एक दुर्बल साक्ष्य है। जहां डी. एन. ए. द्वारा अधिकतम जनसंख्या या समस्त देश के लिए डाटा उपलब्ध है, वहां स्वभाविक रूप से, अधिसंभाव्यता कम जनसंख्या वाले देश की तुलना में बहुत कम होगी। इस पर भी, नमूनों की समरूपता होने पर भी बहुत से देशों ने डी. एन. ए. साक्ष्य को अनुज्ञेय माना है, वे विशेष साक्ष्य की अनुमति इसलिए देते हैं कि न्यायालय या जूरी इन्हें ध्यान में रख सके। इंग्लैंड में, धारा 9 में निर्देशित मामलों में अधिसंभावनाओं को जोड़ने की बेज 'थ्योरम' का सिद्धांत, स्वीकार नहीं किया गया है।

इसलिए, जैसाकि रक्त ग्रुप के परीक्षणों के मामले में है, विज्ञान की प्रगति इतनी है कि जहां पुरुष तथा अपत्य के नमूने समान नहीं पाए जाते हैं, वहां यह निश्चित है कि पुरुष पिता नहीं है। परंतु जहां के समरूप पाए जाते हैं, वहां निष्कर्ष हमें अधिसंभाव्यता के सिद्धांत की ओर ले जाता है। हम प्रस्ताव करते हैं कि जैसा रक्त परीक्षण के मामले में है, डी. एन. ए. परीक्षण के माध्यम से ऐसा साक्ष्य प्राप्त हो सकता है जो यह साबित करेगा कि व्यक्ति पिता नहीं है। परंतु यह कहने के लिए कि व्यक्ति पिता है, डी. एन. ए. साक्ष्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त, जैसाकि नेशनल एसोसिएशन आफ टैस्टिंग आथोरिटीज आस्ट्रेलिया (नाटा) द्वारा निर्धारित किया गया है कि पिता नहीं है, ऐसी घोषणा कम से कम दो परीक्षणों के पितृत्व के अनुरूप पाए जाने पर ही की जा सकेगी। देखें,

बी एटिक्सन एंड एन 1 रैड, एम (2000) 32 आस्ट्रेलिया एल जे आफ फारेन्सिक साईन्सेड 75 (आस्ट्रेलिया ला रिफार्म कमीशन द्वारा पृष्ठ 18 पर उद्धत (एफ एन 66)। डी. एन. ए. के बारे में लागू की गई इस अपेक्षा को अन्य दो परीक्षणों के लिए भी लागू की गई इस अपेक्षा को अन्य दो परीक्षणों के लिए भी लागू करना चाहेंगे, अर्थात् नपुंसकता प्रमाणित करने के लिए चिकित्सीय जांच तथा गैर-पितृत्व साबित करने के लिए रक्त परीक्षण।''

नपुंसकता के अपने तर्क को साबित करने के लिए चिकित्सीय जांच से इंकार करने वाले या रक्त परीक्षण अथवा डी. एन. ए. परीक्षण से इंकार करने वाले व्यक्ति को अपनी प्रतिरक्षा—कि वह पिता नहीं है-छोड़ने के लिए बाध्य किया जाएगा।

नपुंसकता साबित करने के लिए चिकित्सीय परीक्षण या यह साबित करने के लिए कि कोई व्यक्ति पिता नहीं है रक्त परीक्षण या डी. एन. ए. परीक्षण के बारे में हम 'निश्चय रूप से साबित किया गया' शब्दों का प्रयोग करने का प्रस्ताव करते हैं। इसका आशय चिकित्सा, रक्त तथा डी. एन. ए. परीक्षणों में उपयोग की जा रही त्रुटिपूर्ण प्रक्रिया को समाप्त करना है। न्यायालय इस बात से संतुष्ट होना चाहिए कि परीक्षणों की प्रक्रिया का स्वीकृत वैज्ञानिक मानकों के अनुसार उपयुक्त रूप से अनुसरण किया गया है।

अपवाद, उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए हम तीन (1) नपुंसकता साबित करने के लिए चिकित्सीय जांच (2) रक्त परीक्षण (3) डी. एन. ए. परीक्षण और जोड़े जाने का प्रस्ताव करते हैं प्रस्तावित धारा 112 निम्नलिखित होगी :

''**112.** यह तथ्य कि किस अपत्य का जन्म उसकी माता और किसी पुरुष के बीच विधिमान्य विवाह के कायम रहते हुए या दो सौ अस्सी दिन के भीतर—

(i) विवाह को अकृत घोषित किए जाने के उपरांत माता के विवाहित रहते हुए, या

(ii) विवाह का विघटन करके उसे शून्य बनाए जाने के उपरांत माता के अविवाहित रहते हुए, हुआ था इस बात का निश्चायक सबूत होगा कि वह उस पुरुष का धर्मज अपत्य है जब तक कि—

(क) यह दर्शित न किया जाए कि विवाह के पक्षकारों की परस्पर पहुंच ऐसे किसी समय नहीं थी जब उस अपत्य का गर्भाधान किया जा सकता था; या

(ख) उस व्यक्ति के खर्चे पर किए गए परीक्षणों द्वारा यह निश्चायक रूप से स्थापित नहीं हो जाता, अर्थात्

(i) चिकित्सीय परीक्षण कि, उस सुसंगत समय पर, वह व्यक्ति नपुंसक या पौरुषविहीन था और अपत्य का पिता नहीं है, या

(ii) उस व्यक्ति तथा उसकी पत्नी की सहमति से और न्यायालय की अनुज्ञा से, अपत्य के मामले में, किए गए रक्त परीक्षण कि वह व्यक्ति अपत्य का पिता नहीं है, या

(iii) व्यक्ति की सहमति से किए गए और अपत्य के मामले में, न्यायालय की अनुज्ञा से, किया गया डी. एन. ए. जैनेटिक प्रिन्टिंग परीक्षण, कि वह व्यक्ति पिता नहीं है, और

परंतु यह कि न्यायालय इस बात से संतुष्ट है कि उपखंड (i) या उपखंड (ii) या उपखंड (iii) के अधीन परीक्षण स्वीकृत प्रक्रिया के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति से किए गए हैं और प्रत्येक उपखंड (i) या (ii) या (iii) के मामले में कम से कम दो परीक्षण किए गए हैं और दोनों के एक समान परिणाम प्राप्त हुए हैं कि व्यक्ति अपत्य का पिता नहीं है।

परंतु यह और कि जहां कोई व्यक्ति उपखंड (i) या (ii) या (iii) के अधीन परीक्षण से इंकार करता है वहां उस व्यक्ति से, खंड (क) के उपबंध को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किए बिना, यह समझा जाएगा कि उसने अपने पितृत्व के विरुद्ध किए गए किसी दावे के प्रति अपनी प्रतिरक्षा छोड़ दी है।

स्पष्टीकरण—I : खंड (ख) के उपखंड (iii) के प्रयोजनों के लिए डी. एन. ए. जैनेटिक प्रिन्टिंग टैस्ट्स से पति और अपत्य के नमूनों द्वारा किए गए परीक्षण अभिप्रेत होगा और 'डी. एन. ए.' शब्द से डियोम्सीरिबो न्यूक्लियिक एसिड अभिप्रेत होगा।

स्पष्टीकरण—II : इस धारा के प्रयोजनों से 'विधिमान्य विवाह' शब्दों से शून्य विवाह अभिप्रेत नहीं होगा जब तक कि उसे अकृत या शून्यकरणीय घोषित नहीं किया जाता, जब तक कि यह विघटन द्वारा शून्य नहीं हो जाता, जहां, तत्समय प्रवृत्त किसी अधिनियमिति द्वारा, यह उपबंधित किया गया हो कि ऐसे विवाहों के अपत्य, जो विघटन द्वारा अकृत शून्य घोषित कर दिए जाते हैं, भी धर्मज होंगे।

हम सिफारिश करते हैं कि उपर्युक्त रूप में प्रारूपित धारा 112 प्रतिस्थापित की जाए।

धारा 113 :

यह धारा 'राज्यक्षेत्र के अध्यर्पण के सबूत' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "113. शासकीय राजपत्र में यह अधिसूचना कि ब्रिटिश राज्यक्षेत्र का कोई भाग किसी भारतीय राज्य, राजा या शासक को गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट 1935 के भाग 3 के प्रारंभ से पूर्व (26 जें, 5, अ. 2) अध्यर्पित किया गया है इस बात का निश्चायक सबूत होगी कि ऐसे राज्यक्षेत्र का ऐसी अधिसूचना में वर्णित तारीख को विधिमान्य अध्यर्पण हुआ।"

धारा 113 का आशय सरकार को अधिनियमों की वैधता के बारे में न्यायालय द्वारा न्यायिक जांच किए जाने को रोकना है परंतु प्रिवी काउंसिल ने **दामोदर** बनाम **देवराम** (1875) 3 आई ए 102 आई एल आर 1 बम्बई 367 पी सी, मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि गवर्नर जनरल, जिसे एक्ट 24 और 25 विक्ट, सी. 67, धारा 22 द्वारा, भारत में उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग के बारे में क्राउन की सार्वभौमिकता या डोमिनियन के बारे में, या ब्रिटिश प्रजा की राज्य निष्ठा के बारे में सीधे विधि बनाने से वंचित किया गया है, किसी विधायी अधिनियम द्वारा, जिसका शासकीय राजपत्र में अधिसूचित किया जाना तात्पर्यित है, जो राज्यक्षेत्र के अध्यर्पण का निश्चायक सबूत है, उस अध्यर्पण स्वरूप तथा उसके विधिसम्मत होने के बारे में जांच अपवर्जित नहीं कर सकेगा।

दूसरे शब्दों में, ऐसी अधिसूचना, धारा 113 के बावजूद भी, निश्चायक सबूत हो सकेगी और न्यायालय अध्यर्पण के स्वरूप और उसके विधि-सम्मत होने के बारे में जांच कर सकेगा। इस प्रकार, प्रिवी काउंसिल ने व्यवहारिक रूप में यह अभिनिर्धारित किया है कि यह धारा गवर्नर जनरल के शक्तियों के अधिकारातीत है।

अब यह प्रश्न शासीय हो गया है क्योंकि अब कोई ब्रिटिश राज्यक्षेत्र नहीं रहा है (**मगनभाई** बनाम **यूनियन आफ इंडिया**: ए आई आर 1969 सुको 783) (गवर्नर जनरल इन काउंसिल की विधायी शक्ति के बारे में देखें **आलरा काफ्रान** बनाम **बम्बई सरकार** आई एल आर 18 बम्बई 636)

व्हिटनी स्टोक्स् ने कहा था कि धारा को अधिकारातीत उपबंध के रूप में निरसित किया जाना चाहिए (ऐंग्लो इंडियन कोड्स खंड II पृष्ठ 835) (सरकार द्वारा उद्धृत 15वां संस्करण, पृष्ठ 1626)

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 55.3 से सहमत हैं कि धारा 113 को निकाल दिया जाना चाहिए।

धारा 113क :

यह धारा 'किसी विवाहित स्त्री द्वारा आत्महत्या की दुष्प्रेरणा' के बारे में उपधारणा से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है:—

> "113क. जब प्रश्न यह है कि किसी स्त्री द्वारा आत्महत्या का करना उसके पति या उसके पति के किसी नातेदार द्वारा दुष्प्रेरित किया गया है और यह दर्शित किया गया है कि उसने अपने विवाह की तारीख से सात वर्ष की अवधि के भीतर आत्महत्या की थी और यह कि उसके पति या उसके पति के ऐसे नातेदार ने उसके प्रति क्रूरता की थी तो, न्यायालय मामले की सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह उपधारणा कर सकेगा कि ऐसी आत्महत्या उसके पति या उसके पति के ऐसे नातेदार द्वारा दुष्प्रेरित की गई थी।"
>
> **स्पष्टीकरण :** इस धारा के प्रयोजनों के लिए क्रूरता का वही अर्थ है जो भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 498क में है। यह धारा दंड विधि (दूसरा संशोधन) अधिनियम (1983 का 46) द्वारा अंत:स्थापित की गई थी। भारतीय दंड संहिता, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 और साक्ष्य अधिनियम में संशोधन भारत में दहेज के कारण होने वाली मृत्यु की समस्या को ध्यान में रखकर किया गया था।

इस धारा के लिए यह सबूत अपेक्षित है (1) कि उसके पति या नातेदारों ने उसके प्रति क्रूरता की थी और (2) कि स्त्री ने अपने विवाह की तारीख से सात वर्ष की अवधि के भीतर आत्महत्या की थी।

ये तथ्य साबित कर दिए जाते हैं तो न्यायालय उपधारित कर सकेगा। ऐसी उपधारणा तभी की जा सकेगी जब न्यायालय ने मामले की सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखा हो। तब यह अर्थ निकाला जाएगा कि पति या नातेदारों ने उसकी आत्महत्या की दुष्प्रेरणा की थी। यदि क्रूरता का कोई साक्ष्य न हो तो धारा लागू नहीं होगी। **स्टेट ऑफ पंजाब** बनाम **इकबाल सिंह** ए आई आर 1991 सु को, 1532/**हिमाचल प्रदेश** बनाम **निक्कू राम** : ए आई आर 1996 सु को, 67, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी ऐसे साक्ष्य के न होने पर कि मृतक को भारतीय दंड संहिता की धारा 498क के स्पष्टीकरण—I (ख) के अर्थों में परेशान किया जा रहा था, तब धारा 113क के अधीन उपधारणा की जा सकेगी।

उच्चतम न्यायालय ने **स्टेट ऑफ वेस्ट बंगाल** बनाम **ओरीलाल जायसवाल** : ए आई आर 1994 सु को, 1418, मामले में 'सबूत की स्थिति' के प्रश्न पर विचार किया था। उसने यह टिप्पणी की है कि दांडिक सुनवाई में सिविल कार्यवाहियों की तुलना में सबूत अधिक सुदृढ़ होना चहिए। दांडिक सुनवाई में, मामले के तथ्य और परिस्थितियां कितनी भी चालाकीपूर्ण क्यों न हों, लगाए गए आरोपों के बारे में, फिर भी अनुमान या अंदाजा लगाया जा सकेगा। सबूत के न्यायोचित संदेह से परे होने की अपेक्षा भारतीय दंड संहिता में धारा 498क और साक्ष्य अधिनियम में धारा 113क अंत:स्थापित किए जाने के बाद भी परिवर्तित नहीं हुई है। यद्यपि न्यायालय के विवेक का इस विषय में समाधान होना चाहिए कि अभियुक्त को वहां दोषी नहीं ठहराया जाएगा जहां उसके कथित अपराध में लिप्त होने के बारे में कोई न्यायोचित संदेह होगा। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि किसी दांडिक विचारण में सबूत का कोई पूर्ण मानक नहीं हो सकता और यह प्रश्न कि अभियुक्त के विरुद्ध लगाए गए आरोप न्यायोचित संदेह से परे साबित किए गए हैं मामलों के तथ्यों और परिस्थितियों पर तथा मामले में दिए गए साक्ष्य की गुणवत्ता और रिकार्ड के रूप में पेश की गई सामग्री पर निर्भर करेगा। विशिष्ट विषय-वस्तु पर विचार करते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए संदेह किसी न्यायोचित व्यक्ति का और अपनाया मानक भी किसी न्यायोचित तथा सही व्यक्ति द्वारा अपनाया गया मानक होना चाहिए। संदेह का औचित्य अन्वेषित किए जाने वाले अपराधों के स्वरूप के अनुरूप होना चाहिए। संदेह के नाम पर अत्यधिक निष्ठा रखने से काल्पनिक संदेह या विलंबित संदेह की पुष्टि नहीं होनी चाहिए। ताकि सामाजिक प्रतिरक्षा नष्ट न हो। न्यायालय को भी, क्या क्रूरता की गई थी इसका पता लगाने के लिए धारा 113 के अधीन साक्ष्य का मूल्यांकन करने के बारे में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। यदि यह ज्ञात हुआ हो कि आत्महत्या करने वाला घरेलू जीवन में साधारण सी रुक्षता, झगड़े और मतभेद के प्रति, जो सामाजिक जीवन में एक साधारण बात है, अत्यन्त भावुक था और ऐसी रुक्षता, झगड़े तथा मतभेद किसी समाज में ऐसी ही परिस्थितियों में रहने वाले किसी व्यक्ति को आत्महत्या करने के लिए प्रेरित कर सकेंगे से अपेक्षा नहीं की जाती हो, वहां

यह अभिनिर्धारित करने में न्यायालय के विवेक समाधान नहीं हो सकेगा कि आत्महत्या के अपराध के लिए दुष्प्रेरित करने का आरोपित अभियुक्त दोषी था।

इस धारा की **लखजीत सिंह बनाम स्टेट ऑफ पंजाब** : 1994 सप्ली. (1) एस सी सी 173 और **पवन कुमार बनाम हरियाणा राज्य** : 1998 (3) एस सी सी 309, तथा **शांता बनाम हरियाणा राज्य** : 1991 (1) एस सी सी 371 मामलों की भी व्याख्या की गई है।

न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि विवाह के सात साल के भीतर आत्महत्या करने के तथ्य मात्र से किसी को दुष्प्रेरणा का अर्थ नहीं लगाना चाहिए जब तक कि क्रूरता साबित न की गई हो और न्यायालय, जिसे 'उपधारणा कर सकेगा' शब्दों के कारण से उपधारणा करने या न करने का विवेकाधिकार प्राप्त है, को मामले की सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए, जो एक अन्य सुरक्षोपाय सिद्ध होगा। देखें **नीलकान्ता पाती** बनाम **स्टेट ऑफ उड़ीसा** : 1995 क्रिमस एल जे 2472 (खंड 3)।

धारा 113क उपबंधित विधिक उपधारणा में विगत सात वर्षों की क्रूरता की भूतकाल की घटनाएं स्पष्ट रूप में सम्मिलित हैं **वसंता बनाम स्टेट ऑफ महाराष्ट्र** : 1987 क्रिमिल एल जे 901 (बम्बई)।

उपधारणा, यदि इस मामले में भी की जाती है, खंडनीय होगी, **प्रेमदास बनाम स्टेट ऑफ हिमाचल प्रदेश** : 1996 क्रिमिल एल जे 951 (एच पी)।

निर्णय जनित विधि को नोट करते हुए और विगत 18 वर्षों में न्यायालयों के समक्ष आई समस्याओं को ध्यान में रखते हुए, हमें इस धारा में ऐसी कोई चीज़ नजर नहीं आती है जिसमें संशोधन अपेक्षित हो। जबकि क्रूरता तथा दहेज के कारण होने वाली मृत्युओं की संख्या बढ़ती जा रही है, कतिपय मामलों में इन उपबंधों का दुरुपयोग भी एक नई बात है।

इनमें से कुछ मामले उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालय के सामने आए हैं। कतिपय मामलों में पतियों के विरुद्ध शिकायतें की गई हैं जबकि इन मामलों में क्रूरता जैसी कोई बात नहीं थी। कुछ अन्य मामलों में, जहां पति के विरुद्ध सामग्री उपलब्ध है, पति के माता-पिता और बहनों को, जो कहीं अन्यत्र रहते हैं, सम्मिलित कर लिया गया है। कुछ मामलों में परिणाम यह हुआ है कि शिकायतों तथा पुलिस के अत्यधिक उत्साह के कारण समस्त मामला ही असफल हो गया है। परंतु हमारे विचार में, "उपधारणा कर सकेगा" और "अन्य सभी परिस्थितियां" शब्द न्यायालय को झूठे मामलों से निपटने के लिए पर्याप्त आधार प्रदान करते हैं। अतः हमारे विचार में धारा 113क के दुरुपयोग को रोकने के लिए कोई विशिष्ट उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है।

परिणामतः धारा 113क में कोई संशोधन करने की आवश्यकता नहीं है।

धारा 113ख :

यह धारा 'दहेज मृत्यु के बारे में उपधारणा' से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :—

"**113ख.** जब प्रश्न यह है कि किसी व्यक्ति ने किसी स्त्री की दहेज मृत्यु की है और यह दर्शित किया जाता है कि मृत्यु के कुछ पूर्व ऐसे व्यक्ति ने दहेज की किसी मांग के लिए या उसके संबंध में उस स्त्री के साथ क्रूरता की थी या उसको तंग किया था तो न्यायालय यह उपधारणा करेगा कि ऐसे व्यक्ति ने दहेज मृत्यु कारित की थी।

स्पष्टीकरण : इस धारा के प्रयोजनों के लिए 'दहेज मृत्यु' का वही अर्थ है जो भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 304ख में है।"

इस धारा के अधीन पहले तो यह साबित करना आवश्यक है कि ऐसी महिला के साथ ऐसे व्यक्ति ने क्रूरता की है या उसे तंग किया है और दूसरे यह कि ऐसी क्रूरता दहेज की मांग के संबंध में की गई होनी चाहिए और तीसरे यह कि यह सब उसकी मृत्यु से पूर्व हुआ है। यदि ये सब चीजें साबित कर दी जाती है, तब न्यायालय यह उपधारित करेगा कि उस व्यक्ति ने दहेज मृत्यु कारित की है। यह ठीक है कि "उपधारित करेगा" शब्दों के कारण न्यायालय ऐसी परिस्थितियों में, यह उपधारित करने के लिए बाध्य है कि ऐसे व्यक्ति ने दहेज मृत्यु कारित की है परंतु फिर भी उपधारणा खंडनीय होगी।

'दहेज मृत्यु और विधि सुधार' विषय पर विधि आयोग की इक्यानवेंवी रिपोर्ट में (1983) धारा 113ख और भारतीय दंड संहिता में धारा 304ख जोड़े जाने की सिफारिश की गई थी।

श्यामलाल बनाम स्टेट आफ हरियाणा : ए आई आर 1997 सु को, 1830, मामले में, उच्चतम न्यायालय को धारा 113ख के संबंध में कार्यवाही करने का अवसर प्राप्त हुआ था। उन्होंने कहा है कि धारा 113ख के अधीन उपधारणा करने के लिए यह साबित किया जाना अनिवार्य है कि मृत्यु से पूर्व उसके साथ इस प्रकार की क्रूरता की गई थी या उसे इस प्रकार से तंग किया गया था।

जहां अभियोजन पक्ष केवल यह साबित कर पाए कि नकद या अन्यथा दिए गए या दिए जाने वाले दहेज के बारे में दोनों पक्षकारों के बीच बराबर विवाद चल रहा था और दहेज की मांग पूरी न कर पाने के कारण पत्नी को, मृत्यु से लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व, उसके माता-पिता अपने घर ले गए थे और यह कि दोनों पक्षों के बीच सुलह कराने का प्रयास किया गया था जिसके लिए एक पंचायत की गई थी जिसमें ये निर्धारित किया गया था कि वह अपने पति के घर जाएगी जिसके अनुसरण में उसका पति दुर्घटना से 10-15 दिन पहले अपने घर वापस ले आया था परंतु रिकार्ड में ऐसा कुछ भी न ही है जो यह दर्शाता हो कि जब से वह अपने माता-पिता के घर गई थी तब से उसकी मृत्यु होने तक की अवधि में दहेज की मांग के बारे में उसके साथ क्रूरता की गई या उसे तंग किया गया था, ऐसे मामलों में धारा 113ख के अधीन विधिक उपधारण करना अनुज्ञेय नहीं है।

इस तथ्य के उपरांत भी कि अभियुक्त का मृत्यु से कोई सीधा संबंध है अथवा नहीं, उसे दहेज मृत्यु कारित करने का दोषी उपधारित किया जाएगा परंतु यह कि धारा में की गई सभी अपेक्षाएं साबित की गई हों। जहां पत्नी की मृत्यु अप्राकृतिक अर्थात् गला घोटने द्वारा, रूप से हुई पाई जाती है और उस मामले में दहेज की मांग की जा रही थी और पति के पक्ष की ओर से क्रूरता की जा रही थी, वहां धारा 113ख के अधीन की गई उपधारणा को सही समझा जाएगा। (**हेमचन्द बनाम स्टेट आफ हरियाणा** : ए आई आर 1995 सु को, 120)

गुरबचन सिंह बनाम सतपाल सिंह : 1990 क्रिमिल, एल जे 562 (एस सी), मामले में परिस्थितिकीय साक्ष्य यह दर्शाता था कि पत्नी को आत्महत्या करने के लिए विवश किया गया था कि क्योंकि अभियुक्त व्यक्ति, निरंतर ताने मारकर, कदाचार करते हुए तथा ऐसा आरोप लगाकर कि उसके गर्भ में अवैध बच्चा है, उसके साथ क्रूरता कर रहा था। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 113क के अधीन उपधारणा की जा सकेगी।

ऐसे मामले में जहां लड़की की मृत्यु के बारे में उसके माता-पिता तथा उसके भाई को सूचित न किया गया हो और अभियुक्त ने मृतक देह का दाह-संस्कार कर दिया हो, उपधारणा को सही अभिनिर्धारित किया गया : (**शांति बनाम स्टेट आफ हरियाणा**), 1991 क्रिमिनल एल जे 5 1713 (एस सी)।

इस संबंध में, यह नोट किया जा सकेगा कि धारा 113क और धारा 113ख के बीच कुछ अंतर हैं। जहां धारा 113क में, विधान-मंडल ने "उपधारणा कर सकेगा" तथा "मामले की सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए" जैसे शब्दों का प्रयोग किया है, वहां धारा 113ख में "उपधारित करेगा" शब्दों का प्रयोग किया है और "मामले की सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए" शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। धारा 113ख में "मृत्यु से ठीक पहले" शब्दों का प्रयोग किया गया है जबकि धारा 113क में ऐसा नहीं किया गया है। 113ख, धारा 304ख के अधीन 'दहेज मृत्यु' के बारे में है जब कि धारा 113क "आत्महत्या की दुष्प्रेरणा" के बारे में है।

हमारे विचार में, धारा 113क में "उपधारणा कर सकेगा" या "मामले की सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए" जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि 1986 में अंतःस्थापित किए गए सभी नए उपबंधों के बावजूद भी, दहेज मृत्यु नियमित रूप से हो रही हैं। हमारे विचार से वर्तमान उपबंध "उपधारित करेगा" रखा जाना चाहिए। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, इस पर भी उपधारणा खंडनीय होगा।

अतः हम धारा 113ख में किसी संशोधन का सुझाव नहीं दे रहे हैं।

धारा 114 :

यह धारा शास्त्रीय है और इसका आधार मानव आचरण के विभिन्न पहलु हैं। यह ऐसे तथ्यों का निर्देश करती है जिनकी न्यायालय ''उपधारणा कर सकेगा'' इस धारा में 'क' से 'झ' तक नौ दृष्टांत दिए गए हैं जो कहावतों के रूप में हैं और इनके पश्चात् नौ पैराग्राफ दिए गए हैं जिनमें ऐसे तथ्यों का निर्देश है जिनको निर्देशित दृष्टांत 'क' से 'झ' तक के प्रयोजनों के लिए ध्यान में रखा जाएगा।

अब हम, मुख्य धारा का निर्देश करेंगे। इसके पश्चात् प्रत्येक दृष्टांत का तथा दूसरे तथ्यों के बारे में तदनुरूपी अपेक्षा का जिनको प्रत्येक दृष्टांत के मामले में ध्यान में रखा जाएगा, उल्लेख करेंगे।

मुख्य धारा 114 का पाठ निम्नलिखित है :

''114. न्यायालय ऐसे किसी तथ्य का अस्तित्व उपधारित कर सकेगा जिसका घटित होना उस विशिष्ट मामले में तथ्यों के संबंधित प्राकृतिक घटनाओं, मानवी आचरण तथा लोक और प्राइवेट कारबार के समान्य अनुक्रम को ध्यान में रखते हुए वह सम्भाव्य समझता है।''

यह धारा न्यायालय को किसी तथ्य की विद्यमान्यता को उपधारित करने में समर्थ बनाती है जिनको न्यायालय घटित होना समझता है, जो,

(क) सामान्य प्राकृतिक घटनां

(ख) मानव आचरण, और

(ग) लोक और प्राइवेट कारबार

से संबंधित है।

विधेयक पुरःस्थापित करते हुए सर जेम्स स्टीफन ने धारा 114 के बारे में निम्नलिखित कहा था :

''इस धारा का प्रभाव इस बात को पूर्ण रूप से स्पष्ट करना है कि न्यायालय किसी विशिष्ट तथ्य के प्रभाव के बारे में निर्णय लेने में अपने सामान्य ज्ञान और अनुभव का उपयोग करेंगे और यह कि वे इस विषय पर चाहे कोई भी नियम हो उसके अध्यधीन नहीं होंगे। दिए गए अधिकांश दृष्टांत ऐसे मामलों के बारे में हैं, जिन्हें इंग्लिश विधि में विधि की उपधारणा कहा जाता है : साक्ष्य के प्रभाव के बारे में कृत्रिम नियम जो न्यायालय को अपना निर्णय लेने में मार्गदर्शी होंगे, तथापि, कतिपय नियंत्रणों के अध्यधीन जिन्हें समझना या लागू करना कठिन है, परन्तु जो प्रश्नाधीन धारा (114) द्वारा स्पष्ट किए जा सकेंगे''

(काउंसिल में कार्यवाही, भारत का राजपत्र, 30 मार्च, 1872, अनुपूरक, पृष्ट 234-35)

यह बात नोट की जानी भी महत्वपूर्ण है कि धारा में ''उपधारणा कर सकेगा'' शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह न्यायालय पर निर्भर करेगा कि वह उपधारणा करेगा या नहीं करेगा (**आर बनाम शिवनाथ** : ए.आई.आर. 1943 एफ.सी. 75)। उपधारणा का, यदि की जाती है, खंडन किया जा सकेगा। परन्तु किसी अन्य उपधारणा से सुरक्षित रूप में कोई उपधारणा नहीं की जा सकेगी। (**यू.एस. बनाम रौंस** : 92 यू.एस. 281)

एक बार किसी उपधारणा का संतोषप्रद रूप में खंडन कर दिया जाता है तो यह समाप्त हो जाती है। फिर से वही उपधारणा नहीं की जा सकेगी। एक प्रसिद्ध उद्धरण में (काउंसिल क्लब आर.आर.) न्यायाधीश लैम्न ने **मैकोविक बनाम कनसास सिटी सेंट जेम्स एण्ड सी.बी.आर. कम्पनी** (94 एस.ब्लल्बू 256, 262) = 196 एम. ओ., 550 मामले में यह टिप्पणी की है कि :

''उपधारणाएं चमगादड़ों की भांति हैं जो धुंधले प्रकाश में जल्दी से गुजर जाती हैं परन्तु तथ्यों के प्रकाश में विलुप्त हो जाती हैं''

सुसंगत पैराग्राफ निम्नलिखित है :

''उसके अपने साक्ष्य से यह प्रतीत होता है कि इस दुर्भाग्यशाली वादी ने मूर्खता से खतने के साथ पासा हिलाया और उसे फैंकने पर वह हार गया, क्योंकि ह्रास के मैदान में अपने साक्ष्य में वह कहता है कि वह पार पहुंचने के लिए 'दौड़ा था' और अन्तिम विचारण में उसने अपने साक्ष्य में कहा कि उसने सोचा था कि वह 'उस पार पहुंच जाएगा'। विद्वान काउंसिल ने इस स्थिति पर निर्भर किया कि वादी ऐसी उपधारणा करने का अधिकारी था कि प्रतिवादी अध्यादेशों का पालन कर रहा था, उसके कार्य तदनुसार किए जा रहे थे ..... परन्तु क्या विधि के अनुसार ऐसी परिस्थितियों में उपधारणाएं की जा सकेंगी जहां वास्तविक घटनाओं के पक्षकार जीवित हों और तथ्यों को पूर्णतया उद्घाटित करते हों यदि वादी को अध्यादेशों के बारे में पता था और वह इस तथ्य पर विश्वास करता कि प्रतिवादी उपबंधों का पालन कर रहा था और उसके अनुसार आचरण कर रहा था, तब क्या वह ऐसा नहीं कह सकता था? ऐसी शर्तों के अधीन, विश्वास अन्य तथ्यों के समान, तथ्य का सुग्राही सबूत प्रतीत होगा और वह अति उत्तम साक्ष्य द्वारा, जो मामले में स्वीकार किया जा सके, साबित किया जाना चाहिए। अन्य व्यक्तियों की तरह उसे भी तथ्यों का पता था, और कुछ बोलने से इंकार करके क्या वह किसी हितैषी उपधारणा की सहायता ले सकेगा? ''उपधारणाएं', जैसा कि एक विद्वान अधिवक्ता ने कहा है, 'दुर्बल' होती है, किसी अन्य मामले में ''विधि चमगादडों के रूप में देखी जा सकती हैं जो धुंधलके में जल्दी से गुजर जाती हैं और वास्तविक तथ्यों के तेज प्रकाश में विलुप्त हो जाती हैं''। यह कि उपधारणाओं का ज्यूरी के समक्ष उपधारित किए गए तथ्यों के विद्यमान होने की स्थिति में कोई अर्थ नहीं रखता है, या जहां वादी तथ्यों से अवगत है तब क्या उसे सामान्य सावधानी बरतनी चाहिए कि जैसाकि बहुत से मामलों में अभिनिर्धारित किया गया है (विगमोर 1981, पैरा 2491, पृष्ट 305) [**जी. बसू बनाम सैयद यासीन** : ए.आई.आर. एपी 139 (एफ.बी.) भी देखें, जहां उपर्युक्त अमरीकी मामला उद्धृत किया गया है) और उच्चतम न्यायालय द्वारा, **भारत बैरल और ड्रुना मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी बनाम अमीन चन्द प्यारे लाल** : 1999(3) एस.सी.सी. 35, मामले में अभिस्वीकृति प्रदान की गई है।

पृष्ठ 311 पर विगमोर ने बोहलर को उद्धृत किया है, ''यदि इफैक्ट ऑफ रिटेबिल प्रीजम्पशन ऑफ लॉ अपौन दि बर्डन ऑफ प्रूफ'' (1920) 68, यू.पी.ए.एल. रिवि. 307 (बोहलर द्वारा स्टेडीज इन लॉ ऑफ टार्टस, 636 (1926) में पुनः उद्धृत)

> ''इन सभी में, साक्ष्य दिए जाने पर ही आवश्यकता पूरी होती है। अपना प्रयोजन करने के पश्चात उनका कोई और प्रभाव नहीं रहता है। **मेटरलिंक की नर मधुमक्खी की भांति, अपना कार्य करने के पश्चात् वे विलुप्त हो जाते हैं।**''

अब हम ''प्राकृतिक घटनाओं, मानव आचरण तथा लोक और प्राइवेट कारबार के सामान्य अनुक्रम'' शब्दों के बारे में चर्चा करेंगे। 'सामान्य अनुक्रम' शब्द न केवल प्राकृतिक घटनाओं अपितु मानव आचरण तथा लोक और प्राइवेट कारबार की भी विशेषता बताते हैं। जब न्यायालय किसी साक्षी का भी किसी विशेषज्ञ का सीधा साक्ष्य स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाता है तब धारा 114 लागू नहीं होती है। केवल इसके अभाव में ही धारा 114 का आश्रय लेना पड़ता है। जहां तक प्राकृतिक घटनाओं, मानव आचरण और लोक तथा प्राइवेट कारबार के सामान्य अनुक्रम का संबंध है, यह सब लौकिक और मानवी क्रियाकलापों, परम्पराओं तथा रूढ़ियों से अर्जित न्यायाधीश के सामान्य ज्ञान पर निर्भर है।

अब हम (क) से (झ) तक प्रत्येक दृष्टांत के और उनमें से प्रत्येक के संबंध में कतिपय तथ्यों की सुसंगति, जैसा कि धारा 114 में बताई गई है और दृष्टांत के अंतिम भाग में उल्लिखित है, के बारे में चर्चा करेंगे।

ऐसा करने से पूर्व हम यहां इस बात का उल्लेख करेंगे कि दृष्टांतों का आशय विधि के नियम बनाना नहीं है जो बहुत विस्तृत होते हैं। वे उदाहरण मात्र होते हैं और न्यायालय सदैव इस बात के लिए स्वतंत्र है कि वह धारा को देखें और उसे लागू करे, <u>देवी प्रसाद</u> बनाम <u>आर</u> : ए.आई.आर. 1947, इलाहाबाद 191 (एफ बी)।

परन्तु क्योंकि 69वीं रिपोर्ट में प्रत्येक दृष्टांत के बारे में टिप्पणी की गई है, इसलिए हम भी ऐसा ही करेंगे।

''**दृष्टांत (क)** : न्यायालय उपधारित कर सकेगा कि चुराए हुए माल पर जिस मनुष्य का चोरी के शीघ्र उपरांत कब्जा है, जब तक कि वह अपने कब्जे का कारण न बता सके, या तो वह चोर है या उसने माल को चुराया हुआ जानते हुए प्राप्त किया है''

किन्तु न्यायालय निम्नलिखित तथ्य को ध्यान में रखेगा : ''(क) किसी दुकानदार के पास उसके गल्ले में कोई चिन्हित रुपया उसके चुराए जाने के **शीघ्र पश्चात है**, और वह उसके कब्जे का कारण विनिर्दिष्ट, नहीं बता सकता किन्तु अपने कारबार के अनुक्रम में वह रुपया लगातार प्राप्त करता रहता है''

दृष्टांत में 'कर सकेगा' शब्दों का प्रयोग किया गया है, न्यायालय उसका निहितार्थ निकाल सकेगा या न निकाल सकेगा। अन्यथा भी इसका तार्किक खंडन किया जा सकेगा।

यह दृष्टांत टेलर (धारा 140) से लिया गया है जिसने आर बनाम लेंगमीड : 9 कोक्स सी.सी. 464, मामले का उद्धरण दिया है। **तुलसी राम** बनाम **राज्य** : ए.आई.आर. 1954 सु.को. मामले में उच्चतम न्यायालय ने टिप्पणी की है कि धारा 114 के अधीन उपधारणा करने की अनुज्ञा का समय के पहलू को ध्यान में रखकर पढ़ना होगा। यदि इस बीच कई माह का समय व्यतीत हो चुका है तब उपधारणा सामान्यतया लागू नहीं हो सकती। **गुलाब चन्द** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** : ए.आई.आर. 1995 सु.को. 1598 मामले में माल तीन या चार दिन के भीतर पुनःप्राप्त किया गया। **यारुभद्रप्पा** बनाम **कर्नाटक राज्य** : ए.आई.आर. 1983 सु.को. 446 मामले में एक वर्ष की अवधि को भी बहुत लम्बी अवधि नहीं माना गया। अतः यह प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर करता है।

दूसरा पहलू यह है कि अभियुक्त का दोष साबित करने का भार नहीं बदलता है अपितु परिस्थितिकीय भार बदल कर अभियुक्त पर आ जाता है। यद्यपि, वह अभियोजन साक्षी की प्रतिपरीक्षा करके, साक्ष्य दे सकेगा, वह यह दर्शित करके भी लाभान्वित हो सकेगा कि एक ऐसा ही वैकल्पिक मामला है जो उसके अपराध के बारे में संदेह पैदा करता है। **करनाल** बनाम **राज्य** : ए.आई.आर. 1976 सु.को. 1097 मामले में उच्चतम न्यायालय ने टिप्पणी की थी कि न्यायालय अभियुक्त की दोषसिद्धि की उपधारणा कर सकेगा जहां परिस्थितियां यह दर्शाती हैं कि उसके दोष के ज्ञान के सिवाय और कोई न्यायोचित परिकल्पना नहीं की जा सकती। (देखें **बैजू** बनाम **राज्य** : ए.आई.आर. 1978 सु.को. 522 और **मोहन लाल** बनाम **अजीत** : ए.आई.आर. ए.आई.आर. 1978 सु.को. 1183)। वास्तव में, **त्रिम्बक** बनाम **राज्य** : ए.आई.आर. 1954 सु.को. 319 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उसको इस कारण से दोषी ठहराना सही नहीं है कि उसके पास कोई स्पष्टीकरण नहीं था।

धारा 114(क) के अधीन उपधारणा चोरी के मामलों तक ही सीमित नहीं है। इसे विश्वास का हनन जैसे अन्य अपराधों के बारे में भी लागू किया जा सकेगा।

परन्तु अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या ऐसे माल की पुनःप्राप्ति और स्पष्टीकरण न दिए जाने पर और किसी अन्य स्पष्टीकरण के संभव न होने पर अभियुक्त को, उसके कब्जे से माल के बरामद होने के कारण, भारतीय दंड संहिता की धारा 411 के अधीन चोरी का दोषी अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए।

संघ राज्य क्षेत्र गोवा बनाम **बनेविनतूरा डिसूजा** : ए.आई.आर. 1992 सु.को. 1199 मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि उपधारणा का विस्तार यह कहने के लिए नहीं किया जा सकेगा कि उस व्यक्ति ने, जिसके कब्जे में चोरी का माल है, हत्या भी की है—डकैती करने के लिए हत्या का मामला—जब तक कि परिस्थितियां अभियुक्त को हत्या के अपराध से संबद्ध न करती हों। अन्यथा, उपधारणा केवल यह है कि वह भारतीय दंड संहिता की धारा 411 के अधीन चोरी करने का अपराधी है। ऐसी ही स्थिति, **सुरजीत सिंह** बनाम **राज्य** : ए.आई.आर. 1994 सु.को. 110 मामले में थी। तथापि, **गुलाब चन्द** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** : ए.आई.आर. 1995 सु.को. 1598 मामले में साबित किया गया था कि हत्या और डकैती एक ही संव्यवहार का अभिन्न अंग था और दृष्टांत (क) के अधीन केवल यह उपधारणा नहीं की गई थी कि अभियुक्त ने मृतक महिला के जेवरों की डकैती भी की थी और हत्या भी। दूसरी ओर, **अमर सिंह** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** : ए.आई.आर. 1982 सु.को. 129 मामले में तथ्यों के आधार पर अभिनिर्धारित किया गया कि उपधारणा का विस्तार डकैती के अपराध के लिए नहीं किया जा सकेगा। ऐसी ही स्थिति **सांवत खां** बनाम **राज्य** : ए.आई.आर. 1956 सु.को. 54।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 56.11 में कहा गया है कि इस दृष्टांत में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हमारा भी विचार यही है क्योंकि उच्चतम न्यायालय के निर्णय न्यायालयों को अन्यथा पर्याप्त मार्ग निर्देश देते हैं।

दृष्टांत (ख) और धारा 133 : न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि सह-अपराधी विश्वसनीयता के अयोग्य है जब तक कि तात्विक विशिष्टियों में उसकी सम्पुष्टि नहीं होती।

इसे धारा 114 के दूसरे भाग में दो दृष्टांतों के साथ पढ़ना होगा। हम उनका निर्देश बाद में करेंगे जब हम धारा 133 और दृष्टांत (ख) के बीच कथित अननुरूपता की चर्चा करेंगे।

किसी सह-अपराधी की विश्वसनीयता के बारे में व्यवहारिक नियम मानवीय अनुभव पर आधारित है और न्यायालय इसकी सम्पुष्टि को ध्यान में रखेगा (**शेख जाकिर बनाम बिहार राज्य** : ए.आई.आर. 1983 सु.को. 911; **निरंजन सिंह बनाम पंजाब राज्य** : ए.आई.आर. 1996 सु.को. 3254)।

इस दृष्टांत को साक्ष्य अधिनियम की धारा 133 के साथ पढ़ना होगा। धारा 133 का पाठ निम्नलिखित है :

"**धारा 133 : सहअपराधी** : यह अपराधी, अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध सक्षम साक्षी होगा, और कोई दोषसिद्धि केवल इसलिए अवैध नहीं है कि वह किसी सहअपराधी के असम्पुष्ट परिसाक्ष्य के आधार पर की गई है।"

यह धारा केवल सहअपराधी के साक्ष्य के आधार पर दोषसिद्धि की संभावना को नहीं नकारती है, जब कि दृष्टांत (ख) में उसकी सम्पुष्टि की अपेक्षा की गई है। **सी.आर. मेहता बनाम महाराष्ट्र राज्य** : 1993 क्रिम. एल.जे. 2863 (बम्बई) का मामला सुसंगत है। इसमें दो व्यक्तियों ने अपने हित साधन में सहायता करने के लिए मंत्री को रिश्वत दी। मंत्री ने भ्रष्टाचार विरोधी ब्यूरो को सूचित कर दिया है और अभियुक्त व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया गया। मंत्री के साक्ष्य के आधार पर, जिसकी सामान्य निष्ठा उच्च श्रेणी की समझी जाती है, जिन व्यक्तियों ने रिश्वत का प्रस्ताव किया था वे सिद्धदोष किए गये।

दृष्टांत (ख) और धारा 133 के बीच प्रत्यक्ष अननुरूपता है। दृष्टांत (ख) में 'सम्पुष्टि' अपेक्षित है जबकि धारा 133 में यह सुझाव है कि यदि कोई व्यक्ति किसी सहअपराधी के 'असम्पुष्ट' साक्ष्य के आधार पर दोषी पाया जाता है तो इसमें कुछ भी अवैध नहीं है।

इस पहलू का 69वीं रिपोर्ट के अध्याय 73 में धारा 133 के बारे में चर्चा करते हुए निर्देश किया गया है और बहुत विस्तार से चर्चा करने के पश्चात, यह सुझाव दिया गया था कि धारा 133 निकाल दी जानी चाहिए तथा धारा 114 का दृष्टांत (ख) रखा जाना चाहिए। [प्रश्न यह है कि क्या दृष्टांत (ख) को निकाला जाना चाहिए और धारा 133 में संशोधन किया जाना चाहिए?]।

निःसंदेह, श्री बेपा पी. सारथी ने अपनी टिप्पणियों में कहा है कि धारा 114 के दृष्टांत (ख) और धारा 133 के बीच कोई अननुरूपता नहीं है। धारा 133 में एक सामान्य नियम उपबंधित है कि दोषसिद्धि किसी सहअपराधी के एक मात्र साक्ष्य पर की जा सकेगी। ठीक एकल साक्षी के साक्ष्य के मामले की भांति या केवल मरने वाले की उद्घोषणा की भांति। परन्तु किसी विशिष्ट मामले में, न्यायालय यह महसूस कर सकेगा कि सहअपराधी के एकमात्र साक्ष्य पर किसी व्यक्ति को सिद्धदोष ठहराना सुरक्षित नहीं है, ठीक उसी मामले की तरह जहां न्यायालय यह महसूस करे कि किसी एकल साक्षी के एकमात्र साक्ष्य के या केवल मारने वाले व्यक्ति की उद्घोषणा के आधार पर किसी व्यक्ति को सिद्धदोष ठहराना सुरक्षित नहीं है। यदि किसी विशिष्ट मामले में, न्यायालय यह महसूस करता है कि किसी सहअपराधी के साक्ष्य की सम्पुष्टि आवश्यक है वहां वह धारा 156 का आश्रय ले सकेगा। श्री सारथी के अनुसार यह भ्रम इसलिए पैदा हुआ है कि **आर बनाम बास्करविले**: 1966 (2) के बी 658 (प्रक्रिया नियम इंग्लिश विधि का नियम बन गया है), मामले की विधि अनावश्यक रूप से भारत में लाई गई है क्योंकि सहअपराधी का कथन, उसके सरकारी गवाह बनने से पूर्व, मजिस्ट्रेट को दिया जाता है जिससे इस बात का ध्यान रखने के लिए ऐसी सभी सावधानियां बरतने की अपेक्षा की जाती है कि सहअपराधी पुलिस की यंत्रणा के कारण अपना कथन न करे। धारा 133 का अन्तः स्थापन यह दर्शाने के लिए किया गया है कि कोई

सहअपराधी किसी अन्य साक्षी की भांति ही है। धारा 156 का दृष्टांत, यद्यपि यह सहअपराधी के बारे में है, मुख्य धारा केवल साक्षी के बारे में ही है।

जबकि ये टिप्पणियां किसी सीमा तक महत्वपूर्ण हैं, हम यह महसूस करते हैं कि प्रश्न यह नहीं है कि क्या धारा 133 और दृष्टांत (ख) के बीच कोई अननुरूपता नहीं है, परन्तु ये दोनों पहलू पृथक-पृथक रहने की बजाय एक ही स्थान पर साथ-साथ लाए जाने चाहिए।

अत: हम महसूस करते हैं कि दृष्टांत (ख) में दिए गए पहलुओं को धारा 133 में जोड़कर धारा 133 में संशोधन करना और दृष्टांत (ख) को निकालना उपयुक्त होगा।

वास्तव में, सरकार द्वारा की गई टिप्पणी में, (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 2076) यह कहा गया है कि विवाद इसलिए पैदा हुआ है कि धारा 114 अध्याय सात में दी गई है जबकि धारा 133 अध्याय नौ में। यह सुझाव दिया गया कि :

> ''यह देखा जा सकेगा कि धारा 114 के दृष्टांत (ख) के अनुरूप धारा 133 में स्पष्टीकरण जोड़ना धारा 133 का सही अभिप्राय समझने के लिए अधिक सहायक सिद्ध होगा।''

साक्ष्य के बारे में, सरकार ने अपनी टिप्पणी के पृष्ठ 2076 और 2077 में यह कहा था कि नए नियुक्त किए गए न्यायिक अधिकारी, यदि धारा 133 और धारा 114 के दृष्टांत (ख) के बीच सामजस्य स्थापित नहीं कर पाते तो वे महसूस करेंगे कि किसी व्यक्ति को केवल किसी सहअपराधी के साक्ष्य पर उसकी संपुष्टि के बिना ही, दोषी ठहराना विधि सम्मत नही होगा।

अब हम धारा 114 के बाद वाले भाग में दृष्टांत (ख) से संबंधित, दिए गए दो दृष्टांतों का निर्देश करेंगे। न्यायालय इन दृष्टांतों को दृष्टांत (ख) के रूप में ही मानेगा। एक अत्यन्त उच्च शील का व्यक्ति ''क'' किसी मशीनरी को ठीक-ठीक लगाने में किसी अपेक्षापूर्वक कार्य द्वारा किसी व्यक्ति की मृत्यु कारित करने के लिए विचारित है। वैसे ही अच्छे शील का व्यक्ति ''ख'' जिसने मशीनरी लगाने के उस काम में भाग लिया था, ब्यौरेवार वर्णन करता है कि क्या क्या किया गया था और ''क'' की ओर स्वयं अपनी सामान्य असावधानी स्वीकृत और स्पष्ट करता है कोई अपराध कई व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। अपराधियों में तीन ''क'', ''ख'' और ''ग'' अपराध स्थल का विवरण उसमें से हर एक इस प्रकार का देता है जो ''घ'' को अधिलिप्त करता है और ये विवरण किसी एक दूसरे की ऐसी रीति से सम्पुष्ट करते हैं जिससे उनमें यह अनधिसंभाव्य हो जाता है कि उन्होंने इसके पूर्व मिलकर कोई योजना बनाई थी।

तथापि, यह बताया गया है कि दृष्टांत (ख) के इन दो दृष्टांतों में दर्शाए गए स्वरूप की विशेष परिस्थितियों के न होने के कारण, सहअपराधी को विश्वास के अयोग्य उपधारित किया जाएगा। उपर्युक्त दोनों दृष्टांत विस्तृत भी नहीं है। वे केवल मार्गदर्शन के रूप में दिए गए हैं और इसलिए भी कि कोई पक्षकार किसी मामलों के तथ्यों का परीक्षण यह देखने के लिए कर सकेगा कि क्या कोई ऐसी चीज सामने आई है जो यह दर्शाती हो कि सहअपराधी के साक्ष्य को सारपूर्ण विशिष्टियों के मामले में सम्पुष्ट किए जाने की आवश्यकता नहीं है। (**आर बनाम नगा मियो** : 1933 रंग, 177 (एफ.बी.)।

प्रिवी काउंसिल ने भी **भुबानी बनाम आर ए** आईआर 1949 पीसी 257 मामले में यह नियम निर्धारित किया है।

निश्चित रूप से, जो कुछ सरकार ने पृष्ट 2076-2077 पर कहा है वह **एस पी बाहरी बनाम बिहार राज्य** : एआईआर 1994 सु.को. 2420 मामले में निर्णय का भाग है कि दृष्टांत (ख) के सारांश को धारा 114 में सम्मिलित करके धारा 133 के स्पष्टीकरण या परन्तुक के रूप में देकर धारा 133 में संशोधन किया जाना चाहिए।

नगा औंग बनाम आर : एआईआर 1937 रंग 209 मामले में मुख्य न्यायाधीश राबर्ट्स ने धारा 133 को विधि एक नियम के रूप में व्यवहारिक नियम इस सीमा तक विजयी बताया है कि यदि विशेष परिस्थितियां विद्यमान हैं जो, एक आपराधिक मामले में केवल किसी एक सहअपराधी के असम्पुष्ट साक्ष्य के आधार पर कार्यवाही करना सुरक्षित बनाती है, वहां न्यायालय केवल इस कारण से कि दोषसिद्धि ऐसे असम्पुष्ट साक्ष्य पर की जा रही है जो दोषसिद्धि को अवैध नहीं कहेगा।

आर बनाम बास्करविली : 1916(2) के बी 658 मामले में, पांच न्यायाधीशों की पीठ द्वारा दिए गए निर्णय में, इस विषय पर उपलब्ध समस्त विधि की पुनरीक्षा की गई और उच्चतम न्यायालय ने, **बीवा डोलू बनाम राज्य** : एआईआर 1963 सुको 598 मामले में **आर बनाम फारलर** 8 सीपी 106 मामले में लार्ड अविंगर को और **आर बनाम बास्करविलि** में लार्ड रीडिंग को उद्धृत किया है। **आर बनाम बस्करविली** के सिद्धांत की उच्चतम न्यायालय ने **रामेश्वर बनाम राज्य** : एआईआर 1952 सुको 54 और **वेमीरेड्डी सत्यनारायण रेड्डी बनाम राज्य** एआईआर 1956 सु.को. 379 मामले में पुनरावृत्ति की है। **आर बनाम बास्करविली** मामले में उद्घोषित नियमों का सारांश सरकार ने अपनी टिप्पणी के पृष्ठ 2102 पर (15वां संस्करण 1999) निम्नलिखित रूप से दिया है :

"(1) यह आवश्यक नहीं है कि सहअपराधी द्वारा अपराध से संबंधित प्रत्येक विवरण की स्वतंत्र अभिपुष्टि की जाए। यदि अपराध की सारगर्भित परिस्थिति के बारे में पुष्टि की जाती है तो यही पर्याप्त है।

(2) स्वतंत्र साक्ष्य द्वारा पुष्टि अपराध के संबंध में अभियुक्त की पहचान की जानी चाहिए अर्थात् किसी ऐसे तथ्य में पुष्टि जिसमें अपराध में शामिल होने का आरोप लगाते हुए या उसके अपराध में शामिल होने की प्रवृत्ति रखते हुए किसी व्यक्ति विशेष का दोष निश्चित करती है। दूसरे शब्दों में किसी ऐसी सामग्री विशेष में अभिपुष्टि जो न केवल किया गया अपराध दर्शाती हो अपितु यह कि अभियुक्त ने ही यह अपराध किया था।

(3) सम्पुष्टि स्वतंत्र साक्ष्य द्वारा की जानी चाहिए अर्थात् सहअपराधी के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति के साक्ष्य द्वारा की जानी चाहिए, इसलिए एक सहअपराधी दूसरे के बारे में संपुष्टि नहीं कर सकता।

(4) संपुष्टि ऐसे किसी प्रत्यक्ष साक्ष्य द्वारा कि अभियुक्त ने अपराध किया है, नहीं की जानी चाहिए अपितु किसी परिस्थितिक साक्ष्य द्वारा की जानी चाहिए।

रंगून उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने **आंग हिला बनाम आर** : 9 रंगून 404(एफबी) मामले में स्थितियां निर्धारित की है एक सरकारी गवाह की दूसरे के द्वारा संपुष्टि की जा सकती है। परन्तु यह स्थिति कतिपय मामलों में स्वीकार नहीं की गई है। **महादेव बनाम आर** : 1936(3) इलाहाबाद ईआर (813) पीसी मामले में सर सिडनी राल्ट ने, इस सिद्धांत को निर्देश करते हुए कि एक सहअपराधी दूसरे के बारे संपुष्टि नहीं कर सकता, अब इसे वास्तव में ही विधि का नियम मान लिया है।"

तथापि, मुबोनी के मामले से (एआईआर 1949 पीसी 257) सहमति व्यक्त करते हुए उच्चतम न्यायालय ने **कश्मीरा बनाम राज्य** (एआईआर 1952 सुको 159) मामले में यह टिप्पणी की है कि किसी सहअपराधी का साक्ष्य दूसरे की सम्पुष्टि करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है यद्यपि इसे अपवादिक परिस्थितियों के अतिरिक्त प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए और स्पष्ट कारणों से ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्धारित किए गए विभिन्न सिद्धांतों को छोड़ते हुए, धारा 114 के दृष्टांत (ख) का स्थान बदलने और धारा 133 को पुनःप्रारूपित करने और दृष्टांत (ख) के संबंध में धारा 114 के बाद वाले भाग में दृष्टांत को निम्नलिखित रूप में धारा 133 में लाए जाने की सिफारिश करना आवश्यक होगा। हमारी सिफारिशें हैं :

(1) धारा 114 से दृष्टांत (ख) को निकाल दिया जाना चाहिए;

(2) धारा 114 के परवर्ती भाग में "दृष्टांत (ख) के बारे में" शब्दों से आरम्भ होने वाले दोनों पैराग्राफों को निकाल दिया जाना चाहिए;

(3) धारा 133 को निम्नलिखित रूप में पुनःप्रारूपित किया जाए :

दृष्टांत (ख) के सिद्धांत को धारा 113 में जोड़कर यह प्रस्ताव भी किया जाता है कि धारा 114 के परवर्ती भाग के दोनों पैराओं का जो दृष्टांत (ख) के बारे में हैं, स्थान परिवर्तन किया जाना चाहिए।

सहअपराधी

''133. सहअपराधी किसी अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध सक्षम साक्षी होगा परन्तु उसका साक्ष्य विश्वास के योग्य नहीं होगा जब तक कि उसकी सम्पुष्टि तात्विक विशिष्टियों से न की जाए :

परन्तु यह कि यदि सहअभियुक्त ऐसा व्यक्ति है, जिसका साक्ष्य न्यायालय की राय में, अत्यधिक विश्वसनीय है इसकी सम्पुष्टि अपेक्षित नहीं है, कोई दोषसिद्धि केवल इसलिए अवैध नहीं है कि किसी सहअपराधी के असम्पुष्ट परिसाक्ष्य के आधार पर की गई है।

दृष्टांत (क) : एक अत्यंत उच्च शील का व्यक्ति ''क'' किसी मशीनरी को ठीक-ठीक लगाने में किसी अपेक्षापूर्वक कार्य द्वारा किसी व्यक्ति की मृत्यु कारित करने के लिए विचारित है। वैसे ही अच्छे शील का व्यक्ति ''ख'' जिसने मशीनरी लगाने के उस काम में भाग लिया था ब्यौरेवार वर्णन करता है कि क्या-क्या किया गया था और ''क'' की ओर स्वयं अपनी सामान्य असावधानी स्वीकृत और स्पष्ट करता है। न्यायालय ''क'' के उपेक्षापूर्वक कार्य के बारे में निर्णय करने में ''ख'' के साक्ष्य को ध्यान में रखेगा।

(ख) कोई अपराध कई व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। अपराधियों में से तीन ''क'', ''ख'' और ''ग'' घटनास्थल पर पकड़े जाते हैं और एक दूसरे से अलग रखे जाते हैं। अपराध का विवरण उनमें से हर एक ऐसा देता है जो ''ध'' को आलिप्त करता है और ये विवरण एक दूसरे को किसी ऐसी रीति में सम्पुष्ट करते हैं जिससे उनमें यह अति अनधिसंभाव्य हो जाता है कि उन्होंने इसके पूर्व मिल कर कोई योजना बनाई थी। ''क'', ''ख'' और ''ग'' द्वारा दिए गए तथ्यों को विभिन्न विवरणों के अन्तर को न्यायालय द्वारा ''घ'' की सहअपराधिता के बारे में निर्णय करने में ध्यान में रखा जाएगा।

हम धारा 114 के दृष्टांत (ख) और धारा 133 के संबंध में तदनुसार सिफारिश करते हैं।

दृष्टांत (ग) : न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि कोई विनिमय पत्र स्वीकृत या पृष्ठांकित, समुचित प्रतिफल के लिए प्रतिगृहीत या पृष्ठांकित किया गया था। यह धारा 114 के परवर्ती भाग के साथ दृष्टांत (ग) के संबंध में पठनीय होगा। इसमें कहा गया है कि न्यायालय इस तथ्य को ध्यान में रखेगा कि किसी विनिमय पत्र का लेखीवाल ''क'' एक व्यापारी था। प्रतिगृहीता ''ख'' पूर्णतः ''क'' के असर के अधीन एक गुणक और ना समझ व्यक्ति था।''

श्रीलंका में दृष्टांत (क) का लोप कर दिया गया है और शेष पैराग्राफ को क्रमशः (ग) से (ज) तक पुनर्राक्षरांकित किया गया है।

इसी प्रकार धारा 114 के परवर्ती भाग में दृष्टांत (ग) से संबंधित पैरा का लोप कर दिया गया है और अन्य शेष परवर्ती भागों को क्रमशः (ग) से (च) तक पुनराक्षरांकित किया गया है।

अब जबकि धारा 114 के दृष्टांत (ग) में कहा गया है कि न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि विनिमय पत्र प्रतिगृहीत या पृष्ठांकित प्रतिफल के लिए प्रतिगृहीत या पृष्ठांकित किया गया था और न्यायालय को ऐसी उपधारणा करने या न करने का निर्देश देता है कि पराक्रम्य लिखत अधिनियम की धारा 118 में यह अपेक्षा की गई है कि न्यायालय उपधारणा करेगा कि प्रत्येक विनिमय पत्र या प्रामिजरी नोट प्रतिफलार्थ निष्पादित किया गया है। दोनों उपबंधों के अधीन एक बार की गई उपधारणा का तार्किक खंडन किया जा सकेगा। **कुन्दन बनाम करस्तोडियन आफ इवैम्बी प्रॉपर्टी** : एआईआर 1961 सुको 1316)।

निःसंदेह पराक्रम्य लिखत अधिनियम की धारा 118 की उपधारणा करने वाले के विरुद्ध है जबकि साक्ष्य अधिनियम के दृष्टांत (ग) में उपधारणा प्रतिग्रहीत करने वाले के विरुद्ध की जाएगी, जैसाकि श्री वेपा पी सारथी ने कहा

है। परन्तु दृष्टांत (ग) में ''कर सकेगा'' शब्दों का प्रयोग किया गया है जबकि धारा 118 में ''करेगा'' शब्द का। दोनों उपबंध एक दूसरे के अनुपूरक हैं और इन्हें पूर्णतया स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता।

दृष्टांत (ग) और प्राक्रम्य लिखत अधिनियम की धारा 118 के बीच स्पष्ट अन्तर को देखते हुए, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 36.26 में यह सिफारिश की गई थी कि दृष्टांत (ग) और धारा 114 का परवर्ती भाग, जो दृष्टांत (ग) का निर्देश करता है और जिसमें एक उदाहरण दिया गया है, निकाल दिया जाना चाहिए। हम इससे सहमति व्यक्त करते हैं।

दृष्टांत (घ) :

दृष्टांत (घ) में कहा गया है कि न्यायालय उपधारित कर सकेगा कि ऐसी कोई चीज या चीजों की दशा जब भी अस्तित्व में है, जिसका उतनी कालावधि से, जितनी में ऐसी चीजें या चीजों की दशाएं प्रायः अस्तित्व शून्य हो जाती हैं, लघुतर अवधि में अस्तित्व में होना दर्शित किया गया है।

धारा 144 के परवर्ती भाग में, जहां तक खंड (घ) का संबंध है, यह कहा गया है कि न्यायालय को इस बात को ध्यान में रखना होगा यदि यह साबित किया गया है कि कोई नदी अमुक मार्ग में पांच वर्ष पहले बहती थी किन्तु यह ज्ञात है कि उस समय से ऐसी बाढ़ आयी हैं जो उसके मार्ग को परिवर्तित कर सकती थीं।

टेलर द्वारा यह बताया गया है (साक्ष्य धारा 109) कि जहां किसी व्यक्ति या किसी वैयक्तिक संबंध या चीजों की दशा का अस्तित्व एक बार साबित कर दिया जाता है, वहां विधि द्वारा, जब तक कि उसे विपरीत दर्शित न किया जाए, या प्रश्नाधीन विषय के स्वरूप को देखते हुए भिन्न उपधारणा नहीं की जाती है, यह उपधारित किया जाएगा कि वह व्यक्ति, संबंध या चीजों की दशा पूर्व की भांति ही विद्यमान है।

विगमोर ने कहा है (धारा 437) (जैसाकि सरकार में 15वें संस्करण के पृष्ठ 1658 पर उद्धृत है) कि ''माउंट एवरेस्ट 10 वर्ष पहले अस्तित्व में था इस बात का सुदृढ़ सबूत है वह आज भी अस्तित्व में है, क्या एक वर्ष पूर्व किसी वृक्ष के विद्यमान होने का तथ्य आज भी उसका विद्यमान होना दर्शाएगा, उसका विद्यमान होना उस क्षेत्र में जीवन की परिस्थितियों के स्वरूप के अनुसार निश्चित होगा।''

इस धारा के अधीन उपधारणा ''कब्जे'' के बारे में लागू की गई है। एक बार पूर्व में किसी व्यक्ति का कब्जा साबित हो जाने पर जब तक साबित न किया जाए, उसका कब्जा जारी समझा जाएगा।

वास्तव में, **सी.पी. ठाकुर बनाम कमल सिंह** :ए.आई.आर. 1966 सु.को. 605 मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि इस धारा के अधीन उपर्युक्त मामलों में किसी चीज की निरन्तरता या पहले से चली आ रही चीजों की दशा का निहितार्थ निकाला जा सकेगा यद्यपि इस विषय पर कोई दृष्टांत नहीं दिया गया है।

अनंगामणियम बनाम त्रिपुरा सुन्दरी (14 आई.ए. 101) मामले में प्रिवी काउंसिल ने यह विचार व्यक्त किया था कि निरन्तरता की उपधारणा भूतलक्षी प्रभाव से भी की जा सकेगी। उदाहरण के लिए, यदि माउंट ऐवरेस्ट का अस्तित्व 10 वर्ष पहले साबित किया जाता है, तो यह उपधारित किया जा सकेगा कि उसका अस्तित्व आज भी है। यदि कोई बहुत प्राचीन वट वृक्ष आज भी है तो उसके पूर्व में भी अस्तित्व होने के बारे में उपधारणा की जा सकेगी।

यद्यपि, 69वीं रिपोर्ट में, इस पहलू पर कोई चर्चा नहीं की गई है, हम निम्नलिखित रूप में एक दृष्टांत ''घक'' जोड़ने की सिफारिश कर रहे हैं :

''**घक.** किसी चीज या चीजों की दशा का किसी समय अस्तित्व में होना दर्शित किया गया है, वे पूर्व में ऐसी लघुतर कालावधि में अस्तित्व में थीं जितनी में ऐसी चीजें या चीजों की दशाएं अस्तित्व शून्य हो जाती हैं।''

और धारा 114 के परवर्ती भाग में निम्नलिखित अन्तःस्थापित किया जाए :—

दृष्टांत (घक) के बारे में : यह साबित किया किया जाता है कि कोई नदी अमुक मार्ग में आज बह रही है, किन्तु यह ज्ञात है कि पिछले कई वर्षों से ऐसी बाढ़ आ रही है जो उसके मार्ग को परिवर्तित कर सकती थीं।

दृष्टांत (ङ) : न्यायालय, दृष्टांत (ङ) के अधीन यह उपधारित कर सकेगा कि न्यायिक और पदीय कार्य नियमित रूप से संपादित किए जा रहे हैं। यह बात नोट की जा सकेगी कि इसमें न्यायिक तथा पदीय कार्यों का निर्देश है।

धारा 144 के परवर्ती भाग में दृष्टांत (ङ) के बारे में निम्नलिखित कहा गया है:

''दृष्टांत (ङ) के बारे में—कोई न्यायिक कार्य, जिसकी नियमितता प्रश्नगत है, असाधारण परिस्थितियों में किया था''

हमने नोट किया है कि धारा 80 ''साक्ष्य के अभिलेख के तौर पर पेश किए गए दस्तावेजों के बारे में उपधारणा'' से संबंधित है। इसमें मौलिकता की उपधारणा का निर्देश है।

साधारण नियम यह है कि ''प्रत्येक चीज के, जब तक कि विपरीत दर्शित न किया जाए, ठीक प्रकार और सम्यक् रूप से निष्पादित किए जाने की उपधारणा की जाती है (ब्रूम की विधिक उक्ति)''

हरियाणा राज्य बनाम हरिराम यादव : ए.आईआर. 1994 सु.को. 1262, मामले में यह बताया गया था कि ऐसे मामलों में, जहां सांविधिक शक्ति का प्रयोग किसी शर्त के पूरा होने के अध्यधीन किया जाता है, तब आदेश में उक्त शर्त के पूरा किए जाने के वर्णन से शर्त के पूरा होने के बारे में उपधारणा बनती है और यह साबित करने का भार उस व्यक्ति पर है जो यह कहता है कि शर्त पूरी नहीं हुई है।

इसके साथ ही, किसी कार्यकारी आदेश में कोई राय बनाने के बारे में विवरण न होने से यह निहितार्थ नहीं निकाला जा सकता कि आदेश पारित होने से पूर्व ऐसी कोई राय नहीं बनाई गई थी। वह व्यक्ति, जो यह कहता है कि राय वास्तव में बनाई गई थी वह यह साबित करने के लिए, आदेश पारित होने से पूर्व अभिलिखित किए गए अभिलेख या कार्यवाही सारांश को प्रस्तुत कर सकेगा कि आदेश पारित होने से पूर्व ऐसी राय बनाई गई थी (**स्वेदेशी कॉटन मिल्स् कम्पनी लिमिटेड बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** : ए.आई.आर. 1961 सु.को. 1381)।

उच्चतम न्यायालय के बड़ी संख्या में ऐसे निर्णय हैं जहां फॉरेन्सिक, चिकित्सीय या अन्य तकनीकी रिपोर्टों के बारे में उपधारणा की गई थीं।

न्यायिक अभिलेखों के मामले में कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता है। उनके बारे में कोई संदेह भी नहीं किया जा सकता। न्यायाधीशों को विवादित क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता। निर्णयों को मुकदमेबाजी के खेल में काउंटर भाग नहीं समझा जा सकेगा। न्यायाधीशों के कथनों का बाद में या अपीलीय न्यायालय में दिए गए किसी साक्ष्य द्वारा विरोध किए जाने की अनुमति नहीं है। यदि न्यायाधीश यह कहते हैं कि उनके सामने कोई चीज की गई, या कोई बात कही गई या कोई स्वीकृति की गई, वह उस विषय पर अन्तिम मानी जाएगी। **महाराष्ट्र राज्य बनाम रामदास श्रीनिवास नायक** : ए.आई.आर. 1982 सु.को. 1251)।

वास्तव में, जब कोई वकील किसी अपीलीय न्यायालय में यह तर्क देता है कि उठाए गए मुद्दे के बारे में कोई विचार नहीं किया गया था या निर्णय में अभिलिखित काउंसिल द्वारा मांगी गई कोई छूट दी ही नहीं गई, जब अपीलीय न्यायालय किसी अधीनस्थ न्यायालय से कोई रिपोर्ट नहीं मांगता अपितु पक्षकारों से पुनरीक्षण के लिए उसी न्यायालय में जाने के लिए कहेगा जिसने कथन अभिलिखित किया था।

दृष्टांत (ङ) के अधीन उपधारणा वैकल्पिक है और निःसंदेह खंडनीय है।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 56.29 में, यह कहा गया था कि दृष्टांत (ङ) के बारे में कोई टिप्पणियां आवश्यक नहीं है।

परन्तु, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 114 के परवर्ती भाग में, दृष्टांत (ङ) के लिए निर्देशनीय, 'पदीय कार्य' शब्दों को 'न्यायिक' शब्द के पश्चात् जोड़ा जाना चाहिए।

दृष्टांत (च) : न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि दृष्टांत (च) का विशिष्ट मामलों में कारबार के सामान्य अनुक्रम का अनुसरण किया गया है।

धारा 114 के परवर्ती भाग में यह कहा गया है कि न्यायालय ध्यान रखेगा—

दृष्टांत (च) के बारे में : प्रश्न यह है कि क्या कोई पत्र प्राप्त हुआ था। उसका डाक में डाला जाना दर्शित किया गया है किन्तु डाक के सामान्य अनुक्रम में उपद्रवों के कारण विघ्न पड़ा था।

जबकि मुख्य दृष्टांत सामान्य है और 'कारबार के सामान्य अनुक्रम' का निर्देश करता है, धारा 114 किसी पत्र की विशिष्ट स्थिति का निर्देश करती है। साक्ष्य अधिनियम की धारा 16 और 32(2) में भी 'कारबार के अनुक्रम' का निर्देश है।

देखें साधारण खंड अधिनियम, 1897 की धारा 27।

इस दृष्टांत के अधीन उपधारणा आज्ञापक नहीं है और यह कि यदि की जाती है तो इसका तार्किक खंडन किया जा सकेगा। वास्तव में, किसी पत्र के डाक में डाले जाने का प्रमाण-पत्र इस धारा के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आना नहीं समझा जाता है। उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि ऐसा प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना तो सरल है परन्तु इससे किसी विश्वास की प्रेरणा नहीं मिलती है (**बाई.के. गढ़ोक बनाम बालासाहिब** : ए.आई.आर. 1994 सु. को. 678) **मिस्ट. एल.एम.एस. अम्मू सलीमा बनाम बी.बी. गुजराल** : ए.आई.आर. 1981 सु. को. 1191 भी देखें। दूसरी ओर रजिस्टर्ड डाक रसीद के साथ पत्र की प्रति, जिसमें न्यायालय की सूचना अन्तर्विष्ट है और सही पता लिखा है, से यह उपधारणा की जाती है कि पावती की वापसी के बिना भी, यह पत्र पाने वाले को प्राप्त हो गया था (**अनिल कुमार बनाम नानक चन्द** : ए.आई.आर. 1990 सु. को. 1215)। परन्तु यदि पत्र पाने वाले का यह साक्ष्य कि पत्र सुपुर्द नहीं किया गया था, विश्वसनीय है और उस पर विश्वास किया जाता है तब उपधारणा तार्किक रूप से खंडित है (**राधाकृष्ण बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1963 सु. को. 822)। देखें ग्रीन रेडियो सर्विस बनाम लक्ष्मीबाई रामजी ए.आई.आर. 1990 सु. को. 2156। ऐसी कोई उपधारणा नहीं की जा सकती है कि सील बंद लिफाफा खोला गया था और पत्र पाने वाले ने उसे पढ़ लिया था। ऐसी चीजें तब नहीं होती है जब पत्र पाने वाले ने सीलबंद लिफाफे को प्राप्त करने से इंकार करना निश्चित कर लिया हो। (**हरचन्द सिंह बनाम शिवराम** : ए.आई.आर. 1981 सु. को 1284)।

जब किसी पक्षकार को भेजे गए नोटिस उसके द्वारा प्राप्त करने से इंकार कर दिए जाने के कारण बिना तामील के वापस आ जाते हैं तब उनका तामील किया गया उपधारित करना चाहिए। **जगदीश सिंह बनाम नाथू सिंह** : ए.आई.आर. 1992 सु. को. 1604। उनके भेजे जाने से इंकार करना पक्षकार की स्वयं की स्वीकृति या उपधारणा से गलत पाया जा सकेगा (**पुबाड़ा बनाम छिदाभना** : ए.आई.आर. 1976 सु. को. 869)।

साधारण खंड अधिनियम, 1897 की धारा 27 भी एक उपधारणा बनाती है परन्तु उसमें तथा धारा 114(च) के अधीन की जाने वाली उपधारणा में अन्तर है। वे भिन्न-भिन्न हैं। **गंगाराम बनाम फूलवती** : ए.आई.आर. 1970 इलाहाबाद 446 (एफबी)।

साधारण खंड अधिनियम, 1897 की धारा 27 का पाठ निम्नलिखित है :

"**धारा 27.** जबकि इस अधिनियम के आरम्भ के पश्चात् बनाया गया कोई केन्द्रीय अधिनियम या विनियम किसी दस्तावेज की डाक द्वारा तामील की जानी प्राधिकृत या अपेक्षित करता है चाहे तामील अथवा देना या भेजना इन दोनों में से किसी भी पद का या अन्य पद का उपयोग किया गया हो, वहां जब तक कि भिन्न आशय प्रतीत न हो, उस

दस्तावेज को अन्तर्विष्ट रखने वाले पत्र उचित रूप से पता लिखकर, उस पर पूर्ण संदाय करके और रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा डाक में भेजने से तामील हुई समझी जाएगी और जब तक कि तत्प्रतिकूल ने कर दिया जाए, यह समझा जाएगा कि तामील उस समय हो चुकी है जब वह पत्र डाक के मामूली अनुक्रम में परिदत्त हो जाता।

परन्तु यदि पृष्ठांकन दर्शाता है तामील से 'इंकार किया गया' तब न्यायालय को यह देखना होगा कि क्या वास्तव में इसे प्राप्त करने से इंकार किया गया था या ऐसी प्रविष्टि करा ली गई थी (**भारत संघ बनाम राम गोपाल** : ए.आई.आर.-1960 सु. को. 672)। परन्तु **हरचरन का मामला** : ए.आई.आर. 1981 सु. को 1284 देखें जहां धारा 27 और धारा 114 दोनों का निर्देश किया गया था। इंकार को तामील माना गया। **जगदीश सिंह** बनाम **नाथू सिंह** : ए.आई.आर. 1992 सु. को. 1604 भी देखें।

यह देखा जा सकेगा कि जहां धारा 114 का दृष्टांत (च) केवल किसी पत्र का डाक में डालने का निर्देश करता है अर्थात् साधारण डाक में, साधारण खंड अधिनियम की धारा 27 ऐसे पत्र का निर्देश करती है जो रजिस्टर्ड डाक द्वारा, सही पता लिखकर, पहले पैसा देकर भेजा गया था। दोनों धाराओं में डाक द्वारा पत्राचार की भिन्न-भिन्न प्रणालियों का निर्देश किया गया है। इस प्रश्न पर कि क्या रजिस्टर्ड डाक से भेजे गए पत्र पर पृष्ठांकन 'इंकार किया', 'सर्विस' माना जाएगा या नहीं। इस विषय पर थोड़ा स्पष्टीकरण आवश्यक है। उपयुक्त विधान, जिसमें स्पष्टीकरण दिया जा सकता है, वह साधारण खंड अधिनियम, 1897 है क्योंकि प्रश्न केवल रजिस्टर्ड पत्रों के बारे में है। अत: हम दृष्टांत (च) में किसी प्रकार के संशोधन का प्रस्ताव नहीं कर रहे हैं क्योंकि यह दृष्टांत सीधे रजिस्टर्ड पत्रों से संबंधित नहीं है। 69वीं रिपोर्ट में इस पहलू पर चर्चा नहीं की गई है (देखें पैरा 56.29) परन्तु इसमें किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं किया गया है। हम इस प्रस्ताव से सहमत हैं।

दृष्टांत (छ) :

दृष्टांत (छ) : इसमें कहा गया है कि न्यायालय उपधारित कर सकेगा कि यदि वह साक्ष्य जो पेश किया जा सकता था और पेश नहीं किया गया है, पेश किया जाता है, तो उस व्यक्ति के अनुकूल होता, जो उसके विचारण किए हुए है।

दृष्टांत (छ) से संबंधित धारा 114 के परवर्ती भाग में कहा गया है कि न्यायालय अन्य परिस्थितियों के बारे में विचार कर सकेगा। इसमें कहा गया है कि दृष्टांत (छ) के बारे में,

> "कोई व्यक्ति किसी ऐसे दस्तावेज को पेश करने से इंकार करता है जिसका असर किसी अल्प महत्व की किसी ऐसी संविदा पर पड़ता है, जिसके आधार पर उसके विरुद्ध वाद लाया गया है किन्तु जो उसके कुटुम्ब की भावनाओं और ख्याति को भी क्षति पहुंचा सकती है।"

दृष्टांत (छ) सभी प्रकार के साक्ष्यों के बारे में है, मौखिक या दस्तावेजी। धारा 114 के दूसरे भाग में दिए गए स्पष्टीकरण में दस्तावेजी साक्ष्य के एक मामले का निर्देश किया गया है।

यह नियम इस उक्ति में अन्तर्विष्ट है : प्रतिकूल निहितार्थ केवल तभी निकाला जा सकेगा जब साक्ष्य का विधारण किया गया हो।

यदि कोई पक्षकार दस्तावेज को असंगत समझता है, तो उसे उस दस्तावेज को पेश करने की आवश्यकता नहीं है। यदि प्रतिपक्ष असंतुष्ट है तो वह शपथ-पत्र द्वारा निरीक्षण के लिए उसे पेश किए जाने का आवेदन कर सकेगा (**बिलास** बनाम **देसराज**, ए. 1915 पी.सी. 96)।

परन्तु **मुथ्थेसन बनाम ज्ञान** : ए.आई.आर. 1917 पी.सी. 6, मामले में प्रिवी काउंसिल ने यह कहते हुए कठोर टिप्पणियां की हैं :

> "भारतीय प्रक्रिया में एक ऐसा व्यवहार विकसित हुआ है कि ऐसे लोग, जिनके कब्जे में महत्वपूर्ण दस्तावेज या उनमें अन्तर्विष्ट जानकारी होती है, सबूत के दायित्व के संक्षिप्त सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं और तदनुसार न्यायालय उसके निर्णय के लिए सर्वोत्कृष्ट सामग्री उपलब्ध कराने में असफल रहते हैं। तीसरे पक्ष के संबंध में, यह ठीक हो सकेगा; वाद

चलाने में उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं है, परन्तु जहां तक वाद के पक्षकारों का संबंध है, उनकी लार्डशिप के विचार में, न्यायालय से ऐसे लिखित साक्ष्य का विधारण किया जो उनके कब्जे में है और जो स्थिति पर प्रकाश डाल सकता है, उनके लिए सुदृढ़ व्यवहार के प्रतिकूल है जो तथ्यों की कतिपय स्थिति पर निर्भर करते हों।"

यह सिद्धान्त न्यायाधीश के. सुब्बाराव द्वारा **कुन्दन बनाम कस्टोडियन ऑफ इवैम्बी प्रॉपर्टी** : ए.आई.आर. 1961 सु.को. 1316 मामले में लागू किया गया था, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्राक्रम्य लिखित प्रतिफल के लिए निष्पादित की जाती है, तो प्रतिवादी द्वारा, यदि कोई वादी, यदि व्यापारी है और लेखे रखता है और वह न्यायालय से उन लेखाओं का विधारण कराता है तो वह न्यायालय से प्रतिकूल निहितार्थ निकालने के लिए कह कर, तार्किक खंड किया जा सकेगा। न्यायालय ऐसा प्रतिकूल निहितार्थ निकाल सकेगा कि वादी के लेखे, यदि पेश किए जाते, यह नहीं दर्शाते कि वादी ने प्रतिवादी को कोई राशि दी थी और इस प्रकार यह उपधारित किया जाना चाहिए कि प्राक्रम्य लिखत प्रतिफल द्वारा समर्थित नहीं था।

ऐसे अन्य बहुत से मामले हैं जिनमें यह सिद्धान्त लागू किया गया है।

सूचना के पश्चात् भी दस्तावेज के पेश न किए जाने के बारे में हम पहले ही धारा 65, धारा 66 के बारे में चर्चा कर चुके हैं। दस्तावेजों के सम्यक् निष्पादन, अनुप्रमाणन की उपधारणा के बारे में, हम धारा 89 में इसके बारे में पहले ही देख चुके हैं। फिर, धारा 164 में उपबंधित है कि जब कोई पक्षकार किसी दस्तावेज को पेश करने से इंकार करता है, जिसको पेश करने के लिए उसे सूचना प्राप्त हो चुकी है, वह उस दस्तावेज को बाद में दूसरे पक्ष की सहमति या न्यायालय के आदेश के बिना, साक्ष्य के रूप में प्रयोग नहीं कर सकता।

जहां तक दांडिक मामलों का संबंध है, किसी साक्षी को बुलाने का दायित्व अभियुक्त पर नहीं रखा गया है और उसके अपराध के बारे में कोई प्रतिकूल निहितार्थ नहीं निकाला जाएगा यदि वह कोई साक्ष्य पेश करना नहीं चाहता है। अन्वेषण अधिकारी की परीक्षा न किए जाने से दांडिक मामले में विचारण पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। (**बिहारी प्रसाद बनाम राज्य**: ए.आई.आर. 1996 सु.को. 2905)।

राम गोपाल रेड्डी बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य : ए.आई.आर. 1996 सु.को. 2184 मामले में जहां परिवादी ने यह आरोप लगाया था कि अभियुक्त ने दहेज की मांग पूरी न होने पर विवाह रद्द कर दिया था और यह आरोप अभियुक्त द्वारा कथित रूप से लिखे गए एक पत्र पर आधारित था, पत्र पेश किए जाने पर प्रतिकूल निहितार्थ निकाला जा सकता था।

दृष्टांत (छ) के अधीन उपधारणा वैवेकिक है और इस प्रकार अभियोजन पक्ष द्वारा साक्षी की परीक्षा न किए जाने की स्थिति में, न्यायालय यह अर्थ लगाने के लिए बाध्य नहीं है कि यदि परीक्षा की जाती तो उसमें प्रतिकूल अभिमत व्यक्त किया जाता, जब तक कि अन्य परिस्थितियां न होती (**हरपाल सिंह बनाम देविन्द्र सिंह** : ए.आई.आर. 1997 सु.को. 2919)।

सारलबाल बनाम राज्य : ए.आई.आर. 1974 सु. को. 778 भी देखें। परन्तु जहां प्रत्यक्षदर्शी साक्षी के साक्ष्य में बहुत सी खामियां हों, वहां स्वतंत्र साक्षियों की परीक्षा न किए जाने का प्रतिकूल अर्थ लगाया जा सकेगा। (**बीर सिंह बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1978 सु. को. 59) जहां प्रत्यक्ष दर्शियों को जानबूझकर पेश नहीं किया जाता है वहां प्रतिकूल अर्थ लगाया जा सकेगा : **करणेश बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1968 सु.को. 1402; **दलबीर बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1977 सु.को. 472। परन्तु जहां प्रत्यक्षदर्शी, जिसकी परीक्षा नहीं की जाती है, पीड़ित व्यक्ति के विपक्ष से संबंधित है, उनकी परीक्षा न किए जाने का कोई महत्व नहीं है, **राम अवतार राय बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** : ए.आई.आर. 1985 सु.को. 880। जहां प्रतिवादी अभियोजन पक्ष के ऐसे कथन पर कोई प्रश्न नहीं उठता कि अभियुक्त ने साक्षी को अपने पक्ष में कर लिया है, वहां साक्षी की परीक्षा न किए जाने के कारण कोई प्रतिकूल निहितार्थ नहीं निकाला जाएगा (**गुरमेज सिंह बनाम पंजाब राज्य** : ए.आई.आर. 1992 सु.को. 214)।

हमने निर्णय जनित विधि का निर्देश केवल यह दर्शाने के लिए किया है कि मानव आचरण पर आधारित सदैव बहुत सी ऐसी परिस्थितियां रहती हैं कि प्रतिकूल निहितार्थ क्यों निकाला जाना चाहिए या क्यों नहीं निकाला जाना चाहिए।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 56.30 से सहमत हैं कि दृष्टांत (छ) में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

दृष्टांत (ज)

दृष्टांत (ज) : धारा 114 के दृष्टांत (ज) में कहा गया है कि न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा "कि कोई व्यक्ति किसी प्रश्न का उत्तर देने से इंकार करता है जिसका उत्तर देने के लिए वह विधि द्वारा बाध्य नहीं है, तो उसका उत्तर यदि दिया जाता, उसके अननुकूल होता"।

दृष्टांत (ज) से संबंधित धारा 114 के परवर्ती भाग में न्यायालय से ऐसा विचार करने की अपेक्षा की गई है : "दृष्टांत (ज) के बारे में :—कोई व्यक्ति किसी प्रश्न का उत्तर देने से इंकार करता है जिसका उत्तर देने के लिए वह विधि द्वारा बाध्य नहीं है, किन्तु उसका उत्तर उसे उस विषय से असंसक्त विषयों में हानि पहुंचा सकता है, जिसके संबंध में वह पूछा गया है"।

ऐसे प्रश्न के बारे में , जिसका उत्तर देने के बारे में कोई बाध्य नहीं है, देखें धारा 121 से धारा 129 तक। साक्ष्य अधिनियम की धारा 148(4) भी देखी जा सकेगी जिसमें कहा गया है कि ऐसे प्रश्नों के बारे में, जिनका उत्तर दिया जाना है (देखें धारा 132 से धारा 147) ऐसे साक्ष्यों के संबंध में :

> "न्यायालय, यदि ठीक समझे, साक्षी के उत्तर देने से इंकार करने पर यह अनुमान लगा सकेगा कि उत्तर यदि दिया जाता तो, प्रतिकूल होता।"

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 56.30 से सहमति व्यक्त करते हैं कि इस दृष्टांत में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

दृष्टांत (झ) :

दृष्टांत (त) : इस दृष्टांत में कहा गया है कि न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि जब किसी बाध्यता का सृजन करने वाला कोई दस्तावेज बाध्यताधारी के हाथ में है, तब उस बाध्यता का उन्मोचन हो चुका है। दृष्टांत (झ) से संबंधित धारा 114 के परवर्ती भाग में यह कहा गया है कि न्यायालय तथ्यों पर विचार कर सकेगा : दृष्टांत (झ) के बारे में :—"कोई बन्धपत्र बाध्यताकारी के कब्जे में है किन्तु मामले की परिस्थितियां ऐसी हैं कि हो सकता है उसने उसे चुरा लिया हो"।

पराक्रम्य लिखत अधिनियम की धारा 81 में कहा गया है कि जब कि प्रतिग्रहीता द्वारा कोई विनिमय पत्र पेश किया जाता है तब यह उपधारणा की जाएगी कि उसका संदाय कर दिया गया है। उपधारणा यह है कि जब किसी ऋणी के पास वह प्रामिजरी नोट है, जो उसने निष्पादित किया है, तब वह ऋण से मुक्त है और उसने लेनदार से प्रामिजरी नोट वापस ले लिया है। परन्तु इस उपधारणा का तार्किक खंडन किया जा सकेगा। उसने, हो सकता है, ऋणदाता से उसे चुरा लिया हो।

जब कोई सम्पत्ति बंधक रखने वाला व्यक्ति बंधकधारी के हस्ताक्षरों के अधीन धनराशि के संदाय के पृष्ठांकन के साथ बंधक विलेख को प्रस्तुत करता है और बंधककारी वादी हो, तब यह साबित करने का दायित्व बंधकधारी वादी पर होगा कि पृष्ठांकन बेइमानी से करा लिया गया था या जालसाजी की गई थी [**मुहम्मद चौधरी** बनाम **श्री मन्दिर** : 39 आई.ए. 184 (पी सी)]।

प्रिवी काउंसिल द्वारा भाई **हांगकांग** बनाम **रामानाथन** : 29 आई.ए. 43 मामले में दिए गए निर्णय में दृष्टांत (झ) को उद्धृत किया गया है।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 56.31 से सहमति व्यक्त करते हैं कि दृष्टांत (झ) में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

<u>धारा 114क</u> : यह धारा 'बलात्संग' के लिए कुछ अभियोजनों में सम्मति न होने की उपधारणा के बारे में है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

> "114क. भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 376 की उपधारा (2) के खंड (क) या खंड (ख) या खंड (ग) या खंड (घ) या खंड (ङ) या खंड (छ) के अधीन बलात्संग के लिए किसी अभियोजन में जहां अभियुक्त द्वारा मैथुन करना साबित हो जाता है और प्रश्न यह है कि क्या यह उस स्त्री की सम्मति के बिना किया गया था, जिससे बलात्संग किया जाना अभिकथित है और वह स्त्री न्यायालय के समक्ष अपने साक्ष्य में यह कथन करती है कि उसने सम्मति नहीं दी थी, वहां न्यायालय यह उपधारित करेगा कि उसने सम्मति नहीं दी थी।"

यह धारा दंड विधि (संशोधन) अधिनियम, 1983 (1983 का 43) द्वारा अन्त:स्थापित की गई थी जो 25-12-1983 से प्रभावी हुई। यह धारा बलात्संग के मामलों में अभियुक्तों के बड़ी संख्या में उन्मुक्त किए जाने के कारण पुर:स्थापित की गई थी। यदि स्त्री के साथ बलात्संग ऐसे स्थान पर किया गया है जहां किसी ने इसे नहीं देखा—क्योंकि ऐसा अधिकांश मामलों में होता है—वहां अभियोजन पक्ष के लिए न्यायोचित संदेह से परे अपराध साबित कर पाना बहुत कठिन है। यदाकदा चिकित्सीय या डी.एन.ए. साक्ष्य उपलब्ध होता है और बहुधा यह उपलब्ध नहीं होता है।

उपधारणा आज्ञापक है परन्तु खंडनीय भी है।

उच्च न्यायालयों के ऐसे अनेक निर्णय हैं जिनमें भारतीय दंड संहिता की धारा 376 के अधीन बलात्संग के मामलों में धारा 114क लागू की गई है। परन्तु इस विषय पर हम उच्चतम न्यायालय के दो निर्णयों का निर्देश करना चाहेंगे।

गगन बिहारी सावंत बनाम **उड़ीसा राज्य** : एस.सी.सी. 562 मामले में अभियोक्त्री के साक्ष्य ने यह दर्शाया कि जब अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा उसके साथ बलात् यौन शोषण किया जा रहा था तब उसने अभियुक्तों का विरोध किया था और संघर्ष किया था। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि साक्ष्य से पता चलता है कि धारा 114क के अधीन विधिक उपधारणा करने के अतिरिक्त भी, पीड़ित पक्ष की सम्मति नहीं थी। उच्चतम न्यायालय ने इस बलात्संग में अन्तर्ग्रस्त सभी व्यक्तियों के सिद्धदोष की पुष्टि की थी।

परन्तु, हाल ही के एक मामले में, **दिलीप** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** : 2001 (9) एस.सी.सी 452, यह उपधारणा की गई थी परन्तु यह अभिनिर्धारित किया गया कि साक्ष्य की खामियों को देखते हुए, बलात्संग का स्थान साबित नहीं हो सका है। यह अभिनिर्धारित किया गया कि जहां अभियोक्त्री के एकमात्र साक्ष्य पर कार्यवाही की जा सकेगी और उसे सारपूर्ण विशिष्टियों में समपुष्टि के बिना ही दोषसिद्धि का आधार बनाया जा सकेगा, वहां अभियोक्त्री के एकमात्र साक्ष्य में खामियों की दृष्टि से, जो चिकित्सीय साक्ष्य का तथा पीड़ित की चाची के, जिसे अभियोक्त्री ने बलात्संग के तुरन्त पश्चात् घटना का विवरण बताया था, साक्ष्य का विरोध करता था, यह स्वीकार करना कठिन होगा कि सम्मति नहीं थी। सम्मति के प्रश्न पर यद्यपि धारा 114क के अधीन उपधारणा की गई थी, यह अभिनिर्धारित किया गया कि निष्कर्षों को अभिलिखित करने की इस निष्कर्ष के कारण आवश्यकता नहीं थी कि :

> अभियोक्त्री के इस मामले में इच्छुक पक्षकार पाई गई थी। अपील करने की अनुमति दी गई और अपीलार्थी को उच्चतम न्यायालय ने उन्मुक्ति प्रदान की थी।

172वीं रिपोर्ट में, भारतीय दंड संहिता की धारा 376 में 'यौन शोषण' को परिभाषित करते हुए एक संशोधन का प्रस्ताव किया गया था। इसके परिणामस्वरूप धारा 114क में संशोधन करने का प्रस्ताव था। परन्तु क्योंकि उक्त रिपोर्ट अभी तक कार्यान्वित नहीं की गई है, हम धारा 114क को उसके वर्तमान स्वरुप में ही रहने देते हैं।

धारा 114ख : (विधि आयोग की 113वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित रूप में)

यह धारा अभी तक साक्ष्य अधिनियम, 1872 में सम्मिलित नहीं की गई है यद्यपि आयोग की 113वीं रिपोर्ट में इसकी सिफारिश की गई थी। अभिरक्षकीय हिंसा, जिसके कारण संदेहास्पद व्यक्तियों या अभियुक्तों को चोट लगने, बलात्संग या मृत्यु होना हमारे देश में साधारण बात हो गई है और उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालय द्वारा पुलिस के विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव पारित किए जा रहे हैं और मृतकों के परिवारों को क्षतिपूर्ति दी जा रही है।

पुलिस की अभिरक्षा में सूचना या अभिस्वीकृति प्राप्त करने के लिए तीसरे दर्जे के उपाय किए जाते हैं। मानवाधिकार आयोग भी अपनी रिपोर्टों में अभिरक्षकीय हिंसा तथा अभिरक्षा में मृत्यु होने की घटनाओं का निर्देश कर रहा है और क्षतिपूर्ति करने की सिफारिश कर रहा है। जब संबंधित पुलिस अधिकारी अभियोजित किए जाते हैं, तब अभिरक्षकीय हिंसा साबित करने में पर्याप्त की गई होती है और यदि पीड़ित व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, तब यह और भी कठिन हो जाता है।

पुलिस द्वारा बंद किए लोगों के साथ, विशेषकर महिलाओं के साथ, यातना देने और दुर्व्यव्हार (बलात्संग सहित) किए जाने के बारे में न्यायालय ने **शीलाबरसे बनाम महाराष्ट्र राज्य** : ए.आई.आर. 1983 सु.को. 378 मामले में विचार किया। उच्चतम न्यायालय ने महिला पुलिस अधिकारियों की उपस्थिति, अन्य पुरुष अभियुक्तों को अलग रखने, विधिक सहायता देने, निरुद्ध व्यक्ति को अपने किसी मित्र या संबंधी को बुलाने की अनुमति देने की आवश्यकता के बारे में बहुत से मार्गनिर्देश दिए हैं। न्यायिक अधिकारियों द्वारा यकायक निरीक्षण किया जाना चाहिए। **नीलाबती बेहरा बनाम उड़ीसा राज्य** : ए.आई.आर. 1993 सु.को. 1960 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अभिरक्षा में व्यक्तियों की सुरक्षा की जानी चाहिए और यदि अभिरक्षा में किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो, दुर्व्यव्हार करने वाला व्यक्ति उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए। सर्वोच्च उन्मुक्ति का कोई तर्क नहीं दिया जा सकेगा।''

जोगिन्दर कुमार बनाम उत्तर प्रदेश राज्य : ए.आई.आर. 1994 सु.को. 1339, मामले में यह कहा गया था कि गिरफ्तार किए गए व्यक्ति को अपने मित्र, संबंधी या किसी अन्य व्यक्ति को गिरफ्तारी की सूचना दिए जाने का अधिकार होगा।

बार ऐसोसिएशन के एक पत्र को, जिसमें पुलिस द्वारा यातना दिए जाने के आरोप लगाए गए थे, **सैक्रेटरी हेलाकांडी बार ऐसोसिऐशन बनाम स्टेट ऑफ असम** :1995 सप्ली. (3) एस.सी.सी. 736, मामले में एक याचिका माना गया और चोट आदि न होने के बारे में पुलिस अधीक्षक की रिपोर्ट को अस्वीकार करते हुए मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को जांच करने के लिए निदेशित किया गया। **केवलपाती बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**: 1995 (3) एस.सी.सी. 600, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि कैदियों का जीवन और सुरक्षा सुनिश्चित करना जेल अधिकारियों का दायित्व है।

एक उच्च कोटि के निर्णय में, उच्चतम न्यायालय ने **डी.के. बसु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य**: ए.आई.आर. 1997 सु.को. 610 मामले में पुलिस अभिरक्षा में या पुलिस लॉकअप में यातना, बलात्संग तथा मृत्यु के रूप में अभिरक्षकीय हिंसा का निर्देश किया गया और यह अभिनिर्धारित किया गया कि इस प्रकार की हिंसा से मूल मानव अधिकारों का तथा भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन होता है। यातना में न केवल शारीरिक यातना अपितु मानसिक उत्पीडन भी अन्तर्ग्रस्त होता है। ऐसी यातना रोकने के लिए ग्यारह निर्देश जारी किए गए। इन निर्देशों का पालन न किए जाने पर विभागीय कार्यवाही तथा अवमानना के विरुद्ध कार्यवाही की जा सकेगी और अवमानना की कार्यवाही उच्च न्यायालयों में आरम्भ की जाएगी। अनुच्छेद 21 की अपेक्षाएं पुलिस, अर्धसैनिक बलों तथा राजस्व आसूचना तथा अन्य सरकारी अभिकरणों के लिए लागू होती हैं।

पिपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज बनाम यूनियन ऑफ इन्डिया : 1997 सु.को 1203 मामले में दो व्यक्तियों को, जिन्हें एकान्त स्थान पर झूठी मुठभेड में, गोली मार दी गई थी, क्षतिपूर्ति की मांग की गई थी।

उच्चतम न्यायालय ने **स्टेट ऑफ एम.पी. बनाम श्यामसुन्दर त्रिवेदी** : 1995 (4) एस.सी.सी. 262 मामले में विधि आयोग की 113वीं रिपोर्ट का निर्देश किया था। यह कहा गया था कि अभिरक्षा में हुई मृत्यु या पुलिस की यातना के बारे में पुलिस के अन्तर्ग्रस्त होने का प्रत्यक्ष साक्ष्य प्राप्त होना बहुत कठिन है। भाईचारे के बंधन में बंधे पुलिस अधिकारी कभी साक्ष्य देने के लिए आगे नहीं आएंगे, पुलिस अधिकारी, जैसाकि इस मामले में हुआ है, मामले में पूर्णतया अनभिज्ञ होने का बहाना करते हैं। न्यायालय ने ऐसे मामलों में, न्यायोचित सीमा से परे, सबूत के सिद्धांत पर अत्यधिक निर्भरता नहीं दर्शानी चाहिए। अभियोजन के पास पुलिस को संलिप्त करने के लिए कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होगा। न्यायालय, पुलिस अभिरक्षा में होने वाली मृत्यु को ''विधि शासित सभ्य समाज में सबसे बुरा अपराध मानता है। खकी वर्दी पहनने वाले व्यक्ति कानून से ऊपर नहीं हैं।'' दंड संहिता की धारा 330 और 331 ऐसे व्यक्तियों को दंडनीय बनाती हैं जो अभिस्वीकृति प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए क्षति कारित करते हैं और यह अपराध 10 वर्ष तक के

कारावास से दंडनीय है परन्तु ऐसे मामलों में दोषसिद्धि साबित करने वाले साक्ष्य की कठिनाईयों के कारण बहुत की कम होती हैं। न्यायालय ने टिप्पणी की है :

> ''इस स्थिति से परेशान विधि आयोग ने अपनी 113वीं रिपोर्ट में **भारतीय साक्ष्य अधिनियम में संशोधन करने की सिफारिश की है** ताकि यह उपबंधित किया जा सके कि पुलिस अभिरक्षा में किसी व्यक्ति को शारीरिक क्षति कारित करने के कथित अपराध के लिए किसी पुलिस अधिकारी के अभियोजन में, यदि ऐसा साक्ष्य मिलता है कि क्षति पुलिस अभिरक्षा में रहने की अवधि में कारित की गई थी तो, न्यायालय यह उपधारित करेगा कि उस व्यक्ति को अभिरक्षा में रखने वाले पुलिस अधिकारी ने क्षति कारित की है, जब तक कि पुलिस अधिकारी इसके **विपरीत साबित नहीं करता** है। विपरीत साबित करने का दायित्व का उन्मोचन सम्बद्ध पुलिस अधिकारी द्वारा ही किया जाना चाहिए।''

न्यायालय ने आगे यह भी कहा है :

> ''अपराध के अमानवीय पहलू अपराध से पीड़ित व्यक्ति के मूल अधिकारों का जघन्य उल्लंघन और इस प्रकार के अपराधों की संख्या में हो रही वृद्धि, जब कुछ ही मामले प्रकाश में आते हों तथा अन्य नहीं, को ध्यान में रखते हुए हम आशा करते हैं कि सरकार और विधानमंडल विधि आयोग की इस सिफारिश पर गम्भीरता से विचार करेंगे और विधि में उपयुक्त परिवर्तन करेंगे .....''

113वीं रिपोर्ट सरकार को 29-7-1985 को प्रस्तुत की गई थी और यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा 1995 में व्यक्त किए गए विचारों के पश्चात् भी सिफारिश की गई धारा 114-ख साक्ष्य अधिनियम में अभी तक अन्तःस्थापित नहीं की गई है। यह देखा जा सकेगा कि प्रस्तावित धारा में ''उपधारित कर सकेगा'' शब्दों का प्रयोग किया गया है ''उपधारित करेगा'' शब्दों का नहीं।

(1995 के बाद भी, उच्चतम न्यायालय द्वारा इस विषय पर बहुत से मामलों में निर्णय दिया गया है—देखें **वाचडॉग इन्टरनेशनल** बनाम **भारत संघ** : 1998(8) एस.सी.सी. 338; **मूर्ति देवी** बनाम **दिल्ली राज्य** : 1998 (9) एस.सी.सी. 604 और **भारत संघ** बनाम **लुईथुकला** : 1999(9) एस.सी.सी. 273)

113वीं रिपोर्ट में धारा 114-ख की जिस रूप में सिफारिश की गई है उसका पाठ निम्नलिखित है:

> ''114ख. (1) किसी व्यक्ति को क्षति कारित करने के कथित कृत्य द्वारा किए गए अपराध के लिए अभियोजन में (किसी पुलिस अधिकारी के), यदि ऐसा साक्ष्य है कि क्षति उस समय कारित की गई थी जब व्यक्ति पुलिस की अभिरक्षा में था तो, न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि क्षति उस पुलिस अधिकारी द्वारा कारित की गई थी जिसकी अभिरक्षा में वह व्यक्ति उस अवधि में था।
>
> (2) न्यायालय, यह निर्णय करने में कि उसे उपधारा (1) के अधीन उपधारणा करनी चाहिए अथवा नहीं, सभी परिस्थितियों को, विशेषकर,
>
> (क) अभिरक्षा की अवधि,
>
> (ख) पीड़ित व्यक्ति द्वारा किया गया इस आशय का कोई कथन, जो साक्ष्य में ग्राह्य कथन होगा कि क्षति किस प्रकार पहुंचाई गई थी,
>
> (ग) किसी चिकित्सक का साक्ष्य जिसने पीड़ित की जांच की हो, और
>
> (घ) किसी मजिस्ट्रेट का साक्ष्य जिसने पीड़ित व्यक्ति का कथन अभिलिखित किया हो या अभिलिखित करने का प्रयास किया हो
>
> सहित, ध्यान में रखेगा।''

हम इस सिफारिश का निम्नलिखित तीसरी उपधारा जोड़े जाने के अध्यधीन फिर से उल्लेख करते हैं। हम भी महसूस करते हैं कि धारा 114-ख (2) (घ) के अन्त में प्रयुक्त ''या अभिलिखित करने का प्रयास किया हो'' शब्दों को निकाल कर उसी उपधारा में 'अभिलिखित' शब्द के पश्चात और 'पीड़ित व्यक्ति के कथन' शब्दों से पूर्व लाए जाना चाहिए।

श्री वेपा पी. सारथी ने यह सुझाव दिया है कि यदि पुलिस दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 41, धारा 151 में प्रक्रियात्मक विधि का और धारा 56, 57 और 76 का दृढ़ता से अनुसरण करती है तो, मानवाधिकारों का उल्लंघन नहीं होगा। परन्तु आजकल नियमों का उल्लघंन ही देखा जाता है।

डी. के. बसु मामले की दृष्टि से हमारा विचार है कि प्रस्तावित धारा 114-ख के नीचे इस आशय की एक अन्य उपधारा (3) जोड़ी जानी चाहिए कि इस धारा में पुलिस अधिकारी से, पुलिस के अधिकारी, अर्धसैनिक बलों और सीमा शुल्क, उत्पाद शुल्क, तथा राजस्व आसूचना विभागों के अधीन आने वाले अधिकारी अभिप्रेत हैं।

हम सिफारिश करते हैं कि नई धारा 114-ख निम्नलिखित रूप में अन्तःस्थापित की जाए :

पुलिस अभिरक्षा में शारीरिक क्षति के बारे में उपधारणा

114-ख. (1) किसी व्यक्ति को शारीरिक क्षति कारित करने के कथित कृत्य द्वारा किए गए अपराध के लिए किसी पुलिस अधिकारी के अभियोजन में, यदि ऐसा साक्ष्य है कि क्षति उस व्यक्ति के पुलिस अभिरक्षा में रहने की अवधि में कारित की गई थी तो, न्यायालय यह उपधारित करेगा कि क्षति उस पुलिस अधिकारी द्वारा कारित की गई थी जिसकी अभिरक्षा में वह व्यक्ति उस अवधि में था।

(2) न्यायालय, यह निर्णय करने में कि उसे उपधारा (1) के अधीन उपधारणा करनी चाहिए अथवा नहीं, सभी परिस्थितियों को, विशेषकर,

(क) अभिरक्षा की अवधि,

(ख) पीड़ित व्यक्ति द्वारा किया गया इस आशय का कोई कथन, जो साक्ष्य में ग्राह्य कथन होगा कि क्षति किस प्रकार पहुंचाई गई थी,

(ग) किसी चिकित्सक का साक्ष्य जिसने पीड़ित की जांच की हो, और

(घ) किसी मजिस्ट्रेट का साक्ष्य जिसने पीड़ित व्यक्ति का कथन अभिलिखित किया हो या अभिलिखित करने का प्रयास किया हो

(3) इस धारा के प्रयोजनों में लिए 'पुलिस अधिकारी' नामक अभिव्यक्ति में अर्धसैनिक बलों के अधिकारी तथा राजस्व विभाग के अन्य अधिकारी, जो आर्थिक अपराधों के बारे मे अन्वेषण करते हैं, सम्मिलित होंगे।''

धारा 115 :

यह धारा तथा धारा 116 और धारा 117 अध्याय--आठ में दी गई है और ये 'विबंध' के बारे में है।

धारा 115, विबंधक निर्देश करती है और इसका पाठ निम्नलिखित है :

''115. जबकि एक व्यक्ति ने अपनी घोषणा, कार्य या लोप द्वारा अन्य व्यक्ति को विश्वास साशय कराया है या करने न दिया है कि कोई बात सत्य है और ऐसे विश्वास पर कार्य कराया या करने दिया है, तब न तो उसे और न उसके प्रतिनिधि को अपने और ऐसे व्यक्ति के, या उसके प्रतिनिधि के बीच किसी वाद या कार्यवाही में उस बात की सत्यता का प्रत्याख्यान करने दिया जाएगा।''

धारा 115 के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है और इस दृष्टांत का पाठ निम्नलिखित हैं :

दृष्टांत : 'क' साशय और मिथ्या रूप में 'ख' को यह विश्वास करने के लिए प्रेरित करता है कि अमुक भूमि 'क' की है और तद्द्वारा 'ख' को उसे क्रय करने और उसका मूल्य चुकाने के लिए उत्प्रेरित करता है।

तत्पश्चात् भूमि 'क' की सम्पत्ति हो जाती है और 'क' उस आधार पर कि विक्रय के समय उसमें उसका हक नहीं था, विक्रय अपास्त करने की ईप्सा करता है। उसे आपके हक का अभाव साबित नहीं करने दिया जाएगा।

यह धारा विधि के एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के बारे में है और अधिकांश मामलों में, न केवल सिविल अपितु लोक नीति विषयक मामलों में भी प्रमुखतया इसका उपयोग किया जाता है। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों द्वारा दी गई व्यवस्थाओं के कारण 'प्रतिज्ञायुक्त विबंधों' के सिद्धान्त भी हमारी विधि बन गए हैं।

69वीं रिपोर्ट में, विबंध के सिद्धान्तों के बारे में पर्याप्त चर्चा के पश्चात्, (पैरा 57.24) यह सिफारिश की गई थी कि 'अव्यस्कों' की स्थिति के बारे में एक स्पष्टीकरण जोड़ा जाना चाहिए।

वर्ष 1977 में 69वीं रिपोर्ट प्रस्तुत किए जाने से पूर्व तक इसके पश्चात् भी धारा 115 उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के अनेकों निर्णयों का विषय रही है। हम उन सभी का निर्देश करना आवश्यक नहीं समझते हैं। धारा 115 के बारे में उठने वाले अनेक पहलुओं पर उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिए हैं और कोई ऐसा क्षेत्र प्रतीत नहीं होता है जहां कहीं कोई वैचारिक मतभेद या धारा की भाषा में ठीक किए जाने के लिए कहीं कोई चीज है।

विबंध विभिन्न प्रकार के होते हैं--विलेखों द्वारा विबंध, अभिलेख या निर्णय द्वारा विबंध, ब्रिटेन में आचरण द्वारा विबंध। हमारे देश में इसका केवल एक ही प्रकार है और वह है—आचरण द्वारा विबंध। धारा 115 में महत्वपूर्ण घोषणा, कार्य या लोप हैं। 'साशय' शब्द का प्रयोग (देखें **लार्ड शैन्ड, शरत बनाम गोपाल** : आई. एल. आर. 20 कलकत्ता 296 (पीसी) इच्छापूर्वक जैसे अर्थ में किया गया है।

मुख्य न्यायाधीश लार्ड डैनमैन द्वारा **पिकार्ड बनाम सियर्स** : 6 ए. एण्ड ई. 469, मामले में इस शब्द का सही अर्थ लिया गया है। प्रश्न यह है कि क्या कोई उपयुक्त व्यक्ति किसी अभ्यावेदन के बारे में यह विश्वास करेगा कि वह सच है और उसके आधार पर कार्यवाही करने का विश्वास करेगा।

जहां तक प्रतिज्ञायुक्त विबंधों का प्रश्न है, इस बारे में सिद्धान्त सर्वप्रथम, **हाईट्रीज** मामले में निर्धारित किया गया था अर्थात् **सैन्ट्रल लन्दन प्रॉपर्टी ट्रस्ट लिमिटेड बनाम हाईट्रीज हाऊस लिमिटेड** : 1947 (1) के.बी. 130, मामले में। इसे सर्वप्रथम **भारत संघ बनाम एंग्लो अफगान एजेन्सिज** : ए.आई.आर. 1968 सु.को. 716 मामले में लागू किया गया। 1979 में **मोतीलाल पदमपत शुगर मिल्स लिमिटेड बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** : ए.आई.आर. 1979 सु.को. 621 मामले में अपेक्षाकृत विस्तृत विचार व्यक्त किए गए और **जीतराम शिव कुमार बनाम हरियाणा राज्य** : ए.आई.आर. 1980 सु.को. 1285 मामले में और **भारत संघ बनाम गौडफ्रे फिलिप्स लिमिटेड** : ए.आई.आर. 1986 सु.को. 806 मामले में भिन्न विचार व्यक्त किए गए। इस संबंध में हाल ही के मामलों का निर्देश करना पर्याप्त होगा, **हिमाचल प्रदेश राज्य बनाम गणेश वुड प्रोडक्ट्स** : ए.आई.आर. 1996 सु.को. 149, **एस.टी.ओ. बनाम श्री दुर्गा मिल्स** : ए.आई.आर. 1998 सु.को. 591; **राजस्थान राज्य बनाम महावीर ऑयल इन्डस्ट्रीज** : ए.आई.आर. 1999 सु.को. 2302। सिद्धान्त एक है समता का और राहत प्रदान करने की न्यायालय की अपधिकारिता अब सुनिश्चित सिद्धान्तों पर आधारित है। लोक हित के आधार पर राहत देने से इंकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यह सिद्धान्त एक प्रशासनिक सिद्धान्त के रूप में अधिक विकसित हुआ है। हमारे विचार में प्रतिज्ञायुक्त विबंध के संबंध में साक्ष्य अधिनियम में कोई विशेष उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है।

जहां तक अवयस्कों के लिए धारा 115 के लागू होने का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 57.11 से 57.17 तक में यह बताया गया था कि धारा 115 में 'व्यक्ति' शब्द, एक दृष्टिकोण के अनुसार, किसी ऐसे व्यक्ति के लिए निर्देशनीय है जो संविदा की क्षमता रखता है। यह देखा गया है कि प्रिवी काउंसिल ने इस प्रश्न को खुला छोड़ दिया, देखें **मोहरी बीबी बनाम धर्मोदास घोष** : (1903) आई.एल.आर. 30 कलकत्ता 539 (पी.सी.)। **सादिक अली खां बनाम जय किशोर** : ए.आई.आर. 1928 पी.सी. 152, मामले में प्रिवी काउंसिल ने अभिनिर्धारित किया कि किसी अवयस्क द्वारा किया गया विलेख अकृत है और इसे विबंध में कोई स्थान प्राप्त नहीं होगा।

अब, उच्चतम न्यायालय ने, **बिक्री कर अधिनियम** बनाम **कन्हैयालाल** : ए.आई.आर. 1959 सु.को. 135 मामले में थर्सटन बनाम **नटिंघम पीब्बी. सोसाइटी** : 1903 ए.सी.,6 मामले में लार्ड पोरटम के विचारों को ही स्वीकृत किया है।

> ''. . . . कोई इक्विटी न्यायालय यह नहीं कह सकता कि किसी व्यक्ति को किसी संव्यवहार के बारे में, धनराशि का संदाय करने के लिए विवश करना भी न्यायपूर्ण होगा, विधानमंडल ने, उस व्यक्ति के विरुद्ध शून्य घोषित कर दिया हो।''

अजुध्या बनाम **चन्दन** : 1937 इलाहाबाद 610 (एफ.बी.) मामले में पूर्ण पीठ द्वारा ऐसे ही विचार व्यक्त किए गए; **गाद्रीगेप्पा** बनाम **बालनकौडा** : 1921 बम्बई 561 (एफ. बी.); **हरि** बनाम **रोशन** : 71 आई.सी. 161 (एफ. बी.); **खान गुल** बनाम **लारखा** : ए.आई.आर. 1928 लाहौर 609 (एफ. बी.)। ऐसे ही विचार, **कोदूरी** बनाम **थुमुलूरी** : ए.आई.आर. 1926 मद्रास 607; **गुलाब चन्द** बनाम **सेठ चुन्नी** : ए. आई.आर. 1929 नागपुर 156; **नकुल** बनाम **सासाधात** : 45 सी. डब्ल्यू. एन. 906; **गंगानंद** बनाम **रामेश्वर** : ए.आई.आर. 1927 पटना 271, मामलों में व्यक्त किए गए। किसी अवयस्क द्वारा धोखाधड़ी से कि वह वयस्क है, किए गए मामले भी हैं।

इंग्लैण्ड में भी विधि इसी प्रकार की है : **लैजली** बनाम **शील** : 1914 (3) के बी 607। देखें फिप्सन (1999, 15वां संस्करण, पैरा 5.04) यह सिद्धान्त विवाहित महिला के मामले में भी लागू किया गया है **कैनम** बनाम **फार्मर** : (1849)(3 एम्स सी एम 698), या दिवालिया न्यासी के मामले में, **रि** बनाम **एशवैल** : 1912 (1) के बी 300 और एक निगम के मामले में ऐसे कार्यों के लिए जो अधिकारातीत है [**ब्रिटिश म्यूचुअल बैंकिंग कम्पनी** बनाम **चार्नवुड** : (1887) 18 क्यू. बी. डी. 714; **रहाइल एम्यूजमेंटस् लिमिटेड** : **1959** (1) डब्ल्यू. एल. आर. 465]।

इसी कारण से पैरा 57.24 में स्पष्टीकरण जोड़ने का प्रस्ताव 'अवयस्क या अन्य विकलांगों' के लिए लागू करने का प्रस्ताव किया गया है। परन्तु पैरा 57.15 में, जहां यह स्वीकार किया गया था कि ऐसे मामलों में जो संविदाओं या सम्पत्ति अन्तरण से संबंधित न हों (अर्थात् जहां ठेका अधिनियम की धारा 11 लागू नहीं होती है) विबंध का सिद्धान्त लागू होना चाहिए। पैरा 57.17 के उपपैरा (ग) में कहा गया है :

> ''(ग). परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी अवयस्क को कभी विबंधित नहीं किया जा सकता--उदाहरण के लिए, धारा 116 के अधीन (भूस्वामी तथा अभिधारी के बीच विबंध) किसी अवयस्क को विबंधित किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ठेका अधिनियम की धारा 11 वहां बीच में नहीं आती है जहां मूल अभिधृति किसी अवयस्क द्वारा निष्पादित नहीं की गई थी अपितु अवयस्क ने इसे उत्तराधिकार में प्राप्त की है।''

ऐसे मामलों के बारे में भी व्यवस्था करने के प्रयोजन से ही पैरा 57.24 में निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ने की सिफारिश की गई थी :

> ''**स्पष्टीकरण** : यह धारा किसी अवयस्क या किसी अन्य विकलांग व्यक्ति के लिए लागू होती है, परन्तु इस धारा की किसी भी बात का विधि के किसी अन्य उपबंध पर कोई प्रभाव नहीं होगा जिसके द्वारा कोई अवयस्क या अन्य विकलांग व्यक्ति किसी विशिष्ट देयता को अपने ऊपर लेने में अक्षम हो जाता है।''

पैरा 57.17 के उपपैरा (ग) के बारे में, हमारे विचार में और किसी अर्हता की व्यवस्था करना आवश्यक नहीं है। जो उदाहरण दिया गया है, यदि अभिधृति उसके पिता के पास थी तो, अवयस्क, अपने पिता का उत्तराधिकारी होने के कारण अभिधृति से इंकार नहीं कर सकता। वह विबंधित इसलिए नहीं होता है कि भूस्वामी और अभिधारी के बीच के मामले अपवाद स्वरूप हैं अपितु इसलिए कि अभिधृति की संविदा उसके पिता ने की थी जो किसी प्रकार की विकलांगता से पीड़ित नहीं था। वास्तव में, धारा 116 में भी जो अभिधारियों के विबंध के बारे में है, ''या ऐसे अभिधारी से व्युत्पन्न अधिकार से दावा करने वाले व्यक्ति की'' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अत: हमारा विचार है कि स्पष्टीकरण का पहला भाग ''यह धारा किसी अवयस्क व्यक्ति या किसी अन्य विकलांग व्यक्ति के लिए लागू होती है'' आवश्यक नहीं है। वास्तव में, यह प्रस्तावित स्पष्टीकरण के बारे में एक त्रुटिपूर्ण मत व्यक्त करता है।

हमारे विचार में, दूसरे भाग में थोड़ी पुनर्प्रारूपण की आवश्यकता है। अतः हम सिफारिश करते हैं कि स्पष्टीकरण के बजाय, धारा 115 के नीचे निम्नलिखित परन्तुक जोड़ा जाना चाहिए :

''परन्तु यह कि इस धारा में अन्तर्विष्ट कोई भी बात ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए अध्यावेदन से व्युत्पन्न किसी देयता को लागू करने के प्रयोजन के लिए, जहां ऐसे व्यक्तियों द्वारा की गई संविदा से व्युत्पन्न ऐसी कोई देयता अकृत और शून्य हो गई हो, अवयस्क या किसी अन्य व्यक्ति के लिए लागू नहीं होगी।''

धारा 116 :

यह धारा अभिधारी के और कब्जाधारी व्यक्ति के अनुज्ञप्तिधारी के विबंध के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है:

''116. स्थावर सम्पत्ति के किसी भी अभिधारी को या ऐसे अभिधारी से व्युत्पन्न अधिकार से दावा करने वाले व्यक्ति को, ऐसी अभिधृति के चालू रहते हुए, इसका प्रात्याख्यान न करने दिया जाएगा कि ऐसे अभिधारी के भू-स्वामी का ऐसी स्थावर सम्पत्ति पर उस अभिधृति के आरम्भ पर हक था तथा किसी भी व्यक्ति की अनुज्ञप्ति द्वारा आया है, इसका प्रात्याख्यान न करने दिया जाएगा कि ऐसे व्यक्ति को उस समय, जब ऐसी सम्पत्ति दी गई थी, ऐसे कब्जे का हक था।''

यह धारा किसी अभिधारी/अनुज्ञप्तिधारी के विबंध के बारे में हैं। पट्टा/अनुज्ञप्ति वास्तविक स्वामी से प्राप्त हो सकेगा। परन्तु किसी समय, किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा भी ऐसा किया जा सकता है जिसे सम्पत्ति पर हक प्राप्त न हो। परन्तु कोई व्यक्ति जब एक बार इनमें से किसी भी व्यक्ति से कब्जे का अधिकार प्राप्त कर लेता है तो, वह पट्टा या अनुज्ञप्ति प्रदान करने के प्रदानकर्ता के अधिकार प्रात्याख्यान करने से विबंधित हो जाता है। यह स्पष्ट है कि यह विबंध पट्टे/अनुज्ञप्ति की अवधि के दौरान प्रभावी होना चाहिए। परन्तु धारा में कहा गया है कि हक के प्रात्याख्यान का निषेध अभिधृति के चालू रहते प्रभावी होगा। धारा के दूसरे भाग में, जो अनुज्ञप्ति के बारे में है, ऐसी योग्यता नहीं दी गई है। धारा में यह भी कहा गया है कि अभिधारी ''अभिधृति के आरम्भ में ''' या अनुज्ञप्ति दिए जाने के समय' स्वामी के हक का प्रात्याख्यान नहीं कर सकता। एक अन्य प्रश्न यह उठता है कि क्या विबंध उस व्यक्ति के लिए भी लागू होगा जिसे अभिधारी अधिकृत कर देता है, क्योंकि वह मूल भू-स्वामी को अपना भू-स्वामी समझता है।

जहां तक विबंध को, अभिधृति के चालू रहने की अवधि के लिए सीमित करने का संबंध है, क्या इसका यह अर्थ है कि एक बार सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन अभिधृति समाप्त करने का नोटिस दे दिया जाता है तो, अभिधारी भू-स्वामी के हक का विरोध करने के लिए स्वतंत्र हो जाता है। विधि में स्थिति इस प्रकार है कि विबंध चालू रहता है (**मोहम्मद मुजीबुर बनाम शेख इस्सन** : ए.आई.आर. 1928 कलकत्ता 546; **बिलास बनाम देसराज** : ए.आई.आर. 1915 2 पी.सी. 96)। 69वीं रिपोर्ट में अन्य उच्च न्यायालयों के निर्णयों का निर्देश किया गया है। इसलिए, 'अभिधृति के चालू रहते हुए' शब्दों के पश्चात् ''अभिधृति समाप्त होने के किसी समय बाद'' शब्द जोड़े जाने चाहिए।

'अभिधृत के आरम्भ में' शब्द तो समझ में आते हैं। यदि भू-स्वामी की मृत्यु हो जाती है और उसके उत्तराधिकारी उत्तराधिकार में प्राप्त कर लेते हैं, तब भी, अभिधारी, पूर्ववर्ती भू-स्वामी के हक का विरोध नहीं कर सकता जिसकी सम्पत्ति पर अब उत्तराधिकारियों का कब्जा है।

परन्तु उपर्युक्त शब्दों के परिणामस्वरूप इस संबंध में कतिपय विरोधी निर्णय दिए गए हैं कि क्या विबंध उस व्यक्ति के लिए लागू होता है जिसके पास पहले से ही कब्जा है, यद्यपि अभिधारी के रूप में नहीं, परन्तु जो बाद में पट्टा निष्पादित करता है (देखें विरोधाभासपूर्ण निर्णय, सरकार, 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 1927 से 1913)। हमें ऐसा कोई उपयुक्त कारण दृष्टिगत नहीं होता कि कोई ऐसा व्यक्ति जिसके पास पहले से ही प्राधिकार के बिना ही सम्पत्ति का कब्जा है, यदि बाद में, किसी व्यक्ति को अपना भू-स्वामी स्वीकार कर लेता है तो उसे पूर्वकालिक स्थिति में जाने की अनुमति क्यों दी जानी चाहिए।

यह ठीक है, यदि अभिधारी का ऐसा मामला है कि अनुचित प्रभाव, धोखाधड़ी या त्रुटि के कारण पट्टे पर दुष्प्रभाव पड़ा है तो इस धारा के अन्तर्गत प्रतिबंध लागू नहीं होगा, यह अब सुनिश्चित हो चुका है। परन्तु ऐसे मामलों को छोड़कर, ऐसा कोई कारण नहीं है कि जिन व्यक्तियों के पास पहले से ही कब्जा है उन पर विबंध क्यों लागू नहीं होगा।

यदि कोई व्यक्ति 'क' का अभिधारी बन जाता है और बाद में अभिधारी करार 'ख' के साथ कर लेता है, तो भी, विबंध 'क' तथा 'ख' दोनों के लिए लागू होगा चाहे 'क' या 'ख' में से कोई भी स्वामी था और यदि 'क' या 'ख' दोनों ही वास्तविक स्वामी नहीं थे। 'क' से कब्जा प्राप्त करने के पश्चात् पहले पट्टे के अधीन, 'ख' के साथ अभिधृति करार निष्पादित करके वह विबंध से नही बच सकेगा।

यदि 'क' कोई वाद दायर करता है, तो अभिधारी 'क' के हक का विरोध नहीं कर सकेगा और यह नहीं कह सकेगा कि उसे कब्जा बाद में 'ख' ने दिया था।

हम कुछ उपांतरणों के साथ, उपर्युक्त सिफारिश से सहमत है कि ''या ऐसे अभिधारी के माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति'' शब्द प्रस्तावित ''यदि अभिधारी'' शब्दों के पश्चात् जोड़े जाने चाहिए।

दूसरा पहलू नए स्वामियों के अभिधारी मानने के मामलों से संबंधित है। इस पहलू पर 69वीं रिपोर्ट में विस्तार से चर्चा की गई है। नए स्वामी का अभिधारी बनने पर तकनीकी अर्थ में नई अभिधृति बन जाती है। परन्तु रिपोर्ट में निर्देशित निर्णयों में विरोध होते हुए भी, यह महसूस किया गया था कि जिस व्यक्ति को मूल अभिधारी ने समर्पण किया है, अपने को नए स्वामी का अभिधारी मानने से, मूल भू-स्वामी को मान्यता देता है, जब तक कि वह धोखाधड़ी, अनुचित प्रभाव या डराने, धमकाने या त्रुटि का तर्क नहीं देता, उस पर विबंध लागू होना चाहिए। 69वीं रिपोर्ट में नए स्वामी का अभिधारी स्वीकारने के बारे में नई उपधारा (2) अन्तःस्थापित करने की सिफारिश की गई है।

हम किराया अधिनियम के अधीन उत्पन्न होने वाले मामलों के बारे में चर्चा नहीं कर रहे हैं जहां कब्जायुक्त अभिधारी विधिक अभिधारी हो जाता है। कुछ राज्यों की विधियां, जिनमें हक का प्रात्याख्यान करने पर बेदखली का उपबंध किया गया है, हक का प्रात्याख्यान करने की अनुमति भी देती हैं परन्तु यह कि यह सही हो। ऐसे मामलों के बारे में चर्चा करना आवश्यक नहीं है।

अतः हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 58.31 ख में की गई सिफारिश को मुख्यतया स्वीकार करते हैं। 69वीं रिपोर्ट में, जिस रूप में धारा 116 की सिफारिश की गई है उसके अनुसार धारा 116 के वर्तमान उपबंधों को पुनर्संख्यांकित करके तथा ''या उसके पश्चात् किसी समय, यदि अभिधारी अभिधृति की बेदखली के बाद भी अपना कब्जा चालू रखता है'' शब्द जोड़कर, उपधारा (1) को पढ़ा जाए।

अतः हम सिफारिश करते हैं कि धारा 116 को निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए :

अभिधारी का और कब्जाधारी व्यक्ति के अनुज्ञप्तिधारी का विबंध

''116. स्थावर सम्पत्ति के किसी भी अभिधारी को या ऐसे अभिधारी से व्युत्पन्न अधिकार से दावा करने वाले व्यक्ति को, ऐसी अभिधृति के चालू रहते हुए या उसके पश्चात् किसी समय, यदि अभिधारी या ऐसे अभिधारी के माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति, अभिधृति की समाप्ति के पश्चात् उस सम्पत्ति पर निरन्तर कब्जा रखता है तो, उसे इसका प्रात्याख्यान करने दिया जाएगा कि ऐसे अभिधारी के भू-स्वामी का ऐसी स्थावर सम्पत्ति पर उस अभिधृति के आरम्भ पर हक था तथा किसी भी व्यक्ति को, जो किसी स्थावर सम्पत्ति पर कब्जाधारी व्यक्ति की अनुज्ञप्ति द्वारा आया है, इसका प्रात्याख्यान न करने दिया जाएगा कि किसी ऐसे व्यक्ति को उस समय, जब ऐसी अनुज्ञप्ति दी गई थी, ऐसे कब्जे का हक था।

(2) जहां किसी स्थावर सम्पत्ति के कब्जाधारी अभिधारी को किसी अन्य भू-स्वामी का अभिधारी बना दिया जाता है तब, अभिधारी को या उसके माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति को अभिधृति के चालू रहते, या उसके माध्यम से दावा

करने वाले व्यक्ति को अभिधृति समाप्त होने के पश्चात् अपना कब्जा जारी रखते हुए इसका प्रत्याख्यान नहीं करने दिया जाएगा कि उस व्यक्ति का, जिसे अभिधारी का नया स्वामी बनाया गया है, उस तारीख को, जिसको उसे स्वामित्व अधिकार दिया गया था, स्थावर सम्पत्ति पर कोई हक था, परन्तु इस उपधारा में कोई भी बात अभिधारी को या उसके माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति को इस आशय का साक्ष्य प्रस्तुत करने से नहीं रोक पाएगी कि स्वामित्व हस्तांतरण त्रुटि से या धोखाधड़ी से अर्जित किया गया था।''

धारा 117

यह धारा 'विनिमय पत्र के प्रतिगृहीता का, उपनिहिती का या अनुज्ञप्तिधारी का विबंध' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''117. किसी विनिमय पत्र के प्रतिगृहीत को इसका प्रात्याख्यान करने की अनुज्ञा न दी जाएगी कि लेखीवाल को ऐसा विनिमय पत्र लिखने या उसे पृष्ठांकित करने का प्राधिकार था, और न किसी उपनिहिती या अनुज्ञप्तिधारी को इसका प्रात्याख्यान करने दिया जाएगा कि उपनिधाता या अनुज्ञापक को उस समय, जब ऐसा उपनिधिक या अनुज्ञप्ति आरम्भ हुई, ऐसे उपनिधान करने या अनुज्ञप्ति अनुदान करने का प्राधिकार था।

स्पष्टीकरण I : किसी विनिमय पत्र का प्रतिगृहीत इसका प्रात्याख्यान कर सकता है कि विनिमय पत्र वास्तव में उस व्यक्ति द्वारा लिखा गया था जिसके द्वारा वह लिखा गया तात्पर्यित है।

स्पष्टीकरण-II : यदि कोई उपनिहिती उपनिहित माल उपनिधाता से अन्य किसी व्यक्ति को परिदत्त करता है, तो वह साबित कर सकेगा कि ऐसे व्यक्ति का उस पर उपनिधाता के विरुद्ध अधिकार था।''

धारा का पहला भाग इंग्लैण्ड में प्रचलित समरूप सिद्धान्त का निर्देश करता है परन्तु पहले स्पष्टीकरण में इंग्लिश विधि से इस अर्थ में भिन्नता है कि प्रतिगृहीता को यह दर्शाने की अनुज्ञा नहीं है कि लेखीवाल के हस्ताक्षर धोखाधड़ी है क्योंकि उसे अपने संपर्कों के हस्ताक्षरों के बारे में ज्ञान होना बाध्यकारी है [(सैन्डर्सन बनाम कॉलमैन (1842) 11 एल.जे. पी.सी. 270] पराक्रम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 41 और धारा 42 इस धारा की परिपूरक धाराएं हैं। धारा 41 के द्वारा, कोई प्रतिगृहीता कूटरचित दस्तावेज से बाध्य है, यदि वह जानता था या ऐसा विश्वास करने का उसके पास कारण था कि पृष्ठांकन कूटरचित था। धारा 42 के द्वारा कोई प्रतिगृहीता अपने दायित्व से इस कारण से मुक्त नहीं हो जाता कि विनिमय पत्र कल्पित नाम से लिखा गया था। इस अधिनियम की धारा 20 के द्वारा, लेखीवाल और प्रतिगृहीता रुपया पाने वाले को उसको पृष्ठांकित करने की क्षमता का प्रात्याख्यान नहीं करने दिया जाएगा। अधिनियम की धारा 122 द्वारा पृष्ठांकक किसी पूर्विक पक्षकार के हस्ताक्षर का उसकी सामर्थ्य का प्रात्याख्यान करने के लिए अनुज्ञात न होगा। (सरकार, 15वां संस्करण, 1999, पैरा 1948)।

सदासुक बनाम किशन : ए.आई.आर. 1918 पी.सी. 146 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध जिसका नाम लिखत के पक्षकार के रूप में उल्लिखित होता है, किसी विनिमय पत्र या किसी प्रोनोट के बारे में कार्यवाही में दावे या प्रतिरक्षा में यह दर्शाने की अनुज्ञा नहीं है कि हस्ताक्षरकर्ता वास्तव में, किसी अनुधारित सिद्धान्त पर कार्यवाही कर रहा था।

जहां तक उपनिधान का संबंध है, ठेका अधिनियम, 1872 की धारा 148 से धारा 181 तक के उपबंध सुसंगत हैं। धारा 167 में गिरवी रखी गई वस्तुओं के लिए तीसरे पक्ष के दावा करने के अधिकार का निर्देश है।

इस धारा के अन्तर्गत अनुज्ञप्तियां धारा 116 में निर्देशित अनुज्ञप्ति से भिन्न हैं। यहां वस्तुओं के स्वामियों से पेटेन्ट या ट्रेडमार्क के अनुज्ञप्तिधारियों का निर्देश है।

69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया था (देखें पैरा 59.5) कि आयोग की ग्यारहवीं रिपोर्ट (पृष्ठ 66 पैरा 146) में जो किसी विनिमय पत्र के प्रतिगृहीता से संबंधित है कि धारा 117 का वह भाग जो किसी विनिमय पत्र के प्रतिगृहीता से संबंधित है पराक्रम्य

लिखत अधिनियम में धारा 104 के रूप में स्थानांतरित किया जाए (देखें ग्यारहवीं रिपोर्ट का पृष्ट 113, धारा 104 का प्रारूप और परिशिष्ट तीन का पृष्ठ 151)। परन्तु, 69वीं रिपोर्ट में ऐसे स्थानान्तरण के लिए कोई ठोस सिफारिश नहीं की गई है। निःसन्देह, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 59.7 में यह कहा गया है कि धारा के शेष भाग में किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

हमारे विचार में, धारा 117 के प्रथम भाग को पराक्रम्य लिखत अधिनियम में स्थानान्तरित करने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय के संबंध में, भू-स्वामी, अभिधारी तथा उपनिहित के अन्य संबंधियों आदि के बारे में साक्ष्य अधिनियम में उपधारणाएं अन्तर्विष्ट हैं यदि इन्हें सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, या ठेका अधिनियम में स्थानान्तरण करने की आवश्यकता नहीं है तो, ठीक इसी प्रकार धारा 117 के प्रथम भाग को पराक्रम्य लिखत अधिनियम में स्थानान्तरित करने की आवश्यकता नहीं है।

अतः हम धारा 117 में किसी प्रकार के संशोधन की सिफारिश नहीं करते हैं।

धारा 118 :

धारा 118 से धारा 134 तक साक्ष्य अधिनियम के अध्याय नौ में अन्तर्विष्ट हैं और ये 'साक्षियों' के बारे में हैं।

धारा 118 'कौन साक्ष्य दे सकेगा' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"**118.** सभी व्यक्ति साक्ष्य देने के लिए सक्षम होंगे, जब तक कि न्यायालय का यह विचारण हो, कि कोमल, वयस, अतिवार्धक्य, शरीर के या मन के रोग या इसी कारण के किसी अन्य कारण से वे उनसे किए गए प्रश्नों को समझने से या उन प्रश्नों के सही उत्तर देने से निवारित हैं।

स्पष्टीकरण : कोई पागल व्यक्ति साक्ष्य देने के लिए अक्षम नहीं है, जब तक कि वह अपने पागलपन के कारण उससे किए गए प्रश्नों को समझने से या उनके युक्तिसंगत उत्तर देने से निवारित न हो।

69वीं रिपोर्ट में, इस धारा के विषय में पैरा 60.1 से 60.9 में चर्चा हुई है परन्तु किसी भी पैरे में यह नहीं कहा गया है कि कोई संशोधन आवश्यक है।

जहां तक बच्चों के साक्ष्य का संबंध है, एक सिद्धान्त निर्धारित किया गया है कि साधारणतया धारा 118 की सम्पुष्टि अपेक्षित है। सम्पुष्टि की अपेक्षा करना कोई कठोर नियम नहीं है। **रामेश्वर** बनाम **राजस्थान राज्य** : ए.आई.आर. 1952 सु.को. 54; मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि कोई 8 वर्ष की आयु की बालिका, जिसके साथ कथित बलात्संग किया गया है, सक्षम साक्षी होगी। शपथ अधिनियम सक्षमता के प्रश्न पर सुसंगत नहीं है। यह अभिनिधारित किया गया था कि न्यायाधीश तथा मजिस्ट्रेट इस आशय का अपना मत अभिलिखित करेंगे कि बच्चा सच बोलने के अपने कर्त्तव्य को समझता है और यह भी अभिकथित करेंगे कि उनकी राय में किसी विशिष्ट बच्चे का साक्ष्य क्योंकर विश्वसनीय या अविश्वसनीय था। परन्तु यदि निर्णय में ऐसी राय अभिव्यक्त भी न भी की जाए तो भी मामले की परिस्थितियों से यह अनुमान लगाया जा सकेगा कि क्या मजिस्ट्रेट या न्यायाधीश की यह राय थी अथवा नहीं। न्यायाधीश का मात्र यह कहना कि उसने शपथ इसलिए नहीं दिलाई कि बच्चा शपथ का महत्व नहीं समझ पाएगा, इसका यह अर्थ नहीं होगा कि न्यायाधीश ने यह तथ्य वर्णित किया है कि बच्चे की कोमल वयस, मामले में प्रकट होने वाले अन्य परिस्थितियों के साथ, उदाहरण के लिए उसका तौर तरीका, उसको पढ़ाने समझाने आदि की संभावना न होना आदि सम्पुष्टि को अनावश्यक बना देती है। "व्यवहार में कोई ऐसा नियम नहीं है कि दोषसिद्ध के बने रहने की अनुमति से पूर्व, प्रत्येक मामले में सम्पुष्टि होनी ही चाहिए"। साक्ष्य अधिनियम की धारा 8 के दृष्टांत (च) और धारा 157 को ध्यान में रखते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी सहअपराधी या परिवादी का पुर्विक कथन, मामले के तथ्यों को देखते हुए, सम्पुष्टि के रूप में स्वीकार किया जा सकेगा। देखें, **तेहल सिंह** बनाम **स्टेट ऑफ पंजाब** : ए.आई.आर. 1979 सु.को. 1347; **रमेश चन्दा** बनाम **चम्पाबाई** : 1964 (6) एस.सी.आर. 814; **जनार्दन** बनाम **स्टेट ऑफ बिहार** : 1971 (3) एस.सी.सी. 907; **नाथू सिंह** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** 1974 (3) एस.सी.सी. 584।

यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि 14 वर्ष की आयु का लड़का अपने भाई की हत्या का उचित विवरण दे सकेगा और यदि उसने हत्या होते देखी थी तब यह उपधारित करना अनुचित होगा कि उसे पढ़ाया समझाया गया था (**प्रकाश** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** : ए.आई.आर. 1939 सु.को. 60)। जब साक्षी केवल अल्पायु का ही न हो अपितु प्रत्यक्षदर्शी भी हो तब उसके (बालिका के) साक्ष्य की जांच बड़ी सावधानी के साथ करनी होगी। परन्तु केवल इस कारण से कि कोई व्यक्ति अशिष्ट है, साक्ष्य की अपेक्षा नहीं की जा सकेगी। (**शिवाजी बनाम स्टेट** : ए.आई.आर. 1973 सु.को. 55), देखें, **कण्डमनथिल्** बनाम **स्टेट ऑफ केरल** : 1973 क्रिमि. एल.जे. 2605। यह तथ्य कि पुलिस बच्चे को न्यायालय में पेश करने के लिए गई ले थी, सुसंगत नहीं है यदि बच्चे का साक्ष्य अन्यथा विश्वसनीय हो। **मंगु बनाम स्टेट ऑफ मध्य प्रदेश** : ए.आई.आर. 1995 सु.को. 946,

देखें

दत्तूराम राव बनाम **स्टेट ऑफ महाराष्ट्र** : 1997 (3) महाराष्ट्र एल.जे. 452 सु.को.)

इंग्लैण्ड में किसी बच्चे के साक्ष्य की सम्पुष्टि की आवश्यकता को दांडिक न्याय अधिनियम, 1988 (क्रिमिनल जस्टिस एक्ट) की धारा 34 (2) द्वारा समाप्त कर दिया गया है। 6 वर्ष की आयु के बच्चे का साक्ष्य शपथ के बिना ही किसी व्यक्ति को दोषी ठहराने के लिए यह मानते हुए स्वीकार कर लिया गया था, देखें **आर. बनाम जैड** : 1990 (2) इला.ई.आर. 971, कि बच्चा साक्ष्य देने के लिए सक्षम है। किसी मामले में वकील की दक्षता के बारे में, ऐसे ही मामले में साक्ष्य देने के बारे में, पर्याप्त निर्णय जनित विधि उपलब्ध है। भारतीय बार काउंसिल नियम के भाग छः के अध्याय-दो के नियम 13 में निम्नलिखित उपबंधित है :

> "किसी अधिवक्ता को कोई सारांश स्वीकार नहीं करना चाहिए या किसी ऐसे मामले की पैरवी के लिए उपस्थित नहीं होना चाहिए जिसमें उसके विश्वास करने के लिए ऐसे कारण है कि वह साक्षी होगा और यदि उसे उस मामले में अधिवक्ता के रूप में लिया जाएगा तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह तथ्य के सारभूत प्रश्न का साक्षी होगा तो उसे उस मामले में अधिवक्ता के रूप में नहीं आना चाहिए यदि वह अपने ग्राहक के हितों को क्षति पहुंचाए बिना स्वयं को मामले से अलग कर लेता है।"

एक मामले में किसी वकील का साक्ष्य स्वीकार किया गया था—**बीरधमल बनाम प्रभावती** : ए.आई.आर. 1939 पी.सी. 152। जिसके वकील ने किसी दुर्भाग्यपूर्ण अभियोजन के मामले में यदि अपने मवक्किल के किसी पूर्ववर्ती मामले में, सदाशय के बारे में कहा था तो वह सक्षम साक्षी होगा। **कोरिया बनाम पीमरिस** : 14 सी.डब्ल्यू एन 86 (पी.सी.)

मुख्तारनामा अधिनियम की धारा 2 के अधीन कोई मुख्तारनामाधारक उस पक्ष की ओर से सक्षम साक्षी के रूप में साक्ष्य देने के लिए सक्षम नहीं होगा।

दंड प्रक्रिया संहिता में धारा 324क के अधीन (अब संहिता, 1898 की धारा 315(1) किसी अभियुक्त को प्रतिरक्षा के लिए साक्षी के रूप में स्वयं की परीक्षा करने का विकल्प प्राप्त है और ऐसे मामले में उसे शपथ लेनी होगी। उसके पश्चात् उसकी प्रतिपरीक्षा की जा सकेगी।

भारत में संविधान के अनुच्छेद 20 (3) 'कोई साक्षी होना' खंड 'साक्षी के रूप में उपस्थित होने' से भिन्न है (देखें **शर्मा** बनाम **सतीश** : ए.आई.आर. 1954 सु. को. 300; **स्टेट** बनाम **काठी कालू** : ए.आई.आर. 1961 सु.को. 1808 भी देखें)

निष्पादक किसी 'विल' के निष्पाद को साबित करने के लिए सक्षम साक्षी है (देखें भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 68) इस धारा का विस्तर अधिनियम की धारा 57 की अनुसूची तीन द्वारा हिन्दुओं तथा अन्य व्यक्तियों के लिए भी कर दिया गया है।

पागलपन के बारे में स्पष्टीकरण स्पष्ट है। **आर** बनाम **हिल** (1851) 2 डेन, 254, मामले में साक्षी को विश्वास था कि उसके पास अपने 20,000 स्प्रिटस थे। उसका साक्ष्य अन्य सभी मामलों में स्वीकार कर लिया गया (नार्टन, पृष्ट 305) (यह मामला 69वीं रिपोर्ट के पैरा 60.12 में भी उद्धृत किया गया है)।

आर बनाम **बर्राट** : 1996 क्रिम. एल. जे. 495 सी.ए. मामले में, जहां साक्षी के निश्चित विश्वास के कारण उसे अपने निजी जीवन के बारे में भयावह विश्वास होते थे, यह अभिनिर्धारित किया गया कि इसके कारण उसे (स्त्री) अंगुलियों के निशान पाए जाने का साक्ष्य देने के लिए अक्षम नहीं ठहराया जा सकता।

साधारण विधि में नास्तिक और ऐसे गैर क्रिश्चियन जो नास्तिक हैं (परन्तु वे नहीं जो यह विश्वास करते हैं कि झूठी शपथ लेने से ईश्वर दंडित करेगा) साक्ष्य के लिए शपथ लेने से अक्षम हैं। ये योग्यताएं आगे चलकर यू.के. एविडेन्स फरदर अमेंडेमेंट एक्ट, 1869 द्वारा हटा ली गईं।

अपराध के लिए दोषसिद्धि के कारण से साक्ष्य देने की अक्षमता भी यू.के. ऐविडेंस एक्ट, 1843 द्वारा निरसित कर दी गई थी।

क्योंकि धारा 118 से संबंधित सभी सिद्धान्त स्पष्ट हैं और रिपोर्ट के पैरा 60.12 में यह सिफारिश की गई है कि धारा 118 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमति व्यक्त करते हैं।

धारा 119 :

यह धारा 'मूक साक्षियों' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"119. वह साक्षी जो बोलने में असमर्थ है, अपना साक्ष्य किसी अन्य प्रकार से, जिसमें वह उसे बोधगम्य बना सकता हो, यथा लिखकर या संकेतों द्वारा दे सकेगा, किन्तु ऐसा लेख और वे संकेत खुले न्यायालय में ही लिखने होंगे या करने होंगे। इस प्रकार दिया गया साक्ष्य मौखिक साक्ष्य ही समझा जाएगा।"

'बोलने में असमर्थ' शब्दों के अन्तर्गत बहरे या गूंगे व्यक्ति या ऐसे व्यक्ति जो बहरे और गूंगे दोनों ही हों सम्मिलित होंगे। यह मरणासन्न महिला से भी संबंधित है [देखें **आर बनाम अब्दुल्ला** : 7 इलाहाबाद 385 (एफ.बी.)।

गोदरेज सोप लिमिटेड बनाम **स्टेट** : 1991 क्रिम. एल.जे. 828 (कलकत्ता) मामले में न्यायालय ने यह अवधारणा की कि कोई निकाय निगमित बोलने में असमर्थ है परन्तु यह अभिनिर्धारित किया कि वह लिखित में अपना साक्ष्य दे सकता है और इस प्रकार दिया गया साक्ष्य "मौखिक साक्ष्य" समझा जाएगा।

जैसाकि 69वीं रिपोर्ट के पैरा 60.15 में बताया गया है कि ब्रिटेन तथा अमेरीका में किसी बहरे या गूंगे (या बहरे और गूंगे) व्यक्ति के साक्ष्य के मामले में कोई भाषान्तरकार नियुक्त किया जा सकता है। 69वीं रिपोर्ट में यह अवधारणा की गई कि "भारत में इस विषय पर कोई उपबंध न होने के कारण कोई कठिनाई आई प्रतीत नहीं होती है"।

परन्तु, 1977 के पश्चात्, **कुमार** बनाम **स्टेट** : ए.आई.आर. 1966 गुजरात 101, मामले में दी गई एक व्यवस्था में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि "लिखकर या संकेतों से" शब्दों की दृष्टि से संकेत साक्षी के होने चाहिए भाषान्तरकार के नहीं। परन्तु **काडुनगोठी** बनाम **स्टेट ऑफ केरल** : 1982 क्रिमि. एल. जे. 94 (केरल) मामले में एक विपरीत दृष्टिकोण अपनाया गया कि बहरे गूंगे व्यक्तियों के बारे में उसके (स्त्री के) विचार किसी विशेषज्ञ द्वारा न्यायालय को बताएं जाने चाहिए।

विरोधी निर्णयों और ब्रिटेन तथा अमेरीका में व्याप्त स्थिति की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। यद्यपि 1977 में, जब 69वीं रिपोर्ट प्रस्तुत की गई, यह आवश्यक नहीं समझा गया था।

हम तदनुसार, धारा 119 के नीचे एक स्पष्टीकरण जोड़ने की सिफारिश करते हैं।

"**स्पष्टीकरण** : बोल पाने में असमर्थ किसी व्यक्ति के संकेतों का भाषान्तर, संकेत करने वाले व्यक्ति का मौखिक साक्ष्य समझा जाएगा"

धारा 120 :

यह धारा सिविल और दांडिक मामलों में पत्नियों और पतियों के साक्ष्य के बारे में है। इसका पाठ इस प्रकार है :

"120. सभी सिविल कार्यवाहियों में वाद के पक्षकार और वाद के किसी पक्षकार का पति या पत्नी सक्षम साक्षी होंगे। किसी व्यक्ति के विरुद्ध दांडिक कार्यवाही में उस व्यक्ति का पति या पत्नी सक्षम साक्षी होगा या हो"

आवश्यक है, यह स्पष्ट है कि 'वाद' शब्द के स्थान पर 'कार्यवाही' शब्द रखा जाए।

जहां तक सिविल कार्यवाहियों का संबंध है, इस धारा में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु, जहां तक किसी पति/पत्नी के विरुद्ध किसी दांडिक कार्यवाही का संबंध है, परिवार में सामंजस्य संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता और सच्चाई का पता लगाने के बीच संतुलन होना चाहिए। 69वीं रिपोर्ट में अध्याय-61 में यह बताया गया था, यद्यपि ऐसा संतुलन पहले उपलब्ध नहीं था, इंग्लैण्ड में प्राप्त कर लिया गया था।

लार्ड ब्राघम के पहले एविडेंस एक्ट, 1851 की धारा 2 के अधीन पक्षकारों को (उनके पति/पत्नियों को नहीं) सक्षम और बाध्यकारी बनाया गया था। धारा 3 में दांडिक कार्यवाहियों में एक अपवाद की व्यवस्था की गई। व्यभिचार के परिणामस्वरूप संस्थित की गई कार्यवाहियों में तथा विवाह विच्छेद के लिए कार्यवाही में अपवादों की व्यवस्था की गई।

लार्ड ब्राघम के दूसरे एविडेंस एक्ट, 1853 की धारा 1 में उनके पति और पत्नियों को सक्षम और बाध्यकारी बनाया गया था। तथापि, धारा 2 में दांडिक कार्यवाहियों के लिए और व्यभिचार के परिणामस्वरूप संस्थित की गई कार्यवाहियों में धारा 1 को अपवाद माना गया था।

एविडेन्स फरदर अमेंडमेंट एक्ट, 1869 की धारा 1 के अधीन 1851 और 1853 के अधिनियमों द्वारा, विवाह विच्छेद के लिए कार्यवाहियों के बारे में तथा व्यभिचार के परिणामस्वरूप संस्थित की गई कार्यवाहियों के बारे में जिन अपवादों की व्यवस्था की गई थी उन्हें निरसित कर दिया गया था।

दांडिक साक्ष्य अधिनियम, 1898 के अधीन इनमें से किसी भी अधिनियम के उपबंध दांडिक मामलों के लिए लागू नहीं होंगे ताकि पक्षकारों तथा पति/पत्नियों की सक्षमता का सामान्य विधि नियम लागू हो सके। 1898 के अधिनियम ने अभियुक्त को सक्षम तो बनाया परन्तु बाध्यकारी नहीं। इसमें अभियुक्त की पत्नी के संबंध में भी कतिपय विधिक परिवर्तन किए गए। अभियोजन के लिए सक्षम साक्षी बनाया गया परन्तु अभी भी उसे बाध्य नहीं किया जा सकेगा।

वर्ष 1977 में, जब 69वीं रिपोर्ट तैयार की गई थी, इंग्लैण्ड में प्रचलित विधि को निम्नलिखित सारांश के रूप में दिया गया है (देखें पैरा 61.5) :

> "इंग्लैण्ड में वर्तमान स्थिति यह है कि पक्षकार तथा उनके पति/पत्नी (विशेषाधिकार के अध्यधीन) सिविल मामलों में सक्षम और बाध्यकारी है। अभियुक्त सक्षम है परन्तु वह बाध्यकारी नहीं है। पति/पत्नी कुछ मामलों को छोड़कर सक्षम या बाध्यकारी नहीं है। यह स्थिति के बारे में मोटा सा कथन है।"

इसके पश्चात् 69वीं रिपोर्ट में, बहुत विस्तृत चर्चा में यह कहा गया है कि जबकि सत्य का अभिनिश्चय करना महत्वपूर्ण है, पत्नी या पति को, दांडिक मामलों में एक दूसरे के विरुद्ध साक्ष्य देने के लिए बाध्य करने से परिवार का सामंजस्य बिगड़ जाएगा और यह कुछ मामलों को छोड़कर इंग्लैण्ड में स्वीकार कर लिया गया। इस पहलू को हाऊस ऑफ लार्ड्स् द्वारा लीच बनाम आर : 1912 ए.सी. 305 मामले में ध्यान में रखा गया और लार्ड एटकिनसन तथा अर्ल लारबौर्न एल.सी. के भाषणों से उद्धरण दिए गए (पैरा 61.15)। अन्तिम रूप में पैरा 60.16 में यह कहा गया कि दांडिक मामलों में पति/पत्नी को एक दूसरे के विरुद्ध साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए और पैरा 61.17 में धारा 120 के नीचे जोड़ने के लिए एक परन्तुक का प्रारूप तैयार किया गया।

अब हम, 1977 के पश्चात् की स्थिति का निर्देश करेंगे। ठीक है कि स्वयं को अपराध के संलिप्त किए जाने के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 20(3) के अधीन संरक्षण का प्रावधान है। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन भी अभी भी संरक्षण उपलब्ध है। तथापि, अभियुक्त को प्रतिरक्षा के लिए साक्षी के रूप में अपनी परीक्षा करने का विकल्प प्राप्त है। तथापि, यदि अभियुक्त इस विकल्प का उपयोग करता है तो उसे शपथ लेनी होगी। उसकी स्थिति अन्य साक्षी के समान ही है, और उसकी प्रतिपरीक्षा की जा सकेगी। इसलिए भारत में अभियुक्त को सक्षम बनाया गया है परन्तु बाध्यकारी नहीं।

'मौन रहने के अधिकार' के बारे में विधि आयोग की रिपोर्ट में (180वीं रिपोर्ट) आयोग ने देखा है कि इंग्लैण्ड में 1994 में क्रिमिनल जस्टिस और पब्लिक आर्डर एक्ट तथा यूथ जस्टिस एण्ड क्रिमिनल ऐविडेंस एक्ट के अधीन कुछ परिवर्तन किए गए हैं जिनमें अभियुक्त के विरुद्ध, यदि वह कतिपय प्रश्नों के उत्तर नहीं देता है, प्रतिकूल अर्थ निकालने की

अनुज्ञा दी गई है। यह भी बताया गया था कि हाल ही की एक रिपोर्ट में आस्ट्रेलियायी विधि आयोग ने ब्रिटेन में किए गए परिवर्तनों का अनुसरण करना वांछनीय नहीं समझा है। इसके पश्चात्, 180वीं रिपोर्ट में यह कहा गया है कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 20(3) को ध्यान में रखते हुए, स्वयं की अपराध में संलिप्त करने के विरूद्ध संरक्षण के अधिकार में बलात् अतिक्रमण करना और आज ब्रिटेन में, अभियुक्त तथा उसके अधिवक्ता की परीक्षा के समय उनके मौन रहने के कारण पायी जाने वाली गम्भीर समस्याओं में फंसना संभव नहीं है। आयोग, आस्ट्रेलियायी विधि आयोग द्वारा सुझाए गए विकल्प का अनुसरण करना भी वांच्छनीय नहीं समझता। अभियुक्त के संबंध में, आज भी यही स्थिति है।

इंग्लैण्ड में, जहां तक पति/पत्नी के साक्ष्य का संबंध है, पुलिस एण्ड क्रिमिनल ऐविडेंस एक्ट, 1984 (फिप्सन के 15वें संस्करण का पैरा 44.51 देखें) की धारा 80 के अधीन और संशोधन किया गया। इसके पश्चात् भी 1984 के अधिनियम की धारा 80 में यूथ एण्ड क्रिमिनल एविडेंस एक्ट, 1999 द्वारा और संशोधन किया गया है (देखें फिप्सन के 15वें संस्करण, 1999 का पैरा 8.2 से 8.25) इंग्लैण्ड में स्थिति अब इस प्रकार है : (क) जहां तक प्रतिवादी के पति या पत्नी की सक्षमता का संबंध है, किसी प्रतिवादी का पति या पत्नी प्रतिवादी या सहप्रतिवादी की ओर से साक्ष्य देने के लिए सदैव सक्षम है और अभियोजन के लिए साक्ष्य देने में भी सक्षम है जब तक कि पति को या पत्नी को स्वयं कार्यवाहियों में आरोपित न किया गया हो। (ख) जहां तक प्रतिवादी के लिए, प्रतिवादी की पत्नी या पति की बाध्यता का संबंध है, इन्हीं अपवादों के अध्यधीन, किसी प्रतिवादी की पत्नी या प्रतिवादी की ओर से साक्ष्य देने के लिए बाध्य है। (ग) तथापि, जहां तक अभियोजन के लिए किसी प्रतिवादी की पत्नी या पति की बाध्यकारिता का संबंध है, पत्नी या पति, इन्हीं अपवादों के अध्यधीन, उनमें से किसी को भी किसी अपराध में संलिप्त करने के बारे में, अभियोजन के लिए साक्ष्य देना बाध्यकारी है—

(1) उस पत्नी या पति पर कोई हमला, उन्हें कोई क्षति या धमकी दिया जाना; या

(2) किसी हमले, क्षति या क्षति पहुंचाने की धमकी या किसी ऐसे व्यक्ति के साथ, जिसकी आयु कथित अपराध के समय 16 वर्ष से कम थी, यौन अपराध;

कोई व्यक्ति जो अभियोजन के लिए बाध्यकारी है, ऐसे किसी व्यक्ति के विरुद्ध भी, जो उपर्युक्त विनिर्दिष्ट अपराधों में से किसी में आरोपित किया गया है, बाध्यकारी है। इस प्रकार किसी प्रतिवादी के पति/पत्नी को, अभियोजन के लिए विनिर्दिष्ट अपराध के संबंध में, पति के या पत्नी के सहप्रतिवादी के विरुद्ध साक्ष्य देने के लिए बाध्य किया जा सकेगा। (घ) जहां तक किसी सहप्रतिवादी के लिए प्रतिवादी की पत्नी या पति की बाध्यकारिता का संबंध है, किसी प्रतिवादी की पत्नी या पति सहप्रतिवादी के लिए, ऐसे ही अपराधों के बारे में, जिनके लिए पति या पत्नी अभियोजन के लिए बाध्यकारी होंगे, बाध्यकारी हैं। यह सहप्रतिवादी है जो विनिर्दिष्ट अपराधों के लिए आरोपित पत्नी या पति को बाध्य किए जाने की मांग करता है (देखें फिप्सन पैरा 8.25)।

इस प्रकार, जबकि एक समय सामान्य विधि के अनुसार किसी वाद के पक्षकार भी निजी हित के आधार पर अक्षम साक्षी समझे जाते थे, इस आधार पर अपने स्वयं के हेतुक में कोई भी साक्षी नहीं होगा और पति या पत्नी एक दूसरे के पक्ष में या विपक्ष में साक्ष्य देने के लिए अक्षम थे, कुछ अपवादों को छोड़कर अब यह सब कुछ समाप्त हो गया है।

सरकार (15वां संस्करण 1999, पृष्ट 1973) ने बताया है कि श्रीलंका में धारा 120 का पुनर्प्रारूपण हुआ है। हाल ही में दो मामले सामने आए हैं। के. सरोजा बनाम वल्लियाम्माल अम्माल : 1997 ए.आई.एच. सी, 1959 मामले में, विक्रय के ठेके के विनिर्दिष्ट निष्पादन के लिए वाद में, जब पत्नी ने जो क्रेता थी, यह अभिवचन किया कि उसे किसी पहले ठेके के बारे में ज्ञान नहीं था परन्तु पत्नी साक्षी के रूप में उपस्थित नहीं हुई और उसके बजाय उसका पति साक्षी के रूप में उपस्थित हुआ, पति को सिविल कार्यवाही में पत्नी के लिए सक्षम साक्षी अभिनिर्धारित किया गया।

परन्तु पब्लिक प्रॉसीक्यूटर बनाम अब्दुल मजीद 1994 (3) मालायन एल.जे. 457 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि अभियुक्त की पत्नी को अभियोजन के लिए साक्ष्य देने हेतु बाध्य किया जा सकेगा। वास्तव में, आयोग के

समक्ष 69वीं रिपोर्ट में निश्चित रूप से यही पहलू विचार के लिए सामने आया था और उन्होंने लींच बनाम आर (1912) ए सी 305 (एच.एल.) मामले में लार्ड एटकिंसन के निम्नलिखित विचारों को उद्धृत किया है :

> "यह सिद्धान्त कि किसी पत्नी को अपने पति के विरूद्ध साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा इस देश की सामान्य विधि में गहन रूप से प्रतिष्ठित है और यदि इसे उलटने के बारे में सोचा जाए तो इसे एक स्पष्ट, निश्चित और सकारात्मक अधिनियमिति द्वारा उल्टा जाना चाहिए ....."

उसी मामले में लार्ड लोरबर्न ने यह विचार व्यक्त किया :

> "यह अत्यन्त वांछनीय है ..... कि आपको किसी पत्नी को उसके पति के विरूद्ध दांडिक प्रकार के मामलों में साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए"।

तथापि, हम 1884 और 1999 के इंग्लिश अधिनियमों की भांति कोई बहुत विस्तृत उपबंध नहीं करना चाहते हैं।

हम इस बात से सहमत हैं कि जैसा कि पैरा 16.17 में सिफारिश की गई है, धारा 120 के नीचे निम्नलिखित परन्तुक जोड़ा जाए :

> "परन्तु यह कि किसी दांडिक अभियोजन में अभियुक्त की पत्नी या पति को, विवाह के तथ्य को साबित करने के सिवाय, ऐसे अभियोजन में साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जब तक कि—
>
> (क) ऐसे पति या पत्नी तथा अभियुक्त दोनों की सम्मति न हो; या
>
> (ख) ऐसा पति/पत्नी परिवादी या ऐसा व्यक्ति न हो जिसके कहने पर अपराध की प्रथम सूचना अभिकथित की गई थी; या
>
> (ग) अभियुक्त ऐसे पति/पत्नी या अभियुक्त के बच्चे या पति/पत्नी के बच्चे, या ऐसे बच्चे, जिसके प्रति अभियुक्त या ऐसे पति/पत्नी माता-पिता की हैसियत रखते हों, के विरुद्ध किसी अपराध का आरोपी न हो।

धारा 121 :

यह धारा न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों को साक्ष्य देने के लिए बाध्य किए जाने के मामले में उनके विशेषाधिकारों का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "121. कोई न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट न्यायालय में ऐसे न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट के नाते अपने स्वयं के आचरण के बारे में या ऐसी किसी बात के बारे में, जिसका ज्ञान उसे ऐसे न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट के नाते न्यायालय में हुआ, किन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ऐसे किसी भी न्यायालय के विशेष आदेश के सिवाय, जिसके वह अधीनस्थ है, विवश नहीं किया जाएगा, किन्तु अन्य बातों के बारे में जो उसकी उपस्थिति में उस समय घटित हुई थीं, जब वह ऐसे कार्य कर रहा था, उसकी परीक्षा की जा सकेगी।"

धारा 121 के नीचे (क), (ख) और (ग) तीन दृष्टांत दिए गए हैं। पहले में कहा गया है कि यदि कोई ऐसा आरोप है कि साक्ष्य मजिस्ट्रेट द्वारा अनुचित रूप से लिया गया है तो, उस आरोप से संबंधित प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, किसी वरिष्ठ न्यायालय के आदेश के सिवाय, विवश नहीं किया जा सकता। दृष्टांत (ख) में कहा गया है कि जहां ऐसा आरोप है कि अभियुक्त ने मजिस्ट्रेट के समक्ष मिथ्या साक्ष्य दिया है, उस विषय पर, किसी वरिष्ठ न्यायालय के आदेश के सिवाय, मजिस्ट्रेट की परीक्षा नहीं की जा सकती। दृष्टांत (ग) में एक अपवाद का निर्देश है और कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति सैशन न्यायालय में चल रहे विचारण के समय किसी व्यक्ति की हत्या करने का प्रयास करता है तो सैशन न्यायाधीश की किसी वरिष्ठ न्यायालय की अनुज्ञा के बिना भी परीक्षा की जा सकेगी।

बांके बनाम महादेव : ए.आई.आर. 1953 इलाहाबाद 97 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी अधीनस्थ न्यायिक अधिकारी की परीक्षा के लिए विशेष आदेश स्वीकृत करने के प्रयोजन से वरिष्ठ न्यायालय उक्त अधिकारी से रिपोर्ट मांग सकेगा।

यह लोक नीति तथा तत्परता के सिद्धान्त पर आधारित है।

69वीं रिपोर्ट में, थोड़ी चर्चा करने के पश्चात्, धारा 121 में किसी संशोधन का सुझाव नहीं दिया गया है। परन्तु हमने पाया है कि इंग्लैण्ड में मध्यस्थों को विशेषाधिकार दिया गया है परन्तु उन्हें जो संरक्षण प्रदान किया गया है वह बहुत कम है। फिप्सन के अनुसार (15वां संस्करण, 1999, पैरा 24.30) "मध्यस्थ इस बात का साक्ष्य दे सकते हैं कि माध्यस्थम में क्या हुआ और निवेदन में कौन से विषय सम्मिलित किए गए, परन्तु उनसे उनके पंचाट के बारे में कोई प्रश्न नहीं किए जाएंगे"।

जवाहरलेथ बनाम एम.जी. बर्कस (1872) एल.आर. 5 एच.एल. 418; **वार्ड बनाम शैल मैक्स** : बी.पी. 1951 (2) इला. ई.आर. 904; **फक्किधम बनाम विक्टोरिया रेलवे कमिश्नर** : 1900 ए.सी. 452; **रेशर बनाम नार्थब्रिटिश कम्पनी** : 1915(3) के बी 277; **लेसरॉक बनाम शैलिट** : 1934 (2) के बी 353।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 3, जिसमें न्यायालय के बारे में वर्णन किया गया है उसमें मध्यस्थ सम्मिलित नहीं है। **आमिर बेगम बनाम बदरुद्दीन** : आई.एल.आर. 36 इला. 336 (पी.सी.), लार्ड पारमर ने कहा है :

> "पक्षकारों द्वारा चुना गया कोई मध्यस्थ साक्ष्य देने के लिए सामान्य दायित्व से बाध्य है, और जहां बेइमानी या पक्षपात का आरोप लगाया जाता है, कोई भी सुसंगत साक्ष्य, जो वह दे सकता है, नि:संदेह न्यायोचित रूप से ग्राह्य है। तथापि, यह आवश्यक है कि बेइमानी या पक्षपात के आरोप पर सुसंगत के रूप में स्वीकृत साक्ष्य के बारे में यह सावधानी बरती जाए कि उसे अन्य प्रयोजन से उपयोग न किया जाए अर्थात् मध्यस्थ द्वारा, अपनी अधिकारिता में आने वाले विषयों पर और जहां उसका निर्णय अन्तिम है, दिए गए निर्णयों की जांच करने के प्रयोजन के लिए।"

जब मध्यस्थों के बीच मतभेद का कोई मामला किसी अम्पायर को निर्देशित किया गया हो तब मध्यस्थ को साक्ष्य देने के लिए मतभेद स्पष्ट करने के लिए, बुलाया जा सकेगा (**बरजुआस बनाम वैड्डेल एण्ड कम्पनी** : 1924. 1 के.बी. 539) किसी मध्यस्थ की लिपिकीय या आकस्मिक चूक के लिए परीक्षा की जा सकेगी (**नारायणन बनाम देवकी** : ए.आई.आर. 1945 मद्रास 230)।

यूनियन ऑफ इन्डिया बनाम ओरियन्ट इंजीनियरिंग वर्कस : ए.आई.आर. 1977 सु.को. 2445 मामले में यदि अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी मध्यस्थ को केवल यह दर्शित करने के लिए नहीं बुलाया जाएगा कि उसने निष्कर्ष किस प्रकार से निकाला है। यदि कोई पक्षकार दुर्भावना का आरोप लगाता है और ऐसा प्रथम दृष्टया मामला बनता है कि आरोप निरर्थक नहीं है या अन्य उपयुक्त सुसंगत विषय उसके पास हैं जिन्हें वह सामने लाना चाहता है, न्यायालय मध्यस्थ को बुला सकेगा। न्यायालय से स्वीकृत किया **खूब लाल बनाम विशम्भर** : ए.आई.आर. 1925 इला. 103 मामला।

उपर्युक्त से यह देखा जा सकेगा कि जहां तक मध्यस्थों का संबंध है, विशेषाधिकार उतने नहीं है जितने कि न्यायिक अधिकारियों को प्राप्त हैं विशेषतया जहां दुर्भावना, दुराचरण या पक्षपात का आरोप लगाया गया हो। आयोग का विचार है कि निर्णय जनित विधि के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुए, जहां तक मध्यस्थों के विशेषाधिकार का प्रश्न है, उसके बारे में किसी धारा के रूप में कोई सीधा फार्मूला बनाना न तो संभव ही है और न वांच्छनीय। अत: हम किसी विशेष उपबंध का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

इंग्लैंड में अपीलीय न्यायालय के हाल ही के **सोरेन बनाम वारेन** : 1996 (4) एल.एल.ई.आर. 664 (सी.ए.) मामले में दिए गए निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यद्यपि उच्च न्यायालय तथा अन्य न्यायाधीशों के बीच स्पष्ट संवैधानिक अन्तर है। फिर भी, धारा 121 के अधीन उठने वाले विभिन्न विषयों पर समग्र रूप से विचार करने पर,

हमारे विचार में इस धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ धारा के अन्तर्गत नहीं आता है निर्णय जनित विधि के अधीन आ जाता है और ऐसा कोई गम्भीर विरोधाभास भी नहीं है जिससे विधायी संशोधन द्वारा समाधान किए जाने की आवश्यकता हो। हम धारा 121 को उसी रूप में रहने देते हैं जिसमें कि वह वर्तमान में है।

धारा 122 :

यह धारा 'विवाहित स्थिति के दौरान पति और पत्नी के बीच में की गई संसूचनाओं और उन्हें किस सीमा तक विशेषाधिकार प्राप्त हैं' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> **"122.** कोई भी व्यक्ति, जो विवाहित है या विवाहित रह चुका है, किसी संसूचना को, जो किसी व्यक्ति द्वारा, जिससे वह विवाहित है या रह चुका है, विवाहित स्थिति के दौरान में उसे दी गई थी, प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा और न वह किसी ऐसी संसूचना को प्रकट करने के लिए अनुज्ञात किया जाएगा, जब तक वह व्यक्ति, जिसने वह संसूचना दी है, या उसका हित प्रतिनिधि सम्मत न हो, सिवाय उन वादों में, जो विवाहित व्यक्तियों के बीच हो, या उन कार्यवाहियों में, जिनमें एक विवाहित व्यक्ति दूसरे के विरूद्ध किए गए किसी अपराध के लिए अभियोजित है।"

यह धारा भी धारा 120 के अनुरूप ही है, जिसके बारे में, पति या पत्नी में से एक दूसरे के विरूद्ध साक्षी होने की सक्षमता तथा बाध्यकारिता के संबंध में, पहले ही चर्चा की जा चुकी है। हमने 69वीं रिपोर्ट में धारा 120 के लिए प्रस्तावित संशोधनों का भी निर्देश किया है जिन्हें हमने स्वीकार कर लिया है।

धारा का पहला भाग साक्षी—पत्नी/पति का निर्देश करता है जिसे उस संसूचना को प्रकट करने के लिए बाध्य नहीं किया जाए जो उसके (पति/पत्नी) द्वारा दी गई थी। दूसरा भाग "ऐसी ही किसी संसूचना अर्थात जो साक्षी को दी गई थी, यदि वह स्वेच्छा से करता है (बाध्यता से अन्यथा) तो वह उसे प्रकट नहीं कर सकता जब तक कि जिस पति/पत्नी ने (या पति/पत्नी के हित प्रतिनिधि ने) वह लिखी है, सम्मत न हो। तीसरे भाग में दो अपवाद दिए गए हैं, (1) (विवाहित पतियों/पत्नियों के बीच परस्पर चल रहे वाद, (2) या उन कार्यवाहियों में, जिनमें एक विवाहित व्यक्ति दूसरे के विरूद्ध किए गए किसी अपराध के लिए अभियोजित हैं।

धारा में साक्षी पति या पत्नी द्वारा दूसरे पक्ष पत्नी या पति को दी गई संसूचना के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है। 69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 64.4 और 64.37) उन नियमों का निर्देश किया गया है जो पति/पत्नी के बीच संसूचना का निर्देश करते हैं। साक्ष्य के बारे में न्यू जर्सी के नियमों में कहा गया है :

> "कोई भी व्यक्ति ऐसी किसी संसूचना को प्रकट नहीं करेगा जो ऐसे व्यक्तियों के बीच और व्यक्ति की पत्नी या पति के बीच विश्वास से दी गई हो"

इसमें वे संसूचनाएं भी सम्मिलित हैं जो साक्षी पति/पत्नी द्वारा प्राप्त की गई हों तथा वे भी जो साक्षी द्वारा भेजी गई हों। अमरीकी लॉ इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रारूपित मॉडल कोड ऑफ ऐविडेंस का नियम 215 भी इसी प्रकार का है। यह पतियों/पत्नियों के बीच संसूचनाओं का निर्देश करता है।

यदि ऐसी संसूचनाओं के संरक्षण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण परिवार के सामंजस्य को बनाए रखना है तो—एक ऐसी अवधारणा से जिसके बारे में कहीं भी कोई मतभेद नहीं है—धारा 122 में, न केवल साक्षी पति/पत्नी को प्राप्त होने वाली संसूचना के लिए अपितु उनके लिए भी जो पति/पत्नी द्वारा भेजी जाती है, उन्मुक्ति प्रदान करते हुए, संशोधन किया जाना चाहिए।

प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई पत्र जो पति द्वारा अपनी पत्नी को लिखा जाता है, यदि तीसरे पक्षकार के या पुलिस के हाथों में आ जाता है, इसे साक्ष्य में प्रस्तुत किया जा सकेगा। हाऊस ऑफ लार्ड्स् ने **रमिंग** बनाम **डी.पी.पी.** : 1962 (3) ए एल एम ई आर 256 मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि तीसरे पक्ष को ऐसी संसूचना के बारे में कोई

विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। बिस्काऊंट रैड क्लिफ ने टिप्पण दिया। भारत के उच्चतम न्यायालय ने **एम.सी. वरघीस** बनाम **टी.टी. पोन्नान** : ए.आई.आर. 1970 सु. को. 1876 मामले में उपर्युक्त निर्णय का बहुमत वाला दृष्टिकोण अपनाया है (देखें पैरा 15)। उपर्युक्त व्यवस्था का निर्देश करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि वह पति/पत्नी, जिसे पत्र प्राप्त हुआ है साक्ष्य देने के लिए आता है तो पत्नी आपत्ति नहीं करेगी। पैरा 14 में, उन्होंने कहा है कि यदि साक्षी पति/पत्नी, जिसे पत्र प्राप्त हुआ है आपत्ति करता/करती है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि धारा 122 के अधीन कोई अन्य साक्ष्य भी बाधित है।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 64.45 में, आयोग ने महसूस किया है कि उपबंध का (अर्थात् धारा 122 का) ऐसी संसूचनाओं के लिए भी, जो अन्य व्यक्तियों द्वारा सुन ली जाती हैं या जिनके बारे में मार्ग में ही पता चल जाता है, विस्तार करना न्यायोचित प्रतीत होता है। मूल उद्देश्य परिवार के सामंजस्य को बनाए रखना है। इस प्रस्ताव के समर्थन में आयोग ने बिस्काऊंट रैड क्लिफ के भाषण से विस्तृत उद्धरण दिए हैं। उसने कहा है :

> "क्या विधि में एक पृथक नियम केवल इसलिए लागू किया जाना चाहिए कि पत्र गलती से पुलिस के हाथों में आ गया था? सिद्धांत के इतिहास और स्वरूप पर विचार करते हुए, जो दांडिक विचारणों में पति और पत्नी के साक्ष्य को शासित करने वाले विशेष नियमों में निहित है, मेरे विचार में ऐसा नहीं किया जाना चाहिए।"

उसने छिपकर बातें सुनने और पत्नी के हाथों से पत्र छीन लेने जैसे मामलों का भी निर्देश किया है। ऐसे सभी मामलों में, यह कहा गया है कि 'ट्राफी' को न्यायालय में ले तो जाया जा सकता है परन्तु उसे अनुज्ञात नहीं किया जा सकेगा। उसने 'दाम्पत्य विश्वास' को सुनिश्चित करनें के सिद्धांत तथा उपबंध के पीछे निहित विधि नीति का भी निर्देश किया है।

सरकार (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 1986) ने कहा है कि इंग्लिश और अमरीका के नियमों के अधीन, तीसरे पक्ष के व्यक्तियों को विवाहित व्यक्तियों के बीच हुई बातचीत के बारे में, जो उसकी उपस्थिति में हुई हों या उन्होंने सुन ली हों, साक्ष्य देने की अनुमति है (**आर** बनाम **स्मिथीज** : 5 सी एण्ड पी 332; **आर** बनाम **साईमन्स** : 6 सी एण्ड पी 540; **स्टेट बैंक** बनाम **हचिनसन** : 62 कॉन 9 (ए.एम.)।

आगे चलने से पूर्व, हम इस धारा के अधीन, उच्चतम न्यायालय के अन्य निर्णयों का निर्देश करना चाहेंगे। यद्यपि हमारे विचार में ये निर्णय इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश नहीं डालते हैं। **रामभरोसे** बनाम **राज्य** : ए.आई.आर. 1954 सु.को. 704, एक ऐसा मामला था जिसमें पत्नी, एक ऐसे अपराध के बारे में, जो उसने देखा था, अपने पति के कार्यों के बारे में साक्ष्य दे रही थी। यह कहा गया था कि धारा 122 लागू नहीं होती है क्योंकि वह पति के कार्यों के बारे में साक्ष्य दे रही थी न कि उसकी किसी संसूचना के बारे में।

हाल ही के, **शंकर** बनाम **स्टेट ऑफ तमिलनाडु** : 1994 (4) एस.सी.सी. 478 (देखें पैरा 28) मामले में, जहां पति ने मामले में अभियुक्त साक्षी को बताया कि मृतक की हत्या उसने की थी। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि साक्षी अभियुक्त की विधिक रूप से विवाहित पत्नी नहीं थी और उसकी गृहिणी थी (पहला विवाह अभी यथावत था) और इस प्रकार धारा 122 लागू नहीं होती थी।

हम **आर** बनाम **साइमंस** : (1834) 6 सी एण्ड पी 540, मामले का पहले ही निर्देश कर चुके हैं। यहां आल्डरसन बी. ने कहा है :

> "जहां किसी व्यक्ति द्वारा अपनी पत्नी से कही जाने या स्वयं अपने से कही जा रही कोई बात छिपकर सुन ली जाती है, वह साक्ष्य है।"

इस प्रकार फिप्सन (15वां संस्करण, 1999, पैरा 28.10) ने 'स्वगत कथन' को भी साक्ष्य होने का निर्देश किया है। निद्रा में किए गए कथन के मामले का भी, **आर** बनाम **सिपिल्स** : (1839), में उल्लेख किया है। **आर** बनाम **स्पिल्सबरी** : 1835-7 सी एण्ड पी 187, शराब के नशे में चूर व्यक्ति की संस्वीकृति का मामला है, जिसका अनुसरण **आर** बनाम **राइम्मर** : 1954 (1) एस.ए. 489, मामले में साऊथ अफ्रीका के सुप्रीम कोर्ट की केप प्राविन्शियल डिवीजन द्वारा किया गया है।

हमने, पति/पत्नी के बीच सूचनाओं के संबंध में, जो तीसरे पक्ष के व्यक्तियों के हाथों में पड़ जाती है, तीसरे पक्ष के व्यक्तियों के साक्ष्य को अपवर्जित करने के बारे में 69वीं रिपोर्ट में दिए गए सुझावों का गंभीर रूप से अध्ययन किया है। यह ठीक है कि बिस्काउंट रैड क्लिफ ने 'परिवार के सामंजस्य' के सिद्धांत और अभियुक्त का अपराध साबित करना अभियोजन का कर्त्तव्य होने पर बल दिया है। यहां प्रश्न यह है कि कोई लिखित संसूचना, जो तीसरे पक्ष के हाथों में आ जाती है ऐसी संसूचना नहीं है "जो उसे दी गई हो"। यह उस व्यक्ति के पास नहीं पहुंच पाई है जिसके लिए तात्पर्यित थी, अत: यह विशेषाधिकार के अंतर्गत नहीं आता है। यदि कोई स्वगत कथन अस्वीकार्य नहीं है तो कोई लिखित संसूचना, जो पति/पत्नी को प्राप्त नहीं हुई है जिसके लिए वह भेजी गई थी, क्योंकर स्वीकार्य होनी चाहिए? (तब, प्रश्न यह है कि क्या पति/पत्नी को प्राप्त हुआ पत्र, यदि तीसरे पक्ष के हाथों में आ जाता है तब क्या यह स्वीकार्य नहीं होना चाहिए)। यह प्रश्न भी उठ सकेगा कि किसी सेवक या तीसरे पक्ष की उपस्थिति में पति या पत्नी द्वारा एक दूसरे से किए गए कथन के बारे में तीसरे पक्ष को साक्ष्य देने से क्यों वंचित रखा जाना चाहिए? आजकल, पुलिस टेलीफोन पर होने वाली बातों को सुन लेती है और फिर इसे दूसरे पक्ष पति या पत्नी के साथ मिलकर सुनती है। कुछ मामलों में तो सैलूलर फोन पर हुई बातचीत का पूरा विवरण भी प्राप्त हो सकता है, प्रश्न यह है कि क्या इन सभी को अपवर्जित रखा जाना चाहिए? यदि किसी आतंकवादी को सैलफोन पर अपनी पत्नी से बात करते हुए सुन लिया जाता है तब क्या इसे अस्वीकार्य अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए? आज प्रौद्योगिकी की सहायता से जिस रूप में अपराधों में वृद्धि हो रही है, हमारे विचार से ऐसे कथनों को संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए। जब कोई पति (या पत्नी) टेलीफोन पर अपनी पत्नी को बुलाता है और उस अपराध के बारे में जो उसने किया है अपनी पत्नी को बताता है तो पुलिस द्वारा फोन पर सुनी गई बात न्यायालय में उपयोग किए जाने की अनुमति होनी चाहिए। यह सिद्धांत सिविल तथा दांडिक दोनों प्रकार की कार्यवाहियों के लिए लागू होना चाहिए क्योंकि भारतीय विधि में ऐसा कोई अन्तर नहीं किया गया है।

हम, तदनुसार, पति या पत्नी की एक दूसरे के साथ संसूचनाओं के संबंध में तीसरे पक्ष को प्राप्त हुई सूचना को अस्वीकार्य ठहराने के लिए 69वीं रिपोर्ट में अभिव्यक्त की गई राय से असहमत हैं। हमारा विचार यह है कि वर्ष 1977 से वर्ष 2000 के बीच, प्रौद्योगिकी के विकास तथा नए प्रकार के वादों तथा प्रौद्यागिकी और अपराध दोनों की वृद्धि के कारण, बहुत बड़ा अन्तर आया है। इसलिए, इस विषय से निपटने के लिए उपधारा (2) पुर:स्थापित की जानी चाहिए।

69वीं रिपोर्ट में तीसरा पहलु, जिसके बारे में चर्चा की गई है, विशेषाधिकार के नियम के अपवाद से संबंधित है। धारा 122 के अधीन, जैसाकि मत है, दो प्रकार के मामले स्वीकार किए जाते हैं, (1) विवाहित व्यक्तियों के बीच के वाद, (2) ऐसी कार्यवाहियां जिनमें एक विवाहित व्यक्ति दूसरे के विरूद्ध किए गए अपराध के लिए अभियोजित है। तीसरा अपवाद, जिसकी सिफारिश की गई है, ऐसी कार्यवाहियों से संबंधित है जहां कोई विवाहित व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के बच्चे के विरुद्ध या पहले उल्लिखित व्यक्ति के बच्चे के विरूद्ध या किसी ऐसे बच्चे के विरुद्ध जिसको उनमें से किसी ने भी माता-पिता की स्थिति प्रदान की है, किए गए अपराध के लिए अभियोजित है। (भाषा धारा 120 की सिफारिश के समान ही है)।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, प्राप्त की गई और भेजी गई दोनों प्रकार की संसूचनाओं को संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

अत: हम 69वीं रिपोर्ट (पैरा 64.47) में की गई सिफारिश में थोड़ा उपांतरण करने की तथा धारा 122 को निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित करने की सिफारिश करते हैं :

विवाहित स्थिति के दौरान की गई संसूचनाएं :

"122. (1) कोई भी व्यक्ति जो विवहित है या विवाहित रह चुका है, विवाहित स्थिति के दौरान दी गई किसी संसूचना को, जो किसी व्यक्ति के तथा ऐसे व्यक्ति के बीच की गई, जिसके साथ वह विवाहित है या रह चुका है, प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा और न वह किसी ऐसी संसूचना को प्रकट करने के लिए

अनुज्ञात किया जाएगा, जब तक कि वह व्यक्ति, जिसके साथ वह विवाहित है या रह चुका है या उस व्यक्ति का हित प्रतिनिधि सम्मत न हो और जब तक कि कार्यवाहियां उपधारा (3) में विनिर्दिष्ट स्वरूप की न हों।

(2) कोई व्यक्ति, उपधारा (1) में निर्देशित व्यक्ति से भिन्न, जिसने, उपधारा (1) में निर्देशित किसी संसूचना को, विधि के अनुसार चुपके से सुन लिया हो, या उसे कब्जे में ले लिया हो, या अन्तर्रुद्ध कर लिया हो, उसे, पति या पत्नी की या उसके हित प्रतिनिधि की सम्मति के बिना ही, ऐसी किसी संसूचना को प्रकट करने के लिए अनुज्ञात किया जा सकेगा।

(3) उपधारा (1) में निर्देशित कार्यवाहियां हैं—

(क) विवाहित व्यक्तियों के बीच कार्यवाहियां ;

(ख) कार्यवाहियां, जिनमें एक विवाहित व्यक्ति दूसरे के विरुद्ध अपराध करने के लिए अभियोजित किया गया है;

(ग) कार्यवाहियां जिनमें एक विवाहित व्यक्ति परिवादी है या ऐसा व्यक्ति है जिसके कहने पर अपराध की प्रथम सूचना अभिलिखित की गई थी, और दूसरा विवाहित व्यक्ति अभियुक्त है ;

(घ) कार्यवाहियां जिनमें किसी विवाहित व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति के बच्चे के विरुद्ध या पहले उल्लिखित किए गए व्यक्ति के बच्चे के विरुद्ध या किसी ऐसे बच्चे के विरुद्ध, जिसे पति या पत्नी किसी ने भी माता-पिता की स्थिति प्रदान की है, अपराध के लिए अभियोजित किया गया है।"

धारा 123, 124 और 162 :

यह धारा तथा अगली धारा और धारा 162 महत्वपूर्ण हैं और इनके बारे में एक साथ चर्चा करेंगे। धारा 123 'राज्य के कार्यकलापों के बारे में विशेषाधिकार से संबंधित है जबकि धारा 124 'शासकीय संसूचनाओं' के बारे में विशेषाधिकार से संबंधित है। धारा 162 'न्यायालय में दस्तावेज पेश किए जाने' के बारे में है। दोनों धाराओं का पाठ निम्नलिखित है :

"**123.** कोई भी व्यक्ति राज्य के किसी भी कार्यकलापों से संबंधित अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों से व्युत्पन्न कोई भी साक्ष्य देने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा, सिवाय समपृक्त विभाग के प्रमुख ऑफिसर की अनुज्ञा के, जो ऐसी अनुज्ञा देगा या विचारित करेगा, जैसा करना वह ठीक समझे।"

"**124.** कोई भी लोक ऑफिसर उसे शासकीय विश्वास में दी गई संसूचनाओं को प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा, जबकि वह समझता है कि उसके प्रकटन से लोक हित की हानि होगी।"

इस धारा पर, इंग्लैंड सहित, विभिन्न देशों की विधियों में हुए परवर्ती विकासों को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाएगा। साक्ष्य अधिनियम की धारा 162 को भी ध्यान में रखना होगा। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"धारा 162.—**दस्तावेजों का पेश किया जाना** : किसी दस्तावेज को पेश करने के लिए सम्मानित साक्षी, यदि वह उसके कब्जे में और शक्यधीन हो, ऐसे किसी आक्षेप के होने पर भी, जो उसे पेश करने या उसकी ग्राह्यता के बारे में हो, उसे न्यायालय में लाएगा। ऐसे किसी आक्षेप की विधिमान्यता न्यायालय द्वारा विनिश्चित की जाएगी।

न्यायालय, यदि ठीक समझे, उस दस्तावेज का, यदि वह राज्य की बातों से संबंधित न हो, निरीक्षण कर सकेगा, या अपने को उसकी ग्राह्यता अवधारित करने योग्य बनाने के लिए अन्य साक्ष्य ले सकेगा।

दस्तावेजों का अनुवाद .....

69वीं रिपोर्ट में, धारा 123 और धारा 162 के बारे में अध्याय 65 में चर्चा की गई है जो पृष्ठ 645 से पृष्ठ 686 तक में अन्तर्विष्ट है। चर्चा निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की गई है :

(एक) प्रस्तावना ; (दो) मौलिक तर्क का इतिहास ; (तीन) अनिवार्य शर्तें ; (चार) राज्य के कार्यकलाप ; (पांच) सक्षम प्राधिकारी ; (छः) प्रक्रिया ; (सात) आन्ध्र के एक मामले का दृष्टांत ; (आठ) इंग्लिश विधि ; (नौ) अमरीका में स्थिति – (1) दांडिक कार्यवाहियां, (2) सिविल कार्यवाहियां, जहां राज्य वादी के रूप में है, (3) सिविल कार्यवाहियां, जहां राज्य प्रतिवादी के रूप में है, (4) राज्य जहां कोई पक्षकार नहीं है, (5) केन्द्रीय सरकार से भिन्न लोक प्राधिकरण ; (दस) अन्य देश—आस्ट्रेलिया, फ्रांस, स्कॉटलैण्ड, कीनिया, स्वीडन ; (ग्यारह) तुलनात्मक परिणाम ; (बारह) संशोधन के लिए विषय ; (तेरह) राष्ट्रीय सुरक्षा ; (चौदह) दावों को नकारने वाली निर्णय जनित विधि और (पंद्रह) धारा 123 के बारे में सिफारिशें।

धारा 162 के बारे में सिफारिशें, 69वीं रिपोर्ट के पृष्ठ 671 पैरा 65.83क और 65.85 में दी गई हैं।

जहां तक धारा 124 का संबंध है, इसके बारे में 69वीं रिपोर्ट में चर्चा अध्याय–66 में की गई है। चर्चा निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत है: (एक) प्रस्तावना ; (दो) इंग्लिश विधि ; (तीन) संशोधन के विषय ; (चार) शासकीय विश्वास के अभिप्राय ; (पांच) सिफारिशें।

धारा 123 और धारा 124 में संशोधन के बारे में न्यायमूर्ति धवन और श्री सेन वर्मा की कुछ बाधाएं थीं।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश 16 का नियम 6 और दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 91 (2) में दस्तावेज मंगाने के लिए न्यायालय द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का निर्देश किया गया है।

हम यहां विधि आयोग की 88वीं रिपोर्ट (7 जनवरी 1983) का भी निर्देश कर सकेंगे, जिसमें धारा 123, 124 और 162 के बारे में बहुत सी सिफारिशें की गई हैं।

धारा 123 :

धारा 123, 124 और 162 में संशोधन के विषय में चर्चा में, 1977 के प्रस्तुत की गई 69वीं रिपोर्ट के पश्चात् विधि में भारत तथा इंग्लैंड में हुए विकासों को भी स्वाभाविक रूप से ध्यान में रखना होगा।

भारत तथा इंग्लैंड में एक जिस महत्वपूर्ण विषय के बारे में चर्चा हुई वह था कि न्यायालय बिना उस दस्तावेज को देखे हुए जिसके बारे में विशेषाधिकार का दावा किया गया, किस प्रकार यह निश्चित कर सकेगा कि वह दस्तावेज वास्तव में राज्य के कार्यकलापों के बारे में है। यदि न्यायालय को ऐसा संदेह हो कि दस्तावेज उस श्रेणी में नहीं आएगा तो क्या उसे उस दस्तावेज की अन्तर्वस्तु देखने की और यह निर्णय करने की, कि यह वास्तव में राज्य के कार्यकलापों के बारे में है, शक्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए। यदि राज्य न्यायालय के समक्ष ऐसी सामग्री, दस्तावेज से भिन्न पेश करता है जिससे न्यायालय का समाधान होता है कि दस्तावेज राज्य के संवेदनशील कार्यकलापों के बारे में है तो, कोई समस्या उत्पन्न नहीं होगी। परन्तु जहां ऐसी सहायक सामग्री न्यायालय का समाधान करने के लिए पर्याप्त नहीं है वहां न्यायालय क्या अन्तिम निर्णायक नहीं होना चाहिए या विभाग के अधिकारी या प्रमुख की राय (धारा 123 में निर्देशित) या लोक अधिकारी की राय (धारा 124 में निर्देशित) अन्तिम मानी जानी चाहिए। यदि धारा 162 का पहला भाग दस्तावेज पेश किए जाने की विधिमान्यता पर आपत्ति पर निर्णय करने की अनुज्ञा देता है तो क्या भाग-2 जांच में अवरोधकारी नहीं है क्योंकि इसके अनुसार न्यायालय द्वारा दस्तावेज का निरीक्षण किया जाना निषिद्ध है यदि दस्तावेज राज्य के कार्यकलापों के बारे में है। यद्यपि धारा 162 के पैरा 2 का अन्तिम भाग न्यायालय को दस्तावेज की ग्राह्यता निश्चित करने के लिए अन्य साक्ष्य लेने की अनुमति देता है परन्तु यदि ऐसा अन्य साक्ष्य लेने में भी कोई संदेह रह जाता है कि दस्तावेज राज्य के कार्यकलापों के बारे में हैं अथवा नहीं तब क्या स्थिति होगी?

कतिपय निर्णयों में, एक विशिष्ट श्रेणी के दस्तावेजों के, जिन्हें अनिवार्य रूप से राज्य के कार्यकलापों से संबंधित समझा जाएगा और न्यायालय द्वारा कोई जांच नहीं की जा सकेगी, और अन्य दस्तावेजों के बीच अन्तर किया गया है, जिन्हें विभाग लोक हित में रोकना चाहता है यद्यपि वे राज्य के कार्यकलापों के बारे में नहीं है और ऐसे दस्तावेजों को मंगाने तथा उनका निरीक्षण करने की न्यायालय की शक्ति निर्विवादित है।

न्यायालय द्वारा निरीक्षण किया जाना निषिद्ध करने संबंध विधि सर्वप्रथम, **डंकन** बनाम **कैमललेयर्ड** : 1942 ए सी 624 मामले में निर्धारित की गई थी जिसका भारत में भी अनुसरण किया गया। **ग्लैस्गो कारपोरेशन** बनाम **सैन्ट्रल लॉ बोर्ड** : 1956 एस.सी. 1 (एम एल) मामले में इसका विरोध किया गया। परन्तु एक बार, **कन्ने** बनाम **राइम्मर** : 1968 ए सी 910 मामले में विधि को उल्टा कर दिए जाने पर भारतीय न्यायालयों को यह विचार करना पड़ा कि क्या धारा 162 के पैरा 2 के होते हुए भी विधि में किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता है। इंग्लैण्ड में हाऊस ऑफ लार्डस् द्वारा और भी निर्णय दिए गए—देखें, **रोजर्स** बनाम **होम सैक्रेट्री** : 1973 ए.सी. 338 (एच.एल.); **साईन्स रिसर्च काऊंसिल** बनाम **नासे** : 1980 ए.सी. 1028; **बर्मा ऑयल** बनाम **बैंक ऑफ इंग्लैण्ड** : 1980 ए.सी. 1090; **एयर कनाडा** बनाम **सैक्रेटरी ऑफ स्टेट फार ट्रेड (एम.यू.एल.)** : 1983 (2) ए.सी. 394; **दि स्कॉट रिपोर्ट** (1996) और **आर** बनाम **चीफ कान्स्टेबल ऑफ वैस्टमिडलैन्डस्, एक्स पी. किस्सी** : 1995 (1) ए.सी. 274। इसके साथ ही उच्च न्यायालयों तथा अपीलीय न्यायालयों के न्यायाधीशों द्वारा बहुत सी व्यवस्थाएं भी दी गई हैं।

1977 में प्रस्तुत की गई 69वीं रिपोर्ट में आयोग को इंग्लिश विधि में 1968 में **कन्ने** बनाम **राइम्मर** : 1968 ए.सी. 910, मामले में किए गए परिवर्तनों का लाभ मिला था। रिपोर्ट में **स्टेट ऑफ पंजाब** बनाम **सुखदेव सिंह** : ए.आई.आर. 1961 सु.को. 493 मामले में, जिसमें 1942 के डन्कन मामले का अनुसरण किया गया था, और **स्टेट ऑफ यू.पी.** बनाम **राजनारायण** : ए.आई.आर. 1975 सु.को. 865 का निर्देश किया गया है जिनमें इंग्लैण्ड की विधि में 1968 में हुए परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है। परन्तु 69वीं रिपोर्ट में उच्चतम न्यायालय द्वारा बाद में, **एस.पी. गुप्ता** बनाम **यूनियन ऑफ इंडिया** : 1981 सप्ली. एस.सी.सी. 87 मामले में, जिसमें **स्टेट ऑफ पंजाब** बनाम **सुखदेव सिंह** मामले में दिए गए निर्णय को रद्द कर दिया गया था और इंग्लैण्ड में हुए परिवर्तन के समान विधि निर्धारित की गई थी, दिए गए निर्णयों का लाभ नहीं उठाया गया। उच्चतम न्यायालय द्वारा बाद में और भी निर्णय दिए गए हैं परन्तु वे सभी मुख्यतया तथ्यों पर दिए गए निर्णय हैं।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में, हम, इंग्लैण्ड में 1942 में डंकन के मामले से आरम्भ होकर **एक्सप्रै बिलि** (1995) तक हुए परिवर्तनों का तथा बाद के कतिपय मामलों का संक्षेप में निर्देश करेंगे।

इंग्लैण्ड में विधि का विकास

विकास का इतिहास फिप्सन में (15वें संस्करण, 1999) सी.एच. 24 में अन्तर्विष्ट है।

डंकन बनाम **कैमिल लेयर्ड** : 1942 ए सी 624 मामले में दस्तावेज, जिनके बारे में क्राऊन प्रोसीडिंग्स एक्ट, 1947 की धारा 28 के अधीन 'क्राऊन के विशेषाधिकार' का दावा किया गया था, एक सबमैरिन के डूबने से संबंधित थे, जिस पर विचारण के दौरान गोपनीय उपकरण लगे हुए थे और चालक दल की मृत्यु हो गई थी। हाऊस ऑफ लार्डस् ने यह अभिनिर्धारित किया था कि न्यायालय किसी विशेषाधिकार के दावे को रद्द नहीं कर सकेगा यदि वह उपयुक्त रूप में किया गया हो।

1996 में, (197 एच.एल. डिबेट कालम 741) लार्ड चांसलर ने यह उद्घोषित किया कि कतिपय श्रेणियों के दस्तावेजों के बारे में, क्राउन के डाक्टरों की चिकित्सीय रिपोर्ट तथा दांडिक कार्यवाहियों में प्रतिरक्षा से सुसंगत दस्तावेजों सहित, लोक हित उन्मुक्ति का दावा नहीं किया जाएगा (देखें एच.एल. डिबेट (1962) कालम 1191)।

ग्लेस्गो कारपोरेशन बनाम **सैन्ट्रल लैन्ड बोर्ड** : 1956 एस.सी. 1(एच.एल.) हाऊस ऑफ लार्डस् द्वारा यह अभिनिर्धारित करने से 1956 में पहला आघात पहुंचा कि दस्तावेज पेश करने पर क्राऊन की आपत्तियों को रद्द करने की

न्यायालय को स्वाभाविक शक्ति प्राप्त है और यह कि न्यायालय को, उपयुक्त मामलों में, दस्तावेजों का निरीक्षण करने, लोक हित के बारे में अपनी राय बनाने की भी शक्ति प्राप्त है।

अन्तिम आघात 1968 में, **कन्वे बनाम राइम्मर : 1968 ए.सी. 910** मामले में पहुंचा था। एक भूतपूर्व परिवीक्षाधीन पुलिस कर्मचारी के मामले में, जिसके विरुद्ध जो टार्च चुराने के दुर्भावनापूर्ण अभियोजन के लिए वाद चलाया गया था और निर्णय में उसे उन्मुक्ति प्रदान कर दी गई थी, होम सैक्रेटरी ने पांच रिपोर्ट पेश करने से इंकार कर दिया था, जिनमें चार रिपोर्टें परिवीक्षाधीन अवधि में अधिकारी के आचरण से संबंधित थी और पांचवी उसके अभियोजन से। लोक हित को क्षति पहुंचाने के आधार पर विशेषाधिकार का दावा किया गया था। हाऊस ऑफ लार्डस् ने यह अभिनिर्धारित किया था कि मंत्रालय का प्रमाण-पत्र और शपथ-पत्र अन्तिम नहीं थे और यह निश्चित करना न्यायालय के अधिकार में आता है कि लोक हित की उन्मुक्ति की मात्रा सही थी या नहीं। ऐसी श्रेणी के दस्तावेजों के बीच, जिनमें उन्मुक्ति दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु पर निर्भर करती थी, अन्तर किया गया। मंत्रिमंडल की कार्यवाही सारांश तथा सरकारी विभागों के बीच नीति निर्धारण से संबंधित दस्तावेज इस श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले दस्तावेज माने गए। इसके अतिरिक्त, 'श्रेणी दावे' में सम्मिलित किए जाने के लिए उचित परीक्षण यह था कि इस कारण से किसी दस्तावेज को रोकना कि वह विशिष्ट श्रेणी का था, लोक सेवाओं के न्यायोचित कार्यकरण के लिए वास्तव में आवश्यक था या नहीं। लार्ड रीड द्वारा दो प्रकार के लोक हितों (तीसरे के अतिरिक्त जिसका हमने ऊपर निर्देश किया है) का स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में किया है :

> "यह विश्वव्यापी मान्यता है कि लोक हित दो प्रकार के हैं, जिनमें परस्पर विरोध हो सकेगा। एक लोक हित वह है, जिसमें कतिपय दस्तावेजों के प्रकटन से **राष्ट्र या लोक सेवाओं** को कोई क्षति नहीं पहुंचेगी और दूसरा लोक हित यह है कि दस्तावेज को रोकने से, जिसे न्याय करने के लिए पेश किया जाना चाहिए था, **न्याय के प्रशासन** में कोई बाधा नहीं आएगी।"

उन्होंने आगे कहा है :

> ". . . . . किसी दस्तावेज को या अन्य साक्ष्य को रोकने के लिए मंत्री द्वारा अभिव्यक्त किए गए लोक हित तथा उचित न्याय प्रशासन सुनिश्चित करने में लोक हित के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए न्यायालयों को शक्ति प्राप्त है और उसका उपयोग करने का उन्हें अधिकार है तथा उनका यह कर्त्तव्य भी है।"

उस मामले में, हाऊस ऑफ लार्डस् ने निरीक्षण के लिए दस्तावेज उपलब्ध कराने का निर्देश दिया और उनके प्रकटन का आदेश दिया।

इन सिद्धान्तों की **रोजर्स बनाम होम सैक्रेटरी : 1973 ए.सी. 388** मामले में पुनरावृत्ति की गई। वास्तव में, 'क्राऊन के विशेषाधिकार' शब्दों के प्रयोग की भर्त्सना की गई क्योंकि उक्त शब्दों का साधारण अर्थों में क्राऊन के लिए कोई विशिष्ट विशेषाधिकार नहीं आता है। उस मामले में, आवेदक ने खेल बोर्ड से एक खेल लाईसेंस प्राप्त करने का अनुरोध किया था, पुलिस के परामर्श पर जिसे देने से इंकार कर दिया गया। आवेदक ने अनुचित माध्यमों से पुलिस से उस पत्र की एक प्रति प्राप्त कर ली और बोर्ड तथा पुलिस के विरुद्ध अपमान करने का वाद दायर कर दिया। उसने खेल बोर्ड के सैक्रेटरी को साक्षी के रूप में बुलाए जाने की मांग की ताकि वह उस पत्र को पेश कर सके। हाउस ऑफ लार्डस् ने यह अभिनिर्धारित किया कि पत्र में लोक हित उन्मुक्ति अन्तर्विष्ट थी और मौखिक साक्ष्य द्वारा या मूल पत्र को पेश करके उसकी अन्तर्वस्तु साबित नहीं की जा सकी थी। जहां लोक नीति के आधार पर तथ्यों को अपवर्जित रखा जाता है उन्हें द्वितीयिक साक्ष्य द्वारा साबित नहीं किया जा सकता।

डी बनाम नेशनल सोसाइटी फॉर प्रिवेंशन ऑफ क्रुअल्टी टू चिल्ड्रन (एक एस.पी.सी.सी.) : 1978 ए.सी. 171 (एच.एल.) मामले में, वादी ने एन.एस.पी.सी.सी. के अधिकार द्वारा इस आशय का झूठा आरोप लगाए जाने के पश्चात् कि उसने (वादी ने) उसके बच्चे के साथ दुर्व्यवहार किया था, क्षति के लिए दावा किया। सोसाइटी ने, उसे विश्वास में दी गई जानकारी के आधार पर कार्यवाही की और वादी ने उन दस्तावेजों को प्रकट करने की मांग की, जिनसे सूचना

देने वाले की पहचान का पता चल पाता। यद्यपि, पहचान को प्रकट करने की अनुज्ञा न देने का निर्णय पुलिस भेदियों को लागू होने वाले सुस्थापित सिद्धान्तों पर निर्धारित था, लार्ड हेलशैम ने कहा था कि "लोक हित की श्रेणियां अन्तिम नहीं हैं और समय-समय पर सामाजिक परिस्थितियों और सामाजिक विधानों की प्रगति के अनुरूप प्रतिबंध या विस्तार के द्वारा बदलती रहनी चाहिए"। लार्ड एडमंड डेविस ने कहा था कि "एकमात्र कसौटी लोक हित है न कि उस पक्षकार का, जिससे प्रकटीकरण मांगा गया है, किसी कर्त्तव्य के अधीन कार्य करना"। यदि लोक हित को कोई खतरा होता है तो गोपनीयता की सील को तोड़ा नहीं जा सकेगा। जबकि प्रकटन एक साधारण नियम है, वर्जन की अनुमति केवल तभी दी जा सकेगी जब यह महसूस किया जाए कि वर्जन से प्रकटन की तुलना में लोक हित का बेहतर संरक्षण होगा।

साईन्स रिसर्च काऊंसिल बनाम नासे : 1980 ए.सी. 1028, मामले में औद्योगिक अधिकरण के पास एक शिकायत दर्ज कराई गई, जिसमें लिंग तथा विवाहिक स्थिति के आधार पर भेद-भाव करने के आरोप लगाए गए। याचिकादाता ने प्रत्यैक नियोक्ता के गोपनीय निर्धारणों से संबंधित दस्तावेजों के मंगाए जाने का अनुरोध किया। अधिकरण ने प्रकटन का आदेश दिया और अपीलीय अधिकरण ने उसकी पुष्टि कर दी। हाऊस ऑफ लार्ड्स ने निर्णय खारिज करते हुए अभिनिर्धारित किया कि लोक हित में उन्मुक्ति का कोई सिद्धान्त ऐसे गोपनीय निर्धारणों को कोई संरक्षण नहीं देता है और वे केवल गोपनीय होने के कारण से उन्मुक्त नहीं थे। यह कोई एक ऐसी परिस्थिति हो सकती है, जिसे ध्यान में रखा जा सकेगा। अधिकरण इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए कि क्या उनका प्रकट न किया जाना लोक हित में है, इन दस्तावेजों का निरीक्षण करेगा।

अब हम **बर्मा ऑयल बनाम बैंक ऑफ इंग्लैण्ड :** 1980 ए.सी. 1090 (एच.सी.), मामले का निर्देश करेंगे। इस मामले में बर्मा ऑयल तथा बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के बीच एक करार हुआ था। बैंक सरकार के निर्देशों के अधीन कम्पनी को वित्तीय कठिनाईयों से बचाने की दृष्टि से कार्य कर रहा था। करार का एक भाग ब्रिटिश पैट्रोलियम के कतिपय शेयरों को वर्तमान बाजार मूल्य से कम मूल्य पर बैंक को बेचे जाने से संबंधित था। ब्रिटिश पैट्रोलियम के शेयरों का मूल्य निरन्तर बढ़ता गया। अतः बर्मा ऑयल ने बिक्री बन्द कर दी और बैंक को सरकार द्वारा दिए निर्देशों से संबंधित दस्तावेजों की तथा उच्च स्तरीय बैठक के, जिसमें सरकार के मंत्रियों ने भाग लिया तथा उन बैठकों के जिनमें सरकार के केवल अधिकारियों ने भाग लिया, बैंक ज्ञापनों की मांग की। बैंक, बैंक के आचरण से संबंधित दस्तावेज उपलब्ध करा सकता था परन्तु उसने इन दस्तावेजों के बारे में इसलिए आपत्ति उठाई कि इससे कोई जांच किए जाने जैसी बात बनती है। पत्रों के पेश किए जाने से इंकार करने की बात हाऊस ऑफ लार्ड्स द्वारा अस्वीकार कर दी गई परन्तु दस्तावेजों को देखने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया गया कि ये इतने महत्वपूर्ण नहीं थे कि उनसे लोक हित को कोई हानि पहुंचेगी। जिसका संरक्षण इन दस्तावेजों को प्रकट न करके किया जाना चाहिए। लार्ड स्कारमैन ने मंत्रिमंडल के कार्यवाही सारांश को सम्पूर्ण संरक्षण के तर्क का खंडन किया। उन्होंने कहा :

> "यह कहा जाता है कि मंत्रिमंडल का कार्यवाही सारांश पेश नहीं किया जाना चाहिए। उच्च स्तर पर नीति निर्धारण से संबंधित दस्तावेज भी सार्वजनिक नहीं किए जाने चाहिए। परन्तु, क्या सरकारी तंत्र के आन्तरिक कार्यकरण की गोपनीयता लोक हित के लिए इतनी अधिक महत्वपूर्ण है कि यह न्याय की अत्यन्त अनिवार्य मांग पर वरीयता प्राप्त करे? यदि किसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तु राष्ट्रीय सुरक्षा से संबंधित है, उससे राजनयिक संबंधों पर प्रभाव पड़ता है या बहुत महत्वपूर्ण किसी प्रकार की राज्य गोपनीयता से संबंधित है, तब मुझे यह सकारात्मक उत्तर प्रतीत होता है। परन्तु यदि ऐसा नहीं है (और मामले में ऐसा दावा नहीं किया जाता है कि उनसे ऐसा होता है) तो गोपनीय सरकार के बारे में ऐसी क्या महत्व चीज है जिसे हमारे न्यायालयों में अन्याय के मूल्य पर भी संरक्षण दिया जाना चाहिए? संतुलन बनाए रखने के लिए, न्यायालय सदैव ही, यदि आवश्यक समझता है, दस्तावेजों का स्वयं निरीक्षण कर सकेगा।
>
> मैं स्वीकार करता हूं कि न्यायालय द्वारा निरीक्षण एक ऐसी शक्ति है जिसका उपयोग, प्रमाण पत्रों पर विचार करने के पश्चात्, न्यायालय द्वारा केवल उसी स्थिति में किया जाना चाहिए जब उन्हें मामले के विवाद्यकों के बारे में तथा उन दस्तावेजों की सुसंगतता के बारे में संदेह हो, जिनके प्रकटन की मांग की गई है। जहां दस्तावेज

सुसंगत हैं (जैसाकि इस मामले में है) वहां मेरे विचार से केवल 'श्रेणी' के आधार पर आपत्ति करने से न्यायिक संदेह कभी दूर नहीं हो सकेंगे, विशेषकर यदि, जैसा यहां है, यह कहने के लिए कोई ऐसा सारगर्भित मामला बनाया जाता है कि न्याय के हित में इनका प्रकट किया जाना आवश्यक है।"

उपर्युक्त कथन के प्रारम्भ में, लार्ड स्कारमैन ने एक महत्वपूर्ण टिप्पणी की है :

"मैं नहीं मानता कि दस्तावेजों की कोई ऐसी श्रेणियां हैं, जिन्हें ..... कभी प्रकट नहीं किया जा सकेगा"

मंत्रिमंडल के कार्यवाही सारांश के बारे में हम इस समय एक अन्य मामले का उद्धरण देंगे, जिसके बारे हम चर्चा करना भी चाहते हैं--अर्थात् **एयर कनाडा** बनाम **सैक्रेटरी ऑफ स्टेट फार ट्रेड** : **1983** (2) ए.सी. 394। इस मामले में हीथ्रो हवाई अड्डे का प्रयोग कर रही एयर लाइन ने बढ़ाए गए लैन्डिंग प्रभारों को चुनौती देते हुए ट्रेड सैक्रेटरी तथा ब्रिटिश एयरपोर्ट ऑथेरिटी के विरूद्ध वाद दायर किया जिसमें यह तर्क दिया कि सैक्रेटरी ने इस कार्य के लिए बी बी ए पर जोर डाला है और अनावश्यक मामलों पर ध्यान दिया है। उन्होंने मंत्रालयी दस्तावेजों के प्रकट किए जाने की मांग की जो नीति निर्धारण से संबंधित थे। हाऊस ऑफ लार्डस् ने इस तर्क को खारिज कर दिया कि मंत्रिमंडल के कार्यवाही सारांश को प्रकट किए जाने से स्वमेंव ही उन्मुक्ति प्राप्त है परन्तु इस बात पर विचार किया कि कार्यवाही सारांश में अन्तर्विष्ट सूचना से वादी के मामले को थोडी सहायता मिलेगी। लार्ड बिलबरफोर्स ने अन्य दस्तावेजों का, व्हाईट पेपर, हाऊस ऑफ कॉमन्स में सैक्रेटरी ऑफ स्टेट का कथन और ट्रेड डिपार्टमेंट द्वारा बी बी ए को लिखे गए पत्र, जो रिकार्ड पर थे और मंत्रिमंडल के कार्यवाही सारांश के आधार थे, निर्देश किया। इस पर भी लार्ड फ्रेजर ने कहा :

"मेरे विचार में मंत्रिमंडल के कार्यवाही सारांश को भी प्रकटन से, ऐसे मामले में, पूर्ण उन्मुक्ति प्राप्त नहीं हैं उदाहरण के लिए, जहां विवाद्यक विषय में मंत्रिमंडल के मंत्री का गंभीर दुराचरण अन्तर्ग्रस्त है"।

विभिन्न लेखकों का यह मत है कि 'श्रेणीगत' उन्मुक्ति की अवधारणा व्यवहारत: मृतक है। स्टीव उग्लोव ने अपनी पुस्तक "एंबिडेंड एक्ट्स एण्ड मैटिरियलस् 1997" में कहा है कि 'श्रेणीगत दावे' समाप्त हो गए प्रतीत होते हैं और दस्तावेजों की कोई ऐसी श्रेणी नहीं हैं जिसे सभी परिस्थिति में स्वमेंव ही उन्मुक्ति प्राप्त हो।

पुलिस के दुराचरण के संबंध में ऐसे अनेक मामले हैं जिनमें **एक पक्षीय** निर्णय करने पड़े, **विली** : 1995 (1) ए.सी. 274 (एच.एल.), जिसका हम वर्तमान में निर्देश करेंगे, जहां लार्ड वुल्फ ने कहा है कि "श्रेणी के आधार पर हित अन्मुक्ति को मान्यता देने के लिए ऐसे सुस्पष्ट और बाध्यकारी साक्ष्य की अपेक्षा है कि यह आवश्यक है। इस श्रेणी का अस्तित्व में होना उस उद्देश्य को ही पराजित कर देता है जिसे प्राप्त करने के लिए बनी थी" लार्ड हेलशमैन से डी बनाम **एन.एस.पी.सी.सी.** : 1978 ए.सी. 171, मामले में सहमति व्यक्त करते हुए कि लोक हित की श्रेणियां समाप्त नहीं हो गई हैं ये ऊपर नीचे होती रहती हैं, लार्ड वुल्फ ने कहा :

"मेरे विचार में नेलसन मामले में श्रेणीगत लोक हित की मान्यता को न्यायोचित ठहराने का पर्याप्त मामला कभी नहीं बन पाया है (**नेलसन** बनाम **लाधरने** : 1981 क्यू.बी. 736)।

हेहिर बनाम **कमांडर ऑफ पुलिस ऑफ मैट्रोपालिस** : 1982 (2) ए.एल.एल.ई.आर. 355 **माकनजोला** बनाम **कमांडर ऑफ पुलिस** : 1992 (3) ए.एल. एल.ई.आर. 617; **हालफोर्ड** बनाम **शर्पिल्स** : 1993(3) ए.एल.एल.ई.आर. 624, इन सभी मामलों में निर्णय रद्द कर दिए गए।"

एकपक्षीय **विली** : 1995 (1) ए.सी. 274, मामलें में आवेदक ने पुलिस के बारे में शिकायत की थी जिसकी जांच पुलिस शिकायत अधिकारी द्वारा की जा रही थी। आवेदक ने मुख्य कान्स्टेबल से अनुरोध किया कि वह जांच से व्युत्पन्न होने वाले दस्तावेजों का प्रयोग न करने का या आवेदक द्वारा सिविल कार्यवाहियों में दी गई दस्तावेजों की किसी सूचना पर निर्भर करने का वचन दे। मुख्य कान्सटेबल ने वचन देने से इंकार कर दिया। इंकार करने के बारें में न्यायिक पुनरीक्षा के लिए आवेदन हाऊस ऑफ लार्डस् में पहुंचा और हाऊस ऑफ लार्डस् ने विशेषाधिकार का एक नया वर्ग बनाने से इंकार

कर दिया। (मैट्रिक्स चर्चिल मामले में स्काट की रिपोर्ट में विशिष्ट रूप में यह सिफारिश की गई है कि लोकहित उन्मुक्ति के दावे वर्ग के आधार पर कभी नहीं किए जाने चाहिए)

लार्ड वुल्फ ने **एकपक्षीय** विली मामले में कहा था "जब कभी लोकहित उन्मुक्ति का तर्क दिया जाए, दस्तावेज के धारक द्वारा लोक हित उन्मुक्ति के बारे में रबड़ स्टाम्प जैसा दृष्टिकोण अपनाया जाना न तो आवश्यक ही है और न युक्तिसंगत"। देखें एलनटी द्वारा "पब्लिक इन्टरेस्ट इम्युनिटी एण्ड मिनिस्टरस् रैस्पोंसिबिलीटीज" 1993; क्रिमिनल लॉ रिव्यू 600; ए मैटर ऑफ प्राइम जुडिशियल रैस्पांसिबिलीटी (1994) 57 मद्रास लॉ रिव्यू, 703; **वैब आर** पब्लिक इन्टरेस्ट इम्यूनिटी; दि डमाइज ऑफ ड्यूटी टू असैन्ट : 1995 क्रिमिनल लॉ रिव्यू 556, भी देखें)।

इंग्लैण्ड में, इन्टरसैप्शन ऑफ कम्यूनिकेशन एक्ट, 1985 के अधीन डाक या लोक दूर संचार **प्रणाली** से भेजी गई संसूचनाओं को, धारा 2(1) के अधीन गृह सचिव द्वारा किसी गंभीर अपराध की भविष्यवाणी करने या उसका पता लगाने के लिए अवरूद्ध करना प्राधिकृत किया जा सकेगा। वास्तव में, कोई अभियुक्त यह प्रश्न नहीं पूछ सकेगा कि किसने प्राधिकृत किया है और किसने उसे कार्यान्वित किया है। पुलिस तथा अन्य ऐजेन्सियों द्वारा अपनाई गई इस प्रक्रिया से गृह सचिव के जानकारी प्राप्त करने और निगरानी रखने की प्रणाली को संरक्षण प्राप्त होता है। अभियोजन पक्ष पर तथ्य या अवरूद्ध की गई संसूचना की अन्तर्वस्तु को प्रकट करने का कोई दायित्व नहीं है। देखें **आर** बनाम **प्रैस्टन : 1993** (4) ए.एल.एल.ई.आर. 638। देखें, होम ऑफिस गाइडलाइन्स, 1984 जहां इस कार्य के लिए केवल वरिष्ठ अधिकारियों को प्राधिकृत किया गया है।

भारतीय विधि :

इस चर्चा में **सुखदेव सिंह :** ए.आई.आर. 1961 सु.को. 493, मामले का निर्देश करने के पश्चात्, हम **एस.पी. गुप्ता** : 1981 सप्ली. एस.सी.सी. 87 मामले में न्यायमूर्ति भगवती के निर्णय से व्युत्पन्न चर्चा का विस्तार से निर्देश करेंगे जिसमें इस विषय पर विधि को व्यवहारतः अन्तिम रूप से निश्चित किया गया है। वास्तव में, हम यहां नीचे की जा रही चर्चा में एस.पी. गुप्ता के मामले के बहुत से अनुच्छेदों का निर्देश करेंगे।

पहला मामला, जिसका हमें निर्देश करना है, **स्टेट ऑफ पंजाब** बनाम **सोढ़ी सुखदेव :** ए.आई.आर. 1961 सु.को. 493 है। इस मामले में पंजाब के एक न्यायिक अधिकारी को राष्ट्रपति द्वारा, राष्ट्रपति शासन के दौरान, सेवा से हटा दिया गया था। बहाली के लिए उसके अभ्यावेदन पर विचार करते हुए राज्य के मंत्रिमंडल ने राष्ट्रपति शासन समाप्त हो जाने के पश्चात् लोक सेवा आयोग के विचार मांगे और उसे बहाल करने के बजाय, अधिकारी को फिर से नियुक्त करने का निर्णय किया। अधिकारी ने इस निर्णय पर आपत्ति की और लोक सेवा आयोग की रिपोर्ट पेश किए जाने की मांग की। उच्चतम न्यायालय ने सेवा आयोग की रिपोर्ट को मंत्री के कार्यवाही सारांश का भाग माना और इसे भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 के साथ पठित भारत के संविधान के अनुच्छेद 163(3) के अधीन संरक्षित रखे जाना अभिनिर्धारित किया।

परन्तु **एस.पी. गुप्ता :** 1981 सप्ली. एस.सी.सी. 87, के मामले में न्यायमूर्ति भगवती (तत्कालीन) ने यह अभिनिर्धारित किया कि **सुखदेव के मामले** के निर्णय में ऐसे किसी आधार का उल्लेख नहीं है कि आयोग की रिपोर्ट किस प्रकार से राज्य मंत्रिमंडल के कार्यवाही सारांश का अंग माना गया था और यह कि अनुच्छेद 163(3) लागू नहीं किया जा सकेगा। विद्वत न्यायाधीश ने लोकतंत्र के मूल तत्व के रूप में सरकार की पारदर्शिता का निर्देश किया (देखें पैरा 65, 66) तथा जानकारी प्राप्त करने के अधिकार के बारे में ब्रिटेन में फ्रैंक समिति की रिपोर्ट का तथा **स्टेट ऑफ यू.पी. बनाम राजनारायण :** ए.आई.आर. 1975 सु.को. 865, मामले में न्यायामूर्ति मैथ्यू की राय का उल्लेख किया। संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) का निर्देश करने के पश्चात् (देखें पैरा 67) विद्वत न्यायाधीश ने साक्ष्य अधिनियम की धारा 123 का निर्देश किया ताकि गोपनीयता पर थोड़ा प्रतिबंध लगाया जा सके। धारा 123 के संदर्भ में सुखदेव सिंह के मामले को ध्यान में रखते हुए, न्यायामूर्ति भगवती ने कहा कि वह इस बात से सहमत हैं कि प्रकटन के बारे में कार्यवाही करते समय, इस

दृष्टि से कि क्या सार्वजनिक जांच की जाएगी, 'लोक हित' एक महत्वपूर्ण चीज है जिस पर ध्यान रखा जाना चाहिए। उन्होंने **सुखदेव** से इस विषय पर असहमति व्यक्त की कि जहां विभागाध्यक्ष के प्रमाण-पत्र के रूप में किसी दस्तावेज के 'राज्य के कार्यकलापों' से संबंधित होने का अभिवचन किया जाता है वहां न्यायालय को अपनी कार्यवाही रोक लेनी चाहिए। सार्वजनिक जांच तथा प्रकटन के दायित्व के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए अपेक्षित है कि दस्तावेज न्यायालय द्वारा देखा जाना चाहिए (देखें पैरा 68) परन्तु यदि यह प्रश्न कि क्या दस्तावेज राज्य के कार्यकलापों से संबंधित है विवाद्यक है और यदि **सुखदेव** का यह कहना है कि ऐसी आपत्तियों का समाधान किया जाना चाहिए तब, जब तक दस्तावेज देख नहीं लिया जाता, ऐसे मामले के बारे में निर्णय नहीं किया जा सकता (पैरा 69)। इसलिए, यदि न्यायालय को यह निर्णय करना है तो प्रमाण-पत्र को अन्तिम रूप देने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। ''ऐसे कतिपय मामले हो सकते हैं, जहां दस्तावेज की श्रेणी के संदर्भ में यह अभिनिर्धारित करना संभव हो सकेगा कि दस्तावेज राज्य के कार्यकलापों से संबंधित है। परन्तु, एक बार न्यायालय यदि यह पाता है कि दस्तावेज का स्वरूप ऐसा है कि इसके प्रकटन से लोक हित को क्षति पहुंचेगी, उस स्थिति में उसे पेश करने या न करने की अनुज्ञा दी जानी चाहिए। इसका निर्णय करना विभागाध्यक्ष पर छोड़ना निरर्थक होगा।'' इस तर्क पर न्यायमूर्ति भगवती ने एस.पी. गुप्ता के मामले में, सुखदेव से विमति व्यक्त की। विद्वत न्यायाधीश ने टिप्पणी की कि :

> ''न्यायालय आपत्ति को तभी अनुमति देगा जब यह पाएगा कि दस्तावेज राज्य के कार्यकलापों से संबंधित है और इसका प्रकटन लोक हित के लिए क्षतिकारक होगा, परन्तु दूसरी ओर, यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि दस्तावेज राज्य के कार्यकलापों से संबंधित नहीं है या लोक हित में इसके प्रकट किए जाने में किसी प्रकार से बाधक नहीं है या कि विशिष्ट मामले में न्याय के प्रशासन में लोक हित, इससे पूर्व कि लोक हित के अन्य सभी पहलु नष्ट हो जाएं, न्यायालय आपत्ति को रद्द करके दस्तावेज के प्रकटन का आदेश देगा। धारा 123 के अधीन प्रकटन के विरुद्ध आपत्ति की विधिमान्यता के बारे में अन्तिम निर्णय धारा 162 में दिए गए कारणों से सदैव न्यायालय द्वारा किया जाएगा।''

इससे पूर्व, न्यायमूर्ति भगवती ने टिप्पणी की (देखें पैरा 63) कि धारा 123 ''प्राचीन काल का सांविधिक उपबंध है'' क्योंकि **सुखदेव सिंह** के मामले इसकी व्याख्या 20 वर्ष पहले विशिष्ट रूप में की गई थी। उनका अभिमत था कि :

> ''यह एक ऐसी लिखत है जो किसी भिन्न संदर्भ में भिन्न वाणी बोल सकती है, अर्थात् भिन्न अर्थ दे सकती है।''

न्यायमूर्ति भगवती ने कहा कि जब कभी दस्तावेज को प्रकट न करने के लिए लोक हित को क्षति पहुंचाने का दावा करने वाला प्रमाण-पत्र फाइल किया जाता है, ''न्यायालय अधिकारी की राय पूछने के लिए धीमी गति से कार्य करेगा जब तक कि मंत्री या विभागाध्यक्ष के पक्ष पर सदाशय के न होने या किसी निर्णय में कोई त्रुटि होने या विधि में कोई त्रुटि होने'' जैसा सुझाव देने वाले पहलु का अस्तित्व न दर्शाया गया हो। उन्होंने कहा कि :

> ''परन्तु ऐसे मामले में भी, यह अब सुनिश्चित है कि न्यायालय किसी शपथ-पत्र में मंत्री द्वारा किए गए कथन से बाध्य नहीं है और उसे राज्य या लोक हित को क्षति और निर्णय लेने से पूर्व अन्याय के जोखिम के बीच संतुलन बनाए रखने की शक्ति प्राप्त है।''

विद्वत न्यायाधीश ने पीछे निर्देशित किए गए, **वर्मा आयल कम्पनी लिमिटेड बनाम बैंक ऑफ इंग्लैण्ड** : 1978 ए.सी. मामले का आश्रय लिया। इसके पश्चात् उसने विचार व्यक्त किया (देखें पैरा 70) कि दस्तावेज की एक श्रेणी है जिसे संरक्षण प्राप्त है और उसमें सम्मिलित हैं—

> ''मंत्रिमंडल कार्यवाही सारांश, विभागाध्यक्ष के बीच हुई चर्चा का कार्यवाही सारांश, उच्चस्तरीय अन्तर-विभागीय संसूचनाएं और विदेशों से राजदूतों द्वारा भेजे गए संदेश''

और **कन्वे बनाम राइम्मर** : (1968) 1 ए.एल.एल.ई.आर. 874; **रेग बनाम लिविस जस्ट्स पार्टी होम सैक्रेटरी** : 1973 ए.सी. 388, मामलों का निर्देश किया। उसके पश्चात् मंत्रिमंडल से करने के लिए कोई अनुरोध तैयार करने के प्रयोजन से

लाए गए पत्रों को भी संरक्षण देना अभिनिर्धारित किया। **लेनियोन प्रापर्टी लिमिटेड** बनाम **कॉमनवैल्थ** : 129 सी.एल.आर. 650; और उच्च स्तर पर सरकार के नीति निर्धारण से संबंधित दस्तावेजों को **रि ग्रौसवैनर होटल लन्दन** : 1964 (3)ए.एल.एल.ई.आर. 304 (सी.ए.)। तथापि, इतना कहने के बाद भी न्यायमूर्ति भगवती ने फिर से कहा कि :

> ''इस मामले के प्रयोजन, यह विचार करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है कि कौन से दस्तावेज वैध रूप से इस श्रेणी में आते हैं ताकि उन्हें प्रकटन से उन्मुक्ति प्राप्त हो सके, उनकी अन्तर्वस्तु चाहे जैसी भी हो। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्रिमंडल के दस्तावेज, विभागाध्यक्षों की चर्चाओं के कार्यवाही सारांश तथा सरकारी तंत्र के आन्तरिक कार्यकरण से संबंधित उच्च स्तरीय दस्तावेज या सरकार के नीति निर्धारण से संबंधित दस्तावेज इस श्रेणी में आते हैं जिन्हें लोक हित में प्रकटन के विरुद्ध संरक्षण दिया जाना चाहिए।''

पैरा 71 में उसने कहा है कि इस श्रेणी विशेष को दस्तावेजों का संरक्षण देने के पीछे भी कोई कारण हैं। ऐसा इस कारण से है कि सरकार में, तथ्यों के कथन परामर्श देने, विचारों और रायों के आदान-प्रदान में पूर्ण स्वतंत्रता तथा स्पष्टता होनी चाहिए, परन्तु इस बात की संभावना कि दस्तावेज अन्ततः प्रकाशित कराए जा सकते हैं, इन्हें तैयार करने वालों स्पष्टवादिता और निष्कपटता को प्रभावित कर सकती है। न्यायमूर्ति भगवती ने **कन्वे** बनाम **राइम्मर** : 1968 ए.सी. 910 (952, 973, 979, 987, 993), मामले में यह देखा है कि लार्ड रीड ने निष्कपटता का तर्क पूर्ण रूप से खारिज कर दिया था और इसी प्रकार लार्ड अपजोहन ने पृष्ठ 952 पर, लार्ड मौरिस ने पृष्ठ 957 पर कहा कि ''निष्कपटता को अवरोध के बजाय प्रोत्साहन मिलेगा''। न्यायमूर्ति भगवती के अनुसार, न्यायालय को अप्रकटन में लोकहित तथा न्याय में लोकहित के बीच संतुलन बनाए रखना होता है, यहां तक कि दस्तावेजों की तथाकथित संरक्षित श्रेणी के संबंध में भी न्यायमूर्ति भगवती ने कहा कि :

> ''लोकहित इन दोनों प्रतिस्पर्धी पहलुओं के बीच न्यायालय को संतुलन बनाए रखना होता है, वहां भी, जहां कि दस्तावेज के प्रकटन के बारे में इस आधार पर आपत्ति की जाए कि दस्तावेज उस श्रेणी का है जिसकी अन्तर्वस्तु कैसी भी होने पर, प्रकटन से संरक्षण प्राप्त है क्योंकि ऐसी श्रेणी के दस्तावेजों को पूर्ण उन्मुक्ति प्राप्त नहीं है। **कन्वे** बनाम **राइम्मर** मामले में भी लार्ड रीड ने पृष्ठ 952 पर एक अपवाद को मान्यता दी है कि मंत्रिमंडल के कार्यवाही सारांश और इनके जैसे दस्तावेजों को प्रकट किया जा सकेगा जब उसका केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह जाएगा और **लैनियोन प्रापर्टी लिमिटेड** बनाम **कॉमनवैल्थ** (129 सी.एल.आर. 650 आस्ट्रेलिया) मामले में, न्यायमूर्ति मेनजीज ने इस बात से सहमति व्यक्त की है कि ऐसी अत्यन्त विशिष्ट परिस्थितियां हो सकती हैं जिनमें ऐसे दस्तावेजों की जांच की जा सकेगी। लार्ड स्कारमैन ने **बर्मा ऑयल कम्पनी लिमिटेड** बनाम **बैंक ऑफ इंग्लैण्ड** मामले में अपने भाषण में कहा था कि वह यह नहीं मानते कि ''दस्तावेजों की कई श्रेणियां हैं जिन्हें उनकी अन्तर्वस्तु चाहे जितनी भी हानि रहित हो और न्याय की अपेक्षा उनमें चाहे जितना भी सुदृढ़ हो, कभी प्रकट नहीं किया जा सकेगा जब तक कि वे केवल ऐतिहासिक महत्व की ही न रह जाएं।''

तत्पश्चात्, न्यायमूर्ति भगवती ने लार्ड स्कारमैन से एक और निम्नलिखित उद्धरण दिया :

> ''परन्तु, क्या सरकारी तंत्र के आन्तरिक कार्यकरण की गोपनीयता लोकहित के लिए इतनी महत्वपूर्ण है कि यह न्यायालय की अत्यन्त अनिवार्य पर वरीयता प्राप्त कर सके? यदि दस्तावेज की अन्तर्वस्तु राष्ट्रीय सुरक्षा के बारे में है, जिससे राजनयिक संबंध प्रभावित होते हैं या अत्यन्त महत्व की राज्य की गोपनीयताओं के बारे में तो, मुझे इसका सकारात्मक उत्तर समझ में आता है। परन्तु यदि वे इस प्रकार के नहीं हैं (और इस मामले में भी यह दावा नहीं किया गया है कि वे इस प्रकार के हैं) तथा सरकारी गोपनीयता में ऐसी क्या महत्वपूर्ण बात है कि उसे हमारे न्यायालयों में अन्याय की कीमत पर भी संरक्षण दिया जाना चाहिए।''

उच्च स्तरीय नीतियों के दो कारणों का निर्देश करने के पश्चात् और सरकारी अभिलेखों में निष्कपटता की आवश्यकता को देखते हुए लार्ड स्कारमैन ने (जैसा कि न्यायमूर्ति भगवती ने उद्धृत किया है) बर्मा ऑयल कम्पनी के मामले में निम्नलिखित विचार व्यक्त किया है :

> ''मेरे विचार से दोनों कारण ऐसे पहलू हैं जिनमें लोक सेवा के समुचित कार्यकरण में लोकहित (अर्थात् सरकार का कार्यकारी उद्देश्य) और न्याय के प्रशासन में लोकहित के बीच वैध रूप से संतुलन बनाए रखा जाना चाहिए।

कभी-कभी, लोक सेवा के कारण निश्चायक होंगे, परन्तु इन्हें न्यायालय को ऐसा मूल्यांकन करने से **कभी नहीं रोकना चाहिए** कि यदि दस्तावेज को प्रकटन से रोका गया तो न्याय प्रशासन को कितनी क्षति पहुंचेगी।''

ए.सी.जे. गिब्बस द्वारा **श्याके बनाम विटलाय** : 1978 (2) आस्ट्रेलिया एल.रिप. 505 मामले में व्यक्त किए गए ऐसे ही दृष्टिकोण को उद्धृत करते हुए न्यायमूर्ति भगवती ने कहा है कि दस्तावेजों की विशेष श्रेणियों के बारे में भी, निरीक्षण करने की न्यायालय की शक्ति यथावत रहती है।

तत्पश्चात् न्यायमूर्ति भगवती ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया (देखें पैरा 73 का अन्तिम भाग) :

''दस्तावेजों को प्रदान की जाने वाली उन्मुक्ति के बारे में कुछ भी अनुल्लंघनीय नहीं है क्योंकि ये एक विशेष श्रेणी के हैं। श्रेणी की उन्मुक्ति सभी परिस्थितियों में पूर्ण या अनुल्लंघनीय नहीं है।' यह सभी श्रेणियों के लिए यांत्रिक रूप से लागू होने वाला विधि का शासन नहीं है। जिस सिद्धान्त पर श्रेणी उन्मुक्ति आधारित है वह यह है कि उस श्रेणी के दस्तावेज को प्रकट करना लोकहित के विपरीत होगा, क्योंकि ऐसे प्रकटन से लोक सेवा के समुचित कार्यकरण को क्षति पहुंचेगी और लोकहित का यह पहलू, जिससे यह अपेक्षा की गई है कि सुसंगत साक्ष्य को बाधित करके न्याय से वंचित नहीं रखा जाएगा। यह एक संतुलनकारी कृत्य है न्यायालय जिसका सभी मामलों में निष्पादन करेगा।''

पैरा 74 में, न्यायमूर्ति भगवती ने यह विचार व्यक्त किया है कि विशेष परिस्थितियों में श्रेणी उन्मुक्ति के सिद्धान्त को कुछ नए प्रकार के दस्तावेजों में शामिल किया जा सकेगा। परन्तु संतुलन का कार्य फिर भी न्यायालय का है।

पैरा 76 में, न्यायमूर्ति भगवती ने कहा है कि सम्पृक्त विभागाध्यक्ष द्वारा शपथ-पत्र फाइल करने की प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा। परन्तु, इसके उपरान्त अन्यथा भी, न्यायालय स्वमेव ही यह विचार कर सकेगा कि दस्तावेज इस प्रकार का है कि उसकी अन्तर्वस्तु प्रकट नहीं की जानी चाहिए। पैरा 77 में सुखदेव सिंह के मामले को ध्यान में रखते हुए, न्यायमूर्ति भगवती ने कहा है कि भारतीय न्यायालयों को इस दिशा में इंग्लिश विधि में हुए विकासों का अनुसरण न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। न्यायालय के पास अवशिष्ट शक्तियां हैं। उन्होंने कहा :

''यह सच है कि धारा 162 के अधीन, न्यायालय किसी दस्तावेज का निरीक्षण नहीं कर सकेगा यदि यह राज्य के कार्यकलाप के बारे में है परन्तु यह प्रतिबंध तभी लागू होगा यदि दस्तावेज राज्य के कार्यकलापों से संबंधित स्थापित हो जाता है। तथापि, यदि कोई संदेह है तो, ऐसा निश्चित करने के प्रयोजन से कि दस्तावेज के प्रकटन से लोक हित को क्षति पहुंचेगी और इसलिए दस्तावेज राज्य के कार्यकलापों से संबंधित है, दस्तावेज का निरीक्षण करने के लिए, न्यायालय में जो अवशिष्ट शक्ति निहित है, **वह धारा 162 द्वारा अपवर्जित नहीं हो सकेगी।**''

राजनारायण (ए.आई.आर. 1975 सु.को. 865) मामले में मुख्य न्यायाधीश रे की निम्नलिखित टिप्पणी (संसदीय विवरणीका के संदर्भ में) उद्धृत की गई :

''यदि न्यायालय अभी भी अपना समाधान करना चाहता है तो न्यायालय दस्तावेज को देख सकेगा। इसे न्यायालय द्वारा दस्तावेज का निरीक्षण कहा जाएगा।''

और ''यदि न्यायालय, शपथ-पत्र के बावजूद भी, दस्तावेज को देखना चाहता है तो, न्यायालय ऐसा कर सकेगा।''

न्यायमूर्ति भगवती ने **राजनारायण** के मामले में न्यायमूर्ति द्वारा **अमरचन्द के मामले** (ए.आई.आर. 1964 सु.को. 1658), का निर्देश किए जाने के बारे में बताया, जिसमें न्यायालय ने दस्तावेज देखा था।

इसके पश्चात्, न्यायमूर्ति भगवती ने (देखें पैरा 77) कहा :

''इसलिए, इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि जहां धारा 123 के अधीन किसी दस्तावेज के प्रकटन के विरुद्ध उन्मुक्ति का दावा किया जाता है, वहां भी न्यायालय, किसी उपयुक्त मामले में, अपना ऐसा समाधान करने के लिए

दस्तावेज का निरीक्षण कर सकेगा कि क्या दस्तावेज के प्रकटन से, न्यायालय के समक्ष विचाराधीन विशिष्ट मामले में, लोकहित को कोई क्षति पहुंचेगी और इसलिए उन्मुक्ति का दावा स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। यह ठीक है कि निरीक्षण की इस शक्ति का प्रयोग केवल तभी किया जाना चाहिए जब न्यायालय को मंत्री या सैक्रेटरी द्वारा फाइल किए गए शपथ-पत्र पर, यदि कोई है, विचार करने के पश्चात् मामले के विवाद्यकों और उस दस्तावेज की सुसंगतता के बारे में, जिसके प्रकटन की मांग की गई है, कोई संदेह हो।''

पैरा 78 में, न्यायामूर्ति भगवती ने कहा है, ''न्यायालय—मंत्री या सैक्रेटरी द्वारा फाइल किए गए शपथ-पत्र से बाध्य नहीं है'' क्योंकि इन प्राधिकारियों का न्यायिक प्रशासन को क्षति पहुंचाने से संबंधित दूसरे पहलू से कोई संबंध नहीं है। पारस्परिक महत्व निश्चित करना न्यायालय का कार्य है। (पैरा 79 में उन्होंने कहा है कि किसी निरुद्ध किए गए व्यक्ति की स्वतंत्रता से संबंधित दस्तावेज प्रकट किए जाने चाहिएं) पैरा 80 में यह कहा गया था कि प्रकटन अवरुद्ध करने के लिए साबित करने का भार राज्य पर होगा। पैरा 80 में उन्होंने यह टिप्पणी की है :

''**श्रेणी उन्मुक्ति का सिद्धान्त, इस प्रकार अब अजेय नहीं रहा है;**

यह समीक्षा का प्रात्याख्यान नहीं कर सकेगा, यह कोई ऐसा मंत्र नहीं है न्यायालय जिसके समक्ष नतमस्तक रहेगा....और यह कार्य सरकार की पारदर्शिता के लोकतांत्रिक आदर्श के संदर्भ में किया जाएगा।''

न्यायामूर्ति भगवती के उपर्युक्त विचार एस.पी. गुप्ता के मामले में सात न्यायाधीशों की पीठ में से अधिकांश न्यायाधीशों द्वारा स्वीकार किए गए।

हमने उपर्युक्त विचारों के बारे में गहराई से अध्ययन किया है।

हमारा विचार है कि आज इंग्लिश विधि तथा भारतीय विधि लगभग समान हैं तथा लोकहित को क्षति तथा न्याय प्रशासन को क्षति के बीच संतुलन बनाए रखते हुए किसी दस्तावेज को प्रकट करने के बारे में निर्णय करने की अवशिष्ट शक्ति न्यायालय के पास है। **दस्तावेजों की ऐसी कोई श्रेणी नहीं है जिसे न्यायालय की समीक्षा से पूर्ण उन्मुक्ति प्राप्त हो।** साक्ष्य अधिनियम की धारा 162 तथा धारा 123 को एस.पी.गुप्ता के मामले में किए गए निर्णय को ध्यान में रखकर पढ़ना होगा।

श्री वेपा पी. सारथी ने कहा है कि विभागीय संसूचनाओं के संबंध में हमारी विधि व्यापक है और न्यायालय को निरीक्षण करने की पूरी शक्तियां प्रदान करती है, जो इंग्लिश विधि के अधीन उपलब्ध नहीं है। परन्तु जहां तक राज्य के कार्यकलापों का संबंध है, उसके विचार में ये शब्द, रक्षा, कानून और व्यवस्था तथा अन्य देशों के साथ राजनयिक संबंधों के लिए सीमित रहने चाहिएं।

धारा 123, धारा 124 और धारा 162 के बारे में अन्य विवरणों में जाने से पूर्व, हमें सूचना प्राप्त करने की स्वतंत्रता अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 5) का निर्देश करना होगा जो केन्द्रीय राजपत्र असाधारण, भाग-II, खंड-I तारीख 7-1-2003 को पृष्ठ 1 पर प्रकाशित हुआ था।

अधिनियम का आशय, जैसाकि इसकी प्रस्तावना में कहा गया है, लोक प्राधिकरणों के नियंत्रणाधीन सूचना प्राप्त करने के लिए, लोक हित के अनुरूप, प्रशासन में खुलेपन, पारदर्शिता और उत्तरदायित्व को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से, या इन से संबंधित तथा प्रासंगिक मामलों के संबंध में, प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता प्रदान करना है।

अधिनियम की धारा 2(च) लोक प्राधिकरण को किसी ऐसे प्राधिकरण या निकाय के रूप में परिभाषित किया गया है जो—

(i) संविधान द्वारा या उसके अधीन;

(ii) उपयुक्त सरकार, जिसमें वित्तपोषण कतिपय अन्य निकाय भी सम्मिलित है, द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा स्थापित या गठित किया गया है।

जहां तक धारा 8 के अधीन दी गई छूटों का संबंध है, वे सरकार के अभिलेखों के बारे में हैं। अत: धारा 2(च) का 'सरकार' को भी शामिल करते हुए व्यापक अर्थ निकाला जाएगा।

जहां तक 2003 के अधिनियम का साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 123, धारा 124 और धारा 162 पर प्रभाव का संबंध है, हम यह उल्लेख कर सकेंगे कि (क) दस्तावेज, जिनके बारे में उपर्युक्त अधिनियम 5/2003 के अधीन सूचना अनुज्ञात की गई है, (ख) ऐसी सूचना, जिसे उक्त अधिनियम की धारा 8 के अधीन छूट प्राप्त है—ये सभी धारा 123, 124 और 162 से नियंत्रित हैं, चाहे ये राज्य के कार्यकलापों के बारे में हैं या लोक अधिकारियों को दी गई संसूचनाएं हैं अथवा नहीं।

एस.पी. गुप्ता का मामला, जैसा कि 88वीं रिपोर्ट में स्वीकार किया गया हैं (और उसके सिद्धान्त, 69वीं रिपोर्ट में स्वीकृत किए गए हैं) और हमारे द्वारा स्वीकार किए गए ये सिद्धान्त कि न्यायालय सदैव किसी भी दस्तावेज को मंगा सकेगा और उसे देख सकेगा, एक ऐसी शक्ति है जो पूर्ण है और विश्व के सभी देशों ने स्वीकार की है। धारा 8 में जिन्हें छूट दी गई है वे भी इस शक्ति से शासित होंगे।

क्योंकि विधि स्पष्ट है, अत: हमारे विचार में, साक्ष्य अधिनियम में अधिनियम 5/2003 के बारे में कोई विशिष्ट उपबंध करना आवश्यक नहीं है।

तथापि, हमारा विचार है कि "राज्य के कार्यकलापों से संबंधित" अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों को किसी विशिष्ट श्रेणी में सीमित करने की आवश्यकता नहीं है और यह कार्य न्यायालयों के लिए छोड़ दिया गया है। दस्तावेजों की किसी श्रेणी को भी मान्यता देना आवश्यक नहीं है क्योंकि न्यायालय को, उपर्युक्त संतुलनकारी कार्य करते समय, सभी दस्तावेजों का निरीक्षण करने की शक्ति प्राप्त है, यदि वह ऐसा करना आवश्यक समझता है।

अब हम, धारा 123, 124 और 162 के संबंध में उठने वाले कतिपय अन्य पहलुओं का निर्देश करेंगे :

(क) धारा 123 के अधीन, दस्तावेज पेश किए जाने के बारे में उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय उच्च न्यायालय और भारत के उच्चतम न्यायालय में आपत्तियां उठ सकेंगी। उनके बारे में निर्णय लेने में कोई कठिनाई नहीं है। यदि आपत्ति उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय में उठाई जाती है परन्तु यदि यह उच्च न्यायालय के अधीनस्थ में उठाई जाती है और आपत्ति राज्य के कार्यकलापों के बारे में है और न्यायोचित आदेश द्वारा अस्वीकार कर दी जाती है, तो इसका परिणाम यह होगा कि उच्च न्यायालय द्वारा आधिकारिक निर्णय दिए जाने से पूर्व अभिलेख की अन्तर्वस्तु का सार्वजनिक रूप से प्रकटीकरण हो जाएगा। विधि आयोग की 88वीं रिपोर्ट में निःसंदेह ऐसे न्यायालय की आपत्ति को अस्वीकार करने के निर्णय के विरूद्ध सिविल या दांडिक कार्यवाही में, उच्च न्यायालय में अपील करने का अधिकार दिए जाने की सिफारिश की गई है। परन्तु हमारे विचार में, यदि उच्च न्यायालय का अधीनस्थ न्यायालय अभिलेख पेश किए जाने के बारे में आपत्ति को किसी विस्तृत आदेश द्वारा खारिज करता है, तो उच्चतम न्यायालय में अपील दायर किए जाने से पूर्व ही अन्तर्वस्तु अप्रत्यक्ष रूप से जनता तक पहुंच जाएगी। उच्च न्यायालय द्वारा प्रश्न पर आधिकारिक रूप से निर्णय दिए जाने से पूर्व, अभिलेख की अन्तर्वस्तु की गोपनीयता बनाए रखने के उद्देश्य से, हमारे विचार में अधीनस्थ न्यायालय को, जैसे ही आपत्ति उठाई जाए, या तो सिविल मामले में हो या दांडिक मामले में, इसके बारे में उच्च न्यायालय को निर्देश कर देना चाहिए।

(ख) अगला प्रश्न उच्च न्यायालय के अधीनस्थ सिविल या दांडिक न्यायालय की निर्देश करने की शक्ति के बारे में है। यहां समस्या का निर्देश करना होगा, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 113 के अधीन प्रत्येक सिविल न्यायालय किसी भी विधि के प्रश्न का निर्देश उच्च न्यायालय को कर सकेगा। परन्तु दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 395(2) निर्देश करने की शक्ति केवल सैशन न्यायालय या मैट्रोपालिटन न्यायालय को प्राप्त है अन्य दांडिक न्यायालयों को नहीं। इस समस्या का समाधान करने के उद्देश्य से हम धारा 123 की प्रस्तावित उपधारा में एक अध्यारोही खंड पुर:स्थापित करने का प्रस्ताव करते हैं जो उच्च न्यायालय के अधीनस्थ किसी भी न्यायालय को, चाहे सिविल न्यायालय हो या दांडिक, उच्च न्यायालय को निर्देश करने का अधिकार प्राप्त हो जाएगा।

(ग) जैसाकि आयोग की 69वीं रिपोर्ट तथा 88वीं रिपोर्ट में कहा गया है, धारा 123 और धारा 124 के बीच अतिव्याप्ति है। यदि धारा 123 के अधीन आने वाला कोई अभिलेख राज्य के कार्यकलापों के बारे में है और धारा 124 के अधीन किसी अधिकारी को शासकीय गोपनीयता के अधीन बताई गई शासकीय संसूचना से भी संबंधित है तब धारा 123(1) के अधीन विभागाध्यक्ष का प्रमाण-पत्र आवश्यक होगा और लोक अधिकारी को धारा 124 के अधीन भी निर्णय लेना होगा। इस प्रकार की अधिव्याप्ति से बचने के लिए, हम, जैसाकि 69वीं और 88वीं रिपोर्टों में निर्देश किया गया है, धारा 124 में एक पृथक उपबंध करने का प्रस्ताव करते हैं कि यदि किसी अधिकारी को दी गई गोपनीय संसूचना में राज्य के कार्यकलाप अन्तर्ग्रस्त हैं तो धारा 124 लागू नहीं होगी। जहां आपत्ति, जैसाकि धारा 123 के अधीन है, अभिलेख या ऐसे अभिलेख से व्युत्पन्न साक्ष्य से संबंधित हैं, राज्य के कार्यकलापों के बारे में है, (अभिलेख प्रकाशित न हुए हों) या जैसाकि धारा 124 के अधीन है, आपत्ति राज्य के कार्यकलापों से संबंधित शासकीय संसूचनाओं से संबंधित है, हम 69वीं और 88वीं रिपोर्टों की सिफारिश से सहमत हैं कि वहां केवल धारा 123 लागू होगी, धारा 124 नहीं।

(घ) 69वीं रिपोर्ट के पैरा 66.9 में, धारा 124 के बारे में और धाराओं की अधिव्याप्ति के बारे में विचार करते समय, यह कहा गया था कि धारा 123 अभिलेखों तक सीमित रहनी चाहिए और धारा 124 अधिकारी को दी गई मौखिक संसूचना तक।

यहां हमारे मत 69वीं रिपोर्ट से भिन्न है। धारा 123 (1) में "अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों से व्युत्पन्न साक्ष्य" शब्दों का प्रयोग किया गया है और इस प्रकार आपत्ति न केवल ऐसे अप्रकाशित अभिलेखों के पेश किए जाने के बारे में हो सकेगी अपितु अभिलेखों से व्युत्पन्न मौखिक साक्ष्य के बारे में भी होगी। दोनों ही परिस्थितियों में, यह राज्य के कार्यकलापों से संबंधित है। धारा 123 और धारा 124 में केवल एकमात्र अन्तर यह किया जा सकेगा कि राज्य के कार्यकलापों के बारे में सभी आपत्तियां केवल धारा 123 के अधीन आनी चाहिए धारा 124 के नहीं। परन्तु धारा 123 को केवल अभिलेखों तक और धारा 124 को मौखिक संसूचनाओं तक सीमित नहीं रखा जा सकेगा और हमारे विचार में धारा 123, राज्य के कार्यकलापों से संबंधित, अभिलेखों से व्युत्पन्न मौखिक साक्ष्य के लिए भी लागू होती है।

(ङ) इस प्रकार, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 66.19 में किया गया यह उल्लेख कि किसी अधिकारी से किया गया कथन, जो मौखिक है, दस्तावेजी नहीं, हमारे विचार से सही नहीं है। लोक अधिकारी से उस कथन को, जो उससे मौखिक रूप से किया गया है या किसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तु के बारे में जो उसे बताया गया है, प्रकट करने के लिए कहा जा सकेगा।

(च) इसे स्पष्ट करने के लिए हम धारा 123 में एक पृथक स्पष्टीकरण और धारा 124 में एक पृथक परन्तुक जोड़ने की सिफारिश करते हैं। धारा 124 में भी उपधारा (3) जोड़कर यह और स्पष्ट किया जाना चाहिए कि किसी भी लोक ऑफिसर को की गई संसूचना, यदि वह राज्य के कार्यकलापों से संबंधित है, केवल धारा 123 के अन्तर्गत आएगी।

69वीं और 88वीं रिपोर्टों में की गई सिफारिशों तथा निर्णय जनित विधि के घटनाक्रम पर विचार करने के पश्चात् हम सिफारिश करते हैं कि धारा 123 को निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित किया जाए:

राज्य के कार्यकलापों के बारे में साक्ष्य

"**123.** (1) इस धारा में जैसा अन्यथा उपबंधित है, के सिवाय-

(क) कोई भी व्यक्ति राज्य के किसी कार्यकलाप से संबंधित अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों से व्युत्पन्न साक्ष्य नहीं देगा; या

(ख) किसी भी लोक ऑफिसर को उसे शासकीय विश्वास में दी हुई राज्य के कार्यकलापों से संबंधित किसी मौखिक, लिखित या इलैक्ट्रानिक संसूचना को प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा।

जब तक कि सम्पृक्त विभाग के प्रमुख ऑफिसर ने ऐसा साक्ष्य देने के लिए अनुज्ञा न दे दी हो।

स्पष्टीकरण : खंड (क) के प्रयोजनों के लिए 'अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों से व्युत्पन्न साक्ष्य' अभिव्यक्ति से व्युत्पन्न मौखिक साक्ष्य तथा स्वयं ऐसे आलेख सम्मिलित हैं।

(2) उपधारा (1) में उल्लिखित सम्पृक्त विभाग प्रमुख ऑफिसर ऐसी अनुज्ञा तब तक विधारित नहीं करेगा जब तक कि उसका यह समाधान नहीं हो जाता कि ऐसा साक्ष्य देना लोक हित के लिए हानिकारक होगा; और जहां वह ऐसी अनुज्ञा विधारित करेगा, वहां ऐसी आपत्ति उठाने वाले न्यायालय में एक शपथ-पत्र दाखिल करेगा और ऐसी आपत्ति में इस आशय का एक कथन और उसके लिए अपने कारण बताएगा।

(3) जहां उपधारा (2) में निर्दिष्ट आपत्ति उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय में, चाहे वह सिविल न्यायालय हो या दांडिक न्यायालय, उठायी जाएगी वहां उक्त न्यायालय को तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, ऐसी आपत्ति की विधिमान्यता के प्रश्न को निर्णय के लिए उच्च न्यायालय को निर्दिष्ट करने की शक्ति होगी तथा निर्दिष्ट करेगा।

(4) उपधारा (3) के अन्तर्गत निर्दिष्ट किए जाने पर उच्च न्यायालय ऐसी आपत्ति की विधिमान्यता का विनिश्चय उपधारा (5) से (7) तक के उपबंधों के अनुसार करेगा तथा अपने निर्णय की एक प्रति उस न्यायालय को सम्प्रेषित करेगा जिसने उक्त न्यायालय को निर्णय के अनुसार उसे कार्यवाही करने के लिए मामला निर्दिष्ट किया था।

(5) जहां उच्च न्यायालय, उपधारा (3) के अन्तर्गत निर्दिष्ट किए जाने पर, इस राय का कि उपधारा (2) के अन्तर्गत दायर किए गए शपथ-पत्र में तथ्य या कारण पूरी तरह से नहीं बताए गए हैं, वहां उच्च न्यायालय ऐसे अधिकारियों या समुचित मामलों में विषय से संबंधित मंत्री से यह अपेक्षा कर सकेगा कि वह उस विषय में एक और शपथ-पत्र दाखिल करे।

(6) उच्च न्यायालय, यथास्थिति, शपथ-पत्र या अन्य शपथ-पत्र पर विचार करने के पश्चात्, और यदि वह उचित समझे तो, ऐसे अधिकारी या समुचित मामलों में मंत्री की जांच करने के पश्चात्-

(क) अप्रकाशित अभिलेखों को चैम्बरों में प्रस्तुत करने के लिए सम्मन जारी करेगा; और

(ख) चैम्बरों में अभिलेखों का निरीक्षण करेगा; और

(ग) इस प्रश्न का अवधारण करेगा कि क्या ऐसा साक्ष्य देना लोकहित के लिए हानिकर होगा या नहीं और उसके लिए कारणों को अभिलिखित करेगा।

(7) जहां उच्च न्यायालय, ने उपधारा (6) के खंड (ग) के अन्तर्गत यह अवधारण किया है कि ऐसा साक्ष्य देना लोकहित के लिए हानिकर नहीं होगा और उपधारा (2) के अन्तर्गत की गई आपत्ति को अस्वीकृत कर दिया हो, वहां ऐसे साक्ष्य पर उपधारा (1) के उपबंध लागू नहीं होंगे और इस प्रकार का साक्ष्य लिया जाएगा।

(8) जहां उपधारा (2) में निर्दिष्ट आपत्ति उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय में की गई हो, चाहे वह सिविल कार्यवाही या दांडिक कार्यवाही में की गई हो, उक्त न्यायालय ऐसी आपत्ति की विधिमान्यता का विनिश्चय उपधारा (5) से (7) में दी गई प्रक्रिया के अनुसार इस प्रकार करेगा जैसे कि उक्त आपत्ति की विधिमान्यता का प्रश्न उसे ही विनिर्दिष्ट किया गया था।"

धारा 162 : ''दस्तावेजों का पेश किया जाना''

हमने धारा 123 पर विचार करते समय धारा 162 पर भी विस्तार से चर्चा कर ली है।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 65.85, 65.92 तथा पैरा 93.102 में तथा 88वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी कि धारा 162 के दूसरे पैरे में 'राज्य की बातों' शब्दों का लोप किया जाए।

उसी के अनुसरण में, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 162 के दूसरे पैरे में 'यदि वह राज्य की बातों से संबंधित न हो' शब्दों का लोप किया जाए।

धारा 124 : ''शासकीय संसूचनाएं''

धारा 124 ''शासकीय संसूचनाओं'' से संबंधित है तथा इसका पाठ निम्नलिखित है:

''124. ''शासकीय संसूचनाएं'' : कोई भी लोक ऑफिसर, उसे शासकीय विश्वास में दी हुई संसूचनाओं को प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा जबकि वह यह समझता है कि उस प्रकटन से लोकहित की हानि होगी।''

भास चन्द्र बनाम चंद्रबासप्पा : ए.आई.आर. 1937 बम्बई 237 मामले में यह कहा गया था कि जहां दस्तावेज राज्य के कार्यकलापों से संबंधित हों, वहां धारा 123 में केवल विभाग के प्रमुख ऑफिसर से प्रमाण-पत्र लेने की अधिक विस्तृत प्रक्रिया लागू की जानी चाहिए, न कि ऑफिसर की राय लेने की धारा 124 में निर्धारित प्रक्रिया। न्यायालय को लोकहित के क्षति के बारे में अन्तिम रूप से विनिश्चय करना चाहिए। 69वीं रिपोर्ट एक अभिलेखागार के दस्तावेज से संबंधित थी (देखें पैरा 66.10) जिसके सन्दर्भ में केन्द्रीय सतर्कता के कार्यपालक न्यायिक दंडाधिकारी श्री पी.एस. मेलविले ने निम्नलिखित बात कही थी :

''यह उचित होगा कि इस धारा में 'जब तक की न्यायालय की अनुज्ञा न हो' शब्द जोड़े जाएं। कभी-कभी न्याय के लक्ष्य की दृष्टि से यह जरूरी हो जाता है कि जिस स्त्रोत से सूचना व्युत्पन्न की गई थी, विशेषरूप से पुलिस द्वारा, उसे प्रकाशित किया जाए।''

नारविच फार्माकोल कं. बनाम सीमाशुल्क आयुक्त : 1973(2) इला.ई.आर. 943 (एच.एल.) मामले में विसकाउंड दिलहार्न की निम्नलिखित टिप्पणियां (69वीं रिपोर्ट के पैरा 66.21 में उद्धृत) संगत हैं :

''मैं इस प्रस्थापना को स्वीकार नहीं करता कि किसी सरकारी विभाग को दी गई सम्पूर्ण सूचना गोपनीय मानी जाए और प्रकटन से उसका संरक्षण किया जाए लेकिन मैं इस बात से सहमत हूं कि वह सूचना सांविधिक शक्तियों के प्रयोग में प्राप्त की गई वैयक्तिक किस्म की सूचना हो और वह इस प्रकार की हो कि उसे देने वाले से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह उसका प्रयोग, जिस प्रयोजन के लिए दी गई थी उससे अन्य प्रयोजन के लिए करे या उसे किसी ऐसे व्यक्ति को प्रकट करे जो उस प्रयोजन से संबंधित न हो, ऐसी सूचना को प्रकटन से संरक्षित समझा जाना चाहिए चाहे उसके प्रकटन के लिए सांविधिक रूप से कोई प्रतिषेध न हो।''

(क) धारा 123 पर विचार करते समय हमने धारा 123 तथा धारा 124 में उनके वर्तमान रूप में क्या अन्तर है, उसका उल्लेख किया है। जब कोई दस्तावेज 'राज्य के कार्यकलापों' तथा विश्वास में लेकर दी गई संसूचनाओं दोनों से संबंधित होता है तथा उसमें इन दोनों का उल्लेख होता है तो, धारा 123 तथा 124 दोनों में दी गई प्रक्रियाओं की अतिव्याप्ति हो जाती है और आज दोनों प्रक्रियाओं का अनुसरण करना पड़ता है। इसके स्थान पर हम इस सिफारिश का प्रस्ताव करते

हैं कि धारा 124 को 'लोक ऑफिसर को विश्वास में लेकर दी गई उन सूचनाओं' तक सीमित रखा जाए जहां 'राज्य के कार्यकलाप' अन्तर्ग्रस्त न हों।

(ख) धारा 123 के अन्तर्गत अपनी चर्चा में हमने 69वीं रिपोर्ट के पैरा 69.13 से असहमति व्यक्त की थी जिसमें यह कहा गया था कि धारा 124 केवल 'मौखिक संसूचनाओं' से संबंधित है तथा धारा 123 'अभिलेखों' से संबंधित है। हमने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि दोनों ही धाराएं दस्तावेजी तथा मौखिक साक्ष्य से संबंधित हैं। हमने धारा 123(1) के अन्त में एक स्पष्टीकरण जोड़ दिया था। हमारा प्रस्ताव है कि इस बारे में धारा 124(2) में एक पृथक उपबंध जोड़ दिया जाए।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर, हम 69वीं रिपोर्ट से सैद्धान्तिक रूप से सहमत हैं।

(ग) इसके अतिरिक्त, 88वीं रिपोर्ट में हमने सिफारिश की थी कि धारा 124 के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले प्रश्न को जब किसी लम्बित मामले में विनिश्चित् किया जाए, चाहे वह सिविल कार्यवाही हो या दांडिक कार्यवाही, उच्च न्यायालय में अपील की जानी चाहिए। सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 तथा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में एक संशोधन करने की सिफारिश की गई थी ताकि धारा 123 तथा धारा 124 दोनों के प्रयोजनों के लिए अपील का उपबंध किया जा सके (69वीं रिपोर्ट में, धारा 123 या धारा 124 के अन्तर्गत किसी आक्षेप के विनिश्चय के लिए ऐसी किसी प्रकार की प्रक्रिया की सिफारिशें नहीं की गई थी)।

जहां हम 88वीं रिपोर्ट की इस बात से सहमत हैं कि धारा 123 के अन्तर्गत 'राज्य के कार्यकलापों' से संबंधित मुद्दों को उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालयों को विनिश्चित् करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए तथा हमने उच्च न्यायालय को निर्देश किए जाने की प्रक्रिया का उपबंध कर दिया था। हम नहीं समझते कि यदि धारा के अन्तर्गत विश्वास में लेकर की गई शासकी संसूचनाओं के प्रकटन के लिए किए आक्षेप को अस्वीकृत कर दिया जाता है तो अपील या निर्देश करना आवश्यक है। यदि 'राज्य के कार्यकलापों' से संबंधित मुद्दे उठते हैं, जिन पर धारा 123 की उपधारा (1) के खंड (ख) के अन्तर्गत कार्यवाही की जाएगी तो धारा 124 लागू नहीं की जा सकती। इसलिए, हमारे विचार से इसमें कोई अपील का निर्देश नहीं किया जाना चाहिए। इन सभी वर्षों में यदि उच्च न्यायालय के किसी अधीनस्थ न्यायालय ने आक्षेप को अस्वीकृत कर दिया तो न तो तत्काल कोई अपील की गई और न ही निर्देश। इसलिए, हम 88वीं रिपोर्ट से सहमत नहीं हैं तथा यदि उच्च न्यायालय के किसी अधीनस्थ न्यायालय में आक्षेप किया जाता है तो हम अपील या निर्देश का प्रस्ताव नहीं कर रहे हैं।

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 124 में निम्नलिखित संशोधन किया जाए :

शासकीय संसूचनाएं

"**124.** (1) धारा 123 के उपबंधों के अध्यधीन कोई भी लोक ऑफिसर उसे शासकीय विश्वास में दी हुई किसी मौखिक, लिखित या इलैक्ट्रानिक संसूचना को प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा जबकि न्यायालय यह समझता है कि ऐसे प्रकटन से लोकहित की हानि होगी।

(2) जब किसी लोक ऑफिसर से, जो कि साक्षी है, ऐसा प्रश्न पूछा जाता है जिसके लिए ऐसी किसी संसूचना के प्रकटन की आवश्यकता पड़ती है और वह ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के बारे में इस आधार पर आक्षेप करता है कि उसके प्रकटन से लोकहित की हानि होगी तो, न्यायालय उसके आक्षेप को अस्वीकृत करने से पूर्व अपने चैम्बर में उससे उसके आक्षेप के स्वरूप और उसके कारणों का पता लगायेगा।"

धारा 125 :

यह धारा 'अपराधों के करने के बारे में जानकारी' से संबंधित है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

"**125.** कोई भी मजिस्ट्रेट या पुलिस ऑफिसर यह कहने के लिए विवश नहीं किया जाएगा कि किसी अपराध के किए जाने के बारे में उसे कोई जानकारी कहां से मिली और किसी भी राजस्व ऑफिसर को यह कहने के लिए विवश नहीं किया जाएगा कि उसे लोक राजस्व के विरुद्ध किसी अपराध के किए जाने के बारे में कोई जानकारी कहां से मिली।

स्पष्टीकरण : इस धारा में राजस्व ऑफिसर से लोक राजस्व की किसी शाखा के कारबार में या के बारे में नियोजित ऑफिसर अभिप्रेत है।"

यह सिद्धान्त दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 162 तथा 172 में पाया गया है। यह कहा गया है कि किसी दांडिक अपराध के बारे में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 91 के अन्तर्गत (पुरानी धारा 94) दस्तावेज प्रस्तुत किए जाने के स्वविवेक का प्रयोग किया जाना चाहिए ताकि साक्ष्य अधिनियम की धारा 125 के साथ टकराव न हो (**आर बनाम बिलाल मोहम्मद :** ए.आई.आर. 1940 बम्बई 768)

69वीं रिपोर्ट में आयोग ने पूर्ववर्ती ब्रिटिश विधि का उल्लेख किया था जिसमें सूचनादाताओं की पहचान के बारे में संरक्षण प्रदान किया गया था जिसके प्रकटन से अभियुक्त को मदद मिलती थी [देखें **मार्क्स** बनाम **बेफस** : (1890) 25 क्यू.बी.डी. 494 (सीए); **रोजर्स बनाम रिचर्डसन** :(1863) 3 एफ एण्ड एफ 693, हार्डि (1794) 24, सेंट. टू. 751]

69वीं रिपोर्ट के पैरा 67.17 से 67.21 तक में आयोग ने परिवर्तन की आवश्यकता पर विचार किया था तथा विद्वेषपूर्ण अभियोजन के मामलों पर कार्यवाही की थी। यह अनुभव किया था कि जब तक वादी को उस सूचनादाता का नाम मालूम न हो जिसकी सूचना पर दूसरे व्यक्ति ने पुलिस को झूठी शिकायत की या जिसने न्यायालय में दांडिक कार्यवाही शुरु कर दी; तब तक वादी के लिए साक्ष्य प्रस्तुत करना कठिन होगा।

तत्पश्चात्, आयोग ने तीन वैकल्पिक प्रस्तावों का उल्लेख किया (देखें पैरा 67.21) तथा अन्तिम रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि तीसरा विकल्प, जिसके अन्तर्गत न्यायालय को विवेकाधिकार दिया गया था, सर्वोत्तम था। उसमें कहा गया था कि धारा को कुछ शिथिल किए जाने की आवश्यकता है।

"इस प्रकार का शिथिलीकरण इस धारा के अन्तर्निहित सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं होगा। किसी अपराध की सूचना ईमानदारीपूर्वक गलती से भी देने वाले किसी व्यक्ति को ऐसे प्रकटन से भय नहीं करना चाहिए। इसके साथ ही, बेईमानी से मिथ्या सूचना देने वाले व्यक्ति को उस समय संरक्षण देने की आवश्यकता नहीं है जहां उसके आचरण से व्यथित व्यक्ति क्षतिपूर्ति के लिए अपना विधिक दावा करना चाहता है।"

हम यह कहना चाहते हैं कि किसी सूचनादाता को, जिसने ऐसी सूचना दी है, जो सही है और अपराध के बारे में सच है, उस सीमा तक संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए जहां तक उसकी पहचान का प्रकटन उसके लिए हानिकर हो सकता है। यदि ईमानदार सूचनादाता अपराध के बारे में सूचना देने से निरूद्ध अनुभव करेंगे तो ऐसी पूरक सूचना का प्रकटन न होना लोकहित के लिए हानिकर हो सकता है। वे प्रतिशोध के भय से मौन रह सकते हैं।

हम धारा 125 के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं का उल्लेख करेंगे तथा उस संदर्भ में सबसे पहले ब्रिटिश विधि तथा उसके पश्चात् भारतीय विधि का उल्लेख करेंगे।

नागरिकों द्वारा पुलिस ऑफिसरों के विरुद्ध की गई उन शिकायतों के मामलों पर पहले से विचार किया जा चुका है जिनके परिणामस्वरूप विभागों द्वारा उन ऑफिसरों के विरुद्ध जांच की गई, एक्सपोर्ट विले : 1994 (3) आल.ई.आर. 420 मामले में धारा 123 और इस बात पर विचार किया गया था कि पुलिस ऑफिसरों से संबंधित रिकार्ड कहां तक मंगाया जा सकता

है और प्रकट किया जा सकता है। लेकिन यहां हम पुलिस को सूचना देने वालों और उनके विशेषाधिकार पर विचार करना चाहते हैं।

थॉमस हार्डी के मामले (1794) 24 हाउसेंट टू, 199 में जस्टिस आयर ने यह टिप्पणी की थी (देखें फिप्सन, 1999, 15वां संस्करण, पैरा 24.05) कि "सूचनादाताओं की पहचान अनावश्यक रूप से प्रकट नहीं की जानी चाहिए। यदि इस प्रकटन से यह प्रतीत हो कि मामले की सच्चाई की जांच के लिए सच में और वास्तव में यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति का नाम प्रकट किया जाना चाहिए तो उस पर मैं हस्ताक्षर नहीं करना चाहूंगा।" **मार्क्स** बनाम **बेफस** : (1890) 25 क्यू.बी.डी. 494 (सीए) मामले में लार्ड ईशर एम. आर. ने टिप्पणी की थी कि हालांकि प्रकट न करना लोकनीति का मामला है, लेकिन किसी कैदी के विचारण के समय न्यायाधीश की यह राय हो कि सूचनादाता के नाम का प्रकटीकरण आवश्यक है या कैदी की निर्दोषिता प्रकट करने की दृष्टि से सही है, तब एक लोकनीति का दूसरी लोकनीति से टकराव होता है तथा जिसमें यह कहा गया हो कि जब किसी निर्दोष व्यक्ति की निर्दोषिता साबित की जा सकती है तो उससे व्यक्ति की भर्त्सना नहीं की जानी चाहिए, यह ऐसी नीति है जो सर्वोपरि रहनी चाहिए। इस प्राधिकार की बात को लार्ड लेन मुख्य न्यायमूर्ति ने **आर** बनाम **हैलेट** : (1986) सी.आर.एल.एल.आर. 462 मामले में स्वीकार किया था। यही सिद्धान्त अपीलीय न्यायालय ने **आर** बनाम **अगरी** : (1990) 90 सी.आर.एप.रेप. 318 मामले में स्वीकार की थी।

जहां तक पुलिस निरीक्षण चौकियों का संबंध है, **आर** बनाम **रैफिन** : (1986) 83 सी.आर.एप.रेप 18 मामले में निगरानी के लिए प्रयुक्त स्थानों तथा उनकी पहचान के मामले पर विचार किया गया था और यही सिद्धान्त उन पर लागू किए गए थे।

आर बनाम **ब्रिक्स प्रिजन के गवर्नर** एक्सपोर्ट उसममा (1992) (1) आल.ई.आर. 108 मामले में, जो कि एक आपराधिक मामला था, मन्न एल.जे. और आगे स्पष्टीकरण किया था कि किसी मामले विशेष में न्यायालय को न्याय के हित में प्रकटन किए जाने में लोकहित का संतुलन करना चाहिए तथा आपराधिक मामले में न्याय के हितों को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए और स्वतंत्रता को अधिक महत्व देना चाहिए। इसमें **आर** बनाम **हैलेट** जैसे पहले के आपराधिक मामलों का दृष्टान्त नहीं दिया गया लेकिन जब एक अन्य मामले में अपीलीय न्यायालय (दांडिक डिवीजन) के समक्ष यह मामला आया, **आर** बनाम **फिएन** : (1994) 99 सी.आर.एल. अपील रैप, 1, तो सभी अधिकारी विद्वानों को उद्धृत किया गया था। **मार्क्स** बनाम **बेफल** मामले में लार्ड एशर तथा **उस्मान** मामले में मन्न एल.जे. के निर्णय का अनुमोदन किया गया। यह टिप्पणी की गई :

> "हम यह कहना चाहेंगे कि लार्ड एशर तथा मन्न एल.जे. द्वारा दिए गए दृष्टांतों में निकाला गया निष्कर्ष संतुलन स्थापन के प्रयास का परिणाम है न कि उसके निराकरण का। यदि विवादित सामग्री से प्रतिवादी की निर्दोषिता सिद्ध होती हो या न्याय के दुरुपयोग से बचा जा सकता हो तो उस सामग्री के प्रकटन से निश्चित रूप से संतुलन स्थापित होता है।"

साथ ही देखें एण्ड्यूज द्वारा (988) 104 एल.क्यू.आर. 410 में लोकहित तथा दांडिक कार्यवाही तथा **आर** बनाम **प्रेस्टन** : 1993 (4) आल.ई.आर. 638 (एच.एल.), **आर** बनाम **होर्सफैटी रोड मजिस्ट्रेटस** एक्सपोर्ट बैनेट (संख्या 2) 1994 (1) आल.ई.आर. 289।

'स्रोतों तथा सूचनादाता के संरक्षण' के संबंध में फिप्सन कहता है (15वां संस्करण, 2000, पैरा 24.23) :

> "सांविधिक संगठनों तथा अर्ध-सांविधिक संगठनों के कृत्य निष्पादन में सूचनादाताओं के महत्व को हाऊस ऑफ लार्डस् ने डी बनाम एन.एल.पी.सी.सी. : 1978 ए.सी. 171 मामले में स्वीकार किया था जिसमें, जिस सूचनादाता ने यह कहा था कि एक मां अपने बच्चे की पिटाई कर रही है, उसकी पहचान करने का काम रोक दिया गया था। लार्ड हैलशाम ने कहा था कि लोकहित का वर्गीकरण सीमित नहीं होता और उसमें समय-समय पर परिवर्तन होना चाहिए चाहे यह कार्य सीमीत करके किया जाये या उसका विस्तार करके, जिसमें सामाजिक स्थितियों तथा सामाजिक विधान में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखा जाना चाहिए ..... सूचना प्राप्त करने के लिए सांविधिक अथवा

अर्ध-सांविधिक शक्ति प्राप्त जांचकर्ताओं और स्वैच्छिक सूचना पर निर्भर करने वाले जांचकर्ताओं के बीच अन्तर किया जाना चाहिए।"

लेकिन जैसाकि हमने धारा 123 के अन्तर्गत अपनी टिप्पणियों में उल्लेख किया था कि उपर्युक्त कथन के साथ सहमति व्यक्त करते हुए लार्ड वुल्फ ने **एकपक्षीय विली** 1994 (3) आल.ई.आर. 420 (425 पर) (एच.एल.) मामले में यह स्पष्ट कर दिया था कि सामान्यतः उन्मुक्तियों की श्रेणी का विस्तार नहीं किया जाना चाहिए।

फिप्सन का कहना है कि सिविल और दांडिक कार्यवाहियों में किसी व्यक्ति की पहचान प्रकट न किए जाने के सिद्धान्त की शुरुआत 18वीं शताब्दी में हुई थी [**आर बनाम हार्डी** : (1794) 24 सैंट टू. 199] तथा मामलों का उल्लेख इसके पहले किया जा चुका है। फिप्सन का कहना है कि एकमात्र अपवाद यह है कि सूचनादाता के नाम के प्रकट किए जाने से व्यक्ति की निर्दोषिता सिद्ध करने में मदद मिले। निर्दोषिता सिद्ध हो जाने पर न्यायालय को संतुलनकारी कार्य करना चाहिए और यदि उससे निर्दोषिता सिद्ध करने में मदद मिलती है तो उसे प्रकट किया जाना चाहिए लेकिन समुचित संविक्षा करने के बाद ही ऐसा करना चाहिए। लेखक ने एक बार फिर **आर बनाम कीने** आदि में उल्लिखित मामलों को उद्धृत किया है।

लेखक का कहना है कि उन्मुक्ति पुलिस की कतिपय तकनीकों के बारे में भी हो सकती है। **गुडविन बनाम चीफ कांस्टेबल ऑफ लंकाशायर** : [दि टाइम्स, 3 नवम्बर, 1992 (सी.ए.] ; लेकिन अचिन्हित पुलिसकारों पर विचार करते समय **आर बनाम ब्राउन एण्ड डेली** : (1988) 87 सी.आर.एल.ए. रैप. 52 मामले में इससे विपरीत विचार व्यक्त किया गया था।

कनाडा के उच्चतम न्यायालय को भी कनाडियन चार्टर ऑफ राइटस् एण्ड फ्रीडम्स के अन्तर्गत **आर बनाम लीपर्ट** : (1997) 143 डी एल आर (चौथा) 38 (एस.सी.सी.) मामले में प्रतिवाद के संदर्भ में अज्ञातनामा सूचनादाताओं की इस समस्या से निपटना पड़ता था। न्यायालय ने कहा था कि सूचनादाताओं की पहचान को प्रकट न किए जाने के सिद्धान्त का आशय प्रतिशोध का निवारण करना है तथा **बिसेलोन बनाम कीबल** : 1983 (2) एस.सी.आर. 60 (105) तथा **आर बनाम स्काट** : (1990) (3) एस.सी.आर. 979 मामलों का उल्लेख किया था। न्यायालय ने **पीपुल्स बनाम फैलेन** : (1987) 194 कैब.ए.9 (3 डी) 558 या 587 मामले में, जोकि **आर बनाम लीपर्ट** के मामले की तरह एक अज्ञातनामा सूचनादाता का मामला था, कैलिफोर्निया से अमेरीका के मामले का उल्लेख किया था। न्यायालय ने निर्णय दिया कि अज्ञातनामा सूचनादाताओं की पहचान का निर्धारण या उसे प्रकट करने का काम पुलिस का नहीं है। इस तरह की जांच का दायित्व कठिन होगा। अनामिता 'क्राइम स्पर्स' तथा अन्य व्यक्तियों के कतिपय कार्यक्रमों की कुंजी है। सूचनादाता का विशेषाधिकार सम्राट का है : **सालिसिटर जनरल ऑफ कनाडा बनाम रॉयल कमीशन ऑफ इंक्वायर इनटू कान्फिडेंशियलिटी ऑफ हैल्थ रिकार्डस् ऑफ आनटारियो** : 1981 (2) एस.सी.आर. 494, सम्राट सूचनादाताओं की सहमति के बिना उसके विशेषाधिकार को समाप्त नहीं कर सकता। उस दृष्टि से वह विशेषाधिकार सूचनादाता का है। 'क्राइम स्पर्स' टेलीफोन पर अनाम बने रहते हैं। एकमात्र अपवाद इनोसेंस एट स्टेक के मामलों का है अर्थात् जहां अभियुक्त की निर्दोषिता साबित करने की दृष्टि से यह जरूरी होगा। अन्यथा विशेषाधिकार यथावत रहता है तथा सूचनादाताओं से संबंधित एक छोटे से पहलु का प्रकाशन नहीं होना चाहिए कहीं ऐसा न हो कि उससे खतरा पैदा हो [**आर बनाम गारोफोली** : 1990 (2) एस.सी.आर. 1421] 'इनोसेंस एट स्टेक' के अपवाद का निर्धारण लार्ड एशर ने **मार्क बनाम बेफस** : (1890) 25 क्यू.बी.डी. 494 (सीए) मामले में अपवाद के रूप में किया था। **आर** बनाम **लेपर्ट** मामले में, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, मैक्लेक्लीन जे. ने एक तर्क का उल्लेख किया था कि कनाडियन चार्टर द्वारा अपेक्षित एक अन्य अपवाद हो सकता है तथा यह निर्णय दिया था कि जिस सीमा तक सूचनादाता की पहचान से अभियुक्त को अपनी निर्दोषिता साबित करने में मदद मिलेगी, चार्टर सहायता करेगा। यह निर्णय दिया गया था कि मूल रूप से शाही दस्तावेजों के प्रकटन के बारे में चार्टर के अधिकार में, जिसकी **आर बनाम स्टिन कामब्ब** : 1991 (3) एस.सी.आर. 326 मामले में पुष्टि हो चुकी है तथा सूचनादाता के विशेषाधिकार के सामान्य विधि नियम के बीच कोई असंगति नहीं है।

उपर्युक्त मामले में यह बताया गया था कि अभियुक्त के लिए यह आधार प्रदर्शित करने की प्रक्रिया है कि सूचनादाता की पहचान उसकी निर्दोषिता साबित करने में मददगार रही तथा उसके पश्चात् न्यायालय यह अवधारित करने के लिए सूचना की पुनरीक्षा कर सका कि क्या सूचना अभियुक्त की निर्दोषिता साबित करने के लिए जरूरी थी। यदि न्यायालय ने यह निष्कर्ष

निकाला कि प्रकट करना आवश्यक था तो, न्यायालय को उतनी ही सूचना का प्रकाशन करना चाहिए जितना उसकी निर्दोषिता साबित करने के लिए आवश्यक हो। लेकिन सूचना प्रकट करने से पूर्व सम्राट को अभियुक्त की निर्दोषिता साबित करने में उसकी मदद करने के लिए पहचान प्रकाशित करने का अवसर दिया जाना चाहिए।

इंग्लैण्ड और कनाडा की इस निर्णय जनित विधि की पुनरीक्षा करने के बारे में अब हम भारतीय दृष्टिकोण का उल्लेख करेंगे।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 से पूर्व, भारत में विधि अधिक संकीर्ण थी। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने **इन रे महेश चन्द्र** : (1810) 3 डब्ल्यू.आर. पृष्ठ 1 (कलकत्ता) मामले में यह निर्णय दिया था कि किसी अपराधकर्ता का पता लगाने के लिए साक्षी द्वारा सरकार को दी गई सूचना के बारे में उक्त की जांच नहीं की जा सकती, यह नियम केवल राज्य के विरुद्ध किए गए अपराधों अथवा राजस्व विधियों के उल्लंघन तक सीमित है। उस समय ब्रिटिश विधि भी यही थी (69वीं रिपोर्ट का पैरा 67.4)।

हमारे विचार में इस अधिनियम की धारा 125 अत्यंत संकीर्ण है तथा इंग्लैण्ड, कनाडा तथा अन्य देश में विद्यमान वर्तमान अवधारणाओं के अनुरूप नहीं है। इसमें यदि किसी सूचनादाता की पहचान प्रकट करने से अभियुक्त की निर्दोषिता साबित करने में मदद मिलने की संभावना हो तो उसके लिए प्रावधान करने हेतु कोई उपबंध नहीं है। इसके अतिरिक्त, यदि पहचान प्रकट नहीं की जाती तो मानहानि और दुर्भावनापूर्ण अभियोजन के मामलों में गम्भीर बाधा पड़ेगी। किन्ही विशेष परिस्थितियों में पुलिस या मजिस्ट्रेट को मिथ्या सूचना देने वाला व्यक्ति दुर्भावनापूर्ण अभियोजन अथवा क्षतिपूर्ति का भागी हो सकता है। प्रिवी काउंसिल ने **गया प्रसाद** बनाम **भगत सिंह** : (1908) एच.आर. 30 आल. 525 मामले में यह स्वीकार किया था कि न केवल वह व्यक्ति, जिसने किसी न्यायालय को औपचारिक शिकायत की है बल्कि उस व्यक्ति के विरुद्ध भी वाद लाया जा सकता है जिसने पुलिस को मिथ्या शिकायत करके दांडिक विधि का प्रवर्तन करा दिया। इलाहाबाद, उड़ीसा, पटना, मध्य प्रदेश तथा आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालयों द्वारा इस सिद्धान्त को कई मामलों में लागू किया गया है (देखें 69वीं रिपोर्ट के पैरा 67.18 में उद्धृत निर्णय जनित विधि)। इन कुछ मामलों में यह निर्णय दिया गया था कि जो व्यक्ति पुलिस को सूचना देता है वही वास्तविक अभियोजक है तथा जिम्मेदार है।

अन्य समस्याएं भी हैं, जैसाकि सरकार के 15वें संस्करण, 1999, के पृष्ठ 2020—2024 पर उल्लिखित पूर्ववर्ती निर्णय जनित विधि से स्पष्ट है। **राज्य बनाम रणधीर** : ए.आई.आर. 1959 इला. 727 मामले में यह निर्णय दिया गया कि पुलिस ऑफिसर किसी अपराध के किए जाने के बारे में अपनी जानकारी के स्रोत को प्रकाशित करने से इंकार कर सकता है, जब लोकनीति की मांग यह है कि विचारण के समय सूचना को रोकने के लिए अभियोजन पक्ष के विरुद्ध कोई प्रतिकूल निहितार्थ न लगाया जाए। **अमृतलाल** बनाम **आर** : आई.एल.आर. 42 कलकत्ता 957 मामले में इंग्लिश विधि का अनुसरण करते हुए यह निर्णय दिया गया था कि राज्य द्वारा चलाए गए दांडिक अभियोजन में क्राउन के लिए बने साक्षियों को विशेषाधिकार प्राप्त है कि वे उस स्रोत का प्रकाशन कर सकते हैं जिसके माध्यम से उन्हें सूचना प्राप्त हुई अथवा सूचना संप्रेषित की गई। इसलिए, प्रतिवादी को यह हक नहीं है कि व्यक्तिगत अभियोजन साक्षियों से, चाहे वह जासूस हो या कोई सूचनादाता, और पुलिस ऑफिसरों से उन व्यक्तियों के नामों का पता लगाए, जिनसे उन्हें सूचना प्राप्त हुई। तथापि यह कहा गया था कि कोई भी गुप्तचर लोकनीति के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देने से इंकार नहीं कर सकता कि उसने वह गुप्त सूचना कहां से प्राप्त की। **मज्जू** बनाम **लक्ष्मण**: आई.एल.आर. 46 इला. 671 मामले में यह निर्णय दिया गया था कि किसी पुलिस स्टेशन में की गई रिपोर्ट यद्यपि पूर्ण विशेषाधिकार के नियम के अन्तर्गत नहीं आती तथापि यह प्रथम दृष्टया विशेषाधिकार प्राप्त है अर्थात् रिपोर्ट करने वाले व्यक्ति को ऐसा करने का अधिकार है यदि वह ईमानदारी से उस पर यकीन करता है और उसे प्राप्त करने वाले व्यक्ति का कर्त्तव्य उसे प्राप्त करना है। लेकिन विशेषित विशेषाधिकार के अन्तर्गत केवल विशेष संरक्षण प्रदान किया जा सकता है तथा मानहानि से आरोपित व्यक्ति को यह सिद्ध करना चाहिए कि उसने उस विशेषाधिकार का प्रयोग ईमानदारी से, तथा जो कुछ उसने कहा उसकी सच्चाई पर यकीन करते हुए तथा, दूसरे शब्दों में, यह कथन करने के पर्याप्त कारण मानते हुए किया। यह विशेषाधिकार केवल सूचनादाता की पहचान के बारे में लागू होता है न कि अभियोजक को दी गई संसूचना की विषय-वस्तु के

बारे में। यह निर्णय दिया गया है कि पुलिस, मजिस्ट्रेट तथा राजस्व अधिकारी, सीमाशुल्क अधिनियम के अन्तर्गत किए गए अपराधों के संबंध में, अन्य किसी कारण के बिना ही सूचनादाता के नाम का प्रकाशन करने के विशेषाधिकार का दावा कर सकते हैं [**असिस्टेंट कलक्टर ऑफ सेंट्रल एक्साइज, मद्रास** बनाम **टी. के. प्रसाद** : 1989, सी.आर.एल.एल.जे. (एन.यू.सी.) 28, 1988 मद्रास एल.डब्ल्यू. (सी आर आई) 338 (डी बी)]।

अपराध किए जाने के बारे में सूचना का स्रोत ही प्रतिषिद्ध है न कि किसी ऐसे दस्तावेज या अन्य सामग्री की अभिरक्षा, जिसे जब्त किया जा सकता था और साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था (**लोक अभियोजक** बनाम **गोविन्द राजा** : ए.आई.आर. 1954 मद्रास, 023)। यह संकल्पित विशेषाधिकार केवल सूचना के स्रोत के संबंध में है (**मुन्न सिंह तोमर** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** : 1989 सी.आर.एल.एल.जे. 580 (एम.पी.)। सरकार का कहना है (देखें वही पृष्ठ 2024) कि पुलिस के सामने किए गए कथन स्वभावतः गोपनीय हैं तथा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अन्तर्गत उस सीमित प्रयोजन का दृष्टांत दिया गया है, जिसके लिए उनका संरक्षण अपेक्षित होना चाहिए। धारा 125 या धारा 121, 124 में उल्लिखित धाराओं के अन्तर्गत उल्लिखित प्रश्न वर्जित नहीं हैं। वे केवल ऐसे विशेषाधिकार की बात करते हैं जिसे अधित्यक्त किया जा सकता है (**मुहम्मद अली** बनाम **आर** : 4 बुर.एल.टी. 113)। यह धारा लोकनीति पर आधारित है तथा गुप्तचर अथवा सूचनादाता के नाम और सूचना की प्रकृति का संरक्षण करती है तथा यह ऐसे सूचनादाता पर लागू नहीं होती जिसने शपथ पूर्वक सूचना दी हो तथा उसके आधार पर दांडिक कार्यवाही आरम्भ की गई हो (**लीलाधर** बनाम **आर** : 8 सिंध एल.आर. 309 : 29 आई. सी. 79)। पुलिस के गुप्तचर या सूचनादाता की परीक्षा न तो जरूरी है न ही वांछनीय (**राज्य** बनाम **धनपत** : ए.आई.आर. 1960 पटना 582)।

हमारे विचार से भारत की उपर्युक्त निर्णय जनित विधि के अन्तर्गत ऐसे मामले नहीं आते जहां अभियुक्त की पहचान से अभियुक्त को अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने में मदद मिलती हो—यह सिद्धान्त उतना ही पुरा है जितना कि मार्क्स बनाम **बेफसः** (1840) 25 क्यू.बी.डी. 494 (सीए)। इससे मानहानि के वाद में वादी को मदद नहीं मिलती और न ही उस स्थिति में, जबकि द्वेषपूर्ण अभियोजन पक्ष समुचित व्यक्ति पर मुकदमा करना चाहता है। इससे किसी व्यक्ति को यह जानने में भी मदद नहीं मिलती कि वास्तविक अभियोजक कौन है ? इंग्लैण्ड, कनाडा तथा अमेरिका में विधि इतनी कठोर नहीं है जितनी कि धारा 125। अन्ततः विवेकाधिकार तो न्यायालय का ही है।

इन स्थितियों में हम यह मानते हैं कि 69वीं रिपोर्ट के पैरा 67.21 में उल्लिखित तीसरा विकल्प सही है तथा सिफ़ारिश करते हैं कि धारा 125 के नीचे एक अपवाद अन्तःस्थापित किया जाए, जैसाकि पैरा 67.22 में बताया गया है। हम उक्त सिफारिश से सहमत हैं।

इस प्रकार, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 125 के नीचे निम्नलिखित 'अपवाद' जोड़ा जाए

"<u>अपवाद</u> : इस धारा की कोई भी बात लागू नहीं होगी जहां न्यायालय को यह प्रतीत हो कि सूचना देना ऐसा विवादास्पद तथ्य है जिस पर किसी पक्षकार की दायिता निर्भर करती है या वह अन्यथा महत्वपूर्ण तथ्य है तथा न्यायालय, कारणों को अभिलिखित करके तथा न्याय के हित में, मजिस्ट्रेट, पुलिस ऑफिसर या राजस्व अधिकार द्वारा ऐसी सूचना के प्रकटन का निर्देश देता है।"

धारा 126, 127, 128 तथा 129 साथ-साथ लागू होंगी।

<u>धारा 126</u> :

यह धारा निम्न प्रकार है :

"126. कोई भी बेरिस्टर, एटर्नी, प्लीडर या वकील अपने कक्षीकार की अभिव्यक्त सम्मति के सिवाय ऐसी किसी संसूचना को प्रकट करने करने के लिए, जो उसके ऐसे बेरिस्टर, एटर्नी, प्लीडर या वकील की हैसियत में नियोजन के अनुक्रम में, या के प्रयोजनार्थ या उसके कक्षीकार द्वारा या की ओर से उसे दी गई हो अथवा किसी दस्तावेज को,

जिससे वह अपने वृत्तिक नियोजन के अनुक्रम में या प्रयोजनार्थ परिचित हो गया है, अन्तर्वस्तु या दशा कथित करने को अथवा किसी सलाह को, जो ऐसे नियोजन के अनुक्रम में या के प्रयोजनार्थ उसने अपने कक्षीकार" को दी है, प्रकट करने के लिए किसी भी समय अनुज्ञात नहीं किया जाएगा :

परन्तु इस धारा की कोई भी बात निम्नलिखित बात को प्रकटीकरण से संरक्षण न देगी —

(1) किसी भी अवैध प्रयोजन को अग्रसर करने में दी गई कोई भी ऐसी संसूचना ;

(2) ऐसा कोई भी तथ्य, जो बेरिस्टर, एटर्नी, प्लीडर या वकील ने अपनी ऐसी हैसियत में नियोजन के अनुक्रम में संप्रेक्षित किया हो, और जिससे यह दर्शित हो कि उसके नियोजन के प्रारम्भ के पश्चात् कोई अपराध या कपट किया गया है। यह तत्वहीन है कि ऐसे बेरिस्टर, एटर्नी, प्लीडर या वकील का ध्यान ऐसे तथ्य के प्रति उसके कक्षीकार के द्वारा या की ओर आकर्षित किया गया था या नहीं।

<u>स्पष्टीकरण</u> : इस धारा में कथित बाध्यता नियोजन के अवसित हो जाने के उपरान्त भी बनी रहती है।"

धारा 126 के नीचे तीन दृष्टांत दिए गए हैं। दृष्टांत (क) में कहा गया है कि जब कोई कक्षीकार अपने एटर्नी से कहता है कि मैंने कूट रचना की है तथा मैं चाहता हूँ कि आप मेरी प्रतिरक्षा के लिए वृत्तिक सहायता करें ; वह संसूचना प्रकटन से संरक्षित है क्योंकि वकील दोषी पाए गए व्यक्ति की प्रतिरक्षा के लिए बाध्य है। दृष्टांत (ख) में कहा गया है कि एक कक्षीकार अपने एटर्नी को सूचित करते हुए कहता है कि मैं सम्पत्ति पर कब्जा प्राप्त करने के लिए कूट विलेख करना चाहता हूं और कहता है कि ऐसी संसूचना संरक्षित नहीं है क्योंकि यह आपराधिक आशय को दर्शाती है। दृष्टांत (ग) में एक ऐसे मामले का उल्लेख है, जिसमें कक्षीकार पर निधियों के गबन का आरोप लगाया गया है तो एटर्नी लेखा पुस्तक में एक ऐसी प्रविष्टि संप्रेक्षित करता है, जो वहां उस समय नहीं थी जब उसे नियोजित किया गया था और जो उसके कक्षीकार द्वारा आरोप से निकलने के लिए बाद में की गई प्रतीत होती है। उक्त तथ्य प्रकटीकरण से संरक्षित नहीं है।

हम यहां धारा 127, 128 और 129 का भी उल्लेख करते हैं।

<u>धारा 127</u> का शीर्षक इस प्रकार है "धारा 126 दुभाषियों आदि को लागू न होगी"। इस धारा का पाठ इस प्रकार है :

"127. धारा 126 का उपबंध दुभाषियों, और बेरिस्टरों, एटर्नियों, प्लीडरों और वकीलों के लिपिकों या सेवकों को लागू होंगे।"

<u>धारा 128</u> : इसका शीर्षक इस प्रकार है "साक्ष्य देने के लिए स्वमेव उद्यत होने से विशेषाधिकार अभित्यक्त नहीं हो जाता।" यह धारा इस प्रकार है :

"128. यदि किसी वाद का कोई पक्षकार स्वप्रेरणा से ही या अन्यथा उसमें साक्ष्य देता है तो, यह न समझा जाएगा कि तद्द्वारा उसने ऐसे प्रकटन के लिए, जैसा धारा 126 में वर्णित है, सम्मति दे दी है, तथा यदि किसी वाद या कार्यवाही का कोई पक्षकार ऐसे किसी बेरिस्टर, एटर्नी, प्लीडर या वकील को साक्षी के रूप में बुलाता है तो, यह कि उसने ऐसे प्रकटन के लिए अपनी सम्मति दे दी है, केवल तभी समझा जाएगा जबकि वह ऐसे बेरिस्टर, एटर्नी, प्लीडर या वकील से उन बातों के बारे में प्रश्न करे जिनके प्रकटन के लिए वह ऐसे प्रश्नों के अभाव में स्वाधीन न होता।"

<u>धारा 129</u> : इस धारा का शीर्षक इस प्रकार है : "विधि सलाहकारों से गोपनीय संसूचनाएं। यह धारा इस प्रकार है:"

"129. कोई भी व्यक्ति किसी गोपनीय संसूचना को जो उसके और उसके विधि वृत्तिक सलाहकार के बीच हुई है, न्यायालय को प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा, जब तक कि वह अपने को साक्षी के तौर पर पेश न कर दे; ऐसे पेश करने की दशा में किन्हीं भी ऐसी संसूचनाओं को, जिन्हें उसे किसी साक्ष्य को स्पष्ट करने के लिए जानना,

जो उसने दिया है, न्यायालय को आवश्यक प्रतीत हो, प्रकट करने के लिए विवश किया जा सकेगा किन्तु किन्हीं भी अन्य संसूचनाओं को नहीं ।"

इससे यह स्पष्ट है कि जहां धारा 126 किसी विधि व्यवसायी को विधि व्यवसायी आदि के रूप में अपने नियोजन के अनुक्रम में या के प्रयोजनार्थ उसे दी गई किसी संसूचना का प्रकटन करने से प्रवारित करती है वहीं धारा 129 अनुपूरक है तथा कक्षीकार को अपने तथा अपने विधि वृत्तिक सलाहकार के बीच की किसी गोपनीय संसूचना के प्रकटीकरण के बाध्य किए जाने से संरक्षण प्रदान करती है। धारा 127, दुभाषियों या वकील के क्लर्क या नौकर द्वारा प्रकटीकरण न किए जाने के बारे में है। धारा 128, किसी वाद के पक्षकार को किसी भी संसूचना के प्रकटीकरण से संरक्षण प्रदान करती है चाहे उस साक्ष्य को स्वमेव या अन्यथा दिया हो लेकिन यही धारा विधि व्यवसायी द्वारा प्रकटीकरण की अनुज्ञा देती है यदि वाद का कोई पक्षकार अपने विधि व्यवसायी को साक्षी के रूप में बुलाता है और उन संसूचनाओं आदि के बारे में उससे प्रश्न करता है।

अब यदि धारा 126, 127 तथा 128 में बेरिस्टर, एटर्नी, प्लीडर और वकील शब्दों के स्थान पर, जैसाकि 69वीं रिपोर्ट के अध्याय 68 में सुझाव दिया गया है, 'विधि व्यवसायी' शब्द प्रस्थापित कर दिया जाए तो कोई कठिनाई नहीं होगी। स्पष्टीकरण–2 का प्रस्ताव किया गया है, जिसमें 'विधि व्यवसायी' शब्द को परिभाषित किया गया है। धारा 129 में 'विधि वृत्तिक सलाहकार' शब्द का प्रयोग किया है तथा 69वीं रिपोर्ट में इसे यथावत् छोड़ दिया गया है। इसे यथावत् छोड़ा जा सकता हैं।

धारा 126 में, मुख्य धारा में तथा परन्तुक में और उदाहरण में प्रयुक्त शब्द 'नियोजित' को 69वीं रिपोर्ट में कथित रूप में प्रतिस्थापित किया जा सकता है। 69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया है कि धारा 126 के परन्तुक में एक नये अपवाद का समावेश किया जाए, जिसमें यह उपबंध किया गया हो कि विशेषाधिकार किसी कक्षीकार और विधि व्यवसायी के बीच की किसी कार्यवाही में, चाहे वह सिविल हो या दांडिक, लागू नहीं होगा। इस सिफारिश के बारे में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

लेकिन जिन कई अन्य पहलुओं का 69वीं रिपोर्ट में उल्लेख नहीं किया गया है, उनका उल्लेख करना पड़ेगा क्योंकि विधि के क्षेत्र में हाल ही में कई परिवर्तन हुए हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या इस नये घटनाक्रम को देखते हुए विधि में कोई परिवर्तन करने होंगे या फिर इस धारा वर्ग के ढांचे में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए।

धारा 123 से लेकर धारा 125 तथा धारा 162 तक हम देख चुके हैं कि जहां कहीं भी मूल अधिनियम में प्रकटीकरण न किए जाने के विरुद्ध विशेषाधिकार की बात कही गई है, वहीं एक अपवाद का सुझाव भी दिया गया है जिससे यदि न्यायिक प्रशासन को सूचना के प्रकटीकरण की स्थिति में होने वाली लोक क्षति तथा सूचना के प्रकटीकरण के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए ऐसे प्रकटीकरण की आवश्यकता हो तो, न्यायालय सूचना के प्रकटीकरण का आदेश दे सके। प्रश्न यह है कि यही सिद्धान्त विधि व्यवसायी तथा उसके कक्षीकार के बीच संसूचना पर क्यों नहीं लागू होना चाहिए तथा क्या इस मामले को न्यायालय पर छोड़ दिया जाना चाहिए ?

किसी समय **आर** बनाम **कर्टन** : 1972(2) आल.ई.आर. 1192 तथा **आर** बनाम **अतारू** : 1988(2) आल.ई.आर. 321 मामलों में यह निर्धारित किया गया था कि यदि किसी सालिसिटर के पास या उसके नियंत्रण में ऐसे दस्तावेज हैं जिन्हें प्रस्तुत करने से किसी अभियुक्त व्यक्ति की रक्षा करने में मदद मिलती हो तो, इस पर कोई विशेषाधिकार लागू नहीं होता। यह भी कहा गया था कि 'विरोधी हितों में संतुलन' का कार्य न्यायालय को करना होगा।

लेकिन हाल ही में **आर** बनाम **डर्बीशायर** मजिस्ट्रेट्स् कोर्ट एक्सपोर्ट वी 1995(4) आल.ई.आर. 526 मामले में हाऊस ऑफ लार्ड्स् द्वारा इन दोनों निर्णयों को नामंजूर कर दिया गया है। इस मामले में तथ्य यह था कि 1978 में आवेदक को हत्या के आरोप से मुक्त कर दिया गया था क्योंकि हत्या की बात स्वीकार करते हुए जहां विभिन्न बयान दिए गए वहीं बाद में वह उनसे मुकर गया था और उल्टा अपने सौतेले पिता पर हत्या का आरोप लगा दिया था। 1992 में सौतेले पिता पर हत्या का आरोप लगा और सुपुर्दगी कार्यवाही में प्रार्थी को क्राउन का साक्षी बनाया गया। सौतेले पिता के काउंसल ने उससे अनुदेशों के बारे में प्रतिपरीक्षा की जो उसने 1978 में अपने सालिसिटर को दी थी, जो उसके अपने उस बयान के अनुरूप नहीं थी जिसके द्वारा उसने अपने सौतेले पिता के ऊपर आरोप लगाया था। प्रार्थी ने अपने विशेषाधिकार का अधित्यजन करने से इंकार कर दिया

तथा काउंसल ने उन अनुदेशों को प्रस्तुत किए जाने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता, 1865 की धारा 4 तथा 5 के अन्तर्गत आवेदन किया। मजिस्ट्रेट ने प्रार्थी को इन दस्तावेजों को इस आधार पर प्रस्तुत करने का निर्देश दिया कि उनके महत्वपूर्ण साक्ष्य होने की सम्भावना थी तथा सभी संगत सूचना न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए लोकहित का आधार भी बताया। लेकिन लार्ड टेलर ने निर्णय दिया कि आर बनाम बर्डीन : 1994 (2) आल.ई.आर. 478 के अन्तर्गत अभियोजन में प्रकटीकरण के कर्त्तव्य से धारा 97 पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। वकील के विशेषाधिकार का सम्पूर्ण इतिहास भी बताया गया। कारण यह बताया गया कि यदि वकील को सूचना प्रकट करनी पड़े तो कक्षीकार का विश्वास अनिवार्यतः समाप्त हो जाता है। उससे प्रत्येक वकील को कोई भी कार्य इस शर्त के साथ स्वीकार करना होगा कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसे संसूचना को प्रकट करने के लिए विवश होना पड़ सकता है और इस प्रकार की शर्त के साथ काउंसल की सेवाएं लेने से विश्वास के सिद्धान्त का महत्व कम हो जाएगा। जहां तक 'लोकहित' और न्यायालय द्वारा उसके संतुल की बात है, उन्होंने बताया कि केवल इस वजह से कि अन्य मामलों में भी ऐसा ही करना पड़ेगा, इस बात को वकील और कक्षीकार संबंध पर अनिवार्यतः लागू किए जाने की आवश्यकता नहीं है। लार्ड टेलर ने निम्नलिखित टिप्पणी की :

> ''जहां तक लोकहित उन्मुक्ति के सादृश्य की बात है, मैं यह स्वीकार करता हूं कि ऐसे मामलों की जिन विभिन्न श्रेणियों में असंगत साक्ष्य को अपवर्जित किया गया हो, ग्लैसडेल के लार्ड साइमन के सुझाव के अनुसार वहां उन्हें सतत् प्रक्रिया का अंग माना जाना चाहिए। लेकिन वस्तुतः होता यह है कि चूंकि एक प्रकार के मामलों में संतुलनकारी प्रक्रिया की आवश्यकता पड़ती है इसलिए दूसरे प्रकार के मामलों में भी इसकी अनुमति दी जा सकती है। विधिक वृत्तिक विशेषाधिकार तथा लोकहित उन्मुक्ति मौलिक रूप से उतने ही भिन्न है जितनी की उनकी व्याप्ति। दूसरे शब्दों में, यदि विधि वृत्तिक विशेषाधिकार के मामले में किसी संतुलनकारी प्रक्रिया की आवश्यकता है तो वह तो सोलहवीं शताब्दी में अन्तिम रूप से कर ली गई थी और यह सिद्धान्त उसके बाद से, कक्षीकार की निजी विशेषताओं के बावजूद प्रत्येक मामले में समान रूप से लागू होता है।''

इस विशेषाधिकार को न केवल अपीलार्थी के हित में बरकरार रखा जाना चाहिए बल्कि एतद्पश्चात् उन सभी के व्यापक हित में बरकरार रखा जाना चाहिए जिन्हें अपने सालिसिटरों से संपूर्ण सच्चाई बताने से अन्यथा विरत कर दिया गया है। इसलिए, मेरा विचार है कि विधि वृत्तिक विशेषाधिकार सुनिश्चित हो जाने पर उसकी मूल प्रकृति के बारे में किसी प्रकार के अपवाद की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। लार्ड टेलर ने इस कथन का औचित्य सिद्ध करने के लिए कि विधि वृत्तिक विशेषाधिकार एक ऐसी मूलभूत शर्त है जिस पर न्यायिक प्रशासन आधारित है, यूरोपीयन कनवेंशन ऑन ह्यूमन राइटस् की सहायता ली थी।

लार्ड निकोलस ने इस संतुलनकारी प्रक्रिया को एक छलावा बताया था। लेकिन कुछ टिप्पणीकारों (देखें स्टीव यूग्लो. ऐवीडेंस एण्ड मेटीरियल्स् 1997, पृष्ठ 207) का कहना है कि जिस कन्वेंशन के आधार पर लार्ड टेलर ने अपनी बात कही है उसी ने अनुच्छेद 5 में कहा है कि स्वतंत्रता का अधिकार एक मूलभूत अवधारणा है। उनका कहना है कि यदि किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता किसी तीसरे पक्षकार और उसके वकील के बीच की संसूचना के प्रकटीकरण पर आधारित है तो यह कहना बेतुका होगा कि विधि वृत्तिक विशेषाधिकार को प्रत्येक परिस्थिति में उस क्षति से अधिक महत्व दिया जाना चाहिए जो किसी निर्दोष व्यक्ति को लम्बी अवधि के कारावास की सजा से हुई होती। लेखक का कहना है कि इससे विधि के शासन में तथा दांडिक न्याय प्रक्रिया में जनता का विश्वास निश्चित रूप से प्रभावित होगा।

लेखक का यह भी कहना है कि कन्वेंशन के अन्तर्गत इस पहलू से संबंधित विधि भिन्न है। ए.एम.एण्ड एस. यूरोप लिमिटेड बनाम ई.सी. कमीशन : (1983) 1 आल. ई. आर. 705 (ई.सी.) मामले में महाअधिवक्ता गार्नर ने यूरोपीयन समुदाय में विधि का उल्लेख करते हुए यह टिप्पणी की थी :

> ''उसने (अपीलार्थी ने) निवेदन किया था कि वकील तथा कक्षीकार के बीच गोपनीय संसूचना का अधिकार एक मूलभूत मानवाधिकार है। मेरे विचार से ऐसा नहीं है। वह है यूरोपीयन कन्वेंशन में इस रूप में, या प्रत्यक्ष रूप में किसी भी सदस्य देश के संविधान में इसका कोई उल्लेख नहीं है तथा माननीय न्यायाधीश पहले ही कह चुके हैं कि इंग्लैण्ड

में और कम से कम फ्रांस में तो इसे एक ऐसा अधिकार माना गया है, जिसका अधिरोहण हो सकता है या किसी समुचित शब्दावली वाली विधि से उसमें उपान्तरण किया जा सकता है। मेरी राय में, यह एक ऐसा अधिकार है जिसे सामान्यतः सभी सभ्य देश मानते हैं तथा इस अधिकार की इतनी सहजता से उपेक्षा नहीं की जा सकती लेकिन इस अधिकार की जड़ें इतनी गहरी भी नहीं हैं कि यूरोपीयन समुदाय में कोई भी काउंसिल कभी इसके अधिरोहण या इसमें उपांतरण करने के लिए विधि नहीं बना सकती।"

हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या हमें ऐसा कोई उपबंध अन्तःस्थापित करना चाहिए जो न्यायालय को यह संतुलनकारी प्रक्रिया अपनाने की अनुमति देता हो?

इस संदर्भ में, हम उन कुछ व्यवहारिक कठिनाईयों का उल्लेख करना चाहेंगे जिनके बारे में 1995 में **डब्लीशायर मजिस्ट्रेट मामले** में लार्ड निकोलस के भाषण में बताया गया था। इस स्थिति पर गौर करें जहां अभियुक्त 'ग' अन्य सहअभियुक्त 'क' द्वारा वकील 'ख' से कही गई बात का प्रकटीकरण चाहता है। ऐसे में यदि 'क' ने अपने वकील 'ख' से यह कहा हो कि, अपराध 'ग' ने नहीं 'क' ने किया था और वह 'ख' को वह संसूचना प्रकट करने का निर्देश दे तो उससे 'क' का मामला संकट में पड़ जाएगा। अभियोजन पक्ष न तो 'क' से और न ही उसके वकील से 'क' के अपराध के लिए साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए कह सकता है चाहे ऐसी संसूचना से अपराधी 'ग' अपराध के दोष से मुक्त होता हो। लार्ड निकोलस ने निम्नलिखित टिप्पणी की थी (देखें 1955 (4) आल.ई.आर. पृष्ट 545) :

"इसमें वास्तव में कठिनाइयां हैं। स्वविवेक का प्रयोग करने में न्यायालय को अनिवार्य रूप से इस असम्भव कार्य को करना होगा। जो वस्तु किसी एक व्यक्ति के लिए अमृत हो सकती ही वही दूसरे के लिए विष हो सकती है। प्रतिवाद के नाम पर एक मामूली से सिविल क्लेम या आपराधिक आरोप की गंभीर आपराधिक आरोप से समानता कैसे की जा सकती है? कोई भी व्यक्ति किसी कक्षीकार की मानहानि के जोखिम या जनता के तिरस्कार की सम्भावना का, दूसरे व्यक्ति के हत्या के आरोप का संभावित प्रतिवाद के साथ संतुलन किस प्रकार से स्थापित कर सकता है? लेकिन कठिनाइयां और भी अधिक गम्भीर हैं। क्या अभियोजन पक्ष केवल इस आधार पर प्रकटीकरण करा सकता है कि दोषी व्यक्ति को सिद्धदोष ठहराने में लोकहित है? यदि नहीं, तो क्यों नहीं? यदि हां, तो ऐसी सिविल कार्यवाही में, जहां प्रतिवादी ने कथित रूप से सैंकड़ों लोगों से उनकी पेंशन की राशि या जीवन भर की कमाई की राशि ठग ली हो, गम्भीर दावों के समर्थन में प्रकटीकरण में क्या हानि है? या ऐसे पारिवारिक मुकदमें में क्या ऐसी कोई बात नहीं है जो सभी प्रकार से उपलब्ध संतुलनकारी प्रक्रिया को रोकती हो? इससे इस प्रक्रिया की असम्भव्यता का पता चलता है। ऐसा कौन सा उपाय है जिसके द्वारा न्यायाधीश विभिन्न प्रकार के सिविल या दंड के दावों तथा एक और कक्षीकार के अन्य हितों और दूसरी ओर प्रकटीकरण कराने वाले व्यक्ति के हितों के बीच समुचित संतुलन स्थापित कर सकें?

इन प्रश्नों तथा इसी तरह के अन्य प्रश्नों का कोई सुनिर्धारित और सुनिश्चित उत्तर न होने से और मेरे विचार से ऐसा कोई उत्तर है भी नहीं, यह निष्कर्ष निकालने से बचा नहीं जा सकता कि इस क्षेत्र में संतुलनकारी प्रक्रिया की कोई भी सम्भावना भ्रामक है। वास्तव में एक छलावा है। सुस्थापित विधि प्रक्रिया से विरत न होने के लिए यही अपने आप में पर्याप्त कारण हैं। विधि के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिए इससे अधिक सुदृढ़ आधार होना चाहिए।"

हम इस विचार से सहमत हैं कि ऐसे बहुत से ठोस कारण हैं कि किसी को विधि की इस शाखा में अनधिकृत दखल क्यों नहीं करना चाहिए। इसलिए, हम 69वीं रिपोर्ट की इस बात से सहमत हैं कि धारा 123 के संबंध में संस्तुत किए गए उपबंध की तरह का उपबंध सम्मिलित करने के लिए धारा 126 में के उपबंध में किसी तरह का संशोधन करने की आवश्यकता नहीं है ताकि लोकहित की क्षति के प्रश्न पर न्यायालय अन्तिम रूप से फैसला दे सके।

सिफारिशों पर आगे विचार करने से पूर्व हम संक्षेप में वर्ष 1977, जबकि 69वीं रिपोर्ट प्रस्तुत की गई थी, से अब तक न्यायालयों द्वारा दिए गए कुछ निर्णयों का उल्लेख करना चाहेंगे। **पी.आर. रामाकृष्णन** बनाम **सुब्बारामा शास्त्रीमल** ; ए.आई.आर. 1988 केरल 18 मामले में कहा गया था कि धारा 126 तथा 127 में किए गए निषेध तथा धारा 129 में समाविष्ट संसूचना के संरक्षण का आशय एडवोकेट तथा उसके कक्षीकार के बीच संसूचनाओं को गोपनीय बनाए रखना है। **एन. सुवास**

बनाम **इमानुअल जोस** : ए.आई.आर. 1996 केरल 7 मामले में यह कहा गया था कि धारा 126 को देखते हुए काउंसल को अपने कक्षीकार से प्राप्त किसी भी जानकारी को प्रकट करने या ऐसे किसी भी दस्तावेज की अन्तर्वस्तु को बताने, जिससे वह अपने वृत्तिक नियोजन के दौरान परीचित हुआ है, से वंचित कर दिया गया है। वह ऐसी किसी सलाह को भी प्रकट नहीं कर सकता जो उसने अपने कक्षीकार को दी हो। ऐसे निषेधों की सीमाओं से बाहर उसके साक्ष्य का क्या लाभ ? जब काउंसिल को साक्षी बनाया जाता है तो व्यवहारिक परिणाम होता है। उस स्थिति में वह उस मामले में उसे वकील के रूप में अपनी नियुक्ति को छोड़ना पड़ेगा। यह इस व्यवसाय का एक पूर्ववर्ती आचार मानक था और अब बार काउंसिल ऑफ इन्डिया के नियमों के भाग–6 के अध्याय–2 के नियम 13 के अन्तर्गत इसे आचरण नियम का रूप दे दिया गया है।

मंदेशन बनाम **केरल राज्य** : 1995 सी.आर.एल. एल.जे. 61(केरल) मामले में यह निर्णय दिया गया था कि कक्षीकार के पक्ष में धारा 126 में निहित विशेषाधिकार को, कक्षीकार के परित्याग अथवा चुपचाप स्वीकार कर लेने के आधर पर शिथिल नहीं किया जा सकता। विशेषाधिकार का दावा करने के कक्षीकार की असफलता का इस सीमा तक विस्तार नहीं किया जा सकता कि उसका अर्थ धारा 126 में परिकल्पित 'स्पष्ट स्वीकृति' लगाया जा सके।

बी. रवि बनाम **केरल राज्य** : 1994 सी.आर.एल. एल.जे. 62(केरल) मामले में यह निर्णय दिया गया था कि किसी विधि व्यवसायी का यह साक्ष्य कि वह घटनास्थल से आधे किलोमीटर दूर रहता है तथा मध्यक्षेप की रात्रि को अभियुक्त अकेला ही उसके घर पर आया था, धारा 126 के अन्तर्गत नहीं आता।

ऐसा कोई अधिवक्ता, जिसे यह सिद्ध करने के लिए बुलाया गया हो कि प्रतिबादी को नोटिस भेजा गया था, धारा 126 के अन्तर्गत विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकता। इसके पक्ष को संसूचित किसी नोटिस की विषय–वस्तु में कुछ भी गोपनीय नहीं होता (**पी.जी. अनन्तशयनम** बनाम **मिरियालासथी राजू** : ए.आई.आर. 1998 ए.पी. 336; **राजम्मा** बनाम **चिन्नैया** : 1997 (2) एल.डब्ल्यू. आर. 253) (देखें सरकार 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 2035)। किसी वकील द्वारा जवाबी नोटिस में जो कहा जाता है, वह स्पष्टत: वही होता है जो उसने अन्य व्यक्तियों तथा विशेषरूप से विपक्षी के वकील को बताया है और इसलिए उसे धारा 126 के अन्तर्गत संरक्षण नहीं दिया जा सकता। **शवरेण्ड फादर बर्नार्ड थट्टिल** बनाम **रामचन्द्रन पिल्लै** : 1987 सी.आर.एल. एल. जे. 740 (केरल)।

किसी वकील का ऐसा रजिस्टर, जिसमें कक्षीकार द्वारा प्रतिपरीक्षा के प्रयोजन से दिए गए अनुदेश हों, एक विशेषाधिकृत दस्तावेज तथा वकील को वह रजिस्टर न्यायालय को दिखाने से इंकार करने का हक है (**सुपरिंटेंडेंट एण्ड रिमेम्ब्रेंसर ऑफ लीगल एफेयर्स, पश्चिम बंगाल** बनाम **सत्येन भौमिक** : ए.आई.आर. 1981 एस.सी. 917)।

एक मामले में एक मोटर दुर्घटना के बारे में मामले में इंश्योरेंस कम्पनी के साथ समझौता कराने का प्रयास किया गया। समझौते से संबंधित कम्पनी की फाइल, दिल्ली उच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार, प्रस्तुत करने का आदेश नहीं दिया जा सका क्योंकि दावेदार के काउंसिल तथा इंश्योरेंस कम्पनी के बीच की संसचूना भी विशेषाधिकार युक्त हैं (**आर. लाभालिंगम** बनाम **पी.आर. ठाकुर** :ए.आई.आर. 1982 दिल्ली 486)।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 68.37 में सुझाये गये सीमित परिवर्तनों से सहमत हैं। हम सिफारिश करते हैं कि धारा 126 में निम्नलिखित रूप में संशोधन किया जाए :

वृत्तिक संसूचनाएं

"126. कोई भी विधि व्यवसायी, अपने कक्षीकार की अभिव्यक्त सम्मति के सिवाय ऐसी किसी संसूचना को प्रकट करने के लिए, जो उसके वृत्तिक नियोजन के अनुक्रम में या के प्रयोजनार्थ उसके कक्षीकार द्वारा या उसकी ओर से उसे दी गई हो या किसी दस्तावेज की जिससे वह अपने वृत्तिक नियोजन के अनुक्रम या प्रयोजनार्थ परिचित हो गया है अन्तर्वस्तु या दशा कथित करने को अथवा किसी सलाह को जो उसने ऐसे नियोजन के अनुक्रम में और के प्रयोजनार्थ अपने कक्षीकार को दी है, प्रकट करने के लिए किसी भी समय अनुज्ञात नहीं किया जाएगा :

परन्तु इस धारा की कोई भी बात निम्नलिखित बात को प्रकटीकरण से संरक्षण में देगी--

(क) किसी भी अवैध प्रयोजन को अग्रसर करने में दी गई कोई भी ऐसी संसूचना;

(ख) ऐसा कोई भी तथ्य, जो विधि व्यवसायी ने अपनी ऐसी हैसियत में नियोजन के अनुक्रम में संप्रेक्षित किया हो, और जिससे यह दर्शित हो कि उसके नियोजन के प्रारम्भ के पश्चात् कोई अपराध या कपट किया गया है।

(ग) ऐसी कोई भी संसूचना जब विधि व्यवसायी और कक्षीकार के बीच वृत्तिक नियोजन के कारण उत्पन्न किसी वाद में या ऐसी किसी कार्यवाही में जिसमें कक्षीकार का विधि व्यवसायी के विरुद्ध अपराध के लिए अभियोजन किया गया है या विधि व्यवसायी का, अपने कक्षीकार के विरुद्ध, वृत्तिक नियोजन से उत्पन्न किसी अपराध के लिए अभियोजन किया गया है, प्रकट की जानी अपेक्षित हो।

स्पष्टीकरण-1 : इस धारा में कथित बाध्यता नियोजन के अवसित हो जाने के उपरान्त भी बनी रहती है।

स्पष्टीकरण-2 : इस धारा में तथा धारा 127 से 129 में 'विधि व्यवसायी' अथवा 'विधि वृत्तिक सलाहकार' अभिव्यक्ति में ऐसा कोई भी व्यक्ति शामिल है जो, विधि द्वारा, किसी व्यक्ति की ओर से किसी न्यायिक अथवा प्रशासनिक अधिकरण के समक्ष उपस्थित होने के लिए सशक्त है; और कक्षीकार अभिव्यक्ति का भी तदनुसार अर्थ लगाया जाएगा।

स्पष्टीकरण-3 : इस धारा के परन्तुक के खंड (ख) के प्रयोजन के लिए, यह तत्वहीन है कि ऐसे विधि व्यवसायी का ध्यान ऐसे तथ्य के प्रति उसके कक्षीकार द्वारा या की ओर से आकर्षित किया गया था या नहीं।

दृष्टांत

(क) कक्षीकार 'क' विधि व्यवसायी से कहता है—मैंने कूट रचना की है और मैं चाहता हूं कि आप मेरी प्रतिरक्षा के लिए वृत्तिक सहायता करें;

यह संसूचना प्रकटन से संरक्षित है क्योंकि ऐसे व्यक्ति की प्रतिरक्षा अपराधिक प्रयोजन नहीं है जिसका दोषी होना ज्ञात हो।

(ख) कक्षीकार 'क' विधि व्यवसायी से कहता है : मैंने सम्पत्ति पर कब्जा कूट विरचित विलेख के उपयोग द्वारा अभिप्राप्त करना चाहता हूं और उसके आधार पर वाद लाने की आपसे प्रार्थना करता हूँ।

यह संसूचना आपराधिक प्रयोजन के अग्रसर करने में की गई होने से प्रकटन से संरक्षित नहीं है।

(ग) 'क' पर गबन का आरोप लगाये जाने पर वह अपनी प्रतिरक्षा करने के लिए विधि व्यवसायी 'ख' को प्रतिधारित करता है। कार्यवाही के अनुक्रम में 'ख' देखता है कि उसने उस रकम का गबन कर लिया है तथा प्रविष्टि उसके वृत्तिक नियोजन के आरम्भ के समय उस बही में नहीं था।

यह 'ख' द्वारा अपने नियोजन के अनुक्रम में सम्प्रेक्षित ऐसा तथ्य होने से, जिससे दर्शित होता है कि कपट उस कार्यवाही के प्रारम्भ होने के पश्चात् किया गया है, प्रकटन से संरक्षित नहीं है"

<u>धारा 127, 128</u> :

जहां तक धारा 127 और 128 का संबंध है, हम सिफारिश करते हैं कि इन सभी धाराओं में, 'बैरिस्टरों', 'प्लीडरों', 'अटर्नियों', तथा 'वकीलों'—शब्दों के स्थान पर 'विधि व्यवसायी' शब्द प्रतिस्थापित किया जाये।

<u>धारा 129</u> :

यह धारा 'विधिक सलाहकारों' से गोपनीय संसूचना से संबंधित है। धारा 129 में किसी परिवर्तन का प्रस्ताव नहीं किया गया है।

<u>धारा 130</u> :

यह धारा 'जो साक्षी पक्षकार नहीं है उसके हक विलेखों को पेश किए जाने' से संबंधित है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

"**धारा 130.** कोई भी साक्षी, जो वाद का पक्षकार नहीं है। किसी सम्पत्ति संबंधी अपने हक विलेखों को, या किसी ऐसे दस्तावेज को, जिसके बल पर वह गिरवीदार या बंधककार के रूप में कोई सम्पत्ति धारण करता है या किसी

दस्तावेज को, जिसका पेश करना उसे अपराध में फंसाने की प्रवृत्ति रखता है, पेश करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा, जब तक कि उसने ऐसे विलेखों के पेश करने की ईप्सा रखने वाले व्यक्ति के साथ या ऐसे किसी व्यक्ति के साथ, जिससे व्युत्पन्न अधिकार से वह व्यक्ति दावा करता है, उन्हें पेश करने का लिखित करार न कर लिया हो।"

इस धारा को धारा 131 और 132 के साथ पढ़ा जाना चाहिए। धारा 131, किसी व्यक्ति के कब्जे के किसी ऐसे दस्तावेज को, जिन्हें कोई अन्य व्यक्ति यदि ये दस्तावेज उसके कब्जे में होते तो उन्हें पेश करने का हकदार होता, पेश किए जाने का प्रतिबंध करती है। धारा 132 के अन्तर्गत किसी साक्षी को ऐसे प्रश्न का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है जो उसे अपराध में फंसाएगा।

जहां तक सिविल कार्यवाहियों का संबंध है, इंग्लैण्ड में अब इस नियम को समाप्त कर दिया गया है तथा अब किसी भी व्यक्ति को ऐसे दस्तावेज पेश करने के लिए विवश किया जा सकता है। [सिविल साक्ष्य अधिनियम, 1968 की धारा 16(2)] विधि सुधार समिति ने सिविल कार्यवाहियों के संबंध में इस विशेषाधिकार को समाप्त करना सर्वोत्तम समझा है (16वीं रिपोर्ट, क्रमांक 3472)। 69वीं रिपोर्ट में हक विलेखों के उल्लेख का लोप कर दिए जाने की सिफारिश की गई थी क्योंकि आजकल 100 रुपये से ऊपर मूल्य के सभी हक विलेखों का रजिस्ट्रेशन करना जरूरी है तथा इस मामले में कोई गोपनीयता नहीं है।

धारा 130, वाद के पक्षकारों पर लागू नहीं होती। लेकिन सिविल तथा आपराधिक कार्यवाहियों में, यदि दस्तावेज उसे अपराध में नहीं फंसाता तो, धारा 130 का यह विशेषाधिकार लागू नहीं होता। सिविल प्रक्रिया संहिता के नियम 6 के आदेश 16 के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति को साक्ष्य देने के लिए बुलाये बिना भी दस्तावेज को प्रस्तुत करने के लिए सम्मन दिया जा सकता है। साक्ष्य अधिनियम की धारा 162 के अन्तर्गत यदि साक्षी विशेषाधिकार का दावा करना चाहता है तो उसे दस्तावेज लाना होगा। धारा 165 के अन्तर्गत न्यायाधीश को किसी साक्षी को ऐसा कोई दस्तावेज पेश करने के लिए विवश करने की शक्ति नहीं है जिसे वह धारा 121—131 के अन्तर्गत पेश करने से इंकार करने का हकदार है। (जैसाकि पहले कहा जा चुका है, केवल धारा 123, 124 तथा 162 के सिवाय)।

यदि कोई साक्षी वाद का पक्षकार नहीं है तो, उसके कब्जे के दस्तावेजों के प्रकटीकरण तथा निरीक्षण का आवेदन सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 11 से विनियमित होता है।

यह धारा इस सिद्धान्त पर आधारित है कि किसी भी पक्षकार को साक्षी की सम्पत्ति के हक की अनावश्यक जांच पड़ताल करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। बैस्ट का कहना है (धारा 128 तथा 128क) कि सिद्धान्त यह है कि दो या दो से अधिक पक्षकारों के बीच की कार्यवाही में साक्षी की किसी अन्य सम्पत्ति का हक ऐसा मुद्दा नहीं बनना चाहिए जिसके बारे में न्यायालय अपना निर्णय दे।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 69.2 तथा 69.3 में तथा सरकार द्वारा (15वां संस्करण, 1999, पृष्ट 2053) इंग्लिश विधि के बारे में जो कुछ कहा गया है उससे पता चलता है कि यदि हक के सभी दस्तावेज अनिवार्य रजिस्ट्रेशन के अध्यधीन हैं तो धारा 130 के पहले भाग से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। इसलिए, इंग्लैण्ड में इसी आशय वाले सिद्धान्त 1968 में विधि द्वारा समाप्त कर दिए गए थे। 69वीं रिपोर्ट में भी इसी तरह की सिफारिश की गई थी, जिसमें कहा गया था कि अचल सम्पत्ति संबंधी समस्त दस्तावेज भारत में अनिवार्य रूप से रजिस्टर्ड कराये जाने चाहिएं :

परन्तु हमें इस बारे में पर्याप्त संदेह है कि यह मान लेना कहां तक सही होगा कि हक के सभी दस्तावेज रजिस्ट्री योग्य हैं। वसीयतों की बात ही लीजिए, तो उनका अनिवार्य रजिस्ट्रेशन नहीं होता। इसी प्रकार हक विलेखों को जमा करके, बंधक रखने के जिन मामलों में जमाज्ञापन की भाषा जैसाकि स्टैण्डर्ड प्रपत्र के अनुसार सामान्यतः बैंकों में प्रचलित है, के अनुसार भी रजिस्ट्रेशन अपेक्षित नहीं है। इसके अतिरिक्त, परिवार बंदोबस्ती, प्रतिकूल कब्जे द्वारा हक अर्जन, सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 53क के अन्तर्गत अंश निष्पादन के सिद्धान्त के अन्तर्गत अपने वाले विक्रय करार के अधीन कब्जे या अन्य मामले हैं जहां सम्पत्ति को व्यवहार में किसी साझीदार द्वारा फर्म की सम्पत्ति में शामिल कर लिया गया है जिससे वह फर्म की सम्पत्ति हो जाती है। यदि कोई साक्षी, जिसका हक इनमें से किसी श्रेणी में आता है, तो धारा 130 के पहले भाग का लोप हो जाने पर वह प्रश्नों के उत्तर देने का भागी होगा। 69वीं रिपोर्ट में इन पहलुओं पर विचार नहीं किया गया था। इसलिए, हम पैरा 69.10 में 'सम्पत्ति के उसके हक विलेखों' शब्दों का लोप किए जाने की सिफारिश से सहमत नहीं है। इसी तरह, यदि पहले पैरे में

'दस्तावेज' शब्द पर करार रहता है तो दूसरे पैरे में 'दस्तावेजों' के लिए 'एकल' शब्द का प्रयोग किए जाने के सुझाव की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

इसलिए हम, जैसाकि ऊपर बताया गया है केवल सीमित परिवर्तन की सिफारिश करते हैं तथा यह धारा संशोधित होने के पश्चात् इस प्रकार होनी चाहिए :

> "जब तक कि उसने ऐसे विलेखों के पेश करने की ईप्सा रखने वाले व्यक्ति के साथ, या किसी ऐसे व्यक्ति के साथ जिससे व्युत्पन्न अधिकार से वह व्यक्ति दावा करता है, उन्हें पेश करने का लिखित करार न कर लिया हो" शब्दों के स्थान पर निम्नलिखित प्रतिस्थापित किया जाएगा, अर्थात् —
>
> "जब तक कि ऐसे साक्षी ने उससे ऐसी अपेक्षा करने वाले पक्षकार या ऐसे पक्षकार के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति के साथ लिखित करार न कर लिया हो।"

<u>धारा 131</u> :

इस धारा में अधिनियम संख्या 21/2000 के द्वारा संशोधन किया गया था तथा यह धारा उन 'दस्तावेजों या इलैक्ट्रानिक रिकार्डों के पेश किए जाने से संबंधित है, जिन्हें कोई दूसरा व्यक्ति, जिसका उन पर कब्जा है, पेश करने से इंकार कर सकता था'। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

> "**धारा 131.** कोई भी व्यक्ति अपने कब्जे में के ऐसे दस्तावेजों को पेश करने के लिए, जिनको पेश करने से कोई अन्य व्यक्ति यदि उसके कब्जे में होते, इंकार करने का हकदार होता, विवश नहीं किया जाएगा, जब तक कि ऐसा अन्तिम वर्णित व्यक्ति उनके पेशकरण के लिए सम्मति नहीं देता।"

धारा 131, किसी साक्षी के कब्जे में अन्य व्यक्ति के दस्तावेजों अर्थात् ऐसे दस्तावेजों से संबंधित हैं जो, साक्षी के कब्जे में भौतिक रूप से होने के कारण वास्तव में उस दूसरे व्यक्ति की सम्पत्ति है, जिसे उन्हें पेश किए जाने पर आपत्ति करने का अधिकार है। इसका विस्तार एजेन्टों अर्थात् मालिक के वकील, सेवक या न्यासी, जिसके पास सम्पत्ति गिरवी रखी गई हों आदि, अर्थात् दस्तावेज के कब्जे वाले तक हैं तथा उसे वही विशेषाधिकार प्राप्त हैं जो उस व्यक्ति को है, जिसकी सम्पत्ति है। वस्तुतः, यदि सम्पत्ति का स्वामी अपनी सम्पत्ति देता है तो, साक्षी जिसके कब्जे में वह सम्पत्ति है, उस दस्तावेज को पेश करने से इंकार नहीं कर सकता।

लेकिन सामान्य रूप से पढने से इस धारा से यह पता नहीं चलता कि इसका अर्थ वही है जो, हमने पिछले पैरा में बताया है। 69वीं रिपोर्ट में इस बात का सही उल्लेख किया गया था कि जिस व्यक्ति के कब्जे में दस्तावेज हैं, वह उस व्यक्ति के लिए सम्प्रेषणीय है, जिसके पास उस दस्तावेज का 'अस्थायी कब्जा' है। हमारे विचार से 'अस्थाई' शब्द अपूर्ण अर्थसूचक है तथा इसका लोप कर दिया जाना चाहिए। 'नियंत्रण' शब्द का भी लोप कर दिया जाना चाहिए। यह सिफारिश भी की गई थी कि 'विवश करने योग्य' शब्द के स्थान पर 'अनुज्ञात' शब्द प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए अन्यथा विशेषाधिकार का अर्थ उस व्यक्ति के विशेषाधिकार से लगाया जाएगा, जिसके कब्जे में दस्तावेज हैं जैसे एजेन्ट, जो विशेषाधिकार का परित्याग कर सकता है। लेकिन वास्तव में एजेन्ट को मूल व्यक्ति के विशेषाधिकार का परित्याग करने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

हम इस बात से सहमत हैं कि धारा 131 में इस प्रकार संशोधन किया जाना चाहिए। 69वीं रिपोर्ट के पैरा 69.12 में प्रस्तावित धारा 131 निम्न प्रकार है :

> "किसी भी व्यक्ति को अपने कब्जे में विद्यमान ऐसे दस्तावेज को पेश करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा, जिन्हें कोई और व्यक्ति यदि वे दस्तावेज उसके कब्जे में होते, पेश करने से इंकार करने का हकदार होता, जब तक कि इस प्रकार के आखिरी व्यक्ति ने उनके पेशीकरण करने के लिए सम्मति न दी हो।"

लेकिन हमारे विचार से 'कोई भी व्यक्ति' शब्द इस धारा में निहित वास्तविक सिद्धान्त को व्यंजित नहीं करता। हमारा विचार है कि निम्नलिखित प्रारूप बेहतर होगा :

> **उन दस्तावेजों या इलैक्ट्रानिक रिकार्डों का पेश किया जाना जिन्हें कोई व्यक्ति, जिसका उन पर कब्जा है, पेश करने से इंकार कर सकता था**

कोई भी व्यक्ति, जिसके कब्जे या नियंत्रण में दूसरे व्यक्ति के दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड हैं, यदि वह व्यक्ति, जिसके वे दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड हैं, यदि वे उस व्यक्ति के कब्जे या नियंत्रण में होते तो वह उन्हें पेश करने से इंकार करने का हकदार होता, उक्त दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड पेश करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा।

परन्तु उस व्यक्ति को, जिसके कब्जे या नियंत्रण में दूसरे व्यक्ति के दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड हैं, उन्हें पेश करने के लिए विवश नहीं किया जा सकेगा यदि वह व्यक्ति, जिसके वे हैं, उन्हें पेश किये जाने की सम्मति देता है।''

हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

<u>धारा 132</u> :

यह धारा 'साक्षी इस आधार पर कि उत्तर उसे अपराध में फंसायेगा, उत्तर देने से क्षम्य न होगा', विषय से संबंधित है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

''132. कोई साक्षी किसी वाद का किसी सिविल या दांडिक कार्यवाही में विवाद्यक विषय से सुसंगत किसी विषय के बारे में किए गए प्रश्न का उत्तर देने से इस आधार परक्षम्य नहीं होगा कि ऐसे प्रश्न का उत्तर ऐसे साक्षी को अपराध में फंसायेगा या उसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अपराध में फंसाने की होगी अथवा वह ऐसे साक्षी को किसी किस्म की शास्ति या समपहरण के लिए उच्छन्न करेगा या उसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उच्छन्न करने की होगी।

परन्तुक : परन्तु ऐसा कोई भी उत्तर जिसे देने के लिए कोई साक्षी विवश किया जाएगा, उसे गिरफ्तारी या अभियोजन के अध्यधीन नहीं करेगा और न ऐसे उत्तर द्वारा मिथ्या साक्ष्य देने के लिए अभियोजन में के सिवाय वह उसके विरूद्ध किसी दांडिक कार्यवाही में साबित किया जाएगा।''

यहां सिद्धान्त यह है कि स्वयं के अपराध में फंसने के विरुद्ध अधिकार केवल उस व्यक्ति को है जो किसी 'अपराध' का 'अभियुक्त' है और साक्षी नहीं, सिवाय उसके जब वह एक अभियुक्त है,—उसका वह उत्तर, जो उसे अपराध में फंसाता है, उसका प्रयोग उसके विरुद्ध गिरफ्तारी, अभियोजन या किसी दांडिक कार्यवाही में नहीं किया जा सकता। एकमात्र अपवाद झूठी गवाही के लिए उसे दण्डित करने हेतु दांडिक कार्यवाही है।

स्वयं को अपराध में फंसने के बारे में भारत के संविधान के अनुच्छेद 20(3) के उपबंध तब तक लागू नहीं होते जब तक कि कोई व्यक्ति किसी आपराधिक मामले में किसी अपराध का अभियुक्त नहीं है। किसी भी अभियुक्त व्यक्ति को मौन रहने का अधिकार है तथा समुचित संदेह से परे दोषसिद्ध करने का दायित्व अभियोजन पक्ष का है। लेकिन जब किसी व्यक्ति की ऐसे मामले में परीक्षा की जाती है जहां वह व्यक्ति किसी अपराध का अभियुक्त नहीं है, वहां उसे संरक्षण प्राप्त नहीं है। 'अपराध' शब्द को सामान्य खंड अधिनियम की धारा 2(38) में भारतीय दंड संहिता या किसी विशेष अथवा स्थानीय विधि के अन्तर्गत दंडनीय अपराध के रूप में परिभाषित किया गया है।

69वीं रिपोर्ट वर्ष 1977 में प्रस्तुत की गई थी और उस समय तक उच्चतम न्यायालय द्वारा तीन निर्णय दिए गए थे, दो वर्ष 1968 में तथा एक वर्ष 1971 में । वर्ष 1971 के पश्चात् दो निर्णय और दिए गए, एक वर्ष 1980 में और दूसरा 1989 में । विनिश्चय धारा 132 के विभिन्न पहलूओं से संबंधित हैं और भारत के संविधान के अनुच्छेद 20(3) का निर्वचन भी करते हैं। जैसाकि हम दर्शाएंगे, उच्चतम न्यायालय के अनुच्छेद 20(3) और धारा 132 के निर्वचन के कारण ये निर्णय 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों से संबंधित हैं।

अब, अनुच्छेद 20(3) किसी 'अपराध' के किसी 'अभियुक्त' व्यक्ति को आत्म दोषारोपण के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है और धारा 132 के परन्तुक में इन्हीं आधारों पर संरक्षण का उपबंध किया गया है। 'विवश' शब्द का प्रयोग धारा 132 के परन्तुक में किया गया है (धारा के मुख्य भाग में नहीं)। जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में चर्चा की गई है, उच्च न्यायालयों में ऐसे प्रश्न उठे हैं कि क्या ऐसे व्यक्ति को जो स्वेच्छा से कोई कथन करता है, धारा 132 का संरक्षण प्राप्त होता

है या क्या केवल ऐसे किसी व्यक्ति को ही संरक्षण प्राप्त होगा जो उत्तर देने से इंकार करता है परन्तु न्यायालय द्वारा उसे ऐसा करने के लिए विवश किया जाता है अथवा सांविधिक शक्तियों के अधीन सम्यक् रूप से सम्मन किए गए प्रत्येक व्यक्ति को साक्ष्य देने के लिए 'विवश' माना जाना चाहिए। सबसे पहले हम उच्चतम न्यायालय के निर्णयों का निर्देश करेंगे क्योंकि 'विवश' शब्द का निर्वचन अनुच्छेद 20(3) और धारा 132 में लगभग समान है।

लक्ष्मीपत चोरारिया बनाम महाराष्ट्र राज्य, ए आई आर 1968 एस सी 938 मामले में अपीलकर्ता सागर सीमाशुल्क अधिनियम की धारा 167 और दंड संहिता की धारा 120ख के अधीन दोषसिद्ध ठहराए गए थे। यह मामला भारत में सोने की तस्करी से संबंधित था। उस मामले में एयर इंडिया का कर्मचारी पी डब्ल्यू आई सहअपराधी था, अपराधी नहीं था। उसकी परीक्षा की गई थी और सागर सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 171क के अधीन उसके कथन अभिलिखित किए गए थे जिनमें उसने अभियुक्त के विरुद्ध कथन किया परन्तु उसने सोने के भाग में अपनी भूमिका के बारे में भी बताया। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 118 के अधीन वह सक्षम साक्षी थी।

अधिनियम की धारा 132 के अधीन उसे उत्तर देना जरूरी था, चाहे वह उन प्रश्नों से अपराध में फंसाती हो लेकिन यदि वह बाद में अभियुक्त बन जाता है तो, इस धारा के अधीन उसे संरक्षण प्राप्त है। न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला (जैसाकि वे उस समय थे) ने टिप्पणी की थी कि "भारत में उत्तर देने से इंकार करने के विशेषाधिकार को समाप्त कर दिया गया है ताकि झूठ बोलने के लालच से बचा जा सके, लेकिन यह संरक्षण देना जरूरी था (अर्थात् धारा 132 के परन्तुक के अधीन)। यह संरक्षण अनुच्छेद 20(3) से भी संरक्षित है, जिसमें यह कहा गया है कि किसी अपराध के अभियुक्त किसी भी व्यक्ति को अपने विरुद्ध साक्षी बनने के लिए विवश नहीं किया जाएगा। यह अनुच्छेद ऐसे व्यक्ति को संरक्षण प्रदान करता है जो, किसी अपराध का अभियुक्त है न कि उस व्यक्ति को जिनसे साक्षी के रूप में पूछताछ की गई"। इसके पश्चात् उसने स्पष्ट किया :

> "जो व्यक्ति गवाही के कटघरे में आकर **स्वेच्छा से प्रश्नों** के उत्तर देता है, वह उस विशेषाधिकार का परित्याग करता है, जो उसे स्वयं के विरुद्ध साक्षी बनने के लिए विवश किए जाने के विरुद्ध प्राप्त है क्योंकि उस समय वह अपने विरुद्ध साक्षी नहीं है बल्कि दूसरे व्यक्तियों के विरुद्ध साक्षी है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 132 उसे पर्याप्त संरक्षण प्रदान करती है क्योंकि उसका साक्ष्य स्वयं उसके विरुद्ध नहीं जाता। इस संबंध में साक्षी उस अभियुक्त की तुलना में अधिक खराब स्थिति में नहीं है जो स्वयं को स्वेच्छा या अपनी ओर से या सहअभियुक्त की ओर से साक्ष्य देने को प्रस्तुत होता है। वहां भी अभियुक्त अपने उस विशेषाधिकार का परित्याग कर देता है जो उसे इस अनुच्छेद के द्वारा प्राप्त होता है क्योंकि उसकी प्रतिपरीक्षा की जाती है तथा उससे ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं जो उसे अपराध में फंसा सकते हैं। इसलिए, एलथाइल बांग (पी.डब्ल्यू.आई.) के साक्ष्य को अक्षम साक्षी का साक्ष्य कह कर नकारा नहीं जा सकता .....उसका साक्ष्य सहअभियुक्त का साक्ष्य होता है।"
>
> ....
>
> "एलथाइल बांग (पी.डब्ल्यू.आई.) को भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 132 (परन्तुक) के द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया था, चाहे उसने साक्ष्य दिया, जिससे वह स्वयं अपराध में फंस गयी। वह सक्षम साक्षी थी ..... ये ही शब्द भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 132 के परन्तुक में प्रयोग किए गए हैं और वहां उसका अर्थ जांच पड़ताल न होकर आपराधिक विचार है।"

इसके पश्चात्, हम अब **तुकाराम जी. गावकर बनाम आर.एन. शुक्ला** : ए.आई.आर. 1968 सु.को. 1050 पर विचार करेंगे। यहां अपीलार्थी ने सीमाशुल्क अधिनियम की धारा 112 के अधीन एक नोटिस के अनुसरण में उस पर शास्ति लगाये जाने के विरुद्ध प्रतिषेध याचिका दायर की थी तथा उक्त अधिनियम की धारा 111 के अधीन एक नोटिस के अनुसरण में जब्ती की मांग की थी। धारा 111 तथा 112 के अधीन जारी नोटिसों पर आपत्ति करते हुए उन्हें संविधान के अनुच्छेद 20(3) का उल्लंघन करने वाला बताया गया। उसके विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख के अधीन तथा समुद्री सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 135 के अधीन सोने की तस्करी का एक नियमित दांडिक मामला न्यायालय में विचाराधीन था। निर्णय के पैरा 6 में यह स्वीकार किया गया था कि अपीलार्थी एक अभियुक्त व्यक्ति है। तथापि, यह

टिप्पणी की गई थी : ''लेकिन इस चरण में यह कहना संभव नहीं है कि उसे अपने विरुद्ध साक्षी बनने के लिए विवश किया गया। उस पर गवाह के कटघरे में आने की कोई आध्यता नहीं है। यदि वह चाहे तो धारा 111 तथा 112 के अधीन चल रही कार्यवाही में साक्षी के रूप में उपस्थित न हो। अपने प्रतिवाद की पुष्टि करने के लिए गवाही के कटघरे में प्रवेश की आवश्यकता ऐसी बाध्यता नहीं है जिससे अनुच्छेद 20(3) के अधीन उसे संरक्षण प्रदान किया जाए। आपराधिक विचारण में भी किसी अपराध का अभियुक्त कोई भी व्यक्ति दंड प्रक्रिया संहिता (1898) की धारा 342क के अधीन प्रतिवाद के लिए सक्षम साक्षी है तथा वह अपने विरूद्ध लगाए गए आरोपों को गलत सिद्ध करने के लिए शपथपूर्वक साक्ष्य दे सकता है। अभियुक्त व्यक्ति के लिए अपने प्रतिवाद के समर्थन में गवाही के कटघरे में प्रवेश करना अत्यन्त जरूरी है। लेकिन यह कहने का कोई कारण नहीं है कि आपराधिक विचारण उसे अपने विरूद्ध साक्षी बनने के लिए विवश करता है तथा यह अनुच्छेद 20(3) का उल्लंघन है। अनुच्छेद 20(3) के प्रवर्तन के अन्तर्गत बाध्यता **अन्य व्यक्ति या प्राधिकरण से प्रवृत्त होनी चाहिए।** अपीलार्थी यदि अपने प्रतिवाद में स्वेच्छया साक्ष्य देता है तो उसे साक्षी बनने के लिए विवश नहीं किया जाता।'' (पुरानी संहिता की धारा 342क, 1973 की संहिता की धारा 315(1) के सदृश है)।

इसके पश्चात् उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा था :

> ''यदि उसे धारा 111 तथा 112 के अधीन कार्यवाही में साक्ष्य देने के लिए धारा 108 के अधीन सीमा-शुल्क अधिकारियों द्वारा बुलाया जाता है तो, विभिन्न प्रतिफल उत्पन्न हो सकते हैं। लेकिन उसे अभी तक इन कार्यवाहियों में साक्ष्य देने के लिए बुलाया नहीं गया है। हम इस मुद्दे पर कोई राय व्यक्त नहीं करते कि क्या बुलाये जाने की स्थिति में वह अनुच्छेद 20(3) के अधीन संरक्षण का दावा कर सकता है और क्या उसके बाद वह उसे अपराध में फंसाने वाले प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विवश किये जाने पर दांडिक कार्यवाही में उन उत्तरों के मामले के विरूद्ध भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 132 के परन्तुक के अधीन संरक्षण प्राप्त कर सकता है। यहां यह नोट किया जाना चाहिए कि सीमा-शुल्क प्राधिकारियों के काउंसेल ने उच्च न्यायालय में यह परिवचन दिया था कि अपीलार्थी अधिनिर्णयन की कार्यवाही के दौरान किए गए किसी कथन का किसी भी दांडिक कार्यवाही में प्रयोग नहीं करेंगे।''

इस निर्णय से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि कोई व्यक्ति किसी दांडिक कार्यवाही में अभियुक्त है लेकिन उसमें विचारण से पूर्व, सीमा-शुल्क के अधीन किसी अलग कार्यवाही में यदि उसे शास्ति या जब्ती के लिए कारण बताओ नोटिस जारी किए जाते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता है कि उसे स्वयं के विरूद्ध साक्षी बनने के लिए कहा गया है। यह कार्यवाही उससे साक्ष्य देने के लिए प्राधिकरण के समक्ष उपस्थित होने के लिए कहने हेतु नही है। अतः अनुच्छेद 20(3) लागू नहीं होता। जहां अभियुक्त का विचारण हो रहा है, वहां यदि वह स्वेच्छया साक्ष्य देने का प्रस्ताव करता है तो, उसे 1973 की संहिता की वर्तमान धारा 315(1) के अधीन स्वयं को अपराध में फंसाने के विरूद्ध विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होता। अब प्रश्न यह है कि यदि उसे शास्ति या जब्ती संबंधी कार्यवाही में साक्ष्य देने के लिए बुलाया जाता है और जब वह साक्षी के रूप में आता है तो, क्या धारा 132 के परन्तुक या अनुच्छेद 20(3) के अधीन संरक्षण प्राप्त होगा। उपर्युक्त मामले में इस प्रश्न का विनिश्चय नहीं किया गया था।

अब हम **हीरा एच. अडवाणी** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** : ए.आई.आर. 1971 सु.को. 44 पर विचार करेंगे। उस मामले में अपीलार्थियों पर समुद्री सीमा-शुल्क अधिनियम की धारा 167 तथा आयात और निर्यात (नियंत्रण) अधिनियम, 1947 की धारा 5 के अधीन अभियोजन चलाया गया था। अतः वे अभियुक्त व्यक्ति थे। सीमा-शुल्क अधिकारियों के समक्ष अभियुक्त द्वारा धारा 171क के अधीन किए गए पहले के कथनों की स्वीकार्यता पर विचार किया गया। पैरा 30 में धारा 171क तथा किसी भी व्यक्ति को बुलाने की सीमा-शुल्क अधिकारियों की शक्ति का उल्लेख किया गया था तथा उपर्युक्त उपधारा (3) का निर्देश किया गया, जिसके अनुसार यह अपेक्षित है कि इस प्रकार बुलाये गये सभी व्यक्ति 'सच्चाई का कथन' करेंगे। यह कार्यवाही न्यायिक कार्यवाही है, जिस पर धारा 132 लागू होती है। धारा 171क(4) पर विश्वास किया गया, जिसमें यह बताया गया था कि जांच भारतीय दंड संहिता की धारा 193 तथा 228 के अर्थ के अधीन न्यायिक कार्यवाही मानी जाएगी। इस दलील को यह कह कर अस्वीकार कर दिया गया कि सीमा-शुल्क अधिकारियों के समक्ष चल

रही कार्यवाही साक्ष्य अधिनियम की धारा 132 के प्रयोजनों के लिए न्यायिक कार्यवाही नहीं है। हालांकि धारा 171क(4) के अधीन किए गए कथन शपथपूर्वक किए गए थे लेकिन शपथ अधिनियम के उपबंध से उससे संबंधित कार्यवाही न्यायिक कार्यवाही नहीं बनी। यह भी टिप्पणी की गई थी (देखें पैरा 36, पृष्ट 54) कि धारा 171क(3) किसी व्यक्ति को बयान देने के लिए विवश नहीं करती लेकिन यदि वह बयान देता है तो, उसे सच्चाई बयान करनी चाहिए। "वह न्यायालय में साक्ष्य देने वाला साक्षी नहीं है।" पैरा 38 में उच्चतम न्यायालय ने इस तर्क पर विचार किया कि यद्यपि धारा 132 लागू नहीं होती तथापि इसके पीछे अंतर्निहित सिद्धांत सीमा-शुल्क प्राधिकारियों पर लागू होता है। जब तक यह मामला पूरी तरह धारा 132 के अन्तर्गत नहीं आता तब तक इस सिद्धांत के लागू होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

उपर्युक्त निर्णय यह स्पष्ट कर देता है कि धारा 132 का मुख्य भाग, जिसमें इस सिद्धांत का उल्लेख किया गया है कि साक्षी को अपने आपको अपराध में फंसाने के लिए विवश किया जा सकता है, उन कार्यवाहियों पर भी लागू होता है जिन पर साक्ष्य अधिनियम लागू होता है और यह सीमा-शुल्क अधिकारियों के समक्ष किए गए ऐसे पूर्व कथन, जिनमें अपराध में फंसाने वाली सामग्री हो, परवर्ती आपराधिक अभियोजन में अनुमत्य हैं।

रघुबीर सिंह गिल बनाम गुरचरण सिंह तोहड़ा : ए.आई.आर. 1980 सु.को. 1362 मामले में लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम (1951) की धारा 94 में दिया गया विशेष अपवाद, जिसमें किसी व्यक्ति को उस व्यक्ति के लिए बयान देने से वर्जित किया गया है जिसके पक्ष में उसने चुनाव में मतदान किया हो, साक्ष्य अधिनियम की धारा 132 के मुख्य भाग का अपवाद घोषित किया गया है। अनुच्छेद 20(3) तथा धारा 132 का उल्लेख करने के पश्चात् यह निर्णय दिया गया कि धारा 44 को छोड़कर, साक्षी उसके समक्ष प्रकट कर सकता था जिसके पक्ष में उसने मत दिया था क्योंकि अधिनियम की धारा 95 तथा साक्ष्य अधिनियम की धारा 132 के फलस्वरूप वही परिणाम निकलता।

राज्य (दिल्ली प्रशासन) बनाम जगजीत सिंह : ए.आई.आर. 1989 सु.को. 598 मामले में एक अभियुक्त मुखबिर बन गया तथा उसे दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 306(4) के अधीन क्षमा कर दिया गया। मुखबिर की जांच सुपुर्दगी न्यायालय तथा विचारण न्यायालय दोनों में होनी थी। लेकिन मुखबिर बन जाने के बाद वह अभियुक्त नहीं रहा। अभियुक्त न रहने पर उसे स्वयं के अपराध में फंसने के विरुद्ध प्राप्त संरक्षण का विशेषाधिकार खो दिया। उससे धारा 132 के अधीन प्रश्न किये जा सकते हैं। यद्यपि वह ऐसा बयान दे सकता है जिससे वह अपराध में फंस सकता है। लेकिन फिर भी धारा 132 के परन्तुक के अधीन उसे अभियोजन से संरक्षण प्राप्त होगा। न्यायालय ने **लक्ष्मीपत चौरासिया बनाम महाराष्ट्र राज्य** ए.आई.आर. 1968 सु.को. 938 मामले पर निर्भर किया।

स्थिति का संक्षिप्तिकरण करते हुए निम्नलिखित सिद्धांत खोजे जा सकते हैं :

(1) किसी आपराधिक विचारण में जहां कोई व्यक्ति किसी अपराध का (सामान्य खंड अधिनियम में यथा परिभाषित अपराध में दंड संहिता या विशेष अधिनियमों के अधीन उल्लिखित अपराधों का निर्देश किया गया है) अनुच्छेद 20(3) के अधीन अभियुक्त है, अभियुक्त से ऐसे प्रश्न नहीं किये जा सकते जो उसे अपराध में फंसाते हों। ऐसे व्यक्ति को ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। यह प्रश्न किए जाने के विरुद्ध प्रतिषेध है।

(2) किसी आपराधिक विचारण में अभियुक्त को धारा 315 के अधीन साक्ष्य देने के लिए स्वेच्छा या विशेषाधिकार का परित्याग करने की छूट है और उस स्थिति में वह अनुच्छेद 20(3) के अधीन प्राप्त विशेषाधिकार खो देगा।

(3) कोई व्यक्ति, जो आपराधिक मामलों में अभियुक्त है, यदि वह मुखबिर बनना चाहता है तो, वह अभियुक्त नहीं रहता। यदि वह अभियुक्त बनने की स्थिति में नहीं है, तब वह ऐसे किसी अन्य साक्षी जैसी स्थिति में ही है जो अभियुक्त नहीं है तथा उसे अनुच्छेद 20(3) का संरक्षण प्राप्त नहीं है।

(4) साक्ष्य अधिनियम की धारा 132 के अधीन सभी साक्षियों (जो अभियुक्त नहीं है) से ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं जिससे वे अपराध में फंसते हों लेकिन धारा 132 के परन्तुक को देखते हुए ऐसे उत्तरों का प्रयोग साक्षी की गिरफ्तारी, अभियोजन या उस पर शास्ति लगाने या उसकी जब्ती के लिए नहीं किया जा सकता।

(5) किसी भी सहअपराधी से जो अभियुक्त नहीं है, उसे अपराध में फंसाने वाले प्रश्न पूछे जा सकते हैं तथा ऐसे बयानों का अन्य अभियुक्त के विरुद्ध प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन जहां तक सहअपराधी का संबंध है, धारा 132 के परन्तुक को देखते हुए ऐसे बयानों का प्रयोग उसे गिरफ्तार करने या अभियोजन चलाने या उस पर शास्ति लगाने या जब्ती करने के लिए नहीं किया जा सकता। लक्ष्मीपत चौरडिया बनाम महाराष्ट्र राज्य एक ऐसे सहअपराधी का मामला था जिसने स्वेच्छा या स्वयं को साक्ष्य देने के लिए प्रस्तुत किया तथा यह निर्णय दिया था कि उसे अभी भी धारा 132 के परन्तुक के अधीन संरक्षण प्राप्त है। इसी मामले का अनुकरण सहअपराधी के मामले में किया गया जिसने राज्य बनाम जगजीत सिंह : 1989 सु.को. 598 मामले में स्वेच्छा या साक्ष्य देने के लिए प्रस्तुत किया। इन दोनों निर्णयों से पता चलता है कि धारा 132 के परन्तुक के अधीन संरक्षण उपलब्ध है,चाहे साक्षी ने स्वेच्छा या साक्ष्य देने के लिए प्रस्तुत किया हो तथा उससे उसे अपराध में फंसाने वाले प्रश्न किये गये हों।

यहां निर्णय जनित विधि का आरम्भ 1878 में हुआ जब क्वीन एम्प्रैस बनाम गोपालदास : (1878) आई.एल.आर. 3 मद्रास 27 (एफ.बी) मामले में जहां अधिसंख्य न्यायाधीशों ने यह विचार व्यक्त किया कि परन्तुक के अधीन संरक्षण केवल उन साक्षियों को उपलब्ध है जिन्होंने आपत्ति की थी और उसके बाद प्रश्नों का उत्तर दिया था (अर्थात् विवश किया गया था) जबकि न्यायमूर्ति मुत्थुस्वामी अय्यर ने 'विवश किया गया' शब्द की अधिक व्यापक व्याख्या करते हुए कहा था कि इसमें ऐसा कोई भी साक्षी सम्मिलित है जो यह महसूस करे कि उसे धारा 132 के मुख्य खंड में दिए गए निर्णय का पालन करना है और जिसने प्रश्न पर आपत्ति नहीं की।

69वीं रिपोर्ट में विभिन्न उच्च न्यायालयों की राय पर विचार किया गया तथा यह महसूस किया गया कि मुख्य खंड में दिए गए इस निर्देश को कि प्रत्येक साक्षी उसे अपराध में फंसाने वाले प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य है, विधि के अनुसार बाध्यता माना जाना चाहिए तथा किसी अन्य तथ्यात्मक बाध्यता को सिद्ध किये जाने की आवश्यकता नहीं है तथा हमारे विचार से न्यायमूर्ति मुत्थुस्वामी अय्यर की राय के स्वीकार करके ठीक ही किया है, जिन्होंने कहा था कि :

> "मुझे यह विचित्र लगता है कि विधानमंडल ने न्यायाधीश को यह निर्देश दिया होगा कि वह विवादक मामले से संगत प्रश्नों का उत्तर देने के लिए साक्षी को कभी दोषमुक्त न करे तथा साथ ही साक्षी को न्यायाधीश से यह अनुरोध करने का आदेश दिया हो कि वह उसे ऐसे किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए दोषमुक्त करे।"

69वीं रिपोर्ट के पैरा 70.53 में यह टिप्पणी की गई थी कि साक्षी की 'बाध्यता' की स्थिति में, यह माना जाना चाहिए कि वह विधि की शक्ति (अर्थात् धारा 132 के उस मुख्य भाग में दिए गए सांविधिक निर्देश, जहां किसी न्यायालय को किसी साक्षी को दोषमुक्त करने की शक्ति प्राप्त नहीं है) से उत्पन्न हुई होगी। हमारे विचार से यही एक मात्र उचित अर्थान्वयन है।

यहां हम इस बात का भी उल्लेख कर सकेंगे कि धारा 132 का मुख्य भाग वास्तव में आज्ञापक है और किसी अपराध में फंसाने वाले प्रश्न का उत्तर देने से साक्षी को क्षम्य करने की न्यायालय को कोई शक्ति नहीं है और साक्षी द्वारा आपत्ति किया जाना भी निरर्थक है और यदि ऐसा है तो आपत्ति करने वाले साक्षी तथा आपत्ति न करने वाले, परन्तु धारा 132 के मुख्य भाग से आबद्ध महसूस करने वाले साक्षी के बीच के उत्तर का महत्व ही समाप्त हो जाता है। इस अतिरिक्त कारण के लिए भी हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं कि धारा 132 के मुख्य भाग को विधिक विवशता समझी जानी चाहिए।

हम 69वीं रिपोर्ट से इस बारे में भी सहमत हैं कि उत्तर देने का कर्त्तव्य उन प्रश्नों के लिए लागू होता है जो साक्षी या उसके पति/पत्नी को फंसाते हैं परन्तु संरक्षण साक्षी तथा उसके पति/पत्नी दोनों को उपलब्ध होना चाहिए।

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न उस अभियुक्त से संबंधित है जो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 315 के अधीन शपथ पर साक्ष्य देने के लिए स्वेच्छापूर्वक आगे आता है। उस आरोप विशेष के संबंध में संरक्षण को अभित्यक्त कर देता है। परन्तु

यदि उसे किसी फंसाने वाले प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य किया जाता है, जो आरोप से संबंधित नहीं है, तब ऐसे साक्ष्य को ऐसे उत्तर द्वारा झूठा साक्ष्य देने के अभियोजन के सिवाय, आपराधिक कार्यवाहियों से संबंधित अन्य आरोपों के बारे में उसके विरूद्ध प्रयुक्त नहीं किया जाएगा।

69वीं रिपोर्ट में दिया गया प्रस्ताव इस प्रकार है। धारा 132 के मुख्य भाग के, उपधारा (1) के रूप में पुनर्संख्यांकित किया गया है और इसे पति/पत्नी के लिए भी लागू किया गया है। उपधारा (2), प्रस्तावित रूप में उस अभियुक्त की विवशता से संबंधित है जो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 315 के अधीन स्वेच्छा से आगे आता है। उपधारा (2) के बारे में कोई कठिनाई नहीं है। उपधारा (3) में, जैसाकि प्रस्ताव किया गया है, उपधारा (1) तथा (2) द्वारा ''अधिरोपित दायित्व'' शब्दों का प्रयोग धारा 132 के मुख्य भाग के निर्देश का उल्लेख करने और ऐसे साक्षी और अभियुक्त को इसके अन्तर्गत लेने के लिए किया गया है जो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 132 के अधीन स्वेच्छा से आगे आते हैं। यह दर्शित करना आशयित है कि धारा 132 के मुख्य भाग में प्रस्तावित धारा 132(1) सांविधिक विवशता अन्तर्विष्ट है। एक अन्य विषय यह है कि उपधारा (3) में यह कहा गया है कि साक्ष्य का प्रयोग किसी भी दांडिक कार्यवाही में किया जा सकेगा अर्थात परन्तुक के शब्दों की पुनरावृत्ति की गई है। परन्तु अब नई उपधारा (3) न केवल साक्षी के लिए भी लागू होगी अपितु ऐसे अभियुक्त के लिए भी जो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 315 के अधीन स्वैच्छिक रूप से आगे आता है। साक्षी के संबंध में, 'दांडिक कार्यवाही' शब्द पश्चात्वर्ती कार्यवाही का निर्देश करते हैं।

परन्तु किसी ऐसे अभियुक्त के मामले में, जो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 315 के अधीन स्वैच्छिक रूप से आगे आता है, प्रस्तावित उपधारा (3) में प्रयुक्त भाषा से ऐसी संभावित धारणा बनती है कि अपराध में फंसाने वाले साक्ष्य को उस मामले के आरोप के संबंध में भी प्रयोग नहीं किया जा सकता जिसमें उसने धारा 315 के अधीन अपने विशेषाधिकार को भी त्याग दिया है। निश्चित रूप से, यह विचार नहीं किया गया है।

इसको ध्यान में रखते हुए, हमारा विचार है कि धारा 132 में, जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में प्रस्ताव किया गया है, निम्नलिखित रूप में और संशोधन किया जाना चाहिए।

इस आधार पर कि उत्तर उसे अपराध में फंसाएगा, साक्षी या अभियुक्त उत्तर देने से क्षम्य नहीं होगा—

''132. (1) कोई साक्षी किसी वाद या किसी सिविल या दांडिक कार्यवाही में विवाद्यक विषय से सुसंगत किसी विषय के बारे में किए गए किसी प्रश्न का उत्तर देने से इस आधार पर क्षम्य नहीं होगा कि ऐसा उत्तर ऐसे साक्षी को या साक्षी की पत्नी या पति को अपराध में फंसाएगा अथवा उसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अपराध में फंसाने की होगी अथवा वह ऐसे साक्षी को या उसकी पत्नी/पति को किसी किस्म की शास्ति या समपहरण के लिए उच्छन्न करेगा या उसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उच्छन्न करने की होगी।

(2) कोई साक्षी, जो दंड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 315 के अधीन अपने को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करता है, अभियोजन में विवाद्यक विषय से सुसंगत किसी विषय के बारे में किए गए किसी प्रश्न का उत्तर देने से इस आधार पर क्षम्य नहीं होगा कि ऐसे प्रश्न का उत्तर अभियुक्त को या उसकी पत्नी या पति को अपराध में फंसाएगा अथवा उसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अपराध में फंसाने की होगी अथवा वह अभियुक्त को या उसकी पत्नी या पति को किसी किस्म की शास्ति या समपहरण के लिए उच्छन्न करेगा या उसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उच्छन्न करने की होगी।

(3) जहां कोई साक्षी या अभियुक्त, इस धारा के उपबंधों के अधीन किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए आबद्ध है या आबद्ध समझता है, चाहे उस पर उसने आपत्ति की हो अथवा नहीं, ऐसा कोई उत्तर—

(क) जो ऐसे प्रश्न के लिए साक्ष्य देता है, उसे या उसकी पत्नी या पति को, यथास्थिति, गिरफ्तारी या अभियोजन के अध्यधीन नहीं करेगा और न उसके विरुद्ध साबित किया जाएगा।

(ख) जो ऐसे प्रश्न के लिए साक्ष्य देता है, उपधारा (2) में उपबंधित अन्यथा के सिवाय, अभियुक्त को या उसकी पत्नी या पति को, यथास्थिति, गिरफ्तारी या अभियोजन के अध्यधीन नहीं करेगा और न ही किसी दांडिक कार्यवाही में उनके विरुद्ध साबित किया जा सकेगा।

परन्तु यह कि इस उपधारा में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी यह किसी ऐसे उत्तर के लिए, जो मिथ्या साक्ष्य समझा जाएगा, लागू नहीं होगी।

धारा 132क : (69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित रूप में)

69वीं रिपोर्ट में परिवार के परामर्शदाताओं के विशेषाधिकारों के संबंध में धारा 132क अन्तःस्थापित करने की सिफारिश की गई है। यह कहा गया है कि विशेषाधिकार परिवार के परामर्शदाताओं के होंगे और इस विशेषाधिकार की व्यवस्था समाज के हित में करनी होगी ताकि परिवार का परामर्शदाता प्रभावी रूप से कार्य कर सके। पैरा 71.10 में यह प्रस्ताव किया गया है कि विशेषाधिकार न्यायालय द्वारा नियुक्त किए गए परामर्शदाताओं के लिए लागू होना चाहिए न कि उन परामर्शदाताओं के लिए जो पक्षकारों द्वारा नियुक्त किए जाएं।

69वीं रिपोर्ट के पश्चात्, माध्यस्थम और सुलह अधिनियम, 1996 पारित हुआ है। भाग-तीन, सुलह से संबंधित है (धारा 61 से 81) इस अधिनियम की चार धाराएं सुसंगत हैं। धारा 70, सूचना के प्रकटन से संबंधित है। धारा 75, गोपनीयता के बारे में है। धारा 80, साक्षी के रूप में सुलहकर्ता से संबंधित है। धारा 81, अन्य कार्यवाहियों में साक्ष्य के बारे में है।

धारा 70 का पाठ इस प्रकार है : ''जब सुलहकर्ता एक पक्षकार से विवाद से संबंधित तथ्य संबंधी सूचना प्राप्त करता है तब वह इसलिए दूसरे पक्षकार को उस सूचना का सार प्रकट करेगा जिससे कि दूसरे पक्षकार को किसी भी ऐसे स्पष्टीकरण को प्रस्तुत करने के लिए अवसर प्राप्त हो सके।''

परन्तु जब एक पक्षकार किसी विनिर्दिष्ट शर्त के अध्यधीन रहते हुए, सुलहकर्ता को कोई सूचना देता है कि इसे गोपनीय रखा जाए तब सुलहकर्ता दूसरे पक्षकार को उस सूचना को प्रकट नहीं करेगा। धारा 75 का पाठ इस प्रकार है : ''गोपनीयता-तत्समय प्रवृत किसी अन्य विधि में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, सुलहकर्ता और पक्षकारगण, सुलह संबंधी कार्यवाही से संबंधित सभी मामलों को गोपनीय रखेंगे। गोपनीयता, निपटारा करार के लिए भी लागू होगी, सिवाय जहां इसका प्रकटन कार्यान्वयन और प्रवर्तन के लिए आवश्यक है।''

धारा 80 का पाठ, जो 'दूसरी कार्यवाही में सुलहकर्ता की भूमिका' के बारे में है, इस प्रकार है: ''जब तक पक्षकारों द्वारा अन्यथा करार नहीं किया जाता, (क) सुलहकर्ता किसी माध्यस्थम या न्यायिक कार्यवाही में, किसी विवाद के संदर्भ में, जो सुलह कार्यवाही का विषय है, किसी माध्यस्थम की हैसियत से या एक प्रतिनिधि की हैसियत से या अधिवक्ता की हैसियत से कार्य नहीं करेगा; (ख) सुलहकर्ता को किसी माध्यस्थम या न्यायिक कार्यवाही में पक्षकारों द्वारा साक्षी के रूप में पेश नहीं किया जाएगा।''

धारा 81 : दूसरी कार्यवाहियों में साक्ष्य की ग्राह्यता—''पक्षकारगण माध्यस्थम या न्यायिक कार्यवाही में साक्ष्य के रूप में विश्वास नहीं करेंगे या पेश नहीं कर सकेंगे, चाहे ऐसी कार्यवाही इस विवाद से संबंध रखती हो या नहीं, जो सुलह कार्यवाही का विषय है—

(क) विवाद के किसी संभव निपटारे के बारे में दूसरे पक्षकार द्वारा व्यक्त किए गए विचार या दिए गए सुझाव;

(ख) सुलह कार्यवाही के अनुक्रम में दूसरे पक्षकार द्वारा की गई स्वीकृतियां;

(ग) सुलहकर्ता द्वारा किए गए प्रस्ताव;

(घ) यह तथ्य कि दूसरे पक्षकार ने सुलहकर्ता द्वारा निपटारे के लिए किए गए प्रस्ताव के प्रति अपनी सहमति प्रकट कर दी थी।

धारा 61(1) में कहा गया है कि यह भाग (भाग-तीन) विधिक नातेदारी से उद्भूत होने वाले विवादों के सुलह, चाहे संविदात्मक हो अथवा नहीं, और उससे संबंधित सभी कार्यवाहियों के लिए लागू होगी। तथापि, यह नोट किया जाना चाहिए कि धारा 61 (2) में कहा गया है कि यह भाग (भाग-तीन) वहां लागू नहीं होगा जहां तत्समय प्रवृत किसी विधि के उपबंधों द्वारा कतिपय विवाद सुलह हेतु प्रस्तुत नहीं किए जा सकते हों।

धारा 62 के अधीन, सुलह कार्यवाही तब प्रारम्भ होती है जब दूसरा पक्षकार सुलह करने के लिए लिखित आमंत्रण स्वीकार कर लेता है। धारा 64 पक्षकारों द्वारा सुलहकर्ता की नियुक्ति के बारे में है। इस धारा में पक्षकारों के बीच सहमति न होने की दशा में, जैसाकि माध्यस्थम के मामले में है, न्यायालय द्वारा नियुक्ति के विषय में कुछ नहीं कहा गया है।

आयोग के विचार में, 1996 के अधिनियम के अधीन सुलहकर्ता में ऐसा सुलहकर्ता भी शामिल है जो विवाह संबंधी विवादों की सुलह भी करता है और अधिनियम में किए गए विस्तृत उपबंधों को ध्यान में रखते हुए साक्ष्य अधिनियम में कोई पृथक उपबंध करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है। अतः हमारा विचार है कि पैरा 71.12 में धारा 132क अन्तःस्थापित करने के बारे में की गई सिफारिशों को कार्यान्वित करने की आवश्यकता है।

जहां तक मध्यस्थों का संबंध है, उच्च न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 89(घ) (2) के अधीन नियम बना सकते हैं और उन नियमों में मध्यस्थों के विशेषाधिकार के बारे में भी उपबंध किया जा सकेगा।

इस रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 132क :

जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में प्रस्ताव किया गया है, धारा 132क (परिवार के परामर्शदाताओं का विशेषाधिकार) के स्थान पर हमारे विचार से पत्रकारों के संसाधनों के बारे में कोई विशिष्ट उपबंध करना आवश्यक है।

इस संबंध में, हमने "जनसंचार माध्यमों द्वारा सूचना के स्त्रोत के प्रकटन" विषय पर आयोग की तिरानवेंवी रिपोर्ट का अवलोकन किया है।

इस विषय पर हाल ही में अधिनियमित किए गए आतंकवाद निवारण अधिनियम, 2001 में गम्भीर रूप से ध्यान दिया गया। अन्ततः सरकार ने पत्रकार समूहों के इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया प्रतीत होता है कि इस उपबंध को निकाल दिया जाना चाहिए। हमारे विचार में यह उपबंध पत्रकारों द्वारा किए गए आन्दोलन के कारण निकाला गया। परन्तु आज विधि अन्य प्रकार की है। मीडिया के स्त्रोतों को कहीं भी पूर्ण संरक्षण प्राप्त नहीं है। लोकहित की दृष्टि से प्रकटन आवश्यक हैं।

प्रकाशन के स्त्रोत के प्रकटीकरण के प्रश्न पर आने से पूर्व, हम प्रेस काउंसिल एक्ट, 1978 की धारा 15(2) का निर्देश करेंगे, जो किसी समाचार या सूचना के स्त्रोत के बारे में किसी समाचार पत्र, समाचार एजेंसी, सम्पादक या पत्रकार द्वारा जानकारी दिए जाने को रोकती है।

हमारे विचार में उपर्युक्त धारा में, साक्ष्य के प्रयोजनों के लिए, लोकहित में प्रकाशन का स्त्रोत प्रकट करने के लिए किसी व्यक्ति से कहने के संबंध में न्यायालय की शक्ति के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। बाद वाला विषय ही हमारे विचार-विमर्श का केन्द्र है।

इंग्लैण्ड में; **ब्रिटिश स्टील कारपोरेशन** बनाम **ग्रान्डा टेलीविजन** : 1981, एस.सी. 1096 मामले में हाऊस ऑफ लार्डस् ने **एजी** बनाम **मुन्होलैण्ड** : 1963(2) क्यू. बी. 477 (489) मामले में एम. आर. डैनिंग द्वारा व्यक्त किए गए विचारों को यह कहते हुए स्वीकृति प्रदान की है कि क्लर्जीमैन, बैंक तथा पैडिकलमैन किसी न्यायाधीश के निर्देश दिए जाने पर किसी प्रश्न का उत्तर देने से इन्कार नहीं कर सकेंगे। यह अभिनिर्धारित किया गया कि इस पर भी, न्यायाधीश इन सम्मानित कृतियों के प्रत्येक सदस्य में जो विश्वास निहित है उसका सम्मान करते हुए उत्तर देने का निर्देश नहीं देगा जब तक कि न्याय की सहायतार्थ प्रश्न पूछना और उसका उत्तर प्राप्त करना न केवल सुसंगत हो अपितु न्यायोचित और आवश्यक भी हो। समुदाय की ओर से न्यायाधीश ही वह व्यक्ति है जिसे इन विरोधी हितों को तौलने का—एक और वृति में विश्वास के कारण सम्मान और

दूसरी ओर न्याय किए जाने में समुदाय का अन्तिम हित—भार सौंपा गया है। यदि न्यायाधीश सुनिश्चित करता है कि पत्रकार को उत्तर देना चाहिए, तब वह (पत्रकार) किसी भी विशेषाधिकार के कारण उत्तर देने से इन्कार नहीं कर सकेगा।

उपर्युक्त निर्णय के कारण, जो पत्रकारों के विशेषाधिकार के संकीर्ण स्वरूप के बारे में था, यू. के. कन्टेम्प्ट ऑफ कोर्ट्स एक्ट 1981 में धारा 10 अधिनियमित की गई, जिसका पाठ निम्नलिखित है :

> "**धारा 10** : कोई न्यायालय, किसी व्यक्ति से, किसी प्रकाशन में अन्तर्विष्ट सूचना के स्रोत को प्रकट करने की, जिसके लिए वह उत्तरदायी है, अपेक्षा नहीं करेगा और न ही कोई प्रकट करने से इन्कार करने के लिए न्यायालय की अवमानना का दोषी होगा जब तक कि न्यायालय का ऐसा समाधान नहीं हो जाता कि प्रकटीकरण न्याय के हित में या राष्ट्रीय सुरक्षा या अव्यवस्था तथा अपराध रोकने के लिए आवश्यक है।"

इसलिए, न्यायालय को सन्तुलनकारी भूमिका निभानी होती है।

सैक्रेटरी ऑफ स्टेट फार डिफैंस एण्ड अनॉदर बनाम गार्जियन न्यूज पेपर्स लिमिटेड : 1984(3) ए.एल.एल.ई.आर. 601, मामले में यह देखा गया है कि यू. के. में कन्टेम्प्ट ऑफ कोर्ट्स् एक्ट, 1981 में धारा 10 के अधीन संरक्षण का स्वरूप, किसी प्रकाशन में अन्तर्विष्ट किसी सूचना के स्रोत को न्यायिक कार्यवाहियों में प्रकट करने के लिए अनिवार्यता का हटाया जाना है। लार्ड डिपलोक ने कहा है (देखें पृष्ठ 607) कि अपवाद में सामान्यता 'लोकहित' का कोई निर्देश सम्मिलित नहीं है और 'न्याय' नामक अभिव्यक्ति, जिसके हितों को संरक्षण दिया जाना चाहिए, को 'अन्याय' के विलोमार्थक रूप में प्रयोग नहीं किया गया है अपितु किसी न्यायालय में चल रही विधिक कार्यवाहियों में न्याय प्रशासन के तकनीकी अर्थ में प्रयोग ने या 1981 के अधिनियम की धारा 19 के न्यायालय की, किस अधिकरण या राज्य की न्यायिक शक्ति का प्रयोग करने वाले किसी निकाय के समक्ष, विस्तृत परिभाषा के अर्थ में प्रयोग किया गया है। उस मामले में रायल एयर फोर्स बेस पर परमाणु हथियार तैनात करने के संबंध में रक्षा मंत्रालय द्वारा तैयार किए गए और प्रधानमंत्री को भेजे गए ज्ञापन की फोटोकॉपी एक अज्ञात सूचनादाता द्वारा समाचारपत्र को बता दी गई जिसने बाद में उसे प्रकाशित कर दिया। क्राऊन ने उस प्रति को लौटाने का अनुरोध किया ताकि दस्तावेज में बताए गए चित्रों से सूचना देने वाले की पहिचान करने का प्रयास किया जा सके। समाचारपत्र ने चिन्हों के लिए विशेषाधिकार का दावा किया और कहा कि इससे सूचना देने वाले की पहिचान हो जाएगी। हाउस ऑफ लार्ड्स् ने प्रति लौटाने के लिए न्यायालय द्वारा दिए गए निम्नलिखित निर्देशों की बहुमत से पुष्टि कर दी। किसी सूचना के स्रोत को प्रकट करने की अपेक्षा करने वाला आदेश परित करना न्यायालय के कतिपय अपवादों के अधीन निषिद्ध है, अर्थात् यदि प्रकटन न्याय के हित में या राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से या अव्यवस्था और अपराधों को रोकने के लिए आवश्यक हो। जो व्यक्ति प्रकटन की मांग करता है, यह उसका दायित्व हो जाता है कि वह मामले में प्रकटन की आवश्यकता दर्शाए। लार्ड डिपलॉक ने अपीलीय न्यायालय में एल. जे. ग्रिफिथ के विचारों को स्वीकृति प्रदान की (1984) (1) ए.एल.एल.ई.आर. 453। एल. जे. ग्रिफिथ ने कहा है (पृष्ठ 459) :

> "प्रेस ने सर्वदा अपनी सूचना के स्रोतों के संरक्षण करने में अपनी योग्यता को अधिकतम महत्व दिया है। उनका विश्वास है कि यदि वे ऐसा न करें तो उनके बहुत से स्रोत समाप्त हो जाएंगे और इससे उनकी प्रभावशालीता में गम्भीर रूप से हस्तक्षेप होगा। यह हमारे सभी के हित में है कि हमारी प्रेस वास्तविक रूप में प्रभावी हो और ऐसा प्रतीत होता है कि संसद ने धारा 10 अधिनियमित करके स्पष्ट रूप से इस महत्व को स्वीकार किया है जो अपने स्रोतों को संरक्षण देने के लिए प्रेस की योग्यता से संबद्ध है ..... मेरे विचार में धारा के आरम्भिक शब्दों को विस्तृत अर्थ प्रदान करने में कोई हानि नहीं होगी क्योंकि धारा के बाद वाले भाग में स्रोत को प्रकट करने के लिए, जहां किसी विशिष्ट मामले की परिस्थितियों में, लोकहित में ऐसा करना आवश्यक है, आदेश देने हेतु न्यायालय को पर्याप्त शक्तियां प्रदान की गई हैं।"

इस प्रकार, स्रोत में लोकहित को एक अपवाद माना गया है।

रि. एन इन्क्वायरी अन्डर दी कम्पनी सिक्योरिटीज (इनसाइडर ट्रीलिंग) एक्ट, 1985, 1988(1) ए.एल.एल.ई.आर. 203 (एच. एन.), मामले में हाऊस ऑफ लार्ड्स् ने 'आवश्यक' शब्द की व्याख्या 'वास्तविक आवश्यकता' के रूप में की है।

गुडविन के मामले में, अर्थात् एक्स लिमिटेड बनाम मोरगन ग्राम्पियन (पब्लिशर्स) लिमिटेड एण्ड अदर्स : 1990 (2) ए.एल.एल.ई.आर. पृष्ठ 1 (गुडविन के मामले के रूप में ज्ञात), मामले में लार्ड ओलिवर ने कहा है कि न्यायालय द्वारा विवेकाधिकार का केवल एक बार प्रयोग किया जाता है जब वह समझता है कि 'प्रकटन' आवश्यक है। एक बार यह स्थापित हो जाए कि प्रकटन का निर्देश दिया जाए अथवा नहीं, उसके पश्चात् कोई और विशेषाधिकार नहीं है। लार्ड ब्रिज ने ग्रान्डा टेलीविजन के मामले में लार्ड डिपलॉक के सिद्धान्त को यह कहते हुए स्पष्ट किया है कि 'न्याय के हितों' का तात्पर्य 'न्याय का प्रशासन' नहीं है अपितु इससे भी विस्तृत है और पक्षकारों के विधिक अधिकारों के लिए और प्रकटन का निर्देश देकर उन अधिकारों की रक्षा करने की आवश्यकता के लिए लागू होता है और यह आवश्यक नहीं है कि विधिक कार्यवाहियां न्यायालय में विचाराधीन होनी चाहिए। लार्ड ओलिवर का भी यही विचार था। उपर्युक्त मामले में मोरगन ग्राम्पियन प्रकाशक थे और गुडविन प्रकाशकों द्वारा नियुक्त पत्रकार था, जो प्रतिवादी था। वादी, दो प्राईवेट कम्पनियों ने बैंक ऋण प्राप्त करने के लिए बातचीत करने हेतु कारोबार की एक योजना बनाई और योजना प्रारूप की एक प्रति वादी से चुरा ली गई और किसी अज्ञात व्यक्ति ने टेलीफोन पर योजना का विवरण बताया। पत्रकार ने वादियों को एक लेख तैयार करने के लिए नीतियों की जांच करने हेतु टेलीफोन किया। वादी ने निषेधाज्ञा के लिए वाद दायर किया और इस आशय का आदेश दिए जाने का अनुरोध किया कि पत्रकार से स्रोत प्रकट करने की और प्रकाशन रोकने की अपेक्षा न की जाए। प्रकटन का आदेश दिया गया और अपीलीय न्यायालय ने तथा हाऊस ऑफ लार्ड्स ने उसका अभिकथन किया। लार्ड ब्रिज ने यह विचार व्यक्त किया—

> "सूचना में, जो स्रोत द्वारा प्रकाशक या आशयित प्रकाशक को दी गई है, जितना अधिक न्यायोचित लोकहित होगा उतना ही अधिक स्रोत के संरक्षण का महत्व होगा। परन्तु एक अन्य और संभवतया अधिक महत्वपूर्ण पहलु, जिससे स्रोत के संरक्षण का महत्व और अधिक प्रभावित होगा, स्रोत से सूचना प्राप्त करने का स्वरूप है। यदि न्यायालय को ऐसा प्रतीत होता है कि सूचना न्यायोचित रूप में प्राप्त की गई थी तो, इससे स्रोत के संरक्षण का महत्व और बढ़ जाएगा। इसके विपरीत, यदि ऐसा प्रतीत होता है कि सूचना अवैध रूप से प्राप्त की गई थी तब इससे स्रोत के संरक्षण का महत्व कम हो जाएगा, जब तक कि सूचना के प्रकाशन में स्पष्ट लोकहित द्वारा प्रतिसन्तुलन स्थापित नहीं होता जैसाकि एक प्राचीन मामले में स्रोत ने पक्षपात प्रकट करने का कार्य किया है।"

इसी मामले में, योरोपीय मानवाधिकार न्यायालय के समक्ष अपील की जाने पर (गुडविन बनाम यू.के) (1969) 22 ई.एच.आर.आर. 123, विपरीत निर्णय दिया गया और यह विचार व्यक्त किया गया (पृष्ठ 143) :

> "पत्रकारिता के स्रोतों का संरक्षण प्रेस स्वतंत्रता की एक मूल शर्त है, जैसाकि विधियों में और बहुत से सदस्य देशों की वृतिक आचार संहिताओं में परिलक्षित हैं और पत्रकारिता की स्वतंत्रता के अनेकों अन्तर्राष्ट्रीय लिखतों में अभिकथित हैं। ऐसे संरक्षण के बिना, स्रोतों को लोकहित महत्व के विषयों के बारे में जनता को सूचित करने में प्रेस की सहायता करने से अवरूद्ध किया जा सकेगा। इसके परिणामस्वरूप, लोकहित की निगरानी रखने की प्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका को क्षति पहुंचेगी और सही तथा विश्वसनीय सूचना देने में प्रेस की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। किसी लोकतांत्रिक समाज में प्रेस की स्वतंत्रता के लिए पत्रकारिता के स्रोतों को संरक्षण दिए जाने के महत्व और प्रेस की स्वतंत्रता का उपयोग करने में किसी आदेश या स्रोत प्रकटन के प्रभावी निरूत्साहकारी प्रभाव को ध्यान में रखते हुए ऐसा उपबंध कन्वेंशन के अनुच्छेद 10 के अनुकूल नहीं हो सकता जब तक कि लोकहित की अत्याधिक आवश्यकता द्वारा यह न्यायोचित न हो।"

योरोपीय न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि सूचना के प्रकाशन के विरुद्ध निषेधाज्ञा पर्याप्त संरक्षण देती है। सूचना के स्रोत को प्रकट करने के लिए निर्देश देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि कन्वेंशन कि अनुच्छेद 10(2) के अधीन प्रेस की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित किया जा सकता है यदि किसी लोकतांत्रिक समाज में ऐसा करना आवश्यक हो ; आवश्यकता की अपेक्षा के बारे में इस आशय से जांच किया जाना आवश्यक है कि क्या प्रतिबंध के लिए आग्रहपूर्ण सामाजिक आवश्यकता थी और अपने मूल्यांकन के लिए कतिपय मार्जिन प्राप्त है। तथापि, वर्तमान में, मूल्यांकन की राष्ट्रीय मात्रा लोकतांत्रिक समाज में उत्तर देने में तथा स्वतंत्र के अनुरक्षण में अवरूद्ध हो जाती है। इसी प्रकार, सन्तुलन में, यह निश्चित करने में, जैसाकि अनुच्छेद

10(2) के अधीन किया जाना चाहिए, लोकहित भारी होगा कि क्या प्रतिबंध न्यायोचित उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयास में समानानुपातिक था। संक्षेप में, पत्रकारिता के संसाधनों की गोपनीय प्रतिबंधों के बारे में न्यायालय द्वारा अत्यन्त सावधानीपूर्वक जांच किए जाने की अपेक्षा है। न्यायालय का कार्य राष्ट्रीय प्राधिकरण का स्थान लेना नहीं है (यहां हम, जैसाकि मूल अधिकारों के अतिरिक्त अन्य मामलों में लागू होने वाले वैडनैसबरी नियमों के मामले में किया जाता है, का उल्लेख कर सकेंगे) अपितु अनुच्छेद 10 के अधीन मूल्यांकन करने में अपनी शक्ति के अनुसरण में किए गए निर्णय की पुनरीक्षा करना है। ऐसा करने में, न्यायालय को, समग्र मामले को ध्यान में रखते हुए, हस्तक्षेप की शिकायत पर विचार करना और यह सुनिश्चित करना होगा कि क्या राष्ट्रीय प्राधिकरण द्वारा इसे न्यायोचित ठहराने के लिए दिए गए कारण सुसंगत और पर्याप्त हैं (इसे हम आनुपातिक प्रक्रिया के रूप में स्मरण रखेंगे) यह तथ्य कि वादी योजना की अन्तर्वस्तु को आगे और प्रकट किए जाने से रोक पाने में या दस्तावेज की गुम हुई प्रति को पुन:प्राप्त कर पाने में समर्थ नहीं होगा, लोकतांत्रिक समाज में, जहां लोकहित में स्रोत का प्रकट किया जाना अपेक्षित है, प्रेस की स्वतंत्रता के अनुरूप सुसंगत आधार नहीं है। यह आवेदक के पत्रकारिता स्रोत के संरक्षण में लोकहित की उपेक्षा करने के लिए पर्याप्त नहीं है। प्रकटन आदेश द्वारा वैध उद्देश्य प्राप्त करने के लिए किए गए प्रयास और उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त साधनों के बीच आनुपातिकता का कोई न्यायोचित संबंध नहीं था।

गुडविन के मामले योरोपीय न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय पर **सैन्डर्स बनाम पंच लिमिटेड**, 1998 (1) ए.एल.एल.ई.आर. 234, मामले में न्यायाधीश लिन्डसे के समक्ष विचार किया गया। प्रतिवादी ने वादी तथा भूतपूर्व सालिसिटरों के बीच हुई बैठकों को निर्देश करते हुए एक लेख प्रकाशित किया। वादी ने इसे आगे प्रकाशित किए जाने के विरुद्ध निषेधाज्ञा प्राप्त कर ली। वादी चाहता था कि उसे सूचना का स्रोत बताया जाए। प्रश्न यह था कि क्या विधिक व्यवसायिक विशेषाधिकार का, जो इस अर्थ में पूर्ण था कि यह न्यायालय के सन्तुलनकारी कार्य के अध्यधीन नहीं था, पत्रकारिता विशेषाधिकार द्वारा, जो न्यायालय के सन्तुलनकारी विवेकाधिकार के अध्यधीन था, अधिक्रमण किया जा सकेगा। न्यायालय ने प्रकटन के अनुरोध को अस्वीकार करते हुए गुडविन के मामले का निर्देश किया, जो योरोपीय न्यायालय तक गया था, यह अभिनिर्धारित किया कि भविष्य में प्रकाशन के विरुद्ध मंजूर की गई निषेधाज्ञा से वादी को भविष्य में विशेषाधिकार प्राप्त संसूचनाओं के बारे में इतना अधिक संरक्षण प्राप्त हो जाएगा कि वादी को, यदि स्रोत के प्रकटन का निर्देश देने से इंकार कर दिया जाता है, कोई हानि होने की संभावना नहीं थी। यद्यपि, विधिक वृतिक विशेषाधिकार न्याय के प्रशासन में अत्यधिक महत्वपूर्ण था, इसके संरक्षण या प्रवर्तन की आवश्यकता ऐसी नहीं थी कि यह अनिवार्यत: और सर्वदा ही संतुलनकारी कार्य करने में अधिक प्रभावी हो, जिसे यह सुनिश्चित करने के लिए न्यायालय से किए जाने की अपेक्षा की जाती है कि क्या सूचना के स्रोत का प्रकट किया जाना लोकहित में आवश्यक था। यहां वास्तव में, न्याय के हित इतने अधिक महत्वपूर्ण नहीं थे कि प्रकटन के प्रतिबंध के अधिक्रमण की आवश्यकता होती। यद्यपि, हाऊस ऑफ लार्ड्स् ने आर बनाम डर्बी मजिस्ट्रेट्स् कोर्ट : 1995 (4) ए.एल.एल.ई.आर. 526 (देखें धारा 126 के अधीन की गई चर्चा) मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि किसी वकील तथा उसके मुवक्किल के बीच संसूचना संबंधी विशेषाधिकार यद्यपि पूर्ण था और न्यायालय के संतुलनकारी कार्य के अध्यधीन नहीं था, फिर भी, विरोधी लोकहित का सावधानीपूर्वक मूल्यांकन करने पर , सूचना के स्रोत को प्रकट करने का कोई मामला नहीं बनता था। परन्तु समाचार के उसके स्रोत के बारे में पत्रकार का विशेषाधिकार पूर्ण नहीं है।

हमें ज्ञात है कि विश्वपर्यन्त बहुत से देशों में, पत्रकारिता के स्रोतों को संरक्षण दिया जाता है जब सूचना के संदर्भ में लोकहित के बीच कोई विवाद नहीं होता है। यदि ऐसे मामलों में स्रोतों को प्रकट करना पड़ता है तब मीडिया को उपलब्ध इतनी महत्वपूर्ण सूचना के बारे में कोई विश्वास नहीं करेगा और लोकहित को और अधिक क्षति पहुंचेगी यदि ऐसी महत्वपूर्ण सूचना नीरस हो जाती है।

उपर्युक्त निर्णय जनित विधि का उल्लेख करते हुए, फिप्सन ने (15वां संस्करण, 1999, पैरा 24, 25, 26) निम्नलिखित कहा है :

> "इसलिए, पत्रकार के स्रोतों को विधिक संरक्षण प्राप्त है और न्यायालय को धारा 10 (कन्टैम्प्ट ऑफ कोर्टस् एक्ट, 1981) के अधीन प्रकटन का आदेश देने से पूर्व संतुलनकारी कार्य करना चाहिए।"

अब हम अन्य देशों की स्थिति का निर्देश करेंगे।

अमरीका में, 1937 में, एसोसिएटेड प्रेस बनाम एन.एल.आर.बी. : (1937) 301 यूएस 103, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि :

> "एसोसिएटिड प्रेस का कारोबार विनियमों से उन्मुक्त नहीं है क्योंकि यह प्रेस की एक एजेन्सी है। किसी समाचारपत्र के प्रकाशक को सामान्य विधियों के लागू होने से विशेष उन्मुक्ति प्राप्त नहीं है। उसे अन्य व्यक्तियों के अधिकारों तथा स्वतंत्रता पर प्रहार करने का विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। उसे न्यायालय की अवमानना के लिए दंडित किया जा सकेगा। वह न्यास-विरोधी विधियों के अध्यधीन है। अन्य व्यक्तियों की तरह उसे अपने कारोबार के लिए समान तथा भेदभाव रहित करों का संदाय करना होगा।"

ब्रन्जबर्ग बनाम हेज : (1972) 408 यूएस 665 मामले में यह प्रश्न व्युत्पन्न हुआ कि क्या किसी पत्रकार को हशीश बनाने वाले दो व्यक्तियों की पहिचान करने के लिए ग्रान्ड ज्यूरी द्वारा सम्मन भेजकर न्यायालय में साक्ष्य देने के लिए बुलाया जा सकता है। किसी पत्र के नाम से समाचार में जैफरशन काउंटी के निवासी दो युवकों के बारे में मैरीहुआना से हशीश बनाने के कार्य से तीन सप्ताह में 5000 डालर कमाने के बारे में एक वृतांत प्रकाशित हुआ था। अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि समाचार अपराध से संबंधित है और इस समाचार से कोई विशेषाधिकार संबद्ध नहीं है। इस संदर्भ में, न्यायालय ने एसोसिएटेड प्रेस बनाम एन.एल.आर.बी. मामले का निर्देश किया और यही बात दोहराई कि पत्रकार भी किसी अन्य साक्षी की भांति ही है और उसे कोई संरक्षण प्राप्त नहीं है। न्यायाधीश व्हाईट ने निम्न विचार व्यक्त किया—

> "प्रेस द्वारा गोपनीय स्रोतों का प्रयोग करना वर्जित या प्रतिबंधित नहीं है। संवाददाता विधि के अधीन साधनों द्वारा किसी भी स्रोत से समाचार पाने के लिए स्वतंत्र हैं प्रेस को अपने प्रकाशन का स्रोत बताने की अपेक्षा करने का या अनुरोध करने पर विचार किए बिना ही स्रोत को प्रकट करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया जाता है .....
>
> यह स्पष्ट है कि प्रथम संशोधन से सामान्य रूप से प्रयोज्यनीय सिविल या दांडिक विधियों के प्रवर्तन के परिणामस्वरूप प्रेस का प्रत्येक प्रासंगिक भार अविधिमान्य नहीं हो जाता है ..... वहां यह अभिनिर्धारित किया गया (एसोसिएटिड प्रेस) कि समाचार एकत्र करने और प्रकाशित करने वाले प्रत्येक संगठन को नेशनल लेबर रिलेशन्स् एक्ट की अपेक्षाओं से छूट प्राप्त नहीं हो जाती है। बोलने तथा प्रकाशित करने के अधिकार के साथ समाचार एकत्र करने का निर्बाध अधिकार संलग्न नहीं है ....."

अतः यह आश्चर्यजनक नहीं कि प्राधिकार का अधिक महत्व इस बात में निहित है कि संवाददाताओं की ग्रान्ड ज्यूरी के समक्ष उपस्थित होने के सामान्य कर्त्तव्य से और दांडिक अन्वेषण से सुसंगत प्रश्नों का उत्तर देने से उन्मुक्ति प्राप्त नहीं है। साधारण विधि के अनुसार न्यायालय निरन्तर किसी ऐसे विशेषाधिकार के अस्तित्व को स्वीकार करने से इंकार करते रहे हैं जो किसी संवाददाता को अपनी गोपनीय सूचना को प्रकट करने से इंकार करने के लिए प्राधिकृत करता हो। ग्रान्ड ज्यूरी का साक्षियों को सम्मन भेजकर साक्ष्य के लिए बुलाने का प्राधिकार न केवल ऐतिहासिक है अपितु उसके कार्यों का एक अनिवार्य अंग है। यद्यपि ग्रान्ड ज्यूरी की शक्तियां असीमित नहीं हैं और वे न्यायाधीश के पर्यवेक्षणाधीन हैं, प्राचीन काल से चला आ रहा यह सिद्धान्त कि "जनता को ..... प्रत्येक व्यक्ति के साक्ष्य का अधिकार प्राप्त है," सिवाय उन व्यक्तियों के, जिन्हें संवैधानिक साधारण विधि या विधिक विशेषाधिकार प्राप्त है, ग्रान्ड ज्यूरी की कार्यवाहियों के लिए लागू होती है।

बहुत से राज्यों ने संवाददाताओं के विभिन्न प्रकार के विधिक विशेषाधिकार प्रदान किए हैं परन्तु अधिकांश राज्यों ने ऐसा नहीं किया है और संघीय विधि द्वारा ऐसा कोई विशेषाधिकार स्वयं को अपराध में फंसाने के लिए विवश करने के विरुद्ध पांचवें संशोधन द्वारा उपबंधित विशेषाधिकार है, जो गैर सरकारी साक्षियों के लिए संघीय संविधान में निहित है। हमसे कहा गया है कि संवाददाताओं को परिसाक्ष्यात्मक विशेषाधिकार देने के लिए जो अन्य नागरिकों को प्राप्त नहीं है, पहले संशोधन की व्याख्या करके एक और विशेषाधिकार का उपबंध किया जाए। हम ऐसा करने से इंकार

करते हैं। किसी व्यक्ति तथा उसकी सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से निष्पक्ष और प्रभावी विधि का प्रवर्तन सरकार का मूल कार्य है और ग्रान्ड ज्यूरी इस प्रक्रिया में संविधान द्वारा आज्ञापित महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

और यह अभिनिर्धारित किया गया कि विधि के प्रवर्तन में लोकहित की अपेक्षा है कि पत्रकार ग्रान्ड ज्यूरी के समक्ष उपस्थित हो। यह तर्क दिया गया कि सूचनादाता "संवाददाता से बात करने से इंकार कर सकते हैं यदि उन्हें सरकार अन्वेषण में किसी रिपोर्टर द्वारा पहिचान लिए जाने का भय है।" न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वे इस तर्क को स्वीकार नहीं कर सकते कि भविष्य को अपराध के बारे में अप्रकट और अप्रमाणित, संभव समाचारों के बारे में जो सूचनादाता द्वारा प्रेस को बताए जाते हैं, कार्यवाही करने और अभियोजन चलाने में लोकहित के विरूद्ध प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिए और इस प्रकार भविष्य में ऐसे अपराधों को रोका जा सकेगा।"

अगला मामला जुरशर बनाम स्टैनफोर्ड डेली : (1978) 436 यू.एस. 547 का है। प्रदर्शनकारियों के एक वर्ग और पुलिस में एक हिंसात्मक मुठभेड़ हुई थी और बहुत से पुलिसकर्मी घायल हो गए थे। स्टैनफोर्ड डेली के विशेष प्रकाशन में हिंसात्मक मुठभेड़ के बारे में चित्र प्रकाशित हुए और लेख लिखे गए। जिला अटर्नी कार्यालय द्वारा म्यूनिसिपल न्यायालय से घटनाओं को दर्शाने वाले चित्रों, फिल्म तथा फोटोग्राफों के निगेटिव प्राप्त करने के लिए दैनिक के कार्यालय की तत्काल तलाशी लेने के लिए एक वारंट प्राप्त किया गया। यह ठीक है कि तलाशी के समर्थन में दिए गए शपथ-पत्र में प्रेस के फोटोग्राफर या दैनिक के अन्य कर्मचारियों के अन्तर्ग्रस्त होने के बारे में कोई आरोप नहीं लगाया गया था। यदि मजिस्ट्रेट स्थान के बारे में निश्चित था और उसने तलाशी लेने के लिए अनुमति देने का न्यायोचित निर्णय लिया था तो अधिकारियों के लिए सामान्य सम्पादकीय तथा प्रकाशन संबंधी निर्णयों के लिए निर्बाध रूप में तलाशी लेने या अनाधिकार प्रवेश करने या अवरूद्ध करने का कोई अवसर नहीं रह जाता है।

"न ही हम **ब्रेनदाबर्ग** बनाम **हेज**, 408 यूएस 665 (1972) मामले की तुलना में अधिक विश्वस्त हैं कि गोपनीय स्रोत विलुप्त हो जाएंगे और प्रेस तलाशी वारंट के भय से समाचार को दबा लेगा ..... अन्तत : हम नोट करते हैं. कि यदि वारंट द्वारा अपेक्षित संभावित हेतु की अपेक्षाओं का समाधान करने के लिए अपराध से पर्याप्त रूप से संबंधित है तो सम्मन भेज कर साक्ष्य के लिए बुलाने को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए और किसी प्रस्ताव को रद्द करने का प्रतिरोध करने के लिए पर्याप्त रूप से सुसंगत हो सकेगा।"

यह बात नोट की जाएगी कि ब्रेजनबर्ग तथा जुरशर, दोनों ही मामले अपराधों के सूचना से संबंधित हैं।

कोहेन बनाम कोलिम मीडिया एण्ड कम्पनी (1991) 501, यूएस 663, मामले में निन्दा लेख के बारे में विवाद पैदा हुआ। कोहेन ने, जो एक दल के राजनैतिक अभियान से जुड़ा था, लैफ्टिनेन्ट गवर्नर के पद के लिए दूसरे दल के प्रत्याशी से संबंधित न्यायालय के अभिलेख गोपनीयता के आश्वासन के पश्चात् संवाददाता को दे दिए। न्यायालय के अभिलेखों में यह दर्शित किया गया था कि प्रत्याशी गैरकानूनी सभा के लिए तीन बार आरोपित हुआ था (बाद में मुक्त कर दिया गया)। समाचार पत्र के सम्पादकीय कर्मचारियों ने अपना आश्वासन पूरा नहीं किया और कोहेन का नाम प्रकाशित कर दिया, जिसके कारण कोहेन को अपने पद से हाथ धोना पड़ा। उसने आश्वासन भंग करने के लिए पत्रकार के विरुद्ध वाद दायर किया। न्यायाधीश व्हाईट ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रथम संशोधन किसी वाद हेतुक पर प्रतिबंध नहीं लगाता है और राज्य के उच्चतम न्यायालय के निर्णय को उलटते हुए प्रथम न्यायालय के निर्णय को बहाल कर दिया। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि राज्य के लिए सामान्य रूप से लागू होने वाली विधियों को, जैसे प्रतिज्ञाभुक्त विबंधों (प्रॉमिजरी एस्टोपल) संबंधी विधि, लागू करना अनुज्ञेय है और उससे प्रेस पर कोई आक्षेप नहीं लगता। मामले को प्रतिप्रेषित कर दिया गया और बाद में मिनिस्दा उच्चतम न्यायालय ने क्षतिपूर्ति के रूप में 2,00,000 डालर का जुर्माना किया।

1978 में जुरशर के पश्चात्, कांग्रेस ने प्रतिक्रिया स्वरूप प्राइवेसी प्रोटेक्शन एक्ट, 1980 अधिनियमित किया (42 यूएस सीए सैक्शन 2000 ए ए से 2000 एए 12 तक के रूप में संहिताबद्ध)। अधिनियम प्रत्येक सरकारी अधिकारी या कर्मचारी, राज्य का या संघीय, के लिए लागू होता है। ऐसे व्यक्ति किसी दांडिक अपराध के अन्वेषण या अभियोजन के संबंध में किसी सामग्री

(अर्थात् सामग्री, उन सामग्रियों के अतिरिक्त, जो अपराध के परिणाम या माध्यम हैं, मनःप्रभावी धारणा सहित, जो जनता को सूचित करने के अनुमान से तैयार की गई हो) के बारे में तलाशी या उसका अभिग्रहण नहीं कर सकेगा यदि ऐसी सामग्री, जो अन्तरराज्यीय या विदेशी वाणिज्य के बारे में है या उसे प्रभावित करती है, ऐसे व्यक्ति के पास है जिसके बारे में ऐसा युक्तियुक्त विश्वास है कि उसका उद्देश्य जनसंचार माध्यमों से (जैसे समाचार-पत्र, पुस्तक या प्रसारण) उसे जनता तक पहुंचाना है। अभिग्रहण करने की शक्ति पर ये प्रतिबंध, अधिनियम के अनुसार लागू नहीं हो सकेंगे यदि सामग्री—

> "राष्ट्रीय सुरक्षा, विशिष्ट सूचना, प्रतिबंधित डाटा से संबंधित है या यदि ऐसा विश्वास करने का कारण हैं कि मृत्यु या शारीरिक क्षति को रोकने के लिए तत्काल अभिग्रहण आवश्यक है। दस्तावेजी सामग्री, जिससे अन्तर्राज्यीय और विदेशी वाणिज्य प्रभावित होता है, (अर्थात् सामग्री, जिस पर सूचना अभिलिखित की गई है, जैसेकि लिखित या मुद्रित सामग्रियां या फोटोग्राफ, परन्तु अपराध के परिणाम और माध्यमों को छोड़कर) यदि ऐसे व्यक्ति के कब्जे में है, जिसका उद्देश्य उसे समाचार-पत्र, पुस्तक, प्रसारण या ऐसे ही किसी अन्य जनसंचार माध्यम से जनता तक पहुंचाना है। ये नियंत्रण भी कतिपय अपवादों के अध्यधीन हैं। उदाहरण के लिए, दस्तावेजी सामग्री का अभिग्रहण सामान्यतया निषिद्ध नहीं है यदि ऐसा विश्वास करने का न्यायोचित कारण है कि सामग्री रखने वाले व्यक्ति ने कोई ऐसा दांडिक अपराध किया है या कर रहा है जिससे सामग्री संबंधित है, या मृत्यु या शारीरिक क्षति को रोकने के लिए तत्काल अभिग्रहण आवश्यक है या नोटिस देने का परिणाम सामग्री को नष्ट करना, उसमें परिवर्तन करना या उसे छिपाना हो सकेगा। अधिनियम का यह भाग भी राष्ट्रीय सुरक्षा, अतिविशिष्ट सूचना या प्रतिबंधित डाटा के लिए लागू नहीं होता है। समस्त अधिनियम सीमावर्ती तलाशियों के लिए लागू नहीं होता है।"

तलाशी या अभिग्रहण के अध्यधीन किया गया कोई व्यक्ति, जो अधिनियम के अधीन गैरकानूनी है, संयुक्त राज्य या राज्य के विरुद्ध नुकसानी के लिए सिविल वाद हेतुक रखता है (यदि राष्ट्र या राज्य के संविधान के अन्तर्गत अपनी सार्वभौम उन्मुक्ति अधिव्यक्त कर दी है) नुकसानी की राशि वास्तविक होगी परन्तु नुकसानी की परिनिर्धारित राशि 1000 डालर से कम नहीं होगी और इसके अतिरिक्त, अटार्नी को न्यायोचित फीस और देनी होगी।

हम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से कतिपय अन्य सामग्रियों का भी निर्देश कर सकेंगे। यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राईट्स के अनुच्छेद 19 में निम्नलिखित कहा गया है :

> "अनुच्छेद 19—प्रत्येक व्यक्ति को विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त है, इस अधिकार में बिना किसी हस्तक्षेप के विचार धारण करने और किसी मीडिया से और किसी भी देश से सूचना मांगने, प्राप्त करने और देने की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है।" सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा (1966) (आई.सी.सी.आर.) के अनुच्छेद 19(1) के पैरा 2 में निम्नलिखित कहा गया है :

> "प्रत्येक व्यक्ति को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार होगा, इस अधिकार में सूचना तथा सभी प्रकार के विचार, सीमा प्रदेशों को ध्यान में रखे बिना ही, मौखिक, लिखित में या मुद्रित रूप में, कला के रूप में या किसी अन्य इप्सित माध्यम से, मांगने, प्राप्त करने और देने की स्वतंत्रता भी सम्मिलित होगा"।

यह अधिकार कतिपय न्यायोचित नियंत्रणों के अध्यधीन जैसाकि अनुच्छेद 19(3) आई.सी.सी.आर. में कहा गया है, प्राप्त होगा।

> "इस अनुच्छेद के पैरा 2 में उपबंधित अधिकारों के प्रयोग के साथ कतिपय कर्त्तव्य और दायित्व भी जुड़े हैं। इसलिए यह अधिकार कतिपय नियंत्रकों के अधीन प्राप्त होगा, परन्तु ये नियंत्रण ऐसे होंगे जो विधि द्वारा उपबंधित किए गए तथा आवश्यक हैं : (क) अन्य व्यक्तियों के अधिकारों और प्रतिष्ठा के सम्मान के लिए; (ख) राष्ट्रीय सुरक्षा या लोक व्यवस्था या लोक स्वास्थ्य या आदर्शों के संरक्षण के लिए"।

यह अधिकार यूरोपीय कन्वेंशन फॉर प्रोटेक्शन ऑफ ह्यूमैन राइटस एण्ड फंडामेंटल फ्रीडमस तथा अमरीकी कन्वेंशन ऑन ह्यूमैन राइटस, 1979 में भी समाविष्ट किया गया है।

ह्यूमैन राइट्स क्वार्टरली (1998), 'जॉहन्सबर्ग प्रिंसिपल्स ऑन नेशनल सिक्योरिटी' नामक एक आर्टिकल के खण्ड 20 में, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सूचना तक पहुंच प्राप्त होगी (पृष्ठ 1 से 80 तक) के बारे में, पत्रकारों के स्रोतों के लिए, विभिन्न देशों में विधिक स्थिति के बारे में, सिद्धान्त 18 के संदर्भ में (पृष्ठ 68-70 तक में) निम्नलिखित रूप में विचार व्यक्त किया गया है (पृष्ठ 68) :

> "सिद्धान्त 18 में कहा गया है कि राष्ट्रीय सुरक्षा के संरक्षण का प्रयोग किसी पत्र के गोपनीय स्रोतों का पता करने के लिए उसे विवश करने के कारण के रूप में नहीं किया जाएगा। यह सिद्धान्त आस्ट्रेलिया तथा फ्रांस में प्रचलित विधि और नार्वे के उच्चतम न्यायालय में विवेकपूर्ण विचार किया जाना दर्शाता है। बहुत से देशों के न्यायालयों ने तथा यूरोपीय कोर्ट ऑफ ह्यूमैन राइट्स ने इस आवश्यकता को स्वीकार किया है कि यदि प्रेस को सरकारी तंत्र पर निगरानी रखने का अपना सार्वजनिक कार्य प्रभावी रूप से करना है तो उसके स्रोतों की गोपनीयता सुरक्षित रहनी चाहिए।
>
> आस्ट्रेलिया तथा फ्रांस में, यदि जानकारी किसी पत्रकार को उसके पत्रकारिता संबंधी गतिविधियों के दौरान उसे विश्वास में प्राप्त हुई हैं तो, उसे उसकी जानकारी का स्रोत बताए जाने के लिए विवश नहीं किया जा सकेगा यदि वह जानकारी राष्ट्रीय और राज सुरक्षा से संबंधित मामलों के बारे में ही क्यों न हो। (प्रेस लॉ एण्ड प्रैक्टिस : ए कम्पोरेटिव स्टेडी ऑफ फ्रीडम इन यूरोप एण्ड अदर डेमोक्रेसीज; वाल्टरब्कं (आस्ट्रेलिया) और रोजर एर्ड (फ्रांस) पैरा 19 (फ्रांस की दंड प्रक्रिया संहिता, जनवरी, 1993 के अधिनियम 94 द्वारा संशोधित रूप में, का पाठ इस प्रकार है : अपने पत्रकारिता संबंधी कार्यों के दौरान प्राप्त हुई जानकारी के बारे में कोई पत्रकार जब साक्षी के रूप में न्यायालय में उपस्थित होता है तब वह अपने स्रोत को प्रकट न करने के लिए स्वतंत्र है)
>
> नार्वे के उच्चतम न्यायालय ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि "जितना महत्वपूर्ण किसी हित का उल्लंघन है उतना ही महत्वपूर्ण जानकारी के स्रोतों का संरक्षण है" **कान्ट्रोलूवैले बनाम जॉनसन** : 1992 (1) एल.एन.आर. 319 . . . । जर्मनी, स्वीडन तथा अमरीका के अधिकांश राज्यों में, किसी पत्रकार को राष्ट्रीय या राज्य की सुरक्षा से सुसंगत मामलों में सूचना के स्रोत उद्घटित करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा जब तक कि उस सूचना के प्रकाशन से सुरक्षा के न्यायोचित हितों को कोई हानि न पहुंची हो; जानकारी मंगाने वाला पक्षकार विश्वस्त रूप में यह स्थापित करेगा कि स्रोत का जानना न्यायालय में चल रही कार्यवाही में मुख्य दावे को साबित करने के लिए आवश्यक है और आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का कोई वैकल्पिक साधन नहीं है। इसके उत्तर में इंकार करने के अधिकार से सरकारी क्षेत्र के उन कर्मचारियों को पर्याप्त संरक्षण प्राप्त होता है जो सरकार के दुराचार के बारे में इंगित करते हैं।
>
> जर्मनी के संवैधानिक न्यायालय का यह तर्क है कि प्रेस की स्वतंत्रता के लिए मूलभूत विधि की संवैधानिक गारंटी पत्रकारों को अपने सूचना के स्रोतों के संरक्षण की अनुज्ञा देती है यदि प्रेस की स्वतंत्रता को प्रोत्साहन देने संबंधी हित न्याय प्रवर्तन के हित से बड़ा है (देखें 64 एफ.सी.सी. 108(1983) गोपनीय स्रोतों के संरक्षण का संवैधानिक अधिकार मूलत: सरकारी तंत्र के दुरुपयोग को निर्भत्रित करने में स्वतंत्र प्रेस की भूमिका में निहित है।

जापान के सप्पोरो जिला न्यायालय ने, जहां अपीलीय न्यायालय भी स्थित है, यह अभिनिर्धारित किया था कि पत्रकार किसी न्यायालय को भी, जानकरी देने से, जो उनकी 'व्यावसायिक गोपनीयता है', इंकार कर सकते हैं जब तक कि वह निष्पक्ष विचारण के लिए आवश्यक न हो तो, 30 मिन्स 403 (49 सीटी 8 मैन 1980) । लागोस राज्य (नाइजीरिया) के उच्च न्यायालय ने यह व्यवस्था दी थी कि पत्रकारों का विशेषाधिकार अधिक सुदृढ़ होना चाहिए, जहां प्रकाशित सूचना सामान्य लोक हित का विषय है। [**ओएगबेमी बनाम अपनी जनरल ऑफ फैडरेशन तथा अन्य** : (1982) एफ.एन.एल.आर. 192]

आर्टिकल ऑन ह्यूमैन राइटस क्वार्टरली में गुडविन बनाम यू. के. (1996 (2) रिपेजजमेंट एण्ड डिसीजनस 483, 505] मामले से एक उद्धरण दिया गया है कि स्रोत को प्रकट करने का निर्देश नहीं दिया जा सकेगा जब तक कि लोक हित में किसी बाध्यकारी अपेक्षा द्वारा न्यायोचित न ठहराया गया हो।"

विभिन्न देशों में विश्वपर्यन्त स्वीकार्य इस विशेषाधिकार की दृष्टि से, हमारा विचार यह है कि हमारे साक्ष्य अधिनियम में भी एक उपबंध किया जाना चाहिए।

भारतीय न्यायालयों ने, ब्रिटेन तथा अमरीका में हुए विधि के विकास को ध्यान में रखा है। दि रेजीडेंट एडीटर एण्ड ओर्स ऑफ दी हिन्दुस्तान टाइम्स : 1989 पी एल जे आर 821(पैट), मामले में पटना उच्च न्यायालय की एक खंडपीठ ने, **मैक्सवैल बनाम प्रैसड्राम लिमिटेड** : 1987 (1) डब्ल्यू. एल.आर. 298 और **ब्रैन्जबर्ग बनाम हैब** : (1972) 408 यू.एस. 665, मामलों का निर्देश करने के पश्चात् निम्नलिखित विचार व्यक्त किया है :

> "भारत में समाचार, सूचना या विचार प्रकाशित करने के लिए प्रेस की स्वतंत्रता की स्थिति, ब्रिटेन या अमरीका के संवाददाताओं से बेहतर नहीं है। उन्हें, यदि उनकी सूचना का स्रोत किसी अपराध करने में अन्तर्गस्त है या उसकी जानकारी न्यायालय में चल रही किसी कार्यवाही में अन्तर्गस्त विषय के लिए सुसंगत है तो, संवाददाताओं को साक्ष्य देने तथा स्रोत के प्रकटन सहित सभी प्रश्नों के उत्तर देने के लिए न्यायालय में बुलाया जा सकेगा। तथापि, कोई न्यायालय साधारणतया किसी संवाददाता को उसकी सूचना का स्रोत प्रकट करने के लिए विवश नहीं करेगा क्योंकि सूचना का निर्बाध प्रवाह भी एक लोक हेतु है और यह सर्वथा लोक हित में है कि प्रेस के कर्मचारियों को अपनी सूचना के स्रोतों की गोपनीयता संरक्षित रखने के लिए प्रकटन से उन्मुक्ति प्रदान की जाए। तथापि, ऐसे मामलों में जहां न्याय के हित की मांग है कि स्रोत को प्रकट किया जाए, न्यायालय आदेश देने के अपने अधिकार के अधीन किसी संवाददाता को अपने समक्ष चल रही कार्यवाही में साक्षी के रूप में बुला सकेगा। संवाददाता सभी प्रश्नों के, अपनी सूचना के स्रोत के प्रकटन के सहित, उत्तर देने के लिए बाध्य होगा। ऐसे किसी प्रश्न का उत्तर देने से उसके इंकार करने से उसके विरुद्ध विधि व्यवस्था के उल्लंघन के लिए वाद हेतुक बन जाएगा।
>
> तथापि, न्यायालय, सर्वथा सूचना के निर्बाध प्रवाह जैसे उपयुक्त लोक हित को और अन्य किसी लोक हित को, जिसका संवाददाता द्वारा उसके समक्ष अभिवचन किया जाए, ध्यान में रखेगा। परन्तु यदि, न्याय प्रशासन के हित से अधिक महत्व का कोई लोक हित नहीं है, या कोई ऐसा लोक हित है ही नहीं जिसके स्रोत को प्रकट करने के विरुद्ध गोपनीयता बनाए रखने का तर्क दिया जाए तो, संवाददाता स्रोत को प्रकट करेगा।"

श्री समरदिपै पाल ने न्यायालय की अवमानना अधिनियम, 1971 के बारे में अपनी समीक्षा में (दूसरा संस्करण, 1999, पृष्ठ 90) मैकने जे लॉ फॉर जर्नलिस्ट्स (10वां संस्करण, पृष्ठ 58) से निम्नलिखित उद्धरण दिया है : "यह व्यावसायिक सिद्धान्त का मामला है कि कोई सूचना देने वाला सूचना प्राप्त करने के अपने स्रोत को प्रकट नहीं करता . . . . पत्रकार का कार्य समाचार खोजना तथा उसे अभिलिखित करना है। वह जहां भी देखेगा, उसे निजी स्वार्थों वाले व्यक्ति मिलेंगे जो उसे ऐसा करने से रोकने का प्रयास करेंगे . . . . । इस कारण से, उसे अपनी के लिए, ऐसे लोगों द्वारा दी गई जानकारी का विश्वास करना पड़ेगा जिन्हें, यदि यह पता चल जाता है कि उन्होंने यह सब किया है, क्षति पहुंच सकेगी।" श्री पाल ने कहा है कि सामान्य विधि में, न्यायाधीशों को किसी व्यक्ति को, जिसे किसी प्रकार की सूचना प्राप्त हुई है, उसके सूचना के स्रोत का नाम प्रकट करने के लिए आदेश देने का विवेकाधिकार प्राप्त है और ऐसे आदेश का पालन करने में विफल रहने का परिणाम कारावास में बंद किया जाना हो सकेगा (पी लिंगल इम्पलीकेशन्स ऑफ डिस्क्लोजरर्स इन पब्लिक इन्टेरेस्ट, मोरने क्रिप द्वारा, दूसरा संस्करण पृष्ठ 254)। जहां तक पत्रकारों का संबंध है, प्रकटन का तर्क वहां असफल हो जाता है जहां राट्रीय सुरक्षा के हित में ऐसा प्रकटन आवश्यक समझा जाता है [ए.जी. बनाम मुल्होल्लैण्ड : 1963(2) क्यू.बी. 477; एजी बनाम क्लफ : 1963(1) क्यू.बी. 773]। इसके पश्चात् लेखक ने **स्टील कॉरपोरेशन बनाम ग्रान्डा टेलीविजन लिमिटेड** : 1980 (3) 5 डब्ल्यू एल आर 774 का निर्देश करते हुए कहा है कि जबकि जानकारी के स्रोत की प्रकटन के विरुद्ध कोई उन्मुक्ति प्रदान नहीं की गई है, न्यायालय इस बात का विचार कर सकेगा कि इसके प्रकट किए जाने से इंकार करना लोक हित में अपेक्षित है।

दिल्ली उच्च न्यायालय में एक ऐसा ही मामला सामने आया। **न्यायालय अपनी जोखिम पर बनाम दि पायनियर** : खंड 68 (1997) दिल्ली लॉ टाइम्स पत्रकार, जिसने न्यायपालिका की आलोचना करते हुए समाचार प्रकाशित किया, उसे अवमानना का नोटिस भेजा गया। उच्च न्यायालय ने सूचना का स्रोत प्रकट करने के लिए आदेश दिया। सूचना के बारे में तब यह प्रकट किया गया कि वह समाचार दिल्ली सरकार के वरिष्ठ अधिकारी के साथ हुए साक्षात्कार पर आधारित था। दायर की गई क्षमा याचना स्वीकार कर ली गई। निर्णय के दौरान, उच्च न्यायालय ने ग्रेनाडा टेलीविजन और न्यायालय अवमानना अधिनियम,

1981 की धारा 10 का निर्देश किया और यह अभिनिर्धारित किया कि जब न्याय के हित में आवश्यक समझा जाए, सूचना के स्रोत को प्रकट करने के लिए न्यायालय को निर्देश देने की शक्ति प्राप्त है।

स्थिति का सारांश में उल्लेख करते हुए, यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में सामान्य विधि में पत्रकारों को अपनी सूचना का स्रोत प्रकट करने के लिए कोई विशिष्ट विशेषाधिकार प्राप्त नहीं था। परन्तु 1963 में लार्ड डेनिंग ने **ए.जी. बनाम मलहोलैण्ड** : 1963 (2) क्यू.बी. 477, क्लर्जीमैन, बैंकर या चिकित्सा कर्मचारियों की भांति गोपनीय हो सकता है परन्तु यह विशेषाधिकार न्यायालय की शक्ति के अध्यधीन होगा। न्यायाधीश गोपनीयता का सम्मान करेगा परन्तु यदि वह समझता है कि सूचना न्याय के हित में आवश्यक है तो वह समुदाय के हित और न्याय किए जाने में परस्पर हितों की तुलना करेगा। यह दृष्टिकोण हाऊस ऑफ लार्ड्स् द्वारा **ब्रिटिश स्टील कारपोरेशन बनाम ग्रेवाडा टेलीविजन** : 1981 ए.सी. 1096 मामले में स्वीकार कर लिया गया। इसके परिणामस्वरूप न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1981 (यू.के.) की धारा 10 के सिद्धान्त को सांविधिक मान्यता प्राप्त हुई जिसके अधीन न्यायालय "न्याय के हित में, या राष्ट्रीय सुरक्षा या अपराध निवारण के हित में" प्रकट करने का आदेश दे सकेगा। हाऊस ऑफ लार्ड्स् द्वारा उपर्युक्त उपबंध की **सैक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर डिफेंस एण्ड अनादर बनाम गारजियम न्यूजपेपर लिमिटेड** : 1984 (3) ए.एल.एल.ई.आर. 601 मामले में और कम्पनी सिक्योरिटी (इनसाइड डीलिंग) एक्ट, 1985 के अधीन **रि एन इन्क्वायरी** 1988 (1) ए.एल.एल.ई.आर. 203 (एच सी) और **एम्स लिमिटेड बनाम मोरगन**— ग्रेम्पियन पब्लिशर्स 1990(2) ए.एल.एल.ई.आर., पृष्ठ 1, मामलों में व्याख्या की गई। अन्तिम मामला, **गुडविन बनाम यू.के.** 1996, 22, ई.एच.आर.आर. 123 यूरोपीय न्यायालय में गया जहां यह अभिनिर्धारित करते हुए कि अपना स्रोत प्रकट न करने का प्रेस का अधिकार एक अधिकार है जिसे यूरोपीय कन्वेंशन के अधीन संरक्षित रखना होगा, यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि यह प्रकटन के अध्यधीन होगा यदि न्यायालय लोकहित में उसके प्रकटन का आदेश देता है। यूनाइटेड किंगडम में, बाद में 1998 में गुडविन के मामलों का अनुसरण किया गया है।

अमरीका में भी, स्रोत को गोपनीय रखने का प्रेस का अधिकार पहले संशोधन के अधीन पूर्ण नहीं है अपितु आपराधिक अन्वेषण के लिए या ग्रान्ड ज्यूरी के समक्ष, व्यक्ति का सम्पत्ति की सुरक्षा तथा लोक हित की दृष्टि से, न्यायालय द्वारा प्रकटन का निर्देश दिए जाने के अध्यधीन है। कांग्रेस द्वारा प्राइवेसी प्रोटैक्शन एक्ट, 1980 अधिनियमित किया गया, जिसमें राष्ट्रीय सुरक्षा आदि कतिपय अपवाद अन्तर्विष्ट हैं। जर्मनी, जापान तथा स्वीडन और अमरीका में अधिकांश राज्यों में भी यही विधि है।

पटना और दिल्ली उच्च न्यायालयों ने भी, जैसा कि ऊपर बताया गया है, यही अभिनिर्धारित किया है कि विशेषाधिकार तो उपलब्ध है परन्तु यह न्याय तथा लोक व्यवस्था आदि के हित में न्यायालय द्वारा प्रकटन का निर्देश देने की शक्ति के अध्यधीन है।

आतंकवाद निवारण विधेयक, 2000 पर अपनी 173वीं रिपोर्ट में आयोग ने संविधान के अनुच्छेद 19(1) (क) का निर्देश करते हुए कहा है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा बार-बार यह अभिनिर्धारित किया गया है कि प्रेस के अधिकार और विशेषाधिकार भारत के किसी नागरिक के अधिकारों से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है और यह कि यूनाइटेड किंगडम और अमरीका में भी पत्रकार/प्रेस को किसी उन्मुक्ति की मान्यता नहीं है और 'लॉ ऑफ प्रेस' तीसरा संस्करण (1996) के बारे में डी.डी. बसु की समीक्षा से निम्नलिखित उद्धरण दिया गया है :

> "ब्रिटेन की भांति, अमरीका में भी यह अभिनिर्धारित करते हुए, वही दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है कि प्रेस की स्वतंत्रता की गारंटी अपराधों की जांच में सहायता करने से, जो प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है, प्रेस को उन्मुक्ति प्रदान नहीं करती है। तदनुसार, वे पत्रकारों द्वारा अपने स्रोतों से एकत्रित की गई जानकारी को प्रकट करने के लिए बाध्य हैं, परन्तु यह कि वह जानकारी उस विशेष मामले में जांच के लिए सुसंगत हो और इस प्रयोजन से उन्हें आवश्यकता से अधिक प्रकट करने के लिए बाध्य किया जाए।"

बसु की पुस्तक से एक और उद्धरण दिया जाना अपेक्षित है।

हमने देखा है कि बसु की पुस्तक में उपर्युक्त उद्धरण **ब्रिटिश स्टील कारपोरेशन बनाम ग्रवाडा टेलीविजन** : 1981 ए.सी. 417 मामले में, जिसके कारण अधिनियम पारित किया गया तथा **सैक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर डिफेंस एण्ड अनादर बनाम गारजियम न्यूजपेपर लिमिटेड** : 1984 (3) ए.एल.एल.ई.आर. 601, मामले में यू.के. कन्टैम्पट ऑफ कोर्टस

एक्ट, 1981 की धारा 10 में दिए गए चार अपवादों का निर्देश किए जाने से पहले दिया गया है। तथापि यह स्पष्ट है कि यूरोपीय न्यायालय का निर्णय तथा परवर्ती निर्णय जनित विधि यह दर्शाती है कि इस विशेषाधिकार के कुछ अपवाद हैं।

आतंकवाद निवारण अध्यादेश, 2001 की धारा 3(8) में यह कहा गया था कि वे सभी व्यक्ति, जिन्हें सूचना प्राप्त है या जिनके पास सूचना है, जिसके बारे में उन्हें ऐसा ज्ञान या विश्वास है कि यह आतंकवादी कार्यों के निवारण के लिए सारवान है, अनुज्ञेय होंगे यदि वे न्यायोचित हेतु के बिना उसे अवरुद्ध करते हैं। परन्तु धारा 3(8) के परन्तुक में अभियुक्त के अधिवक्ता के मामलों को छूट दी गई है।

जब, बाद में अध्यादेश के स्थान पर आतंकवाद निवारण अधिनियम, 2002 प्रतिस्थापित किया गया, धारा 3(8), मुख्यतया पत्रकारों के अभ्यावेदन के कारण से, पूर्णतया निकाल दी गई। परन्तु हम विधिक स्थिति स्पष्ट करना चाहते हैं कि विधि में पत्रकारों के स्रोतों के बारे में कोई विशेषाधिकार नहीं है और यदि लोकहित में या न्याय के हितों की अपेक्षा है तो उन्हें स्रोत प्रकट करने के लिए विवश किया जा सकेगा। किसी पत्रकार का विशेषाधिकार पूर्ण नहीं है जैसा कि किसी वकील के मामले में है।

पहले ही निर्देशित की जा चुकी 93वीं रिपोर्ट में विधि आयोग ने अध्याय-नौ (पृष्ठ 34) में कहा है कि पत्रकार का विशेषाधिकार पूर्ण नहीं है और न्यायालय को विशेषाधिकार प्राप्त होना चाहिए और विषय उदार होना चाहिए। तथापि, आयोग ने कहा है कि वे किसी विशेषाधिकार को मान्यता नहीं दे रहे हैं। जब उन्होंने धारा 132 का प्रारूप तैयार किया तब उन्होंने, प्रकाशन के स्रोत को प्रकट करने का निर्देश देने के लिए न्यायालय में निहित किसी विशेषाधिकार का निर्देश नहीं किया था। तथापि, हमारा विचार है कि विभिन्न प्रयोजन से, लोकहित में प्रकटन के बारे में विशिष्ट उपबंध किया जाना चाहिए जिसका उल्लेख हम प्रस्तावित धारा में करेंगे।

उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हम निम्नलिखित रूप में धारा 132क के अन्तःस्थापन की सिफारिश करते हैं :—

"प्रकाशन में अन्तर्विष्ट सूचना के स्रोत का प्रकट किया जाना

132क. (1) कोई भी न्यायालय किसी प्रकाशन में अन्तर्विष्ट किसी सूचना के स्रोत को, किसी व्यक्ति से प्रकट करने की अपेक्षा नहीं करेगा जिसके लिए वह उत्तरदायी है जब तक कि न्यायालय के समाधान के लिए यह स्थापित नहीं हो जाता कि ऐसा प्रकटन भारत की सार्वभौमिकता तथा अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशों से मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या नैतिकता के हितों में या न्यायालय की अवमानना या किसी अपराध के उद्दीपन के संबंध में ऐसा प्रकटन आवश्यक है।

स्पष्टीकरण : इस धारा के प्रयोजनों के लिए,

(क) प्रकाशन से अभिप्रेत है, कोई भाषण, लेख, किसी भी रूप में इलैक्ट्रानिक मीडिया के माध्यम सहित संसूचना के किसी भी माध्यम से अभिव्यक्त प्रतीक या अभ्यावेदन, जो जनता को या जनता के किसी वर्ग को संबोधित किए गए हों।

(ख) स्रोत से अभिप्रेत है, वह व्यक्ति, जिससे या माध्यम जिसके द्वारा संसूचना प्राप्त की गई है।

(2) उप-धारा (1) के अधीन किसी व्यक्ति से सचूना के स्रोत को प्रकट करने की अपेक्षा करते हुए, न्यायालय स्रोत को प्रकट न करने के पत्रकार के अधिकार के विरुद्ध स्रोत के ऐसे प्रकटन की आवश्यकता का निर्धारण करेगा"।

धारा 132 ख (69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित रूप में) तथा (इस रिपोर्ट में प्रस्तावित) धारा 132ग :

''पेटेन्टए जेन्टों के अध्याय 72 में यह सिफारिश की गई थी कि विशेषाधिकारों के बारे में एक पृथक उपबंध होना चाहिए, जो पेटेन्ट अधिनियम, 1970 की धारा 126 तथा 127 से शासित हो। इन उपबंधों के फलस्वरूप, कोई पेटेन्ट ऐजेन्ट न केवल उच्च न्यायालय में अपितु पेटेन्ट अधिनियम की धारा 73 में निर्देशित कन्ट्रोलर जनरल ऑफ पेटेन्टस्, डिजाइन तथा ट्रेडमार्कस् के समक्ष भी वकालत कर सकेगा। कोई पेटेन्ट एजेन्ट सभी दस्तावेज तैयार कर सकेगा, समस्त कारबार कर सकेगा तथा कन्ट्रोलर के समक्ष कार्यवाही के संबंध में विहित अन्य सभी कृत्य कर सकेगा। पेटेन्टस् एक्ट की धारा 126 में पेटेन्ट एजेन्ट के कार्य व्यावसायिक विधिक परामर्शदाता के अनुरूप ही हैं, 69वीं रिपोर्ट में, यू.के. सिविल ऐविडेंस एक्ट, 1968 का निर्देश किया गया था (देखें पैरा 72.2) जो पेटेन्ट कार्यवाहियों से संबंधित कतिपय संसूचनाओं के लिए विशेषाधिकार के बारे में है।''

अब यूनाइटेड किंगडम में स्थिति (यू.के.) कॉपीराइट, डिजाइनस् और पेटेन्टस् एक्ट, 1988 से शासित होती है। उक्त अधिनियम में, न केवल पेटेन्टस् एजेन्टों के साथ अपितु ट्रेडमार्कस् एजेन्टों के साथ भी संसूचनाओं में विशेषाधिकार का निर्देश किया गया है। अधिनियम की धारा 280 पेटेन्ट एजेन्ट की संसूचनाओं का निर्देश करती है और ''किसी अविष्कार, डिजाइन, तकनीकी सूचना, ट्रेडमार्क या सर्विस मार्क या चला देने के किसी विषय को संरक्षण देने से संबंधित किसी विषय के प्रकटन से रोकती है।''

भारतीय ट्रेडमार्कस् अधिनियम, 1958 की धारा 123 में ''ट्रेडमार्क'' एजेन्टों का उल्लेख है। यद्यपि, 69वीं रिपोर्ट में केवल पेटेन्ट एजेन्टस् के विशेषाधिकार का निर्देश है, 1988 के यूनाइटेड किंगडम के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए, हमारा विचार यह है कि दो पृथक उपबंध होने चाहिए, धारा 132ख पेटेन्ट एजेन्टों के लिए और धारा 132ग ट्रेडमार्क एजेन्टों के लिए।

विशेषाधिकार उस सीमा तक ही प्राप्त होगा जिस सीमा तक कि विषय प्रस्तावित धारा के अधिकार क्षेत्र में आएगा। प्रस्तावित धारा 132ख की अधिकारिता से बाहर की गई किसी चीज को संरक्षण प्राप्त नहीं होगा। विधि की अधिकारिता से बाहर, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि पेटेन्ट एजेन्टों को कोई संरक्षण प्राप्त नहीं होगा [**बिल्डेन पम्प इंजीनियरिंग कम्पनी** बनाम **फजफैल्ड** : 1985 एफ.एस.आर. 159; न ही ट्रेडमार्क एजेन्टों को कोई संरक्षण प्राप्त होगा : **डारैपुल** ट्रेडमार्क (1983)आर.पी.सी. 132]।

धारा 132ख, 1977 की 69वीं रिपोर्ट में प्रारूपित रूप में, (यू.के.) सिविल ऐविडेंस् एक्ट, 1968 की धारा 15 पर आधारित थी (देखें पैरा 72.5)। परन्तु (यू. के.) कॉपीराइट डिजाइन्स एण्ड पेटेन्ट एक्ट, 1968 की धारा 280 और 284 की दृष्टि से हम, जहां तक पेटेन्ट एजेन्टस् का संबंध है, धारा 280 के अनुरूप ही धारा 132ख के पुनर्प्रारूपण का प्रस्ताव करते हैं और जहां तक ट्रेडमार्क एजेन्टस् का संबंध है, उनके बारे में हम धारा 132ग की सिफारिश करते हैं।

इस संबंध में, यह भी नोट करना होगा कि हमारे पेटेन्टस् (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2002 का 38) के अधीन, धारा 116 के अधीन एक अपीलीय बोर्ड गठित की गई है और धारा 2 में कहा गया है कि धारा 21, धारा 43 और धारा 71 में जहां कहीं भी 'उच्च न्यायालय' शब्द आता है उसके स्थान पर अपीलीय बोर्ड और धारा 21 तथा धारा 71 में आने वाले शब्द 'न्यायालय' के स्थान पर 'बोर्ड' शब्द प्रतिस्थापित किया जाएगा। (न्यायालय शब्द 'उच्च न्यायालय' जैसा ही है और 'बोर्ड' शब्द उच्च न्यायालय जैसा)। मूल अधिनियम, 1970 की धारा 2(क) के उपबंधों से 2002 के अधिनियम की धारा 3(1) द्वारा पुर:स्थापित रूप में, जहां 'विहित' शब्द का प्रयोग किया गया है, यह स्पष्ट है कि वहां अभी भी उच्च न्यायालयों की कोई भूमिका शेष रही होगी। 1970 के मूल अधिनियम की धारा 125 में 2002 के अधिनियम की धारा 52 द्वारा प्रतिस्थापित रूप में, 'पेटेन्टस् के रजिस्टर किए जाने का निर्देश है। 1970 के मूल अधिनियम की धारा 130 में 'केन्द्रीय सरकार' शब्दों के स्थान पर 2002 के अधिनियम की धारा 55 द्वारा 'कन्ट्रोलर' शब्द प्रतिस्थापित किया गया है।

पहले हम (यू.के.) सिविल एविडेंस एक्ट, 1968 की धारा 15 तथा (यू.के.) कॉपीराइट डिजाइन्स् एण्ड पेटेन्टस् एक्ट, 1968 की धारा 280 के बीच अन्तर का निर्देश करेंगे। उसमें निर्देशित धारा 15(1) के उपबंध में यह उल्लेख किया गया है कि कम्पट्रोलर या अपीलीय अधिकरण के समक्ष संसूचनाओं को संरक्षण दिया जाएगा, और धारा 15(2) में विधिक कार्यवाहियों का (दांडिक कार्यवाहियों से भिन्न) निर्देश किया गया है और कहा गया है कि उच्च न्यायालय में किसी सॉलिसिटर तथा पक्षकार के बीच विशेषाधिकार समान होगा। उप-धारा (4) में कन्ट्रोलर, 'पेटेन्ट एजेन्ट' तथा पक्षकार को परिभाषित किया गया है।

1988 के (यू.के.) अधिनियम की धारा 280(1) में, जो 'पेटेन्ट ऐजेन्टों' के लिए लागू होती है, आविष्कार डिजाइन, तकनीकी जानकारी, ट्रेडमार्क या सर्विस मार्क या चला देने से संबंधित किसी मामले के बारे में संसूचनाओं के संरक्षण का निर्देश करती है। उपधारा (2) उन संसूचनाओं का निर्देश करती है जिन्हें इंग्लैण्ड में विधिक कार्यवाहियों में किसी व्यक्ति और सालिसिटर की भांति संरक्षण प्राप्त है। उपधारा (3) में 'पेटेन्ट ऐजेन्ट' को परिभाषित किया गया है और उपधारा (4) स्कॉटलैण्ड की विधिक कार्यवाहियों का निर्देश करती है। दूसरे शब्दों में, 'विधिक कार्यवाहियों' शब्द के प्रयोग के अन्तर्गत विभिन्न निकायों के अधीन वे कार्यवाहियां आती हैं जिनका उल्लेख नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त, 1988 के अधिनियम के अधीन विशेषाधिकार से दांडिक कार्यवाहियां अपवर्जित नहीं हैं। यह स्पष्ट है कि स्वयं को अपराध में फंसाए जाने के विरुद्ध अधिकार के बारे में यूरोपीय कन्वेंशन में किए गए उपबंध से विशेषाधिकार दांडिक कार्यवाहियों के लिए भी उपलब्ध हो जाता है (देखें फिप्सन पैरा 20.12, 1999, 15वां संस्करण)। 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 132ख में विशेषाधिकार का विस्तार दांडिक कार्यवाहियों के लिए भी किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 20(3) की दृष्टि से, हम भी इस विशेषाधिकार का विस्तार दांडिक कार्यवाहियों के लिए भी करना चाहते हैं (देखें पैरा 72.5)। ऐसी ही भाषा धारा 284 में भी प्रयोग की गई है जो 'ट्रेडमार्क ऐजेन्टों' के बारे में है।

हम, 1988 के यू.के. अधिनियम का प्रारूप स्वीकार करना चाहते हैं। 'पेटेन्ट ऐजेन्टस्' के बारे में विशेषाधिकार संबंधी उपबंध निम्नलिखित रूप में होना चाहिए :

पेटेन्ट ऐजेन्टस् के साथ संसूचना :

"132ख. (1) किसी पेटेन्ट या उसे चला देने से संबंधित किसी मामले के संरक्षण से संबंधित किसी मामले के बारे में किसी संसूचना को--

(क) किसी पक्षकार या उसके पेटेन्ट ऐजेन्ट के बीच, या

(ख) प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए या सूचना के अनुरोध के उत्तर में जिसे कोई पक्षकार अपने पेटेन्ट ऐजेन्ट को बताने के लिए मांगता है,

विधिक कार्यवाहियों में प्रकटन से उसी प्रकार से विशेषाधिकार प्राप्त है जैसे कि किसी पक्षकार और उसके वकील के बीच किसी संसूचना को था, यथास्थिति, प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए किसी संसूचना को या सूचना के लिए अनुरोध के उत्तर में किसी संसूचना को, जो कोई पक्षकार अपने वकील को बताने के प्रयोजन से करता है।

(2) उपधारा (1) के प्रयोजनों के लिए--

(क) पेटेन्ट ऐजेन्ट से अभिप्रेत है—

(i) पेटेन्ट अधिनियम, 1970 के उपबंधों के अनुसरण में रखे गए पेटेन्ट ऐजेन्टों के रजिस्टर में पेटेन्ट ऐजेन्ट के रूप में रजिस्ट्रीकृत कोई पेटेन्ट ऐजेन्ट; या

(ii) कोई भागीदारी जो पेटेन्ट ऐजेन्ट की फर्म कहलाने की हकदार है; या

(iii) कोई निगमित निकाय जो पेटेन्ट ऐजेन्ट कहलाने का हकदार है।

(ख) किसी अनुध्यात कार्यवाही से संबंधित पक्षकार से उस कार्यवाही का भावी पक्षकार अभिप्रेत है।

(ग) 'वकील' से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जैसाकि धारा 126 के स्पष्टीकरण 2 में परिभाषित किया गया है।

ट्रेडमार्क ऐजेन्ट के साथ संसूचना

132ग. (1) किसी ट्रेडमार्क या उसे चला देने से संबंधित किसी मामले के संरक्षण से संबंधित किसी मामले के बारे में किसी संसूचना को,

(क) किसी पक्षकार या उसके ट्रेडमार्क ऐजेन्ट के बीच; या

(ख) प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए या सूचना के अनुरोध के उत्तर में, जिसे कोई पक्षकार अपने पेटेन्ट ऐजेन्ट को बताने के लिए भांगता है,

विधिक कार्यवाहियों में प्रकटन से उसी प्रकार से विशेषाधिकार प्राप्त है जैसे कि किसी पक्षकार और उसके वकील के बीच किसी संसूचना को था, यथास्थिति, प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए किसी संसूचना को या सूचना के लिए अनुरोध के उत्तर में किसी सूचना को, जो कोई पक्षकार अपने वकील के प्रयोजन से करता है।

(2) उपधारा (1) के लिए—

(क) ट्रेडमार्क ऐजेन्ट से अभिप्रेत है—

(i) व्यापार चिन्ह अधिनियम, 1999 की धारा 145 के अधीन परिभाषित ट्रेडमार्क ऐजेन्ट के उपबंधों के अनुसरण में रखे गए पेटेन्ट ऐजेन्ट के रजिस्टर में पेटेन्ट ऐजेन्ट के रूप में कोई पेटेन्ट ऐजेन्ट; या

(ii) कोई भागीदारी जो रजिस्ट्रीकृत ट्रेडमार्क ऐजेन्ट की फर्म कहलाने की हकदार है; या

(iii) कोई निगमित निकाय जो रजिस्ट्रीकृत ट्रेडमार्क ऐजेन्ट कहलाने का हकदार है।

(ख) किसी अनुध्यात कार्यवाही से संबंधित पक्षकार से उस कार्यवाही का भावी पक्षकार अभिप्रेत है।

(ग) 'वकील' से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जैसाकि धारा 126 के स्पष्टीकरण 2 में परिभाषित किया गया है।

धारा 133 :

यह धारा सहअपराधी के साक्ष्य की सुसंगतता के बारे में है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

"133. सहअपराधी, अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध, साक्ष्य साक्षी होगा, और कोई दोषसिद्धि केवल इसलिए असम्पुष्ट परिसाक्ष्य के आधार पर की गई है।"

हमने, धारा 114(ख) पर विचार करते समय पहले ही इस धारा के विषय में विचार किया है। जैसाकि वहां कहा गया है कि इस धारा को धारा 114 के दृष्टांत (ख) में पाए जाने वाले सावधानी सूचक शब्दों के साथ पढ़ा जाना चाहिए और सदैव ही यह इसी प्रकार पढ़ी गई है।

''दृष्टांत(ख) कि सहअपराधी विश्वसनीयता के आयोग्य है जब तक कि तात्विक विशिष्टियों में उसकी सम्पुष्टि नहीं होती''

विस्तार से चर्चा करने के पश्चात्, हमने धारा 114 के दृष्टांत (ख) के बारे में अपनी चर्चा में कहा है कि धारा 133 को निकालने और दृष्टांत (ख) को संशोधित करने के बजाए, जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है, यदि धारा 133 में संशोधन करना और धारा 114 से दृष्टांत (ख) को निकाल देना बेहतर होगा और इस पहलु का निर्देश इस धारा में किया जाना चाहिए। हमने धारा 114 के परवर्ती भाग में ''दृष्टांत (ख) के बारे में'' शब्दों से आरम्भ होने वाले दो पैराग्राफों को निकाल देने का सुझाव दिया है। हम धारा 133 के निम्नलिखित रूप में पुनर्प्ररूपण तथा धारा 133 के नीचे कतिपय दृष्टांत जोड़ने की सिफारिश करते हैं।

सहअपराधी

''133. कोई सहअपराधी अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध सक्षम साक्षी होगा परन्तु उसका साक्ष्य अविश्वसनीय होगा जब तक कि तात्विक विशिष्टियों में उसकी सम्पुष्टि नहीं होती :

परन्तु यह कि जहां सहअपराधी ऐसा व्यक्ति है, न्यायालय की राय में, जिसका साक्ष्य अत्यन्त विश्वसनीय है और उसकी सम्पुष्टि की आवश्यकता नहीं है, कोई दोषसिद्धि केवल इसलिए अवैध नहीं है कि वह किसी सहअपराधी के असम्पुष्ट परिसाक्ष्य के आधार पर की गई है।

दृष्टांत

(क) एक अत्यन्त उच्च शील का व्यक्ति 'क' किसी मशीनरी को ठीक-ठीक लगाने में किसी अपेक्षापूर्वक कार्य द्वारा किसी व्यक्ति की मृत्यु कारित करने के लिए विचारित है। वैसे ही अच्छे शील का व्यक्ति 'ख' जिसने मशीनरी लगाने के उस काम में भाग लिया था, ब्यौरेवार वर्णन करता है कि क्या-क्या किया गया था और 'क' की और स्वयं अपनी सामान्य असावधानी स्वीकृत और स्पष्ट करता है। न्यायालय को 'क' के उपेक्षापूर्वक कार्य के बारे में निर्णय करने में 'ख' के साक्ष्य को ध्यान में रखेगा।

(ख) कोई अपराध कई व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। अपराधियों में से तीन 'क', 'ख' और 'ग' घटनास्थल पर पकड़े जाते हैं और एक दूसरे से अलग रखे जाते हैं। अपराध का विवरण उनमें से हर एक ऐसा देता है जो 'घ' को आलिप्त करता है और ये विवरण एक दूसरे को किसी ऐसी रीति में सम्पुष्ट करते हैं जिससे उनमें यह अति अनधिसंभाव्य हो जाता है कि उन्होंने इसके पूर्व मिल कर कोई योजना बनाई थी। 'क', 'ख' और 'ग' दिए गए तथ्यों को विभिन्न विवरणों के अन्तर को न्यायालय द्वारा 'घ' की सहअपराधिता के बारे में निर्णय करने में ध्यान में रखना होगा।

धारा 134 :

यह धारा 'साक्षियों की संख्या' के बारे में है और इसका पाठ निम्नलिखित है :

''134. किसी मामले में किसी तथ्य को साबित करने के लिए साक्षियों की कोई विशिष्ट संख्या अपेक्षित नहीं होगी''

69वीं रिपोर्ट के अध्याय 74 में इस धारा के बारे में विस्तार से चर्चा की गई है। विशेष रूप से, 1855 के अधिनियम 2 की धारा 28 में पहले उपबंधित विधि का निर्देश किया था, जिसका पाठ निम्नलिखित है :

''28. राजद्रोह के मामलों के सिवाय, एक साक्षी का प्रत्यक्ष साक्ष्य, जो पूरे विश्वास का हकदार है, ऐसे किसी न्यायालय में या ऐसे किसी व्यक्ति के समक्ष किसी तथ्य को साबित करने के लिए पर्याप्त होगा। परन्तु इस उपबंध का

किसी निकाय या न्यायालय की प्रक्रिया पर, जिसमें किसी सहअपराधी के परिसाक्ष्य के समर्थन में सम्पुष्टकारी साक्ष्य अपेक्षित है, या किसी साक्ष्य के मामले में एकल साक्ष्य पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।''

हम यहां, 69वीं रिपोर्ट में निर्देशित किए गए सभी मामलों का उल्लेख करना नहीं चाहते हैं क्योंकि 69वीं रिपोर्ट में अन्ततः यही कहा गया है (देखें पैरा 74.29) कि धारा 134 में किसी प्रकार के उपांतरण की आवश्यकता नहीं है।

धारा 135 :

यह धारा अध्याय दस में दी गई है, जिसे 'साक्षियों की परीक्षा के विषय में' शीर्षक दिया गया है।

धारा 135 'साक्षियों के पेशकरण और उनकी परीक्षा के क्रम' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''**135.** साक्षियों के पेशकरण और उनकी परीक्षा के क्रम, क्रमशः सिविल और दंड प्रक्रिया में तत्समय संबंधित विधि और पद्धति द्वारा, तथा ऐसी किसी विधि के अभाव में, न्यायालय के विवेक द्वारा, विनियमित होगा।''

सरकार ने (15वां संस्करण, 1999, पृष्ट 2142) कहा है कि : ''इस विषय के अधिकारिक लेखकों ने एक अव्यवस्था पैदा कर दी है''। यह स्थिति बहुत पहले थी परन्तु अब अव्यवस्था जैसी कोई बात नहीं है।

ऐसे अनेक मामले हैं जो सिविल तथा दंड प्रक्रियाओं की विधि द्वारा विनियमित होते हैं। इसके साथ ही ऐसी विशिष्ट विधियां भी विद्यमान हैं जिनमें सिविल मामलों में साबित करने का भार प्रतिवादी पर है। दांडिक मामलों में, यह भार सदैव अभियोजना पक्ष पर होता है। कतिपय विधियों में कहा गया है कि अभियोजना पक्ष द्वारा कतिपय मूलभूत तथ्यों को साबित किए जाने के मामले में, कतिपय परिस्थितयों में साबित करने का भार अभियुक्त पर चला जाता है। सिविल मामलों में भी, विभिन्न विवाद्यकों में साबित करने का मूल भार वादी पर होता है तथा कतिपय अन्य विवाद्यक विषयों में यह भार प्रतिवादी पर हो सकता है। प्रतिदावे भी हो सकते हैं और प्रतिदावों में विवाद्यक विषयों के बारे में ऐसे प्रश्न उठ सकते हैं कि प्रतिवादी को उनसे कब बोलना चाहिए या, वादी अपने मुख्य दावे के बारे में कार्यवाही करते हुए, प्रतिदावे के बारे में, प्रतिवादी के उससे कुछ कहने से पूर्व ही वह साथ-साथ साक्ष्य देने का हकदार है। यदि विभिन्न विषयों पर साबित करने का भार अस्थिर है तब, बहुत से ऐसे अच्छे प्रश्न उठेंगे कि आरम्भ कौन करेगा और साक्ष्य किस विषय पर दिया जाएगा। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विचारण न्यायालयों में प्रक्रिया के बारे में पर्याप्त भ्रम की स्थिति है।

सिविल मामलों में, सिविल प्रक्रिया संहिता में आदेश 18, नियम 1 से 3 तक में यह प्रक्रिया विनियमित की गई है।

आदेश 18, नियम 1 में कहा गया है कि वाद प्रारम्भ करने का अधिकार वादी का होता है। आदेश 18 के नियम 2 में कहा गया है कि वाद आरम्भ करने का अधिकार रखने वाला पक्षकार अपने मामले का कथन करेगा और वाद पदों के समर्थन में अपना साक्ष्य पेश करेगा। तब दूसरा पक्षकार अपने मामले का कथन करेगा और अपना साक्ष्य पेश करेगा। इसके पश्चात्, वाद आरम्भ करने वाला पक्षकार उत्तर दे सकेगा, आदेश 18, नियम 2(4) (1976 में अन्तःस्थापित) के अनुसार न्यायालय ऐसे कारणों से, जो अभिलिखित किए जाएंगे, किसी पक्षकार को किसी भी प्रक्रम पर किसी साक्षी की परीक्षा के लिए निर्देश दे सकेगा या अनुज्ञात कर सकेगा।

आदेश 18 के नियम 3 में कहा गया है कि जहां कई वाद-पद हैं जिनमें से कुछ को साबित करने का भार दूसरे पक्षकार पर है, वहां आरम्भ करने वाला पक्षकार, अपने विकल्प पर, या तो उन वाद-पदों के बारे में अपना साक्ष्य पेश कर सकेगा या अन्य पक्षकार द्वारा पेश किए गए साक्ष्य के उत्तर के रूप में पेश करने के लिए रोक रखेगा।

आदेश 18 के नियम 4 के उपबंधों के अनुसार साक्षियों का साक्ष्य खुले न्यायालय में मौखिक रूप से लिया जाएगा। साक्षियों को उनका निवासस्थल एक निश्चित दूरी से अधिक दूर होने के कारण, व्यक्तिगत रूप से उपस्थिति होने से छूट प्राप्त है और ये विषय आदेश 16, नियम 19 में और धारा 75 से धारा 78 तक के अन्तर्गत दिए गए हैं। ऐसी महिलाओं को, जो देश

की रूढ़ियों के अनुसार जनता के समक्ष नहीं आती हैं (धारा 132 सि.प्र.सं.) और कतिपय विशिष्टि पदधारकों को (धारा 133 सि.प्र.सं.) न्यायालय में व्यक्तिगत उपसंजाति से छूट प्राप्त है। ऐसे व्यक्ति तथा वे व्यक्ति जो बीमारी के कारण या किसी अन्य दुर्बलता के कारण न्यायालय में उपस्थित होने से असमर्थ हैं उनकी परीक्षा कमीशन द्वारा की जा सकेगी (आदेश 26, धारा 75 से धारा 78 सि.प्र.सं.) जहां साक्षी न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर जाने वाला है उसके बारे में उपबंध आदेश 18, नियम 16 में दिया गया है।

आदेश 18 में नियम 3क पुर:स्थापित करके (सिविल प्रक्रिया संहिता के 1976 के संशोधन के अधीन) अन्य साक्षियों द्वारा साक्ष्य दे दिए जाने के पश्चात् अन्त में पक्षकारों द्वारा साक्ष्य देने की प्रक्रिया अब बन्द कर दी गई है। अब, जहां पक्षकार स्वयं अपने को साक्षी के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, जब तक न्यायालय अभिविदित किए जाने वाले कारणों से उसकी पृच्छा अन्य साक्षियों से बाद में करने का निर्देश नहीं देता, उसकी परीक्षा अन्य साक्षियों से पूर्व की जा सकेगी।

आदेश 18 का नियम 17 किसी साक्षी को पुन: बुलाने और उसका परीक्षण किए जाने की अनुज्ञा देता है। आदेश 18 के नियम 7 के अधीन, न्यायालय में उपस्थित किसी व्यक्ति को भी न्यायालय साक्ष्य देने के लिए बुला सकेगा।

दांडिक मामलों में वाद अभियोजन पक्ष आरम्भ करता है। मामले को आरम्भ करने तथा मामलों को विचारण के लिए लेने की पद्धति के बारे में दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 251 से 259 तक में उपबंध किए गए हों। जहां तक पुलिस रिपोर्ट के आधार पर संस्थित किए गए वारंट मामलों का संबंध है, धारा 238 से 243 तक के उपबंध लागू होते हैं, अन्य वारंट मामले धारा 244 से 249 तक द्वारा शासित होते हैं। सैशन के मामलों की प्रक्रिया धारा 225 से 237 तक में अन्तर्विष्ट है।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 234 अभियुक्त के उत्तर देने के अधिकार के बारे में है। जब प्रतिवादी के लिए साक्षियों की परीक्षा (यदि कोई हो) होती है और अभियोजक अपना कथन समाप्त कर लेता है तब अभियुक्त का उत्तर देने का अधिकार आरम्भ होता है।

उपबंध को परिपूर्ण करने के लिए न्यायालयों द्वारा विभिन्न सिद्धान्त निर्धारित किए गए हैं। सिविल मामलों में, कोई व्यक्ति जिसकी वाद का कोई पक्षकार साक्षी के रूप में अपनी ओर से परीक्षा कराना चाहता है उसे उस समय उपस्थित नहीं होना चाहिए जब उसी पक्षकार के अन्य साक्षियों की परीक्षा की जा रही हो जब तक कि ऐसे साक्षियों का साक्ष्य समाप्त न हो जाए। यदि वह न्यायालय में उपस्थित है तो न्यायालय को उससे बाहर जाने के लिए कहने की शक्ति प्राप्त है (अच्युतानी बनाम गोरनतला : ए.आई.आर. 1961 ए.पी. 420)।

अन्य नियम भी निर्धारित किए गए हैं जो बहुत से साक्षियों की परीक्षा के लिए पक्षकारों के अधिकार को शासित करते हैं और यह कि क्या और कब, न्यायालय किसी साक्षी की परीक्षा करने से इंकार कर सकेगा।

सिविल तथा दांडिक मामलों में विस्तृत उपबंधों तथा निर्णय जनित विधि से प्राप्त मार्ग निर्देशों को ध्यान में रखते हुए, अब प्रक्रिया में किसी प्रकार की कोई अव्यवस्था नहीं रह गई है।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 75.12 से सहमति व्यक्त करते हैं कि धारा 135 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 136 :

यह धारा 'न्यायाधीश द्वारा साक्ष्य की ग्राह्यता' के बारे में निर्णय से संबंधित है।

धारा का पाठ निम्नलिखित है :

"136. जबकि दोनों में से कोई पक्षकार किसी तथ्य का साक्ष्य देने की प्रस्थापना करता है, तब न्यायाधीश साक्ष्य की प्रस्थापना करने वाले पक्षकार से पूछ सकेगा कि अभिकथित तथ्य, यदि वह साबित हो जाए, किस प्रकार सुसंगत होगा और यदि न्यायाधीश यह समझता है कि वह तथ्य यदि साबित हो गया, तो सुसंगत होगा, तो वह उस साक्ष्य को ग्रहण करेगा, अन्यथा नहीं।

यदि तथ्य, जिसे साबित किया जाना है, ऐसा है जिसका साक्ष्य किसी अन्य तथ्य के साबित होने पर ही ग्राह्य होता है तो ऐसा अन्तिम वर्णित तथ्य प्रथम वर्णित तथ्य का साक्ष्य दिए जाने से पूर्व साबित करना होगा जब तक कि पक्षकार ऐसे तथ्य को साबित करने का वचन न दे दे और न्यायालय ऐसे वचन से संतुष्ट न हो जाए।

यदि एक अभिकथित तथ्य की सुसंगति अन्य अभिकथित तथ्य के प्रथम साबित होने पर निर्भर हो तो न्यायाधीश अपने विवेकानुसार या तो दूसरे तथ्य के साबित होने से पूर्व प्रथम तथ्य का साक्ष्य दिया जाना अनुज्ञात कर सकेगा, या प्रथम तथ्य का साक्ष्य दिए जाने से पूर्व द्वितीय तथ्य का साक्ष्य दिए जाने की अपेक्षा कर सकेगा।''

धारा 136 के नीचे चार दृष्टांत दिए गए हैं। दृष्टांत (क) यह दर्शाता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति के कथन पर निर्भर करता है जिसका मृतक होना अभिकथित है तो, धारा 32 के अधीन, उसे उस व्यक्ति की मृत्यु साबित करनी होगी। दृष्टांत (ख) में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी दस्तावेज की प्रति को इस आधार पर साबित करना चाहता है कि मूल दस्तावेज खो गया है तो उसे मूल दस्तावेज का खो जाना साबित करना होगा। दृष्टांत (ग) एक ऐसे मामले का निर्देश करता है जहां किसी व्यक्ति के विरुद्ध ऐसा आरोप लगाया गया है कि उसने यह जानते हुए कि सम्पत्ति चोरी की है उस चोरी की सम्पत्ति को प्राप्त किया है और वह व्यक्ति सम्पत्ति के कब्जे का प्रत्याख्यान करता है। ऐसे मामले में सुसंगतता सम्पत्ति की पहचान पर निर्भर करती है। न्यायालय या तो कब्जे का प्रत्याख्यान साबित होने से पूर्व सम्पत्ति की पहचान की जानी अपेक्षित कर सकेगा या सम्पत्ति की पहचान किए जाने से पूर्व कब्जे का प्रत्याख्यान साबित किए जाने की अनुज्ञा दे सकेगा। दृष्टांत (घ) में कहा गया है कि किसी तथ्य (क) के, जिसका किसी विवाद्यक तथ्य का हेतुक या परिणाम होना कथित है, साबित करने की प्रस्थापना की गई है। कई माध्यान्तरिक तथ्य (ख), (ग) और (घ) हो सकते हैं जिनका, इससे पूर्व कि तथ्य (क) उस विवाद्यक तथ्य का हेतुक या परिणाम माना जा सके, अस्तित्व में होना दर्शित किया जाना आवश्यक है। न्यायालय या तो 'ख', 'ग' या 'घ' के साबित किए जाने के पूर्व 'क' के साबित किए जाने की अनुज्ञा दे सकेगा या क का साबित किया जाना अनुज्ञात करने से पूर्व 'ख', 'ग' और 'घ' को साबित किया जाना अपेक्षित कर सकेगा।

ग्राह्यता संबंधी प्रश्न, विधि के प्रश्न हैं, इनका निश्चय न्यायाधीश द्वारा किया जाएगा। अधिनियम की धारा 5 में कहा गया है कि ''किसी वाद या कार्यवाही में हर विवाद्यक तथ्य के और ऐसे अन्य तथ्यों के, जिन्हें पश्चात् सुसंगत घोषित किया गया है, अस्तित्व या अनास्तित्व का साक्ष्य दिया जा सकेगा और किन्हीं अन्य का नहीं। सुसंगतता तथा ग्राह्यता सदैव एक समान नहीं होती है। सुसंगतता सामान्य ज्ञान तथा न्यायोचित तर्क पर आधारित है जबकि ग्राह्यता विधि के नियमों द्वारा शासित होती है।

किसी ऐसे दस्तावेज का मामला, जो रजिस्ट्रीकृत नहीं है और उससे 100 रु. के मूल्य की स्थावर सम्पत्ति प्रभावित होती है। यह सुसंगत हो सकता है परन्तु रजिस्ट्रीकृत न होने के कारण यह साक्ष्य में ग्राह्य नहीं होगा सिवाय जैसाकि रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 49 के परन्तुक में कहा गया है। इसी प्रकार, दंड प्रक्रिया संहिता, 1977 की धारा 162 के अधीन किया गया कोई कथन, सुसंगत तथ्यों से संबंधित हो सकता है परन्तु कथन ग्राह्य नहीं होगा।

धारा 136 के पैरा 2 की धारा 104 तथा उसके साथ दिए गए दो दृष्टांतों के साथ-साथ पढ़ना होगा। धारा 104 'साक्ष्य को ग्राह्य बनाने के लिए जो तथ्य' साबित किया जाना हो, उसे साबित करने के भार के बारे में है। यहां दिए गए दो उदाहरण धारा 136 के नीचे दिए गए दृष्टांत (क) और (ख) के समान ही है।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 13, नियम 3 में कहा गया है कि न्यायालय वाद के किसी प्रक्रम में ऐसे किसी दस्तावेज को जिसे वह असंगत या अन्यथा अग्राह्य समझता है, अस्वीकार कर सकेगा और ऐसे अस्वीकार किए जाने के आधारों को अभिलिखित करेगा। आदेश 13 के नियम 4 में न्यायालय से यह अपेक्षा की गई है कि वह इस आशय का पृष्ठांकन करेगा कि दस्तावेज वाद के साक्ष्य में ग्राह्य किया जाता है। आदेश 41 के नियम 27 में अपीलीय न्यायालय को अतिरिक्त साक्ष्य दिए जाने की अनुज्ञा देने का अधिकार दिया गया है।

जैसाकि, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 76.6 में कहा गया है, भारत में न्यायाधीश को सुसंगत तथा ग्राह्य साक्ष्य को, जो विधि के किसी उपबंध द्वारा अपवर्जित नहीं है, साक्ष्य से अपवर्जित करने का विवेकाधिकार प्राप्त नहीं है। कतिपय मामलों में न्यायालय को किसी पक्षकार को अपने स्वयं के साक्ष्य की प्रतिपरीक्षा की अनुज्ञा देने की सीमित शक्तियां प्राप्त हैं। दांडिक मामलों में विवेकाधिकार को मान्यता प्राप्त है, विशेषकर जब साक्ष्य अभियुक्त के लिए हानिकारक है।

हम, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 76.10 में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 136 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 137 :

धारा 137, मुख्य परीक्षा, प्रतिपरीक्षा और पुन:परीक्षा के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"137. मुख्य परीक्षा : किसी साक्षी की उस पक्षकार द्वारा, जो उसे बुलाता है, उसकी मुख्य परीक्षा कहलाएगी।

प्रतिपरीक्षा : किसी साक्षी की प्रतिपक्षी द्वारा की गई परीक्षा उसकी प्रतिपरीक्षा कहलाएगी।

पुन: परीक्षा : किसी साक्षी की प्रतिपरीक्षा के पश्चात् उसकी उस पक्षकार द्वारा, जिसने उसे बुलाया था, परीक्षा उसकी पुन:परीक्षा कहलाएगी।"

विचारण में इन कार्यवाहियों के बारे में पर्याप्त चर्चा करने के पश्चात् 69वीं रिपोर्ट के पैरा 77.23 में कहा गया है कि धारा 133 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

हम इससे सहमत हैं परन्तु हम महसूस करते हैं कि इस धारा के तीसरे पैराग्राफ को, निम्नलिखित रूप में पुन: प्रारूपित किया जाना चाहिए :

"**पुन:परीक्षा** : किसी साक्षी की उस पक्षकार द्वारा, जिसने उसे बुलाया था, प्रतिपरीक्षा के पश्चात्, अतिरिक्त परीक्षा किया जाना पुन:परीक्षा कहलाएगी।"

धारा 138 :

यह धारा 'परीक्षा के क्रम' का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"**138.** साक्षियों की प्रथमत: मुख्य परीक्षा होगी, तत्पश्चात् (यदि उसे बुलाने वाला पक्षकार ऐसा चाहे तो) पुन:परीक्षा होगी।

परीक्षा और प्रतिपरीक्षा को सुसंगत तथ्यों से संबंधित होना होगा, किन्तु प्रतिपरीक्षा को उन तथ्यों तक सीमित रहना आवश्यक नहीं है जिनका साक्षी ने अपनी मुख्य परीक्षा में परिसाक्ष्य दिया है।

पुन:परीक्षा की दिशा : पुन:परीक्षा उन बातों के स्पष्टीकरण के प्रति उद्दिष्ट होगी जो प्रतिपरीक्षा में निर्दिष्ट हुए हों; तथा यदि पुन:परीक्षा में न्यायालय की अनुज्ञा से कोई नई बात प्रविष्टि की गई हो, तो प्रतिपक्षी उस बात के बारे में अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा कर सकेगा।"

69वीं रिपोर्ट में पैराग्राफों के संख्यांकन की सिफारिश की गई है। हम सहमत हैं। जैसाकि, नीचे आरम्भिक खंड में कहा गया है 'साक्षियों' शब्द के स्थान पर 'कोई साक्षी' शब्द प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए।

हमने देखा है कि श्रीलंका में इन पैराग्राफों को (1), (2), (3), के रूप में संख्यांकित किया गया है और एक चौथा पैराग्राफ निम्नलिखित रूप में अन्त:स्थापित किया गया है:

"(4) न्यायालय, सभी मामलों में किसी साक्षी को या तो अतिरिक्त मुख्य परीक्षा के लिए या अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा के लिए फिर से बुलाए जाने की अनुज्ञा दे सकेगा, और न्यायालय यदि ऐसा करता है तो, पक्षकारों को क्रमश: अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा या मुख्य परीक्षा का अधिकार होगा।"

हम, प्रतिपरीक्षा के बारे में दूसरे पैरे को स्पष्ट करेंगे जो सुसंगत विषयों के बारे में, परन्तु जो मुख्य परीक्षा में निर्देशित न किए गए हों, किसी व्यक्ति की प्रतिपरीक्षा की अनुज्ञा देता है। उदाहरण के लिए, किसी वादी ने जो बाद में कहा था उसी बारे में कहा है परन्तु लिखित कथन में अभिकथित कतिपय सुसंगत तथ्यों के बारे में कुछ नहीं कहा है। तब, प्रतिवादी वादी की, न केवल उस विषय में जो साक्षी ने मुख्य परीक्षा में कहा है अपितु लिखित कथन के बारे में प्रतिपरीक्षा कर सकेगा। परन्तु पुन:परीक्षा सामान्यतया, केवल प्रतिपरीक्षा के उल्लिखित तथ्यों तक ही सीमित है और साक्षी को स्पष्टीकरण का अवसर दिया जाता है। तथापि, पैरा 3 में यह स्पष्ट किया गया है कि यदि पुन:परीक्षा में कोई नया विषय सामने आता है तो अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा की जा सकेगी। ऐसी बातें तब होती हैं जब किसी व्यक्ति की प्रतिपरीक्षा ऐसे प्रश्नों के उत्तरों के बारे में की जाती है, जो चाहे मुख्य परीक्षा से संबंधित भी हों, तब तक पूरी नहीं होती जब तक कि नए तथ्य नहीं बताए जाते।

धारा 138 के बारे में, 69वीं रिपोर्ट में पर्याप्त चर्चा हुई है परन्तु पैरा 77.23 में अंतिम पैरा में निम्नलिखित रूप में एक छोटे से संशोधन का सुझाव दिया गया है:

"अंतिम पैराग्राफ में 'उसे' शब्द के स्थान पर 'साक्षी' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। हम सिफारिश करते हैं कि धारा 138 इस रूप में संशोधित की जाए।"

हमें यह बात स्पष्ट नहीं है कि आयोग का इस सिफारिश से क्या अभिप्राय है। हमने देखा है कि अंतिम पैरा में 'साक्षी' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। संभवतया यह उल्लेख पहले पैराग्राफ के बारे में है जिसमें 'साक्षियों' शब्द का प्रयोग किया गया है।

हम सिफारिश करते हैं कि पैरा एक में 'साक्षियों' शब्द के स्थान पर 'किसी साक्षी' शब्द प्रतिस्थापित किया जाए।

हम यह भी सिफारिश करते हैं कि तीनों पैराओं को (1), (2), (3) के रूप में संख्यांकित किया जाए और श्रीलंका की भांति चौथा पैरा भी जोड़ा जाए।

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 138 निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित की जाए:

परीक्षाओं का क्रम

"**138.** (1) किसी साक्षी की प्रथमत: मुख्य परीक्षा होगी, तत्पश्चात, (यदि प्रतिपक्षी ऐसा चाहे तो) पुन:परीक्षा होगी।

(2) परीक्षा और प्रतिपरीक्षा को सुसंगत तथ्यों से संबंधित होना होगा, किन्तु प्रतिपरीक्षा का उन तथ्यों तक सीमित रहना आवश्यक नहीं है जिनका साक्षी ने अपनी मुख्य परीक्षा में परिसाक्ष्य दिया है।

(3) **पुन:परीक्षा की दिशा** : पुन:परीक्षा उन बातों के स्पष्टीकरण के प्रति उद्दिष्ट होगी जो प्रतिपरीक्षा में निर्दिष्ट हुए हों, तथा यदि पुन:परीक्षा में न्यायालय की अनुज्ञा से कोई नई बात प्रविष्ट की गई हो, तो प्रतिपक्षी उस बात के बारे में अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा कर सकेगा।

(4) **अतिरिक्त मुख्य परीक्षा** : न्यायालय, सभी मामलों में किसी साक्षी को या तो अतिरिक्त मुख्य परीक्षा के लिए या अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा के लिए फिर से बुलाए जाने की अनुज्ञा दे सकेगा और न्यायालय यदि ऐसा करता है, तो पक्षकारों को, यथास्थिति, अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा का या पुन:परीक्षा का अधिकार होगा।''

धारा 139 :

यह धारा किसी दस्तावेज को पेश करने के लिए सम्मानित व्यक्ति की प्रतिपरीक्षा के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''139. किसी दस्तावेज को पेश करने के लिए सम्मानित व्यक्ति केवल इस तथ्य के कारण कि वह उसे पेश करता है साक्षी नहीं हो जाता तथा यदि और जब तक वह साक्षी के तौर पर बुलाया नहीं जाता है उसकी प्रतिपरीक्षा नहीं की जा सकेगी।''

किसी दस्तावेज को पेश करने के लिए सम्मानित व्यक्ति के बारे में यही समझा जाएगा कि उसने सम्मनों का अनुपालन किया है यदि वह ऐसा दस्तावेज, उसे पेश करने के लिए व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होने के बजाय पेश करा देता है। (**राजेश्वरी** बनाम राज्य : एआईआर 1977 सु.को. 403)।

इस संबंध में सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 16, नियम 2 और दंड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 91(2) सुसंगत है।

जब न्यायालय द्वारा अपेक्षित हो तब दस्तावेज का पेश न किया जाना भारतीय दंड संहिता की धारा 175 के अधीन अपराध होगा। दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 345 भी देखें।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 78.3 में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 139 में कोई संशोधन आवश्यक नहीं है।

धारा 140:

यह धारा 'शील का साक्ष्य देने वाले साक्षी' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है:

''140. शील का साक्ष्य देने वाले साक्षियों की प्रतिपरीक्षा और पुन:परीक्षा की जा सकेगी।''

इस संबंध में विधि इंग्लैंड की विधि से भिन्न है जहां प्रतिपरीक्षा की प्रक्रिया विशिष्ट मामलों के सिवाय, नहीं अपनाई जाती है। धारा 140 का आशय यह है कि भारत में, ऐसी प्रक्रिया का सदैव अनुसरण किए जाने की आवश्यकता नहीं है। इस धारा में 'सकेगी' शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस संबंध में धारा 52 से 55, जो शील के सुसंगत होने के बारे में है, को तथा उनके बारे में की गई सिफारिशों को भी ध्यान में रखा जा सकेगा।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 78.4 से सहमत हैं, जिसमें कहा गया है कि धारा 140 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 141, 142 और 143 : ये धाराएं सूचक प्रश्नों के बारे में हैं।

(क) **धारा 141 :** इस धारा का पाठ निम्नलिखित है:

''141. कोई प्रश्न, जो उस उत्तर को सुझाता है, जिसे पूछने वाला व्यक्ति पाना चाहता है, या पाने की आशा करता है, सूचक प्रश्न कहलाता है।''

हमारा विचार है कि धारा 141 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

(ख) **धारा 142 :** यह धारा 'उन्हें कब नहीं पूछा जाना चाहिए' का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"142. सूचक प्रश्न मुख्य परीक्षा में या पुन:परीक्षा में, यदि विपक्षी पक्षकार द्वारा आपत्ति की जाती है, न्यायालय की अनुज्ञा के बिना नहीं पूछे जाने चाहिए।

न्यायालय उन बातों के बारे में, जो पुन:स्थापना के रूप में या निर्विवाद हैं या जो उसकी राय में पहले से ही पर्याप्त रूप से साबित हो चुके हैं, सूचक प्रश्नों के लिए अनुज्ञा देगा।"

हमारा विचार है कि धारा 142 में भी किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

(ग) **धारा 143 :** यह धारा 'उन्हें(सूचक प्रश्न) कब पूछा जाना चाहिए' के बारे में है।

"143. सूचक प्रश्न प्रतिरक्षा में पूछे जा सकेंगे"

यह देखा जा सकेगा कि सूचक प्रश्नों के बारे में कोई आपत्ति नहीं की जाएगी यदि वे पुन:स्थापना के रूप में हैं, या निर्विवाद हैं या जो न्यायालय की राय में पहले ही पर्याप्त रूप में साबित किए जा चुके हैं। परन्तु कभी-कभी सूचक प्रश्नों के बारे में, चाहे वे प्रतिपरीक्षा में हों या पुन:परीक्षा में, न्यायालय की अनुज्ञा अपेक्षित होती है। परन्तु, जहां तक प्रतिपरीक्षा का संबंध है, वहां ये प्रश्न न्यायालय की अनुज्ञा के बिना भी पूछे जा सकेंगे।

69वीं रिपोर्ट में, ऐसी चर्चा हुई है कि क्या धारा 143 में प्रतिपरीक्षा में पूछे जाने वाले सूचक प्रश्नों पर नियंत्रण रखने के लिए कोई उपबंध होना चाहिए। अमरीका की स्थिति का निर्देश किया गया (देखें पैरा 7.9.13) कि न्यायालय प्रतिपरीक्षा में सूचक प्रश्न पूछने से मना कर सकेगा जहां साक्षी प्रतिपरीक्षा के पक्ष में है और उसे ऐसे प्रश्न पूछने के लिए प्रभावित किया जा सकेगा जिनका उत्तर वह अपनी इच्छा के अनुसार चाहता है।

'सिलोन' में धारा 143 में एक पृथक खंड के रूप में ऐसा उपबंध पुन:स्थापित किया गया था।

तत्पश्चात, आयोग ने विचार किया कि क्या सिलोन और अमरीका की भांति धारा 143 में एक उपबंध जोड़ा जाना चाहिए, परन्तु इस आधार पर कि एक सदस्य को इस विषय में आपत्ति थी, कोई सिफारिश नहीं की गई।

इस संदर्भ में, हम इस तथ्य का निर्देश कर सकेंगे कि फिप्सन ने पूर्ववर्ती संस्करणों में यह कहा था कि प्रतिपरीक्षा में सूचक प्रश्न पूछने का अधिकार नियंत्रित होना चाहिए परन्तु नवीनतम संस्करण में यह विचार त्याग दिया गया है। उसने कहा है (फिप्सन, साक्ष्य, 15वां संस्करण, 1999, पैरा 11-18) :

"यद्यपि प्रतिपरीक्षा में सूचक प्रश्न पूछे जा सकेंगे, क्या साक्षी प्रतिपरीक्षा के पक्ष में है अथवा नहीं, फिर भी, जहां प्रश्न पूछने वाले का समाधान करने की इच्छा का उल्लंघन किया जाता है उससे साक्षी से इच्छा के अनुकूल उत्तर पाने से, जैसीकि उससे आशा की जाती है, साक्ष्य का महत्व कम हो जाएगा। यह पूर्ववर्ती संस्करण में कहा गया था कि बाद वाली प्रक्रिया निश्चित रूप से अनुचित है, परन्तु अब इसे आपत्तिजनक नहीं समझा जाएगा।"

अत: हम धारा 141, 142 और 143 के लिए किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

धारा 144 : यह धारा 'लेखबद्ध विषयों के बारे साक्ष्य' से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"144. किसी साक्षी से, जबकि वह परीक्षाधीन है, यह पूछा जा सकेगा कि क्या कोई संविदा अनुदान या सम्पत्ति का अन्य व्ययन, जिसके बारे में वह साक्ष्य दे रहा है, किसी दस्तावेज में अन्तर्विष्ट नहीं था, और यदि वह कहता है कि वह था, या कथन करने ही वाला है, जिसे न्यायालय की राय में, पेश किया जाना चाहिए, तो प्रतिपक्षी आक्षेप कर सकेगा कि ऐसा साक्ष्य तब तक नहीं दिया जाए, जब तक कि ऐसा दस्तावेज पेश नहीं कर दिया जाता या जब तक वे तथ्य साबित नहीं कर दिए जाते, जो उस पक्षकार को, जिसने साक्षी को बुलाया है उसका द्वितीयक साक्ष्य देने का हक देते हैं।

स्पष्टीकरण : कोई साक्षी उन कथनों को, जो दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु के बारे में अन्य व्यक्तियों द्वारा किए गए थे, मौखिक साक्ष्य दे सकेगा, यदि ऐसे कथन स्वयमेव सुसंगत तथ्य हैं।

धारा 144 के नीचे निम्नलिखित दृष्टांत दिया गया है:

"प्रश्न यह है कि क्या 'क' ने 'ख' पर हमला किया। 'ग' अभिसाक्ष्य देता है कि उसने 'क' को 'घ' से यह कहते सुना है कि 'ख' ने मुझे एक पत्र लिखा था जिसमें मुझ पर चोरी का अभियोग लगाया गया था और मैं उससे बदला लूगा। यह कथन हमले के लिए 'क' का आशय दर्शित करने वाला होने के कारण सुसंगत है और उसका साक्ष्य दिया जा सकेगा, चाहे पत्र के बारे में कोई और साक्ष्य न भी दिया गया हो।"

69वीं रिपोर्ट के पैरा 80.5 के अनुसार, दृष्टांत उस समय मस्तिष्क में वह तत्व विद्यमान होने की घोषणा करता है (धारा 14)। आगे यह बताया गया है कि दृष्टांत से प्रिवी कांउसिल द्वारा सुब्रहमण्यिम बनाम पब्लिक प्रॉसीक्यूटर: 1956(1) डब्ल्यू.एल.आर. 465 (पी.सी.), मामले में उल्लिखित परीक्षण का समाधान हो जाता है। उस मामले में अभियुक्त की दोषसिद्धि प्रिवी कांउसिल में प्रश्नगत थी क्योंकि विचारण न्यायाधीश ने गलती से अभियुक्त द्वारा दिए गए साक्ष्य को अपवर्जित कर दिया था कि उसने वह कार्य, जिसके लिए वह आरोपित था, विबाध्यता के अधीन किया था क्योंकि उसे धमकी दी गई थी कि यदि उसने वह कार्य नहीं किया तो उसे मार दिया जाएगा। यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि धमकी को कार्यान्वित किया गया होता या नहीं, महत्वपूर्ण यह है कि अभियुक्त, जो कुछ उससे कहा गया था उस पर विश्वास किया या नहीं। (देखें फिप्सन, 15वां संस्करण, 1999, पैरा 25.08) लेखक ने यह भी कहा है कि उदाहरण के लिए, यदि उद्देश्य कथन को वक्ता के मस्तिष्क की स्थिति के साक्ष्य के रूप में स्वीकार करना है तब यह मूल साक्ष्य के रूप में ग्राह्य हो सकेगा। पाद टिप्पण 46 में लेखक ने कहा है कि कथन को सुनने वाले की मस्तिष्क की स्थिति का साक्ष्य भी स्वीकार किया जा सकेगा और उसने उपर्युक्त मामले में निर्देश किया है जब प्रतिरक्षा विबाध्यता के अधीन थी और अभियुक्त को दी गई धमकी का बदला लेने के अभिकथित कथन को साक्ष्य में ग्राह्य स्वीकार किया गया था। यह मामला संबंधित तथ्य और कार्य के रूप में भी सुसंगत है।

पैरा 80.6 और 80.7 में यह बताया गया था कि इस धारा में थोड़ा सुधार किए जाने की आवश्यकता है। प्रस्ताव यह किया गया था कि धारा 144 में उल्लिखित दो श्रेणियों के मामलों को पृथक-पृथक दो उपधाराओं के अन्तर्गत लाया जाना चाहिए और स्पष्टीकरण तथा दृष्टांत को यथावत रखा जाना चाहिए। हम इस बात से सहमत हैं कि इस प्रकार का संशोधन उपयोगी सिद्ध होगा। वास्तव में, पहली स्थिति में, 'साक्ष्य' शब्द का प्रयोग किया गया है और दूसरी में 'कथन' शब्द का।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 80.7 में धारा 144 को निम्नलिखित रूप में पुनर्प्रारूपित किए जाने की सिफारिश से सहमति व्यक्त करते हैं :

"(1) किसी साक्षी से, जबकि वह परीक्षाधीन है; यह पूछा जा सकेगा कि कोई संविदा, अनुदान या सम्पत्ति का अन्य व्ययन, जिसके बारे में वह साक्ष्य दे रहा है, किसी दस्तावेज में अन्तर्विष्ट नहीं था और यदि वह कहता है कि वह था तो, प्रतिपक्षी आक्षेप कर सकेगा कि ऐसा साक्ष्य तब तक नहीं दिया जाना चाहिए जब तक कि वह दस्तावेज पेश नहीं कर दिया जाता या जब तक वे तथ्य साबित नहीं कर दिए जाते, तो उस पक्षकार को, जिसने साक्षी को बुलाया है, उसका द्वितीयक साक्ष्य देने का हक देते हैं और यदि, न्यायालय की राय में, दस्तावेज पेश किया जाना चाहिए तो, आक्षेप का समर्थन हो जाएगा।

(2) यदि कोई साक्षी, जबकि वह परीक्षाधीन है, दस्तावेज की अन्तर्वस्तु के बारे में कोई कथन करने ही वाला है तो प्रतिपक्षी ऐसा कथन तब तक न किए जाने के बारे में आक्षेप कर सकेगा तब तक ऐसा दस्तावेज पेश नहीं कर दिया जाता या जब तक वे तथ्य साबित नहीं कर दिए जाते जो उस पक्षकार को, जिसने साक्षी को बुलाया है, उसका द्वितीयिक साक्ष्य देने का हक है और यदि न्यायालय की राय में, दस्तावेज पेश किया जाना चाहिए तो आक्षेप का समर्थन हो जाएगा"।

(वर्तमान स्पष्टीकरण और दृष्टांत यथावत रहेंगे)

धारा 145 :

यह धारा 'पूर्वतन लेखबद्ध कथनों के बारे में प्रतिपरीक्षा' से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"145. किसी साक्षी को उन पूर्वतन कथनों के बारे में, जो उसने लिखित रूप में किए हैं और जो प्रश्नगत बातों से सुसंगत हैं, ऐसे लेख उसे दिखाए बिना, या ऐसे लेख के साबित हुए बिना, प्रतिपरीक्षा की जा सकेगी, किन्तु यदि उस लेख द्वारा उसका खंडन करने का आशय है तो उस लेख को साबित किए जा सकने के पूर्व उसका ध्यान उस लेख के उन भागों की ओर आकर्षित करना होगा जिनका उपयोग उसका खंडन करने के प्रयोजन से किया जाता है"।

धारा 155(3), साक्षी की विश्वसनीयता पर, 'उसके साक्ष्य के किसी भाग से, जिसका खंडन किया जा सकता है, असंगत पिछले कथनों को साबित करने द्वारा' अधिक्षेप करने के बारे में है। अन्तर केवल इतना है कि धारा 155(3) के अधीन पूर्वतन कथन मौखिक हो सकते हैं और उनके लिखित होने या लिखित करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु धारा 155(3) साक्षी की विश्वसनीयता की अधिक्षेप से संबंधित है। यह धारा साक्ष्य अधिनियम की अत्यंत महत्वपूर्ण धारा है। यह धारा सिविल तथा दांडिक दोनों प्रकार के मामलों के लिए लागू होती है। आगे बढ़ने से पूर्व, हम उच्चतम न्यायालय तथा प्रिवी काउंसिल के कतिपय निर्णयों का, जिनमें से कुछ मामले 1977 से पूर्व (जब 69वीं रिपोर्ट प्रस्तुत की गई थी) तथा कुछ बाद के अधिनिर्णीत किए गए थे, निर्देश करेंगे।

बालगंगाधर तिलक बनाम **श्रीनिवास** : ए.आई.आर. 1915 पी.सी. 7, मामले में यह विचार व्यक्त किया गया था कि किसी साक्षी के कथन का खंडन करने के लिए सबूत दिए जाने से पूर्व, उसे प्रस्तावित कथन की परिस्थितियों के बारे में बता दिया जाना चाहिए और उससे यह भी पूछा जाना चाहिए कि उसने ऐसा कथन किया था या नहीं। यह एक अनिवार्य कार्यवाही है, जिसके न किए जाने से न केवल सामान्य सिद्धान्तों का अपितु धारा 145 के विशिष्ट उपबंधों का उल्लंघन होता है। एक दस्तक के मामले में, सभी पूर्वतन कथनों को, जो किसी पूर्वतन दांडिक मामले में किए गए थे, साक्षियों के समक्ष रखे बिना ही, बाद के एक सिविल मामले में लाया गया था। लार्ड शा ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किया :

> "श्री तिलक अधीनस्थ न्यायाधीश के समक्ष पांच दिन तक प्रतिपरीक्षाधीन रहे, परन्तु उनके समक्ष इनमें से कोई भी बात नहीं रखी गई, और उनसे साक्षी कक्ष से इन अभिव्यक्तियों या चूकों में से किसी के बारे में भी कोई स्पष्टीकरण देने के लिए नहीं कहा गया जो अब उन पर आरोपित की जा रही है।"

इन विचारों को उच्चतम न्यायालय ने **तारासिंह** बनाम **राज्य** (ए.आई.आर. 1951 सु.को. 441) मामले में स्वीकार किया है। पुरानी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 288 के अधीन किए गए कथन से संबंधित एक मामला विचारण न्यायालय का है। पूर्वतन परिसाक्ष्य को मुख्य साक्ष्य के रूप में केवल तभी प्रयोग किया जा सकेगा जब धारा 145 में उपबंधित के अनुसार साक्षी का खंडन किया गया हो। ऐसे ही विचार **भगवान सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** : ए.आई.आर. 1952 सु.को. 214; **चितरंजन दास** बनाम **पश्चिम बंगाल राज्य** : ए.आई.आर. 1963 सु.को. 1996, मामले में व्यक्त किए थे। उपर्युक्त सिद्धान्तों को अनेक मामलों में अपनाया गया है। देखें, **नारायणन** बनाम **केरल राज्य** : 1994(5) एस.सी.सी. 728; **मलकेत सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** : 1994(4) एस.सी.सी. 341; **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **प्रबल नाथ** : 1994(6) एस.सी.सी. 29; **सुरजीत सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** : 1993 सप्ली. (1) एस.सी.सी. 208; **ओंकार रामदेव जाधव** बनाम **सैकेन्ड एडिशनल जज** : 1996 (7) एस.सी.सी. 498; **विनय सिंह** बनाम **बिहार राज्य** : 1977(1) एस.सी.सी. 283; **नैथ्यु यादव** बनाम **बिहार राज्य** : 1997 सु.को. 1808; **राजस्थान राज्य** बनाम **तेजराम** : 1999(3) एस.सी.सी. 507; **भाओसर** बनाम **सादिक** : 1993(3) एस.सी.सी. 95; **जाबू सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** : 1996(8) एस.सी.सी. 699।

पूर्वतन कथनों के केवल उन भागों को साबित किया जाना चाहिए जो न्यायालय के समक्ष साक्षी के परिसाक्ष्य कुछ अंशों का स्पष्ट विरोध करते हों। विशिष्ट अंश को रेखांकित किए बिना किसी पूरे पूर्वतन कथन को साक्ष्य में नहीं रखा जाएगा : **केहर सिंह** बनाम **राज्य**, ए.आई.आर. 1988 सु.को. 1883।

अब हम धारा 145 के बारे में तीन महत्वपूर्ण विषयों का निर्देश करेंगे जिनके बारे में 69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 81.15) में विचार किया गया था। ये विषय हैं :

(क) (i) क्या यह धारा मौखिक कथनों के लिए लागू होती है?

(ii) क्या धारा विशिष्ट रूप में, टेपरिकार्ड किए गए कथनों के लिए लागू होती है?

(ख) उन दस्तावेजों की स्थिति क्या है जो खो गए हैं?

अब हम इन विषयों के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे :

(क)(1) क्या यह धारा मौखिक कथनों पर लागू होगी? यह धारा और धारा 155(3) :

हम धारा 155(3) का पहले ही निर्देश कर चुके हैं जिसमें पूर्वतन कथनों को, यदि वे उसके वर्तमान साक्ष्य के अननुरूप हैं, साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करने के लिए प्रयोग करने का निर्देश है। इस धारा में कथन के लिखित होने या लिखित करने के बारे में कुछ नहीं कहा गया है जबकि धारा 145 किसी पूर्वतन कथन को मुख्य साक्ष्य के रूप में साक्षी का खंडन करने पर, तभी प्रयोग करने की अनुज्ञा देती है जब कथन लिखित हो या लिखित किया गया हो। दूसरे शब्दों में, वर्तमान के अनुसार, धारा 145 पूर्वतन किए गए मौखिक कथनों के लिए लागू नहीं होती है और ऐसे कथन, धारा 155(3) के अधीन, सिवाय खंडन करने के लिए भी प्रयोग नहीं किए जा सकेंगे।

इस संदर्भ में (यू.के.) क्रिमिनल एवीडेंस एक्ट, 1865 (लार्ड डैनमैन अधिनियम) की धारा 4 और 5 का निर्देश किया गया है। उक्त अधिनियम की इन धाराओं के बारे में फिप्सन में (साक्ष्य, 1999, 15वां संस्करण, पैरा 11.29 से 11.31) विस्तार से चर्चा की गई है। धारा 4 में पूर्वतन असंगत कथनों के (मौखिक हों या लिखित) साबित किए जाने की पद्धति का निर्देश है और धारा 5 पूर्वतन असंगत लिखित कथन की प्रतिपरीक्षा के बारे में है।

जहां तक पूर्वतन **लिखित कथन** का संबंध है, (यू.के.) क्रिमिनल प्रोसीजर एक्ट, 1865 की धारा 5 में निम्नलिखित कहा गया है :

> "**धारा 5.** किसी साक्षी की, दोषारोपण या कार्यवाही से संबंधित, इसके द्वारा पूर्व में किए गए लिखित या लिखित किए गए कथनों के बारे में, उसका हस्तलेख उसे दिखाए बिना प्रतिपरीक्षा की जा सकेगी, परन्तु यदि लेख द्वारा ऐसे साक्षी का खंडन करना आशयित है तो, उसका ध्यान, ऐसा खंडनकारी सबूत देने से पूर्व, उसके लेख के उन भागों की ओर आकर्षित किया जाना चाहिए जिनका प्रयोग उसका खंडन करने के प्रयोजन से किया जाना है, परन्तु सर्वदा यह कि न्यायाधीश अपनी दक्षता से, विचारण के दौरान किसी समय, अपने निरीक्षण के लिए उसके लेख की अपेक्षा कर सकेगा और तब वह उसका विचारण के प्रयोजनों से ऐसा उपयोग कर सकेगा जैसा वह उचित समझता है।"

जहां तक पूर्वतन मौखिक कथन का संबंध है, उसी अधिनियम की धारा 4 में निम्नलिखित कहा गया है:

> "**धारा 4.** यदि कोई साक्षी, दोषारोपण या कार्यवाही से संबंधित विषय के बारे में उसके द्वारा किए गए किसी पूर्व कथन की, जो उसके वर्तमान परिसाक्ष्य से असंगत है, प्रतिपरीक्षा में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार नहीं करता है कि उसने ऐसा कथन किया था, परन्तु ऐसा सबूत दिए जाने से पूर्व, अनुमानित कथन की परिस्थितियों, जो उसे उस विशिष्ट अवसर का ज्ञान कराने के लिए पर्याप्त हैं, साक्षी को बतायी जानी चाहिए और तब उससे पूछा जाना चाहिए कि वह कथन उसने किया था अथवा नहीं"।

धारा 4 और धारा 5 दोनों में 'दोषारोपण' या 'कार्यवाही' शब्दों का प्रयोग यह दर्शाता है कि ये उपबंध दांडिक तथा सिविल दोनों प्रकार की कार्यवाहियों के लिए समान रूप से लागू होंगे।

उड़ीसा उच्च न्यायालय ने, धारा 145 के बारे में कार्यवाही में यह अभिनिर्धारित किया था कि धारा 145 का सिद्धान्त पूर्वतन मौखिक कथनों के लिए भी लागू होता है। (**राज्य बनाम मिनाकेतन**, ए.आई.आर. 1952 उड़ीसा 207)। परन्तु राजस्थान उच्च न्यायालय ने **रामरतन बनाम राज्य** ए.आई.आर. 1956 राजस्थान 196, मामले में यह दृष्टिकोण अपनाया था कि धारा 145 पूर्वतन मौखिक कथनों का खंडन करने के लिए लागू नहीं की जा सकती है। 69वीं रिपोर्ट के पैरा 80.21 में यह कहा गया था कि न्याय की यह अपेक्षा है कि साक्षी के साथ न्यायोचित व्यवहार किया जाए और उसे खंडन का स्पष्टीकरण करने के लिए पर्याप्त अवसर दिया जाना चाहिए, कथन चाहे लिखित में हो या मौखिक।

यह भी बताया गया था कि श्रीलंका में, धारा 145 में यू.के. एक्ट, 1865 की धारा 4 के अनुरूप, एक पृथक उपधारा जोड़ी गई है। न्यू साऊथवेल्स के एवीडेंस एक्ट (1898--1954) की धारा 54 में भी ऐसा उपबंध अन्तर्विष्ट है।

(क)(1) जहां तक टेपरिकार्ड किए गए पूर्वतन कथन का संबंध है, अन्य धारा अर्थात् धारा 155(3) के प्रयोजनों के लिए, जो विश्वसनीयता पर अधिक्षेप का निर्देश करती है (जिसमें यह नहीं कहा गया है कि पूर्वतन कथन लिखित में होना चाहिए)—उच्चतम न्यायालय ने **प्रतापसिंह** बनाम **राज्य** : ए.आई.आर. 1964 सु.को. 72 और **रामारेड्डी** बनाम **कीवीगिरि** : 1970(2) एस.सी.सी. 340, मामलों में यह स्वीकार किया है कि धारा 155(3) टेपरिकार्ड किए गए कथनों के लिए लागू होती है, यदि उनमें किसी प्रकार की छेड़-छाड़ न की गई हो। उच्चतम न्यायालय ने **रूपचन्द** बनाम **महाबीर** : ए.आई.आर. 1956 पंजाब 173, मामले में मुख्य न्यायाधीश भंडारी के अधिनिर्णय को स्वीकृति प्रदान की थी।

रूपचन्द के मामले में, पंजाब उच्च न्यायालय ने जबकि यह अभिनिर्धारित किया था कि टेप किए गए कथन को धारा 155(3) के अधीन साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करने के लिए प्रयोग किया जा सकेगा। यह अभिनिर्धारित किया कि टेप का उपयोग धारा 145 के प्रयोजनों के लिए नहीं किया जाएगा। इसके लिए यह कारण दिया गया था कि टेप रिकार्ड को लिखित कथन या लिखित किए गए कथन के समतुल्य नहीं समझा जा सकता।

69वीं रिपोर्ट में, यह मत व्यक्त किया गया था कि पंजाब उच्च न्यायालय का यह दृष्टिकोण ठीक था और यह कि धारा 145 में "यांत्रिकी रूप में अभिलिखित कथन" को सम्मिलित करने के लिए संशोधन किया जाना चाहिए।

यह सच है कि सूचना तथा प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2002 में धारा 3 में 'साक्ष्य' की परिभाषा को संशोधित किया गया और धारा 3 के खंड 2 में कहा गया है कि साक्ष्य में न्यायालय में पेश किए जाने वाले सभी दस्तावेज (इलैक्ट्रानिक अभिलेखों सहित) सम्मिलित हैं। परन्तु हमारे विचार में "यांत्रिक या इलैक्ट्रानिक अभिलेख द्वारा अभिलिखित कथन" शब्द जोड़ना लाभप्रद होगा।

(ख) अगला प्रश्न यह है कि यदि वह दस्तावेज खो जाता है, जिसमें पूर्वतन कथन अन्तर्विष्ट है तब क्या स्थिति होगी।

फिप्सन (15वां संस्करण, 1999, पैरा 11.31) ने कहा है : "जहां कोई दस्तावेज खो जाता है या नष्ट कर दिया जाता है या किसी अन्य न्यायालय में फाइल कर दिया जाता है, वहां द्वितीयिक साक्ष्य स्वीकार्य होगा और यह साबित किया जा सकेगा कि दस्तावेज विपक्ष के हाथों में है, जिसे पेश करने का नोटिस दिया गया था परन्तु उसने इंकार कर दिया है"।

सरकार ने (साक्ष्य, 15वां संस्करण, 1999, पृष्ट 2222) (टेलर से उद्धृत करते हुए धारा 1447, रौस एन.पी. 180 और हैल्सबरी, तीसरा संस्करण, खंड 15, पैरा 808) कहा है :

> "साक्ष्य अधिनियम में इस विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है कि जहां दस्तावेज खो गया है या नष्ट हो गया है या किसी अन्य कारण से उपलब्ध नहीं हो पा रहा है तो वहां क्या मूल दस्तावेज के बजाय उसकी प्रति उपयोग की जा सकेगी। निम्नलिखित इंग्लिश प्रक्रिया है। यदि साक्षी की प्रतिपरीक्षा से या किसी पूर्वकालिक साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता हो कि प्रश्नाधीन दस्तावेज खो गया है या नष्ट हो गया है तो न्यायाधीश जिस उपबंध के अधीन दस्तावेज पेश किए जाने की अपेक्षा करेगा वह उपबंध अकार्यकर हो जाएगा। ऐसी आशंका की जाती है कि ऐसे मामलों में दस्तावेज की, उसे पेश न किए जाने पर भी, अन्तर्वस्तु के बारे में साक्षी की प्रतिपरीक्षा की जाएगी और यह कि यदि यह विवाद्यक विषय के बारे में सारपूर्ण है तो, उसका बाद में द्वितीयिक साक्ष्य में खंडन किया जा सकेगा। अभी भी प्रश्न यह रह जाता है कि क्या प्रतिपरीक्षा करने वाला पक्षकार, दस्तावेज का खो जाना या नष्ट होना साबित करने के लिए या यह दर्शित करने के लिए कि दस्तावेज विपक्षी पक्षकार के हाथों में है और उस दस्तावेज को पेश करने का नोटिस दिया गया था और यह कि उसने ऐसा करने से

इंकार कर दिया, बीच में दखल देकर बिना बारी के पहले साक्ष्य दे सकेगा और तत्पश्चात् दस्तावेज की अन्तर्वस्तु के बारे में साक्षी की प्रतिपरीक्षा कर सकेगा।''

69वीं रिपोर्ट में, टेलर के साक्ष्य का निर्देश करने के पश्चात् (वुडरोफ द्वारा उद्धृत पैरा 1447), निम्नलिखित विचार व्यक्त किया गया। ''हमारा विचार है कि द्वितीयिक साक्ष्य द्वारा साक्षी के खंडनों को विनियमित करने के लिए एक उपयुक्त उपबंध अन्तःस्थापित किया जाना चाहिए। खंडन के लिए प्रयोग किए जाने से पूर्व द्वितीयिक साक्ष्य के लिए मामला बनाया जाना चाहिए''।

उपर्युक्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि—

(क)(i) पूर्वकालिक मौखिक कथनों का प्रयोग करते हुए खंडन की अनुज्ञा देने के लिए धारा 145 में एक पृथक उपधारा जोड़ी जानी चाहिए ताकि ऐसे खंडनों को ठोस साक्ष्य समझा जा सके;

(क)(ii) धारा 3 में साक्ष्य की परिभाषा के संशोधन के कारण से टेप रिकार्डिंग या यांत्रिक या इलैक्ट्रानिक रूप से अभिलिखित साक्ष्य के लिए कोई विशिष्ट उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है;

(ख) यदि मूल दस्तावेज खो गया है या पाया नहीं जा सकता या विपक्षी पक्षकार के पास है तो, द्वितीयिक साक्ष्य द्वारा पूर्वकालिक कथन को साबित करने के लिए उपबंध किया जाना चाहिए परन्तु यह कि पहले साक्ष्य प्रतिपरीक्षा करने वाले पक्षकार द्वारा की गई है जिसने द्वितीयिक साक्ष्य देने के लिए ऐसा आधार बनाया है। जहां तक इस पहलू का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 81.25 में यह कहा गया है कि जहां तक द्वितीयिक साक्ष्य का संबंध है, यह पहलू संभवतया धारा 155(3) के अन्तर्गत आता है। रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि धारा 145 के लागू होने के बारे में संदेह है। इसलिए उन्होंने प्राक्कल्पित की गई उपधारा (2) और (3) में इस पहलू को सम्मिलित नहीं किया है। हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 81.27 से सहमति व्यक्त करते हैं कि वर्तमान धारा की उपधारा (1) के रूप में संख्यांकित करते हुए निम्नलिखित दो उपधारा जोड़ी जानी चाहिए।

[हम उपधारा (2) में ''दिया जा सकता है'' शब्दों के स्थान पर ''प्रयोग किया गया है'' शब्द प्रतिस्थापित करना चाहते हैं]

इस प्रकार हम, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 81.07 में की गई सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 145 के वर्तमान उपबंध को उपधारा (1) के रूप में संख्यांकित करके निम्नलिखित उपधारा (2) और (3) जोड़ी जानी चाहिए :

''(2) जहां किसी साक्षी के पूर्वकालिक लिखित कथन का मामले की परिस्थितियों में लेख का द्वितीयिक साक्ष्य देने के हकदार पक्षकार द्वारा खंडन करने का प्रयत्न किया जाता है, उसका ध्यान, ऐसा द्वितीयिक साक्ष्य दिए जाने से पूर्व, खंडन करने के प्रयोजनों के लिए, कथन के ऐसे भाग की ओर आकर्षित किया जाना चाहिए जो उसका खंडन के करने के प्रयोजन के लिए प्रयोग किया जाना है।

(3) यदि कोई साक्षी, उसके द्वारा किए गए किसी पूर्वकालिक मौखिक कथन, (यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा अभिलिखित किए गए कथन सहित), जो वाद या कार्यवाही में, जिसमें उसकी प्रतिपरीक्षा की जा रही है, प्रश्नगत विषयों से सुसंगत है और जहां ऐसा कथन उसके वर्तमान साक्ष्य से असंगत है, के बारे में प्रतिपरीक्षा में ऐसा कथन करने का प्रत्याख्यान करता है या स्पष्ट रूप से यह स्वीकार नहीं करता है कि वह कथन उसने किया था तो यह साबित किया जा सकेगा कि यह कथन उसने किया था, परन्तु ऐसा साबित किए जाने से पूर्व, अनुमानित कथन की परिस्थितियां, जो उस विशिष्ट अवसर का ज्ञान कराने के लिए पर्याप्त हैं, साक्षी को बताई जानी चाहिए और उससे पूछा जाना चाहिए कि ऐसा कथन उसने किया था या नहीं।''

धारा 146 :

इस धारा को 'प्रतिपरीक्षा में विधिपूर्ण प्रश्न' शीर्षक दिया गया है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"146. जबकि किसी साक्षी की प्रतिपरीक्षा की जाती है तब उसे एतस्मिनपूर्ण निर्दिष्ट प्रश्नों के अतिरिक्त ऐसे कोई भी प्रश्न पूछे जा सकेंगे, जिनकी प्रवृत्ति—

(1) उसकी सत्यवादिता परखने की है,

(2) यह पता चलाने की है कि वह कौन है और जीवन में उसकी स्थिति क्या है, अथवा

(3) उसके शील को दोष लगाकर उसकी विश्वसनीयता को धक्का पहुंचाने की है, चाहे ऐसे प्रश्नों का उत्तर उसे प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अपराध में फंसाने की प्रवृत्ति रखता हो या उसे किसी शास्ति या समपहरण के लिए उच्छन्न करता हो या प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उच्छन्न करने की प्रवृत्ति रखता हो।"

इस धारा में और धारा 132 में कुछ चीज समान हैं। धारा 132 में कहा गया है कि कोई साक्षी किसी प्रश्न का उत्तर देने से इस आधार पर क्षम्य नहीं होगा कि प्रश्न का उत्तर उसे 'अपराध में फंसाएगा या प्रत्यक्षतः या परोक्षतः किसी प्रकार की शास्ति या समपहरण के लिए उच्छन्न करेगा' हमने धारा 132 के अधीन यह बात नोट की है कि धारा के परन्तुक में कथन को साक्षी की गिरफ्तारी या अभियोजन के लिए या दांडिक कार्यवाहियों (झूठी कार्यवाही में से अन्य) प्रयोग किए जाने का निषेध किया गया है। यह विषय धारा 147 के अधीन भी सुसंगत है जिस पर हम यहां नीचे विचार करेंगे।

वर्तमान धारा, विशिष्ट रूप में, खंड 3, उस व्यक्ति को, जो साक्षी की प्रतिपरीक्षा करता है, समान अधिकार प्रदान करती है। श्रीलंका में, खंड (1) में 'सत्यवादिता' शब्द के साथ निम्नलिखित रूप में, दो शब्द और अर्थात् 'शुद्धता' और 'विश्वसनीयता' प्रतिस्थापित किए गए हैं :

"शुद्धता, सत्यवादिता या विश्वसनीयता"

69वीं रिपोर्ट के पैरा 82.13 में, यह कहा गया था कि जबकि साक्षी से उसके पूर्वतन 'अननुरूप' कथनों को उसके समक्ष रखकर, जैसीकि धारा 145 में अनुज्ञा दी गई है, उसकी विश्वसनीयता की किसी सीमा तक परख की जा सकेगी, जो किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करने का एकमात्र आधार नहीं हो सकता और इसलिए, जैसाकि श्रीलंका में किया गया है, खंड (1) में 'शुद्धता' और 'विश्वसनीयता' शब्द जोड़ना आवश्यक है। यह परिवर्तन धारा 146 के खंड (1) के लिए आवश्यक है।

जहां तक धारा 146 के खंड (2) का संबंध है, हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 82.14 से सहमत हैं कि इसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

इस संबंध में धारा 148 भी महत्वपूर्ण है।

धारा 148 में पुरःस्थापित किए गए सुरक्षोपाय धारा 146 के लिए भी आवश्यक हैं। धारा 148 में, जैसाकि सरकार ने बताया है (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 223) कि यदि विश्वसनीयता या शील के बारे में कोई प्रश्न विवाधकों से प्रत्यक्षतः संबंधित नहीं है परन्तु विषय से केवल, उस बात या कार्यवाही से वहां तक के सिवाय जहां तक कि वह साक्षी के शील पर दोष लगाकर उसकी विश्वसनीयता प्रभावित करती है, यह निर्णय करना न्यायालय का कार्य होगा कि साक्षी

को उसका उत्तर देने के लिए विवश किया जाए अथवा नहीं। इंग्लैण्ड में सुप्रीम कोर्ट के नियमों को आदेश 36, नियम 38 में कहा गया है कि न्यायालय, सभी मामलों में किसी भी पक्षकार से या किसी भी साक्षी से प्रतिपरीक्षा में पूछे जाने वाले ऐसे प्रश्न की अनुमति देने से इंकार कर सकेगा जो कष्टदायी या वाद हेतुक या विषय के संबंध में पूछे जाने के लिए कि उपयुक्त या सुसंगत प्रतीत नहीं होता है। सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 में इस प्रकार का उपबंध प्रतीत नहीं होता है। यह ठीक है कि उक्त संहिता की धारा 151 के अधीन न्यायालय में ऐसी शक्ति अन्तर्निहित है जो न्याय करने के उद्देश्य से या न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग रोकने के लिए ऐसे आदेश कर सकेगा जो वह उचित समझे। धारा 148 में ऐसे सुरक्षोपाय अन्तर्विष्ट हैं।

इस संदर्भ में यह बता दिया जाना चाहिए कि प्रतिपरीक्षा के अधिकार का भारत में बहुत दुरुपयोग किया जाता है और लेखकों का कहना है कि यूनाइटेड किंगडम में भी ऐसा होता है परन्तु महाद्वीप में इतना अधिक दुरुपयोग नहीं है। सरकार ने (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 2227–2228) यह कहने के लिए वैलमैन को उद्धृत किया है कि कभी–कभी अधिवक्ताओं द्वारा असावधानी से की गई प्रतिपरीक्षा न्यायालय की बिना रोक-टोक के गुजर जाती है और साक्षी, साक्षीकथन में आने से घबराते हैं, विशेषकर यदि वे महिला हैं और उनके व्यक्तिगत निजी जीवन के बारे में प्रश्न पूछे जाते हैं। निःसंदेह, लेखक ने कहा है कि कभी–कभी प्रतिपरीक्षा का विपरीत प्रभाव होता है क्योंकि इससे न्यायालय में सामान्य स्थिति की तुलना में अधिक सहानुभूति उत्पन्न होती है। उसने इन अधिवक्ताओं को 'फोरेन्सिक ब्रलीज' कहा है। परन्तु मुख्य न्यायाधीश लार्ड कॉकबर्न (जैसाकि सरकार में उद्धृत है) ने स्पष्ट कहा है कि प्रतिपरीक्षा के अधिकार का ऐसा दुरुपयोग जैसा इंग्लैण्ड में प्रचलित है, महाद्वीप में नहीं दिखाई देता है। उनका मत था कि साक्षी के शील के बारे में अस्वस्थकर प्रश्नों को रोकना न्यायाधीश का कर्त्तव्य है।

फिप्सन ने (15वां संस्करण, 1999, पैरा 19.22 से 19.28) इस पहलु पर विस्तार से विचार किया है और सैक्सुअल ऑफेन्सिज (अमेंडमेंट) एक्ट, 1976 के अधीन, जिसके उपबंधों का यूथ जस्टिस एण्ड क्रिमनल ऐवीडेंस एक्ट, 1999 की धारा 41 से 43 द्वारा अतिलंघन कर दिया गया है, बलात्संग तथा अन्य संबंधित अपराधों के बारे में विशेष उपबंधों का निर्देश किया है (पैरा 19.29 से 19.51)।

इस प्रकार के विषय पर भारत के विधि आयोग ने अपनी 172वीं रिपोर्ट (2000) में चर्चा की है।

फिप्सन ने इस विषय पर किसी अभियुक्त व्यक्ति की प्रतिपरीक्षा संदर्भ में भी चर्चा की है—पृथक रूप से पैरा 17.20 से 19.18 में। पर्याप्त महत्व के प्रश्न उठते हैं कि क्या न्यायालय को प्रश्न पूछने की अनुमति न देने की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए चाहे वे विवाद्यक प्रश्नों से सुसंगत हों। कभी–कभी प्रश्न अभियुक्त से पूछे जाने वाले होते हैं और कभी अभियुक्त वादी से या अभियोजन पक्ष के साक्षियों से प्रश्न पूछता है या विशिष्ट पुलिस साक्षियों के शील या उनकी अविश्वसनीयता के बारे में भी प्रश्न पूछता है।

69वीं रिपोर्ट के अन्त में एक पृथक अध्याय (अध्याय 99) में 'न्यायाधीश का विवेकाधिकार' के बारे में चर्चा की गई है परन्तु यह महसूस किया गया है कि धारा 148 पर्याप्त है तथा और कोई उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है।

फिर भी, इस विषय का एक अन्य पहलु यह है कि क्या 'शील' शब्द में स्वभाव भी सम्मिलित होगा जहां अभियुक्त या साक्षियों के (पुलिस अधिकारियों सहित) पूर्वकालिक गलत कार्य में प्रश्नों की विषय–वस्तु हैं। इस संबंध में न्यायालयों द्वारा संतुलन बनाए रखने के लिए पर्याप्त निर्णय जनित विधि उपलब्ध हैं और इस विषय के बारे में चर्चा धारा 148 पर चर्चा करने के समय करेंगे। वर्तमान के लिए, हम यह कह सकते हैं कि शील के भाग के रूप में प्रवृत्ति का साक्ष्य सुसंगत समझा जाता है यद्यपि, प्रतिपरीक्षा न्यायालयों द्वारा नियंत्रित की जा सकती है।

वास्तव में, धारा 55 के स्पष्टीकरण में 'सामान्य ख्याति' और 'सामान्य स्वभाव' का निर्देश किया गया है। यहां हम इस तथ्य का उल्लेख कर सकेंगे कि (यू.के.) क्रिमिनल लॉ रिव्यू कमेटी, 1972 ने यह सिफारिश की थी कि 'शील' शब्द में 'स्वभाव' भी सम्मिलित होना चाहिए (देखें फिप्सन, 15वां संस्करण, पैरा 19.12 पादटिप्पण 75)।

यहां हम इस बात का भी उल्लेख कर सकेंगे कि संसद ने हाल ही में धारा 146 (3) के नीचे निम्नलिखित परन्तुक जोड़कर भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 4) के द्वारा 146 (3) का संशोधन किया है :

''परन्तु यह कि किसी बलात्संग या बलात्संग के प्रयास के अभियोजन में अभियोक्त्री की प्रतिपरीक्षा में उसके सामान्य अनैतिक शील के बारे में प्रश्न पूछने की अनुज्ञा नहीं होगी''

हमने धारा 146 (3) के नीचे भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 4) द्वारा जोड़े गए परन्तुक को देखा है परन्तु यह बहुत संकीर्ण है और विधि आयोग की 172वीं रिपोर्ट (2000) में किया गया प्रस्ताव विस्तृत है। हम 172वीं रिपोर्ट में दिए गए प्रारूप की (ऊपर उद्धृत किया गया) और 2003 के अधिनियम 4 द्वारा जोड़े गए परन्तुक का लोप करने की सिफारिश करते हैं।

इसके अतिरिक्त, 172वीं रिपोर्ट में सिफारिश किया गया खंड (4) विस्तृत है परन्तु भारतीय दंड संहिता की धारा 376 में पुर:स्थापित शब्द 'यौन प्रहार' अन्तर्विष्ट नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त, 172वीं रिपोर्ट में धारा 376 ङ भी सम्मिलित की गई है परन्तु वह धारा अभी तक भारतीय दंड संहिता में अन्त:स्थापित नहीं की गई है।

इस प्रकार, धारा 146 का खंड (4), जैसीकि 172वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है, वर्तमान में, पूरी तरह से पुर:स्थापित नहीं किया जा सकेगा।

हम यह भी सिफारिश करते हैं कि खंड (1) में 'सत्यवादिता' शब्द के पश्चात् 'शुद्धता' 'विश्वसनीयता' शब्द जोड़े जाने चाहिए।

हम सिफारिश करते हैं कि

(क) धारा 146 के खंड (1) में 'सत्यवादिता' शब्द के पश्चात् 'शुद्धता' 'विश्वसनीयता' शब्द जोड़े जाने चाहिए;

(ख) खंड (3) के पश्चात् दिए गए परन्तुक को निकाल दिया जाएगा;

(ग) खंड (3) के पश्चात् निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ा जाएगा, अर्थात्,

''**(4)** धारा 376, 376क, 276ख, 376ग या 376घ के अधीन किसी अपराध के अभियोजन में, या ऐसा कोई अपराध करने के प्रयत्न के लिए, जहां सम्मति विवाद्यक प्रश्न है, सम्मति या सम्मति की विशेषता साबित करने के लिए पीड़ित व्यक्ति की प्रतिपरीक्षा में साक्ष्य देना या उसके सामान्य अनैतिक शील के बारे में या किसी व्यक्ति के साथ उसके पूर्वकालिक यौन अनुभव के बारे में प्रश्न पूछना अनुज्ञेय नहीं होगा।

स्पष्टीकरण : 'शील' में 'ख्याति' और 'स्वभाव' भी सम्मिलित हैं।''

धारा 147 :

इस धारा को 'साक्षी को उत्तर देने के लिए कब विवश किया जाएगा' शीर्षक दिया गया है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''**147** यदि ऐसा कोई प्रश्न उस वाद या कार्यवाही से सुसंगत किसी बात से संबंधित है, तो धारा 132 के उपबंध उसको लागू होंगे।''

धारा 132 विश्वसनीयता के बारे में है। इसका अर्थ यह है कि जहां धारा 146 विश्वसनीयता से संबंधित प्रश्न या ऐसे प्रश्न, जो साक्षी के शील के लिए क्षतिकारक हैं, पूछने की अनुज्ञा से संबंधित हैं, वहां धारा 147 का आशय साक्षी की विश्वसनीयता का निर्देश करना है।

हमें इस धारा के विषय में विस्तार से चर्चा करनी होगी।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 82.16 में, संक्षेप में, यह सिफारिश की गई है कि 'वाद या कार्यवाही से सुसंगत किसी बात' शब्दों के स्थान पर 'वाद या कार्यवाही में विवाद्यक विषय से सुसंगत कोई बात' शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित दो कारण दिए गए हैं :

> "82.16 धारा 147 के संदर्भ में, एक मौखिक विषय का उल्लेख करने की आवश्यकता है। इस धारा में 'वाद या कार्यवाही से सुसंगत' शब्द, धारा 132 की भांति, विवाद्यक विषय से सुसंगत किसी बात का निर्देश करते हैं। इसे स्पष्ट करना वांच्छनीय होगा क्योंकि अगली धारा—धारा 148 में विवाद्यक विषय से सुसंगत और ऐसे प्रश्न 'जो वाद या कार्यवाही से सुसंगत हैं' के बीच केवल इस कारण से अन्तर किया गया है कि वे साक्षी को क्षति पहुंचाकर साक्षी की विश्वसनीयता को प्रभावित करते हैं। अतः हम सिफारिश करते हैं कि धारा 147 में 'सुसंगत' शब्दों के पश्चात् 'विवाद्यक विषय से' शब्द जोड़े जाने चाहिए।"

हमने 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश पर गहराई से विचार किया है। यह तर्क दिया जा सकता है कि धारा 147 के प्रयोजनों के लिए, वाद से बाहर साक्षी के पूर्व आचरण की घटनाओं का निर्देश करना पड़ सकेगा। धारा 148 पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि साक्षियों की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करने के लिए ऐसे प्रश्न अनुज्ञेय हैं परन्तु ये विषय से अधिक दूर नहीं होने चाहिए। वास्तव में, धारा 148 के अधीन अपनी समीक्षा में सरकार ने स्टीफन्स् जनरल व्यू ऑफ क्रिमिनल लॉ से एक निम्नलिखित उद्धरण दिया है (देखें सरकार, 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 2232) :

> ".....सर स्टीफन्स् ने कहा, यदि कोई महिला अपनी जेब काटे जाने के लिए किसी को अभियोजित करती है तो यह प्रश्न अद्भूत होगा कि क्या 10 वर्ष पहले उसने एक अवैध बच्चे को जन्म दिया था, यद्यपि, परिस्थितियां ऐसी हो सकती हैं जो ऐसा प्रश्न करना आवश्यक बनाती हैं।"

हम कतिपय अन्य उदाहरण भी दे सकेंगे। यदि कोई विवाद्यक विषय वादी द्वारा किसी दस्तावेज की कूट रचना से संबंधित है और साक्षी उसके अनुप्रमाणक होने का दावा करता है तब उससे यह प्रश्न पूछा जा सकेगा कि जब किसी दस्तावेज के निष्पादन के बारे में पहले साक्ष्य दिया गया था तब क्या न्यायालय ने उस दस्तावेज को कूट रचित अभिनिर्धारित किया था या न्यायालय किसी ऐसे निष्कर्ष का निर्देश किया था कि उसने (अनुप्रमाणक ने) स्वयं उस दस्तावेज को कूट रचित बनाया था। जहां तक साक्षियों की विश्वसनीयता का संबंध है, यह स्पष्ट है कि, चाहे प्रश्न वाद से बाहर की घटनाओं के बारे में भी हो, वे वाद या कार्यवाही में वास्तविक विवाद्यक विषय पर साक्षी की विश्वसनीयता के बारे में, न्यायालय की राय प्रभावित करने के लिए पर्याप्त रूप से निकटतम होने चाहिए।

श्री वेपा, पी. सारथी ने कहा है कि धारा 147 और 148 दो विभिन्न प्रकार के प्रश्नों के बारे में हैं, यद्यपि वे दोनों ही साक्षी के शील को क्षति पहुंचाने से संबंधित हैं। धारा 147 वाद या कार्यवाही से सुसंगत प्रश्नों के बारे में है (धारा 6 से 55 तक के अधीन असंगत); और धारा 148 ऐसे प्रश्नों के बारे में है जो वाद या कार्यवाही से सुसंगत नहीं हैं—परन्तु साक्षी की विश्वसनीयता को प्रभावित करते हैं। उसके अनुसार धारा 147 में निर्दिष्ट प्रश्नों के उत्तर विश्वसनीय हैं (क्योंकि वे सुसंगत हैं); परन्तु धारा 148 के अधीन प्रश्नों के उत्तर देना न्यायालय की राय पर निर्भर करेगा कि जिस दोष का आरोप लगाया गया है उससे साक्षी की विश्वसनीयता प्रभावित होगी या नहीं। तत्पश्चात्, उसने कहा है कि धारा 147 और 148 को इसी रूप में, जिसमें वे हैं, रहने दिया जाना चाहिए। जबकि उपर्युक्त विचार महत्वपूर्ण है, हमारे विचार में 'सुसंगत' शब्द में 'विवाद्यक विषयों' शब्दों द्वारा विशेषता क्यों नहीं बतायी जानी चाहिए। उपर्युक्त दिए गए कारणों से, हमने यह महसूस किया है कि यह प्रस्ताव केवल स्पष्टकारी है।

69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश का गहन अध्ययन करने के पश्चात् हमने अन्तिम रूप से यह निश्चित किया है कि उससे असहमत होना आवश्यक नहीं है।

एक पहलू यह है कि जहां तक साक्षी की विश्वसनीयता का संबंध है, धारा 147, धारा 132 को लागू करती है।

क्या यह परन्तुक (और हमने धारा 132 के अधीन जो अन्य सिफारिश की है) सहित सम्पूर्ण धारा को लागू करता है?

हमारे विचार में, धारा 147 द्वारा अनुज्ञेय प्रश्न वे हैं जो साक्षी की विश्वसनीयता से संबंधित हैं या जो साक्षी के शील के लिए क्षतिकारक हैं, ऐसे प्रश्न और उनका उत्तर दिया जाना विश्वसनीय है। धारा 147 में ऐसे प्रश्नों का निर्देश है, जिसका तात्पर्य उन प्रश्नों से है जो धारा 146 के अधीन आते हैं। धारा 146 के खंड (3) में कहा गया है कि विश्वसनीयता या शील से संबंधित प्रश्न अपराध में फंसा सकते हैं या उसे किसी शास्ति या समपहरण के लिए उच्छन्न कर सकते हैं।

अतः हम सिफारिश करते हैं कि धारा 147 में 'सुसंगत' शब्द के पश्चात् 'विवाद्यक विषय से' शब्द जोड़े जाने चाहिए तथा अन्य किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 148 :

इस धारा में बताया गया है कि 'न्यायालय विनिश्चित करेगा कि कब प्रश्न पूछा जाएगा और साक्षी को उत्तर देने के लिए कब विवश किया जाएगा'। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

> "**148.** यदि ऐसा कोई प्रश्न ऐसी बात से संबंधित है जो उस वाद या कार्यवाही से वहां तक के सिवाय, जहां तक कि वह साक्षी के शील को दोष लगाकर उसकी विश्वसनीयता पर प्रभाव डालती है, सुसंगत नहीं है, तो न्यायालय विनिश्चित करेगा कि साक्षी को उत्तर देने के लिए विवश किया जाए अथवा नहीं और यदि वह ठीक समझे, तो साक्षी को सचेत कर सकेगा कि वह उसका उत्तर देने के लिए आबद्ध नहीं है। अपने विवेक का प्रयोग करने में न्यायालय निम्नलिखित विचारों को ध्यान में रखेगा :
>
> (1) ऐसे प्रश्न उचित हैं यदि वे ऐसी प्रकृति के हैं कि उनके द्वारा प्रवहण किए गए लांछन की सत्यता उस विषय में, जिसका वह साक्षी परिसाक्ष्य देता है, साक्षी की विश्वसनीयता के बारे में न्यायालय की राय पर गम्भीर प्रभाव डलेगी ;
>
> (2) ऐसे प्रश्न अनुचित हैं, यदि उनके द्वारा प्रवहण किया गया लांछन ऐसी बातों के संबंध में है जो समय में उतनी अतीत हैं या जो इस प्रकार की है कि लांछन की सत्यता उस विषय में, जिसका वह साक्षी परिसाक्ष्य देता है, साक्षी की विश्वसनीयता के बारे में न्यायालय की राय पर प्रभाव नहीं डालेगी या बहुत थोड़ी मात्रा में प्रभाव डालेगी ;
>
> (3) ऐसे प्रश्न अनुचित हैं यदि साक्षी के शील के विरुद्ध किए गए लांछन के महत्व और उसके साक्ष्य के महत्व के बीच भारी अनुपात है ;
>
> (4) न्यायालय यदि वह ठीक समझे, साक्षी के उत्तर देने से इंकार करने पर यह अनुमान लगा सकेगा कि उत्तर दिया जाता तो, प्रतिकूल होता।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 83.3 में यह कहा गया है कि जहां तक इस धारा का साधारण साक्षियों पर लागू होने का संबंध है, तो इस पर उनकी कोई टिप्पणी नहीं है। तथापि, 69वीं रिपोर्ट के अनुसार साक्षी के रूप में किसी अभियुक्त की स्थिति के बारे में चर्चा किए जाने की आवश्यकता है। तब चर्चा, **माकिन बनाम ए.जी ऑफ न्यू साऊथवेल्स** (1894) ए.सी. 57 और लार्ड हरशैल की टिप्पणियों से आरम्भ होती है।

इंग्लैंड में विधि का विकास 1894 में **माकिन** के मामले के निर्णय में जो कुछ कहा गया था वहां से आरम्भ होता है। 1991 तक, विधि नए सिद्धांतों के रूप में स्पष्ट हो गई है कि क्या न्यायालय के साक्षियों के, चाहे वे अभियुक्त, साक्षी हों या गैर-अभियुक्त, शील और विश्वसनीयता के बारे में कतिपय प्रश्न पूछने की अनुमति देने का विवेकाधिकार होना चाहिए और यद्यपि धारा 148 में न्यायालय को विशिष्ट रूप से प्रश्न पूछने की अनुमति देने का विवेकाधिकार दिया गया हैं परन्तु फिर भी इस धारा में हाऊस ऑफ लार्ड्स् द्वारा यहां नीचे दिए गए **डी.पी.पी.** बनाम **पी.** : 1991 (2) ए.सी. 447 : 1991 (3) ए.एल.एल.ई.आर. 337, मामले में हाल ही निर्धारित किए गए सिद्धांत सम्मिलित नहीं हैं।

69वीं रिपोर्ट में, सुझाव दिया गया था कि जहां तक साक्षियों का संबंध है, अर्थात् अभियुक्तों से भिन्न-तो, कोई अन्य उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है। रिपोर्ट में, अभियुक्त साक्षियों के मामले में सुरक्षोपाय करने पर तथा उनकी विश्वसनीयता और शील के बारे में प्रश्न किस सीमा तक न्यायालय द्वारा नियंत्रित होने चाहिए, विचार केन्द्रित किया गया है। पूरी चर्चा करने के पश्चात्, रिपोर्ट में, इस संबंध में धारा 148(2) का प्रारूप अन्तर्विष्ट किया गया है।

यदि हम धारा 148 में उपधारा (2) और जोड़ देते हैं तो, यह धारा बहुत बड़ी हो जाती है। हमारे विचार में यह बेहतर होगा यदि 69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 148(2) के प्रारूप की भांति, एक नई धारा 148क पुर:स्थापित की जाती है। यहां भी, प्रस्तावों में परिवर्तन अपेक्षित है : **डी.पी.पी. बनाम पी.** : 1991 (2) ए.सी. 447 मामले में वर्णित सिद्धांतों का जोड़ा जाना, विधि आयोग की 172वीं रिपोर्ट को ध्यान में रखते हुए, बलात्संग के मामले में किसी महिला से यौन अपराधों के प्रति उसके स्वभाव के बारे में प्रश्न पूछने संबंधी खंड का निकाला जाना।

अत: पहले हम धारा 148 में साक्षियों से (अभियुक्तों से भिन्न) प्रश्न पूछे जाने और न्यायालय के विवेकाधिकार के बारे में चर्चा करेंगे।

धारा 148 में, इसके आरम्भिक भाग भाषायी पुनर्प्रारूपण की आवश्यकता है। जिस रूप में यह प्रारूपित है, वह उसके विपरीत अर्थ दे सकता है जो आशयित है।

धारा 148 का प्रारम्भिक भाग इस प्रकार है :

> "148. यदि ऐसा कोई प्रश्न ऐसी बात से संबंधित है, उसे बात या कार्यवाही से, वहां तक के सिवाय, जहां तक कि वह साक्षी के शील को दोष लगाकर उसकी विश्वसनीयता पर प्रभाव डालती है, सुसंगत नहीं है तो न्यायालय यह विनिश्चित करेगा कि साक्षी को उत्तर देने के लिए विवश किया जाए....."।

'सिवाय' से भ्रम पैदा होने की संभावना है क्योंकि इससे ऐसी धारणा बनती है कि यदि प्रश्न उसके शील को दोष लगाकर साक्षी की विश्वसनीयता से संबंधित है तो न्यायालय को प्रश्न की अनुमति न देने का विवेकाधिकार नहीं है और साक्षी को उसका उत्तर देने के लिए विवश किया जाएगा। परन्तु धारा 148 से ठीक इसके विपरीत आशयित है। धारा का आशय इन प्रश्नों से, जो उसके शील को क्षति पहुंचाते हैं, साक्षी की रक्षा करना है।

इस पहलू को सरकार ने निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 2231) :

> "धारा 148. इसलिए, यह निर्धारित करती है कि यदि ऐसा कोई प्रश्न विवाद्यक विषय से प्रत्यक्षत: संबंधित नहीं है, परन्तु विषय से, वहां सुसंगत है, साक्षी के शील को क्षति पहुंचाकर, केवल जहां तक उससे साक्षी की विश्वसनीयता प्रभावित होती है, न्यायालय यह सुनिश्चित करेगा कि साक्षी को उसका उत्तर देने के लिए विवश किया जाएगा अथवा नहीं....."

अत: हमारा विचार है कि धारा 148 के प्रारम्भिक भाग को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाना चाहिए :

> "यदि ऐसा कोई प्रश्न ऐसी किसी बात से संबंधित है जो उस बात या कार्यवाही से वहाँ तक के सिवाय" शब्दों के स्थान पर "यदि ऐसा कोई प्रश्न वाद या कार्यवाही में विवाद्यक विषयों से संबंधित नहीं है परन्तु ग्राह्य है"। शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

अगला पहलू, इंग्लैण्ड में, 1894 में माकिन के मामले से आरंभ विधि के विकास से संबंधित है। यह विकास अभियुक्त तथा गैर अभियुक्त दोनों प्रकार के साक्षियों के लिए सुसंगत है [जहां तक अभियुक्त साक्षियों का संबंध है, हम, जैसाकि पहले बता चुके हैं, नए सिद्धांतों को धारा 148(2) में अंतर्विष्ट करने के बजाय नई धारा 148क में अंतर्विष्ट करेंगे] धारा 148 के बारे में एक अन्य पहलू अवमानना के मामलों के लिए एक स्पष्टीकरण जोड़ना है, जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में प्रस्ताव किया गया है। अब हम इन विषयों के बारे में चर्चा करेंगे।

विधि के विकास के बारे में चर्चा करने से पूर्व हम पहले माकिन के मामले में स्थिति का निर्देश करेंगे (एच.सी.) लार्ड हरशैल ने मामले में निम्नलिखित कहा है :

> "..... मात्र यह तथ्य कि दिया गया साक्ष्य अन्य अपराध किया जाना दर्शित करता है साक्ष्य को अग्राह्य नहीं बना देता है यदि वह ज्यूरी के समक्ष विचाराधीन किसी विषय से सुसंगत है, और यह इसी प्रकार से सुसंगत हो सकेगा यदि वह प्रश्न से सम्बंधित है कि दोषारोपण में आरोपित, अपराध गठित करने के लिए अभिकथित कार्य, योजनाबद्ध थे या आकस्मिक या किसी प्रतिरक्षा का खंडन करने से जो अन्यथा अभियुक्त के लिए खुला होता"

इस प्रकार, 1894 में जिस प्रकार से विधि निर्धारित की गई उसके अनुसार, विश्वसनीयता या शील के बारे में प्रश्न साक्षी से पूछे जा सकते थे और हाऊस ऑफ लार्ड्स का यह विचार था कि न्यायालय को, कतिपय परिस्थितियों में, ऐसे प्रश्नों की अनुज्ञा देने से इंकार करने के लिए कोई विवेकाधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। पूर्वकालिक दोषपूर्ण कार्यों से सम्बंधित प्रश्नों के बारे में कोई बाधा नहीं आएगी। इसी प्रकार का निम्नलिखित विचार **आर बनाम केन्ताबे** : 1917(1) के.बी. (पृष्ठ 29) मामले में मुख्य न्यायाधीश लार्ड रीडिंग द्वारा अभिव्यक्त किया गया :

> "इस न्यायालय में, जो अक्सर कहा गया है, उसको दोहराना आवश्यक नहीं है, कि साक्ष्य जो अन्यथा ग्राह्य है केवल इस कारण से अग्राह्य नहीं होगा क्योंकि इससे यह दर्शित होता है कि कैदी ने अन्य अपराध भी किया है।"

यह प्रवृति **हाब्स बनाम टिनलिंग एण्ड कम्पनी** : 1929 (2) के.बी. 1(51)(सी.ए.), मामले में परिवर्तित हुई जहां न्यायाधीश शैंकी ने कहा कि अविश्वसनीय कृत्यों के बारे में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देने के लिए किसी साक्षी को विवश करने की अनुज्ञा न देने का न्यायालय को विवेकाधिकार प्राप्त है। उन्होंने भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 148 के उपबंधों का स्पष्ट रूप से निर्देश किया और कहा कि इंग्लैण्ड में न्यायाधीश को भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 148 में अन्तर्विष्ट विचारों को ध्यान में रखना चाहिए।

डी.पी.पी. बनाम **बोर्डमैन** : 1975 ए.सी. 421, मामले में लार्ड विलबरफोर्स तथा लार्ड क्रास के भाषणों में निर्देश किए गए हैं कि न्यायालय को विवेकाधिकार होना चाहिए।

अन्तिम रूप से, **डी.पी.पी. बनाम पी.** : 1991 (2) ए.सी. 447 : 1991(3) ए.एल.एल.ई. आर. 337 (एच.सी.), मामले में विधि निश्चित हो गई। लार्ड मैकाए ने टिप्पणी की कि न्यायालय को यह विचार करना चाहिए कि क्या "साक्ष्य में इतना प्रमाणिक महत्व होना चाहिए कि वह उसके हानिकारक प्रभाव को समाप्त कर सके"। निर्णय में निम्नलिखित पैरे में सिद्धान्त स्पष्ट रूप से दिए गए है (पृष्ठ 346 ए.एल.एल.ई. आर.)।

बोर्डमैन बनाम **डी.पी.पी.**, मामलें में हाऊस में जो कुछ भी कहा गया था उससे ग्राह्य किए जाने वाले साक्ष्य के अनिवार्य तत्वों का निष्कर्ष यह निकलता है कि साक्ष्य का, इस आरोप के समर्थन में कि अभियुक्त व्यक्ति ने अपराध किया है, **प्रमाणिक** महत्व इतना अधिक होना चाहिए कि उसे साक्ष्य में स्वीकार करना उचित ठहराया जा सके, इस बात के होते हुए भी कि यह ऐसा दर्शित करना अभियुक्त के लिए हानिकारक होगा कि वह किसी अन्य अपराध का भी दोषी है। ऐसी प्रमाणिकता जिस रूप में अपराध किया गया था उसके बारे में साक्ष्य में प्रभावकारी समरूपता से प्राप्त की जा सकेगी..... परन्तु ऐसी परिस्थितियों की अवहेलना करके, जिनमें अन्य मामलों में किसी अन्य अपराध के बारे में, जिनमें सिद्धान्त का लागू किया जाना ऐसे रूप में प्रतिबंधित करने के लिए प्रभावशाली समरूपता है जो उसे कथित करने से विशिष्ट रूप से अत्यधिक प्रभावशाली बनाता है और सिद्धान्त रूप में न्यायोचित नहीं है साक्ष्य के हानिकारक प्रभाव को समाप्त करने की पर्याप्त प्रमाणिक शक्ति है।

एक बार सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हो जाती है, तब प्रश्नगत साक्ष्य की प्रमाणक क्षमता का मूल्यांकन करना होगा, अनन्त विभिन्न परिस्थितियां जिनमें ऐसे प्रश्न व्युत्पन्न होते हैं यह दर्शाती हैं कि कोई एक ही ऐसी पद्धति नहीं है जिसमें यह प्राप्त किया जा सकेगा। क्या **"साक्ष्य का ऐसा पर्याप्त प्रमाणक महत्व है जो, यदि तुलना करने का प्रश्न आता है तो, उसके हानिकारक प्रभाव के महत्व से बढ़कर हो।"**

इस प्रकार 1894 के **माकिन के मामले** के विरुद्ध **डी.पी.पी.** बनाम **पी** मामले में निर्धारित किया गया सिद्धान्त गुणात्मक है।

उपर्युक्त मामले, अभियुक्त साक्षियों के थे जिनसे उनके शील और स्वभाव के बारे में प्रश्न पूछे गए थे।

फिप्सन ने **डी.पी.पी.** बनाम **पी** मामले में सिद्धान्त ऐसे साक्षी के बारे में, जो अभियुक्त नहीं है, लागू किए जाने के प्रश्न पर विचार किया है। उसने **आर** बनाम **एडवर्डस्** : 1991(1) डब्ल्यू.एल.आर. 207 (सी.ए.) मामले का निर्देश किया जिसमें पुलिस साक्षियों से जबरन संस्वीकृति प्राप्त करने के सम्बंध में उनके पूर्व के आचरण के बारे में प्रश्न पूछे गए थे। प्रश्न की अनुमति नहीं दी गई। **आर बनाम आयरिश** : क्रिमिनल आर 195, मामले में परिवादी को दिखाने का प्रश्न आक्रामक बताकर अस्वीकार कर दिया गया।

फिप्सन ने **आर बनाम मूरे** : 1995 आर.टी.आर. 239 और **आर** बनाम **क्रिकर** : 1995 क्रिम.एल.आर. 819 (सी.ए.) मामलों का निर्देश करने के पश्चात् यह जानना चाहा है कि **डी.पी.पी.** बनाम **पी** मामले के सिद्धान्त का लाभ साक्षियों को (अभियुक्तों से भिन्न) क्यों नहीं दिया जाना चाहिए (पैरा 19.09) (19.11)। **आर** बनाम **वायला** : 1982 (1) डब्ल्यू.एल.आर. 1138 (सी.ए.) मामले के निर्देश भ्रमात्मक हैं, यद्यपि बलात्संग के मामले में महिला के विरुद्ध प्रश्न स्वीकार किए गए थे।

हम देखते हैं कि धारा 148 सभी साक्षियों के मामलों में (अभियुक्त या अन्य) न्यायालय को विवेकाधिकार और चार मार्ग निर्देश देती है। तथापि, उनमें **डी.पी.पी.** बनाम **पी** में निर्धारित किए गए सिद्धान्त को उनमें जोड़ने का अब प्रस्ताव किया गया है।

इसलिए, डी.पी.पी. बनाम **पी** मामले के उपर्युक्त सिद्धान्त को अभियुक्तों से भिन्न साक्षियों के मामले में धारा 148 में (और अभियुक्त साक्षियों के मामले में प्रस्तावित धारा 148क में) पुरःस्थापित किया जाएगा। हम धारा 148 में निम्नलिखित रूप में एक खंड जोड़ने का प्रस्ताव करते हैं :

> "धारा 55 के अधीन की गई चर्चा में ("नुकसानी पर प्रभाव डालने वाला शील") यह कहा गया है कि सिविल मामलों में यह तथ्य कि किसी व्यक्ति का शील ऐसा है जिससे नुकसानी की रकम पर, जो उसे मिलनी चाहिए, प्रभाव पड़ता है, सुसंगत है। धारा में एक स्पष्टीकरण दिया गया है कि शील में 'ख्याति' और 'स्वभाव' सम्मिलित हैं। धारा 146 भी देखें।"

69वीं रिपोर्ट में, धारा 55 के स्पष्टीकरण के लिए, घुमा फिरा कर प्रतिपरीक्षा करने को सीमित करने के प्रयोजन से, तथा जो शील से सुसंगत हैं शीर्षक के अधीन एक उपयुक्त परन्तुक जोड़ने की सिफारिश की गई थी।

यह सिफारिश सुसंगतता के संदर्भ में की गई थी। परन्तु अब प्रश्न यह है कि क्या धारा 148 के सम्बंध में भी इस आशय से कोई संकेत करना वांछनीय है। यह ठीक है कि धारा 55 की तुलना में धारा 148 विस्तृत है क्योंकि इसमें साक्षियों की विश्वसनीयता पर आक्षेप लगाने के लिए प्रश्न पूछने की, वहां भी जहां वे विवाद्यक विषय से सुसंगत नहीं है, अनुज्ञा दी गई है। अवमानना के वाद में वादी की प्रतिपरीक्षा के बारे में न्यायालय को जागरूक रहना चाहिए। (देखें पैरा 85.26) धारा 148 भी, शील को प्रभावित करने वाले प्रश्नों का औचित्य सुनिश्चित करने तथा कतिपय मार्ग निर्देश निर्धारित करने में न्यायालय पर कर्त्तव्य का भार डालती है। मानहानि के वादों के बारे में न्यायालय का ध्यान विशिष्टतया उन मार्ग निर्देशों की ओर आकर्षित करना अयुक्तिसंगत नहीं होगा। (पैरा 83.27)

अत: हम इस प्रस्ताव से सहमत हैं कि धारा 148 के नीचे स्पष्टीकरण जोड़ा जाना चाहिए कि न्यायालय इस बात पर विचार करे कि ऐसे प्रश्न उचित हैं अथवा नहीं।

श्री वेपा पी. सारथी ने सुझाव दिया है कि क्योंकि न्यायालय का विवेकाधिकार विस्तृत है, क्या हमें कोई परिवर्तन करना चाहिए। हमारे विचार में प्रस्तावित संशोधन केवल न्यायालय के विवेकाधिकार के क्षेत्र को ही स्पष्ट करता है।

उपर्युक्त पहलू को ध्यान में रखते हुए, धारा 148 के खंड (4) के स्थान पर निम्नलिखित खंड और स्पष्टीकरण प्रतिस्थापित किए जाने चाहिएं और हम तदनुसार सिफारिश करते हैं :

"(4) न्यायालय ध्यान में रखेगा कि क्या ऐसे साक्ष्य का इतना पर्याप्त 'प्रोबेटीव' महत्व है या होगा जो मामले की परिस्थितियों में उसके हानिकारक प्रभाव से बढ़कर है।

(5) न्यायालय, यदि ठीक समझे, साक्षी के उत्तर देने से इंकार करने पर यह अनुमान लगा सकेगा कि उत्तर यदि दिया जाता है तो, प्रतिकूल होता।

स्पष्टीकरण : जहां, किसी व्यक्ति की ख्याति को क्षति के लिए मानहानि की नुकसानी के वाद में, किसी व्यक्ति के शील के किसी पहलू को, कथित मानहानि से संबंधित विषय से भिन्न, इस धारा के अधीन किसी प्रश्न से क्षति होने की संभावना है तो, न्यायालय उस प्रश्न पर विशेष ध्यान देगा कि क्या, इस धारा में उल्लिखित बातों को ध्यान में रखते हुए, ऐसा प्रश्न न्यायोचित है।"

धारा 148क :

69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 148(2) के स्थान पर हम धारा 148क का प्रस्ताव करते हैं।

जैसाकि धारा 148 के अधीन की गई चर्चा में कहा गया है, जहां तक अभियुक्त साक्षियों को संरक्षण देने के लिए विशेष उपबंध करने का संबंध है, हमने 69वीं रिपोर्ट में धारा 148(2) के बारे में की गई सिफारिश में उपांतरण किया है और इसे धारा 148क के रूप में पुर:स्थापित करने का प्रस्ताव किया है। यहां भी जैसाकि बताया जा चुका है, प्रस्ताव में, धारा 148 के अधीन हमारी चर्चा में निर्देशित **डी.पी.पी. बनाम पी** के संतुलनकारी सिद्धान्त को सम्मिलित किया जाना चाहिए। 69वीं रिपोर्ट में किए गए प्रस्ताव में एक और शुद्धि की जानी है। विधि आयोग की 172वीं रिपोर्ट की दृष्टि से बलात्संग के मामले में महिला परिवादी से प्रश्न पूछने की अनुज्ञा यथावत् नहीं रहनी चाहिए। केन्द्र के अधिनियम 4/2003 द्वारा धारा 146(3) में एक परन्तुक पुर:स्थापित करके पहले ही ऐसा किया जा चुका है परन्तु हमने परन्तुक का लोप करके धारा 146(4) में विस्तृत उपबंध करके इसे और अधिक विस्तृत बना दिया है।

69वीं रिपोर्ट में, आस्ट्रेलिया की स्थिति का निर्देश किया गया था जहां इंग्लैण्ड के क्रिमिनल एवीडेंस एक्ट, 1898 की धारा 1(च) जैसा ही उपबंध है जो अभियुक्त की पूर्वकालिक दोषसिद्धियों को तभी विवाद्यक विषय बनाने की अनुज्ञा देता है यदि, आम बातों के साथ-साथ, उसकी प्रतिरक्षा का स्वरूप और आचरण ऐसा है जिसमें अभियोजन साक्षी के शील पर दोषारोपण के अन्तर्गत हो। विक्टोरिया में, क्राइम्स् एक्ट, 1958 की धारा 399 के उपबंध में कहा गया है कि ऐसी प्रतिपरीक्षा के लिए, अनुज्ञा के लिए, ज्यूरी की अनुपस्थिति में न्यायाधीश के समक्ष आवेदन दिया जा सकेगा। **डाउसन बनाम दि क्वीन**, 106 सी.एल.आर. पृष्ठ 1, मामले मुख्य न्यायाधीश डिक्सन ने कहा है कि यह उपबंध न्यायाधीश को पूर्ण विवेकाधिकार प्रदान करता है। न्यू साऊथवेल्स में, अधिनियम 55 विक्. सं. 5 की धारा 6(189) द्वारा यह अधिनियमित किया गया था कि किसी अभियोजनीय अपराध के लिए आरोपित प्रत्येक व्यक्ति, ऐसे आरोप की सुनवाई पर प्रत्येक न्यायालय में साक्ष्य देने के लिए सक्षम होगा परन्तु आबद्ध नहीं। धारा में निम्नलिखित परन्तुक दिया गया है (देखें क्राइम्स् एक्ट, 1900 एन.एस. डब्ल्यू. की धारा 407 का परन्तुक एन.यू.एल. (देखें पैरा 83.12) :

"परन्तु यह कि इस प्रकार आरोपित व्यक्ति को अभियोजन की ओर से साक्षी के रूप में नहीं बुलाया जा सकेगा और न ही न्यायाधीश की अनुमति के बिना उसके पूर्ववर्ती शील या कृत्यों के बारे में प्रतिपरीक्षा के प्रश्न पूछे जा सकेंगे।"

विक्टोरिया, धारा 399 में भी एक निम्नलिखित अपवाद दिया गया है :

"जब तक प्रतिरक्षा का स्वरूप और आचरण ऐसा नहीं जिसमें अभियोजन के लिए अभियोजक या साक्षी के शील पर दोषारोपण अन्तर्ग्रस्त न हो :

परन्तु यह कि न्यायाधीश की अनुज्ञा (ज्यूरी की अनुपस्थिति में आवेदन किया जाएगा) पहले प्राप्त की जानी चाहिए"

इन अपवादों का निर्देश 69वीं रिपोर्ट के अध्याय 83 में किया गया है। अमरीका में यूनिफॉर्म रूल्स् ऑफ ऐवीडेंस के नियम 21 और न्यूजीर्सी नियमों के नियम 25 का भी निर्देश किया गया था। **ब्राउन** बनाम **यू.एस.** : (1958) 336 यू.एस. 148 का उल्लेख किया गया है जो किसी अभियुक्त को प्रतिपरीक्षा किए जाने का अधिकार देता है जब वह अपनी प्रतिरक्षा में अपना पक्ष रखने का निर्णय कर लेता है। उसकी विश्वसनीयता पर तब अधिक्षेप किया जा सकेगा और उसके परिसाक्ष्य पर अन्य साक्षी की भांति ही प्रहार किया जा सकेगा। 69वीं रिपोर्ट में, **यू.ए.एक्स रिले.इंडिया** बनाम **डेट** ; 357 एफ.एड. 911 (915-916) मामले में, स्वयं को अपराध में ढालने के अधिकार को त्याग दिए जाने की अभियुक्त द्वारा मांगी गई अनुज्ञा के संबंध में, 7वें सर्किट के निर्णय का भी निर्देश किया गया है।

पैरा 83.23 में यह सिफारिश की गई थी कि उन्होंने जो निर्देश किए थे, उन पर विशिष्ट रूप से ध्यान देते हुए तथा इस दृष्टि से कि वे अन्य देशों में विधायी उपबंधों के आधार थे, जहां तक अभियुक्तों का संबंध है, शील के बारे में प्रश्नों के क्षेत्र पर कतिपय नियंत्रण अन्तःस्थापित किए जाने चाहिए। पैरा 83.24 में की गई सिफारिशें निम्नलिखित हैं :

"(क) कोई अभियुक्त व्यक्ति, जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 315 के अनुसरण में स्वयं को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करता है तो, ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विवश किया जा सकेगा जो आरोपित अपराध के बारे में उसे फंसाते हैं ;

(ख) तथापि, इस प्रकार स्वयं को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करने वाले किसी अभियुक्त को, ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विवश नहीं किया जाएगा जो यह दर्शाने की प्रवृत्ति रखते हैं कि उसने कोई अन्य अपराध किया है, या अन्य अपराध के लिए दोषसिद्ध हुआ है या आरोपित किया गया है और न ही उसे, निम्नलिखित मामलों के सिवाय, ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए विवश किया जाएगा कि वह बुरे शील का है :—

(1) जहां ऐसा अन्य अपराध करने या उसमें दोषसिद्धि या उसके बारे में आरोप का सबूत विवाद्यक विषय से सुसंगत है (अर्थात् उस अपराध से सुसंगत, जिसके बारे में उसे अब आरोपित किया गया है) ;

(2) जहां अपना अच्छा शील स्थापित करने के लिए उसने स्वयं किसी साक्षी से प्रश्न पूछे हैं या अपने अच्छे शील का साक्ष्य दिया है ; या

(3) जहां प्रतिरक्षा का स्वरूप और आचरण ऐसा है, जिसमें अभियोजक या अभियोक्त्री के शील पर दोषारोपण अन्तर्ग्रस्त है, परन्तु यह कि न्यायालय की अनुमति प्राप्त कर ली गई हो।

(4) जहां अभियुक्त ने उसी अपराध में आरोपित किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध साक्ष्य दिया है।"

उपर्युक्त-(3) में दिए गए मामलों में, धारा 155(4) ऐसे साक्ष्य की अनुज्ञा देती है परन्तु विधि आयोग की 172वीं रिपोर्ट में, यू.के. सैक्सुकअल ऑफेन्सीज (अमेंडमेंट) एक्ट, 1976, यूथ जस्टिस एण्ड क्रिमिनल ऐवीडेंस एक्ट, 1999

द्वारा प्रतिस्थापित की भांति, यह सिफारिश की गई है कि ऐसे प्रश्न किसी महिला से नहीं पूछे जा सकते और यह कि धारा 155(4) को निकाल दिया जाना चाहिए। भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 4) की धारा 155(4) का लोप करके पहले ही ऐसा किया जा चुका है।

परिणामस्वरूप, धारा 148क, (धारा 148(2) के स्थान पर) जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में (पैरा 83.24) सिफारिश की गई है, का पाठ निम्नलिखित होगा : (1) डी.पी.पी. बनाम पी. मामले में दिए गए सिद्धान्त को अन्त में जोड़ने के पश्चात, और (2) अभियुक्त द्वारा परिवादी अभियोक्त्री की प्रतिपरीक्षा के संबंध में प्रारूपित प्रस्तावों से खंड निकालने के पश्चात :

अभियुक्त व्यक्ति से कतिपय प्रश्न नहीं पूछे जाएंगे

"**148क.** किसी अभियुक्त व्यक्ति से, जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 315 के अनुसरण में स्वयं को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करता है, ऐसे प्रश्न नहीं पूछे जाएंगे और यदि पूछे जाते हैं, तो उसे किसी ऐसे प्रश्न का, उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा, जो यह दर्शित करने की प्रवृत्ति रखता है कि उसने उस अपराध के अतिरिक्त, जिसमें उसे तब आरोपित किया गया है, कोई अन्य अपराध किया है, या अन्य अपराध के बारे में दोषसिद्ध किया गया है या आरोपित किया गया है और यह कि वह बुरे शील का है जब तक कि—

(1) सबूत, कि उसने ऐसा अन्य अपराध किया है या उसके लिए दोषसिद्ध किया गया है, विवाद्यक विषय से सुसंगत न हो ; या

(2) स्वयं को अच्छे शील का स्थापित करने के विचार से, उसने स्वयं या अपने अधिवक्ता के माध्यम से अभियोजन के लिए साक्षी से प्रश्न पूछे हैं, या अपने अच्छे शील का साक्ष्य न दिया हो ; या

(3) जहां प्रतिरक्षा का स्वरूप या आचरण ऐसा है, जिसमें कोई विशिष्ट प्रश्न पूछने के लिए न्यायालय की अनुमति प्राप्त किए बिना ही अभियोजन के साक्षियों के शील पर (अभियोक्त्री के शील से भिन्न) दोषारोपण अन्तर्ग्रस्त है ; या

(4) उसने, उसी अपराध से आरोपित किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध साक्ष्य न दिया हो,

और जब तक कि न्यायालय का ऐसा समाधान न हुआ हो कि ऐसे साक्ष्य का, जिसके लिए साक्षी को उपर्युक्त रूप से बाध्य किया जाएगा, पर्याप्त संभावित महत्व होगा जो कारित होने वाली हानि से बढ़कर होगा।"

हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 149 :

यह धारा 'युक्तियुक्त' आधारों के बिना प्रश्न न पूछे जाने के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"**149.** कोई भी ऐसा प्रश्न, जैसा धारा 148 में निर्दिष्ट है, नहीं पूछा जाना चाहिए, जब तक कि पूछे जाने वाले व्यक्ति के पास यह सोचने के लिए युक्तियुक्त आधार न हो कि वह लांछन, जिसका उससे वहण होता है, सुधारित है"

धारा 149 के नीचे (क) से (घ) तक चार दृष्टांत दिए गए हैं। दृष्टांत (क), ऐसे प्रश्न का निर्देश करता है जिसमें किसी बैरिस्टर को किसी अटर्नी या वकील द्वारा अनुदेश दिया गया है कि एक महत्वपूर्ण साक्षी डकैत है : यह

युक्तियुक्त आधार है; दृष्टांत (ख), किसी वकील को न्यायालय में, किसी व्यक्ति द्वारा यह जानकारी दी जाती है कि एक महत्वपूर्ण साक्षी डकैत है। वकील को प्रश्न पूछने का अधिकार है; दृष्टांत (ग), किसी साक्षी से, जिसके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, अटकल पच्चू पूछा जाता है कि क्या वह डकैत है। प्रश्न पूछना अनुज्ञात नहीं होगा; दृष्टांत (घ), कोई साक्षी, जिसके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, अपने जीने के ढंग और जीविका के साधनों के बारे में प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाता है। उससे यह पूछा जा सकेगा कि क्या वह डकैत है (यह ठीक है कि इन दृष्टांतों में अब 'वकील' शब्द का प्रयोग करना आवश्यक है)।

श्रीलंका में दृष्टांत (क), (ग) में 'एडवोकेट' शब्द और 'डकैत' के स्थान पर 'चोर' और दृष्टांत (घ) में 'डकैत' शब्द के लिए 'पेशेवर जुआरी' शब्द प्रतिस्थापित किए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट के अध्याय 84 में, साक्षियों से प्रश्न करते समय वकील के कर्त्तव्यों के बारे में पर्याप्त साहित्य का निर्देश किया गया है परन्तु अंन्तिम रूप से, पैरा 84.9 में, किसी संशोधन का सुझाव नहीं दिया गया है। केवल यह सिफारिश की गई थी कि दृष्टांतों में 'अधिवक्ता' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए।

हम चारों दृष्टांतों को निम्नलिखित रूप में संशोधित करने की सिफारिश करते हैं :

(क) किसी वकील को किसी दूसरे वकील से ऐसा अनुदेश दिया जाता है कि एक महत्वपूर्ण साक्षी चोर है। पहले वकील को साक्षी से यह पूछने का कि क्या वह चोर है, युक्तियुक्त आधार है।

(ख) किसी वकील को न्यायालय में, किसी व्यक्ति द्वारा यह जानकारी दी जाती है कि एक महत्वपूर्ण साक्षी चोर है। जानकारी देने वाला, वकील द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर, अपने कथन के लिए समाधानप्रद कारण बताता है। साक्षी से यह प्रश्न पूछने के लिए कि क्या वह चोर है, युक्तियुक्त आधार है।

(ग) किसी साक्षी से, जिसके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, किसी वकील द्वारा अटकल पच्चू यह पूछा जाता है कि क्या वह चोर है? यहां प्रश्न पूछने के लिए कोई युक्तियुक्त आधार नहीं है।

(घ) कोई साक्षी, जिसके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, किसी वकील द्वारा उसके जीने के ढंग तथा जीविका के साधनों के बारे में पूछे जाने पर यदि वह असमाधानप्रद उत्तर देता है तो, उससे यह पूछने का कि क्या वह चोर है, युक्तियुक्त आधार हो जाता है।

<u>धारा 150</u> :

यह धारा 'युक्तियुक्त आधारों के बिना प्रश्न पूछे जाने की अवस्था में न्यायालय की प्रक्रिया' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "150. यदि न्यायालय की यह राय है कि ऐसा कोई प्रश्न युक्तियुक्त आधारों के बिना पूछा गया था, तो यदि वह किसी बैरिस्टर, प्लीडर, वकील या अटर्नी द्वारा पूछा गया था तो, वह मामले की परिस्थितियों की, उच्च न्यायालय को या अन्य प्राधिकारी को; जिसके, ऐसा बैरिस्टर, प्लीडर, वकील या अटर्नी, अपनी वृति के प्रयोग के अधीन है, रिपोर्ट कर सकेगा।"

'बैरिस्टर' आदि शब्दों के स्थान पर उसी अर्थ में, जैसा कि धारा 126 में किया गया है, 'वकील' शब्द प्रतिस्थापित करना होगा।

69वीं रिपोर्ट में पर्याप्त चर्चा के पश्चात् यह सुझाव दिया गया है (देखें पैरा 84.32) कि 'एडवोकेट' आदि शब्दों के स्थान पर 'वकील' शब्द प्रतिस्थापित करने की आवश्यकता है। हमारा विचार यह है कि अधिवक्ता अधिनियम, 1961 के अधीन स्थापित उपयुक्त बार काऊंसिल को निर्देश किया जाना चाहिए। 1872 में, उच्च न्यायालय को बार के ऊपर अनुशासनात्मक अधिकारिता थी, परन्तु वह अधिकारिता अब बार काऊंसिलों के पास चली गई है। 'अन्य प्राधिकारी' शब्दों का लोप किया जाएगा।

69वीं रिपोर्ट में, इस पहलू पर विचार नहीं किया गया था। हम प्रस्ताव करते हैं कि धारा 150 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जानी चाहिए :

युक्तियुक्त आधारों के बिना प्रश्न पूछे जाने की अवस्था में न्यायालय की प्रक्रिया

> "150. यदि न्यायालय की यह राय है कि ऐसा कोई प्रश्न युक्तियुक्त आधारों के बिना पूछा गया था, तो यदि वह किसी वकील द्वारा पूछा गया था तो, वह मामले की परिस्थितियों को, अधिवक्ता अधिनियम, 1961 के अधीन स्थापित की गई उपयुक्त बार काऊंसिल को, जिसको ऐसा वकील अपनी वृत्ति के प्रयोग में अधीन है, रिपोर्ट कर सकेगा।"

धारा 151 :

यह धारा 'अशिष्ट और कलंकात्मक' प्रश्नों का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "151. न्यायालय किन्ही प्रश्नों का, या पूछताछों का, जिन्हें वह अशिष्ट या कलंकात्मक समझता है, चाहे ऐसे प्रश्न या जांच, न्यायालय के समक्ष प्रश्नों को कुछ प्रभावित करने की प्रवृत्ति रखते हों, निषेध कर सकेगा, जब तक कि वे विवाद्यक तथ्यों के या उन विषयों के संबंध में न हो, जिनका ज्ञात होना यह अवधारित करने के लिए आवश्यक है कि विवाद्यक तथ्य विद्यमान थे या नहीं।"

69वीं रिपोर्ट में, (देखें पैरा 84.38) थोड़ी चर्चा के पश्चात् धारा 151 के लिए किसी संशोधन की सिफारिश नहीं की गई थी। हम इससे सहमति व्यक्त करते हैं।

धारा 152 :

यह धारा 'अपमानित या क्षुब्ध करने के लिए आशयित प्रश्नों' से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "152. न्यायालय ऐसे प्रश्न का निषेध करेगा, जो उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपमानित या क्षुब्ध करने के लिए आशयित है, या जो यद्यपि स्वयं में उचित है, तथापित रूप में न्यायालय को ऐसा प्रतीत होता है कि वह अनावश्यक तौर पर संतापकारी है।"

69वीं रिपोर्ट के पैरा 84.40 में, यह सुझाव दिया गया था कि धारा 152 के लिए कोई संशोधन आवश्यक नहीं है। हम इस सुझाव से सहमत हैं।

धारा 153 :

यह धारा 'सत्यवादिता परखने के प्रश्नों के उत्तरों का खंडन करने के लिए साक्ष्य का अपवर्जन' करने के विषय का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "153. जबकि किसी साक्षी से ऐसा कोई प्रश्न पूछा गया हो, जो जांच से केवल वहीं तक सुसंगत है जहां तक कि वह उससे शील को क्षति पहुंचाकर उसकी विश्वसनीयता को धक्का पहुंचाने की प्रवृत्ति

रखता है, और उसने उसका उत्तर दे दिया हो, तब उसका खंडन करने के लिए कोई साक्ष्य नहीं दिया जाएगा, किन्तु यदि वह मिथ्या उत्तर देता है, तो तत्पश्चात् उस पर मिथ्या साक्ष्य देने का आरोप लगाया जा सकेगा''

अपवाद –I: यदि किसी साक्षी से यह पूछा जाए कि क्या वह तत्पूर्व किसी अपराध के लिए दोषसिद्ध हुआ था और वह उसका प्रात्याख्यान करे, तो उसकी पूर्व दोषसिद्धि का साक्ष्य दिया जा सकेगा।

अपवाद –II: यदि किसी साक्षी से उसकी निष्पक्षता पर अधिक्षेप करने की प्रवृत्ति रखने वाला कोई प्रश्न पूछा जाए और वह सुझाए हुए तथ्यों के प्रात्याख्यान द्वारा उसका उत्तर देता है, तो उसका खंडन किया जा सकेगा।

धारा 153 के नीचे (क) से (घ) तक चार दृष्टांत दिए गए हैं।

69वीं रिपोर्ट में, (यू.के.) क्रिमिनल ऐवीडेंस एक्ट, 1865 की धारा 6 का निर्देश करने के पश्चात्, संशोधन के लिए कोई सिफारिश नहीं की गई है। (देखें पैरा 85.12)

रामा रेड्डी बनाम **वी.वी. गिरि**, 1970(2) एस.सी.सी. 340 मामले में धारा 153 तथा अपवाद–II पर विचार किया गया था। **भास्करन नायर** बनाम **केरल सज्य** : 1991 क्रिमि. एल.जे. 23 (केरल), मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि साक्षी की विश्वसनीयता को धक्का मारने या उसके शील को क्षति पहुंचाने के मामले के बारे में, जिनकी अभी परीक्षा की जानी है, पहले से साक्ष्य देकर धारा 153 को जीता नहीं जा सकेगा।

यहां हम इस बात का निर्देश कर सकेंगे कि फिप्सन ने (15वां संस्करण, 1999 पैरा 19.26) उपर्युक्त का तथा क्रिमिनल एवीडेंस एक्ट, 1898 की धारा 1(3)(ii) का निर्देश करने के पश्चात् लेखक ने अन्य अपवादों का उल्लेख किया है। उसने (यू.के.) रिहैबिलिटेशन ऑफ आफेन्डर्स एक्ट, 1974 का निर्देश किया है जिसके अधीन व्यतीत हो चुकी दोषसिद्धियों के प्रभाव को ध्यान में रखना होगा। सिविल कार्यवाहियों में 'व्यतीत दोषसिद्धियों' के बारे में प्रश्न नहीं पूछा जा सकेगा। (देखें फिप्सन का पैरा 18.79 और 18.80) यह विशिष्ट अधिनियम का एक विशिष्ट उपबंध है, इसे हमारे साक्ष्य अधिनियम में लाए जाने की आवश्यकता नहीं है।

पैरा 18.79 में, फिप्सन ने कहा था कि अब यह स्वीकृत है कि एक बार किसी व्यक्ति की दोषसिद्धि एक विशिष्ट समय तक पहुंच जाती है, विशेषकर, यदि ये यौवन काल की हैं तो, उन्हें उस व्यक्ति के विरूद्ध प्रयोग करना या उन्हें वर्तमान में बुरा शील दर्शित करने के लिए प्रयोग करना न्यायोचित नहीं होगा। किसी 21 वर्ष की या अधिक आयु के युवक के बारे में चिल्ड्रन एण्ड यंग पर्सन्स् एक्ट, 1963 में यह उपबंध किया गया है कि :

> ''कोई अपराध, जिसके बारे में वह चौदह वर्ष से कम आयु में दोषी पाया गया था, उसकी पूर्वकालिक दोषसिद्धि के संबंध में किसी साक्ष्य के प्रयोजन से विचार नहीं किया जाएगा।''

परन्तुक में तो यहां तक कहा गया है कि 1998 के अधिनियम के अधीन उनके बारे में, उसकी प्रतिपरीक्षा भी नहीं की जाएगी।

हमारा विचार है कि हमारे यहां भी ऐसा उपबंध किया जाना चाहिए क्योंकि ये मामले दूरवर्ती काल से संबंधित हैं और ये धारा 148(2) के अन्तर्गत आएंगे। **आर** बनाम **गुलाम मुस्तफा** : आई.एल.आर. 36 ए.एल.एल 371, मामले में यह स्पष्ट रूप से अभिनिर्धारित किया गया था कि मजिस्ट्रेट की किसी पूर्वकालिक दोषसिद्धि से संबंधित प्रश्न को इस आधार पर अस्वीकार कर देना चाहिए कि यह एक ऐसे मामले से संबंधित है जो 30 वर्ष पूर्व का था और इसे इतना समय व्यतीत हो चुका था कि यह उपयुक्त जमानती होने के उसके निर्णय को प्रभावित नहीं करेगा।

हमारा विचार है कि धारा 153 में संशोधन करने की आवश्कता नहीं है।

धारा 154 :

यह धारा 'पक्षकार द्वारा अपने ही साक्षी से प्रश्न' पूछने का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"154. न्यायालय उस व्यक्ति को, जो साक्षी को बुलाता है, उस साक्षी से कोई ऐसे प्रश्न करने की अपने विवेकानुसार अनुज्ञा दे सकेगा, जो प्रतिपक्षी द्वारा प्रतिपरीक्षा में किए जा सकते हैं।"

यह धारा ऐसे साक्ष्य का निर्देश करती है जिसे साक्षी का साक्ष्य कहा जाता है। हम पहले 69वीं रिपोर्ट, 1977 से पूर्व के उच्चतम न्यायालय के निर्णयों का तथा 1977 के पश्चात् से अमरीका में दिए गए निर्णयों का उल्लेख करेंगे।

दयाभाई छगनभाई ठक्कर बनाम गुजरात राज्य : ए.आई.आर. 1964 सु.को. 1503 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि धारा 137 में, मुख्य परीक्षा 'प्रतिपरीक्षा और पुनःपरीक्षा के रूप में दिए गए चरण यहाँ सुसंगत नहीं है और यह कि अधिनियम की धारा 154 के अधीन किसी ऐसे व्यक्ति को, जो साक्षी को बुलाता है, साक्षी से ऐसे प्रश्न पूछने की अनुज्ञा देना न्यायालय के विवेकाधिकार में निहित है, जो उससे प्रतिपरीक्षा में पूछे जा सकेंगे। धारा 154 के उपबंध और उनके आवश्यक प्रभाव मुख्य परीक्षा होने से पूर्व या साक्षी की परीक्षा के किसी भी विशेष चरण के लिए न्यायालय की शक्ति के प्रयोग को सीमित नहीं करते हैं। इसका क्षेत्र विस्तृत है और विवेकाधिकार का प्रयोग, जब परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक हो, पूर्णतया न्यायालय पर छोड़ दिया गया है। मुख्यपरीक्षा के स्तर तक इस शक्ति को सीमित करना इसे व्यवहार में निष्प्रभावी बनाना है। परन्तु तब अभियुक्त को साक्षी द्वारा दिए गए ऐसे उत्तरों के बारे में उसका प्रतिपरीक्षा करने का अवसर दिया जाना चाहिए, जो मुख्यपरीक्षा में नहीं पूछे जातें।

सतपाल बनाम दिल्ली प्रशासन : 1976 (1) एस.सी.सी. 727, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि विरूद्धपक्षी साक्षी के सम्पूर्ण साक्ष्य की उपेक्षा किए जाने की आवश्यकता नहीं है और दोनों पक्षकारों द्वारा ऐसे साक्षी के कथन के किसी भाग पर निर्भर करना अनुज्ञेय है। आगे यह विचार भी व्यक्त किया गया था कि भारत की स्थिति इंग्लिश विधि से भिन्न है। जगीर सिंह बनाम स्टेट (दिल्ली) : 1975 (3) एस.सी.सी. 562 मामले में दिया गया विपरीत निर्णय रद्द कर दिया गया था।

भगवान सिंह बनाम हरियाणा राज्य : 1976 (1) एस.सी.सी. 389, मामले में, न्यायालय ने सतपाल के मामले में अपनाया गया दृष्टिकोण दोहराया था। उस मामले में, अभियोजन के मुख्य साक्षी की परीक्षा धारा 154 के अधीन की गई थी क्योंकि परिवादी ने अपनी मुख्यपरीक्षा में सहअपराधी का विशिष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया था क्योंकि समस्त मामला उसके साक्ष्य पर निर्भर करता था, साक्षी को पक्षद्रोही घोषित किए जाने के पश्चात्, अभियुक्त ने दोषसिद्धि के बारे में अपने परिसाक्ष्य के आधार पर अपत्ति की। इस तर्क को रद्द कर दिया गया और यह अभिनिर्धारित किया गया कि साक्ष्य विचारण में ग्राह्य रहता है और उसके परिसाक्ष्य के आधार पर दोषसिद्धि आधारित होने के लिए कोई विधिक प्रतिबंध नहीं है, यदि किसी अन्य विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा उसकी सम्पुष्टि कर दी जाती है। तथ्यों के आधार पर, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यह परीक्षण समाधानप्रद था।

उत्तर प्रदेश राज्य बनाम रमेश प्रसाद मिश्र : ए.आई.आर. 1996 सु.को. 2766 मामले में अभियोजन साक्षियों ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन अपने पूर्वकालिक कथनों के बारे में लचीला दृष्टिकोण अपनाया। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी पक्षद्रोही साक्षी के साक्ष्य को पूर्णतया रद्द नहीं किया जाना चाहिए यदि उसने अभियोजन या अभियुक्त के पक्ष में कुछ कहा है, परन्तु यह गहन जांच के अध्यधीन रहेगा और साक्ष्य का वह भाग, जो अभियोजन या प्रतिरक्षा के मामले के अनुरूप है, स्वीकार किया जा सकेगा। यह तथ्य कि पक्षद्रोही साक्षियों ने ऐसे तथ्यों के बारे में साक्ष्य दिए हैं जो उनके विशिष्ट ज्ञान में थे, जो धारा 161 के अधीन अन्वेषण के दौरान अभिलिखित किए गए थे और कथन के स्वरूप की सत्यता के बारे में, बिना कोई कारण बताए कि अन्वेषण अधिकारी ने, जो कुछ उन्होंने बताया है उसके विपरीत कथन क्यों अभिलिखित किए थे, आनाकानी करना यह दर्शाता है कि सचाई का सम्मान ही करते थे और उन्होंने अभियुक्त की सहायता करने के लिए अपनी प्रतिपरीक्षा में कल्पित साक्ष्य दिया है जो धारा 161 के अधीन उनके तथ्यों के अनुरूप नहीं है।

प्रवीण बनाम हरियाणा राज्य : 1966(11) सु.को. 365, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि तथ्य का साक्ष्य, जब साक्षी पक्षद्रोही हो जाते हैं, तो प्रतिरक्षापक्ष उनके साक्ष्य पर विश्वास नहीं करेगा।

गुजरात राज्य बनाम **अनिरुद्ध सिंह** : ए.आई.आर. 1997 सु.को. 2780 मामले में न्यायालय ने, **खुज्जे** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** : 1991 (3) सु.को. 627 और **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **राम प्रसाद मिश्र** : 1996 सु.को. 2766 मामले का अनुसरण किया कि केवल इस कारण से कि साक्षी पक्षद्रोह हो गया था उसके साक्ष्य को पूर्णतया रद्द नहीं किया जा सकता।

हाल ही में **लखनभाई, चनेभाई कोली** बनाम **गुजरात राज्य** : 1999 (8) एस.सी.सी. पृष्ट 624, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उस साक्षी का साक्ष्य, जो पक्षद्रोही हो जाता है, उस सीमा तक, जहां तक कि यह अभियोजन पक्ष का समर्थन करता है, विचारण में ग्राह्य है और यदि यह किसी अन्य विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा उसकी सम्पुष्टि हो जाती है, अभियुक्त की दोषसिद्धि के लिए उस पर निर्भर किया जा सकेगा। **भगवान सिंह** बनाम **हरियाणा राज्य** : 1996(1) एस.सी.सी. 398 और **सतपाल** : 1996 (1) एस.सी.सी. 277 मामलों में, इसका अनुसरण किया गया।

वर्ष 2001 में, तीन निर्णय हैं। पहला निर्णय, **गुरुसिंह** बनाम **राजस्थान राज्य** : ए.आई.आर. 2001 सु.को. 330, मामले में दिया गया, जहां यह अभिनिर्धारित किया गया था कि मात्र यह तथ्य कि अभियोजन साक्षी अभियोजन के मामले से भिन्न मत रखते थे उन्हें पक्षद्रोही समझने के लिए पर्याप्त नहीं था। **भोलाराम कुशवाह** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** : ए.आई.आर. 2001 सु.को. 229 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि सभी अभियोजन साक्षियों के कथनों को देखना और यह अभिनिश्चित करना ही पर्याप्त होगा कि उनके परिसाक्ष्य अभियुक्त को दोषी अभिनिर्धारित करने के लिए विश्वास प्रेरित करते हैं। **अनिल राम** बनाम **बिहार राज्य** : 2001 (7) एस.सी.सी. 318 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि पक्षद्रोही साक्षी के साक्ष्य किसी अन्य विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा सम्पुष्टि होती है तो उस आधार पर दोषसिद्धि की जा सकेगी।

69वीं रिपोर्ट में, इंग्लैण्ड और भारत की विधि का निर्देश किया गया है। यह देखा गया था कि इंग्लैण्ड की विधि भारत में विद्यमान विधि की तुलना में ठीक विपरीत थी और रिपोर्ट में **सतपाल** बनाम **राज्य** : ए.आई.आर. 1976 सु.को. 294 मामले का और **नारायण नाथू नायक** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** : ए.आई.आर. 1971 सु.को. 1656 मामले में पूर्ववर्ती निर्णय का उल्लेख किया गया। रिपोर्ट में उच्च न्यायालयों के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण देखे गए हैं और यह विचार व्यक्त किया गया है कि धारा 154 में इस आशय का एक उपबंध जोड़ा जाना चाहिए कि इस धारा में कोई भी बात किसी पक्षकार को, जिसे ऐसे साक्षी के साक्ष्य के किसी भाग पर विश्वास करने की अनुज्ञा है, उसके हक से वंचित नहीं करेगी। हम इस विचार से सहमत हैं क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने उपर्युक्त निर्देशित सभी मामलों में ऐसा ही कहा है।

हम सिफारिश करते हैं कि वर्तमान धारा 154 को उस धारा की उपधारा (1) पढ़ा जाए और उपधारा (2) निम्नलिखित रूप में अन्तःस्थापित की जाए :

> "(2) इस धारा में कोई भी बात पक्षकार को उसके हक से वंचित नहीं करेगी, जिसे ऐसे साक्षी के साक्ष्य के किसी भाग पर विश्वास करना अनुज्ञात है।"

धारा 155 और प्रस्तावित धारा 155क :

धारा 155 'साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "155. किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर प्रतिपक्षी द्वारा या न्यायालय की सम्मति से उस पक्षकार द्वारा, जिसने उसे बुलाया है, निम्नलिखित प्रकारों से अधिक्षेप किया जा सकेगा :—
>
> (1) उन व्यक्तियों के साक्ष्य द्वारा, जो यह परिसाक्ष्य देते हैं कि साक्षी के बारे में अपने ज्ञान के आधार पर, वे उसे विश्वसनीयता का अपात्र समझते हैं;

(2) यह साबित किए जाने द्वारा कि साक्षी को रिश्वत दी गई है या उसने रिश्वत की प्रस्थापना स्वीकार कर ली है या उसे अपना साक्ष्य देने के लिए कोई अन्य भ्रष्ट उत्प्रेरणा मिली है;

(3) उसके साक्ष्य के किसी ऐसे भाग से, जिसका खंडन किया जा सकता है, असंगत पिछले कथनों को साबित करने द्वारा;

(4) जबकि कोई मनुष्य बलात्संग या बलात्संग के प्रयत्न के लिए अभियोजित है, तब यह दर्शित किया जा सकता है कि अभियोक्त्री साधारणतया व्यभिचारिणी है। [यह खंड 2003 के अधिनियम 4 द्वारा निकाल दिया गया है]

स्पष्टीकरण : कोई साक्षी जो किसी अन्य साक्षी को विश्वसनीयता के लिए अपात्र घोषित करता है, अपने से की गई मुख्य परीक्षा में अपने विश्वास के कारणों को चाहे न बताए, किन्तु प्रतिपरीक्षा में उससे उनके कारणों को पूछा जा सकेगा और उन उत्तरों का, जिन्हें वह देता है, खंडन नहीं किया जा सकता, तथापि यदि वे मिथ्या हों, तो तत्पश्चात् उस पर मिथ्या साक्ष्य देने का आरोप लगाया जा सकेगा।

इस धारा के नीचे दो दृष्टांत दिए गए हैं। दृष्टांत (क) में ऐसे साक्षी के विरुद्ध (वाद का तीसरा पक्षकार) साक्ष्य ग्राह्य है जो यह कहने के लिए कि, उसने किसी पूर्व अवसर पर ऐसा दावा किया था कि उसने वस्तुओं का परिदान किसी अन्य व्यक्ति को किया था ; दृष्टांत (ख) में यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य दिया जा सकेगा कि साक्षी ने (तीसरा पक्षकार) पहले किसी दांडिक मामले में ऐसा दावा किया था कि मृतक व्यक्ति को उसी अभियुक्त ने चोट मारी थी। दृष्टांत (क) और दृष्टांत (ख) के अधीन उसका खंडन करने के लिए साक्ष्य ग्राह्य है। दोनों दृष्टांत धारा 155 के खंड (3) का निर्देश करते हैं जो साक्षी का खंडन किए जाने के बारे में है।

जहां तक धारा 155 के खंड (4) का संबंध है, विधि आयोग की 172वीं रिपोर्ट में इस खंड को निकालने की सिफारिश की गई थी। संसद ने इस कार्य को भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 4) द्वारा कार्यान्वित कर दिया है।

वुडरौफ ने बताया है कि किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर निम्नलिखित चार तरीकों में से किसी एक या अन्य द्वारा अधिक्षेप किया जा सकता है :

(क) प्रतिपरीक्षा द्वारा (अर्थात् **स्वयं साक्षी से,** उसकी निन्दा करके, तथ्य उद्घाटित कराके) ;

(ख) तात्विक प्रश्नों पर उसके परिसाक्ष्य का खंडन करने के लिए अन्य साक्षियों को बुलाकर (किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर, ऐसे तथ्यों को नासाबित करके जो उसने बताए हैं, अप्रत्यक्षरूप से अधिक्षेप किया जा सकता है) ;

(ग) विश्वसनीयता को प्रभावित करने वाले मामलों का अन्य साक्षियों के माध्यम से खंडन करके ;

(घ) शील के बारे में अन्य साक्षियों द्वारा स्वतंत्र सबूत देकर,

धारा 155 उपर्युक्त (ग) और (घ) के बारे में है।

धारा 155 ऐसे विषय के बारे में है जो धारा 52, 146 या धारा 138, 140, 145 या 146 के विषयों से भिन्न है। धारा 155, साक्षियों तथा अभियोक्त्री के शील के बारे में है। धारा 52, वाद की विषय-वस्तु के बारे में शील के साक्ष्य से संबंधित है। धारा 138, 140, 145, 146 और 154 प्रतिपरीक्षा द्वारा साक्षी की विश्वसनीयता पर साक्षी से उसकी प्रतिपरीक्षा में उसके शील को क्षति पहुंचाने वाले प्रश्न पूछने की अनुज्ञा देती हैं। धारा 155 में साक्षी की अविश्वसनीयता के लिए भिन्न पद्धति निर्धारित की गई है—स्वतंत्र साक्ष्य दिए जाने की अनुमति देकर।

धारा 155 का खंड (1) :

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था (देखें पैरा 87.11 से 87.24) कि धारा 155 के खंड (1) का स्पष्टीकरण करने के प्रयोजन से, "उसे विश्वसनीयता का अपात्र समझते हैं" शब्द के स्थान पर "उसकी विश्वसनीयता, शुद्धता या सत्यवादिता पर अधिक्षेप करते हैं" शब्द प्रतिस्थापित करके संशोधन किया जाना चाहिए।

हम सिफारिश से सहमत हैं।

धारा 155 का खंड (2) : 69वीं रिपोर्ट के पैरा 87.12 में यह कहा गया था कि इस खंड के बारे में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इस सुझाव से सहमत हैं।

धारा 155 का खंड (3) : जहां तक इस खंड का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट में दो सिफारिशें की गई हैं।

(क) एक सिफारिश यह थी कि प्रक्रियात्मक प्रयोजनों से, यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि बालगंगाधर तिलक बनाम श्रीनिवास पंडित : ए.आई.आर. 1915 पी.सी. 7, मामले में प्रिवी काउंसिल के निर्णय के अनुसार पूर्वकालिक विरोधी कथन उसके समक्ष रखे जाने चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि धारा 155 का खंड (3) धारा 145 के अध्यधीन है।

(ख) दूसरी सिफारिश 'उसका साक्ष्य जिसका खंडन किया जा सकता है' शब्दों के संबंध में है। इन शब्दों की व्याख्या विभिन्न मामलों में विभिन्न प्रकार से की गई है। सरकार ने (15वां संस्करण, 1999, पृष्ट 2267) कहा है:

"तथापि, पूर्वकालिक असंगत कथनों द्वारा खंडन विवाद्यक विषय से सुसंगत मामलों तक सीमित रहना चाहिए, क्योंकि असंगत विषयों के खंडन की, धारा 153 में उल्लिखित दो मामलों के सिवाय, अनुमति नहीं है कि पूर्वकालिक असंगत कथन विवाद्यक विषयों से सुसंगत मामलों से संबंधित होने चाहिए इस अभिव्यक्ति के अन्तर्गत आता है "उसके साक्ष्य के किसी भाग से **असंगत जिसका खंडन किया जा सकता है।**"

जैसाकि न्यायाधीश विल्सन ने बताया है कि किसी असंगत मामले का खंडन करने की आवश्यता नहीं है क्योंकि धारा 5 के अधीन यह साक्ष्य में ग्राह्य नहीं है। धारा 155 के खंड (3) की भी यह अभिव्यक्ति "जिसका खंडन किया जा सकता है जो विवाद्यक विषय से सुसंगत है" के समान है। (**खदिजा खानम बनाम अब्दुल करीम** : आई.एल.आर. 17 कलकत्ता 344) तथापि, उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि यह स्थिति बहुत व्यापक है और धारा 155 में विभिन्न खंड ऐसी व्याख्या का अधिकार नहीं देते हैं। **रामा रेड्डी** बनाम **वी.वी.गिरि** : 1970 (2) एस.सी.सी. 340। तीसरा उपखंड, पूर्वकालिक कथन का, जो साक्षी के मामले में किए गए कथन से असंगत है, निर्देश करता है और कथन के बारे में साक्षी का खंडन किया जाना अनुज्ञेय है (केहर सिंह बनाम राज्य : ए.आई.आर. 1988 सु.को. 1883)

हम धारा 155 के बारे में उच्च न्यायालय के कुछ निर्णयों का उल्लेख करेंगे। जहां कोई कथन किसी साक्षी द्वारा किया गया बताया जाता है, जिसने उस पर अपना अंगूठा लगाने से इंकार कर दिया हो, उस कथन को परिसाक्ष्य का खंडन करने के लिए प्रयोग नहीं किया जाएगा (**राज्य बनाम हरपाल** ए.आई.आर. 1978 सु.को. 1530)। किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर किसी कथन के सबूत द्वारा, जो न्यायालय में उसके साक्ष्य के किसी भाग से असंगत है, अधिक्षेप किया जा सकता है : **विनय कुमार सिंह** बनाम **बिहार राज्य** : ए.आई.आर. 1997 सु.को. 322।

'टेप रिकार्डर' से अभिलिखित किए गए पूर्वकालिक असंगत कथन खंडन किए जाने के लिए ग्राह्य हैं। (देखें, रामा रेड्डी बनाम वी.वी.गिरि : 1970 (2) एस.सी.सी. 340; रूपचन्द बनाम महावीर : ए.आई.आर. 1956 पंजाब 173)। हमने इन

मामलों का निर्देश धारा 153 के बारे में चर्चा करते हुए किया है परन्तु टेप के माध्यम से अभिलिखित कथन अग्राह्य समझे जाएंगे यदि यह धारित करने का कोई कारण है कि उनके साथ छेड़-छाड़ की गई है (**प्रताप बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1964 सु.को. 72) **युसुफ अली बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1968 सु.को. 147, मामले में, अभियोजन ने अभियुक्त तथा परिवादी के बीच अभिकथित बातचीत पर निर्भर किया, जो टेप रिकार्डर पर अभिलिखित की गई थी, इस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि बातचीत 'दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 लागू नहीं होती है और ग्राह्य है।'

अब यह सुस्थापित है कि जब तक साक्ष्य में, अधिनियम के अध्याय-दो के किसी उपबंध के अधीन जैसे धारा 32 (1) या धारा 8 के अधीन प्रथम सूचना रिपोर्ट पेश नहीं की जाती, तो इसे, यदि उसकी परीक्षा होती है तो लेखक की, साधारणतया सम्पुष्टि करने, खंडन करने या उसको अविश्वास का पात्र बनाने के लिए किसी अन्य साक्षी की नहीं (धारा 157, 145, और 155 के अधीन), प्रयोग किया जा सकेगा (शंकर बनाम राज्य : ए.आई.आर. 1975 सु.को. 757)

न्यायाधीश विल्सन द्वारा **खदिजा खानम** बनाम **अब्दुल करीम** आई.एल.आर. 17 कलकत्ता 344 मामले में निर्धारित किया गया विधि का कथन, उच्चतम न्यायालय जैसाकि ऊपर बताया गया है, **राम रेड्डी** बनाम **वी.वी.गिरि** मामले में स्वीकार नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त, कन्निंघम ने एक यह प्रश्न उठाया है कि क्या ये शब्द साक्ष्य के किसी भाग का निर्देश नहीं करते हैं जो विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य के बारे में है या जो धारा 153 के अपवादों के अन्तर्गत आते हैं। शब्दावली व्याख्या सही है (देखें पैरा 87.13, 69वीं रिपोर्ट और सरकार (वही) पृष्ट 2267, पहले ही निर्देशित)

इसलिए धारा 155 के खंड (3) में "खंडन किया जा सकता है" शब्दों के पश्चात् निम्नलिखित शब्द जोड़कर इसे और स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है :

> "अर्थात् विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य के बारे में या धारा 153 के पहले या दूसरे अपवाद में निर्दिष्ट किसी मामले के बारे में साक्ष्य देकर"

इसके अतिरिक्त, हम, खंड (3) के प्रारम्भ में निम्नलिखित शब्द जोड़ने की सिफारिश करते हैं) :—

> "धारा 145 के उपबंधों के अध्यधीन"

हम, तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 155 का खंड (4) :

हम 172वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश कि इस खंड को निकाल दिया जाना चाहिए फिर से दोहराते हैं। परन्तु उक्त सिफारिश अब भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 4) द्वारा कार्यान्वित कर दी गई है।

(5) एक अन्य प्रश्न अभियुक्त की स्थिति के बारे में रह जाता है। सरकार ने इस विषय पर (वही पृष्ट 2274) पृथक रूप से चर्चा की है।

धारा 153 के बारे में चर्चा करते हुए, जो "किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करने के बारे में है", जैसाकि धारा 148 के मामले में—जो न्यायालय को हस्तक्षेप करने का विवेकाधिकार देती है, जब प्रतिपरीक्षा में, किसी साक्षी की विश्वसनीयता को, उसके शील की क्षति पहुंचाकर, प्रभावित करने के लिए प्रश्न पूछे जाते हैं—हमें इस बात पर विचार करना है कि जब अभियुक्त की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप किया जाता है तब क्या किसी प्रकार के नियंत्रण के बारे में कोई उपबंध किया जाना चाहिए।

जहां तक धारा 155 का संबंध है, दो स्थितियां व्युत्पन्न होती हैं। यदि कोई अभियुक्त दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 315 के अधीन स्वेच्छापूर्वक साक्ष्य देना चाहता है। तो, किसी अन्य साक्षी ही की भांति ही उसकी भी प्रतिपरीक्षा की जा

सकेगी और वह संविधान के अनुच्छेद 20 के खंड (ख) के अधीन की भांति स्वयं को अपराध में फंसाने के विरुद्ध संरक्षण का दावा नहीं कर सकता। परन्तु उसे अभी भी कुछ संरक्षण दिया जाना अपेक्षित है—जब उसकी विश्वसनीयता पर अधिक्षेप किया जाता है—जैसा कि अन्य साक्षियों के लिए किया जाता है। हमने अभियुक्त साक्षी की रक्षा के लिए न्यायालय को शक्तियां प्रदान करके, धारा 148क की सिफारिश की है। (धारा 148 (2) के बजाय)।

धारा 155 के अधीन, जहां तक साक्षी अभियुक्त का संबंध है, उससे प्रतिपरीक्षा में किए जाने वाले प्रश्नों के बारे में, कोई अन्य उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे विचार में धारा 148क पर्याप्त है।

69वीं रिपोर्ट में, धारा 155 के खंड (3) के संदर्भ में, जो स्वंतत्र साक्ष्य की अनुज्ञा देता है, विचार किया गया है। इस विषय पर 69वीं रिपोर्ट के पैरा 87.23 में विचार किया गया है।

हमने धारा 155, जैसी कि यह वर्तमान में है, के चारों खंडों के बारे में विचार किया गया है। एक प्रश्न विचार करने के लिए रह जाता है, जो किसी विशिष्ट खंड के अन्तर्गत नहीं आता है परन्तु पूरी धारा से सुसंगत है। यह प्रश्न इसलिए उठता है क्योंकि धारा 155 में साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करने की बात कही गई है। शाब्दिक रूप में, यह उस अभियुक्त के लिए भी लागू हो सकेगी जो स्वयं को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करता है। जहां तक विवाद्यक विषयों पर अभियुक्त की प्रतिपरीक्षा का संबंध है, यह विषय पूर्व की सुसंगत धाराओं के अधीन आता है और हमने साक्षी के रूप में अभियुक्त की समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त सिफारिशें भी की हैं। अभी भी प्रश्न यह रह जाता है, क्योंकि यह धारा 132 और 148 के अधीन नहीं आती है, कि धारा 155 के अधीन स्वतंत्र साक्ष्य द्वारा अभियुक्त के शील पर किस सीमा तक अधिक्षेप किया जा सकेगा।''

समस्या यह उठती है कि किसी अभियुक्त के मामले में, जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 315 के अधीन साक्षी होने का प्रस्ताव करता है, उसकी विश्वसनीयता पर अधिक्षेप किया जा सकेगा—

(1) उसकी प्रतिपरीक्षा करके; या

(2) अन्य साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करके, जिनकी परीक्षा अभियुक्त द्वारा की जाती है।

यद्यपि अभियुक्त को, दांडिक कार्यवाही में विवाद्यक आरोप में, जब उससे संबंधित दांडिक मामले से असम्बद्ध अन्य अपराधों के संबंध में प्रश्न पूछे जाते हैं, संविधान के अनुच्छेद 20(3) के अधीन सुरक्षा प्राप्त नहीं रहती है, जहां तक अन्य अपराधों का संबंध है, अनुच्छेद 20 के खंड (3) के अधीन उसका संरक्षण आवश्यक है। हमने धारा 148क का उपबंध करके (69वीं रिपोर्ट प्रस्तावित धारा 148 (2) के बजाय) ऐसे संरक्षण की व्यवस्था कर दी है। वास्तव में हमने, डी.पी.ई. बनाम पी. : 1991(2) ए.सी. 447, मामले का अतिरिक्त सिद्धांत धारा 148 और धारा 148क दोनों में ही जोड़ा है।

(6) अब अन्य अपराधों के बारे में, जो मामले में प्रश्नाधीन नहीं है, परन्तु तहां अभियुक्त द्वारा किए गए अन्य अपराधों के बारे में उसके साक्षियों से प्रश्न पूछे जाते हैं, अभियुक्त की सुरक्षा के बारे में विचार करना शेष रह जाता है। यह प्रश्न धारा 132 और 148 के अधीन, जो साक्षी की विश्वसनीयता के बारे में है, नहीं आता है।

इसलिए 69वीं रिपोर्ट के पैरा 87.23 में आगे स्पष्ट किया गया है :

''जब किसी अभियुक्त साक्षी की विश्वसनीयता धारा 155 के अधीन अधिक्षेप किया जाता है तब, यह खतरा पैदा हो जाता है कि न केवल साक्षी के रूप में उसकी विश्वसनीयता पर ही प्रहार किया जाएगा, अपितु, उसे मानसिक परेशानी भी हो सकती है और ऐसी प्रतिपरीक्षा में, यदि बिना किसी मर्यादा के इसी प्रकार अनुमत्य रहने दिया जाता है तो पक्षपात की भी संभावना रहती है। हमने धारा 148 के अधीन सुसंगत विषयों के बारे में चर्चा की है और विशिष्ट उपबंध करने की आवश्यकता पर बल दिया है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि धारा 148 की भांति ही, जहां हमने

अभियुक्त की विश्वसनीयता को प्रभावित करने वाले मामलों की प्रतिपरीक्षा के संबंध में एक पृथक उपबंध की सिफारिश की है, धारा 155 में भी एक पृथक उपबंध करना सर्वोत्तम उपाय होगा।''

अन्तिम वाक्य में, त्रुटि प्रतीत होती है, इसका पाठ इस प्रकार होना चाहिए 'अभियुक्त से भिन्न किसी साक्षी की प्रतिपरीक्षा के संबंध में', जिससे प्रतिपरीक्षा में अभियुक्त की विश्वसनीयता के बारे में प्रश्न पूछे जाते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि जब हम धारा 155(2) अधिनियमित करने के लिए सिफारिश को पढ़ते हैं (जिसे हमने एक स्वंतत्र धारा 155क का रूप देने की सिफारिश की है ताकि धारा 155 बहुत लम्बी न हो जाए)। इस प्रकार की उपधारा, जिसकी हमने 148क के रूप में सिफारिश की है, धारा 155 के रूप में भी अन्तः स्थापित करनी होगी। **डी.पी.पी. बनाम पी.** मामले में यह सिद्धांत कि न्यायालय को प्रश्न या उत्तर को केवल तभी ग्राह्य समझना चाहिए जब उत्तर का संभावित महत्व अभियुक्त को कारित होने वाली क्षति से बढ़कर होने की संभावना हो, दोनों धाराओं 155 और 155क के अन्त में जोड़ा गया है।

परिणामतः हम धारा 155 में निम्नलिखित परिवर्तन करने की सिफरिश करते हैं कि जैसीकि 69वीं रिपोर्ट के पैरा 87.24 में सिफारिश की गई है (धारा 155 (2) के स्थान पर हमने धारा 155क का प्रस्ताव किया है) दोनों धाराओं में पहले ही से विद्यमान संरक्षणों के अतिरिक्त, **डी.पी.पी. बनाम पी.** मामले के नए सिद्धांत के अनुरूप संरक्षण को सम्मिलित करना भी आवश्यक है।

धारा 155 वहां लागू होगी जहां अभियुक्त ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 315 के अधीन साक्ष्य देने का प्रस्ताव नहीं किया है। धारा 155क वहां लागू होगी जहां अभियुक्त दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 315 का आश्रय लेता है।

श्री वेपा पी. सारथी ने सुझाव दिया है कि प्रस्तावित स्पष्टीकरण खंड (1) के लिए उपयुक्त नहीं है। परन्तु स्पष्टीकरण का आशय उस बात को स्पष्ट करना है जिसे साक्षी को अपनी मुख्य परीक्षा में कहने की आवश्यकता नहीं थी। यह पूर्णतया प्रक्रियात्मक है।

हम, सिफारिश करते हैं कि धारा 155 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जाए :—

साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप

''**155.** किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर प्रतिपक्षी द्वारा या न्यायालय की सम्मति से उस पक्षकार द्वारा, जिसने उसे बुलाया है, निम्नलिखित प्रकारों से अधिक्षेप किया जा सकेगा :—

(1) उन व्यक्तियों के साक्ष्य द्वारा, जो साक्षी के बारे में अपने ज्ञान के आधार पर, उसकी शुद्धता या सत्यवादिता पर अधिक्षेप कर सकते हैं ;

(2) यह साबित किए जाने द्वारा कि साक्षी को रिश्वत दी गई है या उसने रिश्वत की प्रस्थापना स्वीकार कर ली है या उसे अपना साक्ष्य देने के लिए कोई अन्य भ्रष्ट उत्प्रेरणा मिली है;

(3) धारा 145 के उपबंधों के अध्यधीन, उसके साक्ष्य के किसी ऐसे भाग से, जिसका खंडन किया जा सकता है, पूर्वकालिक कथनों से असंगत पिछले कथनों को साबित करके, अर्थात्, किसी विवाद्यक तथ्य या किसी सुसंगत तथ्य या धारा 153 के प्रथम या दूसरे अपवाद में निर्दिष्ट किसी मामले के बारे में साक्ष्य देकर :

परन्तु यह कि न्यायालय का ऐसा समाधान है कि प्रश्न के उत्तर का संभावित महत्व उससे कारित होने वाली क्षति से बढ़कर है या होगा।

स्पष्टीकरण : कोई साक्षी जो किसी अन्य साक्षी को विश्वसनीयता के लिए अपात्र घोषित करता है, अपने से की गई मुख्य परीक्षा में अपने विश्वास के कारणों को चाहे न बताए, किन्तु प्रतिपरीक्षा में उससे उनके कारणों

को पूछा जा सकेगा और उन उत्तरों का, जिन्हें वह देता है, खंडन नहीं किया जा सकता, तथापि यदि वे मिथ्या हों, तो तत्पश्चात् उस पर मिथ्या साक्ष्य देने का आरोप लगाया जा सकेगा।

दृष्टांत :

(क) 'ख' को बेचे गए और परिदान किए गए माल के मूल्य के लिए 'ख' पर 'क' वाद लाता है। 'ग' कहता है कि उसने 'ख' को माल का परिदान किया है।

यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य प्रतिस्थापित किया जाता है कि किसी पूर्व अवसर पर उसने कहा था कि उसने उस माल का परिदान 'ख' को नहीं किया था।

यह साक्ष्य ग्राह्य है।

(ख) 'ख' की हत्या के लिए 'क' पर अभ्यारोप लगाया गया है।

'ग' कहता है कि 'ख' ने मरते समय घोषित किया था कि 'क' ने 'ख' को यह घाव दिया था जिससे वह मर गया।

यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य प्रतिस्थापित किया जाता है कि किसी पूर्व अवसर पर 'ग' ने कहा था कि घाव 'क' द्वारा या उसकी उपस्थिति में नहीं दिया गया था।

यह साक्ष्य ग्राह्य है।

अन्य उपबंध, धारा 155(2) के सिवाय, जैसीकि सिफारिश की गई है, धारा 155 क में होंगे। (69वीं रिपोर्ट में ''वह'' शब्द को हम ''अभियुक्त'' के रूप में परिवर्तन करते हैं। हमने अभियोक्त्रि से प्रश्न करने के मामले का, जैसाकि धारा 155(4) के अधीन किया गया है, लोप करने की सिफारिश की है)।

साक्षी के रूप में परीक्षा करते समय अभियुक्त की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करना :

''155क. जब कोई अभियुक्त व्यक्ति, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 315 के अनुसरण में स्वयं को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करता है तब, अन्य साक्षी से प्रश्न पूछना अनुज्ञेय नहीं होगा और ऐसे साक्षी से, यदि प्रश्न पूछे जाते हैं तो, उसे ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा, जो यह दर्शित करने की प्रवृत्ति रखते हैं कि अभियुक्त ने, उसके अतिरिक्त जिसमें वह आरोपित है, कोई अन्य अपराध किया है या उसके लिए दोषसिद्ध या आरोपित किया गया है या कि अभियुक्त बुरे शील का है, जब तक कि—

(1) यह साबित नहीं कर दिया जाता कि अभियुक्त ने ऐसा अन्य अपराध किया है या उसके लिए दोषसिद्ध किया गया है, विवाद्यक विषय से सुसंगत है;

या

(2) स्वयं को अच्छे शील का स्थापित करने के विचार से अभियुक्त ने स्वयं या अपने वकील के द्वारा अभियोजन के साक्षी से प्रश्न पूछे हैं या आपने अच्छे शील का साक्ष्य नहीं दिया है; या

(3) प्रतिरक्षा के आचरण का स्वरूप ऐसा है कि कोई विशिष्ट प्रश्न पूछने के लिए न्यायालय की अनुमति मांगे बिना ही, उसमें अभियोजन साक्षी के शील पर (अभियोक्त्रि से भिन्न) दोषारोपण अन्तर्गस्त न हो;

(4) अभियुक्त ने उसी अपराध के आरोपी किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध साक्ष्य न दिया हो,

और न्यायालय का ऐसा समाधान न हो कि प्रश्न के उत्तर का संभावित महत्व कारित होने वाली क्षति से बढ़कर है या होगा''

धारा 156 :

यह धारा 'सुसंगत तथ्य के साक्ष्य की सम्पुष्टि करने की प्रवृत्ति रखने वाले प्रश्न ग्राह्य होंगे' विषय से संबंधित है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''156. जब कोई साक्षी, जिसकी सम्पुष्टि करना आशयित हो, किसी सुसंगत तथ्य का साक्ष्य देता है, तब उससे ऐसी अन्य किन्हीं भी परिस्थितियों के बारे में प्रश्न किया जा सकेगा, जिन्हें उसने उस समय या स्थान पर, या के निकट सम्प्रेक्षित किया, जिस पर ऐसा सुसंगत तथ्य घटित हुआ, यदि न्यायालय की यह राय हो कि ऐसी परिस्थितियां, यदि वे साबित हो जाएं साक्षी के सुसंगत तथ्य के बारे में, जिसका वह साक्ष्य देता है, परिसाक्ष्य को सम्पुष्ट करेगी।''

धारा 156 के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है जिसका पाठ निम्नलिखित है :

'क' एक सहअपराधी किसी लूट का, जिसमें उसने भाग लिया था, वृतान्त देता है, वह लूट से असंसक्त विभिन्न घटनाओं का वर्णन करता है जो उस स्थान को और जहां कि लूट की गई थी, जाते हुए और वहां से आते हुए मार्ग में घटित हुई थीं।

इन तथ्यों का स्वतंत्र साक्ष्य स्वयं उस लूट के बारे में उसके साक्ष्य को सम्पुष्ट करने के लिए दिया जा सकेगा।

यह धारा साक्षी के खंडन के विपरीत है। खंडन विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करता है जब सम्पुष्टि उसे पुष्ट करती है। जैसाकि 69वीं रिपोर्ट के पैरा 88.6 में कहा गया है किसी साक्षी की सत्यता परखने का सर्वोत्तम तरीका व्याप्त परिस्थितियों के बारे में उसके साक्ष्य की शुद्धता को अभिनिश्चित करना है यद्यपि वे सुसंगत तथ्य से निकट रूप में संसक्त नहीं है। तथापि, किसी साक्षी की सत्यता निश्चित करने के लिए साक्ष्य की सम्पुष्टि ही एकमात्र तरीका नहीं है।

धारा 156 ऐसे प्रश्नों के बारे में है जो सम्पुष्टि के प्रयोजन से साक्षी से पूछे जा सकेंगे, जबकि धारा 157 उसका निर्देश करती है जो साक्षी के साक्ष्य को सम्पुष्ट करने के लिए साबित किया जाना चाहिए।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 88.89 में यह कहा गया था कि धारा 156 में 'सुसंगत तथ्यों' शब्दों से पूर्व 'विवाद्यक तथ्य या' शब्द जोड़ने के सिवाय अन्य किसी गम्भीर संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 157

धारा 157 में कहा गया है कि ''उसी तथ्य के बारे में पश्चातवर्ती अभिसाक्ष्य की सम्पुष्टि करने के लिए साक्षी के पूर्वतन कथन साबित किए जा सकेंगे।'' इस धारा का पाठ निम्नलिखित है।

''157. किसी साक्षी के परिसाक्ष्य की सम्पुष्टि करने के लिए ऐसे साक्षी द्वारा उसी तथ्य से संबंधित उस समय पर या के लगभग जब वह तथ्य घटित हुआ था, किया हुआ, या उस तथ्य का अन्वेषण करने के लिए विधि द्वारा सक्षम किसी प्राधिकारी के समक्ष किया हुआ पूर्वतन कथन साबित किया जा सकेगा।''

इस धारा में ऐसे साक्ष्य की ग्राह्यता का उपबंध किया गया है जो सुसंगत तथ्य को साबित करने के लिए नहीं अपितु साक्षी की सत्यता का परीक्षण करने के लिए दिया गया है।

कथनों की सुसंगतता साक्षी की सत्यता का पता लगाने के लिए कुछ सीमा तक सहायक हो सकती है परन्तु केवल सुसंगतता के कारण से ही ऐसी गारंटी नहीं दी जा सकती कि साक्षी सच्चा है क्योंकि यदि किसी व्यक्ति का उद्देश्य गुमराह करना है तो संगत रहते हुए असत्य कथन करता रहेगा। किसी महिला के साथ किए गए बलात्संग के तुरन्त पश्चात् किया गया परिवाद धारा 8 के अधीन सुसंगत है (देखें दृष्टांत—) और धारा 157 में परिवादों के अतिरिक्त कथन लिए जा सकेंगे।

जो धारा 157 के अधीन ग्राह्य है, तात्विक साक्ष्य नहीं है।

रामरतन बनाम राज्य : ए.आई.आर. 1962 सु.को. 24, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जिस साक्षी की सम्पुष्टि की जानी है उसे अपने परिसाक्ष्य में यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उसने किसी साक्षी से, जो उसकी सम्पुष्टि कर रहा है, कोई पूर्वतन कथन किया था। यदि वह भी अपने परिसाक्ष्य में ऐसा कह देता है तो उस व्यक्ति के साक्ष्य को बल मिलेगा जो सम्पुष्टकारी साक्ष्य देता है। इस प्रकार धारा 157 पर्याप्त रूप में उपयोगी है।

रामेश्वर बनाम राज्य : ए.आई.आर. 1952 सु.को. 154, मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि पूर्वतन कथन सुसंगत हो सकते हैं परन्तु इनको मिलने वाला बल प्रत्येक मामले में पृथक होगा। समय भी विभिन्न मामलों में भिन्न-भिन्न हो सकेगा।

अगला प्रश्न, ''या तथ्य का अन्वेषण करने के लिए विधि द्वारा सक्षम किसी प्राधिकारी के समक्ष'', धारा 157 के अन्तिम भाग से संबंधित है।

'अन्वेषण' शब्द दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 2(ज) के अनुसार पुलिस की या मजिस्ट्रेट के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा, जो इसके लिए प्राधिकृत किया गया हो, की गई कार्यवाहियों के लिए लागू होता है।

धारा 157 में प्रयुक्त अन्वेषण करने का वह संकीर्ण अर्थ नहीं लिया जाएगा जो दंड प्रक्रिया संहित में लिया गया है। इसे इसके साधारण अर्थ, 'तथ्यों का अभिनिश्चय' समान का हटाया जाना, सुसंगत आंकड़ों का पता लगाना आदि, के अर्थ में समझा जाना चाहिए। (**स्टेट बनाम परेश्वर** : ए.आई.आर. 1968 उड़ीसा 20) । इसका अर्थ उससे व्यापक है जो दंड प्रक्रिया संहिता में दिया गया है। दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन 'अन्वेषण' के संबंध में देखें **एच.एन. रिशब्द बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1953 सु.को. 196।

यह अभिनिर्धारित किया गया है कि ''तथ्य का अन्वेषण करने के लिए विधिक रूप से सक्षम शब्दों से किसी विधि के अधीन, सांविधिक या अन्य शक्ति प्राप्त होना अभिप्रेत है''। (**आर बनाम कुमार सुधु** : 1919 एम.डब्ल्यू.एन. 199)।

जहां तक प्रथम सूचना रिपोर्ट का संबंध है, उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यह तात्विक साक्ष्य नहीं है। इसका प्रयोग केवल धारा 157 के अधीन सम्पुष्टि के लिए या धारा 145 के अधीन, खंडन करने के लिए किया जा सकता है। (**निसार अली बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1957 सु.को. 366; **अगनु बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1996 सु.को. 1191) देखें **हेसब बनाम राज्य** ए.आई.आर. 1972 सु.को. 383; **दामोदर बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1972 सु.को. 622; **शंकर बनाम राज्य**: ए.आई.आर. 1975 सु.को. 755।

पुलिस अधिकारियों से कथन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन किए जा सकेंगे और संहिता की धारा 162 में कथन अभिलिखित करने की पद्धति विहित की गई है। धारा 162 के अधीन, जब अन्वेषण के अधीन किसी अपराध के बारे में किसी जांच या विचारण में अभियोजन के लिए बुलाए गए किसी साक्षी की पुलिस द्वारा परीक्षा की जाती है तो उसका पूर्वतन कथन या उसका अभिलेख किसी प्रयोजन के लिए प्रयोग नहीं किया जाएगा, सिवाय (1) धारा 145 के अधीन अभियुक्त द्वारा ऐसे साक्षी का खंडन करने के लिए, (2) अभियोजन पक्ष द्वारा भी ऐसे साक्षी का खंडन करने के लिए परन्तु न्यायालय की अनुमति से, और (3) साक्षी की पुन:परीक्षा के लिए, यदि आवश्यक हो। कथन को प्रतिरक्षा साक्षी के कथन की सम्पुष्टि या

खंडन के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता (**सतपाल बनाम दिल्ली प्रशासन** : ए.आई.आर. 1976 सु.को. 294) कथन की सम्पुष्टि के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता (**तहसीलदार बनाम राज्य** : ए.आई.आर. 1959 स.को. 1012)।

जहां दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के अधीन मजिस्ट्रेट के समक्ष किए गए कथनों का संबंध है, वे साक्षी द्वारा सुपुर्दगीकार मजिस्ट्रेट के समक्ष किए गए कथन की सम्पुष्टि के लिए साक्ष्य में ग्राह्य होंगे। **भगवान बनाम पंजाब राज्य** : ए.आई.आर. 1952 सु.को. 214; **धानाबलं बनाम राज्य** ए.आई.आर. 1980 सु.को. 628। यहां उच्चतम न्यायालय ने अन्वेषण शब्द के अर्थ को विस्तृत बना दिया है। देखें, **मनारली बनाम आर** : 37 सी.डब्ल्यू.एन. 1066 (सरकार 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 2284) दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के अधीन कथन तात्विक साक्ष नहीं है। परन्तु इसे समर्थन या जिस व्यक्ति ने कथन किया है उसके साक्ष्य को चुनौती देने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। (**भुबोनी बनाम आर** : ए.आई.आर. 1949 पी.सी. 257)।

परीक्षण पहिचान के दौरान किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष किए गए कथन धारा 157 के अधीन ग्राह्य हैं। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के अधीन वह मामला आता है जहां कोई मजिस्ट्रेट इस धारा के अधीन कार्य करता है और अपने समक्ष किए गए कथन को अभिलिखित करता है (**समीरूद्दीन बनाम आर** : ए.आई.आर. 1928 कलकत्ता 500)।

69वीं रिपोर्ट में (पैरा 88.34) यह विचार व्यक्त किया गया था क्योंकि पहिचान परेड के दौरान मजिस्ट्रेट के समक्ष किया गया कथन धारा 157 के अधीन सुसंगत है, यद्यपि तकनीकी रूप से यह अन्वेषण नहीं है जैसाकि दंड प्रक्रिया संहित की धारा 2(ज) के अधीन, और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के अधीन या पुलिस के अतिरिक्त प्राधिकारियों द्वारा, जैसे न्यायिक मजिस्ट्रेट, अन्य सांविधिक उपबंधों के अधीन है ज्ञात होता है विषय में व्याप्त अस्पष्टता की दृष्टि से धारा 157 में संशोधन वांछनीय है।''

पैरा 88.35 में यह सिफारिश की गई थी (देखें पैरा 88.36क) कि धारा 157 ''किसी उपयुक्त संशोधन द्वारा उपर्युक्त विषय का उपबंध करने के लिए उपांतरित की जानी चाहिए। संक्षेप में, यह प्रारूप नहीं है—संशोधन द्वारा धारा के अधिकार क्षेत्र में ''प्राधिकारियों'' को लाया जाना चाहिए (**एच. एन. रिशब्द बनाम दिल्ली राज्य** : ए. आई. आर. 1965 सु. को. 196), जो विधि के अधीन 'जांच करने के लिए' या 'कथन अभिलिखित करने के लिए' सक्षम हों।''

प्रारुप नहीं दिया गया था। यदि हम एक ऐसा स्पष्टीकरण जोड़ते हैं कि ''**कथनों**'' में किसी तत्व की **जांच करने** या कथनों को अभिलिखित करने के लिए सभी सक्षम प्राधिकारियों के समक्ष किए गए कथन सम्मिलित होंगे तो, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 162 के अधीन किए गए कथनों के, जो अनुज्ञेय नहीं हैं, सम्मिलित हो जाने का खतरा है। इस प्रकार की विसंगति से बचने के लिए, हम निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ने का सुझाव देते हैं :

> ''**स्पष्टीकरण** : किसी प्राधिकारी के समक्ष, जो किसी तथ्य की जांच करने के लिए सक्षम है, किए गए कथनों में किसी पहिचान परेड में न्यायिक मजिट्रेट के समक्ष किए गए कथन तथा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 के अधीन ऐसे किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष किए गए कथन भी सम्मिलित होंगे।''

प्रस्तावित धारा 157क :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 88.36 में स्वतंत्र साक्ष्य द्वारा किसी साक्षी की विश्वसनीयता की पुष्टि करने के लिए, इंग्लैण्ड और अमरीका की भांति, एक विस्तृत उपबंध करने की सिफारिश की गई है। इस समय, विश्वसनीयता की ऐसी पुष्टि (1) धारा 156—157 के अधीन सम्पुष्टकारी साक्ष्य देकर, (2) विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करने के लिए पेश किए गए साक्षी की प्रतिपरीक्षा द्वारा, या (3) मुख्य विवाद्यक प्रश्नों पर, तात्विक उपबंध नहीं है, जो किसी साक्षी की विश्वसनीयता की पुष्टि के लिए स्वतंत्र साक्ष्य की अनुज्ञा देता हो, यद्यपि विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करने के लिए उपबंध विद्यमान है।

पैरा 88.38 में निम्नलिखित उपबंध की सिफारिश की गई है और हम इससे सहमत हैं कि धारा 146 की तरह का एक उपबंध अन्त:स्थापित किया जाना चाहिए :

स्वतंत्र साक्ष्य द्वारा साक्षी की विश्वसनीयता प्रतिस्थापित करना :

"157क. जहां किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर किसी पक्षकार द्वारा अधिक्षेप किया जाता है, वहां प्रतिपक्षी, धारा 153 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, उसकी विश्वसनीयता पुनर्स्थापित करने के लिए उसकी शुद्धता, विश्वसनीयता या सत्यवादिता के संबंध में या यह दर्शित करने के लिए कि वह कौन है और जीवन में उसकी स्थिति क्या है, स्वतंत्र साक्ष्य पेश कर सकेगा।"

[जहां तक उपर्युक्त धारा 157क की उपधारा (2) का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गयी थी कि "जब कोई व्यक्ति बलात्संग के लिए या बलात्संग करने के प्रयत्न के लिए अभियोजित किया जाता है तब यह दर्शित किया जा सकेगा कि अभियोक्त्री सामान्यत: अच्छे शील की थी" हमारा विचार यह है कि ऐसा उपबंध अभियुक्त को अभियोक्त्री के बुरे शील के बारे में विरोधी साक्ष्य पेश करने का अधिकार दे सकेगा। जैसाकि हमने 172वीं रिपोर्ट के बारे में कहा है, धारा 155(4) को निकाल दिया जाना चाहिए और हम प्रस्तावित धारा 157क की उपधारा (2) के पक्ष में नहीं हैं। वास्तव में, धारा 155(4) भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 4) द्वारा निकाल दी गई है।]

धारा 158 :

इस धारा के शीर्षक का पाठ इस प्रकार है :

"साबित कथन के बारे में, जो कथन धारा 32 या 33 के अधीन सुसंगत है, कौन सी बातें साबित की जा सकेंगी"। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

"158. जब कभी कोई कथन, जो कथन धारा 32 या 33 के अधीन सुसंगत है, साबित कर दिया जाए, तब चाहे उसके खंडन के लिए, या सम्पुष्टि के लिए या जिसके द्वारा वह किया गया था, उस व्यक्ति की विश्वसनीयता को अधिक्षिप्त या पुष्ट करने के लिए, वे सभी बातें साबित की जा सकेंगी, जो यदि वह व्यक्ति साक्षी के रूप में बुलाया गया हो और उसने प्रतिपरीक्षा में सुझाई हुई बात की सत्यता का प्रात्याख्यान किया होता, तो साबित की जा सकती।"

यह धारा उन व्यक्तियों की विश्वसनीयता, जो साक्षी नहीं है, के बारे में है। ऐसे व्यक्तियों के कथन हैं, जो मृतक हैं (धारा 32) या मिल नहीं सकते हैं या साक्ष्य देने में असमर्थ हैं या विपक्षी ने उसे पहुंच से दूर कर दिया है (धारा 33) या जिसकी उपस्थिति किसी विलम्ब या व्यय के बिना प्राप्त नहीं की जा सकेगी। सरकार ने (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 2291) कहा है कि इस धारा का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों के कथनों के खंडन या सम्पुष्टि के लिए हर संभव बात को उसी रूप में प्रकट करना है जिसमें प्रतिपरीक्षा में कोई साक्षी न्यायालय के समक्ष प्रकट करता है। किसी ऐसे व्यक्ति के कथन के साथ कोई सत्यता सम्बद्ध नहीं है क्योंकि वह मर गया है या मिल नहीं सकता है।

धारा 158 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 159 :

यह धारा 'स्मृति ताजा करने' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

"159. कोई साक्षी जबकि वह परीक्षा के अधीन है, किसी ऐसे लेख को देख करके, जो कि स्वयं उसने, उस संव्यवहार के समय, जिसके संबंध में उससे प्रश्न किया जा रहा है, या इतने शीघ्र पश्चात् बनाया हो कि न्यायालय इसे संभाव्य समझता हो कि वह संव्यवहार उसकी स्मृति में उस समय ताजा था, अपनी स्मृति को ताजा कर सकेगा।

साक्षी उपर्युक्त प्रकार के किसी ऐसे लेख को भी देख सकेगा जो किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा तैयार किया गया हो और उस साक्षी द्वारा उपर्युक्त समय के भीतर पढ़ा गया हो, यदि वह उस लेख का, उस समय जबकि उसने उसे पढ़ा था, सही होना जानता था।

साक्षी स्मृति ताजा करने के लिए दस्तावेज की प्रतिलिपि का उपयोग कब कर सकेगा—जब कभी कोई साक्षी अपनी स्मृति किसी दस्तावेज को देखने से ताजा कर सकता है, तब वह न्यायालय की अनुज्ञा से, ऐसे दस्तावेज की प्रतिलिपि को देख सकेगा।

परन्तु यह तब जबकि न्यायालय का समाधान हो गया हो कि मूल को पेश न करने के लिए पर्याप्त कारण हैं

विशेषज्ञ अपनी स्मृति वृतिक पुस्तकों के देखकर ताजा कर सकेगा।"

श्रीलंका में पैरा 1, 2, 3 और 5 को क्रमश: उपधारा (1), (2), (3) और (4) के रूप में संख्यांकित किया गया है।

'लेख' शब्द में मुद्रित सामग्री सम्मिलित करना अभिनिर्धारित किया गया है (राम सी. एम. आर : ए.आई.आर. 1930 लाहौर 371)। किसी दस्तावेज या ज्ञापन को स्मृति ताजा करने के प्रयोजन से देखने की अनुमति दिया जाना विश्वसनीय हो सकेगा इसके लिए धारा 159 में कतिपय शर्त निर्धारित की गई है—(1) लेख स्वयं साक्षी द्वारा संव्यवहार के समय या इतने शीघ्र पश्चात् कि तथ्य उसकी स्मृति में ताजा थे, बनाया गया हो, जिसके बारे में वह फिर साक्ष्य दे रहा है, या (2) यदि लेख किसी अन्य व्यक्ति द्वारा बनाया गया है तो यह साक्षी द्वारा उपर्युक्त समय के भीतर पढ़ा गया होना चाहिए वह उसका सही होना जानता हो अर्थात् उसने उस समय पढ़ा हो जब तथ्य उसकी स्मृति में ताजा थे और वह उनके सही होने के बारे जानता था।

धारा 159 में, 'वर्तमान स्मृति' का और धारा 169 में, 'भूतकालिक स्मृति' का निर्देश है। धारा 160 में कहा गया है कि कोई साक्षी ऐसे किसी दस्तावेज में, जैसा धारा 159 में वर्णित है, वर्णित तथ्यों का भी, चाहे उसे स्वयं उन तथ्यों का विनिर्दिष्ट स्मरण नहीं हो, परिसाक्ष्य दे सकेगा, यदि उसे यकीन है कि वे तथ्य उस दस्तावेज में ठीक-ठीक अभिलिखित थे।

सरकार ने (15वां संस्करण, 1999, पृष्ट 2293-94) भूतकालिक और वर्तमान स्मृति के बारे में ग्रीनलीफ से निम्नलिखित रूप में धारा 439(क) उद्धृत की है :

"किसी साक्षी के लिए दो प्रकार की स्मृतियां समुचित रूप से उपलब्ध हैं, भूतकाल की स्मृतियां और वर्तमान स्मृतियां। सामान्य प्रकार (वर्तमान) की स्मृतियों में साक्षी को या तो पर्याप्त रूप से स्पष्ट स्मृति थी या उसे स्मरण करके स्पष्ट और वास्तविक बना सकता है यदि वह उसे उदीप्त या ताजा कर सके और मुख्य प्रश्न है इसे ताजा करने के कतिपय साधनों के औचित्य का—विशिष्ट रूप में, लिखित या मुद्रित टिप्पणियों, ज्ञापनों या इससे संबंधित अन्य चीजों का प्रयोग करके। भूतकालिक विषयों में साक्षी को वर्तमान में पूर्णतम विस्मृति हो जाती है और उद्दीपन द्वारा भी उसका पुर्नस्मरण नहीं हो सकता परन्तु एक समय था जब उसे उसकी पर्याप्त स्मृति थी और जब यह अभिलिखित किया गया था ताकि वह इस अभिलेख को अपनी तत्कालीन विद्यमान स्मृति अपना सके और इसे उस विषय पर अपनी जानकारी के पर्याप्त ज्ञान के रूप में प्रयोग कर सके"।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 40.6 में कहा गया है कि धारा 159 के अधीन किसी दस्तावेज का आश्रय धुंधली स्मृति को ताजा करने के लिए लिया जाता है और साक्षी दस्तावेज से ताजा होने वाले तथ्यों की अपनी वास्तविक स्मृति के बारे में शपथ लेता है। धारा 160 के अधीन उपधारा में स्मृति के ताजा न होने का कोई निर्देश नहीं है।

इंग्लिश विधि भी ऐसी ही है कि जहां तक वर्तमान स्मृति का संबंध है, दस्तावेज उसी समय का होना चाहिए।

निर्णय जनित विधि पर आधारित ग्राह्य दस्तावेजों की सूची बहुत लम्बी है (पैरा 90.8)। कोई सालिसिटर अपनी डायरी

का या एक साधारण साक्षी उसके द्वारा पढ़े गए किसी समाचार पत्र में प्रकाशित समाचार का निर्देश कर सकेगा, जब तथ्य उसकी स्मृति में ताजा थे। कोई सरकारी शार्ट हैंड लेखक विचारण में अपने नोटस् का निर्देश कर सकेगा, यद्यपि इन की प्रतियां को किसी गैर पक्षकार को, जिसने उसे साक्ष्य के लिए बुलाया है, दिए जाने के विरुद्ध विशेषाधिकार प्राप्त है। किसी कर्मचारी की समय पुस्तक का रोकडिया अपनी स्मृति को ताजा करने के लिए प्रयोग कर सकेगा, जो उसे उसके अनुसार भुगतान करने के लिए, प्रत्येक पखवाड़े में देखता है।

स्टाम्प या रजिस्ट्रीकृत न होने के कारण किसी अग्राह्य दस्तावेज को पढ़ने की भी अनुमति दी जा सकेगी। इंग्लैण्ड में भी ऐसा ही है। **जीवन लाल बनाम नीलमणी** : ए.आई.आर. 1928 पी. सी. 80, मामले में, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 13, नियम 2 के प्रक्रिया नियम के कारण से रद् किया गया कोई दस्तावेज अभी भी धारा 159 के अधीन प्रयोग किया जा सकता है। **झाकू महतो**, आई.एल.आर. 8 कलकत्ता 793, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी साक्षी को उसकी स्मृति ताजा करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा।

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 90.13) ब्रिटिश कोलम्बिया से एक मामले का निर्देश किया गया है, **आर बनाम पिट** : (1968) 68 डी.एल.आर. (2) 513, मामले में अभियुक्त की पत्नी को, जो अपने पति की हत्या करने की अभियुक्त थी, उसके वकील के कहने पर, सम्मोहित करने तथा सम्मोहन की अवस्था में ताजा हुई स्मृति से साक्ष्य देने की अनुमति दी गई थी। साक्ष्य का उपयोग किया गया।

पैरा 90.14 में धारा का थोड़ा पुनर्गठन करने का तथा लेख में अपवर्जित मुद्रित सामग्री को भी सम्मिलित करने या दस्तावेज शब्द का प्रयोग करने का सुझाव दिया गया है। यह कोई फोटोग्राफ भी हो सकता है। जहां तक विशेषज्ञों का संबंध है, पाक्षिक साहित्य, जो अन्यथा पुस्तकों में उपलब्ध नहीं होगा, के निर्देश की अनुमति देना लाभकारी हो सकेगा।

अब हम कतिपय मामलों का निर्देश करेंगे। किसी लेख का साक्षी द्वारा उसके द्वारा उल्लिखित किए गए तथ्यों के बारे में उसकी स्मृति को ताजा करने के लिए प्रयोग किया जा सकेगा, यदि लेख या तो संव्यवहार के समय या संव्यवहार के तुरन्त पश्चात् का था [**इन्द्रमोहन क्षमा बनाम असम राज्य** : 1982 क्रिमी. एल. जे. एम. ओ. सी. 127 (गौर)]

वाद के साथ पेश किए गए दस्तावेजों में सम्मिलित न किए गए दस्तावेज को भी प्रयोग किया जा सकेगा [**रामजी बनाम रामगण्णा** : 1 एम.एच.सी.आर. 168 (एम 07 वी 18 (2)]। इसे रद्द नहीं किया जा सकता क्योंकि यह आदेश 7 नियम 14 के अधीन (जन्मपत्री का मामला) अन्तिम नहीं था (**बनवारी बनाम महेश** : ए.आई.आर. 1918 पी.सी. 118) समय पर पेश न की गई लेखा बही साक्ष्य में स्वीकार नहीं की गई परन्तु न्यायालय, धारा 159 के अधीन, ऐसी लेखा बहियों के निर्देश से साक्षी को उसकी स्मृति ताजा करने की अनुमति दे सकेगा (**जीवनलाल बनाम नीलमणी** : ए.आई.आर. 1928 पी.सी. 80)। कोई जन्मपत्री उसमें लिखी तिथि से जन्मतिथि साबित करने के लिए प्रयोग की जा सकेगी—धारा 159 या धारा 160 के अधीन **सावित्रीबाई बनाम सीताराम** : ए.आई.आर. 1986 एम.पी. 218।

स्मृति ताजा करने के सिद्धान्त का अभी हाल ही में, **आर बनाम डिसिल्वा** : 1990 (1) ए.एल.एच.ई.आर. 29 (सी.ए.), मामले में निर्देश किया गया है और यह विचार व्यक्त किया गया था कि कोई साक्षी, अपना साक्ष्य आरम्भ करने के पश्चात् भी, अपनी स्मृति को ताजा कर सकेगा।

कोई कथन, जो अन्यथा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अधीन आता है, इसलिए, ग्राह्य नहीं हो जाएगा कि इसे धारा 158 या 159 के अधीन लाया जा सकेगा (**भौंदु बनाम आर** : ए.आई.आर. 1949 ए.एल.एल. 364)। घटना के पश्चात् साक्षी द्वारा तैयार किया गया तथा अन्वेषण अधिकारी को सौंपा गया तथ्यों का कोई ज्ञापन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अधीन कथन है और इसे धारा 159 के अधीन प्रयोग नहीं किया जा सकेगा (**सुपरिन्टेंडेंट एण्ड रेम बनाम सहीरूद्दीन** : ए.आई.आर. 1946 कलकत्ता 483)। **सिमियन बनाम केरल राज्य** : 1996 क्रिमि. एल.जे. 3368 (केरल), मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि किसी साक्षी को, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन उसके द्वारा पुलिस से किए गए पूर्वतन कथन का निर्देश करके, उसे स्मृति को ताजा करने की अनुमति नहीं दी जा सकेगी। इस विषय में हम कोई उपबंध करना नहीं चाहते

जिसमें दंड विधि के लिए लागू होने वाले सामान्य सिद्धान्तों के कारण, ऐसे कथनों को सम्मिलित करने के लिए अनुज्ञा प्राप्त हो। इंग्लैण्ड में (देखें पैरा 11.50, फिप्सन, 1999, 15वां संस्करण) साक्षियों को, न्यायालय ग्राह्य अपने पूर्वतन कथनों को देखने की अनुमति प्राप्त है।

"विचारण से पूर्व अपने कथनों को देखना साक्षियों के लिए एक आम बात नहीं है। इसे 1969 में गृह कार्यालय के एक परिपत्र द्वारा मान्यता दी गई जो मुख्य न्यायाधीश लार्ड पारकर, क्वीन्स् बैंच डिवीजन के न्यायाधीशों की स्वीकृति से जारी किया गया था। यह व्यवहार **आर बनाम रिचर्डसन** (परिपत्र 82/1969 में निर्देशित) मामलों में स्वीकृत किया गया था परन्तु स्पष्टतया यह गलत होगा यदि बहुत से साक्षियों को उनके कथन, इन परिस्थितियों में पकड़ा दिए जाएं, जिसमें वे एक दूसरे के साथ अपने कथन की यह देखने के लिए तुलना करेंगे कि प्रत्येक ने क्या-क्या कहा था। (**आर बनाम स्किन्नर** (1994) 99 क्रि.एफ.रिप. 212)। यह कहा गया है कि यदि अभियोजन साक्षियों को उनके कथनों को न्यायालय से बाहर देखने की अनुमति दी जाती है, तब यह आवश्यक तो नहीं परन्तु वांच्छनीय अवश्य है कि प्रतिरक्षा पक्ष को सूचित किया जाए। (**बरली बनाम बीसली**, (1976) 62 सी.आर.ए.पी.आर. 239) परन्तु व्यवहार में अब इतना अधिक सामान्य हो गया है कि प्रतिरक्षा पक्ष यह मानकर चलेगा कि उन्होंने इन्हें देख लिया होगा। यदि कोई साक्षी कोई कथन करता है तो उसे उन घटनाओं की, जो उसने वर्णित की है, वीडियो रिकार्डिंग दिखाना और साक्षी द्वारा किसी त्रुटि को शुद्ध करने के लिए जिसे वह शुद्ध करना चाहता है, आगे और कथन करना अनुज्ञेय है : (1990) 90 सी.आर.ए.पी.आर. 233 : आर बनाम चैंग, (1976) 63 सी.आर.ए.पी.आई.पी. 20 (सी. ए.)।" हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 90.15 में की गई इस सिफारिश से सहमत है कि धारा को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाए :

स्मृति ताजा करना

159. कोई साक्षी, जब वह परीक्षाधीन है, अपनी स्मृति को ताजा कर सकेगा—

(1) (क) किसी ऐसे दस्तावेज को देखकर जो कि स्वयं उसके उस संव्यवहार के समय, जिसके संबंध में उससे प्रश्न किया जा रहा है, या इतने शीघ्र पश्चात् बनाया हो कि न्यायालय इसे संभाव्य समझता हो कि जहां संव्यवहार उस समय उसकी स्मृति में ताजा था;

(ख) किसी ऐसे दस्तावेज को भी देख करके, जो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा तैयार किया गया हो और उस साक्षी द्वारा उपर्युक्त समय के भीतर पढ़ा गया हो, यदि वह उस दस्तावेज का, उस समय जबकि उसने पढ़ा या देखा या सही होना जानता था;

(ग) न्यायालय की अनुज्ञा से, ऐसे किसी दसतावेज की प्रतिलिपि देखकर, परन्तु यह तब जबकि न्यायालय का समाधान हो गया हो कि मूल को पेश न करने के पर्याप्त कारण हैं।

(2) कोई विशेषज्ञ अपनी स्मृति वृतिक पुस्तकों को देखकर या वृतिक पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख को पढ़कर ताजी कर सकेगा।"

धारा 160 :

इस धारा का शीर्षक है "धारा 159 में वर्णित दस्तावेज में कथित तथ्यों के लिए परिसाक्ष्य"। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

"160. कोई साक्षी किसी ऐसी दस्तावेज में, जैसी धारा 159 में वर्णित है, वर्णित तथ्यों का भी, चाहे उसे स्वयं उन तथ्यों का विनिर्दिष्ट स्मरण न हो, परिसाक्ष्य दे सकेगा, यदि उसे यकीन है कि वे तथ्य उस दस्तावेज में ठीक ठीक अभिलिखित थे"

धारा 160 के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है, जिसका पाठ निम्नलिखित है :

दृष्टांत :

''कोई लेखाकार कारबार के अनुक्रम में नियमित रूप से रखी जाने वाली बहियों में उसके द्वारा अभिलिखित तथ्यों का परिसाक्ष्य दे सकेगा, यदि वह जानता हो कि बहियां ठीक ठीक रखी गई थीं, यद्यपि वह प्रविष्टि किए गए विशिष्ट संव्यवहारों को भूल गया हो।''

यह धारा ऐसे मामलों के बारे में है जहां स्मृति ताजा नहीं की जा सकेगी। हमने धारा 159 के बारे में चर्चा करते समय इस धारा और धारा 159 के बीच अन्तर का निर्देश किया है।

धारा 160 में 'दस्तावेज' शब्द का प्रयोग किया गया है और हमने धारा 159 में भी 'दस्तावेज' शबद का प्रयोग करने की सिफारिश की है।

उच्चतम न्यायालय ने **क्रान्ति** बनाम **पुरुषोत्तमदास** : ए.आई.आर. 1969 सु.को. 851, मामले में, उच्च न्यायालय के कतिपय निर्णयों को रद्द करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है कि दस्तावेज के प्रयोग किए जाने से पूर्व, किसी साक्षी को विशिष्ट रूप में यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उसे उन तथ्यों की विशिष्ट स्मृति नहीं है और यह कि उसे यकीन है कि तथ्य दस्तावेज में ठीक ठीक अभिलिखित किए गए थे। यही पर्याप्त है कि यदि उसके साक्ष्य से ऐसा प्रतीत हो कि ये शर्तें स्थापित हैं।

धारा 160, धारा 159 में निर्देशित दस्तावेज में वर्णित तथ्यों के परिसाक्ष्य की अनुज्ञा देती है, यद्यपि उसे तथ्यों की स्मृति नहीं है परन्तु यकीन है कि तथ्य दस्तावेज में तथा जन्मपत्री में ठीक ठीक अभिलिखित किए गए थे। (**सावित्री बाई** बनाम **सीताराम** : ए.आई.आर. 1986 एम. पी. 218)

जियाउद्दीन बनाम **बृजमोहन** : ए.आई.आर. 1975 सु.को. 1788, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उन लोगों द्वारा तैयार किया गया पूरा शार्ट हैंड प्रतिलेख, जिन्होंने भाषण को सुना था, उनकी स्मृति को ताजा करने के लिए प्रयोग किया जा सकेगा। **लक्ष्मी नारायण** बनाम **रिटर्निंग ऑफिसर** : ए.आई.आर. 1974 सु.को. 66, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि कोई लेख इसलिए अग्राह्य नहीं हो जाएगा कि प्रतिपक्षी उसका आशय नहीं निकाल पाता है।

किसी पुलिस अधिकारी की विशेष डायरी का उपयोग उस पुलिस अधिकारी द्वारा किया जा सकेगा, किसी अन्य साक्षियों द्वारा नहीं; **आर** बनाम **मन्नू** : आई.एल.आर. 19 ए.एल.एल. 390 (एफ. बी.); **दलसिंह** बनाम **आर** : ए.आई.आर. 1917 पी.सी. 25 मामले में स्वीकृत।

साक्षी के साक्ष्य कक्ष में प्रवेश करने से पूर्व पुलिस का कथन उसे पढ़कर सुनाए जाने से, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162(1) में किए गए निषेध का उल्लेघन नहीं होता है, यद्यपि कथन के पढ़े जाने के तथ्य से साक्षी के साक्ष्य का संभावित महत्व प्रभावित होगा (**नाथू** बनाम **राज्य : ए.आई. आर. 1978 गुजरात 49**) (एफ.बी.) (देखें धारा 154 के अधीन चर्चा)

69वीं रिपोर्ट के पैरा 916 में यह विचार व्यक्त किया गया था कि धारा 160 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है और हम इससे सहमत हैं।

धारा 161 :

यह धारा 'स्मृति ताजी करने के लिए प्रयुक्त लेख के बारे में प्रतिपक्षी के अधिकार' का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''161. पूर्ववर्ती अन्तिम दो धाराओं के उपबंधों के अधीन निर्देशित कोई लेख पेश करना और प्रतिपक्षी को दिखाना होगा, यदि वह उसकी अपेक्षा करे। ऐसा पक्षकार, यदि वह चाहे, उस साक्षी से उसके बारे में प्रतिपरीक्षा कर सकेगा।''

इसमें धारा 159 और 160 का निर्देश है और धारा 159 की भाषा के अनुसार, यह ऐसे दस्तावेजों के लिए लागू होती है, जो साक्षी के परीक्षाधीन रहते उसकी स्मृति को ताजा करने के लिए प्रयुक्त किए जाते हो :

परन्तु, यह अभिनिर्धारित किया गया है कि प्रतिरक्षा के वकील को पुलिस के रोजनामचे की प्रविष्टियों के बारे में पुलिस अधिकारी की प्रतिपरीक्षा करने की अनुज्ञा नहीं होगी जब तक कि पुलिस अधिकारी अपनी स्मृति को ताजा करने के लिए उसका प्रयोग नहीं करता।

पैरा 92.3 में एकमात्र संशोधन का सुझाव दिया गया था कि धारा 159 के अनुरूप, संशोधन के लिए प्रस्तावित रूप में, तथा वर्तमान धारा 160 के अनुरूप 'लेख' शब्द के स्थान पर 'दस्तावेज' शब्द प्रतिस्थापित किया जाए। हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 162 :

यह धारा दस्तावेजों के पेश किए जाने के बारे में है। किसी दसतावेज को पेश करने के लिए समनित साक्षी, यदि वह उसके कब्जे और शक्यधीन हो, ऐसे किसी आक्षेप के होने पर भी, जो उसे पेश करने या ग्राह्यता के बारे में हो, उसे न्यायालय में लाएगा। ऐसे किसी आक्षेप की विधिमान्यता न्यायालय द्वारा विनिश्चित की जाएगी।

न्यायालय, यदि ठीक समझता है तो, दस्तावेज का यदि उसमें राज्य के कार्यकलापों का निर्देश न हो, निरीक्षण कर सकेगा, या उसकी ग्राह्यता अवधारित करने के लिए अन्य साक्ष्य ले सकेगा।

<u>दस्तावेजों को अनुवाद</u> :—यदि ऐसे प्रयोजन के लिए किसी दस्तावेज का अनुवाद कराना आवश्यक हो तो न्यायालय, यदि ठीक समझे, अनुवादक को निर्देश दे सकेगा कि वह उसकी अन्तर्वस्तु को गुप्त रखे, सिवाय जबकि दस्तावेज को साक्ष्य में दिया जाना हो, तथा यदि अनुवादक ऐसे निर्देश की अवज्ञा करे, तो यह धारित किया जाएगा कि उसने भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) की धारा 166 के अधीन अपराध किया है।

इस धारा के बारे में, धारा 123 पर चर्चा करते समय विचार किया गया था और हमने धारा 162 के लिए संशोधन का प्रस्ताव किया है। धारा 123 की चर्चा में की गई सिफारिश को ध्यान में रखा जाना चाहिए। हमने धारा 162 से 'जब तक कि यह राज्य की बातों से संबंधित न हो' शब्दों को निकालने की सिफारिश की है। राज्य की बातों से संबंधित अभिलेख या संसूचना की समस्त प्रक्रिया अब धारा 123 के अधीन आएगी।

<u>धारा 163</u> :

इस धारा का शीर्षक है 'मंगाए गए और सूचना पर पेश किए गए दस्तावेज का साक्ष्य के रूप में पेश किया जाना'। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है:

> "163. जबकि कोई पक्षकार किसी दस्तावेज को, जिसे पेश करने की उसके दूसरे पक्षकार को सूचना दी है, मंगाता है और ऐसा दस्तावेज पेश किया जाता है और उस पक्षकार द्वारा, जिसने उसके पेश करने की मांग की थी, निरीक्षित तो जाता है, तब यदि उसे पेश करने वाला पक्षकार उससे ऐसा करने की अपेक्षा करता है, तो वह उसे साक्ष्य के रूप में देने के लिए आबद्ध होगा।"

69वीं रिपोर्ट के पैरा 94.8 में यह कहा गया था कि इस धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

इस धारा में कहा गया है कि यदि (1) कोई पक्षकार दूसरे पक्षकार की सूचना पर, (देखें धारा 66) दस्तावेज पेश करता है, और (2) बाद वाला पक्षकार दस्तावेज का निरीक्षण करता है, (3) तब उसे मंगाने वाला पक्षकार उसे अपने साक्ष्य के

रूप में देने के लिए आबद्ध होगा, यदि इसे पेश करने वाला पक्षकार ऐसी अपेक्षा करता है। यह, सिविल तथा दांडिक दोनों प्रकार के विचारणों के लिए लागू होता है। (**पश्चिम बंगाल सरकार बनाम संतीराम** : ए.आई.आर. 1930 कलकत्ता 370) दस्तावेज विवाद्यक विषय से सुसंगत होना चाहिए। इस नियम का आधार सरकार द्वारा (1999, 15वां संस्करण, पृष्ट 2375) निम्नलिखित बताया गया है :

> "अपने विपक्षी के दस्तावेजों को देखने के द्वारा, दोनों ही के लिए इसे साक्ष्य के रूप में प्रयोग किए जाने के लिए बाध्य किए बिना, किसी एक को अनुचित लाभ पहुंचाना स्पष्ट रूप से अनुचित होगा ....."

राजेश्वरी बनाम बालकिशन : आई.एल.आर. 9 इलाहाबाद 713 (पी.सी.) भी देखें, जिसमें कहा गया है कि जो पक्षकार किसी पत्र को मंगाता है और उसका निरीक्षण करता है, उसके मौलिक होने का साक्ष्य देने के लिए, यदि वह ग्राह्य न हो।

हम इससे सहमत हैं कि धारा 163 में कोई संशोधन आवश्यक नहीं है।

धारा 164 :

इस धारा का शीर्षक है—'सूचना पाने पर जिस दस्तावेज को पेश करने से इंकार कर दिया जाता है, उसको साक्ष्य के रूप में उपयोग में लाना'। धारा का पाठ निम्नलिखित है :

> "164. जबकि कोई पक्षकार ऐसे किसी दस्तावेज को पेश करने से इंकार कर देता है, जिसे पेश करने की सूचना उसे मिल चुकी है, तब वह तत्पश्चात् उस दस्तावेज को, दूसरे पक्षकार की सम्मति के या न्यायालय के आदेश के बिना साक्ष्य के रूप में उपयोग में नहीं ला सकेगा".

धारा 164 के नीचे एक दृष्टांत दिया गया है, जिसका पाठ निम्नलिखित है :

> "'ख' पर किसी करार के आधार पर 'क' वाद लाता है और वह 'ख' को उसे पेश करने की सूचना देता है। विचारण में 'क' उस दस्तावेज की मांग करता है और 'ख' उसे पेश करने से इंकार करता है। 'क' उसकी अनतर्वस्तु का द्वितीयिक साक्ष्य देता है। 'क' द्वारा दिए गए द्वितीयिक साक्ष्य का खंडन करने के लिए या यह दर्शित करने के लिए कि वह करार स्टाम्पित नहीं है, 'ख' दस्तावेज को ही पेश करना चाहता है। वह ऐसा नहीं कर सकता।

साक्ष्य अधिनियम की धारा 114 के दृष्टांत (छ) के अधीन न्यायाधीश भी उपधारित कर सकेगा कि रोका गया दस्तावेज उस पक्षकार के अननुकूल है जो उसे पेश नहीं करना चाहता है। धारा 89 के अधीन यह उपधारणा की गई है कि मांगा गया दस्तावेज, जो पेश नहीं किया जाता है, विधि द्वारा अपेक्षित प्रकार से अनुप्रमाणित, स्टाम्पित और निष्पादित किया गया था। **देव बनाम कार्केल**, (1834) 6 सी एण्ड पी 527, मामले में यह विचार व्यक्त किया गया कि क्या धारा 164 दांडिक कार्यवाहियों के लिए लागू होती है। आयोग को, जिसने 69वीं रिपोर्ट तैयार की है, यह सुझाव दिया गया था कि धारा का सिविल कार्यवाहियों तक लागू होना सीमित किया जाना चाहिए। आयोग ने ऐसा करने से इंकार कर दिया। हमारा भी यही मत है।

धारा 165 :

यह धारा 'प्रश्न करने या पेश करने का आदेश देने की न्यायालय की शक्ति' के बारे में है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

> "165. न्यायाधीश सुसंगत तथ्यों का पता लगाने के लिए या उनका उचित सबूत अभिप्राप्त करने के लिए, किसी भी रूप में किसी भी समय किसी भी साक्षी या पक्षकारों से किसी भी सुसंगत या विसंगत तथ्य के बारे में कोई भी प्रश्न,

जो वह चाहे, पूछ सकेगा, तथा किसी भी दस्तावेज या चीज को पेश करने का आदेश दे सकेगा, और न तो पक्षकार और न उसके अभिकर्ता हकदार होंगे कि वे किसी भी ऐसे प्रश्न या आदेश के प्रति कोई भी आक्षेप करे, न ऐसे किसी भी प्रश्न के प्रत्युत्तर में दिए गए किसी भी उत्तर पर किसी भी साक्षी को न्यायालय की इजाजत के बिना प्रतिपरीक्षा करने के हकदार होंगे :

परन्तु निर्णय को उन तथ्यों पर, जो इस अधिनियम द्वारा सुसंगत घोषित किए गए हैं, और जो सम्यक् रूप से साबित किए गए हों, आधारित होना होगा :

परन्तु यह भी कि न तो यह धारा न्यायाधीश को किसी साक्षी को किसी ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के लिए या कोई ऐसा दस्तावेज पेश करने को विवश करने के लिए प्राधिकृत करेगी, जिसका उत्तर देने से या जिसे पेश करने से, यदि प्रतिपक्षी द्वारा वह प्रश्न पूछा गया होता या वह दस्तावेज मांगा गया होता, तो ऐसा साक्षी दोनों धाराओं को सम्मिलित करते हुए धारा 121 से धारा 131 पर्यन्त धाराओं के अधीन, इंकार करने का हकदार होता, और न न्यायाधीश कोई ऐसा प्रश्न पूछेगा जिसका पूछना किसी अन्य व्यक्ति के लिए धारा 148 या धारा 149 के अधीन अनुचित होता, और न वह एतस्मिनपूर्व अपवादित दशाओं के सिवाय किसी भी दस्तावेज के प्राथमिक साक्ष्य का दिया जाना अभिमुक्त करेगा।''

यह बहुत महत्वपूर्ण धारा है।

यह धारा, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 11 नियम 14, आदेश 13 नियम 1, 2, आदेश 16 नियम 17, आदेश 18 नियम 17,18 और दंड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 311 के उपबंधों की पूरक है। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 311 के अधीन न्यायालय की शक्तियां अधिक विस्तृत हैं। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 310 के अधीन न्यायालय स्थानीय निरीक्षण कर सकेगा (देखें जमातराज बनाम राज्य : ए.आई.आर. 1968 सु.को. 178)।

धारा 165 का मुख्य भाग न्यायाधीश को कोई भी प्रश्न, जो वह चाहे, किसी रूप में, किसी भी समय, किसी भी साक्षी से, पक्षकार से, किसी भी तथ्य के बारे में, सुसंगत या विसंगत, पूछने की या कोई दस्तावेज या कोई चीज पेश करने का आदेश देने की अनुज्ञा देता है। पक्षकार, प्रश्न या आदेश के बारे में कोई आपत्ति नहीं कर सकेंगे और न ही न्यायालय की अनुमति के बिना, किसी साक्षी की प्रतिपरीक्षा कर सकेंगे।

परन्तु, प्रश्नों का स्वरूप चाहे जैसा भी हो, निर्णय ऐसे तथ्यों पर आधारित होना चाहिए, जो सुसंगत हों और 'सम्यक् रूप से साबित किए गए हों'।

जैसाकि 69वीं रिपोर्ट के अध्याय-25 में बताया गया है, 'सुसंगतता' और 'ग्राह्यता' के बीच अन्तर है। साक्ष्य अधिनियम की धारा 3 में 'सुसंगत', 'साक्ष्य' और 'साबित' शब्द परिभाषित किए गए हैं। अधिनियम की धारा 5 में कहा गया है कि किसी वाद में साक्ष्य विवाद्यक तथ्यों तथा सुसंगत तथ्यों पर दिया जा सकेगा। धारा 5 के स्पष्टीकरण में निम्नलिखित कहा गया है :

''<u>स्पष्टीकरण</u> : यह धारा किसी व्यक्ति को ऐसे तथ्य का साक्ष्य देने के योग्य नहीं बनाएगी जिसमें सिविल प्रक्रिया से संबंधित किसी तत्समय प्रवृत विधि के किसी उपबंध द्वारा यह साबित करने से निर्हकित कर दिया गया है।''

जबकि धारा 5 और अन्य धाराएं सुसंगतता के बारे में निर्देश करती हैं, कतिपय अन्य धाराएं ग्राह्यता का। धारा 65 द्वितीयिक साक्ष्य की ग्राह्यता का निर्देश करती है। इसी प्रकार धारा 65ख, धारा 91 से 94 तक कतिपय प्रकार के साक्ष्यों के अपवर्जन का और धारा 123 से 131 तक में कतिपय प्रश्न पूछने के निषेध, धारा 136 में साक्ष्य की ग्राह्यता के बारे में निर्णय करने की न्यायाधीश को अनुमति का निर्देश है। धारा 148 और 149 न्यायालय को कतिपय प्रश्नों का निषेध करने की शक्ति

प्रदान करती है, इसी प्रकार धारा 151, 152, 153 आदि भी। साक्ष्य अधिनियम की धारा 24 से 27 तक कतिपय प्रश्नों का निषेध करती है और न्यायालय द्वारा कतिपय उत्तरों का प्रयोग किया जाना अपवर्जित करती है।

साक्ष्य अधिनियम, 1872 के अतिरिक्त, कतिपय अन्य विधियां हैं जो कतिपय मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्यों का निषेध करती हैं। स्टाम्प अधिनियम की धारा 35 किसी स्टाम्पित न किए गए दस्तावेज को साक्ष्य में ग्राह्य करने का निषेध करती है। रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 17 कतिपय दस्तावेजों को निषिद्ध करती है, जिनका अन्तर्विष्ट संव्यवहार के साक्ष्य के रूप में प्रयोग किए जाने के लिए रजिस्टर होना अनिवार्य है। दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 162 अन्वेषण के दौरान किए गए किसी ऐसे कथन का खंडन करने या धारा में उल्लिखित अन्यथा के सिवाय, प्रयोग करने का निषेध करती है।

संविधान के अनुच्छेद 20 का खंड (3), कोई ऐसा पूछने का निषेध करता है जो अभियोजनाधीन किसी अभियुक्त को फंसाता है या फंसाने की प्रवृत्ति रखता है।

हमें यहाँ प्रश्नों की ऐसी विस्तृत सूची, जिनका किसी पक्षकार द्वारा प्रतिपक्षी से पूछा जाना निषिद्ध है या ऐसे उत्तरों और दस्तावेजों की सूची, जो विधि कि अनुसार अग्राह्य है, देने की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न यह उठता है कि यदि नीति के आधारों पर, किसी पक्षकार को कतिपय प्रश्न पूछने या कतिपय अग्राह्य मौखिक या दस्तावेजी साक्ष्य को रिकार्ड पर लाने की अनुज्ञा नहीं है तो क्या न्यायालय को ऐसे ही प्रश्न पूछने और उनके उत्तर प्राप्त करने की, जो अग्राह्य हैं, और ऐसे साक्ष्य को प्रयोग करने की मात्र इस कारण से कि उक्त प्रश्न धारा 165 के दूसरे परन्तुक में निर्दिष्ट, साक्ष्य अधिनियम की धारा 121 से 131 तक के अधीन या धारा 148 या 149 के अधीन नहीं आते हैं, अनुमति होगी?

सरकार (1999, 15वां संस्करण, पृष्ट 2319 आदि) ने कहा है कि न्यायाधीश को सच्चाई जानने के लिए और साक्षियों की अयोज्य परीक्षा से उत्पन्न संदेह को, यदि कोई हो, दूर करने के लिए प्रश्न पूछने की सक्रिय भूमिका निभाने का हक प्राप्त है। परन्तु जैसाकि **जोन्स बनाम नेशनल कोल बोर्ड**, 1957 (2) इलाहाबाद ई.आर. 155 (सी.ए.) मामले में लार्ड डैनिंग ने कहा है कि न्यायाधीश, न्यायाधीश का आवरण उतारकर किसी एडवोकेट की भूमिका नहीं निभा सकता।

यह ठीक है कि न्यायाधीश एक 'मूक दृष्टा' नहीं हो सकता परन्तु उसे सक्रिय भूमिका निभानी होती है। फिप्सन ने (ऐवीडेंस, 1999, 15वां संस्करण, पैरा 1.21) कहा है :

> "जब इंग्लिश विचारण के स्वरूप ने अपना आधुनिक संस्थागत स्वरूप धारण किया तब न्यायाधीश की भूमिका निष्पक्ष एम्पायर के समान थी। दांडिक मामलों में अभी भी मुख्य रूप से यही स्थिति है। सिविल मामलों में, कतिपय अपवाद स्वरूप मामलों के सिवाय, ज्यूरी का विचारण समाप्त हो जाने से यह सिद्धान्त थोड़ा कमजोर हो गया। सिविल प्रक्रिया को शासित करने वाले नियमों में, 1999 में किए गए अनेक परिवर्तनों ने आधुनिक न्यायाधीश के लिए हस्तक्षेपकारी भूमिका पर जोर दिया है। जबकि औपचारिक रूप से अधिकरण प्रतिक्रियावादी न्यायाधीश था (इंग्लिश साधारण विधि में विगत शताब्दियों तक — स्वतंत्र न्यायापालिका की अवधारणा) परन्तु अब हमारे यहां क्रियात्मक न्यायाधीश होंगे जिनका कार्य आरम्भिक स्तर पर ही कार्यवाही का भार संभालना और प्रक्रिया का प्रबंधन करना होगा।"

यह यूनाइटेड किंगडम के नए सिविल प्रक्रिया नियम में कहा गया था।

> "दांडिक मामलों में, हाल ही में, राजस्थान राज्य बनाम अनी : ए.आई.आर. 1997 सु.को. 1023, उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि "बहुत सी परिस्थितियों में अल्पभाषिता अच्छी चीज हो सकती है परन्तु विचारण के दौरान किसी न्यायाधीश का मूक बैठे रहना एक आदर्श स्थिति नहीं है। कोई अल्पभाषी न्यायाधीश जन-मानस में एक आदर्श व्यंग-चित्र हो सकता है। परन्तु, विचार के दौरान उसका सक्रिय या गतिशील होने में, ताकि दांडिक न्याय का अन्तिम उद्देश्य प्राप्त हो सके, दांडिक विचारण दो विरोधी पक्षकारों के बीच युद्ध जैसी स्थिति धारण न कर ले और न्यायाधीश दृष्टा या एम्पायर की भूमिका निभाए और अन्त में घोषित करे कि इस दंड में कौन जीता है"

धारा 165 को इसी पृष्ठभूमि में समझा जाना चाहिए। यह धारा, जहां पक्षकारों या वकीलों ने अच्छा कार्य नहीं किया है, वहां सच्चाई जानने के लिए, प्रश्न पूछने की या सक्रिय भूमिका निभाने हेतु न्यायालय को शक्ति प्रदान करती है। धारा 165 का यह उद्देश्य होते हुए, हमारे विचार में, ऐसे प्रश्नों की, यदि पक्षकार द्वारा पूछे जाते हैं, अनुमति देना, जो अनुज्ञेय नहीं हैं, ठीक नहीं होगा। धारा 148 और 149 में पक्षकारों को ऐसे प्रश्न पूछने की अनुमति हो सकती है, जो वाद कार्यवाही में विवाद्यक विषयों से संबंधित नहीं हैं, जब वे किसी साक्षी के साक्ष्य को अविश्वसनीय सिद्ध करना चाहते हैं या उनके शील का निर्देश करते हैं। न्यायालय भी उस सीमा तक जा सकते हैं। ऐसे प्रश्नों को छोड़कर, पक्षकारों से प्रश्न पूछने और असंगत विषयों पर उनके उत्तर प्राप्त करने की अनुमति नहीं है। न्यायालय ऐसे नियमों से आबद्ध है।

धारा 165 का अभिप्राय यह है कि न्यायाधीश को प्रश्न पूछने या दस्तावेज मंगाने का विवेकाधिकार प्राप्त है। न्यायिक रूप से, कोई अपीलीय न्यायालय विवेकाधिकार के गलत प्रयोग के बारे में गलतियां निकाल सकता है। जैसाकि **आर बनाम हरितश्रमण** : आई.एल.आर. 10 बम्बई 185 मामले में कहा गया है, न्यायाधीश सुसंगत तथ्यों को प्रकट किए जाने या सुसंगत तथ्यों को साबित किए जाने के प्रयोजन से कोई असंगत प्रश्न पूछ सकता है। असंगत विषयों पर ऐसी पूछताछ के परिणामस्वरूप सूचक साक्ष्य अभिप्राप्त किया जा सकेगा। (जैसे बैन्थम ने साक्ष्य का साक्ष्य कहा है) (सरकार, 15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 2320)।

कृष्णा बनाम **बालकृष्ण** आई.एल.आर. 57, मद्रास 635 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि न्यायालय किसी पक्षकार द्वारा, सूचक साक्ष्य प्राप्त करने के प्रयोजन के सिवाय, कोई दस्तावेज या चीज पेश किए जाने के आदेश नहीं दे सकेगा, जो किसी सुसंगत बात की जानकारी दे सकेगा।

सरकार (वही, पृष्ठ 2320) ने कहा है कि आगे और भी प्रतिबंध हैं :

> "शक्ति पर आगे और प्रतिबंध पहले परन्तुक में देखा जा सकेगा, जिसमें कहा गया है कि निर्णय सुसंगत तथ्यों पर आधारित होने चाहिए, जो सम्यक् रूप से साबित किए गए हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने निर्णय के आधार के लिए या इसे ज्यूरी के निर्णय के लिए उनके समक्ष रखने हेतु न्यायाधीश किसी भी प्रकार से अवैध या अग्राह्य साक्ष्य स्वीकार नहीं कर सकता। इस दिशा में यह धारा इंग्लिश विधि के अनुरूप है।" (देखें पोस्ट बैस्ट धारा 86)।

यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रश्न चाहे असंगत हों, निर्णय, सम्यक् रूप से साबित, सुसंगत तथ्यों पर, आधारित होना चाहिए। सम्यक् रूप से साबित का यहां अर्थ यह है कि असंगत और अग्राह्य साक्ष्य (यद्यपि यह अन्यथा सुसंगत भी हो) किसी निष्कर्ष का आधार नहीं हो सकते।

न्यायाधीश द्वारा पूछे गए प्रश्न चाहे सुसंगत भी हों, फिर भी वे ग्राह्य और अग्राह्य हो सकेंगे। धारा 165 के अधीन, सुसंगत साक्ष्य प्राप्त करने की दृष्टि से, असंगत प्रश्न भी पूछे जा सकेंगे। ऐसे प्रश्न या तो ग्राह्य होंगे या अग्राह्य। सुसंगतता अपेक्षाकृत एक बड़ा चक्र है जबकि असंगत उस बड़े चक्र के भीतर एक छोटा चक्र है।

क्या अग्राह्य प्रश्न, जिन्हें किसी पक्षकार को पूछने का अधिकार नहीं है, न्यायाधीश द्वारा पूछे जा सकेंगे?

इस विषय पर उच्च न्यायालयों के विभिन्न निर्णयों से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि न्यायाधीश ऐसे प्रश्न नहीं पूछ सकेगा जिनके प्रतिपक्षी द्वारा साक्ष्य अधिनियम या अन्य विधियों के अधीन पूछे जाने की अनुज्ञा नहीं है परन्तु उच्चतम न्यायालय ने **रघुनन्दन** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** : ए.आई.आर. 1974 सु.को. 463, मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसे प्रश्न, जो अग्राह्य हैं, न्यायाधीश द्वारा पूछे जा सकेंगे यदि ऐसे प्रश्न वे नहीं हैं जो धारा 165 के दूसरे परन्तुक में विशिष्ट रूप से अपवर्जित किए गए हैं अर्थात् प्रश्न जो धारा 121–13, 148 और 149 के अधीन आते हैं।

हम उच्च न्यायालयों के कतिपय निर्णयों का निर्देश करेंगे और तत्पश्चात उपर्युक्त निर्दिष्ट उच्चतम न्यायालय के निर्णय का।

न्यायाधीश को प्रदत्त शक्ति का उपयोग पुलिस से की गई या पुलिस अभिरक्षा में की गई अभिस्वीकृति को, धारा 27 में वर्णित के सिवाय, साबित करने के लिए, जो धारा 25 के अधीन अपवर्जित है, या कोई ऐसा कथन कराने के लिए, जो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अधीन किसी जांच या विचारण में किसी प्रयोजन से प्रयोग नहीं किया जा सकेगा, नहीं किया जा सकता। है (**पुलम्मा** बनाम **आर** : 1932 एम. डब्ल्यू. एन. 625)। साक्ष्य अधिनियम की धारा 165, विधि के उल्लंघन में साक्ष्य पुर:स्थापित करने के प्रयोजन से प्रयोग नहीं की जा सकती (**रहिजाद्दी** बनाम **आर** : आई. एल. आर. 58 कलकत्ता 1009)। ऐसे कथन न्यायालय द्वारा भी यह दर्शित करने के लिए प्रयोग नहीं किए जा सकते कि साक्षियों ने पुलिस अधिकारियों से परस्पर विरोधी कथन किए थे (**खैरामत** बनाम **आर** : सी.एल.जे. 528 **मौंग हिटिन** बनाम **मैनेजिंग, पुलिस अधिकारी** : आई.एल.आर 4 रंगून 471)। अन्वेषण के दौरान पुलिस अधिकारी द्वारा तैयार किया गया कोई दस्तावेज केवल इस कारण से साक्ष्य नहीं बन जाता कि यह औपचारिक रूप से साबित और दर्शित किया जा चुका है, **चारू** बनाम **आर** : 99 आई.सी. 240 लाहौर।

तथापि, **आर** बनाम **लाल मियां** : आई. एस. आर. 1943 (1) कलकत्ता 543, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि कोई न्यायाधीश पुलिस के रोजनामचे में अभिलिखित किए गए साक्षियों के पूर्वतन कथनों को देख सकेगा, यद्यपि प्रतिरक्षा ने तो उससे ऐसा अनुरोध ही किया है और ना ही ऐसे कथनों की प्रतियां प्राप्त करने के लिए कोई आवेदन ही किया है, और यदि न्याय के हित की अपेक्षा है तो, न्यायाधीश स्वयं धारा 165 के अधीन, ऐसे कथनों तथा न्यायालय में साक्षियों द्वारा दिए गए साक्ष्य के बीच महत्वपूर्ण विसंगतियों को प्रकाश में लाने के लिए, साक्षियों से प्रश्न पूछ सकेगा। **रि मोलागन** : ए आई आर 1953 मद्रास 179 मामले में, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि न्यायाधीश पुलिस का रोजनामचा अपने समक्ष रखकर, अभियुक्त के हित में, पुलिस अधिकारी से अभियुक्त के कथन के बारे में ऐसे प्रश्न पूछ सकेगा जो अभियुक्त के हित में हों। **पी. राजेश्वर** बनाम **होटल इम्पीरियल** : ए आई आर 1989 मद्रास 34, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि मोटर दुर्घटना द्वारा अधिकरण का यह दायित्व है कि वह उपलब्ध साक्ष्य से या धारा 105 के अधीन उपबंधित जैसा साक्ष्य प्राप्त करके, या दोनों पक्षों को आवश्यक साक्ष्य पेश करने के लिए और अवसर प्रदान करके, अन्वेषण के दौरान तैयार किए गए ऐसे दस्तावेजों का पता लगाएगा।

मोहन लाल बनाम **संकला** 6 बम्बई एल आर 789, मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि न्यायालय के लिए विधिक साक्ष्य के रूप में जिसकी विधिक मान्यता है उस रूप में न्यायालय के सामने आने वाली जानकारी के अतिरिक्त, मामले के संबंध में किसी भी प्रकार की अन्य कोई जानकारी प्राप्त करना अनुचित है, चाहे यह सुसंगत हो अथवा नहीं। **अमरनाथ** बनाम **आर** : 851 सी 143 (एल) मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि न्यायाधीश को न्यायालय में दिए गए साक्ष्य का ऐसी सामग्री से जो विधिक रूप से साक्ष्य नहीं बनायी गयी है, परीक्षण करने का कोई अधिकार नहीं है और यह कि ऐसी सामग्री के आधार पर झूठा कहकर साक्षी पर लांछन लगाना भी अनुचित है।

अब हम उच्चतम न्यायालय के दो निर्णयों पर आते हैं, जो न्यूनाधिक, परस्पर विरोधी हैं। **रघुनन्दन** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** : ए आई आर 1974 सुको 463, मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि दंड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 162 द्वारा, अन्वेषण के दौरान पुलिस द्वारा अभिलिखित किए गए साक्षी के कथन को प्रयोग करने के विरुद्ध लगाया गया प्रतिबंध न्याय का उद्देश्य अभिप्राप्त करने के लिए साक्षी से प्रश्न पूछने की, धारा 165 के अधीन न्यायालय को प्राप्त विशेष शक्तियों के विरुद्ध प्रभावी नहीं है। दूसरे परन्तुक के अधीन ऐसे प्रश्न नहीं पूछे जा सकेंगे जो धारा 121—131 और धारा 148-149 के अधीन आते हैं परन्तु दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अधीन नहीं।

दूसरी ओर **हरिराम** बनाम **हीरा सिंह** : ए आई आर 1984 सुको 396, मामले में अभिनिर्धारित किया गया कि (पैरा 5)

> "उच्च न्यायालय की ऐसी धारणा रही प्रतीत होती है कि न्यायालय को भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 165 के अधीन किसी दस्तावेज को पेश करने का निर्देश देने के लिए पर्याप्त शक्तियां प्राप्त हैं। ऐसा करते समय उच्च न्यायालय ने इस बात को अनदेखा कर दिया है कि लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम में एक विशिष्ट अधिनियम

था और साक्ष्य अधिनियम या सिविल प्रक्रिया संहिता के उपबंध केवल वहीं लागू होंगे जहां के लिए वे अपवर्जित नहीं है। इसलिए, हम सादर यहीं कहना चाहेंगे कि प्रारंभ से ही, उच्च न्यायलय के दृष्टिकोण विधिक रूप से गलत था।''

तत्पश्चात्, उच्च न्यायालय ने निर्वाचन नियमों के नियम 93 का निर्देश किया और यह अभिनिर्धारित किया कि यह नियम मतपत्रों तथा निर्वाचन के अन्य पत्रों के बीच स्पष्ट अंतर करता है, मतपत्रों का निरीक्षण केवल सक्षम न्यायालय या अधिकरण के आदेश के अधीन किया जा सकेगा, परन्तु अन्य दस्तावेज, कतिपय शर्तों के अध्यधीन, सार्वजनिक निरीक्षण के लिए खुले हैं। जहां तक प्रतिपर्णों का संबंध है उनका खोला जाना निषिद्ध है जब तक कि न्यायालय का ऐसा समाधान नहीं हो जाता कि यह मास्टर आयरन जैसा कोयला बना दिया गया है।

इसलिए, यदि साक्ष्य अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन धारा 121–131, 148 और 149 के अतिरिक्त, —कतिपय प्रश्न जिनका पूछा जाना पक्षकारों के लिए, उनके अपने-अपने तर्कों के प्रयोजन से, वर्जित है, तब न्यायालय से, धारा 165 की विस्तृत भाषा के कारण, किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए ऐसे प्रश्न पूछे जाने की अपेक्षा नहीं की जाती है। स्टाम्प अधिनियम, रजिस्ट्रीकरण अधिनियम या लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, कोई भी हो, ''बलात्संग विधि'' के बारे में 172वीं रिपोर्ट में हमारी सिफारिश के अनुसार कतिपय प्रश्न पूँछना वर्जित किया गया है और न्यायालय को इन निषिद्ध प्रश्नों को इन क्षेत्रों में या अन्य क्षेत्रों में पूछने की कोई विशिष्ट शक्ति प्राप्त नहीं है।

अतः, हमारा विचार है कि रघुनाथ के मामले में प्रतिपादित सिद्धांत को उपांतरित करने की आवश्यकता है। हमारे विचार में, जहां न्यायाधीश असंगत प्रश्न पूछ सकता है वहां वह अग्राह्य प्रश्न नहीं पूछ सकेगा।

श्री वेपा पी. सारथी ने सुझाव दिया है कि धारा 165 में 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुसार उपांतरण किया जाना चाहिए अर्थात् कतिपय संरचनात्मक परिवर्तन करके। उसने असंगत तथा अग्राह्य प्रश्न पूछे जाने के बारे में न्यायालय की शक्तियों को सीमित करने संबंधी हमारे अन्य प्रस्तावों का समर्थन नहीं किया है। इसके लिए उसने यह कारण दिया है कि अधिनियम में नैसर्गिक न्याय के नियमों के सिवाय कुछ भी अंतर्विष्ट नहीं होता है और उनके लागू किए जाने से मामलों को शीघ्र निपटाया जाना प्रभावित नहीं होगा। साक्ष्य के बारे में इंग्लिश और अमरीकी विधियों में भी बहुत से अपवर्जन नियम दिए गए हैं परन्तु यह कि विधि के अधीन विभिन्न प्रकार के साक्ष्यों के बीच अंतर उनके साथ जुड़े उनके महत्व पर निर्भर करेगा। परन्तु यहां, हमने जो कुछ भी ऊपर कहा है, प्रश्न यह है कि क्या न्यायालय की विस्तृत शक्तियों का प्रयोग अन्य विधियों के स्पष्ट उपबंधों का उल्लंघन करने के लिए किया जाना चाहिए।

इसलिए, यद्यपि 69वीं रिपोर्ट में, धारा 165 के लिए केवल कतिपय संरचनात्मक परिवर्तन सुझाए गए थे, इन्हें स्वीकार करते हुए हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि धारा 165 के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग ऐसे प्रश्नों के लिए नहीं किया जाना चाहिए जो साक्ष्य अधिनियम या अन्य किसी विधि के द्वारा निषिद्ध किए गए हैं।

हम सिफारिश करते हैं कि पुनर्गठित धारा 165 का पाठ निम्नलिखित होगा :

प्रश्न करने या पेश करने का आदेश देने की न्यायाधीश की शक्ति :

''165(1) उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, न्यायाधीश सुसंगत तथ्यों का पता लगाने के लिए या उनका उचित सबूत अभिप्राप्त करने के लिए, किसी भी रूप में, किसी भी समय किसी भी साक्षी या पक्षकारों से किसी भी सुसंगत या विसंगत तथ्य के बारे में कोई भी प्रश्न, जो वह चाहे, पूछ सकेगा तथा किसी भी दस्तावेज या चीज को पेश करने का आदेश दे सकेगा :

परन्तु यह कि न तो पक्षकार और न उनके अभिकर्ता हकदार होंगे—

(क) ऐसे किसी प्रश्न या आदेश के प्रति आक्षेप करने के, या

(ख) ऐसे किसी प्रश्न के प्रत्युत्तर में दिए गए उत्तर पर किसी भी साक्षी की, न्यायालय की अनुमति के बिना, प्रतिपरीक्षा करने के।

(2) उपधारा (1) में कोई भी बात न्यायाधीश को प्राधिकृत नहीं करेगी—

(क) किसी साक्षी से ऐसा प्रश्न पूछने या ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के लिए या ऐसा कोई दस्तावेज पेश करने को विवश करने के लिए, जिसका उत्तर देने से या जिसे पेश करने से, यदि प्रतिपक्षी द्वारा प्रश्न पूछा गया होता या दस्तावेज मांगा गया होता तो, ऐसा साक्षी इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन या तत्समय प्रवृत किसी अन्य विधि के अधीन, इंकार करने का हकदार होता, या

(ख) एतस्मिन पूर्व अपवादित दशाओं के सिवाय, किसी भी दस्तावेज के प्राथमिक साक्ष्य का दिया जाना अभिमुक्त किया जाना।

(3) इस धारा में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, न्यायालय का निर्णय इस अधिनियम के अधीन सुसंगत घोषित किए गए और सम्यक् रूप से साबित किए गए तथ्यों पर आधारित होगा।''

धारा 166 : यह धारा जूरी या 'असेसरों' की प्रश्न करने की शक्ति का निर्देश करती है। इसका पाठ निम्नलिखित है :

''166 जूरी द्वारा या असेसरों की सहायता से विचारित मामलों में जूरी या असेसर साक्षियों से कोई भी ऐसे प्रश्न न्यायाधीश के माध्यम से या इजाजत से कर सकेंगे, जिन्हें न्यायाधीश स्वयं कर सकता हो और जिन्हें वह उचित समझे।''

69वीं रिपोर्ट के अध्याय सतानवें में यह सुझाव दिया गया था (पैरा 97.2) कि जूरी द्वारा विचारण की व्यवस्था इस बीच भारत में समाप्त कर दी गई है। जहां तक असेसरों का संबंध है, असेसरों की भूमिका से संबंधित विशेष विधियों में पर्याप्त उपबंध किए गए हैं। इसलिए धारा 166 निकाल दी जानी चाहिए।

हम इस सुझाव से सहमत हैं।

धारा 167 : यह धारा अध्याय ग्यारह में अंतर्विष्ट है जिसे 'साक्ष्य के अनुचित ग्रहण या अग्रहण के लिए नवीन विचारण नहीं होगा' शीर्षक दिया गया है। इस धारा का पाठ निम्नलिखित है :

''167 साक्ष्य का अनुचित ग्रहण या अग्रहण स्वयंमेव किसी भी मामले में नवीन विचारण के लिए या किसी विनिश्चय के उलटे जाने के लिए आधार नहीं होगा, यदि उस न्यायालय को जिसके समक्ष ऐसा आक्षेप उठाया गया है, यह प्रतीत हो कि आक्षिप्त और गृहीत उस साक्ष्य के बिना भी विनिश्चय को न्यायोचित ठहराने के लिए यथेष्ट साक्ष्य था अथवा यह कि यदि अगृहीत साक्ष्य लिया भी गया होता तो उससे विनिश्चय में फेरफार न होना चाहिए था।''

'विनिश्चय' शब्द सिविल तथा दांडिक दोनों प्रकार के मामलों के लिए लागू होता है। यह धारा एक ऐसे सिद्धांत को मान्यता और दृढ़ता प्रदान करती है जो साक्ष्य अधिनियम के पारित होने से पूर्व तथा पारित होने के पश्चात्, दोनों स्थितियों में, अनेकों मामलों में लागू किया गया है। इस धारा में निर्धारित किया गया नियम न्यायालय में चल रही सिविल तथा दांडिक दोनों प्रकार की कार्यवाहियों के लिए लागू होता है। (**आर बनाम अब्दुल रहीम :** ए आई आर 1946 पी सी 82) **मोहर सिंह बनाम धरिबा :** 8 बेंगे एल आर 495 = 15 डब्लू आर 8 (पी सी)

जहां तक अगृहीत साक्ष्य का संबंध है, प्रश्न इतना यह नहीं है कि क्या अगृहीत साक्ष्य, क्या उस साक्ष्य से विनिश्चय में फेरफार न हुआ होता जैसे किसी अन्य परिसाक्ष्य या अभिलेख के विरुद्ध स्वीकार न किया गया होता (नारायण बनाम राज्य : ए आई आर 1959 सुको 484)।

सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 99 और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 465 में इस धारा में उल्लिखित सिद्धांतों जैसे ही सिद्धांत निर्धारित किए गए हैं।

इस अभिव्यक्ति में ''न्यायालय जिसके समक्ष ऐसा आक्षेप उठाया जाता है'' अपीलीय न्यायालय भी सम्मिलित है (**आर बनाम पीताम्बर** आई एल आर 2 बम्बई 61)।

स्टीवर्ट बनाम **हैनकाक** ए आई आर 1940 पी सी 128, मामले में प्रिवी काउंसिल ने कहा है कि इस आशय से कि साक्ष्य का अभिकथित त्रुटिपूर्ण ग्रहण नए विचारण का आधार बन सके, इससे कोई तात्विक दोष या न्याय में विफलता कारित होनी चाहिए जहां कतिपय साक्ष्य, अन्य मामलों के साबित किए जाने के अध्यधीन, और ऐसे पर्याप्त निर्देशों के अधीन कि जब तक वे शर्तें पूरी नहीं होगी सशर्त गृहीत किए गए हैं, यह मामले का साक्ष्य नहीं होगा और कोई तात्विक दोष कारित हुआ नहीं कहा जाएगा।

यदि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन कोई कथन साक्ष्य के रूप में नहीं लिया जा सकता तो, धारा 167 के होने का प्रश्न ही नहीं उठता (रनजीत मंडल बनाम राज्य) : 1977 क्रिमिनल एल जे 1986 (कलकत्ता)।

वास्तव में, अपीलीय न्यायालयों, सिविल तथा दांडिक, द्वारा हस्तक्षेप के क्षेत्र के बारे में तथा न्यायालयों के विवेकाधिकार के बारे में पर्याप्त निर्णय जनित विधि उपलब्ध है। उसका निर्देश करना आवश्यक नहीं है।

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि धारा 167 के बारे में किसी संशोधन की सिफारिश नहीं की जा रही है। हम इससे सहमत हैं।

अस्थायी उपबंध

हम प्रस्ताव करते हैं कि इस रिपोर्ट में जिन संशोधनों की सिफारिश की गई है, जहां तक उनके लंबित सिविल कार्यवाहियों में साक्ष्य के लिए लागू होने का संबंध है, वे केवल तभी लागू होंगे यदि, साक्षियों का साक्ष्य (पक्षकार के साक्षियों सहित), भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2003 के प्रवर्तन की तिथि तक, जिसके संबंध में विधेयक रिपोर्ट के साथ संलग्न किया जा रहा है, आरंभ नहीं हुआ है।

हम यह भी कहना चाहेंगे कि क्योंकि दस्तावेजों को, किसी साक्षी के साक्ष्य के दौरान, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 13 के अधीन चिह्नित किया जाना होता है, दस्तावेजों को ग्रहण करने संबंधी संशोधन भी, केवल वहीं लागू होंगे जहां साक्षियों का साक्ष्य (पक्षकार के साक्षियों सहित) उक्त संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि तक आरंभ नहीं हुआ है।

हम यह भी कहना चाहते हैं कि प्रस्तावित संशोधन अधिनियम में संशोधनकारी उपबंधों के संबंध में जहां वर्तमान मूल उपबंध में केवल स्पष्टीकरण जोड़े जाने की सिफारिश की गई है और किसी अन्य संशोधन का प्रस्ताव नहीं किया गया है, तब उक्त संशोधित उपबंध प्रस्तावित संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि को लंबित सभी वादों या सिविल कार्यवाहियों के लिए लागू होंगे, साक्षियों की परीक्षा, पक्षकारों सहित, चाहे आरंभ हुई हो अथवा नहीं।

जहां तक दांडिक कार्यवाहियों के लिए लागू होने वाले प्रस्तावित संशोधनों का संबंध है, वे संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व किए गए और न्यायालय के विचाराधीन अपराधों के लिए लागू नहीं होंगे। वे केवल उन दांडिक कार्यवाहियों के लिए लागू होंगे जो संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन के पश्चात् किए गए अपराधों के संबंध में होगा।

अस्थायी उपबंधों का पाठ निम्नलिखित है :

अस्थायी उपबंध :

"(1) इस अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि को लंबित सभी वाद या सिविल कार्यवाहियां, जिनमें पक्षकारों सहित साक्षियों की परीक्षा इस अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि से पूर्व आरंभ हो चुकी है, उपधारा (2) में अन्यथा उपबंधित के सिवाय, मूल अधिनियम, जैसा कि यह इस अधिनियम के प्रवर्तन के ठीक पूर्व अस्तित्व में था, के उपबंधों के अनुसार निपटाए जाएंगे, जैसे कि यह अधिनियम प्रभावी नहीं हुआ था।

(2) मूल अधिनियम के निम्नलिखित उपबंध, जहां तक कि वे इस अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि को न्यायालय में लंबित किसी वाद या सिविल कार्यवाही में प्रक्रिया से संबंधित हैं, इस अधिनियम द्वारा संशोधित रूप में लागू होंगे :—

(क) मूल अधिनियम की धारा 11 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 6 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ख) मूल अधिनियम की धारा 13 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 8 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ग) मूल अधिनियम की धारा 57 की उपधारा (1) के उपबंध इस अधिनियम की धारा 34 द्वारा संशोधित रूप में ;

(घ) मूल अधिनियम की धारा 67 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 41 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ङ) मूल अधिनियम की धारा 74 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 43 द्वारा संशोधित रूप में ;

(च) मूल अधिनियम की धारा 76 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 44 द्वारा संशोधित रूप में ;

(छ) मूल अधिनियम की धारा 77 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 45 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ज) मूल अधिनियम की धारा 119 के उपबंध इस अधिनियम की धारा द्वारा संशोधित रूप में ;

(2) इस अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व किए गए अपराधों से संबंधित सभी दांडिक कार्यवाहियाँ जो इस अधिनियम की प्रवर्तन की तिथि को लंबित थीं, मूल अधिनियम के उपबंधों के अनुसार, जैसाकि यह इस अधिनियम के प्रवर्तन के ठीक पूर्व अस्तित्व में था, निपटाई जाएंगी, जैसे कि यह अधिनियम प्रभावी नहीं हुआ था।"

अध्याय-तीन

सिफारिशों का सारांश

धारा 1 :

धारा 1 में निम्नलिखित शब्दों को हटाया जाए :

> ''आर्मी एक्ट (44 तथा 45 विक्ट, आ. 58), नेवल डिसिप्लिन एक्ट (29 तथा 30 विक्ट, अ. 109), या इण्डियन नेवी (डिसिप्लिन) एक्ट, 1934 (1934 का 34) [या एयरफोर्स एक्ट (7 आ 5 अ, 51) के अधीन संयोजित सेना न्यायालयों से भिन्न]''

धारा 3 :

''न्यायालय'' शब्द की परिभाषा

> साक्ष्य अधिनियम के प्रयोजनों के लिए न्यायालय की परिभाषा में सभी राजस्व न्यायालयों को सम्मिलित करने की आवश्यकता नहीं है। साक्ष्य अधिनियम के उपबंध लागू होंगे अथवा नहीं इस प्रश्न का समाधान अधिकरण के स्वरूप, अवधारित जांच के स्वरूप और ऐसे प्रत्येक राजस्व न्यायालय की विशिष्टियों पर निर्भर करेगा और राजस्व न्यायालयों के साथ संव्यवहार करने वाले उपयुक्त विधानमंडल या निगम बनाने वाले प्राधिकरण से संबंधित होगा। इसलिए, हम साक्ष्य अधिनियम को सभी राजस्व न्यायालयों पर लागू करने के पक्ष में नहीं हैं।

साक्ष्य की परिभाषा : ''अभिप्रेत है और'' शब्दों का लोप किया जाए।

दस्तावेज की परिभाषा : ''दस्तावेज'' शब्द के अर्थ को यह बताते हुए विस्तृत किया गया है कि 'दस्तावेज' के अन्तर्गत आएगा कोई भी पदार्थ जिस पर शब्दों, अंकों या चिह्नों या किसी अन्य माध्यम से या इनमें से एक से अधिक माध्यमों द्वारा, लिखित, अभिव्यक्त, अन्तर्लिखित, वर्णित या अन्यथा अभिलिखित कोई भी विषय जिसका उसे अभिलेखन प्रयोजन से उपयोग किया जाना आशयित है या किया जा सके। एक स्पष्टीकरण भी तैयार किया है जो कहता है कि वह तत्वहीन समझा जाएगा कि शब्द, अंक या चिन्ह किस माध्यम से प्रारूपित, स्पष्ट या पुनः अभिप्राप्त किए गए हैं।

''तथ्य'' शब्द की परिभाषा

भ्रम को दूर करने के लिए ''अभिप्रेत है और'' शब्द निकाल दिया जाए।

'विवाद्यक तथ्य' की परिभाषा : ''और सम्मिलित'' शब्दों का लोप किया जाए।

''सुसंगत'' शब्द की परिभाषा

हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं और यह नहीं समझते कि ''सुसंगत'' शब्द की परिभाषा में इसे ''साबित'' शब्द के साथ जोड़कर या अन्य तथ्यों को अधिसम्भाव्य बताते हुए संशोधन किया जाना चाहिए क्योंकि यह अवधारणा धारा 3 में ''साबित'' शब्द की परिभाषा में पहले ही समाविष्ट है।

''साबित'', ''नासाबित'' और ''साबित नहीं हुआ'' शब्दों की परिभाषा

हमारे विचार से ''साबित'', ''नासाबित'', या ''साबित नहीं हुआ'' शब्दों के बारे में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

''भारत'' शब्द की परिभाषा

इस परिभाषा के संबंध में किसी उपांतरण की आवश्यकता नहीं है।

'प्रमाणकर्ता प्राधिकारी', 'डिजिटल हस्ताक्षर', 'डिजिटल हस्ताक्षर प्रमाण-पत्र', 'इलैक्ट्रानिक स्वरूप', 'इलैक्ट्रानिक अभिलेख', 'सूचना', 'इलैक्ट्रानिक अभिलेख प्राप्त करना', 'डिजिटल हस्ताक्षर लेना', 'उपभोक्ता'

उपर्युक्त शब्द हाल ही में सूचना तथा प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 की धारा 2(1) में आए हैं और इनमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

अन्य परिभाषाएं - यदि जोड़ी जानी हैं?

न्यायिक कार्यवाही :

यह उल्लेख कर दिए जाने के पश्चात् कि ''न्यायालय'' शब्द की परिभाषा अन्त:स्थापित नहीं की जानी चाहिए और यह निर्णय न्यायालय के लिए छोड़ना ही उत्तम होगा कि कोई निकाय न्यायालय है अथवा नहीं, हम ऐसा ही ठीक समझते हैं, इस पहलू का भी विधि के विशिष्ट उपबंधों के आधार पर निर्णय किया जाना आवश्यक होगा।

ग्राह्य :

''ग्राह्य'' शब्द को साक्ष्य में ग्राह्य रूप में परिभाषित किया जाए।

धारा 4 :

धारा 4 में ''उपधारण कर सकेगा'', ''उपधारण करेगा'' और ''निश्चायक सबूत'' शब्द परिभाषित किए गए हैं।

हमारा भी यही विचार है कि किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 5 :

इस धारा में स्पष्टीकरण के विद्यमान उपबंध विभिन्न प्रश्नगत क्षेत्रों के अन्तर्गत आते हैं अत: स्पष्टीकरण के संशोधन की आवशकता नहीं है।

धारा 6 :

हम 69वीं रिपोर्ट में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 6 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 7 :

हम 69वीं रिपोर्ट में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 6 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 8 :

हम 69वीं रिपोर्ट में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 8 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 9 :

हम धारा 9 में केवल इस संशोधन का सुझाव देते हैं कि आरम्भिक भाग में 'तथ्यों' शब्द के पश्चात् और 'आवश्यक' शब्द से पहले ''जो है'' शब्द जोड़े जाने चाहिए।

धारा 10 :

(अ) धारा 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश का आंशिक उपांतरण करके निम्नलिखित रूप में पुनरीक्षित की गई है :

सामान्य परिकल्पना के बारे में षडयंत्रकारी द्वारा कही या की गई बातें

"10. जहां -

(क) कोई अपराध या अनुयोज्य दोष करने के लिए षडयंत्र का अस्तित्व है या यह तथ्य कि कोई व्यक्ति ऐसे षडयंत्र में शामिल था, विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य है; और

(ख) प्रश्न यह है कि दो या अधिक व्यक्तियों ने मिलकर यह षडयंत्र किया है; वहां उनके सामान्य आशय के बारे में उनमें से किसी एक व्यक्ति द्वारा उस समय के पश्चात् जब ऐसा आशय उनमें से किसी एक ने प्रथम बार मन में धारण किया, कही, की, या लिखी गई कोई बात उनमें से हर एक व्यक्ति के विरूद्ध जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि उन्होंने इस प्रकार षडयंत्र किया है, षडयंत्र का अस्तित्व साबित करने के प्रयोजनार्थ उसी प्रकार सुसंगत तथ्य है जिस प्रकार यह दर्शित करने के प्रयोजनार्थ कि ऐसा कोई व्यक्ति उसका पक्षकार था।"

(आ) 69वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है कि धारा 10 के नीचे इस समय जो दृष्टांत दिया गया है, परिणामिक संशोधन के साथ उसे यथावत रखा जा सकेगा।

दृष्टांत में परिवर्तन करने के बजाय, हम सिफारिश करते हैं कि इसे छोड़ दिया जाना चाहिए।

धारा 11 :

हम 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश से सहमत नहीं है और हम धारा 11 में खंड (2) के पश्चात् और दृष्टांत से पूर्व निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्त:स्थापित करने की सिफारिश करते हैं :

"**स्पष्टीकरण** : उन तथ्यों का जो अन्यथा सुसंगत नहीं हैं परन्तु जो इस धारा के अधीन सुसंगत हो जाते हैं, इस अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन सुसंगत होना अनिवार्य नहीं है परन्तु उनकी सुसंगति की मात्रा उस सीमा पर निर्भर करेगी जो, न्यायालय के विचार में, उनको विवाद्यक तथ्यों या सुसंगत तथ्यों से अधिसंभाव्य बनाती है।"

धारा 12 :

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 12 के शीर्षक और संरचना में "नुकसानी" शब्द से पहले "प्रतिकर या" शब्द अन्त:स्थापित किए जाएं।

धारा 13 :

आयोग ने 69वीं रिपोर्ट में धारा 13 के नीचे निम्नलिखित स्पष्टीकरण तथा एक अपवाद अन्त:स्थापित करने की सिफारिश की है :

"**स्पष्टीकरण:** कोई पूर्ववर्ती विधिक कार्यवाही चाहे वह उन्हीं पक्षकारों या उनके संसर्गियों के बीच की थी या नहीं, इस धारा के अर्थ के भीतर एक संव्यवहार या उदाहरण के रूप में सुसंगत हो सकेगी, और जब कोई विधिक कार्यवाही इस धारा के अधीन इस प्रकार सुसंगत हो जाती है तब उस कार्यवाही में दिया गया निर्णय

ऐसी विधिक कार्यवाही के साक्ष्य के रूप में स्वीकार्य हो जाता है परन्तु वह तथ्यों के निष्कर्षों या निर्णय में अन्तर्विष्ट कारणों को सुसंगत नहीं बना सकेगा।

अपवाद : इस धारा में कोई भी बात दस्तावेजों में सीमाओं के कथनों को जो उन्हीं पक्षकारों के या उनके संसर्गियों के बीच के नहीं हैं, सुसंगत नहीं बनाएगी।

69वीं रिपोर्ट में दस्तावेजों में, जो वाद के पक्षकारों के हैं, सीमाओं के परिवर्णन को अपवर्जित रखने के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया गया है। अतः अपवाद के लिए की गई सिफारिश को छोड़ दिया जाए।

यह सिफारिश की जाती है कि धारा 13 के नीचे निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़े जाएं :

स्पष्टीकरण I—कोई पूर्ववर्ती विधिक कार्यवाही चाहे वह उन्हीं पक्षकारों या उनके संसर्गियों के बीच की थी या नहीं, इस धारा के अर्थ के भीतर एक संव्यवहार या उदाहरण के रूप में सुसंगत हो सकेगी और जब कोई विधिक कार्यवाही इस धारा के अधीन इस प्रकार सुसंगत हो जाती है तब उस कार्यवाही में दिया गया निर्णय या आदेश ऐसी विधिक कार्यवाही, तथ्यों के निष्कर्षों के साक्ष्य के रूप में स्वीकार्य हो जाता है परन्तु ऐसे निर्णय या आदेश में अन्तर्विष्ट उनके कारण सुसंगत नहीं होते, परन्तु इस स्पष्टीकरण की किसी भी बात से किसी अन्य धारा के अधीन किसी निर्णय या आदेश की सुसंगति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

स्पष्टीकरण II—दस्तावेजों में किए गए कथन, जो उन्हीं पक्षकारों के या उनके संसर्गियों के बीच के नहीं है, अचल सम्पत्तियों के सीमा संबंधी कथनों सहित, किसी विधिक कार्यवाही में सुसंगत होंगे।

धारा 14 :

69वीं रिपोर्ट में आयोग ने कहा है (देखें पैरा 8.154) कि धारा 14 में, दृष्टांत (ज) में रिपोर्ट के पैरा 8.150 में दर्शाए गए रूप में के अतिरिक्त, किसी अन्य संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

आयोग ने 69वीं रिपोर्ट के पैरा 8.150 में निम्नलिखित रूप में बताया है :

> "दृष्टांत (ज) में जहां यह बताया गया है कि यह तथ्य उस सम्पत्ति के खो जाने की लोक सूचना उस स्थान में, जहां 'क' था, दी जा चुकी थी, यह दर्शित करने के नाते सुसंगत है कि अभियुक्त 'क' को सूचना के बारे में ज्ञान था। अतः यह वांछनीय होगा कि दृष्टांत (ज) में "उस स्थान में जहां 'क' था" शब्दों के पश्चात् "और ऐसे तरीके से कि 'क' को इसका ज्ञान था अथवा शायद उसे इसका ज्ञान था" जोड दिए जाएं। हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।"

हम इस सिफारिश से सहमत है।

धारा 15 :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 8.176 में बताया गया है कि विधि में किसी परिवर्तन की सिफारिश नहीं की गई है।

हमने, उक्त सिफारिश से भिन्न, सिफारिश की है कि धारा 15 को निम्नलिखित रूप में पुनरीक्षित किया जाए :

कार्य आकस्मिक या साशय था इस प्रश्न पर प्रकाश डालने वाले तथ्य

15. जब कि प्रश्न यह है कि कार्य आकस्मिक या साशय था या किसी विशिष्ट ज्ञान या आशय से किया गया था तब यह तथ्य कि ऐसा कार्य समरूप घटनाओं की आवली का भाग था जिसमें से हर एक घटना के साथ कार्य करने वाला वही व्यक्ति सम्पृक्त था, सुसंगत है।

धारा 16 :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 8.187 में कहा गया है कि इसमें संशोधन की आवश्यकता नहीं है और हम इस दृष्टिकोण से सहमत हैं।

धारा 17 :

यह धारा ''स्वीकृतियों'' की सुसंगता से संबंधित है। इसमें ''इलैक्ट्रानिक रूप में अन्तर्विष्ट'' शब्द जोडकर इसे आयकर अधिनियम, 2000 (अधिनियम 21/2000) द्वारा संशोधन किया गया था।

69वीं रिपोर्ट (देखें पैरा 9.24) में कहा गया था कि धारा 17 में संशोधन की आवश्यकता नहीं है। उत्तरवर्ती निर्णय जन्य विधि के अध्ययन के पश्चात् हमारा मत है कि उपर्युक्त दृष्टिकोण से असहमत होने का कोई कारण नहीं है।

धारा 18 :

69वीं रिपोर्ट (देखें पैरा 9.26) में यह बताया गया था कि धारा 18 के (i) अभिव्यक्ति (ii) तात्पर्य और (iii) संरचना और संयोजन में आंशिक परिवर्तन की आवश्यकता है।

हम जिन सुझावों से पूरी तरह सहमत हैं उनके अनुसार पैरा 1 को दो भागों में बांटे जाने की आवश्यकता है; एक पक्षकार संबंधी स्वीकृतियों के लिए और दूसरा अभिकर्त्ता संबंधी स्वीकृतियों के और 'वाद' शब्द के स्थान पर 'सिविल कार्यवाही' प्रतिस्थापित करना। ''प्रतिनिधिक हैसियत'' अथवा ''साम्पत्तिक या धन संबंधी हित'' शब्दों को इस आशय से जोडा जाए कि स्वीकृतियां उनसे संबंधित व्यक्ति अथवा हित के चालू रहने के दौरान में की गई। इन संशोधनों के साथ, यह सिफारिश करते है कि धारा को निम्नलिखित रूप में पढ़ा जाएगा :

कार्यवाही के पक्षकार या उसके अभिकर्त्ता द्वारा अथवा विषय-वस्तु में हितबद्ध पक्षकार द्वारा अथवा उस व्यक्ति द्वारा जिससे हित व्युत्पन्न हुआ हो द्वारा स्वीकृतियां

''18. (1) इस धारा के अन्य उपबंधों के होते हुए वे कथन स्वीकृतियां हैं, जिन्हें कार्यवाही के किसी पक्षकार ने किया हो जो उसके हित के विरुद्ध हो।

(2) वे कथन स्वीकृतियां है, जिन्हें कार्यवाही के किसी पक्षकार ने किया हो, या ऐसे किसी पक्षकार के ऐसे किसी अभिकर्त्ता ने किया हो जिसे मामले की परिस्थितियों में न्यायालय उन कथनों को करने के लिए उस पक्षकार द्वारा अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से प्राधिकृत किया हुआ मानता है।

(3) सिविल कार्यवाही के ऐसे पक्षकारों द्वारा, जो प्रतिनिधिक हैसियत में कार्यवाही कर रहे हों, या जिन पर प्रतिनिधिक हैसियत में कार्यवाही की जा रही हो, किए गए कथन, जब तक कि वे उस समय न किए गए हों, जबकि उनको करने वाला पक्षकार वैसी हैसियत धारण करता था, स्वीकृति नहीं है।

(4) ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए हैं, जिनका कार्यवाही की विषय-वस्तु से कोई संयुक्त सांपत्तिक या धन संबंधी हित है और जो इस प्रकार हितबद्ध व्यक्तियों की हैसियत में वह कथन करते हैं, निम्नलिखित बातों को पूरा करने पर स्वीकृतियां हैं :

(क) ऐसे व्यक्ति द्वारा, हितबद्ध व्यक्तियों की हैसियत से किए गए कथन और उन्हें करने वाले व्यक्तियों के हित के चालू रहने के दौरान किए गए हैं।

(ख) विषय-वस्तु की कार्यवाही से संबंधित कथन।

(5) ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए कथन, जिनसे सिविल कार्यवाही के पक्षकारों का सिविल कार्यवाही की विषय-वस्तु में अपना हित व्युत्पन्न हुआ है, स्वीकृतियां हैं, यदि वे कथन उन्हें करने वाले व्यक्तियों के हित के चालू रहने के दौरान में किए गए हैं।''

धारा 19 :

हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं कि धारा 19 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है किन्तु 'वाद' शब्द के स्थान पर 'सिविल कार्यवाही' शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिएं।

धारा 20 :

हमें इस मामले में कुछ भी नया नहीं कहना है और हम भी सिफारिश करते हैं कि 'वाद' शब्द के स्थान पर 'सिविल कार्यवाही' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं।

धारा 21 :

1977 के पश्चात्, जब 69वीं रिपोर्ट प्रस्तुत की गई थी, हमें धारा 21 के संबंध में विधि में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए नहीं प्रतीत होते हैं और इसलिए, की गई सिफारिश के बारे में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। संशोधित धारा 21 का पाठ निम्नलिखित है :—

स्वीकृतियों का उन्हें करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध और उनके द्वारा या उनकी ओर से साबित किया जाना

''21. (1) स्वीकृतियां संगत हैं और उन्हें निम्नलिखित व्यक्तियों के विरुद्ध साबित किया जा सकता है, अर्थात्—

(क) उन्हें करने वाले व्यक्ति के या उसके हित प्रतिनिधि के विरुद्ध;

(ख) अभिकर्त्ता द्वारा की गई स्वीकृति की दशा में, जहां मामला धारा 18 की उप-धारा (2) के अन्तर्गत आता है, अभिकर्त्ता के प्रमुख के विरुद्ध;

(ग) धारा 18 की उप-धारा (4) के अन्तर्गत आने वाले मामलों में ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई स्वीकृति, जिसकी कार्यवाही की विषय-वस्तु में कोई संयुक्त साम्पत्तिक या धन संबंधी हित है, किसी अन्य व्यक्ति, जिसका विषय-वस्तु में संयुक्त सांपत्तिक या धन संबंधी हित है, के विरुद्ध;

(घ) धारा 19 के अधीन आने वाले मामले में ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई स्वीकृति, जिसकी किसी पक्षकार के विरुद्ध स्थिति या दायित्व साबित करना आवश्यक होता है, उसी पक्षकार के विरुद्ध;

(ङ) धारा 20 के अधीन आने वाले मामले में ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई स्वीकृति जिसको पक्षकार ने जानकारी के लिए अभिव्यक्त रूप से निर्दिष्ट किया है, उस पक्षकार के विरुद्ध जिसने जानकारी के लिए अभिव्यक्त रूप से निर्दिष्ट किया है;

(2) स्वीकृतियां, उन्हें करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से या उसके हित प्रतिनिधि द्वारा निम्नलिखित अवस्थाओं में के सिवाय उन्हें साबित नहीं किया जा सकेगा—

(क) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, जबकि वह इस प्रकृति की है कि यदि उसे करने वाला व्यक्ति मर गया होता, तो वह अन्य व्यक्तियों के बीच धारा 32 के अधीन सुसंगत होती;

(ख) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, जबकि वह मन की या शरीर की सुसंगत या विवक्ष किसी दशा के अस्तित्व का ऐसा कथन है जो उस समय या उसके लगभग किया गया था जब मन की या शरीर की ऐसी दशा विद्यमान थी और ऐसे आचरण के साथ है जो उसकी असत्यता को अनधिसम्भाव्य कर देता है;

(ग) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, यदि वह स्वीकृति के रूप में नहीं किन्तु अन्यथा सुसंगत है।

दृष्टांत:

(क) 'क' और 'ख' के बीच प्रश्न यह है कि अमुक विलेख कूटरचित है या नहीं। 'क' प्रतिज्ञात करता है कि वह असली है, 'ख' प्रतिज्ञात करता है कि वह कूटरचित है।

'ख' का कोई कथन कि विलेख असली है, 'क' साबित कर सकेगा तथा 'क' का कोई कथन कि विलेख कूटरचित है, 'ख' साबित कर सकेगा। किन्तु 'क' अपना कथन कि विलेख असली है साबित नहीं कर सकेगा और न 'ख' ही अपना यह कथन कि विलेख कूटरचित है साबित कर सकेगा।

(ख) किसी पोत के कप्तान 'क' का विचारण ऐसे पोत को संत्यक्त करने के लिए किया जाता है।

यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य दिया जाता है कि पोत अपने उचित मार्ग से बाहर ले जाया गया था।

'क' अपने कारबार के मामूली अनुक्रम में अपने द्वारा रखी जाने वाली वह पुस्तक पेश करता है जिसमें वे संप्रेषण दर्शित हैं, जिनके बारे में यह अभिकथित है कि वे दिन-प्रति-दिन किए गए थे और जिनसे उपदर्शित है कि पोत अपने उचित मार्ग से बाहर नहीं ले जाया गया था। 'क' इन कथनों को साबित कर सकेगा क्योंकि, यदि उसकी मृत्यु हो गई होती तो वे कथन अन्य व्यक्तियों के बीच धारा 32, खंड (2) के अधीन ग्राह्य होते।

(ग) 'क' अपने द्वारा कलकत्ते में किए गए अपराध का अभियुक्त है।

वह अपने द्वारा लिखित और उसी दिन लाहौर में दिनांकित और उसी दिन का लाहौर डाक-चिह्न धारण करने वाला पत्र पेश करता है।

पत्र की तारीख का कथन ग्राह्य है क्योंकि, यदि 'क' की मृत्यु हो गई होती तो वह धारा 32, खंड (2) के अधीन ग्राह्य होता।

(घ) 'क' चुराए हुए माल को यह जानते हुए कि वह चुराया हुआ है प्राप्त करने का अभियुक्त है। वह यह साबित करने की प्रस्थापना करता है कि उसने उसे उसके मूल्य से कम में बेचने से इन्कार किया था। यद्यपि ये स्वीकृतियां हैं तथापि 'क' इन कथनों को साबित कर सकेगा, क्योंकि ये विवाद्यक तथ्यों से प्रभावित उसके आचरण के स्पष्टीकारक हैं।

(ङ) 'क' अपने कब्जे में कूटकृत सिक्का जिसका कूटकृत होना वह जानता था, कपटपूर्वक रखने का अभियुक्त है।

वह यह साबित करने की प्रस्थापना करता है कि उसने एक कुशल व्यक्ति से उस सिक्के की परीक्षा करने को कहा था, क्योंकि उसे शंका थी कि वह कूटकृत है या नहीं और उस व्यक्ति ने उसकी परीक्षा की थी और उससे कहा था कि वह असली है।

अन्तिम पूर्ववर्ती दृष्टांत में कथित कारणों से 'क' इन तथ्यों को साबित कर सकेगा।"

धारा 22 :

हम तदनुसार 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं कि धारा 22 को निम्नलिखित रूप में पुन:प्रारूपित किया जाए (देखें पैरा 9.74) :

दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु के बारे में मौखिक स्वीकृतियां कब सुसंगत होती हैं

22. किसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तु के बारे में मौखिक स्वीकृतियां तब तक सुसंगत नहीं होती—

(क) यदि और जब तक उन्हें साबित करने की प्रस्थापना करने वाला पक्षकार यह दर्शित न कर दे कि ऐसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तुओं का द्वितीयक साक्ष्य देने का वह एतस्मिन्पश्चात् दिए हुए नियमों के अधीन हकदार है; अथवा

(ख) जब तक पेश की गई दस्तावेज का असली होना प्रश्नगत न हो।''

धारा 22क :

यह धारा अधिनियम 21/2000 द्वारा पुर:स्थापित की गई थी, इसमें और संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 23 :

(I) 69वीं रिपोर्ट में यह बताया गया था कि धारा 23 में बातचीत के दौरान 'किए गए सभी कथनों' पर कुछ नहीं कहा गया है अपितु केवल उन स्वीकृतियों के बारे में कहा गया है जो अभिव्यक्त की गई हैं या जिन्हें परिस्थितियों से विवक्षित किया जा सकता है। यह उचित होगा कि इस दृष्टि से किए गए कथन, या निपटान हेतु बातचीत के दौरान किए गए कथन, धारा के अन्तर्गत लाए जाने चाहिएं। धारा के नीचे एक स्पष्टीकरण अन्त:स्थापित करने की सिफारिश की है।

''**स्पष्टीकरण-II** : जहां कोई स्वीकृति, किसी विवादित दावे के समझौते या निपटारों के प्रयोजन के लिए या बातचीत के दौरान की जाती है तब यह माना जाएगा कि पक्षकार सम्मिलित रूप से इस बात के लिए सहमत हो गए हैं कि उस स्वीकृति का साक्ष्य नहीं दिया जाएगा।''

हम सादर स्वीकार करते हैं कि ऐसा कोई उपबंध आवश्यक है परन्तु किसी स्पष्टीकरण के बजाय धारा में ही ''किसी अभिव्यक्त शर्त पर की गई हो कि उसका साक्ष्य नहीं दिया जाना है'' शब्दों के पश्चात् ''या यदि किसी विवादित दावे के समझौते या निपटारे के प्रयोजन के लिए किया जाता है या बातचीत के दौरान किया जाता है'' शब्द जोड़े जा सकते हैं। हम 69वीं रिपोर्ट में संप्रेक्षण का भी निर्देश कर सकते हैं कि इस स्पष्टीकरण का सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 23, नियम 3 के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं पड़ता है चूंकि लिखित में समझौतों को साबित कर सकते हैं।

हमने, किसी प्रकाशन में अन्तर्विष्ट जानकारी के स्रोत को प्रकट करने के लिए एक नई धारा 132क के अन्त:स्थापन की सिफारिश की है। इस प्रस्तावित उपबंध के अनुसार किसी व्यक्ति को कतिपय परिस्थितियों में किसी प्रकाशन में अन्तर्विष्ट जानकारी के स्रोत को प्रकट करना अपेक्षित हो सकता है। धारा 23 के उपबंध से ऐसी दशा में छूट दिए जाने की आवश्यकता है जहां कोई व्यक्ति, जो प्रकाशन को किसी मामले में साक्ष्य देने का आधार बनाता, जिसमें उसे प्रस्तावित धारा 132क के अधीन साक्ष्य देना आवश्यक है। इस संबंध में, प्रस्तावित धारा 132क के अधीन चर्चा का संदर्भ दिया जा सकता है।

अतः हम सिफारिश करते हैं कि धारा 23 में ऐसे संशोधन करके उसे निम्नलिखित रूप में पढ़ा जाए :

सिविल मामलों में स्वीकृतियां कब सुसंगत होती हैं

"23. (1) सिविल मामलों में, कोई भी स्वीकृति सुसंगत नहीं है—

(क) यदि वह या तो इस अभिव्यक्ति शर्त पर की गई हो कि उसका साक्ष्य नहीं दिया जाएगा; या

(ख) यदि वह विवादग्रस्त दावे के निपटान हेतु समझौते के प्रयोजन या उस दौरान की गई हो; या

(ग) ऐसी परिस्थिति के अधीन दी गई हो जिनसे न्यायालय यह अनुमान कर सके कि पक्षकार इस बात से परस्पर सहमत हो गए थे कि उसका साक्ष्य नहीं दिया जाना चाहिए।

जब तक पक्षकार, जिसने स्वीकृति की हो और वह पक्ष जिसके समर्थन में स्वीकृति की गई हो, इस बात से सहमत न हो जाएं कि साक्ष्य दिया जाना चाहिए या स्वीकृति के संबंध में साक्ष्य यह पता लगाने के लिए आवश्यक हो जाता है कि क्या निपटान के लिए अथवा विलंब के स्पष्टीकरण के लिए, जहां मामले में विलंब प्रश्नगत हो, स्वीकृति आवश्यक है।

(2) ऐसी स्वीकृति, जो उपधारा (1) के अधीन सुसंगत नहीं है, स्वीकृति करने वाले किसी व्यक्ति और स्वीकृति से संबंधित तीसरे पक्ष के बीच के मामले के संबंध में सुसंगत हो सकती है।

(3) इस धारा में कोई छूट नहीं होगी;

(क) किसी भी विधिक कार्य करने वाले को किसी ऐसे मामले में साक्ष्य देने के लिए, जिसके लिए धारा 126 के अधीन, उसे साक्ष्य देने के लिए विवश किया जाए; या

(ख) किसी ऐसे व्यक्ति को जिसने प्रकाशन किया है किसी ऐसे मामले में साक्ष्य देने से है, जिसमें उसे धारा 132क के अधीन साक्ष्य देना आवश्यक है।

स्पष्टीकरण-I : 'विधिक कार्य करने वाले व्यक्ति' का इस खण्ड में किया गया प्रयोग का अर्थ धारा 126 के स्पष्टीकरण-II में दिए गए अर्थ से है।

स्पष्टीकरण-II : 'प्रकाशन' का इस खंड में किए गए प्रयोग का अर्थ धारा 132क के पैरा(क) में दिए गए स्पष्टीकरण में दिए गए अर्थ से है।

धारा 24 :

जहां तक धारा 24 का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट (देखें पैरा 11.6) में कहा गया है कि इस धारा में संशोधन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु धारा 27 पर चर्चा के दौरान कारणों से हम धारा 24 में और उसके शीर्षक में कुछ और शब्द, "उत्प्रेरण, वचन, धमकी, प्रपीडन, हिंसा अथवा उत्पीडन" जोड़ना चाहते हैं।

धारा 25 : (69वीं रिपोर्ट में **धारा 26क** के लिए प्रस्ताव)

हम इससे सहमत हैं कि धारा 25 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

हम इस बात से सहमत नहीं हैं कि 69वीं रिपोर्ट और 48वीं रिपोर्ट की सिफारिश कि धारा 26क के अधीन पुलिस अधीक्षक या अन्य द्वारा **सभी मामलों** में गई संस्वीकृति को मान्य बनाया जाए और उसे स्वीकार किया जाए। इस प्रकार के उपबंधों से अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 21 तथा उच्चतम न्यायालय के निर्णयों की संतुष्टि नहीं हो सकती। अतः हम सिफारिश को स्वीकार नहीं करते हैं।

धारा 26 :

69वीं रिपोर्ट में इस धारा को निम्नलिखित रूप में संशोधित करने तथा स्पष्टीकरण हटा देने की सिफारिश की गई है :

"धारा 26 : कोई भी संस्वीकृति, जो किसी व्यक्ति ने उस समय की हो जब वह पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हो, तब तक ऐसे किसी व्यक्ति के विरुद्ध साबित न की जाएगी जब तक कि उसे दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 के अधीन किसी मजिस्ट्रेट द्वारा अभिलिखित न किया गया हो।"

हम सिफारिश करते हैं कि यह आवश्यक होगा कि "धारा 164 के अधीन" शब्दों का लोप किया जाए और "अध्याय-12 के अनुसार" शब्द जोड़े जाएं। इस संशोधन के साथ और स्पष्टीकरण का लोप करने के पश्चात् धारा का पाठ इस प्रकार होगा :

पुलिस की अभिरक्षा में होते हुए अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति का उसके विरुद्ध साबित न किया जाना

"26. कोई भी संस्वीकृति, जो किसी व्यक्ति ने उस समय की हो जब वह पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हो, तब तक ऐसे किसी व्यक्ति के विरुद्ध साबित न की जाएगी जब तक कि उसे दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अध्याय-12 के अनुसार किसी मजिस्ट्रेट द्वारा अभिलिखित न किया गया हो।"

धारा 27 :

हम 69वीं तथा 172वीं रिपोर्टों से सहमत हैं कि पाए गए तथ्यों के संबंध में सूचना की सुसंगतता के अन्तर्गत उन व्यक्तियों द्वारा पुलिस अधिकारियों से किए गए कथन होने चाहिए जो पुलिस अभिरक्षा में थे अथवा नहीं। इसलिए, शब्द 'या' उसी स्थिति में रहने दिया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह होगा कि धारा 27 के अधीन वे कथन भी आ जाएंगे जो धारा 25 के अन्तर्गत किसी व्यक्ति द्वारा, जो अभिरक्षा में नहीं था, पुलिस अधिकारियों से किए गए थे।

हम 69वीं रिपोर्ट में धारा 24 के अन्तर्गत आने वाली संस्वीकृतियों के मामले में पता चली बातों के संबंध में सूचना को अपवर्जित करने के प्रस्ताव से असहमति व्यक्त करते हैं।

स अधिकारियों द्वारा धारा 27 के प्रयोग, जो अप्रत्यक्ष रूप से धारा 25 और 26 का उल्लंघन करती है, करने से बचने के लिए हमारे विचार में धारा 27 को पाए गए तथ्यों तक सीमित रखना वांच्छनीय होगा, जैसाकि आयोग की 152वीं रिपोर्ट में कहा गया है।

हम विद्यमान धारा 27 के स्थान पर निम्नलिखित धारा 27 का प्रस्ताव करते हैं :—

अभियुक्त के कहने पर तथ्यों का पता चलना

"27. धारा 24 से 26 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी जब किसी संगत तथ्य के बारे में यह कहा जाता है कि वह किसी अपराध के अभियुक्त, चाहे वह व्यक्ति पुलिस की अभिरक्षा में है या नहीं है, से प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप पता चला है, वहां इस प्रकार पता चले तथ्य को साबित किया जा सकता है लेकिन उस जानकारी को नहीं, चाहे वह संस्वीकृति की कोटि में आती है या नहीं :

परन्तु जो तथ्य किसी धमकी, प्रपीड़न, हिंसा या यातना का प्रयोग करके पता चले है, वे साबित करने योग्य नहीं होंगे।"

धारा 28 :

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 11.60) धारा 28 में किसी भी संशोधन का सुझाव नहीं दिया गया है लेकिन चूंकि यह धारा 24 की एक शर्त है, इसका पुनःसंख्यांकन करके इसे धारा 24क कर दिया जाना चाहिए।

इससे धारा 28 को निकालने की आवश्यकता पड़ेगी। अब तक किसी को भी इस विषय में संदेह नहीं है कि यह धारा 24 की विशेषता बताती है। अतः हम महसूस करते हैं कि धारा 28 को निकालने और इसे धारा 24क के रूप में अन्तःस्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

हमारी राय है कि इस रिपोर्ट में धारा 24 में प्रस्तावित संशोधन को देखते हुए, धारा 28 में 'उत्प्रेरणा, धमकी या वचन' शब्दों के स्थान पर धारा 28 में तथा शीर्षक में निम्नलिखित प्रतिस्थापित किए जाएं :

"उत्प्रेरणा, वचन, धमकी, प्रपीड़न, हिंसा या यातना"

धारा 29 :

69वीं रिपोर्ट में यह बताया गया था कि 'अन्यथा सुसंगत' अभिव्यक्ति के दो अर्थ निकलते हैं। पहला दृष्टिकोण, जैसाकि पटना में अभिव्यक्त किया गया था पहला कि यह संस्वीकृति धारा 24 से धारा 28 में निर्दिष्ट संस्वीकृतियों से भिन्न होनी चाहिए। दूसरा दृष्टिकोण बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किया गया कि यह ग्राह्य होनी चाहिए और जिसे धारा 24 से 28 या विधि के किसी अन्य उपबंध के अधीन बाहर नहीं रखा गया है। बाद का विचार स्वीकार किया गया था और यह सुझाव दिया गया था कि 'अन्यथा सुसंगत' शब्दों के स्थान पर 'किसी अभियुक्त व्यक्ति द्वारा की गई असंगत नहीं है या धारा 24 से 27 के अधीन साबित की जाने योग्य नहीं है' प्रतिस्थापित किए जाएं अथवा 'ऐसी' शब्द को हटा दिया जाए। वास्तव में, रिपोर्ट में यह कहा गया है कि 'ऐसी' को निकालना वांछनीय है।

आयोग ने धारा 164 के संबंध में धारा 29 पर विचार किया और अनन्तः सिफारिश की कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164(2) के अनुरूप धारा 29 को बनाया जाए।

हम इन दोनों सिफारिशों से पूर्णरूप से सहमत हैं और हमारी और सिफारिश जोड़ते हुए, धारा 29 को निम्नलिखित रूप में पुनः प्रारूपित किया जाए :

अन्यथा सुसंगत संस्वीकृति का गुप्त रखने के वचन आदि के कारण विसंगत न हो जाना

"29. (1) यदि संस्वीकृति अन्यथा सुसंगत है, और वह केवल इसलिए कि

(क) (i) वह गुप्त रखने के वचन के अधीन, या

(ii) उसे अभिप्राप्त करने के प्रयोजनार्थ अभियुक्त व्यक्ति से की गई, प्रवंचना के परिणामस्वरूप, या

(iii) उस समय जबकि वह मत्त था, की गई थी; या

(iv) ऐसे प्रश्नों के उत्तर में की गई थी, जिनका उत्तर देना आवश्यक नहीं था, वे प्रश्नों चाहे किसी भी रूप में किए गए हों।

(ख) केवल इसलिए कि अभियुक्त व्यक्ति को यह चेतावनी नहीं दी गई थी कि वह ऐसी संस्वीकृति करने के लिए आबद्ध नहीं था और कि उसके विरुद्ध उसका साक्ष्य दिया जा सकेगा,

विसंगत नहीं हो जाती।

(2) दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 463 के उपबंधों के अध्यधीन, उप-धारा (1) में अन्तर्निहित कोई बात संहिता की धारा 164 की उप-धारा (2) का उल्लंघन करके रिकार्ड की गई संस्वीकृति, सुसंगत नहीं हो सकेगी।"

धारा 30 :

हम नहीं सोचते कि धारा 30 को निरसित किया जाए। हम इसे निम्नलिखित रूप में उपांतरित करने की सिफारिश करते हैं :

साबित संस्वीकृति को, जो उसे करने वाले व्यक्ति तथा एक ही अपराध के लिए संयुक्त रूप से विचारित अन्य को प्रभावित करती है, विचार में लेना

"धारा 30. जबकि एक से अधिक व्यक्ति एक ही अपराध या अपराधों के लिए संयुक्त रूप से विचारित हैं, और विचारण प्रारम्भ होने से पूर्व, ऐसे व्यक्तियों में से किसी एक द्वारा, अपने को और उसी अपराध या सभी अपराधों

के संबंध में ऐसे व्यक्तियों में से किसी अन्य द्वारा अपने को और ऐसे व्यक्तियों में से किसी अन्य को प्रभावित करने वाली की गई संस्वीकृति को साबित किया जाता है, तब न्यायालय, जहां ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के विरुद्ध अन्य संगत साक्ष्य है, ऐसी संस्वीकृति को ऐसे अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के विरुद्ध तथा साथ ही ऐसी संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध विचार में ले सकेगा।''

स्पष्टीकरण : इस धारा में प्रयुक्त 'अपराध' शब्द के अन्तर्गत उस अपराध का दुष्प्रेरण या उसे करने का प्रयत्न आता है

दृष्टांत :

(क) 'क' और 'ख' को 'ग' की हत्या के लिए संयुक्ततः विचारित किया जाता है। यह साबित किया जाता है कि 'क' ने कहा, ''ख और मैंने 'ग' की हत्या की है।' 'ख' के विरुद्ध इस संस्वीकृति के प्रभाव पर न्यायालय विचार कर सकेगा।

(ख) 'ग' की हत्या करने के लिए 'क' का विचारण हो रहा है। यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य है कि 'ग' की हत्या 'क' और 'ख' द्वारा की गई थी और यह कि 'ख' ने कहा था कि '''क' और मैंने 'ग' की हत्या की''। न्यायालय इस कथन को 'क' के विरुद्ध विचारार्थ नहीं ले सकेगा, क्योंकि 'ख' संयुक्ततः विचारित नहीं हो रहा है।

धारा 31 :

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है (देखें पैरा 11.95) कि धारा 31 में कोई संशोधन अपेक्षित नहीं है।

न्यायालयों ने इस संबंध में विभिन्न सिद्धान्त निर्धारित किए हैं कि किसी स्वीकृति की सम्पूर्णता पर विचार किया जाना चाहिए और उसके एक अंश को स्वीकार किया जा सकता है अथवा रद्द किया जा सकता है।

हम नहीं समझते कि धारा 31 में और कुछ जोडने की आवश्यकता है।

धारा 32 :

(अ) हम सिफारिश करते हैं कि धारा 32 का आरम्भिक भाग निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाएगा :

''मामले के तथ्यों या सुसंगत तथ्यों के लिखित या मौखिक कथन, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा किए गए थे, जो मर गया है या मिल नहीं सकता या जो साक्ष्य देने में असमर्थ हो जाता है या उसकी उपस्थिति इतने विलम्ब या व्यय के बिना, जितना कि मामले की परिस्थितियों में न्यायालय अयुक्तियुक्त समझता है, अभिप्राप्त नहीं की जा सकती।''

हमारा विचार है कि 69वीं रिपोर्ट की पहली सिफारिश कि अन्य की मृत्यु के कारण के बारे में किए कथन को, स्पष्टीकरण-2 जोड़कर ग्राह्य बनाया जाए, हमें स्वीकार्य नहीं है।

(आ) जहां तक धारा 32 के खंड (1) का संबंध है, हम 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों से सहमत नहीं है और सिफारिश करते हैं कि उक्त खंड को यथावत रहने दिया जाए।

धारा 32 का खंड (2) :

आयोग ने, तथापि खंड (2) को खंड (2) और (2क) में विभाजित करने की सिफारिश की है जिसमें पहला, धारा 32 के खंड (2) का प्रथम भाग, जो सामान्य प्रकृति का है और बाद का जो विनिर्दिष्ट विशिष्ट स्थितियों से संबंधित है, निम्न प्रकार है :

हम इससे सहमत हैं कि धारा 32 खंड (2) को खंड (2) और (2क) में विभाजित कर निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाए :

"(2) **अथवा कारबार के अनुक्रम में किया गया** : जबकि वह कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम के किया गया था; तथा विशेषत:, इस खंड के पूर्वगामी उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, जबकि वह उसके द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम में रखी जाने वाली पुस्तकों में उसके द्वारा की गई किसी प्रविष्टि या किए गए ज्ञापन के रूप में है ;

(2क) अथवा वृत्तिक कर्त्तव्य के निर्वहन इत्यादि में किया गया है : जबकि वह कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा वृत्तिक कर्त्तव्य के निर्वहन में की गई प्रविष्टि या किए गए ज्ञापन के रूप में है अथवा उसके द्वारा धन, माल, प्रतिभूतियों या किसी भी किस्म की सम्पत्ति की प्राप्ति की लिखित या हस्ताक्षरित अभिस्वीकृति है, अथवा वाणिज्य में उपयोग में आने वाली उसके द्वारा लिखित या हस्ताक्षरित किसी दस्तावेज के रूप में है अथवा किसी पत्र या अन्य दस्तावेज की तारीख के रूप में है, जोकि उसके द्वारा प्राय: दिनांकित, लिखित या हस्ताक्षरित की जाती थी।"

आयोग ने महसूस किया (देखें पैरा 12.102) कि प्रथम निर्वचन, स्पष्टता लाने और कृत्रिमता से बचाए रखने में उच्चतर योग्यता रखती थी। तदनुसार, यह सुझाव दिया गया था (देखें पैरा 12.103) कि धारा 32 के खंड (2) का प्रथम भाग, जैसा इस समय है, को 'कारबार के मामूली अनुक्रम' में किए गए कथनों तक सीमित रखा जाए और यह कि एक नया खंड, अर्थात् खंड (2क), जो धारा 32 के खंड (2) के दूसरे भाग में दिए गए प्रगणित प्रकार के कथनों से संबंधित है, जहां ऐसे कथन हो जो कारबार के मामूली अनुक्रम में अथवा अन्यथा किए गए हों, पुर:स्थापित किया जाए (जैसाकि किसी पति द्वारा अपनी पत्नी को लिखे गए पत्र, जिसका राममूर्ति बनाम सुब्बा राव : ए.आई.आर. 1937 मद्रास 19 में उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया था)।

हम धारा 32 के खंड (2) को खंड (2) और (2क) में, स्पष्टता और प्रयोजनों के लिए कृत्रिमता से बचाए रखने के लिए, विभाजित करने संबंधी सिफारिश से सहमत हैं। हम यथा प्रस्तावित खंड (2) और (2क) को पहले ही उद्धृत कर चुके हैं।

धारा 32 का खंड (3) :

69वीं रिपोर्ट में अन्ततः सिफारिश की गई थी कि ऐसे परिवर्णनों को स्वीकार नहीं किया जाएगा और यह कि इसलिए, धारा 32 के खंड(3) के नीचे एक स्पष्टीकरण, जैसाकि नीचे कहा गया है, जोड़ा जाए।

"स्पष्टीकरण : सीमाओं के परिवर्णन में तीसरे व्यक्ति की समीपवर्ती भूमि के मालिकाना हक अथवा प्रकृति के बारे में कथन, इस धारा के अर्थ में धन संबंधी या साम्पत्तिक हित के विरुद्ध कथन नहीं है।"

हम धारा 32(3) के नीचे, जैसाकि ऊपर सुझाव दिया गया है, स्पष्टीकरण जोड़ने के पक्ष में नहीं हैं।

जहां तक सीमा के परिवर्णन का संबंध है, हम धारा 13 में स्पष्टीकरण-II के रूप में एक स्पष्टीकरण अन्त:स्थापित करने की सिफारिश कर चुके है। हम सिफारिश करते हैं कि धारा 32 के खंड (3) के नीचे एक निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ा जाए :

"स्पष्टीकरण : दस्तावेजों में स्थावर सम्पत्ति की सीमाओं के परिवर्णन में अन्तर्विष्ट कथन जो कथन करने वाले व्यक्ति या तीसरे व्यक्ति की समीपवर्ती भूमि के स्वरूप, स्वामित्व या कब्जों के बारे में हैं, जो कथनकर्ता के हितों के विरुद्ध हैं, सुसंगत है और यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज के पक्षकार वहीं होने चाहिए जो कि कार्यवाहियों के पक्षकार या उनके संसर्गी हैं।"

धारा 32 का खंड (4) :

हमने दिए गए कारणों का अध्ययन किया है और हम इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि धारा 32 के खंड (4) में किसी विशिष्ट संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 32 का खंड (5) और (6) :

हम इससे सहमत हैं कि धारा 32 के खंड (5) और (6) में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 32 का खंड (7) :

धारा 32 के खंड (7) को निम्नलिखित रूप में पुनःरीक्षित किया जाए :

"(7) **अथवा धारा 13, खंड (क) में विनिर्दिष्ट संव्यवहारों से संबंधित दस्तावेजों में किया गया है :** जब वह कथन किसी ऐसे विलेख, बिल या अन्य दस्तावेज में अन्तर्विष्ट है जो किसी ऐसे संव्यवहार से संबंधित है जिसके द्वारा अधिकार या रूढ़ि, सृष्ट, दावाकृत, उपांतरित, मान्यकृत, प्रख्यात या प्रत्याख्यात की गई थी या जो उसके अस्तित्व से असंगत था, जैसाकि धारा 13 के खंड (क) में विनिर्दिष्ट है।

स्पष्टीकरण-I : ऐसे कथन सुसंगत हैं जहां न्यायालय के समक्ष चल रही कार्यवाही में प्रश्न अधिकार या रूढ़ि के अस्तित्व के बारे में है अथवा यदि ऐसा कथन कार्यवाही के सांपार्श्विक तथ्यों से संबंधित है और यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज से संबंधित पक्ष वही हो, जो कार्यवाही या उनके संसर्गी पक्ष हैं।

स्पष्टीकरण- II : ऐसे दस्तावेजों में अन्तर्विष्ट अस्थावर सम्पत्ति की सीमाओं के संबंध में परिवर्णन, प्रकृति या स्वामित्व या कथन करने वाले की भूमि पर कब्जा या तीसरे व्यक्तियों की समीपवर्ती भूमि, जो किसी कथन करने वाले के विरूद्ध थी, सुसंगत है और यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज के पक्षकार वहीं होने चाहिए जैसा कि कार्यवाहियों के पक्षकार या उनके संसर्गी हैं।"

धारा 32 का खंड (8) :

69वीं रिपोर्ट में यह संप्रेक्षण किया था कि धारा 32 के खंड (8) में संशोधन अपेक्षित नहीं है (देखें पैरा 12.189)। हम इस सिफारिश से सहमत हैं।

धारा 33 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 12.215 में की गई सिफारिश को सामान्य रूप से स्वीकार करते हैं परन्तु हमने प्रस्तावित संशोधनों के प्रारूप में परिवर्तन कर दिया है।

इसलिए, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 33 में निम्न प्रकार संशोधन किया जाए :

किसी साक्ष्य में कथित तथ्यों की सत्यता को पश्चातवर्ती कार्यवाही में साबित करने के लिए उस साक्ष्य की सुसंगति

"33. किसी साक्षी द्वारा—

(क) पूर्ववर्ती न्यायिक कार्यवाही, या

(ख) उसी न्यायिक कार्यवाही के पूर्ववर्ती प्रक्रम में, या

(ग) साक्ष्य लेने के लिए विधि द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष किसी कार्यवाही में,

दिया गया साक्ष्य उन तथ्यों की सत्यता को, जो उस साक्ष्य में कथित हैं, किसी पश्चातवर्ती न्यायिक कार्यवाही में या उसी न्यायिक कार्यवाही के आगामी प्रक्रम में, साबित करने के प्रयोजन के लिए सुसंगत है, जबकि उस साक्षी की

मृत्यु हो चुकी है या उसे ढूंढा नहीं जा सकता या वह साक्ष्य देने में असमर्थ है, या प्रतिपक्षी द्वारा उसे पहुंच के बाहर कर दिया गया है या यदि उसकी उपस्थिति इतने व्यय या विलम्ब के बिना जितना कि मामले की परिस्थितियों में न्यायालय अयुक्तियुक्त समझता है, अभिप्राप्त नहीं की जा सकती;

परन्तु वह तब जबकि—

(i) न्यायालय के समक्ष पश्चात्वर्ती कार्यवाही उन्हीं पक्षकारों या उनके प्रतिनिधियों के बीच में है;

(ii) प्रथम कार्यवाही में प्रतिपक्षी को प्रतिपरीक्षा का अधिकार और अवसर था;

(iii) विवाद्य प्रश्न प्रथम कार्यवाही में सारतः वही थे जो द्वितीय कार्यवाही में हैं।

स्पष्टीकरण : दांडिक विचारण या जांच, उन मामलों में,

(क) जहां दांडिक कार्यवाही किसी निजी व्यक्ति द्वारा संस्थित की गई है, इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत उस व्यक्ति तथा अभियुक्त के बीच कार्यवाही समझी जाएगी यदि उस व्यक्ति को न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 302 के अन्तर्गत अभियोजन के लिए अनुज्ञात कर दिया है; और

(ख) खंड (क) में विनिर्दिष्ट से भिन्न मामलों में, राज्य और अभियुक्त के बीच कार्यवाही समझी जाएगी।

धारा 34 :

हम नहीं समझते कि धारा 34 में और संशोधन किए जाने की आवश्यकता है। अतः हम 69वीं रिपोर्ट में दिए गए इस निष्कर्ष (देखें 69वीं रिपोर्ट का पैरा 13.27) से सहमत हैं कि 'ऐसे कथनों' शब्दों के स्थान पर 'ऐसी प्रविष्टियां' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं।

धारा 35 :

हम 69वीं रिपोर्ट में की गई इस सिफारिश (देखें पैरा 14.20) से सहमत हैं कि धारा 35 में मामूली परिवर्तन करके निम्नलिखित रूप में संशोधन किया जाए :

कर्त्तव्य पालन में की गई लोक अभिलेख या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड की प्रविष्टियों की सुसंगति

"35. किसी लोक या अन्य राजकीय पुस्तक, रजिस्टर या इलैक्ट्रानिक अभिलेख में की गई प्रविष्टि जो किसी विवाद्यक या सुसंगत तथ्य का कथन करती है और किसी—

(क) लोक सेवक द्वारा अपने पदीय कर्त्तव्य के निर्वहन में, या

(ख) उस देश की, जिसमें ऐसी पुस्तक, अभिलेख या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड रखा जाता है, विधि द्वारा विशेष रूप से व्यादिष्ट कर्त्तव्य पालन में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा की गई है,

स्वयं सुसंगत तथ्य है।"

धारा 36 :

69वीं रिपोर्ट में सबसे पहले यह बताया गया था (देखें पैरा 14.32) कि 'मानचित्र या रेखांकों या चार्टों' शब्द धारा 36 के पहले तथा दूसरे भाग में आने चाहिए। इस समय की स्थिति के अनुसार पहले भाग में, जो लोक विक्रय के लिए प्रस्थापित रेखांकों से संबंधित हैं, वे रेखांक शामिल नहीं किए गए हैं जबकि दूसरे भाग में, जो चार्ट सरकार के प्राधिकार के अधीन बनाए गए हैं, वे सम्मिलित नहीं किए जाते हैं।

दूसरे, यह बताया गया था (देखें पैरा 14.34) कि धारा का आरम्भिक भाग, जो 'विवाद्यक तथ्यों या सुसंगत तथ्यों के कथन' से संबंधित है, बाद वाले भाग, अर्थात् 'प्रायः रूपित या कथित होते हैं' के शब्दों से शासित होते हैं तथा इस विचार को समुचित संशोधन द्वारा स्पष्ट रूप से प्रकाशित किया जाना चाहिए।

हम नहीं सोचते कि 69वीं रिपोर्ट की सिफारिश के दूसरे भाग को स्वीकार करना जरूरी है। इसके अतिरिक्त, 'प्रायः रूपित या कथित' शब्दों की आसानी से विशिष्टियां नहीं दी जा सकती।

इसलिए हम यह सिफारिश करते हैं कि 69वीं रिपोर्ट में धारा 36 के दोनों भागों में उल्लिखित शब्दों 'मानचित्रों, चार्टों और रेखांकों' की दृष्टि से की गई सिफारिश को स्वीकार कर लिया जाए तथा धारा 36 को निम्नलिखित रूप में पुनः प्रारूपित किया जाए :

मानचित्रों, चार्टों और रेखांकों में कथनों की सुसंगति

"धारा 36. विवाद्यक तथ्यों या सुसंगत तथ्यों के वे कथन—

(क) जो प्रकाशित मानचित्रों, चार्टों या रेखांकों में जो लोक विक्रय के लिए साधारणतः प्रस्थापित किए जाते हैं; या

(ख) केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के प्राधिकार के अधीन बनाए गए मानचित्रों, चार्टों या रेखांकों में किए गए हैं,

उन विषयों के बारे में, जो ऐसे मानचित्रों, चार्टों या रेखांकों में प्रायः रूपित या कथित होते हैं, स्वयं सुसंगत तथ्य हैं।"

धारा 37 :

हम सिफारिश करते हैं कि धारा को निम्नलिखित रूप में पुनरीक्षित किया जाए :—

किन्हीं अधिनियमों या अधिसूचनाओं में अन्तर्विष्ट लोक प्रकृति के तथ्य के बारे में कथन की सुसंगति

"37. जबकि न्यायालय को किसी लोक प्रकृति के तथ्य के अस्तित्व के बारे में राय बनानी है तब—

(क) किसी केन्द्रीय अधिनियम, क्षेत्रीय अधिनियम या राज्य अधिनियम में, या

(ख) किसी शासकीय राजपत्र में प्रकाशित सरकारी अधिसूचना में, या

(ग) अगस्त, 1947 के 15वें दिन से पूर्व की अवधि के संबंध में—

(i) यूनाइटेड किंगडम की संसद के किसी अधिनियम में, या

(ii) हिज मेजेस्टी के किसी डोमिनियन, उपनिवेश या कब्जाधीन क्षेत्र के सरकारी गजट या लंदन गजट तात्पर्यित होने वाले किसी मुद्रित पत्र में प्रकाशित सरकारी अधिसूचना में, या

(iii) क्राउन रिप्रेजेन्टिटिव द्वारा शासकीय गजट में की गई अधिसूचना में,

अंतर्विष्ट परिवर्णन में किया गया उसका कोई कथन सुसंगत तथ्य है।"

धारा 38 :

हम, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 14.59 में की गई सिफारिश से सहमत हैं परन्तु भारत से भिन्न अन्य कोई देश शब्दों की बजाय भारत के बाहर शब्द उपयुक्त है (जैसाकि 1972 के इंग्लिश अधिनियम में) और ये किसी देश शब्दों के बाद जोड़े जाने चाहिए।

धारा 39 :

69वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है कि धारा 39 में एक उपधारा जोड़ी जाए कि जहां कोई पक्षकार किसी कथन, बातचीत आदि के किसी भाग का साक्ष्य देने में, जो आवश्यक है, असफल रहता है तब दूसरा पक्षकार उस भाग को साक्ष्य में दे सकेगा। धारा 39 के विद्यमान परन्तुक "जैसा न्यायालय आवश्यक समझे" को निकाला जाना चाहिए। "न्यायालय का विवेकाधिकार" शब्दों के स्थान पर "दूसरे पक्षकार को दिया गया विवेकाधिकार" शब्द प्रतिस्थापित किए गए हैं। धारा 39 को दो उपधाराओं में विभाजित किया गया है और पुनरीक्षित धारा 39 की निम्नलिखित रूप में सिफारिश की गई है (रेखांकित शब्द नए हैं) :

"39. (1) जब कोई कथन, जिसका साक्ष्य दिया जाता है—

(क) किसी वृहत्तर कथन का या किसी बातचीत का भाग है या किसी एकल दस्तावेज का भाग है; या

(ख) किसी ऐसे दस्तावेज में अंतर्विष्ट है जो किसी पुस्तक का अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की संसक्त आवली का भाग है,

तब, उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, पक्षकार जो कथन का साक्ष्य दे रहा है, कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के उतने का ही, न कि उतने से अधिक का साक्ष्य देगा जितना कि उस कथन की प्रकृति और प्रभाव की तथा उन परिस्थितियों को, जिनके अधीन वह किया गया था, पूर्णतः समझने के लिए उस विशिष्ट मामले में आवश्यक है।

(2) जहां ऐसा पक्षकार किसी कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के किसी भाग का साक्ष्य देने में, यथा उपर्युक्त, जो आवश्यक है, असफल रहता है तब दूसरा पक्षकार उस भाग को साक्ष्य में दे सकेगा।"

हम उपर्युक्त सिफारिश से, अधिनियम 21/2000 के अनुवर्ती संशोधन के अध्यधीन, जिसके द्वारा प्रस्तावित उपधारा (1) के खंड (ख) में "पुस्तक" शब्द के बाद "या इलैक्ट्रानिक अभिलेख के भाग में अन्तर्विष्ट" जोड़े गए हैं और बाद में उसी उपधारा (1) में "दस्तावेज" शब्द के बाद "इलैक्ट्रानिक अभिलेख" शब्द जोड़े गए हैं, सहमत हैं। हम यह भी सिफारिश करते हैं कि प्रस्तावित उपधारा (2) में "दस्तावेज" शब्द के बाद "इलैक्ट्रानिक अभिलेख" शब्द जोड़े जाने चाहिएं।

पुनरीक्षित धारा 39 को निम्नलिखित रूप में पढ़ा जाएगा :—

किसी कथन में कितना साबित किया जाए।

<u>जबकि कथन किसी बातचीत, इलैक्ट्रानिक अभिलेखों, दस्तावेज, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली का भाग हो तब क्या साक्ष्य दिया जाए ।</u>

"39. (1) जब कोई कथन, जिसका साक्ष्य दिया जाता है—

(क) किसी वृहत्तर कथन का या किसी बातचीत का भाग है या किसी एकल दस्तावेज या किसी इलैक्ट्रानिक अभिलेख का भाग है; या

(ख) किसी ऐसे दस्तावेज में अंतर्विष्ट है जो किसी पुस्तक का भाग है या किसी इलैक्ट्रानिक अभिलेख के भाग में अन्तर्विष्ट है अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की संसक्त आवली का भाग है,

तब, उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, पक्षकार जो कथन का साक्ष्य दे रहा है, कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के उतने का ही, न कि उतने से अधिक

का साक्ष्य देगा जितना कि उस कथन की प्रकृति और प्रभाव की तथा उन परिस्थितियों को, जिनके अधीन वह किया गया था, पूर्णतः समझने के लिए उस विशिष्ट मामले में आवश्यक है।

(2) जहां ऐसा पक्षकार किसी कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के किसी भाग का साक्ष्य देने में, यथा उपर्युक्त, जो आवश्यक है, असफल रहता है तब दूसरा पक्षकार उस भाग को साक्ष्य में दे सकेगा।"

धारा 40 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 16.12 में की गई सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 40 निम्नलिखित रूप में पुनरीक्षित हो—

न्यायालयों के निर्णय कब सुसंगत हैं

द्वितीय वाद या विचारण के वारणार्थ पूर्व निर्णय सुसंगत है।

"40. किसी ऐसे निर्णय, आदेश या डिक्री का अस्तित्व, जो किसी न्यायालय को किसी वाद या विवाद्यक के संज्ञान से या विचारण करने से या किसी प्रश्न के अवधारण करने से विधि द्वारा निवारित करता है, सुसंगत तथ्य है जबकि प्रश्न यह हो कि क्या ऐसे न्यायालय को ऐसे वाद या विवाद्यक, या ऐसे विचारण या ऐसे प्रश्न का अवधारण, यथा स्थिति, करना चाहिए।"

धारा 41 :

तथापि, 69वीं रिपोर्ट में उन्माद क्षेत्राधिकार पर चर्चा की है और सिफारिश की है (पैरा 16.32) कि चूंकि यह चार प्रगणित संवर्गों में से नहीं है इसलिए, भारतीय उन्माद अधिनियम के अधीन उसके पक्ष में आदेश कोई सर्वबंधी निर्णय नहीं है यद्यपि यह दोनों पक्षकारों और संसगियों पर बाध्यकारी हो सकेगा। **तथापि, हम नहीं समझते कि यह वर्गीकरण आवश्यक है।** यह औरसता, दत्तक-ग्रहण इत्यादि ऊपर निर्देशित मामलों से भिन्न नहीं है।

हम सिफारिश करते हैं कि यह पर्याप्त होगा यदि धारा 41 के नीचे निम्नलिखित प्रभाव का एक स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित किया जाएगा :

"**स्पष्टीकरण** : प्रोबेट अनुदान अस्वीकार करने वाला कोई आदेश धारा के क्षेत्र में नहीं होता है।"

धारा 42 :

हमारा मत है कि 69वीं रिपोर्ट ने, पूर्ववर्ती दोषसिद्धियों को बाद के मामलों में ग्राह्य बनाने को प्रस्तावित धारा 42क पर कार्यवाही न करके अच्छा ही किया। हम मामले को उसी स्थिति में छोड़ते हैं।

धारा 43 :

वास्तव में, धारा 42क के संदर्भ को निकालने के लिए दुर्भाग्यवश पैरा 16.95, 16.97, 16.145, को नहीं चुना गया, (69वीं रिपोर्ट की प्रस्तावित धारा 43क)। 69वीं रिपोर्ट में इस धारा का प्रस्ताव (देखें पैरा 16.72 और 16.73) किसी पूर्वतम निर्णय में अभिवाकों के सार को सुसंगत मानने के लिए किया गया था।

हमारा मत है कि किसी पूर्वतम सुसंगत निर्णय में अंतर्विष्ट अभिवाकों के सार के गठन के लिए पृथक धारा 43क की आवश्यकता नहीं है। किसी लोक अभिलेख के भाग के रूप में न्यायालय द्वारा तैयार किया गया सार धारा 35 के अधीन सुसंगत है। 69वीं रिपोर्ट में, पैरा 16.72 और 16.73 में निर्णय जनित विधि में उपरोक्त परिवर्तन और प्रिवी

काउंसिल के संप्रेक्षण का ध्यान नहीं रखा था। धारा 43 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। न ही धारा 43क, जैसाकि उस रिपोर्ट में प्रस्ताव किया गया है, को रखने आवश्यकता है।

धारा 44 :

69वीं रिपोर्ट में धारा 44 में, प्रस्तावित धारा 44क जोड़ने के सिवाय, किन्हीं अन्य परिवर्तनों का सुझाव नहीं दिया गया है। परन्तु, चूंकि हम धारा 44क (और प्रस्तावित धारा 42क को भी) के लिए प्रस्ताव को हटा चुके हैं, धारा 44 में किसी औपचारिक संशोधन की भी आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त रिपोर्ट में यह महसूस किया गया था कि किसी नाबालिग या किसी अन्य अशक्त व्यक्ति के किसी सादार्थ अभिरक्षक या निकट मित्र को अपेक्षा के आधार पर किसी निर्णय को अपास्त करने के लिए अभियोग चलाने के अधिकार के बारे में उच्च न्यायालयों के बीच कतिपय मतभेद हैं।

हमारे विचार में मात्र **कृष्णदास** बनाम **विठाबा** ए.आई.आर. 1939 बम्बई 66 तथा बम्बई के ही दो अन्य मामलों के कारण ही पृथक उपबंध करना उचित नहीं होगा, यहां तक कि उच्चतम न्यायालय और प्रिवी काउंसिल के विपरीत निर्णयज हैं।

धारा 45 :

69वीं रिपोर्ट में, विस्तृत चर्चा के उपरांत आयोग ने (पैरा 17.44 में) धारा 45 में पैरों के चिन्ह, हथेली की छाप या टाइपराइटिंग, जैसा भी मामला हो, जोड़ने की तथा इसके अतिरिक्त विशेषज्ञ साक्षी द्वारा सभी पक्षकारों को अपनी रिपोर्ट की प्रति उपलब्ध कराने संबंधी उसके कर्तव्य के बारे में, राय के आधारों के साथ, धारा 45क अन्त:स्थापित करने की सिफारिश की है।

1859 और 1861 की ब्रिटिश विधियों की भांति, दो अधीनताओं के साथ, 'विदेशी विधि' के बारे में विशेषज्ञ की राय की व्यवस्था करने के लिए धारा 45ख का प्रस्ताव किया गया।

हम नहीं समझते कि धारा 45 में अकेले "पैरों के चिन्ह और हथेली की छाप" जोड़े जाए। सिफारिश के अतिरिक्त हमारे विचार से कुछ और चीजें भी जोड़ी जानी चाहिए। अत: हम धारा 45 में टाइपराइटर, व्यापार, तकनीकी शब्द और व्यक्तियों या जानवरों की पहिचान जैसे शब्द भी जोड़े जाने चाहिए। धारा 45 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जाए :

> "जबकि न्यायालय को राय बनानी होती है शब्दों से आरम्भ होकर "ऐसे व्यक्ति विशेषज्ञ कहलाते हैं" शब्दों से अन्त होने वाले भाग के लिए निम्नलिखित प्रतिस्थापित किया जाए, अर्थात् —
>
> > "जबकि न्यायालय को विदेशी विधि की या विज्ञान या कला या हस्तलेख या अंगुलियों के चिन्हों या पैरों के निशान या, हथेली की छाप या टाइपराइटिंग की अनन्यता या व्यापार की प्रथा या तकनीकी शब्दों या, व्यक्तियों या जानवरों की पहिचान की किसी बात के बारे में राय बनानी हो तो तब उस बात पर ऐसी विदेशी विधि विज्ञान या कला में या हस्तलेख, अंगुलियों के चिन्हों, पैरों के निशानों, हथेली की छाप, टाइपराइटिंग, व्यापार की प्रथा, तकनीकी शब्दों या, व्यक्तियों या जानवरों की अनन्यता, जैसा भी मामला हो, विषयक प्रश्नों में विशेष कुशल व्यक्तियों की राय सुसंगत तथ्य हैं। ऐसे व्यक्ति विशेषज्ञ कहलाते हैं।"

हम इस विषय में 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों से सहमत हैं कि किसी विशेषज्ञ साक्षी को अपनी राय के आधारों सहित अपनी रिपोर्ट की एक-एक प्रति सभी पक्षकारों को उपलब्ध कराना उसका कर्तव्य होगा, इस आशय को लेकर धारा 45क अन्त:स्थापित की जानी चाहिए। नि:संदेह यह प्रक्रियात्मक है और इसे सिविल तथा दंड प्रक्रिया संहिताओं में अन्त:स्थापित किया जा सकेगा परन्तु इसके उपरान्त भी, यह साक्ष्य अधिनियम में भी अन्त:स्थापित की जानी चाहिए।

विशेषज्ञों की रिपोर्ट सत्यापित होनी चाहिए: इस संबंध में हम 69वीं रिपोर्ट में किए गए प्रस्ताव के अनुसार धारा 45 का विस्तार करना चाहते है अपितु फिप्सन के पैरा 44.74 में दिए गए ब्रिटेन की 'प्रैक्टिस डायरेक्शनस्, सप्लीमेंटरी सिविल प्रैक्टिस रूल 35' की पद्धति पर करना चाहते हैं। हम प्रस्तावित धारा 45क को निम्नलिखित रूप में उपांतरित करते हैं (देखें फिप्सन, पैरा 44.20 और 44.224) :

विशेषज्ञ की रिपोर्ट की प्रति दिया जाना

"**45क** (1) न्यायालय की अनुमति के सिवाय कोई साक्षी विशेषज्ञ के रूप में तब तक साक्ष्य नहीं देगा जब तक कि उसकी रिपोर्ट की एक प्रति, उपधारा (2) तथा (3) के अनुसरण में, सभी पक्षकारों को न दे दी गई हो।

(2) किसी विशेषज्ञ की रिपोर्ट न्यायालय को संबोधित की जाएगी, उस पक्षकार को नहीं जिसकी ओर से उसकी परीक्षा की जा रही है और न्यायालय को सहायता करना उसका कर्त्तव्य होगा और यह कर्त्तव्य पक्षकार के प्रति, जिसकी ओर से उसकी परीक्षा की जा रही है, किसी भी दायित्व पर अभिभावी होगा।

(3) किसी विशेषज्ञ की रिपोर्ट में—

(क) विशेषज्ञ की योग्यताओं का विवरण दिया जाना चाहिए;

(ख) उस साहित्य अथवा अन्य सामग्री का विवरण दिया जाना चाहिए जिस पर विशेषज्ञ ने अपनी रिपोर्ट तैयार करने में निर्भर किया हो;

(ग) यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि किसने कोई परीक्षण या प्रयोग किया है जिसका विशेषज्ञ ने रिपोर्ट के लिए उपयोग किया है और क्या परीक्षण या प्रयोग विशेषज्ञ के पर्यवेक्षण के अधीन किया गया था अथवा नहीं और कारण, यदि कोई हो, परीक्षण करने वाले व्यक्ति द्वारा दिए जाने चाहिएं;

(घ) ऐसा कोई परीक्षण या प्रयोग करने वाले व्यक्ति की योग्यताएं दर्शायी जानी चाहिएं;

(ङ) रिपोर्ट में उल्लिखित विषयों पर जहां राय की कोई श्रेणी हो—

(i) राय की श्रेणी संक्षिप्त रूप में; और

(ii) अपनी स्वयं की राय के कारण दिए जाने चाहिए।

(च) निकाले गए निष्कर्ष का सारांश अन्तर्विष्ट होना चाहिए,

(छ) ऐसा कथन अन्तर्विष्ट होना चाहिए कि विशेषज्ञ न्यायालय के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझता था और उसने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है;

(ज) पक्षकार के, जिसकी ओर से उसकी परीक्षा की जा रही है, सभी सारवान अनुदेशों (लिखित या मौखिक) का सारांश दर्शाते हुए एक विवरण अन्तर्विष्ट होना चाहिए ;

(झ) निम्नलिखित रूप में सत्य कथन द्वारा सत्यापित होना चाहिए :

"मैं विश्वास करता हूं कि मैंने रिपोर्ट में जिन तथ्यों का उल्लेख किया है वे सत्य हैं और यह कि मैंने जो राय व्यक्त की है वह सही है"; और

(ञ) इस आशय का कथन अन्तर्विष्ट होना चाहिए कि विशेषज्ञ इस बात के प्रति सावधान है कि रिपोर्ट में यदि विवरण की सच्चाई में दृढ़ विश्वास किए बिना ही कोई झूठा विवरण अन्तर्विष्ट हुआ है

तो न्यायालय की अनुमति से और उसके निर्देशों के अधीन अभियोजन की या न्यायालय की अवमानना की कार्यवाही की जा सकेगी।"

धारा 45ख (69वीं रिपोर्ट द्वारा प्रस्तावित)

विदेशी विधि पर विशेषज्ञों की राय के बारे में 69वीं रिपोर्ट में एक पृथक अध्याय (अध्याय 18) अन्तर्विष्ट है और इसमें ब्रिटेन, अमरीका आदि में और भारतीय विधि में प्रक्रिया का निर्देश किया गया है, उदाहरण के लिए, पराक्रम्य लिखत अधिनियम की धारा 26, क्षमता के बारे में ठेका अधिनियम की धारा 11, विदेशी विधि की संवैधानिकता, विशेषकर भारत के लिए लागू होने वाली ब्रिटिश विधियों [धारा 5, भारत के विधि आयोग की रिपोर्ट, पृष्ठ 45, प्रविष्टि 55 और ब्रिटिश स्टेट्स (भारत के लिए लागू) निसरन अधिनियम, 1900 (1960 का अधिनियम 58)]। 69वीं रिपोर्ट में कहा गया है (देखें पृष्ठ 348)] :

"क्या इन्हें (ब्रिटिश विधियां) साक्ष्य अधिनियम में या अन्यत्र सम्मिलित किया जाना चाहिए, ब्यौरे का विषय है, जिसे हम प्रारूपकार के लिए छोड़ते हैं"

69वीं रिपोर्ट में (देखें पृष्ठ 348-49) नई धारा अन्त:स्थापित करने की सिफारिश निम्नलिखित है (18.33, यद्यपि पैरा संख्या नहीं दी गई) :

उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए हम सिफारिश करते हैं :

(क) किसी सिविल मामले में जहां कोई पक्षकार विदेशी विधि का कोई प्रश्न उठाना चाहता है वहां नोटिस दिए जाने की अपेक्षा रखने वाले किसी उपबंध का अन्त:स्थापन;

(ख) हमारी विधि में 1859 और 1861 की ब्रिटिश विधियों के सारांश का समाविष्ट किया जाना;

(ग) विदेशी विधि के बारे में सुसंगत सामग्री देखने का अधिकार प्रदान करने वाले, जहां न्यायालय न्याय के हितों में ऐसा करना आवश्यक समझता है, उपबंध का अन्त:स्थापन।"

रिपोर्ट में बताया गया है कि उपर्युक्त दूसरा खण्ड (ख) अधिमानत: किसी पृथक विधि में अन्त:स्थापित किया जा सकेगा। यह सुझाव दिया गया था कि पहला और तीसरा [अर्थात् (क) और (ग)] साक्ष्य अधिनियम में अन्त:स्थापित किया जा सकेगा जैसाकि धारा 45ख कुछ-कुछ निम्नलिखित लाइनों पर है :

"(1) किसी वाद या अन्य सिविल कार्यवाही का कोई पक्षकार जो किसी विदेशी विधि से संबंधित कोई मामला उठाना चाहता है अपने अभिवाक् में नोटिस देगा या कोई अन्य न्यायोचित नोटिस देगा, (2) न्यायालय, किसी विशिष्ट मामले में, विदेशी विधि का प्रश्न अवधारित करने में, पक्षकारों को अधिसूचना जारी करने के पश्चात् साक्ष्य के सहित किसी सुसंगत सामग्री या स्त्रोत पर विचार कर सकेगा, चाहे वह पक्षकार द्वारा प्रस्तुत किया गया हो अथवा नहीं, और न्यायालय के निर्णय को विधि के प्रश्न पर किया गया निर्णय समझा जाएगा।"

धारा 45ख और 1859 तथा 1861 की ब्रिटिश विधियों के बारे में हमारी सिफारिश

जहां तक दो उपधाराओं के साथ धारा 45ख जोड़ने के लिए की गई उपर्युक्त सिफारिश का संबंध है, हम 69वीं रिपोर्ट में दिए गए कारणों को दोहराना नहीं चाहते परन्तु हम सिफारिश का पूर्णरूप से समर्थन करते हैं।

जहां तक 1859 और 1861 की ब्रिटिश विधियों का सारांश समाविष्ट करते हुए एक पृथक अधिनियम बनाने की सिफारिश का संबंध है, हमारा यह मत है कि यह आवश्यक है।

हम सिफारिश करते हैं कि प्रस्तावित धारा 45ख निम्नलिखित रूप में हो :

विदेशी विधि साबित करने की प्रक्रिया और न्यायालय की शक्ति

"**45ख** (1) किसी वाद या अन्य सिविल कार्यवाही का कोई पक्षकार जो किसी विदेशी विधि से संबंधित कोई मामला उठाना चाहता है अपने अभिवाक् में नोटिस देगा या कोई अन्य न्यायोचित नोटिस देगा।

(2) न्यायालय, किसी विशिष्ट मामले में, विदेशी विधि का प्रश्न अवधारित करने में पक्षकारों को अधिसूचना जारी करने के पश्चात् साक्ष्य के सहित किसी सुसंगत सामग्री या स्रोत पर विचार कर सकेगा, चाहे वह पक्षकार द्वारा प्रस्तुत किया गया हो अथवा नहीं, और न्यायालय के निर्णय को विधि के प्रश्न पर किया गया निर्णय समझा जाएगा।"

धारा 46 :

धारा 46 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 47 :

धारा 47 पर्याप्त स्पष्ट है और इसमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम इस दृष्टिकोण से सहमत हैं।

धारा 47क :

यह धारा 17-10-2000 से प्रभावी 2000 के अधिनियम संख्या 21 द्वारा अन्तःस्थापित की गई है और इसमें कहा गया है कि डिजिटल हस्ताक्षरों के बारे में राय कब सुसंगत होगी। इसमें और परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 48 :

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 48 निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित की जाए :

अधिकार या रूढ़ि के बारे में राय कब सुसंगत है

"48. जबकि न्यायालय को किसी साधारण या लोक अधिकार या रूढ़ि या साधारण या लोक हित के विषय के अस्तित्व के बारे में राय बनानी हो, तब ऐसे अधिकार या रूढ़ि या ऐसे विषय के अस्तित्व के बारे में, जैसा भी हो, उन व्यक्तियों की रायें सुसंगत होंगी जो यदि उसका अस्तित्व होता तो उसे जानते होते।

स्पष्टीकरण : साधारण या लोक अधिकार या रूढ़ि या साधारण या लोक हित के विषय के अन्तर्गत वे रूढ़ियां या अधिकार या विषय आते हैं जो किसी काफी बड़े वर्ग के लिए सामान्य हैं।"

दृष्टांत : किसी विशिष्ट ग्राम के निवासियों का अमुक कूप के पानी का उपयोग करने का अधिकार इस धारा के अर्थ के अंतर्गत साधारण अधिकार है।"

धारा 49 :

धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 50 :

हम 69वीं रिपोर्ट की इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 50 के परन्तुक को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाना चाहिए :

"परन्तु यह कि ऐसी राय किसी ऐसी सिविल या दांडिक कार्यवाही के लिए पर्याप्त नहीं होगी जहां किसी व्यक्ति को यह साबित करना हो कि विवाह हुआ था।"

धारा 51 :

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम सहमत हैं। इसके साथ ही हमने धारा 45क में पहले ही यह सिफारिश की है कि किसी विशेषज्ञ की अपनी रिपोर्ट में उसकी राय के कारण भी अन्तर्विष्ट होने चाहिए।

धारा 52 :

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि (देखें अध्याय 20 पृ. 555) धारा 52 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 53 :

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि (देखें पृ. 357) धारा 53 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 53 (यथा प्रस्तावित) :

172वीं रिपोर्ट में भारतीय दंड संहिता की धारा 376ङ का निर्देश किया गया है। इसलिए, हम इस समय धारा 376ङ का लोप करने की सिफारिश कर रहे हैं परन्तु जैसे ही रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 376ङ भारतीय दंड संहिता में पुरःस्थापित की जाएगी तब यह उपबंध धारा 53क में भी जोड़ा जाएगा। इसलिए, हम धारा 53क को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत करने का प्रस्ताव करते हैं :

<u>"पीड़ित का शील कतिपय मामलों में सुसंगत नहीं होगा</u>

"53क. धारा 376, 376क, 376ख, 376ग, 376घ, 376ङ के अधीन किसी अपराध के या अपराध करने के प्रयास के अभियोजन में जहां सम्मति का प्रश्न विवाद्यक है, पीड़ित व्यक्ति के शील का साक्ष्य या किसी व्यक्ति के साथ उसकी (स्त्री/पुरुष की) लैंगिक अनुभव, ऐसी सम्मति या सम्मति की क्वालिटी के प्रश्न पर सुसंगत नहीं होगा।"

धारा 54 :

जहां तक धारा 54 का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया है (देखें पृष्ठ 357) कि धारा के सार को यथावत रहने दिया जाना चाहिए परन्तु कतिपय विवरणों के बारे में अनुलग्नक आवश्यक है क्योंकि और यह कि "जब तक कि इस बात का साक्ष्य न दिया गया हो कि वह अच्छे शील का है, जिसके दिए जाने के पश्चात् वह सुसंगत हो जाता है" शब्दों के स्थान पर निम्नलिखित शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं :

"जब तक कि इस बात का साक्ष्य न दिया गया हो कि वह अच्छे शील का है, चाहे प्रतिरक्षा के लिए साक्षियों के द्वारा या अभियोजन के लिए साक्षियों की प्रतिपरीक्षा द्वारा या अन्य किसी रीति में, जिसके दिए जाने के पश्चात् वह सुसंगत हो जाता है।"

धारा 55 :

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था (देखें पृष्ठ 358) कि किसी व्यक्ति की ख्याति को क्षति पहुंचाने के लिए मानहानि के लिए किसी वाद में 'अपमान संबंधी कार्यवाही में' शील का साक्ष्य उस व्यक्ति के शील के उस पहलू के बारे में ही होना चाहिए जिससे अपमान संबंधित है और यह कि यह सिफारिश 69वीं रिपोर्ट में धारा 12 के प्रति (देखें रिपोर्ट का पैरा 8.40) अपनाए गए दृष्टिकोण को आगे बढ़ाती है।

इस पहलू पर विचार करने पर, हमारा यह मत है कि उपर्युक्त पहलू वास्तव में प्रत्येक मामले में तथ्यों का विषय है और यह कि धारा 55 में अपमान के मामलों के लिए अन्य कोई विशिष्ट उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है।

धारा 56 :

यह धारा, जैसाकि 69वीं रिपोर्ट में बताया गया है, पुरःस्थापना की परिचायक है और उसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 57 :

(अ) 69वीं रिपोर्ट में धारा 57 के खंड (1) के नीचे स्पष्टीकरणों के जोडने का सुझाव दिया गया है जिसके आधार पर, हम निम्नलिखित दो स्पष्टीकरण जोडे जाने की सिफारिश करते है :—

"**स्पष्टीकरण–I** : जहां इस धारा के फलस्वरूप न्यायालय न्यायिक अवेक्षा करने के लिए बाध्य है, और प्रश्न किसी सांविधिक लिखत की शर्तों की विद्यमानता, सीमा तथा प्रवर्तन से संबंधित है, वहां न्यायालय प्रश्न का निर्णय करने के प्रयोजन से उपयुक्त पुस्तकों या निर्देश के दस्तावेजों को, यदि ऐसी पुस्तकें या दस्तावेज तत्काल उपलब्ध हों, संबंधित पक्षकार से ऐसी पुस्तकें या दस्तावेज प्रस्तुत करने के लिए कहने से पूर्व सहायता लेगा।

स्पष्टीकरण–II : सांविधिक लिखत से कोई नियम, अधिसूचना, उप-विधि, आदेश, स्कीम या किसी अधिनियमिति के अधीन बनाई गई अन्य लिखत अभिप्रेत है।"

(आ) <u>धारा 57 के खंड (2) से (6) :</u>

69वीं रिपोर्ट में धारा 57 के खंड (2),(4),(5) और (6) (देखे पैरा 21.49) के पुनरीक्षण का सुझाव दिया गया है।

हम 69वीं रिपोर्ट के इस सुझाव से सहमत हैं कि धारा 57 के खंड (2),(4),(5) और (6) निम्नलिखित रूप में पुनरीक्षित किए जाने चाहिए :—

"(2). यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट द्वारा 15 अगस्त, 1947 से पूर्व पारित सभी पब्लिक एक्ट तथा वे सभी स्थानीय और पर्सनल एक्ट जिनके बारे में, उस तिथि से पूर्व यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट ने निर्दिष्ट किया है, की न्यायिक अवेक्षा की जाए।"

"(4). 15 अगस्त, 1947 से पूर्व की यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट की, भारत की संविधान सभा की और उस तिथि से पूर्व संसद की तथा किसी प्रान्त या राज्यों में तत्समय प्रवृत्त विधियों के अधीन स्थापित विधान मंडलों की कार्यवाही का अनुक्रम।"

"(5). 15 अगस्त, 1947 से पूर्व किए गए किसी कार्य के संबंध में किया गया ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड की यूनाइटेड किंग्डम के तत्समय प्रभु का राज्यारोहण और राज हस्ताक्षर।"

"(6). निम्नलिखित मुद्राएं, अर्थात् —

(क) 15 अगस्त, 1947 से पूर्व किसी अधिनियम के संबंध में वे सभी मुद्राएं जिनकों अंग्रेजी न्यायालय न्यायिक अवेक्षा करते हैं ;

(ख) भारत में सभी न्यायालयों की मुद्राएं ;

(ग) केन्द्रीय सरकार के प्राधिकार से स्थापित भारत से बाहर सभी न्यायालयों की मुद्राएं ;

(घ) 15 अगस्त, 1947 से पूर्व किए गए किसी कार्य के संबंध में क्राउन के प्रतिनिधि के प्राधिकार द्वारा स्थापित विधिक न्यायालयों की मुद्राएं ;

(ङ) नावाधिकरण और समुद्रीय अधिकारिता वाली न्यायालयों की और नोटेरी पब्लिक की मुद्राएं ; और

(च) वे सभी मुद्राएं जिन्हें प्रयोग करने के लिए 15 अगस्त, 1947 से पूर्व किए गए किसी कार्य के संबंध में यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट के किसी अधिनियम द्वारा या भारत के संविधान द्वारा

या भारत में विधि का बल रखने वाले किसी अधिनियम या विनियम द्वारा किसी व्यक्ति को प्राधिकृत किया गया है।"

(इ) धारा 57 का खंड (7) :

क्योंकि धारा 57 के खंड (7) में भारत में स्थापित कार्यालयों का निर्देश नहीं किया गया है इसलिए, 69वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी (पैरा 21.50) कि यह विषय जोड़ा जाना चाहिए और धारा 57 के खंड (7) को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाना चाहिए। इस सिफारिश से हम सहमत हैं।

"(7). भारत में या किसी राज्य में किसी लोक पद पर तत्समय आरूढ़ व्यक्तियों के कोई पदारोहण, नाम, उपाधियां, कृत्य और हस्ताक्षर, यदि ऐसे पद पर उसकी नियुक्ति का तथ्य किसी सरकारी राजपत्र में अधिसूचित किया गया हो।"

(ई) धारा 57 के खंड (8) से खंड (13) :

हम 69वीं रिपोर्ट की इस सिफारिश से सहमत हैं कि इन खंडों में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

(उ) धारा 57 का दूसरा पैरा :

इस पैरे में निर्देश के लिए उपयुक्त स्रोतों का निर्देश करने की न्यायालय की शक्तियों का उल्लेख किया गया है और इसमें किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 21.53 के प्रति सहमति व्यक्त करते हैं।

(ऊ) धारा 57 का तीसरा पैरा :

यह पैरा न्यायालय को, पर्याप्त सामग्री के अभाव में न्यायिक अवेक्षा करने से इंकार करने की शक्ति प्रदान करता है। हम इस बात से सहमत हैं कि इस पैरा में भी किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

प्रस्तावित धारा 57क :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 22.13 में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 से धारा 87क(2) निकाल दी जाए और निम्नलिखित बताए अनुसार, साक्ष्य अधिनियम में धारा 57क अन्तःस्थापित की जाए [यह उपधारा (1) होगी] :

इसके अतिरिक्त, हम यह भी सिफारिश करते हैं कि विदेशी अधिकारिता अधिनियम, 1947 की धारा 5(1) और (2) में अन्तर्विष्ट प्रमाण-पत्र के लिए प्रक्रिया उपधारा (2) और (3) के रूप में जोड़ी जाए। प्रस्तावित धारा 57क का पाठ निम्नलिखित होगा :

विदेशी राज्यों के संबंध में न्यायालय द्वारा कतिपय विषयों की न्यायिक अवेक्षा

"57क (1) प्रत्येक न्यायालय इस तथ्य की न्यायिक अवेक्षा करेगा—

(क) कि किसी राज्य को केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्यता प्रदान की गई है अथवा नहीं;

(ख) केन्द्रीय सरकार ने किसी व्यक्ति को राज्य प्रमुख के रूप में मान्यता प्रदान की है अथवा नहीं ।

(2) यदि, किसी न्यायालय में, उपधारा (1) के बारे में प्रश्न उठते हैं तो उपयुक्त विभाग में नियुक्त भारत सरकार का सचिव, न्यायालय के आवेदन पर, उस प्रश्न पर केन्द्रीय सरकार का निर्णय न्यायालय को भेजेगा और कार्यवाही के प्रयोजन से वह निर्णय अन्तिम होगा।

(3) न्यायालय उक्त सचिव को, न्यायालय की मुद्रा तथा न्यायाधीश के हस्ताक्षरों से एक दस्तावेज में उपयुक्त रूप से प्रश्न उठाने के लिए तैयार किए गए प्रश्न भेजेगा और सचिव वापिसी में उन प्रश्नों के पर्याप्त उत्तर न्यायालय को भेजेगा और प्राप्त हो जाने पर वे उत्तर अन्तर्विष्ट विषयों का निश्चयात्मक साक्ष्य होंगे।"

धारा 58 :

हम, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 23.9 से सहमत हैं कि "किसी कार्यवाही में" शब्दों के पश्चात्, "किसी दांडिक अभियोजन से भिन्न" शब्द जोड़े जाने चाहिए।

धारा 59 :

69वीं रिपोर्ट में, (देखें अध्याय 24) थोड़ी चर्चा करने के पश्चात् पैरा 24.4 में यह बताया गया है कि धारा में जहां तक इसमें एक आज्ञापक नियम विवक्षित है कि दस्तावेजों की अंतर्वस्तु कभी भी मौखिक साक्ष्य से साबित नहीं की जा सकती है, उपयुक्त शब्दों का चयन नहीं हुआ है (जैसा कि बुडरोफ और अमीर अली ने कहा है)। कतिपय परिस्थितियों में, दस्तावेजों की अंतर्वस्तु मौखिक साक्ष्य से साबित की जा सकती है जब दस्तावेजों की अंतर्वस्तु का ऐसा साक्ष्य द्वितीयक साक्ष्य के रूप में स्वीकार्य हो [(देखें धारा 63(5) (धारा 91 और 92 भी देखें)]। तथापि, यह कहा गया था कि यह छोटी सी बात है और इसके लिए संशोधन की आवश्यकता नहीं है। तथापि, हम समझते हैं कि मामले को निर्विवाद रखा जाए और हम सिफारिश करते हैं कि धारा 59 को निम्नलिखित रूप में पुनःप्रारूपित किया जाए :

मौखिक साक्ष्य द्वारा तथ्यों का साबित किया जाना

"59. (1) उपधारा (2) के उपबंधों के अधीन, सभी तथ्य मौखिक साक्ष्य द्वारा साबित किए जा सकेंगे।

(2) इस अधिनियम में <u>अन्यथा</u> स्पष्ट रूप से उपबंधित के सिवाय, दस्तावेजों की अंतर्वस्तु और इलैक्ट्रानिक रिकार्ड मौखिक साक्ष्य द्वारा साबित नहीं किए जाएंगे।"

धारा 60 :

हम धारा 60 में निम्नलिखित रूप में दूसरा परन्तुक जोड़ने की सिफारिश करते हैं :

"परंतु यह और भी कि किसी विशेषज्ञ की लिखित रूप में अभिव्यक्त राय, तथा वे आधार जिन पर यह राय धारित है, विशेषज्ञ को साक्षी के रूप में बुलाए बिना ही साबित किए जा सकेंगे, जब तक कि न्यायालय, मामलों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अन्यथा निदेशित न करे, जहां विशेषज्ञ —

(i) केंद्रीय या राज्य सरकार का या किसी स्थानीय प्राधिकरण का या किसी विश्वविद्यालय का या अनुसंधान कार्य में लगे किसी अन्य संस्थान का कर्मचारी है और न्यायालय ने उससे पक्षकार के आवेदन पर या स्वयं अपने प्रस्ताव पर ही परामर्श किया है ; या

(ii) अपने नियोजन में रहते हुए ही अपनी राय रिकार्ड की है,

तथापि, यह प्रति परीक्षा के लिए किसी विशेषज्ञ को बुलाने के किसी भी पक्षकार के अधिकार के अध्यधीन होगा"।

धारा 60क : 69वीं रिपोर्ट में यह प्रस्ताव 'आयु के साक्ष्य' के बारे में किया गया था परंतु आयोग ने उपबंध के दुरुपयोग के भय से प्रस्ताव को छोड़ दिया। इससे हम सादर सहमति व्यक्त करते हैं।

धारा 61 :

जहां तक धारा 61 का संबंध है, 69वीं रिपोर्ट में कहा गया है (देखें पैरा 29.11) कि इसमें किसी से संशोधन की आवश्यकता नहीं है। इससे हम सादर सहमत हैं।

धारा 62 :

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि धारा 62 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 63 :

हमारा विचार है कि धारा 65 के खंड (ख) और (छ) को धारा 63 में जोड़कर इन्हें द्वितीयिक साक्ष्य की परिभाषा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता क्योंकि इनके अंतर्गत संपूर्ण दस्तावेज नहीं आता है। परंतु क्योंकि धारा 65 के खंड (ख) और (छ) साक्ष्य को स्वीकार्य बनाते हैं, मूल दस्तावेज से अन्यथा, ऐसा साक्ष्य द्वितीयिक साक्ष्य होना चाहिए यदि यह प्राथमिक साक्ष्य नहीं है क्योंकि हमारे पास तीसरी श्रेणी उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार, धारा 63, धारा 65 के खंड (ख) और (छ) में निहित अवधारणों की उपेक्षा नहीं कर सकती। केवल एकमात्र उपाय जिससे इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास के लिए और विस्तार की व्यवस्था की जा सकती है, धारा 63 के प्रारम्भिक भाग से "अभिप्रेत और" शब्द का लोप करना है।

69वीं रिपोर्ट में, तीन शब्दों पर पृथक-पृथक चर्चा हुई है (देखें पैरा 29.23 से 29.28) और यह अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 63 के खंड (5) में "देखा" शब्द के स्थान "पढ़ा" शब्द प्रयोग करने के अतिरिक्त अन्य किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। धारा 63 के खंड (3) में "से बनाई गई या तुलना की गई" शब्दों के स्थान पर "से बनाई गई तथा तुलना की गई" प्रतिस्थापित किए जाएंगे। इसी प्रकार धारा 63 के खंड (5) में "किसी व्यक्ति द्वारा दिया गया जिसने उसे स्वयं देखा है" शब्दों के स्थान पर "किसी व्यक्ति द्वारा दिया गया जिसने उसे स्वयं पढ़ा है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 64 :

69वीं रिपोर्ट में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि धारा 64 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। इससे हम सादर सहमत हैं।

धारा 65 का खंड (क) :

(अ) हमारा विचार है कि धारा 65 के खंड (क) में दो पैरे निम्नलिखित रूप में खंड (i) और (ii) के रूप में संख्यांकित किए जाएं और खंड (कक) जोड़ा जाए :

"(क) जबकि यह दर्शित कर दिया जाए या प्रतीत होता हो कि मूल दस्तावेज ऐसे व्यक्ति के कब्जे में या शक्त्याधीन है, —

(i) जिसके विरुद्ध उस दस्तावेज का साबित किया जाना इप्सित है, अथवा जो न्यायालय की आदेशिका की पहुंच के बाहर है या ऐसी आदेशिका के अध्यधीन नहीं है और ऐसा व्यक्ति मूल दस्तावेज को प्रस्तुत नहीं करता है ; या

(ii) जो उसे पेश करने के लिए वैध रूप से आबद्ध है और ऐसा व्यक्ति धारा 66 में वर्णित सूचना प्राप्त होने के पश्चात् इसे पेश नहीं करता है।

(कक) जबकि यह दर्शित कर दिया जाए या प्रतीत होता हो कि मूल दस्तावेज ऐसे व्यक्ति के कब्जे में या शक्त्याधीन है जो उसे पेश करने के लिए वैध रूप से आबद्ध नहीं है और मूल दस्तावेज को प्रस्तुत करने के लिए किसी पक्षकार के कहने पर ऐसा व्यक्ति न्यायालय से सूचना प्राप्त होने के पश्चात् इसे पेश नहीं करता है।

(आ) हमारे विचार में, जहां तक खंड (क) से (घ), (छ) का संबंध है, किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है परन्तु यह आवश्यक है कि धारा के पूर्वान्तिम पैरे के अन्तिम भाग में, जहां नकारात्मक शब्द प्रयोग किए गए हैं, निम्नलिखित शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं :

"(ङ) या (च) की दशा में, दस्तावेज की सत्यापित प्रति, परन्तु द्वितीयिक साक्ष्य के अन्य प्रकार की नहीं, ग्राह्य है" शब्दों के स्थान पर

"(ङ) या (च) की दशा में, जब तक इस धारा का कोई अन्य खंड लागू न हो, दस्तावेज की सत्यापित प्रति, परन्तु द्वितीयिक साक्ष्य के अन्य प्रकार की नहीं, ग्राह्य है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं।

69वीं रिपोर्ट में सुझाव दिया गया है कि उपर्युक्त खंड में, जैसाकि ऊपर कहा गया है, "जब तक इस धारा का कोई अन्य खंड लागू न हो" शब्द जोड़े जाएं।

धारा 65 का खंड (ख) :

69वीं रिपोर्ट में कहा गया था (देखें पैरा 30.15) की धारा 65 (ख) में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। (देखें धारा 65) (ब) से (छ)। हम इससे सहमत हैं।

धारा 65 का खंड (ग) :

इस खंड में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 65 के खंड (घ) से (छ) :

इन खंडों में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 65क और 65ख :

ये धाराएं अधिनियम 21/2000 द्वारा जोड़ी गई थीं। हमारे विचार में इन धाराओं में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 66 :

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 30.29) यह कहा गया है कि इस धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। तथापि, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 65(1)(क) में हमारे संशोधन प्रस्तावों को ध्यान में रखते हुए धारा 66 में, "खंड (क)" के स्थान पर "खंड(क) के उप-खंड (i) और (ii)" शब्दों का प्रयोग करके पारिणामिक संशोधन किया जाएगा।

धारा 67 :

धारा 67 के बारे में (रजिस्टर्ड दस्तावेजों सहित) थोड़ी चर्चा के पश्चात् 69वीं रिपोर्ट में कहा गया है (देखें पैरा 31.15) कि निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ने के सिवाय इसमें किसी संशोधन की आवश्कयता नहीं है :

स्पष्टीकरण : इस धारा में और धारा 68 से 73 में 'बिल्स' के संबंध में 'निष्पादन' या 'हस्ताक्षर' अभिव्यक्तियों का वही अर्थ होगा जो भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 63 के अधीन दिया गया है और 'प्रमाणीकरण' से अभिप्रेत होगा प्रमाण द्वारा हस्ताक्षर करना या मोहर लगाना"

धारा 67क :

यह धारा अधिनियम 21/2000 द्वारा अन्त:स्थापित की गई थी और यह 'डिजिटल हस्ताक्षों के सबूत' के बारे में है। इसमें कहा गया है कि सुरक्षित अंकीय चिन्हक की दशा में के सिवाय, यदि यह अभिकथित है कि किसी हस्ताक्षरकर्ता का अंकीय चिन्हक इलैक्ट्रानिक अभिलेख में लगाया गया है तो यह तथ्य साबित किया जाना चाहिए कि ऐसा अंकीय चिन्हक हस्ताक्षरकर्ता का अंकीय चिन्हक है। इसमें किसी संशोधन की आवश्कता नहीं है।

धारा 68 :

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 68 निम्नलिखित रूप में पुन:प्रारूपित कि जाए :

ऐसी बिल के निष्पादन का साबित किया जाना जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है

"68. (1) यदि किसी बिल का अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है, तो उसे साक्ष्य के रूप में उपयोग में नहीं लाया जाएगा जब तक कि कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी, यदि कोई अनुप्रमाणक साक्षी जीवित

है और न्यायालय की आदेशिका के अध्यधीन तथा साक्ष्य देने के योग्य है, उसका निष्पादन साबित करने के लिए न बुलाया गया हो।

(2) उपधारा (1) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी किसी अनुप्रमाणक को किसी बिल का निष्पादन साबित करने के लिए बुलाने की आवश्यकता नहीं होगी यदि—

(क) अनुप्रमाणक साक्षी साक्ष्य देने के योग्य नहीं है; या उसे विपक्षी पक्षकार द्वारा या उस पक्षकार से सांठ-गांठ करके किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सामने आने से दूर रखा गया हो या वह ऐसा व्यक्ति हो जिसकी उपस्थिति, विलम्बकारित किए बिना या ऐसा व्यय किए बिना, जिसे मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, न्यायालय न्यायोचित नहीं समझता हो, प्राप्त नहीं की जा सकेगी।

(ख) बिल विपक्षी पक्षकार के कब्जे में हो; या

(ग) कोई पक्षकार बिल में अन्तर्विष्ट किसी वंश संबंधी तथ्य का निर्देश करना चाहता हो; या

(घ) धारा 89 और 90 के उपबंध लागू होते हैं।"

धारा 69 :

69वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है (देखें पैरा 32.37 तथा 32.30) 'दस्तावेज' शब्द के स्थान पर 'बिल' शब्द प्रतिस्थापित किया जाए तथा "या यदि दस्तावेज का यूनाइटेड किंगडम में निष्पादित होना तात्पर्यित हो" शब्दों का लोप किया जाए। हम अपनी सहमति व्यक्त करते हैं। परन्तु आंशिक परिवर्तन का प्रस्ताव करते हैं।

संशोधित धारा, जैसीकि सिफारिश की गई है, निम्नलिखित है :

जब किसी भी अनुप्रमाणक साक्षी का पता न चले तब सबूत

"69. यदि धारा 68 की उपधारा (1) के अधीन विनिर्दिष्ट ऐसे किसी अनुप्रमाणक साक्षी का पता न चल सके तो यह साबित करना होगा कि कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी का अनुप्रमाण उसी के हस्तलेख में है, तथा यह कि बिल का निष्पादन करने वाले व्यक्ति का हस्ताक्षर बिल के निष्पादक के हस्तलेख में है।"

धारा 70 :

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 70 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जाए :

अनुप्रमाणित बिल के पक्षकार द्वारा निष्पादन की स्वीकृति

"70. किसी अनुप्रमाणित बिल के निष्पादनकर्ता द्वारा उसके निष्पादन की स्वीकृति, यदि ऐसी स्वीकृति उसके जीवनकाल में किसी अभिवचन में या अन्यथा किसी वाद या कार्यवाही के दौरान की गई है, उसके निष्पादन का विरोध करने वालों के विरूद्ध पर्याप्त सबूत होगा, यद्यपि बिल, ऐसी है जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है।"

धारा 71 :

69वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई है कि धारा 71 में निम्नलिखित संशोधन किया जाना चाहिए :

"71. यदि निष्पादन साबित करने के प्रयोजन से बुलाया गया कोई अनुप्रमाणक साक्षी प्रात्याख्यान करता है या उसे उसके निष्पादन का स्मरण न हो तो उसका निष्पादन अन्य साक्ष्य द्वारा साबित किया जा सकेगा और किसी अन्य अनुप्रमाणक साक्षी को बुलाना आवश्यक नहीं होगा।"

इसके बजाय, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 71 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जाए :

जबकि अनुप्रमाणक साक्षी निष्पादन का प्रत्याख्यान करता है, तब सबूत :

"71. यदि किसी विल का निष्पादन साबित करने के लिए बुलाया गया अनुप्रमाणक साक्षी विल के निष्पादन का प्रत्याख्यान करे या उसे उसके निष्पादन का स्मरण न हो, तो उसका निष्पादन अन्य साक्ष्य पेश करने से पूर्व, धारा 68 के उपबंधों के अधीन अन्य अनुप्रमाणक साक्षियों को बुलाकर साबित किया जा सकेगा।"

धारा 72 :

हम प्रस्ताव करते हैं कि धारा 72 निम्नलिखित रूप में पुनरीक्षित की जाए :

विलों या अन्य दस्तावेजों का साबित किया जाना जिनका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित नहीं है

"कोई अनुप्रमाणित विल या दस्तावेज, जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित नहीं है, ऐसे साबित किया जा सकेगा, मानो वह अनुप्रमाणित न हो।"

धारा 73 :

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 73 को निम्नलिखित रूप में पुनःप्रारूपित किया जाए :

हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा की तुलना अन्यों से जो स्वीकृत या साबित हैं

"73. (1) यह अभिनिश्चित करने के लिए कि क्या कोई हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा उस व्यक्ति की है जिसके द्वारा उसका लिखा या किया जाना अभिकथित है, किसी हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा की जिसके बारे में, यह स्वीकृत है या न्यायालय को समाधानप्रद रूप में साबित कर दिया गया है कि वह उस व्यक्ति द्वारा लिखा या किया गया था, उससे, जिसे साबित किया जाना है, न्यायालय द्वारा या उसके आदेशों के अधीन तुलना की जा सकेगी, यद्यपि वह हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा किसी अन्य प्रयोजन के लिए पेश या साबित न की गई हो।

(2) न्यायालय में उपस्थित किसी व्यक्ति को किन्हीं शब्दों या अंकों को लिखने का निर्देश न्यायालय इस प्रयोजन से दे सकेगा कि ऐसे लिखे गए शब्दों या अंकों की किन्हीं ऐसे उन शब्दों या अंकों से तुलना की जा सके जिनके बारे में अभिकथित है कि वे उस व्यक्ति द्वारा लिखे गए थे।

(3) यह धारा, किन्हीं अन्य उपांतरों के साथ, अंगुलियों की छाप, हथेली की छाप, पैरों के निशान तथा टाईपराइटिंग के लिए भी होगी।

(4) तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के उपबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, इस धारा में कोई भी बात, दांडिक न्यायालय के लिए उसके द्वारा अपराध का संज्ञान किए जाने से पूर्व, लागू नहीं होगी।

धारा 73क :

हम नहीं समझते कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता है।

धारा 74 :

हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत है परन्तु 'समझा जाए' शब्द का प्रयोग करते हुए धारा 74 के खंड (1) में एक उपांतरित स्पष्टीकरण जोड़ने का प्रस्ताव करते हैं। इसका पाठ निम्नलिखित रूप में होगा :

"स्पष्टीकरण — अभिलेख, जो किसी मामले का भाग है और जिनके परिणामस्वरूप न्यायालय द्वारा निर्णय दिया जाएगा, या किसी लोक अधिकारी का आदेश, यदि आदेश न्यायिक रूप से दिया गया हो, लोक दस्तावेज समझा जाएगा।"

धारा 75 :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 34.20 में कहा गया था कि इसमें किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 76 :

विभिन्न भारतीय विधियों तथा कतिपय इंग्लिश विधियों के उपबंधों का निर्देश करने के पश्चात्, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 35.14 से 35.17 तक में कहा गया है कि यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि

> "जहां विधिक उपबंधों, या गैर विधिक नियमों या सरकार द्वारा जारी किए गए आदेश के अधीन किसी व्यक्ति को प्रतियां दिया जाना अपेक्षित है यह चाहे गैर विधिक भी हो, उस दस्तावेज को ऐसा दस्तावेज समझा जाना चाहिए जिसका निरीक्षण करने का उस व्यक्ति को अधिकार है।"

हम पैरा 35.17 में की गई सिफारिश से सहमत हैं और यह उपधारणा स्पष्टीकरण-II में, इसमें आगे निदेशित, में लाई जाए।

इसके पश्चात् 69वी रिपोर्ट में 'गोपनीय दस्तावेजों' का निर्देश किया गया है और बम्बई, कलकत्ता तथा इलाहाबाद उच्च न्यायालयों के विरोधी विचारों का निर्देश करने के पश्चात् इसमें यह विचार व्यक्त किया गया है कि निरीक्षण के लिए दस्तावेज की प्रति से इस आधार पर इंकार करना कि वह गोपनीय है, सही नहीं है। पैरा 35.22 में यह ठीक ही कहा गया था कि किसी दस्तावेज को अन्यों से गोपनीय रखना उस व्यक्ति से गोपनीय रखने से भिन्न है जिससे कि वह संबंधित है अथवा जिस पर प्रभाव डालता है। आयोग ने पैरा 32.25 में भी राज्य के कार्यों से संबंधित दस्तावेजों का निर्देश किया है जिनका, किसी भी स्थिति में, न्यायालय परिशीलन कर सकेगा।

इसके पश्चात्, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 35.30 में सिफारिश की गई है कि अब धारा 76 में अन्तर्विष्ट स्पष्टीकरण को स्पष्टीकरण-I के रूप में संख्यांकित किया जाना चाहिए और निम्नलिखित नए स्पष्टीकरण-II और III और जोड़े जाने चाहिए :

> "स्पष्टीकरण-II—इस धारा के प्रयोजनों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि जनता को दस्तावेज का निरीक्षण करने का अधिकार होना चाहिए और यही पर्याप्त है कि उसकी प्रति मांगने वाला व्यक्ति उस दस्तावेज का निरीक्षण करने का अधिकारी है जिसकी प्रति उसने मांगी है।
>
> स्पष्टीकरण-III—जहां कोई व्यक्ति किसी दस्तावेज या उसकी प्रति के निरीक्षण का विधि द्वारा अधिकार रखता हो, या सरकार द्वारा बनाए गए नियम या किया गया आदेश उस दस्तावेज की प्रति दिए जाने की अनुमति देता हो, विधि के किसी उपबंध में ऐसी किसी बात के होते हुए भी, कि दस्तावेज अन्य व्यक्तियों के लिए गोपनीय होगा, यह धारा लागू होगी।"

स्पष्टीकरण-III—में ऊपर दिए गए स्पष्टीकरण का निर्देश किया गया है कि जिस व्यक्ति को प्रति प्राप्त करने का अधिकार है उसे उसका निरीक्षण करने का भी अधिकार प्राप्त है परन्तु यह विचार इसमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं हुआ है। विधि का सामान्य नियम भी परिलक्षित होना चाहिए। इसके बजाय, स्पष्टीकरण-III-का पाठ निम्नलिखित होना चाहिए :

> "स्पष्टीकरण-III—यदि किसी व्यक्ति को किसी दस्तावेज की प्रति प्राप्त करने का अधिकार है, तो उसे उसके निरीक्षण का अधिकार प्राप्त होना भी समझा जाएगा और जहां किसी व्यक्ति को किसी विधि द्वारा निरीक्षण या उसकी प्रति प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया है या जहां सरकार द्वारा बनाए गए किसी नियम या किए गए किसी आदेश द्वारा उसकी प्रति दिए जाने की अनुमति

दी गई है, वहां पर धारा, विधि के किसी उपबंध में ऐसी किसी बात के होते हुए भी, कि दस्तावेज अन्य व्यक्तियों के लिए गोपनीय समझा जाएगा, लागू होगी।"

धारा 77 :

हम धारा 77 में निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ने की सिफारिश करते हैं :

"**स्पष्टीकरण**-III—यदि कोई प्रमाणित प्रति वस्तुतः जारी की जाती है तो यह इसके बावजूद भी ग्राह्य होगी कि यह निरीक्षण करने या प्रमाणित प्रति प्राप्त करने के अधिकार के अनुसरण में जारी की गई थी।"

धारा 78 :

69वीं रिपोर्ट में खंड (1), (2), (3) और (6) में संशोधन का सुझाव दिया गया है। खंड (4) और (5) के लिए कोई परिवर्तन आवश्यक नहीं बताया गया है।

उपर्युक्त प्रस्ताव औपचारिक है और हमारे विचार से उनका निर्देश करना ही पर्याप्त है।

"**78.** (1) **क्राउन रिप्रेजेन्टेटिव** का निर्देश 15 अगस्त, 1947 से पूर्व की अवधि के लिए सीमित होना चाहिए;

(2) "विधान मंडलों" शब्द के स्थान पर "संसद या किसी राज्य का विधान मंडल" शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिए;

(3) धारा 78 के खंड (2) और उपर्युक्त खंड (3) के बाद निम्नलिखित खंड (2क) अन्त:स्थापित किया जाना चाहिए :

"(2क) किसी विधान मंडल या उसकी समितियों की अप्रकाशित या प्राइवेट कार्यवाहियां;

संबंधित विधान मंडल के पीठासीन अधिकारी द्वारा या संबंधित विधान मंडल की समिति के चेयरमैन या प्रमुख द्वारा अपने हस्ताक्षर तथा मुद्रा के अधीन जारी की गई कार्यवाहियों की प्रमाणित प्रति

(4) "हर मेजेस्टी द्वारा जारी उद्घोषणाएं, आदेश या विनियम" शब्दों से पूर्व "15 अगस्त, 1947 से पूर्व की अवधि के संबंध में" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं;

(5) खंड (6) को निम्नलिखित रूप में विभाजित किया जाए :

"(6) किसी विदेश के किसी अन्य प्रकार के लोक दस्तावेज,

(क) मूल द्वारा; या

(ख) उसके विधिक पालक द्वारा प्रमाणित किसी प्रति द्वारा, जिस प्रति के साथ किसी नोटरी पब्लिक की या [भारतीय कॉन्सिल] राजनयिक अभिकर्ता की मुद्रा के अधीन यह प्रमाणपत्र है कि वह प्रति मूल की विधि अभिरक्षा रखने वाले अधिकारी द्वारा सम्यक् रूप से प्रमाणित है, तथा उस दस्तावेज की प्रकृति उस विदेश की विधि के अनुसार साबित किए जाने पर।

धारा 79 :

69वीं रिपोर्ट में विस्तृत चर्चा के पश्चात्, यह सिफारिश की गई थी (देखें पैरा 37.27) कि धारा 79 से निम्नलिखित शब्दों का लोप कर दिया जाए :

"जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी ऐसे अधिकारी द्वारा जो केन्द्रीय सरकार द्वारा उसके लिए सम्यक् रूप से प्राधिकृत हो"

हम सिफारिश से सहमत हैं।

एक अन्य सिफारिश संसदीय कार्यवाहियों के बारे में है (देखें पैरा 37.9)। लोकसभा की विशेषाधिकार समिति ने, [रिपोर्ट फा.सं. 3(1)/55/एल.सी., भाग 1, क्रमांक 5] द्वारा गृह मंत्रालय की टिप्पणियां फा.सं. 22/4/58-जूडि, (विधि मंत्रालय, यू.ओ.सं. 20(1)58-विधायी-II दिनांक 21-7-59) सिफारिश की थी कि सामान्यतया, जब संसद से संबंधित दस्तावेज किसी विधिक न्यायालय में पेश करने होते हैं, तब ऐसे दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियां पर्याप्त साक्ष्य मानी जानी चाहिए और यह कि यदि आवश्यक हो, तो साक्ष्य अधिनियम में आवश्यक संशोधन किया जाना चाहिए।

साक्ष्य अधिनियम की धारा 78(2) के अधीन विधानमंडलों की कार्यवाहियां विधानमंडलों के जर्नलों द्वारा या सम्पृक्त सरकार के आदेश द्वारा प्रकाशित अधिनियमों या संक्षिप्तियों द्वारा मुद्रित होना तात्पर्यित होने वाली प्रतियों द्वारा साबित की जा सकेंगी। यह विधानमंडलों की प्रकाशित होने वाली कार्यवाहियों के बारे में है। अब प्रश्न उन कार्यवाहियों के बारे में उठता है जो प्रकाशित नहीं होती हैं। इन्हें (69वीं रिपोर्ट के पैरा 37.8 के अनुसार) निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकेगा :

(क) दस्तावेज, जिनके अन्तर्गत संसद के अधिनियम और अधिनियमों के अभिलेख आते हैं; और

(ख) दस्तावेज, जो संसद के अधिनियम और अधिनियमों के अभिलेख से पृथक हैं।

(क) विधि आयोग ने 69वीं रिपोर्ट में (पैरा 37.8) कहा है कि (क) वर्ग के अन्तर्गत आने वाले दस्तावेज, लोक दस्तावेज होंगे जिनका निर्देश धारा 74(1)(iii) में किया गया है ताकि धारा 76 के अधीन इनकी प्रमाणित प्रतियां दी जा सकें और ऐसी प्रमाणित प्रतियों को धारा 77 के अधीन मूल पेश किए बिना ही स्वीकार किया जा सकेगा।

(ख) श्रेणी (ख) के संबंध में, विधि आयोग ने कहा है (देखें पैरा 37.9) कि इस संबंध में विचारणीय प्रश्न केवल यह है कि क्या धारा 79 के लाभकारी उपबंधों को (प्रमाणित प्रतियों की मौलिकता के बारे में उप-धारणाएं) ऐसे दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियों के लिए भी लागू किया जाना चाहिए। आयोग ने तदनुसार सिफारिश की है।

हम सिफारिश से सहमत हैं।

धारा 79 को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाए :

''केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के किसी अधिकारी द्वारा या जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी ऐसे अधिकारी द्वारा, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा, जो इसके लिए सम्यक् रूप से प्राधिकृत हो, सम्यक् रूप से प्रमाणित'' शब्दों के स्थान पर—

''केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के किसी अधिकारी द्वारा या सम्पृक्त विधानमंडल के पीठासीन अधिकारी द्वारा या सम्पृक्त विधानमंडल समिति के चेयरमैन या प्रमुख द्वारा सम्यक् रूप से प्रमाणित'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं।

धारा 80 :

धारा 80 में 'विधि के अनुसार लिया गया' शब्दों के पश्चात् निम्नलिखित शब्द जोड़े जाने चाहिएं :

''या किसी मजिस्ट्रेट द्वारा दंड प्रक्रिया संहित, 1973 की धारा 164 के अधीन अभिलिखित किया गया कथन''

धारा 81 :

हम 69वीं रिपोर्ट की इस सिफारिश से सहमत हैं (देखें पैरा 39.3) कि (1) लन्दन गजट (2) ब्रिटिश क्राउन के किसी उपनिवेश, आश्रित देश या कब्जाधीन क्षेत्र का सरकारी राजपत्र होना या यूनाइटेड किंगडम की पार्लियामेंट के प्राइवेट एक्ट की क्वीन्स प्रिन्टर द्वारा मुद्रित प्रति होना संबंधी उप-धारणा 15-8-57 से पूर्व की अवधि के लिए सीमित रहनी चाहिए (अधिनियम की धारा 37 में की गई सिफारिश भी देखें)।

हम धारा 69 की इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 81 को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाए :

"न्यायालय हर ऐसे दस्तावेज का असली होना उपधारित करेगा जिसका लन्दन गजट होना तात्पर्यित है" शब्दों के स्थान पर "न्यायालय 15 अगस्त, 1947 को या इससे पूर्व जारी किए गए प्रत्येक दस्तावेज को मौलिक उपधारित करेगा जिसका लन्दन गजट होना तात्पर्यित है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएं।

69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 81

69वीं रिपोर्ट में जन्म के रजिस्ट्रीकरण के बारे में धारा 81क की सिफारिश की गई है।

अत: हम महसूस करते हैं कि प्रस्तावित धारा 81क अधिनियम की योजना में धारा 81 और 82 के बीच जोड़ना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या अधिनियम में अन्यत्र कहीं, पांचवी रिपोर्ट और 69वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश के अनुसार ऐसी प्रविष्टियों को ग्राह्य बनाने के लिए कोई उपबंध किया जाना चाहिए। हमने पाया है कि जन्म रजिस्टर की प्रविष्टियों, को ग्राह्य बनाने के लिए कोई विशेष उपबंध करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अधिनियम की धारा 35 के अधीन ऐसी प्रविष्टियां ग्राह्य हैं और यह कि ऐसे रजिस्टरों के लिए न्यायालय द्वारा नियमित रूप में यह धारा लागू की जा रही है।

यही कहना पर्याप्त होगा कि यदि धारा 35 के अधीन प्रविष्टियां ग्राह्य हैं तो विशेषकर ऐसे रजिस्टरों के बारे में ही अन्य धारा 81क का उपबंध करना आवश्यक नहीं है।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि 69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव नहीं दिया गया था कि न्यायालय मूलत: ऐसे ब्रिटिश रजिस्टरों की प्रविष्टियों की मौलिकता के बारे में उपधारणा करेगा और निर्णयजनित विधि को ध्यान में रखते हुए, हमारे विचार से धारा 81क जैसा उपबंध करना आवश्यक नहीं है। इसलिए हम इस सिफारिश को स्वीकार नहीं करते हैं।

धारा 81क (अधिनियम 21/2000 द्वारा अन्त:स्थापित रूप में)

यह नई धारा वर्ष 2000 में अन्त:स्थापित की गई है और इसके किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 82 :

हम सिफारिश करते हैं कि इस धारा को निकाल दिया जाना चाहिए।

धारा 83 :

संशोधित धारा 83 का प्रस्तावित पाठ निम्नलिखित होगा :

सरकार के प्राधिकार द्वारा बनाए गए मानचित्रों, चार्टस् या रेखांकों के बारे में उपधारणा

"83. न्यायालय यह उपधारित करेगा कि वे मानचित्र या रेखांक या चार्टस्, जो केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के प्राधिकार द्वारा बनाए गए तात्पर्यित हैं वैसे ही बनाए गए थे और सही हैं, परन्तु किसी विशिष्ट मकामले

के प्रयोजन के लिए बनाए गए मानिचत्रों या रेखांकों या तालिकाओं के बारे में यह साबित करना होगा कि वे सही हैं''

धारा 84 :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 39.18 में कहा गया था कि धारा 84 में आए ''किसी देश'' के अन्तर्गत भारत भी सम्मिलित है। यह भी कहा गया था कि इस धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 85 :

हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं (देखें पैरा 40.8) कि धारा 85 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 85क से 85ग में इलैक्ट्रानिक अभिलेखों और अंकीय चिन्हकों की उपधारणाओं का निर्देश है और ये वर्ष 2000 में अन्त:स्थापित की गई थीं। धारा 85क, 85ख और 85ग में ''उपधारण करेगा'' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 86 :

हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं (देखें पैरा 40.10) कि धारा 86 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 87 :

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था (देखें पैरा 40.17) कि दो संशोधन आवश्यक हैं—(1) रेखांकों का जोड़ा जाना (धारा 36 की भांति). (2) 'तथ्यों के कथन' के भाग का अधिक स्पष्ट रूप में उल्लेख किया जाना चाहिए। प्रस्तावित संशोधन का प्रारूप नहीं दिया गया।

अतः प्रस्तावित धारा 87 निम्नलिखिति रूप में पुनःप्रारूपित की जाएगी :

''पुस्तकों, मानचित्रों, रेखांकों तथा चार्टों के बारे में उपधारणा

87. न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि कोई पुस्तक जिसे वह लोक हित या साधारण हित संबंधी जानकारी के लिए देखें और कोई प्रकाशित मानचित्र या रेखांक या चार्ट, जिसके बारे में कथन सुसंगत तथ्य हैं और जो उसके निरीक्षणार्थ पेश किया गया है, उस व्यक्ति द्वारा तथा उस समय और उस स्थान पर लिखा गया और प्रकाशित किया गया था जिनके द्वारा या जिस समय या जिस स्थान पर उसका लिखा जाना या प्रकाशित होना तात्पर्यित है।''

धारा 88 :

हम 69वीं रिपोर्ट के इस सुझाव से सहमत हैं (पैरा 40.22) कि धारा 88 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 88क :

यह धारा 'इलैक्ट्रानिक संदेशों के बारे में उपधारणा' का निर्देश करती है। यह धारा अधिनियम 21/2000 द्वारा अन्त:स्थापित की गई थी। इसमें संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 89 :

69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया था कि इस धारा में कोई संशोधन आवश्यक नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

धारा 90 :

हम धारा 90 को 90(1) के रूप में पुनर्संख्यांकित करने तथा उपधारा (2) जोड़ने जैसाकि उत्तर प्रदेश में किया गया था, का प्रस्ताव करते हैं। हम उत्तर प्रदेश अधिनियम, 1954 की ही भांति एक पृथक धारा 90क जोड़ने का भी प्रस्ताव करते हैं। धारा 90, 20 वर्ष या इससे पुराने दस्तावेजों के लिए लागू होती है और धारा 90क 20 वर्ष से कम पुराने दस्तावेजों के लिए।

हम निम्नलिखित पुनरीक्षित धारा 90 और 90क की सिफारिश करते हैं :

''बीस वर्ष पुराने दस्तावेजों के बारे में उपधारणा

90. (1) जहां कोई दस्तावेज, जिसका 20 वर्ष पुराना होना तात्पर्यित है या साबित किया गया है, ऐसी किसी अभिरक्षा में से, जिसे न्यायालय उस विशिष्ट मामले में उचित समझता है, पेश किया गया है, वहां न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि ऐसे दस्तावेज पर हस्ताक्षर और उसका हर अन्य भाग, जिसका किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्तलेख में होना तात्पर्यित है, उस व्यक्ति के हस्तलेख में है, और निष्पादित या अनुप्रमाणित दस्तावेज होने की दशा में, यह उपधारित कर सकेगा कि वह उन व्यक्तियों द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित और अनुप्रमाणित किया गया था जिनके द्वारा उसका निष्पादित और अनुप्रमाणित होना तात्पर्यित था;

(2) जहां उपधारा (1) में निर्दिष्ट जैसा कोई दस्तावेज इस दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण संबंधी विधि के अनुसार रजिस्ट्रीकृत हुआ था और उसकी सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति पेश की जाती है, वहां न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि हस्ताक्षर और ऐसे दस्तावेज का हर भाग, जो किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्तलेख में होना तात्पर्यित है, उस व्यक्ति के हस्तलेख में है और निष्पादित या अनुप्रमाणित दस्तावेज होने की दशा, में, यह उपधारित कर सकेगा कि वह उन व्यक्तियों द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित और अनुप्रमाणित किया गया था जिनके द्वारा उसका निष्पादित और अनुप्रमाणित होना तात्पर्यित था।

स्पष्टीकरण : उपधारा (1) में निर्दिष्ट दस्तावेजों का उचित अभिरक्षा में होना कहा जाता है, यदि वे उस स्थान में हैं और उस व्यक्ति की अभिरक्षा में हैं जहां और जिसके पास वे प्रकृत्या होने चाहिएं, परन्तु कोई भी अभिरक्षा अनुचित नहीं होगी यदि उसका उद्गम विधि सम्मत साबित कर दिया जाए या उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियां ऐसी हैं जिनसे उद्गम अधिसंभाव्य हो जाता है।

यह स्पष्टीकरण धारा 81 के लिए और 90क के खंड (क) के लिए भी लागू होगा।

दृष्टांत

(क) 'क' भू-सम्पत्ति पर दीर्घ काल से कब्जा रखता आया है। वह उस भूमि संबंधी विलेख, जिनसे उस भूमि पर उसका हक दर्शित होता है, अपनी अभिरक्षा में से पेश करता है। यह अभिरक्षा उचित है।

(ख) 'क' उस भू-सम्पत्ति से संबंधित विलेख, जिसका वह बंधकदार है, पेश करता है। बंधककर्त्ता संपत्ति पर कब्जा रखता है। वह अभिरक्षा उचित है।

(ग) 'ख' का संसर्गी 'क', ख के कब्जे वाली भूमि से संबंधित विलेख पेश करता है, जिन्हें 'ख' ने उसके पास सुरक्षित अभिरक्षा के लिए निक्षिप्त किया था। यह अभिरक्षा उचित है।

20 वर्ष से कम पुराने कतिपय दस्तावेजों के बारे में उपधारणा

90क. जहां—

(क) दस्तावेजों के रजिस्ट्रीकरण से संबंधित विधि के अनुसार रजिस्ट्रीकृत कोई दस्तावेज किसी अभिरक्षा से पेश किया जाता है, जो न्यायालय उस विशिष्ट मामले में उचित समझता है, और रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज 20 वर्ष से कम पुराना है; या

(ख) दस्तावेजों के रजिस्ट्रीकरण से संबंधित विधि के अनुसार रजिस्ट्रीकृत किसी दस्तावेज की सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति, जिसका मूल दस्तावेज 20 वर्ष से कम पुराना है, पेश किया जाता है; या

(ग) किसी दस्तावेज की, जो न्यायालय के अभिलेख का भाग है, सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति, जिसका मूल किसी पूर्व के मामले में असली साबित किया जा चुका है और जिसका मूल 20 वर्ष से कम पुराना है, पेश किया जाता है,

न्यायालय खंड (क) में उल्लिखित रजिस्ट्रीकृत दस्तावेजों या खंड (ख) या (ग) में निर्दिष्ट दस्तावेजों के मूल के बारे में यह उपधारित कर सकेगा कि वह उस व्यक्ति द्वारा निष्पादित किया गया है जिसके द्वारा निष्पादित होना तात्पर्यित है।

परन्तु यह कि इस धारा के अधीन ऐसे किसी दस्तावेज के बारे में जो किसी वाद या प्रतिरक्षा का आधार है या जहां वाद में या लिखित कथन पर निर्भर किया जाता है, ऐसी कोई उपधारणा नहीं की जाएगी''।

धारा 90क :

यह धारा अधिनियम 21/2000 द्वारा पुरःस्थापित की गई और इसे 90ख के रूप में पुनर्संख्यांकित किया जाएगा।

धारा 91 :

हम 69वीं रिपोर्ट में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 92 :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 43.18 और 43.20 में यह सिफारिश की गई है कि धारा 92 में, (क) जहां तक द्विपक्षीय संव्यवहारों का संबंध है, इसको फिर से प्रारूपित किया जाना, और (ख) एकपक्षीय संव्यवहारों में फेरबदल करने के लिए मौखिक साक्ष्य निषिद्ध करने हेतु उपबंध जोड़ा जाना अपेक्षित है।

धारा 92 के मुख्य भाग के बारे में यह सिफारिश की गई है कि धारा 92 (1)(क) और (ख) के रूप में विभाजित की जाए। संविदाओं, अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन का निर्देश करने संबंधी पक्षकारों के बीच के दस्तावेजों को धारा के खंड (क) में दिया जाए और खंड (ख) में ऐसे दस्तावेजों का निर्देश किया जाए जिनकी अन्तर्वस्तु का दस्तावेज के रूप में अभिलिखित किया जाना विधि द्वारा अपेक्षित हो। ऐसे विषयों के लिए जिन्हें दस्तावेज का रूप दिया

जाना अपेक्षित हो परन्तु जो दो या दो से अधिक पक्षकारों के बीच संव्यवहारों के अन्तर्गत न होते हों, धारा 92(2) जोड़ी जानी चाहिए।

हम, धारा 92 के आरम्भिक पैराग्राफ में संशोधन के बारे में 69वीं रिपोर्ट के पैरा 43.18 में प्रस्तावित प्रारूप की सिफारिश करते हैं। हम आगे यह सिफारिश भी करते हैं कि कतिपय एकपक्षीय दस्तावेजों में मौखिक साक्ष्य के अपवर्जन के लिए, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 43.20 में दिए गए उपबंध के साथ-साथ निम्नलिखित शब्द जोड़े जाने चाहिएं "जैसे अभियुक्त की संस्वीकृतियां, साक्षियों के कथन, निर्णयों, डिक्रियों या आदेशों के अतिरिक्त न्यायालय की कार्यवाहियां, किसी कम्पनी का संकल्प जिसका लिखित में होना अपेक्षित हो"। परन्तु इन्हें धारा 92 की उप-धारा (2) में लाने के बजाय, हम सिफारिश करते हैं कि यह सामग्री नई धारा 92क में समाविष्ट की जानी चाहिए।

हम धारा 92 के आरम्भिक पैराग्राफ के लिए संशोधन के निम्नलिखित प्रारूप की और नई धारा 92क के अन्तःस्थापन की सिफारिश करते हैं :

"92. जबकि ऐसी संविदा या अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन के निबन्धनों को, जैसा कि धारा 91 में निर्दिष्ट है, या किसी बात को, जिसके बारे में विधि द्वारा अपेक्षित है कि वह ऐसे दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध की जाए, जिससे दो या दो से अधिक पक्षकारों के बीच कोई संव्यवहार बनता हो, धारा 91 के अनुसार साबित किया जा चुका हो, तब किसी मौखिक करार या कथन का साक्ष्य ग्रहण नहीं किया जाएगा--

(क) ऐसी किसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन के पक्षकारों या उनके हित प्रतिनिधियों के बीच दस्तावेज के निबंधनों का खंडन करने या उनमें फेर-बदल करने या उनमें कुछ जोड़ने या घटाने के प्रयोजन के लिए; या

(ख) ऐसे संव्यवहार के पक्षकारों या उनके हित प्रतिनिधियों के बीच दस्तावेज, जिसकी अन्तर्वस्तु को विधि द्वारा दस्तावेज के रूप में अभिलिखित किया जाना अपेक्षित है, के निबंधनों का, यथा स्थिति, खंडन करने या उनमें फेर-बदल करने या उनमें कुछ जोड़ने या घटाने के प्रयोजन के लिए।

कतिपय एकपक्षीय दस्तावेजों के मामले में मौखिक साक्ष्य का अपवर्जन

"92क. जबकि कोई बात, जिसका विधि द्वारा दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध किया जाना अपेक्षित है और जिससे पक्षकारों के बीच कोई संव्यवहार न बनता हो, जैसे, किसी अभियुक्त की संस्वीकृति, किसी साक्षी का कथन, न्यायालय की कार्यवाही (निर्णय, डिक्री या आदेश से भिन्न) किसी कम्पनी का संकल्प जिसका लिखित में होना अपेक्षित हो, इस प्रकार लेखबद्ध किया जाता है और धारा 91 के अनुसार साबित कर दिया जाता है, तब दस्तावेज की अन्तर्वस्तु का खंडन करने, उसमें फेर-फार करने या कुछ जोड़ने अथवा घटाने के प्रयोजन से किसी मौखिक कथन का कोई साक्ष्य ग्रहण नहीं किया जाएगा।"

(ख) अब हम धारा 92 के छः परन्तुकों के बारे में विचार करेंगे। 69वीं रिपोर्ट में चर्चा को विभाजित करके पहले पांच परन्तुकों को (क) के अन्तर्गत चर्चा में लिया गया है और छटे परन्तुक को (ख) के अधीन।

(क) धारा 92 के पहले पांच परन्तुक

हम, परन्तुक (1) में किसी प्रकार के संशोधन का सुझाव नहीं देते हैं।

परन्तुक (2)

हम, परन्तुक (2) में किसी प्रकार के संशोधन का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

परन्तुक (3)

हम, परन्तुक (3) में किसी प्रकार के संशोधन का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

परन्तुक (4)

हम, इस परन्तुक में किसी प्रकार के संशोधन का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

परन्तुक (5)

हम, परन्तुक (5) में किसी प्रकार के संशोधन का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

परन्तुक (6)

परन्तुक (6) से संबंधित सभी पहलुओं पर विचार करने के पश्चात्, हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि परन्तुक को जैसा है वैसा ही रहने दिया जाए।

धारा 93 :

69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया था (देखें पैरा 44.21) कि धारा 93 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम भी इससे सहमत हैं।

धारा 94 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.3 की इस बात से सहमत हैं कि धारा 94 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 95 :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.4 में यह कहा गया था कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम भी इससे सहमत हैं।

धारा 96 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.6 की इस बात से सहमत हैं कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 97 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.10 की इस बात से सहमत हैं कि धारा 97 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 98 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 44.14 की इस बात से सहमत हैं कि धारा 98 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 99 :

हम 69वीं रिपोर्ट के प्रस्ताव (पैरा 44.27) से सहमत हैं परन्तु निम्नलिखित पुनरीक्षित प्रारूप की सिफारिश करते हैं :

दस्तावेज के निबंधनों में फेरफार करने वाले करार का साक्ष्य कौन दे सकेगा।

"**99.** किसी ऐसे तथ्य का साक्ष्य दिया जा सकेगा जो दस्तावेज के निबंधनों का खंडन करने, उनमें फेरफार करने, जोड़ने या घटाने वाले किसी समकालीन करार को दर्शित करने की प्रवृत्ति रखता हो—,

(क) ऐसे व्यक्तियों के बीच जो दस्तावेज के पक्षकार नहीं है या उनके हित प्रतिनिधि नहीं है; या

(ख) ऐसे व्यक्ति, जो दस्तावेज का एक पक्षकार है या उसका हित प्रतिनिधि है और ऐसे व्यक्ति के बीच, जो पक्षकार या उसका हित प्रतिनिधि नहीं है।

परन्तु यह कि ऐसा कोई साक्ष्य नहीं दिया जा सकेगा जहां कि विषय, विधि के अनुसार, लेखबद्ध किया जाना अपेक्षित है।"

दृष्टांत :

" 'क' और 'ख' एक लिखित करार करते हैं कि 'ख' कुछ कपास बेचेगा, जिसका संदाय परिदान करने पर किया जाएगा, साथ ही वे एक मौखिक करार भी करते हैं कि 'क' को तीन महीने का उधार दिया जाएगा। यह 'क' और 'ख' के बीच दर्शित नहीं किया जा सका परन्तु यह 'ग' द्वारा दर्शित किया जा सकेगा यदि इससे उसके हित को क्षति पहुंचती है"

धारा 100 :

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि "भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1865 (1865 का 10)" शब्दों के स्थान पर "भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925" शब्द प्रतिस्थापित किए जाने चाहिए, हम इस सुझाव से सहमत हैं।

धारा 101 :

69वीं रिपोर्ट के 45वें अध्याय में, आयोग ने धारा 101 पर विचार किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि धारा 101 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। (देखें पैरा 45.18)

परन्तु आयोग ने किसी मामले को स्थापित करने के भार के बारे में सिविल मामलों में प्रमुख सिद्धान्त का निर्देश किया है या विधि भार (या सहमत कराने का भार); जो कभी नहीं बदलता और 'साक्षीय भार' जो सुनवाई के दौरान एक पक्ष से दूसरे पक्ष की ओर बदल जाता है। किसी दांडिक मामले में भार सदैव अभियोजन पक्ष पर होता है कि वह यह साबित करे कि अभियुक्त दोषी है। यद्यपि, ऐसी विशेष विधियां भी होंगी जिनमें अभियुक्त से कतिपय तथ्यों को साबित करने की अपेक्षा की गई हो जब कभी अभियोजन पक्ष ने कतिपय अन्य तथ्य साबित किए हों।

ये सिद्धान्त भली-भांति ज्ञात हैं और मूल है, आयोग ने किसी संशोधन का सुझाव नहीं दिया है।

धारा 102 :

इस धारा में फिर से मौलिक तथ्य निर्धारित किया गया है और हम 69वीं रिपोर्ट से सहमत हैं (देखें पैरा 45.19) कि धारा 102 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 103 :

इस धारा में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु दृष्टांत से (क) निकाला जा सकता है।

धारा 104 :

69वीं रिपोर्ट में, पैरा 45.22 में यह सिफारिश की गई थी धारा 104 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है और हम इस सिफारिश से सहमत हैं।

धारा 105 :

इस मामले का गहराई से अध्ययन करने के पश्चात् हम इस बात से सहमत है कि जहां तक पागलपन जैसी प्रतिरक्षा का संबंध है, कोई और छूट देना वांच्छनीय नहीं होगा और संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 106 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 47.28 से सहमत हैं कि धारा 106 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 107 :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 48.6 और 48.7 में बताया गया है कि अवधि को कम करने की आवश्यकता नहीं है। अवधि जितनी लम्बी होगी, उपधारणा उतनी ही दुर्बल हो जाएगी।

परन्तु आयोग ने पैरा 48.10 में, न्यायालय को वहां एक विवेकाधिकार प्रदान करते हुए, जहां न्यायालय को यह प्रतीत होता हो कि संबंधित व्यक्ति दुर्घटनाग्रस्त या किसी आपदाग्रस्त था, धारा में एक परन्तुक जोड़ने की सिफारिश की है। धारा 107 के नीचे परन्तुक का पाठ, जैसी कि पैरा 48.11 में सिफारिश की गई है, निम्नलिखित है :—

> "परन्तु यह कि जहां न्यायालय को साक्ष्य से यह प्रतीत होता हो कि संबंधित व्यक्ति उन परिस्थितियों में दुर्घटना या आपदा में अन्तर्ग्रस्त था, जो दुर्घटना या आपदा में उस व्यक्ति की मृत्यु को अत्यंत अधिसंभाव्य बनाती हों, न्यायालय, कारण अभिलिखित करके, यह निदेश दे सकेगा कि इस धारा के उपबंध लागू नहीं होंगे।"

हम इससे सहमत हैं कि 69वीं रिपोर्ट के पैरा 48.11 में ऊपर उद्धृत किए गए परन्तुक को धारा, जैसीकि यह इस समय है, के नीचे जोड़ा जाए।

धारा 108 :

धारा 108 में कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति के बारे में 7 वर्ष तक कुछ नहीं सुना जाता है तो, यह साबित करने का भार कि वह जीवित है, उस व्यक्ति पर चला जाएगा जो उसके जीवित होने की पुष्टि करता है। दो प्रश्न उठते हैं पहला यह कि 7 वर्ष की अवधि समाप्त होने के अन्त में स्थिति क्या थी, और दूसरा यह कि 7 वर्ष की अवधि के भीतर साबित करने का भार किस पर होगा। इंग्लैण्ड तथा भारत में निर्णय जनित विधि को ध्यान में रखते हुए तथा उत्तराधिकार और पुनर्विवाह की समस्याओं की दृष्टि से, इन दोनों ही स्थितियों के संबंध में धारा 108 को इस प्रकार उपांतरित करने की सिफारिश की जाती है, जहां तक पहली स्थिति का संबंध है, अर्थात् 7 वर्ष की अवधि के अन्त में ऐसी उपधारणा व्युत्पन्न होती है कि व्यक्ति जीवित नहीं है और तब 7 वर्ष की समाप्ति के पश्चात साबित करने का भार उस पक्षकार पर चला जाता है जो उसके जीवित होने का दावा करता है और यदि पक्षकार साबित करने में असफल रहता है तो, यह उपधारित किया जाएगा कि 7 वर्ष की समाप्ति पर व्यक्ति की मृत्यु हो गई। प्रस्तावित स्पष्टीकरण दूसरी

स्थिति को स्पष्ट करता है और उसमें कहा गया है कि, सात वर्ष की अवधि के भीतर, मृत्यु की कोई उपधारणा नहीं की जाएगी और इस तथ्य को साबित करने का भार उस व्यक्ति पर होगा जो यह कहता है कि उस व्यक्ति की मृत्यु सात वर्ष के भीतर किसी विशिष्ट दिन को हो गई थी।

69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित धारा 108 को नीचे की गई सिफारिश के रूप में प्रारूप उपांतरित किया गया है। हमारे विचार से प्रस्तावित धारा 108 को निम्नलिखित रूप में पढ़ा जाए :

यह साबित करने का भार कि वह व्यक्ति, जिसके बारे में सात वर्ष से कुछ सुना नहीं गया है, जीवित है

"**108.** धारा 107 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, जहां प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति जीवित है या मर गया है या किसी विशिष्ट समय जीवित था या मर गया था, और यह साबित कर दिया जाता है कि सात वर्ष या अधिक समय से उसके बारे में उन्होंने कुछ नहीं सुना है, जिन्होंने उसके बारे में यदि वह जीवित होता तो स्वाभाविकतया सुना होता, तब यह साबित करने का भार कि सात वर्ष की अवधि समाप्त होने के पश्चात् किसी समय वह जीवित था उस व्यक्ति पर होगा जो उसे प्रतिज्ञात करता है और यदि भार से अवमुक्ति नहीं होती है, तो न्यायालय, ऐसी अवधि के बारे में सात वर्ष की अवधि समाप्त होने के समय से आरम्भ करते हुए, उपधारणा करेगा कि व्यक्ति मर गया था।

स्पष्टीकरण : यदि ऐसा कोई प्रश्न उठता है कि व्यक्ति की मृत्यु उपर्युक्त सात वर्ष की अवधि के दौरान किसी विशिष्ट तारीख को हुई तब यह साबित करने का भार कि उसकी मृत्यु उस अवधि के दौरान ऐसी तारीख को हुई उस व्यक्ति पर होगा जो उसे प्रतिज्ञात करता है और इस धारा में निर्देशित की गई उपधारणा लागू नहीं होगी।"

धारा 108क (69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित रूप में)। यह साथ-साथ होने वाली मृत्यु के मामले में उपधारणा से संबंधित है।

69वीं रिपोर्ट में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 21 के निरसित करने का और धारा 108क (देखें पैरा 50.26) निम्नलिखित रूप में अन्तःस्थापित करने का प्रस्ताव किया गया है :

"**108क.** साथ-साथ होने वाली मृत्यु के मामले में उपधारणा : जहां, दो या अधिक व्यक्तियों की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में हुई है जिसमें यह अनिश्चित है कि कौन किसका उत्तरजीवी है, वहां ऐसी मृत्यु, सभी प्रयोजनों से, आयु की वरिष्ठता के क्रम में हुई उपधारित की जाएगी और तदनुसार छोटे को बड़े का उत्तरजीवी समझा जाएगा।"

परन्तु यह कि जहां निर्वसीयती या वसीयती हक का प्रश्न उठता है जिसमें यह अनिश्चित है कि कौन किसका उत्तरजीवी है, और इस धारा में उपबंधित द्वारा पति या पत्नी निर्वसीयती या वसीयती समझे जाते हैं, तब उत्तराधिकार विधि, निर्वसीयती या वसीयती के बारे में इस प्रकार से प्रभावी होगी जैसेकि पति या पत्नी निर्वसीयती या वसीयती के उत्तरजीवी नहीं थे।

हम इस सिफारिश से कुछ उपांतरणों के साथ सहमति व्यक्त करते हैं और निम्नलिखित रूप में नई धारा 108क अन्तःस्थापित करने की सिफारिश करते हैं :

साथ-साथ होने वाली मृत्यु के बारे में उपधारणा

"108क. : (1) उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, जहां, दो या अधिक व्यक्तियों की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में हुई है जिसमें यह अनिश्चित है कि कौन किसका उत्तरजीवी है, ऐसी मृत्यु, सभी प्रयोजनों से, आयु की वरिष्ठता

के क्रम में हुई समझी जाएगी और जब तक कि विपरीत प्रमाणित न किया जाए, छोटे को बड़े का उत्तरजीवी समझा जाएगा।

(2) ऐसे मामले में जहां पति और पत्नी की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में हुई हों जिसमें यह अनिश्चित हो कि उनमें से कौन उत्तरजीवी है और

(क) जहां मृतक पति/पत्नी की संपत्ति के निर्वसीयती या वसीयती उत्तराधिकार के हक का प्रश्न उठता हो; और

(ख) पति/पत्नी को, उपधारा (1) में उल्लिखित के अनुसार दोनों में से आयु में छोटा होने के नाते, निर्वसीयती या वसीयती उत्तरजीवी उपधारित किया जाता हो,

वहां उत्तराधिकार चाहे निर्वसीयती हो या वसीयत के अधीन निर्वसीयती या वसीयत के बारे में इस प्रकार से प्रभावी होगा कि अल्पायु वाले पति/पत्नी की निर्वसीयती या वसीयती से पहले मृत्यु हुई है।

परन्तु यह कि जहां छोटी आयु वाला पति/पत्नी, जिसे इस प्रकार निर्वसीयती या वसीयती से पहले मृतक समझा जाता है, विधि के अनुसार, निर्वसीयती या वसीयती की संपत्ति का, एकमात्र उत्तराधिकारी है या अन्यों के साथ उत्तराधिकारी है, तब अल्पायु वाले पति/पत्नी को इस धारा के अधीन निर्वसीयती या वसीयती से पहले मृतक नहीं समझा जाएगा और निर्वसीयती या वसीयती की संपत्ति अल्पायु वाले पति/पत्नी के लिए विधि के अनुसार भागत: होगी और उक्त पति/पत्नी के उत्तराधिकारी उसकी सम्पदा का दावा कर सकेंगे।

दृष्टांत

(क) दो भाइयों 'क' और 'ख' की साथ-साथ मृत्यु होती है और स्थिति में छोटा भाई 'ख' को 'क' का उत्तरजीवी समझा जाएगा।

(ख) पति 'क' और पत्नी 'ख' की किसी दुर्घटना में साथ-साथ मृत्यु हो जाती है। पति 'क' के पास कृषि भूमि है और पत्नी के पास गृह संपत्ति। 'क' पति की सम्पदा के उत्तराधिकार के मामले में, पति के उत्तराधिकारियों द्वारा यह उपधारित किया जाएगा कि 'ख' पत्नी की मृत्यु पहले हुई थी और इसलिए 'ख' के उत्तराधिकारी पति की सम्पदा का दावा करने के हकदार नहीं होंगे। 'ख' पत्नी की सम्पदा के उत्तराधिकार के बारे में पत्नी के उत्तराधिकारियों द्वारा यह उपधारित किया जाएगा कि 'क' पति की मृत्यु पहले हुई और 'क' के उत्तराधिकारी पत्नी की संपद का दावा करने के हकदार नहीं होंगे।

(ग) दृष्टांत (ख) के पहले भाग में यदि पत्नी 'ख' पति 'क' से आयु में कम है परन्तु उसे पति से पहले मृतक समझा जाता है, उपधारा (2) के कारण से, उसे इस प्रकार नहीं समझा जाएगा जहां, यदि वह पति 'क' की उत्तरजीवी होती तो वह एकमात्र उत्तराधिकारी हुई होती या अन्य के साथ-साथ उसके पति की एस्टेट में उसका अंश भी रहा होता, चाहे निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा होती या वसीयत द्वारा और उस स्थिति में, एक बार पति 'क' की सम्पत्ति पत्नी 'ख' के लिए न्यायगत हो जाती है तब उसके (पति के) उत्तराधिकारी भी उसका दावा करने के अधिकारी हो जाएंगे।

(घ) दृष्टांत 'ख' के दूसरे भाग में, यदि पति 'क' पत्नी 'ख' से आयु में छोटा था परन्तु अपनी पत्नी से पहले मृतक समझा जाता, उपधारा (2) के कारण से उसे इस प्रकार नहीं समझा जाएगा जहां यदि पति 'ख' का उत्तरजीवी होता, तो वह निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा या वसीयती उत्तराधिकार द्वारा, एकमात्र उत्तराधिकारी होता या अन्य के साथ अपनी पत्नी की एस्टेट में अपने अंश का उत्तराधिकारी होता और

उस स्थिति में, एक बार पत्नी 'ख' की सम्पत्ति पति 'क' के लिए न्यागत हो जाती तो उसके उत्तराधिकारी भी उसका दावा करने के हकदार हुए होते ।

धारा 109 :

169वीं रिपोर्ट के पैरा 51.6 में यह कहा गया था कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमति व्यक्त करते हैं।

धारा 110 :

169वीं रिपोर्ट में इस विषय से संबंधित पहलुओं पर थोड़ी चर्चा हुई है और अन्ततः पैरा 52.1 में यह कहा गया है कि इस धारा में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम इस सुझाव से सहमत हैं।

धारा 111 :

169वीं रिपोर्ट के पैरा 53.5 में यह कहा गया है कि धारा 111 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमति व्यक्त करते हैं।

धारा 111क :

हमारे विचार से धारा 111 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 112 :

यह धारा विवाह और धर्मजता के दौरान जन्म का निर्देश करती है। पहलुओं में से एक महत्वपूर्ण पहलु यह है कि क्या अन्य अपवादों के आधार पर, परस्पर पहुंच के अतिरिक्त, रक्त/डी.एन.ए. परीक्षण की अनुमति दी जाए या बन्ध्यापन का सबूत या पति की नपुंसकता के सबूत की अनुमति दी जाए। हमने दो और अपवादों की सिफारिश की है परन्तु पक्का सबूत निश्चयात्मक सबूत मानक होगा। हमने, विवाह के विघटन के अतिरिक्त, विवाह के अपवर्जन और अकृत के मामलों होने पर भी विचार किया है।

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 112 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जाए :

"112. यह तथ्य कि किस अपत्य का जन्म उसकी माता और किसी पुरुष के बीच विधिमान्य विवाह के कायम रहते हुए या दो सौ अस्सी दिन के भीतर—

(i) विवाह को अकृत घोषित किए जाने के उपरांत माता के विवाहित रहते हुए, या

(ii) विवाह का विघटन करके उसे शून्य बनाए जाने के उपरांत माता के अविवाहित रहते हुए, हुआ था इस बात का निश्चायक सबूत होगा कि वह उस पुरुष का धर्मज अपत्य है जब तक कि—

(क) यह दर्शित न किया जाए कि विवाह के पक्षकारों की परस्पर पहुंच ऐसे किसी समय नहीं थी जब उसका अपत्य का गर्भाधान किया जा सकता था; या

(ख) उस व्यक्ति के खर्चे पर किए गए परीक्षणों द्वारा यह निश्चायक रूप से स्थापित नहीं हो जाता कि :

(i) चिकित्सीय परीक्षण द्वारा कि, उस सुसंगत समय पर, वह व्यक्ति नुपंसक या पौरुषविहीन था और अपत्य का पिता नहीं है, या

(ii) उस व्यक्ति तथा उसकी पत्नी की सहमति से किए गए रक्त परीक्षण और अपत्य के मामले में, न्यायालय की अनुज्ञा से, कि वह व्यक्ति अपत्य का पिता नहीं है, या

(iii) व्यक्ति की सहमति से किए गए और अपत्य के मामले में, न्यायालय की अनुज्ञा से, किया गया डी.एन.ए. जैनेटिक प्रिन्टिंग परीक्षण, कि वह व्यक्ति पिता नहीं है, और

परंतु यह कि न्यायालय इस बात से संतुष्ट है कि उपखंड (i) या उपखंड (ii) या उपखंड (iii) के अधीन परीक्षण स्वीकृत प्रक्रिया के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति से किए गए हैं और प्रत्येक उपखंड (i) या (ii) या (iii) के मामले में कम से कम दो परीक्षण किए गए हैं और दोनों के एक समान परिणाम प्राप्त हुए हैं कि व्यक्ति अपत्य का पिता नहीं है।

परंतु यह और कि जहां कोई व्यक्ति उपखंड (i) या (ii) या (iii) के अधीन परीक्षण से इंकार करता है वहां उस व्यक्ति से, खंड (क) के उपबंध को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किए बिना, यह समझा जाएगा कि उसने अपने पितृत्व के विरुद्ध किए गए किसी दावे के प्रति अपनी प्रतिरक्षा छोड़ दी है।

स्पष्टीकरण I : खंड (ख) के उपखंड (iii) के प्रयोजनों के लिए डी.एन.ए. जैनेटिक प्रिन्टिंग टैस्ट्स से व्यक्ति और अपत्य के नमूनों द्वारा किए गए परीक्षण अभिप्रेत होगा और 'डी.एन.ए.' शब्द से डियोक्सीरिबो न्यूक्लियिक एसिड अभिप्रेत होगा।

स्पष्टीकरण II : इस धारा के प्रयोजनों से 'विधिमान्य विवाह' शब्दों से शून्य विवाह अभिप्रेत होगा जब तक कि उसे अकृत या शून्यकरणीय घोषित नहीं किया जाता, जब तक कि वह विघटन द्वारा शून्य नहीं हो जाता, जहां, तत्समय प्रवृत किसी अधिनियमिति द्वारा, यह उपबंधित किया गया हो कि ऐसे विवाहों के अपत्य, जो विघटन द्वारा अकृत और शून्य घोषित कर दिए जाते हैं, भी धर्मज होंगे।

धारा 113 :

हम धारा 69वीं रिपोर्ट के इस प्रस्ताव से सहमत हैं कि धारा 113 को निकाल दिया जाए।

धारा 113क :

धारा 113क में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 113ख :

हम धारा 113ख में संशोधन का कोई सुझाव नहीं देते हैं।

धारा 114 :

भविष्य में वस्तुस्थिति के बारे में अवधारणा धारा 114 के दृष्टांत में उपबंधित है परन्तु उसके पश्चात् उपधारणा, जिसे न्यायालयों द्वारा मान्यता दी गई है, हमारे द्वारा की गई सिफारिश द्वारा अन्तःस्थापित किए जाने का प्रस्ताव है। कतिपय अन्य लघु परिवर्तन किए गए हैं।

सहअपराधी के बारे में हम दृष्टांत (ख) को धारा 33 में ले जाते हैं और धारा 114 से दृष्टांत (ख) का लोप करते हैं।

हम धारा 114 के दृष्टांतों में निम्नलिखित परिवर्तनों की सिफारिश करते हैं :

(i) दृष्टांत (ख) और (ग) का लोप किया जाए।

(ii) दृष्टांत (घ) के बाद निम्नलिखित दृष्टांत जोड़ा जाए, अर्थात् —

"**धक.** कि कोई चीज या चीजों की दशा का किसी समय अस्तित्व में होना दर्शित किया गया है, वे पूर्व में ऐसी लघुतर कालावधि में अस्तित्व में थीं जितनी में ऐसी चीजें या चीजों की दशाएं शून्य हो जाती हैं।"

(iii) पैराग्राफ "किन्तु न्यायालय यह विचार करने में कि ऐसे सूत्र उसके समक्ष के विशिष्ट मामले को लागू होते हैं या नहीं, निम्नलिखित प्रकार के तथ्यों का भी ध्यान रखेगा—" के पश्चात् निम्नलिखित संशोधन किया जाए, अर्थात् :—

(क) "दृष्टांत (ख) के बारे में" शब्दों से शुरू होने वाले दोनों पैराग्राफ का लोप किया जाएगा;

(ख) "दृष्टांत (ग) के बारे में" शब्दों से शुरू होने वाले पैराग्राफो का लोप किया जाएगा;

(ग) "दृष्टांत (घ) के बारे में" शब्दों से शुरू होने वाले दोनों पैराग्राफ के पश्चात् निम्नलिखित अन्तःस्थापित किया जाएगा, अर्थात् —

दृष्टांत (धक) के बारे में : यह साबित किया जाता है कि कोई नदी अमुक मार्ग में आज बह रही है, किन्तु यह ज्ञात है कि पिछले कई वर्षों से ऐसी बाढ़ आ रही है जो उसके मार्ग को परिवर्तित कर सकती थी।

(घ) "दृष्टांत (ड़) के बारे में" शब्दों से शुरू होने वाले दोनों पैराग्राफ में "कोई न्यायिक कार्य, जिसकी नियमितता प्रश्नगत है" शब्दों के स्थान पर "कोई न्यायिक या सरकारी कार्य, जिसकी नियमितता प्रश्नगत है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 114क :

विधि आयोग की 172वीं रिपोर्ट में भारतीय दंड संहिता की धारा 376 में "लैंगिक प्रहार" शब्द को परिभाषित करते हुए एक संशोधन का प्रस्ताव किया गया था। इसके परिणामस्वरूप, 172 वीं रिपोर्ट के अनुसार धारा 114 में संशोधन किया जाना प्रस्तावित था। परन्तु, चूंकि उक्त रिपोर्ट अभी तक कार्यान्वित नहीं हुई है, हम धारा 114क को उसके वर्तमान स्वरूप में छोड़ते हैं।

धारा 114ख :

113वीं रिपोर्ट में धारा 114ख की जिस रूप में सिफारिश की गई है उसका पाठ निम्नलिखित है :

"**114ख.** (1) किसी व्यक्ति को क्षति कारित करने के कथित कृत्य द्वारा किए गए अपराध के लिए अभियोजन में (किसी पुलिस अधिकारी के), यदि ऐसा साक्ष्य है कि क्षति उस समय कारित की गई थी जब व्यक्ति पुलिस की अभिरक्षा में था तो, न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि क्षति उस पुलिस अधिकारी द्वारा कारित की गई थी जिसकी अभिरक्षा में वह व्यक्ति उस अवधि में था।

(2) न्यायालय, यह निर्णय करने में कि उसे उपधारा (1) के अधीन उपधारणा करनी चाहिए अथवा नहीं, सभी परिस्थितियों को, विशेषकर, (क) अभिरक्षा की अवधि, (ख) पीड़ित व्यक्ति द्वारा किया गया इस आशय का कोई कथन, जो साक्ष्य में ग्राह्य कथन होगा कि क्षति किस प्रकार पहुंचाई गई थी, (ग) किसी चिकित्सक का साक्ष्य जिसने पीडित की जांच की हो, और (घ) किसी मजिस्ट्रेट का साक्ष्य जिसने पीड़ित व्यक्ति का कथन अभिलिखित किया हो या अभिलिखित करने का प्रयास किया हो सहित, ध्यान में रखेगा।"

हम उपांतरण सहित इस सिफारिश को दोहराते हैं। डी.के. बसु मामले की दृष्टि से हमारा विचार है कि प्रस्तावित धारा 114-ख के नीचे इस आशय की एक अन्य उपधारा (3) जोड़ी जानी चाहिए कि इस धारा में पुलिस अधिकारी

से, पुलिस के अधिकारी, अर्धसैनिक बलों और सीमा शुल्क, उत्पाद शुल्क तथा राजस्व आसूचना विभागों के अधीन आने वाले अधिकारी अभिप्रेत हैं।

हम सिफारिश करते हैं कि नई धारा 114-ख निम्नलिखित रूप में अन्तःस्थापित की जाए :

पुलिस अभिरक्षा में शारीरिक क्षति के बारे में उपधारणा

"114ख.(1) किसी व्यक्ति को शारीरिक क्षति कारित करने के कथित कृत्य द्वारा किए गए अपराध के लिए किसी पुलिस अधिकारी के अभियोजन में, यदि ऐसा साक्ष्य है कि क्षति उस व्यक्ति के पुलिस अभिरक्षा में रहने की अवधि में कारित की गई थी तो, न्यायालय यह उपधारित करेगा कि क्षति उस पुलिस अधिकारी द्वारा कारित की गई थी जिसकी अभिरक्षा में वह व्यक्ति उस अवधि में था।

(2) न्यायालय, यह निर्णय करने में कि उसे उपधारा (1) के अधीन उपधारणा करनी चाहिए अथवा नहीं, सभी परिस्थितियों को, विशेषकर,

(क) अभिरक्षा की अवधि,

(ख) पीडित व्यक्ति द्वारा किया गया इस आशय का कोई कथन, जो साक्ष्य में ग्राह्य कथन होगा कि क्षति किस प्रकार पहुंचाई गई थी,

(ग) किसी चिकित्सक का साक्ष्य जिसने पीडित की जांच की हो, और

(घ) किसी मजिस्ट्रेट का साक्ष्य, जिसने पीडित व्यक्ति का कथन अभिलिखित किया हो या अभिलिखित करने का प्रयास किया हो।

(3) इस धारा के प्रयोजनों में लिए 'पुलिस अधिकारी' नामक अभिव्यक्ति में अर्धसैनिक बलों के अधिकारी तथा राजस्व विभाग के अन्य अधिकारी, जो आर्थिक अपराधों के बारे में अन्वेषण करते हैं, सम्मिलित होंगे।"

धारा 115 :

69वीं रिपोर्ट में, विबंध के सिद्धान्तों के बारे में पर्याप्त चर्चा के पश्चात् (पैरा 57.24) यह सिफारिश की गई थी कि 'अव्यस्कों' की स्थिति के बारे में एक स्पष्टीकरण जोड़ा जाना चाहिए।

पैरा 57.24 में स्पष्टीकरण जोड़ने का प्रस्ताव 'अवयस्क या अन्य विकलांगों' के लिए लागू करने का प्रस्ताव किया गया है। परन्तु पैरा 57.15 में, जहां यह स्वीकार किया गया था कि ऐसे मामलों में जो संविदाओं या सम्पत्ति अन्तरण से संबंधित न हों (अर्थात जहां ठेका अधिनियम की धारा 11 लागू नहीं होती है) विबंध का सिद्धान्त लागू होना चाहिए। पैरा 57.17 के उप-पैरा (ग) में कहा गया है:

"(क). परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी अवयस्क को कभी विबंधित नहीं किया जा सकता-उदाहरण के लिए, धारा 116 के अधीन (भूस्वामी तथा अभिधारी के बीच विबंध) किसी अवयस्क को विबंधित किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ठेका अधिनियम की धारा 11 वहां बीच में नहीं आती है जहां मूल अभिधृति किसी अवयस्क द्वारा निष्पादित नहीं की गई थी अपितु अवयस्क ने इसे उत्तराधिकार में प्राप्त की है।"

ऐसे मामलों के बारे में भी व्यवस्था करने के प्रयोजन से ही पैरा 57.24 में निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ने की सिफारिश की गई थी :

"**स्पष्टीकरण** : यह धारा किसी अवयस्क या किसी अन्य विकलांग व्यक्ति के लिए लागू होती है, परन्तु इस धारा की किसी भी बात का विधि के किसी अन्य उपबंध पर कोई प्रभाव नहीं होगा जिसके द्वारा कोई अवयस्क या अन्य विकलांग व्यक्ति किसी विशिष्ट देयता को अपने ऊपर लेने में अक्षम हो जाता है।"

जहां तक पैरा 57.17 के उप-पैरा का संबंध है, हमारे विचार में और किसी अर्हता की व्यवस्था करना आवश्यक नहीं है।

हम समझते है कि स्पष्टीकरण का प्रथम भाग "यह धारा किसी अवयस्क या किसी अन्य विकलांग व्यक्ति के लिए लागू होती है" आवश्यक नहीं है। वास्तव में, यह प्रस्तावित स्पष्टीकरण का गलत संकेत देता है।

यहां तक कि दूसरे भाग में थोड़ी पुनर्प्रारूपण की आवयकता है। अत: हम निम्नलिखित परन्तुक की सिफारिश करते हैं :

"परन्तु यह कि इस धारा में अन्तर्विष्ट कोई भी बात ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए अभ्यावेदन से व्युत्पन्न किसी देयता को लागू करने के प्रयोजन के लिए, जहां ऐसे व्यक्तियों द्वारा की गई संविदा से व्युत्पन्न ऐसी कोई देयता अकृत और शून्य हो गई हो, अवयस्क या किसी अन्य व्यक्ति के लिए लागू नहीं होगी।"

धारा 116 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 58.31 ख में की गई सिफारिश को मुख्यतया स्वीकार करते हैं। 69वीं रिपोर्ट में, जिस रूप में धारा 116 की सिफारिश की गई है उसके अनुसार धारा 116 के वर्तमान उपबंधों को पुनर्संख्यांकित करके तथा "या उसके पश्चात् किसी समय, यदि अभिधारी अभिधृति की बेदखली के बाद भी अपना कब्जा चालू रखता है" शब्द जोड़कर, उपधारा (1) को पढ़ा जाए।

हम कुछ उपांतरणों के साथ, उपर्युक्त सिफारिश से सहमत हैं कि "या ऐसे अभिधारी के माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति" शब्द प्रस्तावित "यदि अभिधारी" शब्दों के पश्चात् जोड़े जाने चाहिए।

अत: हम सिफारिश करते हैं कि धारा 116 को निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए :

अभिधारी का और कब्जाधारी व्यक्ति के अनुज्ञप्तिधारी का विबंध

"116. (1) स्थावर सम्पत्ति के किसी भी अभिधारी को या ऐसे अभिधारी से व्युत्पन्न अधिकार से दावा करने वाले व्यक्ति को, ऐसी अभिधृति के चालू रहते हुए या उसके पश्चात् किसी समय, यदि अभिधारी या ऐसे अभिधारी के माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति, अभिधृति की समाप्ति के पश्चात् उस सम्पत्ति पर निरन्तर कब्जा रखता है तो, उसे इसका प्रात्याख्यान करने दिया जाएगा कि ऐसे अभिधारी के भू-स्वामी का ऐसी स्थावर सम्पत्ति पर उस अभिधृति के आरम्भ पर हक था तथा किसी भी व्यक्ति को, जो किसी स्थावर सम्पत्ति पर कब्जाधारी व्यक्ति की अनुज्ञप्ति द्वारा आया है, इसका प्रात्याख्यान न करने दिया जाएगा कि किसी ऐसे व्यक्ति को उस समय, जब ऐसी अनुज्ञप्ति दी गई थी, ऐसे कब्जे का हक था।

(2) जहां किसी स्थावर सम्पत्ति के कब्जाधारी अभिधारी को किसी अन्य भू-स्वामी का अभिधारी बना दिया जाता है तब, अभिधारी को या उसके माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति को, अभिधृति के चालू रहते, या उसके माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति पश्चात् किसी समय यदि अभिधारी या उसके अपना कब्जा जारी रखते हैं तब उन्हें इसका प्रात्याख्यान नहीं करने दिया जाएगा कि उस व्यक्ति का, जिसने अभिधारी को नया स्वामी बनाया गया है, उस तारीख को, जिसको उसे स्वामित्व अधिकार दिया गया था, स्थावर सम्पत्ति पर कोई हक था, परन्तु इस उपधारा में कोई भी बात अभिधारी को या उसके माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति को इस आशय का साक्ष्य प्रस्तुत करने से नहीं रोक पाएगी कि स्वामित्व हस्तांतरण त्रुटि से या धोखाधड़ी से अर्जित किया गया था।"

धारा 117 :

69वीं रिपोर्ट में यह कहा गया था (देखें पैरा 59.5) कि आयोग की ग्याहरवीं रिपोर्ट (पृष्ट 66 पैरा 146) में जो किसी विनिमय पत्र के प्रतिगृहीता से संबंधित है धारा 117 का वह भाग जो किसी विनिमय पत्र के प्रतिगृहीता से संबंधित है पराक्रम्य लिखित अधिनियम में धारा 104 के रूप में स्थानांतरित किया जाए (देखें ग्याहरवीं रिपोर्ट का पृष्ट 113, धारा 104 का प्रारूप और परिशिष्ट तीन का पृष्ट 151) परन्तु, 69वीं रिपोर्ट में ऐसे स्थानान्तरण के लिए कोई ठोस सिफारिश नहीं की गई है। निःसन्देह, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 59.7 में यह कहा गया है कि धारा के शेष भाग में किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

हमारे विचार में, धारा 117 के प्रथम भाग को पराक्रम्य लिखत अधिनियम में स्थानान्तरित करने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय के संबंध में, भू-स्वामी, अभिधारी तथा उपनिहिति के अन्य संबंधियों आदि के बारे में साक्ष्य अधिनियम में उपधारणाएं अन्तर्विष्ट हैं यदि इन्हें सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, या ठेका अधिनियम में स्थानान्तरण करने की आवश्यकता नहीं है तो, ठीक इसी प्रकार धारा 117 के प्रथम भाग को पराक्रम्य लिखत अधिनियम में स्थानान्तरित करने की आवश्यकता नहीं है।

अतः हम धारा 117 में किसी प्रकार के संशोधन की सिफारिश नहीं करते हैं।

धारा 118 :

क्योंकि धारा 118 से संबंधित सभी सिद्धान्त स्पष्ट हैं और रिपोर्ट के पैरा 60.12 में यह सिफारिश की गई है कि धारा 118 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमति व्यक्त करते हैं।

धारा 119 :

हम धारा 119 के नीचे एक स्पष्टीकरण जोड़ने की सिफारिश करते हैं।

"**स्पष्टीकरण** : बोल पाने में असमर्थ किसी व्यक्ति के संकेतों का भाषान्तर, संकेत करने वाले व्यक्ति का मौखिक साक्ष्य समझा जाएगा"

धारा 120 :

हम इस बात से सहमत है कि जैसाकि पैरा 16.17 में सिफारिश की गई है, धारा 120 के नीचे निम्नलिखित परन्तुक जोड़ा जाए :

"परन्तु यह कि किसी दांडिक अभियोजन में अभियुक्त की पत्नी या पति को, विवाह के तथ्य को साबित करने के सिवाय, ऐसे अभियोजन में साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जब तक कि—

(क) ऐसे पति या पत्नी तथा अभियुक्त दोनों की सम्मति न हो; या

(ख) ऐसे पति/पत्नी परिवादी या ऐसा व्यक्ति न हो जिसके कहने पर अपराध की प्रथम सूचना अभिकथित की गई थी; या

(ग) अभियुक्त ऐसे पति/पत्नी या अभियुक्त के बच्चे या पति/पत्नी के बच्चे, या ऐसे बच्चे, जिसके प्रति अभियुक्त या ऐसे पति/पत्नी माता-पिता की हैसियत रखते हों, के विरूद्ध किसी अपराध का आरोपी न हो।

धारा 121 :

हम धारा 121 को यथावत छोड़ते हैं।

धारा 122 :

अतः हम 69वीं रिपोर्ट (पैरा 64.47) में की गई सिफारिश में थोड़ा उपांतरण करने की तथा धारा 122 को निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित करने की सिफारिश करते हैं :

विवाहित स्थिति के दौरान में की गई संसूचनाएं :

"122. (1) कोई भी व्यक्ति, जो विवाहित है या विवाहित रह चुका है, विवाहित स्थिति के दौरान दी गई किसी संसूचना को, जो किसी व्यक्ति के तथा ऐसे व्यक्ति के बीच की गई, जिसके साथ वह विवाहित है या रह चुका है, प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा और न वह किसी ऐसी संसूचना को प्रकट करने के लिए अनुज्ञात किया जाएगा, जब तक कि वह व्यक्ति, जिसके साथ वह विवाहित है या रह चुका है या उस व्यक्ति का हित प्रतिनिधि सहमत न हो और जब तक कि कार्यवाहियां उपधारा (3) में विनिर्दिष्ट स्वरूप की न हों।

(2) कोई व्यक्ति, उपधारा (1) में निर्देशित व्यक्ति से भिन्न, जिसने, उपधारा (1) में निर्देशित किसी संसूचना को, विधि के अनुसार छुपके से सुन लिया हो, या उसे कब्जे में ले लिया हो, या अन्तर्रुद्ध कर लिया हो, उसे, पति या पत्नी की या उसके हित प्रतिनिधि की सम्मति के बिना ही, ऐसी किसी संसूचना को प्रकट करने के लिए अनुज्ञात किया जा सकेगा।

(3) उपधारा (1) में निर्देशित कार्यवाहियां हैं—

(क) विवाहित व्यक्तियों के बीच कार्यवाहियां;

(ख) कार्यवाहियां, जिनमें एक विवाहित व्यक्ति दूसरे के विरूद्ध अपराध करने के लिए अभियोजित किया गया है;

(ग) कार्यवाहियां जिनमें एक विवाहित व्यक्ति परिवादी है या ऐसा व्यक्ति है जिसके कहने पर अपराध की प्रथम सूचना अभिलिखित की गई थी, और दूसरा विवाहित व्यक्ति अभियुक्त है;

(घ) कार्यवाहियां जिनमें किसी विवाहित व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति के बच्चे के विरूद्ध या पहले उल्लिखित किए गए व्यक्ति के बच्चे के विरूद्ध या किसी ऐसे बच्चे के विरूद्ध, जिसे पति या पत्नी किसी ने भी माता-पिता की स्थिति प्रदान की है, अपराध के लिए अभियोजित किया गया है।"

धारा 123 :

69वीं और 88वीं रिपोर्टों में की गई सिफारिशों तथा निर्णय जनित विधि के घटनाक्रम पर विचार करने के पश्चात हम सिफारिश करते है कि धारा 123 को निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित किया जाए :

राज्य के कार्यकलापों के बारे में साक्ष्य

"123. (1) इस धारा में जैसा अन्यथा उपबंधित है, के सिवाय—

(क) कोई भी व्यक्ति राज्य के किसी कार्यकलाप से संबंधित अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों से व्युत्पन्न साक्ष्य नहीं देगा; या

(ख) किसी भी लोक ऑफिसर को उसे शासकीय विश्वास में दी हुई राज्य के कार्यकलापों से संबंधित किसी मौखिक, लिखित या इलैक्ट्रानिक संसूचना को प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा।

जब तक कि सम्पृक्त विभाग के प्रमुख ऑफिसर ने ऐसा साक्ष्य देने के लिए अनुज्ञा न दे दी हो।

स्पष्टीकरण : खंड (क) के प्रयोजनों के लिए 'अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों से व्युत्पन्न साक्ष्य' में अभिलेखों से व्युत्पन्न मौखिक साक्ष्य तथा स्वयं ऐसे अभिलेख सम्मिलित है।

(2) उपधारा (1) में उल्लिखित सम्पृक्त विभाग का प्रमुख ऑफिसर ऐसी अनुज्ञा तब तक विधारित नहीं करेगा जब तक कि उसका यह समाधान नहीं हो जाता कि ऐसा साक्ष्य देना लोकहित के लिए हानिकर होगा; और जहां वह ऐसी अनुज्ञा विधारित करेगा, वहां वह न्यायालय में आपत्ति करते हुए एक शपथ-पत्र दाखिल करेगा और ऐसी आपत्ति में इस आशय का एक कथन और उसके लिए अपने कारण बताएगा।

(3) जहां उपधारा (2) में निर्दिष्ट आपत्ति उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय में, चाहे वह सिविल न्यायालय हो या दांडिक न्यायालय, उठायी जाएगी वहां उक्त न्यायालय को तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, ऐसी आपत्ति की विधिमान्यता के प्रश्न को निर्णय के लिए उच्च न्यायालय को निर्दिष्ट करने की शक्ति होगी तथा निर्दिष्ट करेगा।

(4) उपधारा (3) के अन्तर्गत निर्देश किए जाने पर उच्च न्यायालय ऐसी आपत्ति की विधिमान्यता का विनिश्चय उपधारा (5) से (7) तक के उपबंधों के अनुसार करेगा तथा अपने निर्णय की एक प्रति उस न्यायालय को सम्प्रेषित करेगा जिसने निर्देश किया था ताकि उक्त न्यायालय निर्णय के अनुसार आगे कार्यवाही कर सके।

(5) जहां उपधारा (3) के अन्तर्गत मामला निर्दिष्ट किए जाने पर, उच्च न्यायालय, की राय है कि उपधारा (2) के अन्तर्गत दायर किए गए शपथ-पत्र में तथ्य या कारण पूरी तरह से नहीं बताए गए हैं, वहां उच्च न्यायालय ऐसे अधिकारियों से, या समुचित मामलों में विषय से संबंधित मंत्री से यह अपेक्षा कर सकेगा कि वह उस विषय में एक और शपथ-पत्र दाखिल करें।

(6) उच्च न्यायालय, यथास्थिति, शपथ-पत्र या अन्य शपथ-पत्र पर विचार करने के पश्चात, और यदि वह उचित समझे तो, ऐसे अधिकारी या समुचित मामलों में मंत्री की मौखिक जांच करने के पश्चात्—

(क) अप्रकाशित अभिलेखों को चैम्बरों में प्रस्तुत करने के लिए सम्मन जारी करेगा; और

(ख) चैम्बरों में अभिलेखों का निरीक्षण करेगा; और

(ग) इस प्रश्न का अवधारण करेगा कि क्या ऐसा साक्ष्य देना लोकहित के लिए हानिकर होगा या नहीं और उसके लिए कारणों को अभिलिखित करेगा।

(7) जहां उच्च न्यायालय ने उपधारा (6) के खंड (ग) के अन्तर्गत यह अवधारण किया है कि ऐसा साक्ष्य देना लोकहित के लिए हानिकर नहीं होगा और उपधारा (2) के अन्तर्गत की गई आपत्ति को अस्वीकृत कर दिया हो, वहां ऐसे साक्ष्य पर उपधारा (1) के उपबंध लागू नहीं होंगे और इस प्रकार का साक्ष्य लिया जाएगा।

(8) जहां उपधारा (2) में निर्दिष्ट आपत्ति उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय में की गई हो, चाहे वह सिविल कार्यवाही या दांडिक कार्यवाही में की गई हो, उक्त न्यायालय ऐसी आपत्ति की विधिमान्यता का विनिश्चय उपधारा (5) से (7) में दी गई प्रक्रिया के अनुसार इस प्रकार करेगा जैसे कि उक्त आपत्ति की विधिमान्यता का प्रश्न उसे ही विनिर्दिष्ट किया गया था।''

धारा 162 :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 65.85, 65.92 तथा पैरा 93.102 में तथा 88वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी कि धारा 162 के दूसरे पैरे में 'राज्य की बातों' शब्दों का लोप किया जाए।

उसी के अनुसरण में, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 162 के दूसरे पैरे में 'यदि वह राज्य की बातों से संबंधित न हो' शब्दों का लोप किया जाए।

धारा 124 :

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 124 में निम्नलिखित संशोधन किया जाए :

शासकीय संसूचनाएं

"124. (1) धारा 123 के उपबंधों के अध्यधीन कोई भी लोक ऑफिसर उसे शासकीय विश्वास में दी हुई किसी मौखिक, लिखित या इलैक्ट्रानिक संसूचना को प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा जबकि न्यायालय यह समझता है कि ऐसे प्रकटन से लोकहित की हानि होगी।

(2) जब किसी लोक ऑफिसर से, जो कि साक्षी है, ऐसा प्रश्न पूछा जाता है जिसके लिए ऐसी किसी संसूचना के प्रकटन की आवश्यकता पड़ती है और वह ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के बारे में इस आधार पर आक्षेप करता है कि उसके प्रकटन से लोकहित की हानि होगी तो, न्यायालय उसके आक्षेप को अस्वीकृत करने से पूर्व अपने चैम्बर में उससे उसके आक्षेप के स्वरूप और उसके कारणों का पता लगायेगा।"

धारा 125 :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 67.17 से 67.21 तक में आयोग ने परिवर्तन की आवश्यकता पर विचार किया था तथा विद्वेषपूर्ण अभियोजन के मामलों के बारे में विचार किया था। आयोग ने महसूस किया था कि जब तक वादी को उस सूचनादाता का नाम मालूम न हो जिसकी सूचना पर दूसरे व्यक्ति ने पुलिस को झूठी शिकायत की या जिसने न्यायालय में दांडिक कार्यवाही शुरू कर दी, तब तक वादी के लिए साक्ष्य प्रस्तुत करना कठिन होगा।

तत्पश्चात, आयोग ने तीन वैकल्पिक प्रस्तावों का उल्लेख किया (देखें पैरा 67.21) तथा अन्तिम रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि तीसरा विकल्प, जिसके अन्तर्गत न्यायालय का विवेकाधिकार दिया गया था, सर्वोत्तम था। उसमें कहा गया था कि धारा को कुछ शिथिल किए जाने की आवश्यकता है।

अधिनियम की धारा 125 बहुत कठोर है और इंग्लैण्ड, कनाडा तथा अन्य देशों में आज की अवधारणाओं के समान नहीं है।

हम यह मानते हैं कि 69वीं रिपोर्ट के पैरा 67.21 में उल्लिखित तीसरा विकल्प सही है तथा सिफारिश करते हैं कि धारा 125 के नीचे एक अपवाद अन्तःस्थापित किया जाए, जैसाकि पैरा 67.22 में बताया गया है। हम उक्त सिफारिश से सहमत हैं।

इस प्रकार, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 125 के नीचे निम्नलिखित 'अपवाद' जोड़ा जाए:

"अपवाद : इस धारा की कोई भी बात लागू नहीं होगी जहां न्यायालय को यह प्रतीत हो कि सूचना देना ऐसा विवादस्पद तथ्य है जिस पर किसी पक्षकार की दायिता निर्भर करती है या वह अन्यथा महत्वपूर्ण तथ्य है तथा न्यायालय, कारणों को अभिलिखित करके तथा न्याय के हित में, मजिस्ट्रेट, पुलिस ऑफिसर या राजस्व अधिकारी को ऐसी सूचना के प्रकटन का निर्देश देता है।"

धारा 126, 127, 128 तथा 129 साथ-साथ :

यदि धारा 126, 127 तथा 128 में बैरिस्टर, एटर्नी, प्लीडर और वकील शब्दों के स्थान पर, जैसाकि 69वीं रिपोर्ट के अध्याय 68 में सुझाव दिया गया है, 'विधि व्यवसायी' शब्द प्रस्थापित कर दिया जाए तो कोई कठिनाई नहीं होगी।

स्पष्टीकरण-2 का प्रस्ताव किया गया है, जिसमें 'विधि व्यवसायी' शब्द को परिभाषित किया गया है। धारा 129 में विधि वृत्तिक सलाहकार शब्द का प्रयोग किया गया है तथा 69वीं रिपोर्ट में इसे यथावत छोड दिया गया है। इसे यथावत छोड़ा जा सकता है।

धारा 126 में, मुख्य धारा में तथा परन्तुक में और उदाहरण में प्रयुक्त शब्द 'नियोजित' को 69वीं रिपोर्ट में कथित किए गए रूप में प्रतिस्थापित किया जा सकता है। 69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया है कि धारा 126 के परन्तुक में एक नया अपवाद जोड़ा जाए, जिसमें यह उपबंध किया गया हो कि विशेषाधिकार किसी कक्षीकार और विधि व्यवसायी के बीच की किसी कार्यवाही में, चाहे वह सिविल हो या दांडिक, लागू नहीं होगा। इस सिफारिश के बारे में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

इसलिए, धारा 123 के संबंध में संस्तुत किए गए उपबंध की तरह का उपबंध सम्मिलित करने के लिए धारा 126 में किसी तरह का संशोधन करने की आवश्यकता नहीं है ताकि लोकहित की क्षति के प्रश्न पर न्यायालय अन्तिम रूप से फैसला दे सके।

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 68.37 में सुझाये गये सीमित परिवर्तनों से सहमत हैं। हम सिफारिश करते हैं कि धारा 126 में निम्नलिखित रूप में संशोधन किया जाए:

<u>वृत्तिक संसूचनाएं</u>

'126. कोई भी विधि व्यवसायी, अपने कक्षीकार की अभिव्यक्त सम्मति के सिवाय ऐसी किसी संसूचना को प्रकट करने के लिए, जो उसके वृत्तिक नियोजन के अनुक्रम में या के प्रयोजनार्थ, उसके कक्षीकार द्वारा या उसकी ओर से उसे दी गई हो या किसी दस्तावेज की जिससे वह अपने वृत्तिक नियोजन के अनुक्रम या प्रयोजनार्थ परिचित हो गया है, अन्तर्वस्तु या दशा कथित करने को अथवा किसी सलाह को जो उसने ऐसे नियोजन के अनुक्रम में और के प्रयोजनार्थ अपने कक्षीकार को दी है, प्रकट करने के लिए किसी भी समय अनुज्ञात नहीं किया जाएगा :

परन्तु इस धारा की कोई भी बात निम्नलिखित बात को प्रकटीकरण से संरक्षण न देगी—

(क) किसी भी अवैध प्रयोजन को अग्रसर करने में दी गई कोई भी ऐसी संसूचना;

(ख) ऐसा कोई भी तथ्य, जो विधि व्यवसायी ने अपनी ऐसी हैसियत में नियोजन के अनुक्रम में संप्रेक्षित किया हो, और जिससे यह दर्शित हो कि उसके नियोजन के प्रारम्भ के पश्चात कोई अपराध या कपट किया गया है।

(ग) ऐसी कोई भी संसूचना जब विधि व्यवसायी और कक्षीकार के बीच वृत्तिक नियोजन के कारण उत्पन्न किसी वाद में या ऐसी किसी कार्यवाही में जिसमें कक्षीकार को विधि व्यवसायी के विरुद्ध अपराध के लिए अभियोजित किया गया है या विधि व्यवसायी को, अपने कक्षीकार के विरुद्ध वृत्तिक नियोजन से उत्पन्न किसी अपराध के लिए अभियोजित किया गया है, प्रकट की जानी अपेक्षित हो।

<u>स्पष्टीकरण-1</u>: इस धारा में कथित बाध्यता नियोजन के अवसित हो जाने के उपरान्त भी बनी रहती है।

<u>स्पष्टीकरण-2</u>: इस धारा में तथा धारा 127 से 129 में 'विधि व्यवसायी' अथवा 'विधि वृत्तिक सलाहकार' अभिव्यक्ति में ऐसा कोई भी व्यक्ति शामिल हो जो, विधि द्वारा, किसी व्यक्ति की ओर से किसी न्यायिक अथवा प्रशासनिक अधिकरण के समक्ष उपस्थित होने के लिए सशक्त है; और कक्षीकार अभिव्यक्ति का भी तदनुसार अर्थ लगाया जाएगा।

स्पष्टीकरण 3 :—इस धारा के परन्तुक के खंड (ख) के प्रयोजन के लिए, यह तत्वहीन है कि ऐसे विधि व्यवसायी का ध्यान ऐसे तथ्य के प्रति उसके कक्षीकार द्वारा या की ओर से आकर्षित किया गया था या नहीं।

दृष्टांत :

(क) कक्षीकार 'क' विधि व्यवसायी से कहता है मैंने कूट रचना की है और मैं चाहता हूं कि आप मेरी प्रतिरक्षा के लिए वृत्तिक सहायता करें;

यह संसूचना प्रकटन से संरक्षित है क्योंकि ऐसे व्यक्ति की प्रतिरक्षा आपराधिक प्रयोजन नहीं है जिसका दोषी होना ज्ञात हो।

(ख) कक्षीकार 'क' विधि व्यवसायी से कहता है : "मैं सम्पत्ति पर कब्जा कूट विरचित विलेख के उपयोग द्वारा अभिप्राप्त करना चाहता हूं और उसके आधार पर वाद लाने की आपसे प्रार्थना करता हूं।

यह संसूचना आपराधिक प्रयोजन के अग्रसर करने में की गई होने से प्रकटन से संरक्षित नहीं है।

(ग) 'क' पर गबन का आरोप लगाये जाने पर वह अपनी प्रतिरक्षा करने के लिए विधि व्यवसायी 'ख' को प्रतिधारित करता है। कार्यवाही के अनुक्रम में 'ख' देखता है कि 'क' की लेखा बही में यह प्रविष्टि की गई है कि 'क' द्वारा उतनी रकम दी जानी है जितनी के बारे में अभिकथित है कि उसका गबन किया गया है जो प्रविष्टि उसके वृत्तिक नियोजन के आरम्भ के समय उस बही में नहीं थी।

यह 'ख' द्वारा अपने नियोजन के अनुक्रम में सम्प्रेक्षित ऐसा तथ्य होने से, जिससे दर्शित होता है कि कपट उस कार्यवाही के प्रारम्भ होने के पश्चात् किया गया है प्रकटन से संरक्षित नहीं है।"

धारा 127, 128 :

जहां तक धारा 127 और 128 का संबंध है, हम सिफारिश करते हैं कि इन सभी धाराओं में, 'बैरिस्टरों', प्लीडरों', अटर्नियों', तथा 'वकीलों'—शब्दों के स्थान पर 'विधि व्यवसायी' शब्द प्रतिस्थापित किए जायें।

धारा 129 :

धारा 129 में किसी परिवर्तन का प्रस्ताव नहीं किया गया है।

धारा 130 :

हम, केवल निम्न रूप में सीमित परिवर्तन की सिफारिश करते हैं :

"जब तक कि उसने ऐसे विलेखों के पेश करने की ईप्सा रखने वाले व्यक्ति के साथ, या किसी ऐसे व्यक्ति के साथ जिससे व्युत्पन्न अधिकार से वह व्यक्ति दावा करता है, उन्हें पेश करने का लिखित करार न कर लिया हो" शब्दों के स्थान पर निम्नलिखित प्रतिस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"जब तक कि ऐसे साक्षी ने उससे ऐसी अपेक्षा करने वाले पक्षकार या ऐसे पक्षकार के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति के साथ लिखित करार न कर लिया हो।"

धारा 131 :

लेकिन 69वीं रिपोर्ट के पैरा 69.12 में प्रस्तावित धारा 131 निम्न प्रकार है :

"131. किसी भी व्यक्ति को अपने अस्थायी कब्जे में विद्यमान ऐसे दस्तावेजों को पेश करने के लिए अनुज्ञात नहीं किया जाएगा जिन्हें कोई और व्यक्ति यदि वे दस्तावेज उसके कब्जे में होते, पेश करने से इंकार करने का हकदार होता, जब तक कि इस प्रकार के आखिरी व्यक्ति ने उनके पेशीकरण करने के लिए सम्मति न दी हो।"

लेकिन हमारे विचार से 'कोई भी व्यक्ति' शब्द इस धारा में निहित वास्तविक सिद्धान्त को व्यंजित नहीं करता। हमारा विचार है कि निम्नलिखित प्रारूप बेहतर होगा :

उन दस्तावेजों या इलैक्ट्रानिक रिकार्डों का पेश किया जाना जिन्हें कोई व्यक्ति, जिसका उन पर कब्जा है, पेश करने से इंकार कर सकता था

131. कोई भी व्यक्ति, जिसके कब्जे या नियंत्रण में दूसरे व्यक्ति के दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड हैं, वह व्यक्ति, जिसके वे दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड हैं, यदि वे उस व्यक्ति के कब्जे या नियंत्रण में होते तो वह उन्हें पेश करने से इंकार करने का हकदार होता, उक्त दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड पेश करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा :

परन्तु उस व्यक्ति को, जिसके कब्जे या नियंत्रण में दूसरे व्यक्ति के दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड हैं, उन्हें पेश करने के लिए विवश किया जा सकेगा यदि वह व्यक्ति, जिसके वे हैं, उन्हें पेश किये जाने की सम्मति देता है।''

धारा 132 :

हमारे विचार से धारा 132 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जानी चाहिए।

इस आधार पर कि उत्तर उसे अपराध में फंसाएगा, साक्षी या अभियुक्त उत्तर देने से क्षम्य नहीं होगा।

''132 (1) कोई साक्षी किसी वाद या किसी सिविल या दांडिक कार्यवाही में विवाद्यक विषय से सुसंगत किसी विषय के बारे में किए गए किसी प्रश्न का उत्तर देने से इस आधार पर क्षम्य नहीं होगा कि ऐसे प्रश्न का उत्तर ऐसे साक्षी को या उसके पति/पत्नी को अपराध में फंसाएगा या उसकी प्रवृति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अपराध में फंसाने की होगी अथवा वह ऐसे साक्षी या उसके पति/पत्नी को किसी किस्म की शास्ति या समपहरण के लिए उच्छन्न करेगा या उसकी प्रवृति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उच्छन्न करने की होगी,

(2) कोई अभियुक्त व्यक्ति जो दंड संहिता, 1973 की धारा 315 के अधीन स्वयं साक्ष्य देने का प्रस्ताव करता है अभियोजन में विवाधक विषय से सुसंगत विषय के बारे में किए गए किसी प्रश्न का उत्तर देने से इस आधार पर क्षम्य नहीं होगा कि ऐसे प्रश्न का उत्तर अभियुक्त व्यक्ति को या उसके पति/पत्नी को अपराध में फंसाएगा या उसकी प्रवृति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अपराध में फंसाने की होगी अथवा वह अभियुक्त व्यक्ति या उसके पति/पत्नी किसी किस्म की शास्ति या समपहरण के लिए उच्छन्न करेगा या उसमें प्रवृति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उच्छन्न करने की होगी।''

(3) जहाँ कोई साक्षी या अभियुक्त व्यक्ति इस धारा के उपबंधों के अधीन किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य है या उत्तर देना बाध्यकारी समझता है, चाहे उसने उसके प्रति आपत्ति की हो अथवा नहीं, वहाँ किसी या उत्तर जो—

(क) साक्षी प्रश्न के लिए देता तो यथास्थिति, साक्षी या उसके पति/पत्नी की गिरफ्तारी या उसके विरुद्ध साबित किया जाएगा।

(ख) अभियुक्त प्रश्न के लिए देता है, उपधारा (2) में अथवा उपबंधित के सिवाय, यथास्थिति अभियुक्त या उसके पति/पत्नी की गिरफ्तारी या अभियोजन के अध्यधीन नहीं करेगा या नहीं, किसी दांडिक कार्यवाही में उनके विरुद्ध साबित किया जाएगा।

परन्तु यह कि इस उपधारा में कोई भी बात, मिथ्या साक्ष्य देने के लिए दिए गए उत्तर के लिए लागू नहीं होगी।

धारा 132 क (69वीं रिपोर्ट में प्रस्तावित रूप में)

69वीं रिपोर्ट में परिवार के वकीलों के विशेषाधिकार के संबंध में धारा 132 क जोड़ने की सिफारिश की गई है यह कहा गया था कि विशेषाधिकार परिवार के वकील का है और समाज के हित में इस प्रकार विशेषाधिकार का

सृजन किया जाना चाहिए ताकि परिवार का वकील प्रभावी रूप से कार्य कर सकें रिपोर्ट के पैरा 71:10 में यह प्रस्ताव किया गया था कि विशेषाधिकार न्यायालय द्वारा नियुक्त वकीलों के लिए लागू होना चाहिए पथकारों द्वारा नियुक्त किए गए वकीलों के लिए नहीं।

हमारे विचार में पैरा 71:12 में दी गई सिफारिशों को क्रियान्वित करने की आवश्यकता नहीं है।

धारा 132 क (इस रिपोर्ट में प्रस्तावित रूप में)

धारा 132 क (पारिवारिक वकीलों का विशेषाधिकार) के स्थान पर हमारे विचार में पत्रकारों के स्रोत्रों के संबंध में विशिष्ट उपबंध करना आवश्यक है।

हम निम्नलिखित रूप में धारा 132क के अन्तःस्थापन की सिफारिश करते हैं :

प्रकाशन में अन्तर्विष्ट सूचना के स्रोत का प्रकट किया जाना

132क. (1) कोई भी न्यायालय किसी प्रकाशन में अन्तर्विष्ट किसी सूचना के स्रोत को, किसी व्यक्ति से प्रकट करने की अपेक्षा नहीं करेगा, जिसके लिए वह उत्तरदायी है, जब तक कि न्यायालय के समाधान के लिए यह स्थापित नहीं हो जाता कि ऐसा प्रकटन भारत की सार्वभौमिकता तथा अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशों से मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या नैतिकता के हितों में या न्यायालय की अवमानना या किसी अपराध के उद्दीपन के संबंध में ऐसा प्रकटन आवश्यक है।

स्पष्टीकरण : इस धारा के प्रयोजनों के लिए,

(क) प्रकाशन से अभिप्रेत है, कोई भाषण, लेख किसी भी रूप में इलैक्ट्रानिक मीडिया के माध्यम सहित संसूचना के किसी भी माध्यम से अभिव्यक्त प्रतीक या अभ्यावेदन, जो जनता को या जनता के किसी वर्ग को संबोधित किए गए हों।

(ख) स्रोत से अभिप्रेत है, वह व्यक्ति, जिससे, या माध्यम जिसके द्वारा, संसूचना प्राप्त की गई है।

(2) उपधारा (1) के अधीन किसी व्यक्ति से सूचना के स्रोत को प्रकट करने की अपेक्षा करते हुए, न्यायालय **स्रोत** को प्रकट न करने के पत्रकार को अधिकार के विरुद्ध स्रोत के ऐसे प्रकटन की आवश्यकता का निर्धारण करेगा।"

धारा 132ख :

69वीं रिपोर्ट में, अध्याय 72 में, यह सिफारिश की गई थी कि पेटेन्ट ऐजेन्टों के विशेषाधिकारों के बारे में एक पृथक उपबंध होना चाहिए, जो पेटेन्ट अधिनियम, 1970 की धारा 126 तथा 127 से शासित हो। इन उपबंधों के फलस्वरूप, कोई पेटेन्ट ऐजेन्ट न केवल उच्च न्यायालय में अपितु पेटेन्ट अधिनियम की धारा 73 में निर्देशित कन्ट्रोलर जनरल ऑफ पेटेन्टस्, डिज़ाइन तथा ट्रेडमार्कस् के समक्ष भी वकालत कर सकेगा। कोई पेटेन्ट ऐजेंट सभी दस्तावेज तैयार कर सकेगा, समस्त कारबार कर सकेगा तथा कन्ट्रोलर के समक्ष कार्यवाही के संबंध में विहित अन्य सभी कृत्य कर सकेगा।

हम, 1988 के यू.के. अधिनियम का प्रारूप स्वीकार करना चाहते हैं। 'पेटेन्ट ऐजेन्टस्' के बारे में विशोषाधिकार संबंधी उपबंध निम्नलिखित रूप में होना चाहिए :

पेटेन्ट ऐजेन्ट्स के साथ संसूचना :

"132ख. (1) किसी पेटेन्ट या उसे चला देने से संबंधित किसी मामले के संरक्षण से संबंधित किसी मामले के बारे में किसी संसूचना को—

(क) किसी पक्षकार या उसके पेटेन्ट ऐजेन्ट के बीच, या

(ख) प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए या सूचना के अनुरोध के उत्तर में जिसे कोई पक्षकार अपने पेटेन्ट ऐजेन्ट को बताने के लिए मांगता है,

विधिक कार्यवाहियों में प्रकटन से उसी प्रकार से विशेषाधिकार प्राप्त है जैसे कि किसी पक्षकार और उसके वकील के बीच किसी संसूचना को था, यथास्थिति, प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए किसी संसूचना को या सूचना के लिए अनुरोध के उत्तर में किसी संसूचना को, जो कोई पक्षकार अपने वकील को बताने के प्रयोजन से करता है।

(2) उपधारा (1) के प्रयोजनों के लिए—

(क) पेटेन्ट ऐजेन्ट से अभिप्रेत है—

(i) पेटेन्ट अधिनियम, 1970 के उपबंधों के अनुसरण में रखे गए पेटेन्ट ऐजेन्टों के रजिस्टर में पेटेन्ट ऐजेन्ट के रूप में रजिस्ट्रीकृत कोई पेटेन्ट ऐजेन्ट; या

(ii) कोई भागीदारी जो पेटेन्ट ऐजेन्ट की फर्म कहलाने की हकदार है; या

(iii) कोई निकाय निगमित जो पेटेन्ट ऐजेन्ट कहलाने का हकदार है।

(ख) किसी अनुध्यात कार्यवाही से संबंधित पक्षकार से उस कार्यवाही का भावी पक्षकार अभिप्रेत है।

(ग) 'वकील' से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जैसाकि धारा 126 के स्पष्टीकरण 2 में परिभाषित किया गया है।

ट्रेडमार्क ऐजेन्ट के साथ संसूचना

132ग. (1) किसी ट्रेडमार्क या उसे चला देने से संबंधित किसी मामले के संरक्षण से संबंधित किसी मामले के बारे में किसी संसूचना को

(क) किसी पक्षकार या उसके ट्रेडमार्क ऐजेन्ट के बीच; या

(ख) प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए या सूचना के अनुरोध के उत्तर में, जिसे कोई पक्षकार अपने पेटेन्ट ऐजेन्ट को बताने के लिए मांगता है,

विधिक कार्यवाहियों में प्रकटन से उसी प्रकार से विशेषाधिकार प्राप्त है जैसाकि किसी पक्षकार और उसके वकील के बीच किसी संसूचना को या, यथास्थिति, प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए किसी संसूचना को या सूचना के लिए अनुरोध, के उत्तर में किसी सूचना को, जो कोई पक्षकार अपने वकील के प्रयोजन से करता है।

(2) उपधारा (1) के लिए —

(क) ट्रेडमार्क ऐजेन्ट से अभिप्रेत है—

(i) व्यापार चिन्ह अधिनियम, 1999 की धारा 145 के अधीन परिभाषित ट्रेडमार्क ऐजेन्ट के उपबंधों के अनुसरण में रखे गए पेटेन्ट ऐजेन्टों के रजिस्टर में पेटेन्ट ऐजेन्ट के रूप में कोई पेटेन्ट ऐजेन्ट; या

(ii) कोई भागीदारी जो रजिस्ट्रीकृत ट्रेडमार्क ऐजेन्ट की फर्म कहलाने की हकदार है; या

(iii) कोई निकाय निगमित जो रजिस्ट्रीकृत ट्रेडमार्क ऐजेन्ट कहलाने का हकदार है।

(ख) किसी अनुध्यात कार्यवाही से संबंधित पक्षकार से उस कार्यवाही का भावी पक्षकार अभिप्रेत है।

(ग) 'वकील' से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जैसाकि धारा 126 के स्पष्टीकरण 2 में परिभाषित किया गया है।

धारा 133 :

हमने धारा 114 के दृष्टांत (ख) के बारे में अपनी चर्चा में कहा है कि धारा 133 को निकालने और दृष्टांत (ख) को संशोधित करने के बजाए, जैसीकि 69वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है, धारा 133 में संशोधन करना और धारा 114 से दृष्टांत (ख) को निकाल देना बेहतर होगा और दृष्टांत (ख) के इस पहलु का निर्देश इस धारा में किया जाना चाहिए। हमने धारा 114 के परवर्ती भाग में "दृष्टांत (ख) के बारे में" शब्दों से आरम्भ होने वाले दो पैराग्राफों को निकाल देने का सुझाव दिया है। हम धारा 133 के निम्नलिखित रूप में पुनर्प्रारूपण तथा धारा 133 के नीचे कतिपय दृष्टांत जोड़ने की सिफारिश करते हैं।

सहअपराधी

"133. कोई सहअपराधी, अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध सक्षम साक्षी होगा, परन्तु उसका साक्ष्य अविश्वसनीय होगा जब तक कि तात्विक विशिष्टियों में उसकी सम्पुष्टि नहीं होती :

परन्तु यह कि जहां सहअपराधी ऐसा व्यक्ति है, न्यायालय की राय में, जिसका साक्ष्य अत्यन्त विश्वसनीय है और उसकी सम्पुष्टि की आवश्यकता नहीं है, कोई दोषसिद्धि केवल इसलिए अवैध नहीं है कि वह किसी सहअपराधी के असम्पुष्ट परिसाक्ष्य के आधार पर की गई है।

दृष्टांत

(क) एक अत्यन्त उच्च शील का व्यक्ति 'क' किसी मशीनरी को ठीक-ठीक लागने में किसी अपेक्षापूर्वक कार्य द्वारा किसी व्यक्ति की मृत्यु कारित करने के लिए विचारित है। वैसे ही अच्छे शील का व्यक्ति 'ख' जिसने मशीनरी लगाने के उस काम में भाग लिया था, ब्यौरेवार वर्णन करता है कि क्या-क्या किया गया था और 'क' की ओर स्वयं अपनी सामान्य असावधानी स्वीकृत और स्पष्ट करता है। न्यायालय को 'क' के अपेक्षा पूर्वक कार्य के बारे में निर्णय करने में 'ख' के साक्ष्य को ध्यान में रखेगा।

(ख) कोई अपराध कई व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। अपराधियों में से तीन 'क', 'ख' और 'ग' घटनास्थल पर पकड़े जाते हैं और एक दूसरे से अलग रखे जाते हैं। अपराध का विवरण उनमें से हर एक ऐसा देता है जो 'घ' को आलिप्त करता है और ये विवरण एक दूसरे को किसी ऐसी रीति में सम्पुष्ट करते हैं जिससे उनमें यह अति अनधिसंभाव्य हो जाता है कि उन्होंने इसके पूर्व मिल कर कोई योजना बनाई थी। 'क', 'ख' और 'ग' दिए गए तथ्यों को विभिन्न विवरणों के अन्तर को न्यायालय द्वारा 'घ' की सहअपराधिता के बारे में निर्णय करने में ध्यान में रखना होगा।

धारा 134 :

69वीं रिपोर्ट में (देखें पैरा 74.29) यह कहा गया है कि धारा 134 में किसी प्रकार के उपांतरण की आवश्यकता नहीं है।

धारा 135 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 75.12 से सहमति व्यक्त करते हैं कि धारा 135 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 136 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 76.10 में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 136 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 137 :

विचारण में इन कार्यवाहियों के बारे में पर्याप्त चर्चा करने के पश्चात्, 69वीं रिपोर्ट के पैरा 77.23 में कहा गया है कि धारा 137 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

हम इससे सहमत है परन्तु हम महसूस करते हैं कि इस धारा के तीसरे पैराग्राफ को, निम्नलिखित रूप में पुन: प्रारूपित किया जाना चाहिए :

"**पुन:परीक्षा** : किसी साक्षी की उस पक्षकार द्वारा जिसने उसे बुलाया था, प्रतिपरीक्षा के पश्चात्, अतिरिक्त परीक्षा पुन:परीक्षा कहलाएगी।"

धारा 138 :

धारा 138 के बारे में, 69वीं रिपोर्ट में पर्याप्त चर्चा हुई है परन्तु पैरा 77.23 में अन्तिम पैरा में निम्नलिखित रूप में एक छोटे से संशोधन का सुझाव दिया गया है :

"अन्तिम पैराग्राफ में 'उसे' शब्द के स्थान पर 'साक्षी' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। हम सिफारिश करते हैं कि धारा 138 इस रूप में संशोधित की जाए।"

हमें यह बात स्पष्ट नहीं है कि आयोग का इस सिफारिश से क्या अभिप्राय है। हमने देखा है कि अन्तिम पैरा में 'साक्षी' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। संभवतया यह उल्लेख पहले पैराग्राफ के बारे में है जिसमें 'साक्षियों' शब्द का प्रयोग किया गया है।

हम सिफारिश करते हैं कि पैरा एक में 'साक्षियों' शब्द के स्थान पर 'किसी साक्षी' शब्द प्रतिस्थापित किया जाए।

हम यह भी सिफारिश करते हैं कि तीनों पैराओं को (1), (2), (3) के रूप में संख्यांकित किया जाए और श्रीलंका की भांति चौथा पैरा भी जोड़ा जाए।

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 138 निम्नलिखित रूप में प्रतिस्थापित की जाए :

परीक्षाओं का आदेश

"138. (1) किसी साक्षी की प्रथमत: मुख्य परीक्षा होगी, तत्पश्चात्, (यदि प्रतिपक्षी ऐसा चाहे तो) पुन: परीक्षा होगी।

(2) परीक्षा और प्रतिपरीक्षा को सुसंगत तथ्यों से संबंधित होना होगा, किन्तु प्रतिपरीक्षा का उन तथ्यों तक सीमित रहना आवश्यक नहीं है, जिनका साक्षी ने अपनी मुख्य परीक्षा में परिसाक्ष्य दिया है।

(3) **पुन:परीक्षा की दिशा** : पुन:परीक्षा उन बातों के स्पष्टीकरण के प्रति उद्दिष्ट होगी जो प्रतिपरीक्षा में निर्दिष्ट हुए हों, तथा यदि पुन:परीक्षा में न्यायालय की अनुज्ञा से कोई नई बात प्रविष्ट की गई हो, तो प्रतिपक्षी उस बात के बारे में अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा कर सकेगा।

(4) **अतिरिक्त मुख्य परीक्षा** : न्यायालय, सभी मामलों में किसी साक्षी को या तो अतिरिक्त मुख्य परीक्षा के लिए या अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा के लिए, फिर से बुलाए जाने की अनुज्ञा दे सकेगा और न्यायालय यदि ऐसा करता है, तो पक्षकारों को, यथास्थिति, अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा का या पुन:परीक्षा का अधिकार होगा।"

धारा 139 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 78.3 में की गई इस सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 139 में कोई संशोधन आवश्यक नहीं है।

धारा 140 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 78.4 से सहमत हैं, जिसमें कहा गया है कि धारा 140 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 141, 142 और 143 :

हम धारा 141, 142 और 143 के लिए किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं करते हैं।

धारा 144 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 80.7 में धारा 144 को निम्नलिखित रूप में पुनर्प्रारूपित किए जाने की सिफारिश से सहमति व्यक्त करते हैं :

"(1) किसी साक्षी से, जबकि वह परीक्षाधीन है, यह पूछा जा सकेगा कि क्या कोई संविदा, अनुदान या सम्पत्ति का अन्य व्ययन, जिसके बारे में वह साक्ष्य दे रहा है, किसी दस्तावेज में अन्तर्विष्ट नहीं था और यदि वह कहता है कि वह था तो, प्रतिपक्षी आक्षेप कर सकेगा कि ऐसा साक्ष्य तब तक नहीं दिया जाना चाहिए जब तक कि वह दस्तावेज पेश नहीं कर दिया जाता या जब तक वे तथ्य साबित नहीं कर दिए जाते, जो उस पक्षकार को, जिसने साक्षी को बुलाया है, उसका द्वितीयिक साक्ष्य देने का हक देते हैं और यदि, न्यायालय की राय में, दस्तावेज पेश किया जाना चाहिए तो, आक्षेप का समर्थन हो जाएगा।

(2) यदि कोई साक्षी, जबकि वह परीक्षाधीन है, दस्तावेज की अन्तर्वस्तु के बारे में कोई कथन करने ही वाला है तो प्रतिपक्षी ऐसा कथन तब तक न किए जाने के बारे में आक्षेप कर सकेगा जब तक ऐसा दस्तावेज पेश नहीं कर दिया जाता या जब तक वे तथ्य साबित नहीं कर दिए जाते जो उस पक्षकार का हक है, जिसने साक्षी द्वितीयिक साक्ष्य देने को बुलाया है, और यदि न्यायालय की राय में, दस्तावेज पेश किया जाना चाहिए तो आक्षेप का समर्थन हो जाएगा।"

धारा 145 :

हम 69वीं रिपोर्ट के पैरा 81.07 में की गई सिफारिश से सहमत हैं कि धारा 145 के वर्तमान उपबंध को उपधारा (1) के रूप में संख्यांकित करके निम्नलिखित उपधारा (2) और (3) जोड़ी जानी चाहिए :

"(2) जहां किसी साक्षी के पूर्वकालिक लिखित कथन का, मामले की परिस्थितियों में लेख का द्वितीयिक साक्ष्य देने के हकदार पक्षकार द्वारा खंडन करने का प्रयत्न किया जाता है, उसका ध्यान, ऐसा द्वितीयिक साक्ष्य दिए जाने से पूर्व, खंडन करने के प्रयोजनों के लिए कथन के ऐसे भाग की ओर आकर्षित किया जाना चाहिए जो उसका खंडन करने के प्रयोजन के लिए प्रयोग किया जाना है।

(3) यदि कोई साक्षी, उसके द्वारा किए गए किसी पूर्वकालिक मौखिक कथन, (यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा अभिलिखित किए गए कथन सहित), जो वाद या कार्यवाही में, जिसमें उसकी प्रतिपरीक्षा की जा रही है, प्रश्नगत विषयों से सुसंगत है और जहां ऐसा कथन उसके वर्तमान साक्ष्य से असंगत है, के बारे में प्रतिपरीक्षा में ऐसा कथन करने का प्रत्याख्यान करता है या स्पष्ट रूप से यह स्वीकार नहीं करता है कि वह कथन उसने किया था तो यह साबित किया जा सकेगा कि वह कथन उसने किया था, परन्तु ऐसा साबित किए जाने से पूर्व,

अनुमानित कथन की परिस्थितियां, जो उस विशिष्ट अवसर का ज्ञान कराने के लिए पर्याप्त हैं, साक्षी को बतायी जानी चाहिए और उससे पूछा जाना चाहिए कि ऐसा कथन उसने किया था या नहीं।''

धारा 146 :

हम सिफारिश करते हैं कि

(क) धारा 146 के खंड (1) में 'सत्यवादिता' शब्द के पश्चात् 'शुद्धता' और 'विश्वसनीयता' शब्द जोड़े जाने चाहिए;

(ख) खंड (3) के पश्चात् दिए गए परन्तुक को निकाला दिया जाएगा;

(ग) खंड (3) के पश्चात् निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोडा जाएगा, अर्थात्,

''(4) धारा 376, 376क, 376ख, 376ग या 376घ के अधीन किसी अपराध के अभियोजन में, या ऐसा कोई अपराध करने के प्रयत्न के लिए, जहां सम्मति विवाद्यक प्रश्न है, सम्मति या सम्मति की विशेषता साबित करने के लिए पीडित व्यक्ति की प्रतिपरीक्षा में साक्ष्य देना या उसके सामान्य अनैतिक शील के बारे में या किसी व्यक्ति के साथ उसके पूर्वकालिक यौन अनुभव के बारें में प्रश्न पूछना अनुज्ञेय नहीं होगा।

स्पष्टीकरण : 'शील' में 'ख्याति' और 'स्वभाव' भी सम्मिलित हैं।''

धारा 147 :

अत: हम सिफारिश करते हैं कि धारा 147 में 'सुसंगत' शब्द के पश्चात् 'विवाद्यक विषय से' शब्द जोड़े जाने चाहिएं।

78. धारा 148 का संशोधन :

(1) मूल अधिनियम की धारा 148 में, मुख्य भाग में,

''यदि ऐसा कोई प्रश्न ऐसी किसी बात से संबंधित है जो वाद या कार्यवाही से सुसंगत नहीं है सिवाय ''शब्दों के स्थान पर'' यदि ऐसा कोई प्रश्न वाद या कार्यवाही में विवाद्यक विषयों से संबंधित नहीं है परन्तु ग्राह्य है ''शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे''।

(2) खंड (4) के स्थान पर निम्नलिखित खंड और स्पष्टीकरण प्रतिस्थापित किए जाएंगे अर्थात् :

''(4) न्यायालय ध्यान में रखेगा कि क्या ऐसे साक्ष्य का इतना पर्याप्त 'प्रोबेटीव' महत्व है या होगा जो मामले की परिस्थितियों में उसके हानिकारक प्रभाव से बढ़कर है।

(5) न्यायालय, यदि वह ठीक समझे, साक्षी के उत्तर देने से इंकार करने पर यह अनुमान लगा सकेगा कि उत्तर यदि दिया जाता है तो, प्रतिकूल होता।

स्पष्टीकरण : जहां, किसी व्यक्ति की ख्याति को क्षति के लिए मानहानि की नुकसानी के वाद में, किसी व्यक्ति के शील के किसी पहलू के, कथित मानहानि से संबंधित विषय से भिन्न, इस धारा के अधीन किसी प्रश्न से क्षति होने की संभावना है तो, न्यायालय उस प्रश्न पर विशेष ध्यान देगा कि क्या, इस धारा में उल्लिखित बातों को ध्यान में रखते हुए, ऐसा प्रश्न न्यायोचित है।''

धारा 148क :

नयी धारा 148क का अन्तःस्थापन : अभियुक्त व्यक्ति से कतिपय प्रश्न नहीं पूछे जाने हैं। इसकी 69वीं रिपोर्ट में धारा 148(2) के रूप में सिफारिश की गई थी। धारा 148क, (धारा 148 (2) के स्थान पर) जैसीकि 69वीं रिपोर्ट में (पैरा 83.24) सिफारिश की गई है, का पाठ निम्नलिखित होगा : (1) डी.पी.पी. बनाम पी. माधले में दिए गए सिद्धान्त को अन्त में जोड़ने के पश्चात्, और (2) अभियुक्त द्वारा परिवादी अभियोक्त्री की प्रतिपरीक्षा के संबंध में प्रारूपित प्रस्तावों से खंड निकालने के पश्चात् :

अभियुक्त व्यक्ति से कतिपय प्रश्न नहीं पूछे जाएंगे

"148क. किसी अभियुक्त व्यक्ति से, जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 315 के अनुसरण में स्वयं को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करता है, ऐसे प्रश्न नहीं पूछे जाएंगे और यदि पूछे जाते हैं, तो उसे किसी ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा, जो यह दर्शित करने की प्रवृत्ति रखता है कि उसने उस अपराध के अतिरिक्त, जिसमें उसे तब आरोपित किया गया है, कोई अन्य अपराध किया है, या अन्य अपराध के बारे में दोषसिद्ध किया गया है या आरोपित किया गया है और यह कि वह बुरे शील का है जब तक कि—

(i) सबूत, कि उसने ऐसा अन्य अपराध किया है या उसके लिए दोषसिद्ध किया गया है, विवाद्यक विषय से सुसंगत न हो; या

(ii) स्वयं को अच्छे शील का स्थापित करने के विचार से, उसने स्वयं या अपने अधिवक्ता के माध्यम से अभियोजन के लिए साक्षी के प्रश्न पूछे हैं, या अपने अच्छे शील का साक्ष्य न दिया हो; या

(iii) जहां प्रतिरक्षा का स्वरूप या आचरण ऐसा है, जिसमें कोई विशिष्ट पूछने के लिए न्यायालय की अनुमति प्राप्त किए बिना ही अभियोजन के साक्षियों के शील पर (अभियोक्त्री के शील से भिन्न) दोषारोपण अन्तर्ग्रस्त है; या

(iv) उसने, उसी अपराध के आरोपित किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध साक्ष्य न दिया हो,

और जब तक कि न्यायालय का ऐसा समाधान न हुआ हो कि ऐसे साक्ष्य का, जिससे साक्षी को उपर्युक्त रूप से बाध्य किया जाएगा, पर्याप्त संभावित महत्व होगा जो कारित होने वाली हानि से बढ़कर होगा।"

धारा 149 :

युक्तियुक्त आधारों के बिना प्रश्न नहीं पूछा जाना।

हम चारों दृष्टांतों को निम्नलिखित रूप में संशोधित करने की सिफारिश करते हैं :

(क) किसी वकील को किसी दूसरे वकील से ऐसा अनुदेश दिया जाता है कि एक महत्त्वपूर्ण साक्षी चोर है। पहले वकील को साक्षी से यह पूछने का कि क्या वह चोर है, युक्तियुक्त आधार है।

(ख) किसी वकील को न्यायालय में, किसी व्यक्ति द्वारा यह जानकारी दी जाती है कि एक महत्त्वपूर्ण साक्षी चोर है। जानकारी देने वाला, वकील द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर, अपने कथन के लिए समाधानप्रद कारण बताता है। साक्षी से यह प्रश्न पूछने के लिए कि क्या वह चोर है, युक्तियुक्त आधार है।

(ग) किसी साक्षी से, जिसके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, किसी वकील द्वारा अटकल पच्चू यह पूछा जाता है कि क्या वह चोर है? यहां प्रश्न पूछने के लिए कोई युक्तियुक्त आधार नहीं है।

(घ) कोई साक्षी, जिसके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, किसी वकील द्वारा उसके जीने के ढंग तथा जीविका के साधनों के बारे में पूछे जाने पर यदि वह असमाधानप्रद उत्तर देता है तो, उससे यह पूछने का कि क्या वह चोर है, युक्तियुक्त आधार हो जाता है।

धारा 150 :

युक्तियुक्त आधारों के बिना प्रश्न नहीं पूछा जाने की दशा में न्यायालय की प्रक्रिया।

हम प्रस्ताव करते हैं कि धारा 150 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जानी चाहिए :

युक्तियुक्त आधारों के बिना प्रश्न पूछे जाने की अवस्था में न्यायालय की प्रक्रिया

"150. यदि न्यायालय की यह राय है कि ऐसा कोई प्रश्न युक्तियुक्त आधारों के बिना पूछा गया था, यदि ऐसा प्रश्न किसी वकील द्वारा पूछा गया था तो वह मामले की परिस्थितियों को, अधिवक्ता अधिनियम, 1961 के अधीन स्थापित की गई उपरक्त बार काऊंसिल को, ऐसा वकील अपनी वृति के प्रयोग में जिसके अधीन है, रिपोर्ट कर सकेगा"।

धारा 151 :

अशिष्ट और कलंकात्मक प्रश्न।

69वीं रिपोर्ट में, (देखें पैरा 84.38) थोड़ी चर्चा के पश्चात् धारा 151 के लिए किसी संशोधन की सिफारिश नहीं की गई थी। हम इससे सहमति व्यक्त करते हैं।

धारा 152 :

अपमानित या क्षुब्ध करने के लिए आशयित प्रश्न।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 84.40 में यह सुझाव दिया गया था कि धारा 152 के लिए कोई संशोधन आवश्यक नहीं है। हम इस सुझाव से सहमत हैं।

धारा 153 :

सत्यवादिता परखने के प्रश्नों के उत्तरों का खंडन करने के लिए साक्ष्य का अपवर्जन।

हमारा विचार है कि धारा 153 में संशोधन करने की आवश्यकता नहीं है।

धारा 154 :

पक्षकार द्वारा अपने ही साक्षी से प्रश्न पूछना।

यह धारा "पक्षद्रोही साक्षियों" से संबंधित है। विधि, जैसीकि उच्चतम न्यायालय ने विनिश्चित की है, पृथक उप-धारा के अधीन शामिल करने का प्रस्ताव किया गया है।

हम सिफारिश करते हैं कि वर्तमान धारा 154 को उस धारा की उप-धारा (1) पढ़ा जाए और उप-धारा (2) निम्नलिखित रूप में अन्त:स्थापित की जाए :

"(2) इस धारा में कोई भी बात पक्षकार को उसके हक से वंचित नहीं करेगी, जिसे ऐसे साक्षी के साक्ष्य के किसी भाग पर विश्वास करना अनुज्ञात है।"

धारा 155 :

साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप।

धारा 155 का खंड (1) :

69वीं रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था (देखें पैरा 87.11 से 87.24) कि धारा 155 के खंड (1) का स्पष्टीकरण करने के प्रयोजन से, "उसे विश्वसनीयता का अपात्र समझते हैं" शब्दों के स्थान पर "उसकी विश्वसनीयता, शुद्धता या सत्यवादिता पर अधिक्षेप करते हैं" शब्द प्रतिस्थापित करके संशोधन किया जाना चाहिए।

हम सिफारिश से सहमत हैं।

धारा 155 का खंड (2) :

69वीं रिपोर्ट के पैरा 87.12 में यह कहा गया था कि इस खंड के बारे में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इस सुझाव से सहमत हैं।

धारा 155 का खंड (3) :

धारा 155 के खंड (3) में "खंडन किया जा सकता है" शब्दों के पश्चात् निम्नलिखित शब्द जोड़कर इसे और स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है :

"अर्थात्, विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य के बारे में या धारा 153 के पहले या दूसरे अपवाद में निर्दिष्ट किसी मामले के बारे में साक्ष्य देकर"

इसके अतिरिक्त, हम, खंड (3) के प्रारम्भ में निम्नलिखित शब्द जोड़ने की सिफारिश करते हैं :—

"धारा 145 के उपबंधों के अध्यधीन"

हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 155 का खंड (4) :

हम, 172वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश कि इस खंड को निकाल दिया जाना चाहिए फिर दोहराते हैं। परन्तु उक्त सिफारिश अब भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 4) द्वारा कार्यान्वित कर दी गई है।

हम सिफारिश करते हैं कि धारा 155 निम्नलिखित रूप में संशोधित की जाए :—

साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप

"**155.** किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर प्रतिपक्षी द्वारा या न्यायालय सम्मति से उस पक्षकार द्वारा, जिसने उसे बुलाया है, निम्नलिखित प्रकारों से अधिक्षेप किया जा सकेगा :—

(1) उन व्यक्तियों के साक्ष्य द्वारा, जो साक्षी के बारे में अपने ज्ञान के आधार पर, उसकी, शुद्धता या सत्यवादिता पर अधिक्षेप कर सकते हैं ;

(2) यह साबित किए जाने द्वारा कि साक्षी को रिश्वत दी गई है या उसने रिश्वत की प्रस्थापना स्वीकार कर ली है या उसे अपना साक्ष्य देने के लिए कोई अन्य भ्रष्ट उत्प्रेरणा मिली है ;

(3) धारा 145 के उपबंधों के अध्यधीन, उसके साक्ष्य के किसी ऐसे भाग से, जिसका खंडन किया जा सकता है, पूर्वकालिक कथनों से असंगत पिछले कथनों को साबित करके, अर्थात्, किसी विवाद्यक तथ्य या किसी सुसंगत तथ्य या धारा 153 के प्रथम या दूसरे अपवाद में निर्दिष्ट किसी मामले के बारे में साक्ष्य देकर ;

परन्तु यह कि न्यायालय का ऐसा समाधान है कि प्रश्न के उत्तर का संभावित महत्व उससे कारित होने वाली क्षति से बढ़कर है या होगा।

<u>स्पष्टीकरण</u> : कोई साक्षी, जो किसी अन्य साक्षी को विश्वसनीयता के लिए अपात्र घोषित करता है, अपने से की गई मुख्यपरीक्षा में अपने विश्वास के कारणों को चाहे न बताए, किन्तु प्रतिपरीक्षा में उससे उनके कारणों को पूछा जा सकेगा और उन उत्तरों का, जिन्हें वह देता है, खंडन नहीं किया जा सकता, तथापि यदि वे मिथ्या हों, तो तत्पश्चात् उस पर मिथ्या साक्ष्य देने का आरोप लगाया जा सकेगा।

<u>दृष्टांत</u> :

(क) 'ख' को बेचे गए और परिदान किए गए माल के मूल्य के लिए 'ख' पर 'क' वाद लाता है। 'ग' कहता है कि उसने 'ख' को माल का परिदान किया है। यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य प्रतिस्थापित किया जाता

है कि किसी पूर्व अवसर पर उसने कहा था कि उसने उस माल का परिदान 'ख' को नहीं किया था। यह साक्ष्य ग्राह्य है।

(ख) 'ख' की हत्या के लिए 'क' पर अभ्यारोप लगाया गया है।

'ग' कहता है कि 'ख' ने मरते समय घोषित किया था कि 'क' ने 'ख' को यह घाव दिया था जिससे वह मर गया।

यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य प्रतिस्थापित किया जाता है कि किसी पूर्व अवसर पर 'ग' ने कहा था कि घाव 'क' द्वारा या उसकी उपस्थिति में नहीं दिया गया था।

यह साक्ष्य ग्राह्य है।

अन्य उपबंध, धारा 155(2) के सिवाय, जैसीकि सिफारिश की गई है, धारा 155क में अन्तर्दिष्ट होंगे। (69वीं रिपोर्ट में "वह" शब्द का हम "अभियुक्त" के रूप में परिवर्तन करते हैं। हमने अभियोक्त्रि से प्रश्न करने के मामले का, जैसाकि धारा 155(4) के अधीन किया गया है, लोप करते है)।

<u>साक्षी के रूप में परीक्षा करते समय अभियुक्त की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करना :</u>

"**<u>155क.</u>** जब कोई अभियुक्त व्यक्ति, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 315 के अनुसरण में स्वयं को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करता है तब, अन्य साक्षी से प्रश्न पूछना अनुज्ञेय नहीं होगा और ऐसे साक्षी से, यदि प्रश्न पूछे जाते हैं तो, उसे ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा, जो यह दर्शित करने की प्रवृत्ति रखते हैं कि अभियुक्त ने, उसके अतिरिक्त जिसमें वह आरोपित है, कोई अन्य अपराध किया है या उसके लिए दोषसिद्ध या आरोपित किया गया है या क अभियुक्त बुरे शील का है, जब तक कि —

(i) यह साबित नहीं कर दिया जाता क अभियुक्त ने ऐसा अन्य अपराध किया है या उसके लिए दोषसिद्ध किया गया है, विवाद्यक विषय से सुसंगत है ; या

(ii) स्वयं को अच्छे शील का स्थापित करने के विचार से अभियुक्त ने स्वयं या अपने वकील के द्वारा अभियोजन के साक्षी से प्रश्न पूछे हैं या आगे अच्छे शील का साक्ष्य नहीं दिया है ; या

(iii) प्रतिरक्षा के आचरण का स्वरूप ऐसा है कि कोई विशिष्ट प्रश्न पूछने के लिए न्यायालय की अनुमति मांगे बिना ही, उसमें अभियोजन साक्षी के शील पर (अभियोक्त्री से भिन्न) दोषारोपण अन्तर्गत न हो ;

(iv) अभियुक्त ने उसी अपराध के आरोपी किसी अन्य व्यक्ति के विरूद्ध साक्ष्य न दिया हो,

और न्यायालय का ऐसा समाधान न हो कि प्रश्न के उत्तर का संभावित महत्व कारित होने वाली क्षति से बढ़कर है या होगा"

<u>धारा 156</u> : सुसंगत तथ्य के साक्ष्य की सम्पुष्टि करने की प्रवृति रखने वाले प्रश्न ग्राह्य होंगे।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 88.89 में यह कहा गया था कि धारा 156 में 'सुसंगत तथ्यों' शब्दों से पूर्व 'विवाद्यक तथ्य या' शब्द जोड़ने के सिवाय अन्य किसी गम्भीर संशोधन की आवश्यकता नहीं है। हम इससे सहमत हैं।

<u>धारा 157</u> : उसी तिथि के बारे में पश्चातवर्ती अभिसाक्ष्य की सम्पुष्टि करने के लिए साक्षी के पूर्वतन कथन साबित किए जा सकेंगे।

हम निम्नलिखित स्पष्टीकरण जोड़ने का सुझाव देते हैं :

"<u>स्पष्टीकरण</u> : किसी प्राधिकारी के समक्ष, जो किसी तथ्य की जांच करने के लिए सक्षम है, किए गए कथनों में किसी पहिचान परेड में न्यायिक मजिस्ट्रेट के समक्ष किए गए कथन तथा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 के अधीन ऐसे किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष किए गए कथन भी सम्मिलित होंगे।"

प्रस्तावित धारा 157क : (69वीं रिपोर्ट के पैरा 88.38 में की गई सिफारिश)

पैरा 88.38 में निम्नलिखित उपबंध की सिफारिश की गई है और हम इससे सहमत है कि धारा 146 की तरह का एक उपबंध अन्त:स्थापित किया जाना चाहिए :

स्वतंत्र साक्ष्य द्वारा साक्षी की विश्वसनीयता प्रतिस्थापित करना :

"**157क.** जहां किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर किसी पक्षकार द्वारा अधिक्षेप किया जाता है, वहां प्रतिपक्षी, धारा 153 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, उसकी विश्वसनीयता पुनर्स्थापित करने के लिए उसकी शुद्धता, विश्वसनीयता या सत्यवादिता के संबंध में या यह दर्शित करने के लिए कि वह कौन है और जीवन में उसकी स्थिति क्या है, स्वतंत्र साक्ष्य पेश कर सकेगा।"

जहां तक उपर्युक्त धारा 157क की उपधारा (2) का संबंध है, यह सिफारिश की गयी थी कि "जब कोई व्यक्ति बलात्संग के लिए या बलात्संग करने के प्रयत्न के लिए अभियोजित किया जाता है तब यह दर्शित किया जा सकेगा कि अभियोक्त्री सामान्यत: अच्छे शील की थी" हमारा विचार यह है कि ऐसा उपबंध अभियुक्त को अभियोक्त्री के बुरे शील के बारे में विरोधी साक्ष्य पेश करने का अधिकार दे सकेगा। जैसाकि हमने 172वीं रिपोर्ट के बारे में कहा है, धारा 155(4) को निकाल दिया जाना चाहिए और हम प्रस्तावित धारा 157 क की उपधारा (2) के पक्ष में नहीं हैं। वास्तव में, धारा 155(4) भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2003 का अधिनियम 4) द्वारा निकाल दी गई है।

धारा 158 : साबित कथन के बारे में, जो कथन धारा 32 या 33 के अधीन सुसंगत है, कौन सी बातें साबित की जा सकेंगी।

सरकार ने (15वां संस्करण, 1999, पृष्ठ 2291) कहा है कि इस धारा का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों के कथनों के खंडन या सम्पुष्टि के लिए हर संभव बात को उसी रूप में प्रकट करना है जिसमें प्रतिपरीक्षा में कोई साक्षी न्यायालय के समक्ष प्रकट करता है। किसी ऐसे व्यक्ति के कथन के साथ कोई सत्यता सम्बद्ध नहीं है क्योंकि वह मर गया है या मिल नहीं सकता है। किसी संशोधन का प्रस्ताव नहीं किया है।

धारा 159 : स्मृति ताजा करना

हम (69वीं रिपोर्ट का पैरा 90.15 देखें) सहमत है कि धारा 159 को निम्नलिखित रूप में संशोधित किया जाए :

स्मृति ताजा करना

"**159.** कोई साक्षी, जब वह परीक्षाधीन है, अपनी स्मृति को ताजा कर सकेगा —

(1) (क) किसी ऐसे दस्तावेज को देखकर जो कि स्वयं उसके उस संव्यवहार के समय, जिसके संबंध में उससे प्रश्न किया जा रहा है, या इतने शीघ्र पश्चात् बनाया हो कि न्यायालय इसे संभाव्य समझाता हो कि वह संव्यवहार उस समय उसकी संमृति में ताजा था ;

(ख) किसी ऐसे दस्तावेज को भी देख करके, जो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा तैयार किया गया हो और उस साक्षी द्वारा उपर्युक्त समय के भीतर पढा गया हो, यदि वह उस दस्तावेज का, उस समय जबकि उसने पढा या देख या सही होना जानता था ;

(ग) न्यायालय की अनुज्ञा से, ऐसे किसी दस्तावेज की प्रतिलिपि देखकर, परन्तु यह तब जबकि न्यायालय का समाधान हो गया हो कि मूल को पेश न करने के पर्याप्त कारण हैं।

(2) कोई विशेषज्ञ अपनी स्मृति वृतिक पुस्तकों को देखकर या वृतिक पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों को पढ़कर ताजी कर सकेगा।

धारा 160 : धारा 159 में वर्णित दस्तावेज में कथित तथ्यों के लिए परिसाक्ष्य।

69वीं रिपोर्ट के पैरा 91.6 में यह विचार व्यक्त किया गया था कि धारा 160 में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है और हम इससे सहमत हैं।

धारा 161 : स्मृति ताजी करने के लिए प्रयुक्त लेख के बारे में प्रतिपक्षी के अधिकार।

पैरा 92.3 में एकमात्र संशोधन का सुझाव दिया गया था कि धारा 159 के अनुरूप, संशोधन के लिए प्रस्तावित रूप में, तथा वर्तमान धारा 160 के अनुरूप 'लेख' शब्द के स्थान पर 'दस्तावेज' शब्द प्रतिस्थापित किया जाए। हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

धारा 162 : दस्तावेजों के पेश किया जाना।

इस धारा के बारे में, धारा 123 पर चर्चा करते समय विचार किया गया था और हमने धारा 162 के लिए संशोधन का प्रस्ताव किया है। धारा 123 की चर्चा में की गई सिफारिश को ध्यान में रखा जाना चाहिए। हमने धारा 162 से 'जब तक कि यह राज्य की बातों से संबंधित न हो' शब्दों को निकालने की सिफारिश की है। राज्य की बातों से संबंधित अभिलेख या संसूचना की समस्त प्रक्रिया अब धारा 123 के अधीन आएगी।

धारा 163 : इस धारा का शीर्षक है 'मंगाए गए और सूचना पर पेश किए गए दस्तावेज का साक्ष्य के रूप में पेश किया जाना'।

हम इससे सहमत है कि धारा 163 में किसी संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

धारा 164 : सूचना पाने पर जिस दस्तावेज को पेश करने से इंकार कर दिया जाता है, उसको साक्ष्य के रूप में उपयोग में लाना।

शाम दास बनाम आर : 36 सी.डब्ल्यू.डब्ल्यू. 1127 मामले में यह संदेह व्यक्त किया था कि क्या धारा 164 आपराधिक कार्यवाहियों पर लागू थी। आयोग को, जिसने 69वीं रिपोर्ट तैयार की है, यह सुझाव दिया गया था कि धारा का सिविल कार्यवाहियों तक लागू होना सीमित किया जाना चाहिए। आयोग ने ऐसा करने से इंकार कर दिया। हमारा भी यही मत है।

धारा 165 : प्रश्न करने या पेश करने का आदेश देने की न्यायालय की शक्ति।

69वीं रिपोर्ट में, धारा 165 के लिए केवल कतिपय संरचनात्मक परिवर्तन सुझाए गए थे, इन्हें स्वीकार करते हुए हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि धारा 165 के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग ऐसे प्रश्नों के लिए नहीं किया जाना चाहिए जो साक्ष्य अधिनियम या अन्य किसी विधि के द्वारा निषिद्ध किए गए हैं।

हम सिफारिश करते हैं कि पुनर्गठित धारा 165 का पाठ निम्नलिखित होगा :

प्रश्न करने या पेश करने का आदेश देने की न्यायाधीश की शक्ति :

"**165.** (1) उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, न्यायाधीश सुसंगत तथ्यों का पता लगाने के लिए या उनका उचित सबूत अभिप्राप्त करने के लिए, किसी भी रूप में, किसी भी समय किसी भी साक्षी या पक्षकारों से किसी भी सुसंगत या विसंगत तथ्य के बारे में कोई भी प्रश्न, जो वह चाहे, पूछ सकेगा तथा किसी भी दस्तावेज या चीज को पेश करने का आदेश दे सकेगा :

परंतु यह कि न तो [illegible] और न उनके अभिकर्ता हकदार होंगे —

(क) ऐसे किसी प्रश्न या आदेश के प्रति आक्षेप करने के, या

(ख) ऐसे किसी प्रश्न के प्रत्युत्तर में दिए गए उत्तर पर किसी भी साक्षी की, न्यायालय की अनुमति के बिना, प्रतिपरीक्षा करने के।

(2) उपधारा (1) में कोई भी बात न्यायाधीश को प्राधिकृत नहीं करेगी —

(क) किसी साक्षी से ऐसा प्रश्न पूछने या ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के लिए या ऐसा कोई दस्तावेज पेश करने को विवश करने के लिए, जिसका उत्तर देने से या जिसे पेश करने से, यदि प्रतिपक्षी द्वारा प्रश्न पूछा गया होता या दस्तावेज मांगा गया होता तो, ऐसा साक्षी इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन, इंकार करने का हकदार होता, या

(ख) एतस्मिन पूर्व अपवादित दशाओं के सिवाय, किसी भी दस्तावेज के प्राथमिक साक्ष्य का दिया जाना अभियुक्त किया जाना।

(3) इस धारा 2 में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, न्यायालय का निर्णय इस अधिनियम के अधीन सुसंगत घोषित किए गए और सम्यक् रूप से साबित किए गए तथ्यों पर आधारित होगा।''

धारा 166 : यह धारा जूरी या 'असेसरों' की प्रश्न करने की शक्ति का निर्देश करती है।

69वीं रिपोर्ट के अध्याय-97 में यह सुझाव दिया गया था (पैरा 97.2) कि जूरी द्वारा विचारण की व्यवस्था इस बीच भारत में समाप्त कर दी गई है। जहां तक असेसरों का संबंध है, असेसरों की भूमिका से संबंधित विशेष विधियों में पर्याप्त उपबंध किए गए हैं। इसलिए धारा 166 निकाल दी जानी चाहिए। हम इस सुझाव से सहमत हैं।

धारा 167 :

69वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि धारा 167 के बारे में किसी संशोधन की सिफारिश नहीं की जा रही है। हम इससे सहमत हैं।

अस्थायी उपबंध

हम प्रस्ताव करते हैं कि इस रिपोर्ट में जिन संशोधनों की सिफारिश की गई है, जहां तक उनके लंबित सिविल कार्यवाहियों में साक्ष्य के लिए लागू होने का संबंध है, वे केवल तभी लागू होंगे यदि, साक्षियों का साक्ष्य (पक्षकार के साक्षियों सहित), भारतीय साक्ष्य (संशोधन) अधिनियम, 2003 के प्रवर्तन की तिथि तक, जिसके संबंध में विधेयक रिपोर्ट के साथ संलग्न किया जा रहा है, आरंभ नहीं हुआ है।

हम यह भी कहना चाहेंगे कि क्योंकि दस्तावेजों को, किसी साक्षी के साक्ष्य के दौरान, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 13 के अधीन चिन्हित किया जाना होता है, दस्तावेजों को ग्रहण करने संबंधी संशोधन भी, केवल वहीं लागू होंगे जहां साक्षियों का साक्ष्य (पक्षकार के साक्षियों सहित) उक्त संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि तक आरंभ नहीं हुआ है।

हम यह भी कहना चाहते हैं कि प्रस्तावित संशोधन अधिनियम में संशोधनकारी उपबंधों के संबंध में जहां वर्तमान मूल उपबंध में केवल स्पष्टीकरण जोड़े जाने की सिफारिश की गई है और किसी अन्य संशोधन का प्रस्ताव नहीं किया गया है, तब उक्त संशोधित उपबंध प्रस्तावित संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि को लंबित सभी वादों या सिविल कार्यवाहियों के लिए लागू होंगे, चाहे साक्षियों की परीक्षा, पक्षकारों सहित, आरंभ हुई हो अथवा नहीं।

जहां तक दांडिक कार्यवाहियों के लिए लागू होने वाले प्रस्तावित संशोधनों का संबंध है, वे संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व किए गए और न्यायालय के विचाराधीन अपराधों के लिए लागू नहीं होंगे। वे केवल उन दांडिक कार्यवाहियों के लिए लागू होंगे जो संशोधन अधिनियम के प्रवर्तन के पश्चात् किए गए अपराधों के संबंध में होंगी।

अस्थायी उपबंधों का पाठ निम्नलिखित है :

अस्थायी उपबंध

''(1) इस अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि को लंबित सभी वाद या सिविल कार्यवाहियां, जिनमें पक्षकारों सहित साक्षियों की परीक्षा इस अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि से पूर्व आरंभ हो चुकी है, उपधारा (2) में अन्यथा उपबंधित

के सिवाय, मूल अधिनियम, जैसा कि यह इस अधिनियम के प्रवर्तन के ठीक पूर्व अस्तित्व में था, के उपबंधों के अनुसार निपटाए जाएंगे, जैसे कि यह अधिनियम प्रभावी नहीं हुआ था।

(2) मूल अधिनियम के निम्नलिखित उपबंध, जहां तक कि वे इस अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि को न्यायालय में लंबित किसी वाद या सिविल कार्यवाही में प्रक्रिया से संबंधित हैं, इस अधिनियम द्वारा संशोधित रूप में लागू होंगे :—

(क) मूल अधिनियम की धारा 11 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 6 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ख) मूल अधिनियम की धारा 13 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 8 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ग) मूल अधिनियम की धारा 57 की उपधारा (1) के उपबंध इस अधिनियम की धारा 34 द्वारा संशोधित रूप में ;

(घ) मूल अधिनियम की धारा 67 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 41 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ङ) मूल अधिनियम की धारा 74 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 43 द्वारा संशोधित रूप में ;

(च) मूल अधिनियम की धारा 76 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 44 द्वारा संशोधित रूप में ;

(छ) मूल अधिनियम की धारा 77 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 45 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ज) मूल अधिनियम की धारा 119 के उपबंध इस अधिनियम की धारा द्वारा संशोधित रूप में ;

(3) इस अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व किए गए अपराधों से संबंधित सभी दांडिक कार्यवाहियों जो इस अधिनियम की प्रवर्तन की तिथि को लंबित थी, मूल अधिनियम के उपबंधों के अनुसार, जैसाकि यह इस अधिनियम के प्रवर्तन के ठीक पूर्व अस्तित्व में था, निपटाई जाएंगी, जैसे कि यह अधिनियम प्रभावी नहीं हुआ था।''

हम तद्नुसार सिफारिश करते हैं।

ह०

(न्यायमूर्ति एम. जगन्नाथ राव)

अध्यक्ष

ह०

(डा. एन.एम. घटाटे)

सदस्य

ह०

(टी. के. विश्वनाथन)

सदस्य-सचिव

तारीख : 11-3-2003

भारतीय साक्ष्य (संशोधन) विधेयक, 2003

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 में और संशोधन करने के लिए

एक विधेयक

भारतीय गणराज्य चव्वनवें वर्ष में संसद द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित हो, अर्थात् —

संक्षिप्त नाम और प्रारम्भ

1. (1) इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम भारतीय साक्ष्य (संशोधन) विधेयक, 2003 होगा।

(2) यह उस तारीख से प्रवृत होगा जो केन्द्रीय सरकार राजपत्र में अधिसूचना द्वारा नियत करे।

धारा 1 का संशोधन

2. भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 में, जिसे इसमें इसके पश्चात् मूल अधिनियम कहा गया है, धारा 1 में "आर्मी एक्ट (44 तथा 45 विक्ट, आ. 58), नेवल डिसिप्लिन एक्ट (29 तथा 30 विक्ट, अ. 109), या इन्डियन नेवी (डिसिप्लिन) एक्ट, 1934 (1934 का 34) या एयरफोर्स एक्ट (7 आ, 5 अ. 51) के अधीन संयोजित सेना न्यायालयों से भिन्न" शब्दों का लोप किया जाएगा।

धारा 3 का संशोधन

3. मूल अधिनियम की धारा 3 में,

(क) "तथ्य" शब्द की परिभाषा में, "तथ्य से अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत आती है" शब्दों के स्थान पर "तथ्य के अन्तर्गत आती है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

(ख) "विवाद्यक तथ्य" शब्द की परिभाषा में, "विवाद्यक तथ्य से अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत आती है" शब्दों के स्थान पर "विवाद्यक तथ्य के अन्तर्गत आती है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

(ग) "दस्तावेज" की परिभाषा के स्थान पर निम्नलिखित प्रतिस्थापित किया जाएगा, अर्थात् —

'दस्तावेज' के अन्तर्गत आएगा कोई भी पदार्थ जिस पर, शब्दों, अंको या चिन्हों या किसी अन्य माध्यम से या इनमें से एक से अधिक माध्यमों द्वारा, लिखित, अभिव्यक्त, अन्तर्लिखित, वर्णित या अन्यथा अभिलिखित कोई भी विषय जिसका उसे अभिलेखन प्रयोजन से उपयोग किया जाना आशयित है या किया जा सके।"

स्पष्टीकरण : यह तत्वहीन समझा जाएगा कि शब्द, अंक या चिन्ह किस माध्यम से प्रारूपित, स्पष्ट या पुनः अभिप्राप्त किए गए है।"

(घ) "साक्ष्य" शब्द की परिभाषा में, "साक्ष्य से अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत आती है" शब्दों के स्थान पर "साक्ष्य के अन्तर्गत आती है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

(ङ) "साबित नहीं किया गया" की परिभाषा के पश्चात् तथा "भारत" की परिभाषा से पहले निम्नलिखित परिभाषा अन्तःस्थापित की जाएगी, अर्थात् —

"ग्राह्य" से अभिप्रेत है "साक्ष्य में ग्राह्य"

धारा 9 का संशोधन

4. मूल अधिनियम की धारा 9 में, "स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक तथ्य" शब्दों के स्थान पर "वे तथ्य, जो स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 10 का प्रतिस्थापन

5. मूल अधिनियम की धारा 10 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

सामान्य परिकल्पना के बारे में षडयंत्रकारी द्वारा कही या की गई बातें

"10. जहां—

(क) कोई अपराध या अनुयोज्य दोष करने के लिए षडयंत्र का अस्तित्व है या यह तथ्य कि कोई व्यक्ति ऐसे षडयंत्र में शामिल था, विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य है; और

(ख) प्रश्न यह है कि दो या अधिक व्यक्तियों ने मिलकर यह षडयंत्र किया है; वहां उनके सामान्य आशय के बारे में उनमें से किसी एक व्यक्ति द्वारा उस समय के पश्चात् जब ऐसा आशय उनमें से किसी एक ने प्रथम बार मन में धारण किया, कहीं, की, या लिखी गई कोई बात उनमें से हर एक व्यक्ति के विरुद्ध जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि उन्होंने इस प्रकार षडयंत्र किया है, षडयंत्र का अस्तित्व साबित करने के प्रयोजनार्थ उसी प्रकार सुसंगत तथ्य है जिस प्रकार यह दर्शित करने के प्रयोजनार्थ कि ऐसा कोई व्यक्ति उसका पक्षकार था।"

धारा 11 का संशोधन

6. मूल अधिनियम की धारा 11 में, खंड (2) के पश्चात् तथा दृष्टांत से पहले निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"**स्पष्टीकरण :** उन तथ्यों का जो अन्यथा सुसंगत नहीं हैं परन्तु जो इस धारा के अधीन सुसंगत हो जाते हैं, इस अधिनियम के अन्य उपबंधों के अधीन सुसंगत होना अनिवार्य नहीं है परन्तु उनकी सुसंगति की मात्रा उस सीमा पर निर्भर करेगी जो, न्यायालय के विचार में, उनको विवाद्यक तथ्यों या सुसंगत तथ्यों से अधिसंभाव्य बनाती है।"

धारा 12 का संशोधन

7. मूल अधिनियम की धारा 12 में, "नुकसानी" शब्द के स्थान पर दोनों स्थानों पर, जहां भी यह आया है, "प्रतिकर या नुकसानी" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 13 का संशोधन

8. मूल अधिनियम की धारा 13 में, खंड (ख) के पश्चात् तथा दृष्टांत से पहले निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित किए जाएंगे, अर्थात्—

"**स्पष्टीकरण 1 :**—कोई पूर्ववर्ती विधिक कार्यवाही चाहे वह उन्हीं पक्षकारों या उनके संसर्गियों के बीच की थी या नहीं, इस धारा के अर्थ के भीतर एक संव्यवहार या उदाहरण के रूप में सुसंगत हो सकेगी और जब कोई विधिक कार्यवाही इस धारा के अधीन इस प्रकार सुसंगत हो जाती है तब उस कार्यवाही में दिया गया निर्णय या आदेश ऐसी विधिक कार्यवाही, तथ्यों के निष्कर्षों के साक्ष्य के रूप में स्वीकार्य हो जाता है परन्तु ऐसे निर्णय या आदेश में अन्तर्विष्ट उनके कारण सुसंगत नहीं होते, परन्तु इस स्पष्टीकरण की किसी भी बात से किसी अन्य धारा के अधीन किसी निर्णय या आदेश की सुसंगति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

स्पष्टीकरण 2 : —दस्तावेजों में किए गए कथन, जो उन्हीं पक्षकारों के या उनके संसर्गियों के बीच के नहीं है, अचल सम्पत्तियों के सीमा संबंधी कथनों सहित, किसी विधिक कार्यवाही में सुसंगत होंगे।"

धारा 14 का संशोधन

9. मूल अधिनियम की धारा 14 में, दृष्टांत (ज) में "यह तथ्य उस सम्पत्ति के खो जाने की लोक सूचना उस स्थान में, जहां 'क' था, दी जा चुकी थी" शब्दों के स्थान में निम्नलिखित शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे, अर्थात्—

"यह तथ्य उस सम्पत्ति के खो जाने की लोक सूचना उस स्थान में, जहां 'क' था, दी जा चुकी थी और ऐसे तरीके से कि 'क' को इसका ज्ञान था अथवा शायद उसे इसका ज्ञान था"

धारा 15 का प्रतिस्थापन

10. मूल अधिनियम की धारा 15 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

कार्य आकस्मिक या साशय था इस प्रश्न पर प्रकाश डालने वाले तथ्य

15. जब कि प्रश्न यह है कि कार्य आकस्मिक या साशय था या किसी विशिष्ट ज्ञान या आशय से किया गया था तब यह तथ्य कि ऐसा कार्य समरूप घटनाओं की आवर्ती का भाग था जिसमें से हर एक घटना के साथ कार्य करने वाला वही व्यक्ति सम्पृक्त था, सुसंगत है।

धारा 18 का प्रतिस्थापन

11. मूल अधिनियम की धारा 18 में, निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

कार्यवाही के पक्षकार या उसके अभिकर्त्ता द्वारा अथवा विषय-वस्तु में हितबद्ध पक्षकार द्वारा अथवा उस व्यक्ति द्वारा जिससे हित व्युत्पन्न हुआ हो द्वारा स्वीकृतियां

"18. (1) इस धारा के अन्य उपबंधों के होते हुए वे कथन स्वीकृतियां हैं, जिन्हें कार्यवाही के किसी पक्षकार ने किया हो जो उसके हित के विरुद्ध हो।

(2) वे कथन स्वीकृतियां है, जिन्हें कार्यवाही के किसी पक्षकार ने किया हो, या ऐसे किसी पक्षकार के ऐसे किसी अभिकर्त्ता ने किया हो जिस मामले की परिस्थितियों में न्यायालय उन कथनों को करने के लिए उस पक्षकार द्वारा अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से प्राधिकृत किया हुआ मानता है।

(3) सिविल कार्यवाही के ऐसे पक्षकारों द्वारा, जो प्रतिनिधिक हैसियत में कार्यवाही कर रहे हों, या जिन पर प्रतिनिधिक हैसियत में कार्यवाही की जा रही हो, किए गए कथन, जब तक कि वे उस समय न किए गए हों, जबकि उनको करने वाला पक्षकार वैसी हैसियत धारण करता था, स्वीकृति नहीं है।

(4) ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए हैं, जिनका कार्यवाही की विषय-वस्तु से कोई संयुक्त सांपत्तिक या धन संबंधी हित है और जो इस प्रकार हितबद्ध व्यक्तियों की हैसियत में वह कथन करते है, निम्नलिखित बातों को पूरा करने पर स्वीकृतियां है :

(क) ऐसे व्यक्ति द्वारा, हितबद्ध व्यक्तियों की हैसियत से किए गए कथन और उन्हें करने वाले व्यक्तियों के हित के चालू रहने के दौरान किए गए हैं।

(ख) विषय-वस्तु की कार्यवाही से संबंधित कथन।

(5) ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए कथन, जिनसे सिविल कार्यवाही के पक्षकारों का सिविल कार्यवाही की विषय-वस्तु में अपना हित व्युत्पन्न हुआ है, स्वीकृतियां हैं, यदि वे कथन उन्हें करने वाले व्यक्तियों के हित के चालू रहने के दौरान में किए गए हैं।"

धारा 19 का संशोधन

12. मूल अधिनियम की धारा 19 में, "वाद" के स्थान पर दोनों स्थानों पर, जहां भी यह आया है, "सिविल कार्यवाही" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 20 का संशोधन

13. मूल अधिनियम की धारा 20 में, "वाद" के स्थान पर "सिविल कार्यवाही" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 21 और 22 का प्रतिस्थापन

14. मूल अधिनियम की धारा 21 और 22 के स्थान पर निम्नलिखित धाराएं प्रतिस्थापित की जाएंगी, अर्थात्—

स्वीकृतियों का उन्हें करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध और उनके द्वारा या उनकी ओर से साबित किया जाना

"21. (1) स्वीकृतियां संगत हैं और उन्हें निम्नलिखित व्यक्तियों के विरुद्ध साबित किया जा सकता है, अर्थात् —

(क) उन्हें करने वाले व्यक्ति के या उसके हित प्रतिनिधि के विरुद्ध ;

(ख) अभिकर्ता द्वारा की गई स्वीकृति की दशा में, जहां मामला धारा 18 की उप-धारा (2) के अन्तर्गत आता है, अभिकर्ता के प्रमुख के विरुद्ध ;

(ग) धारा 18 की उप-धारा(4) के अन्तर्गत आने वाले मामलों में ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई स्वीकृति, जिसकी कार्यवाही की विषय-वस्तु में कोई संयुक्त सांपत्तिक या धन संबंधी हित है, किसी अन्य व्यक्ति, जिसका विषय-वस्तु में संयुक्त सांपत्तिक या धन संबंधी हित है, के विरुद्ध ;

(घ) धारा 19 के अधीन आने वाले मामले में ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई स्वीकृति, जिसकी किसी पक्षकार के विरुद्ध स्थिति या दायित्व साबित करना आवश्यक होता है, उसी पक्षकार के विरुद्ध ;

(ङ) धारा 20 के अधीन आने वाले मामले में ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई स्वीकृति जिसको पक्षकार ने जानकारी के लिए अभिव्यक्त रूप से निर्दिष्ट किया है, उस पक्षकार के विरुद्ध, जिसने जानकारी के लिए अभिव्यक्त रूप से निर्दिष्ट किया है ;

(2) स्वीकृतियां, उन्हें करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से उसके हित प्रतिनिधि द्वारा निम्नलिखित अवस्थाओं में के सिवाय उन्हें साबित नहीं किया जा सकेगा —

(क) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, जबकि वह इस प्रकृति की है कि यदि उसे करने वाला व्यक्ति मर गया होता, तो वह अन्य व्यक्तियों के बीच धारा 32 के अधीन सुसंगत होती ;

(ख) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, जबकि वह मन की या शरीर की सुसंगत या विवाद्य किसी दशा के अस्तित्व का ऐसा कथन है जो उस समय या उसके लगभग किया गया था जब मन की या शरीर की ऐसी दशा विद्यमान थी और ऐसे आचरण के साथ है जो उसकी असत्यता को अनधिसम्भाव्य कर देता है ;

(ग) कोई स्वीकृति उसे करने वाले व्यक्ति द्वारा या उसकी ओर से तब साबित की जा सकेगी, यदि वह स्वीकृति के रूप में नहीं किन्तु अन्यथा सुसंगत है।

दृष्टांत

(क) 'क' और 'ख' के बीच प्रश्न यह है कि अमुक विलेख कूटरचित है या नहीं। 'क' प्रतिज्ञात करता है कि वह असली है, 'ख' प्रतिज्ञात करता है कि वह कूटरचित है।

'ख' का कोई कि विलेख असली है, 'क' साबित कर सकेगा तथा 'क' का कोई कथन कि विलेख कूटरचित है, 'ख' साबित कर सकेगा। किन्तु 'क' अपना कथन कि विलेख असली है साबित नहीं कर सकेगा और न 'ख' ही अपना यह कथन कि विलेख कूटरचित है साबित कर सकेगा।

(ख) किसी पोत के कप्तान 'क' का विचारण इस पोत को संत्यक्त करने के लिए किया जाता है।

यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य दिया जाता है कि पोत अपने उचित मार्ग से बाहर ले जाया गया था।

'क' अपने कारबार के मामूली अनुक्रम में अपने द्वारा रखी जाने वाली वह पुस्तक पेश करता है जिसमें वे संप्रेषण दर्शित हैं, जिनके बारे में यह अभिकथित है कि वे दिन प्रति दिन किए गए थे और जिनसे उपदर्शित है कि पोत अपने उचित मार्ग से बाहर नहीं ले जाया गया था। 'क' इन कथनों को साबित कर सकेगा क्योंकि, यदि उसकी मृत्यु हो गई होती तो वे कथन अन्य व्यक्तियों के बीच धारा 32, खंड (2) के अधीन ग्राह्य होते।

(ग) 'क' अपने द्वारा कलकत्ते में किए गए अपराध का अभियुक्त है।

वह अपने द्वारा लिखित और उसी दिन लाहौर में दिनांकित और उसी दिन का लाहौर डाक-चिन्ह धारण करने वाला पत्र पेश करता है।

पत्र की तारीख का कथन ग्राह्य है क्योंकि, यदि 'क' की मृत्यु हो गई होती तो वह धारा 32, खंड 2 के अधीन ग्राह्य होता।

(घ) 'क' चुराए हुए माल को यह जानते हुए कि वह चुराया हुआ है प्राप्त करने का अभियुक्त है। वह यह साबित करने की प्रस्थापना करता है कि उसने उसे उसके मूल्य से कम में बेचने से इनकार किया था। यद्यपि ये स्वीकृतियां हैं तथापि 'क' इन कथनों को साबित कर सकेगा, क्योंकि ये विवाद्यक तथ्यों से प्रभावित उसके आचरण के स्पष्टीकारक हैं।

(ङ) 'क' अपने कब्जे में कूटकृत सिक्का जिसका कूटकृत होना वह जानता था, कपटपूर्वक रखने का अभियुक्त है।

वह यह साबित करने की प्रस्थापना करता है कि उसने एक कुशल व्यक्ति से उस सिक्के की परीक्षा करने को कहा था, क्योंकि उसे शंका थी कि वह कूटकृत है या नहीं और उस व्यक्ति ने उसकी परीक्षा की थी और उससे कहा था कि वह असली है।

अन्तिम पूर्ववर्ती दृष्टांत में कथित कारणों से 'क' इन तथ्यों को साबित कर सकेगा।"

<u>दस्तावेजों की अन्तर्वस्तु के बारे में मौखिक स्वीकृतियां कब सुसंगत होती हैं</u>

22. किसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तु के बारे में मौखिक स्वीकृतियां तब तक सुसंगत नहीं होती —

(क) यदि और जब तक उन्हें साबित करने की प्रस्थापना करने वाला पक्षकार यह दर्शित न कर दे कि ऐसी दस्तावेज की अन्तर्वस्तुओं का द्वितीयक साक्ष्य देने का वह एतस्मिन्पश्चात दिए हुए नियमों के अधीन हकदार है ; अथवा

(ख) जब तक पेश की गई दस्तावेज का असली होना प्रश्नगत न हो।"

<u>धारा 23 का प्रतिस्थापन</u>

15. मूल अधिनियम की 23 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

सिविल मामलों में स्वीकृतियां कब सुसंगत होती हैं

"23. (1) सिविल मामलों में, कोई भी स्वीकृति सुसंगत नहीं है —

(क) यदि वह या तो इस अभिव्यक्त शर्त पर की गई हो कि उसका साक्ष्य नहीं दिया जाएगा ; या

(ख) यदि वह विवादग्रस्त दावे के निपटान हेतु समझौते के प्रयोजन से या उस दौरान की गई हो ; या

(ग) ऐसी परिस्थिति के अधीन दी गई हो जिनसे न्यायालय यह अनुमान कर सके कि पक्षकार इस बात से परस्पर सहमत हो गए थे कि उसका साक्ष्य नहीं दिया जाना चाहिए।

जब तक पक्षकार, जिसने स्वीकृति की हो और वह पक्ष जिसके समर्थन में स्वीकृति की गई हो, इस बात से सहमत न हो जाएं कि साक्ष्य दिया जाना चाहिए या स्वीकृति के संबंध में साक्ष्य यह पता लगाने के लिए आवश्यक हो जाता है कि क्या निपटान के लिए अथवा विलंब के स्पष्टीकरण के लिए, जहां मामले में विलंब प्रश्नगत हो, स्वीकृति आवश्यक है।

(2) ऐसी स्वीकृति, जो उप-धारा (1) के अधीन सुसंगत नहीं है, स्वीकृति करने वाले किसी व्यक्ति और स्वीकृति से संबंधित तीसरे पक्ष के बीच के मामले के संबंध में सुसंगत हो सकती है।

(3) इस धारा में कोई छूट नहीं होगी ;

(क) किसी भी विधिक कार्य करने वाले व्यक्ति को किसी भी मामले में साक्ष्य देने के लिए, जिसे धारा 126 के अधीन साक्ष्य देने के लिए विवश किया जाए ; या

(ख) किसी व्यक्ति को जिसने प्रकाशन किया है किसी ऐसे मामले का साक्ष्य देने से है, जिसमें उसे धारा 132क के अधीन साक्ष्य देना आवश्यक है।

स्पष्टीकरण-I : 'विधिक कार्य करने वाले व्यक्ति' का इस खण्ड में किए गए प्रयोग का अर्थ धारा 126 के स्पष्टीकरण-II में दिए गए अर्थ से है।

स्पष्टीकरण-II : 'प्रकाशन' का इस खण्ड में किए गए प्रयोग का अर्थ धारा 132क के पैरा(क) में दिए गए स्पष्टीकरण में दिए गए अर्थ से है।

धारा 24 का संशोधन

16. मूल अधिनियम की धारा 24 में, "उत्प्रेरण, वचन या धमकी द्वारा कराई गई" के स्थान पर, "उत्प्रेरण, वचन, धमकी, प्रपीडन, हिंसा अथवा उत्पीड़न द्वारा कराई गई" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 26 और 27 का प्रतिस्थापन

17. मूल अधिनियम की धारा 26 और 27 के स्थान पर निम्नलिखित धाराएं प्रतिस्थापित की जाएंगी, अर्थात् —

पुलिस की अभिरक्षा में होते हुए अभियुक्त द्वारा की गई संस्वीकृति का उसके विरुद्ध साबित न किया जाना

"26. कोई भी संस्वीकृति, जो किसी व्यक्ति ने उस समय की हो जब वह पुलिस अधिकारी की अभिरक्षा में हो, तब तक ऐसे किसी व्यक्ति के विरुद्ध साबित न की जाएगी जब तक कि उसे दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अध्याय-12 के अनुसार किसी मजिस्ट्रेट द्वारा अभिलिखित न किया गया हो।"

अभियुक्त के कहने पर तथ्यों का पता चलना

"27 : धारा 24 से 26 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी जब किसी संगत तथ्य के बारे में यह कहा जाता है कि वह किसी अपराध के अभियुक्त, चाहे वह व्यक्ति पुलिस की अभिरक्षा में है या नहीं है, से प्राप्त जानकारी के परिणामस्वरूप पता चला है, वहां इस प्रकार पता चले तथ्य को साबित किया जा सकता है लेकिन उस जानकारी को नहीं, चाहे वह संस्वकृति की कोटि में आती है या नहीं :

परन्तु जो तथ्य किसी धमकी, प्रपीडन, हिंसा या यातना का प्रयोग करके पता चले हैं, वे साबित करने योग्य नहीं होंगे।"

धारा 28 का संशोधन

18. मूल अधिनियम की धारा 28 में, "किस ऐसे उत्प्रेरण, वचन या धमकी द्वारा कराई गई" के स्थान पर, "किसी ऐसे उत्प्रेरण, वचन, धमकी, प्रपीडन, हिंसा अथवा उत्पीड़न द्वारा कराई गई" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 29 और 30 का प्रतिस्थापन

19. मूल अधिनियम की धारा 29 और 30 के स्थान पर निम्नलिखित धाराएं प्रतिस्थापित की जाएंगी, अर्थात् —

अन्यथा सुसंगत संस्वीकृति का गुप्त रखने के वचन आदि के कारण विसंगत न हो जाना

"29. (1) यदि संस्वीकृति अन्यथा सुसंगत है, और वह केवल इसलिए कि

(क) (i) वह गुप्त रखने के वचन के अधीन, या

(ii) उसे अभिप्राप्त करने के प्रयोजनार्थ अभियुक्त व्यक्ति से की गई, प्रवंचना के परिणामस्वरूप, या

(iii) उस समय जबकि वह मत्त था, की गई थी, या

(iv) ऐसे प्रश्नों के उत्तर में की गई थी, जिनका उत्तर देना आवश्यक नहीं था, वे प्रश्नों चाहे किसी भी रूप में किए गए हों।

(ख) केवल इसलिए कि अभियुक्त व्यक्ति को यह चेतावनी नहीं दी गई थी कि वह ऐसी संस्वीकृति करने के लिए आबद्ध नहीं था और कि उसके विरुद्ध उसका साक्ष्य दिया जा सकेगा,

विसंगत नहीं हो जाती।

(2) दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 463 के उपबंधों के अध्यधीन, उप-धारा (1) में अन्तर्निहित कोई बात संहिता की धारा 164 की उप-धारा (2) का उल्लंघन करके रिकार्ड की गई संस्वीकृति, संगत नहीं हो सकेगी।"

साबित संस्वीकृति को, जो उसे करने वाले व्यक्ति तथा एक ही अपराध के लिए संयुक्त रूप से विचारित अन्य को प्रभावित करती है, विचार में लेना

"धारा 30. जबकि एक से अधिक व्यक्ति एक ही अपराध या अपराधों के लिए संयुक्त रूप से विचारित हैं, और विचारण प्रारम्भ होने से पूर्व, ऐसे व्यक्तियों में से किसी एक द्वारा, अपने को और उसी अपराध या सभी अपराधों के संबंध में ऐसे व्यक्तियों में से किसी अन्य द्वारा अपने को और ऐसे व्यक्तियों में से किसी अन्य को प्रभावित करने वाली की गई संस्वीकृति को साबित किया जाता है, तब न्यायालय, जहां ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के विरुद्ध अन्य संगत साक्ष्य है, ऐसी संस्वीकृति को ऐसे अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के विरुद्ध तथा साथ ही ऐसी संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध विचार में ले सकेगा।"

स्पष्टीकरण : इस धारा में प्रयुक्त 'अपराध' शब्द के अन्तर्गत उस अपराध का दुष्प्रेरण या उसे करने का प्रयत्न आता है।

दृष्टांत

(क) 'क' और 'ख' को 'ग' की हत्या के लिए संयुक्ततः विचारित किया जाता है। यह साबित किया जाता है कि 'क' ने कहा, "ख और मैंने 'ग' की हत्या की है।" 'ख' के विरुद्ध इस संस्वीकृति के प्रभाव पर न्यायालय विचार कर सकेगा।

(ख) 'ग' की हत्या करने के लिए 'क' का विचारण हो रहा है। यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य है कि 'ग' की हत्या 'क' और 'ख' द्वारा की गई थी और यह कि 'ख' ने कहा था कि "'क' और मैंने 'ग' की हत्या की"। न्यायालय इस कथन को 'क' के विरुद्ध विचारार्थ नहीं ले सकेगा, क्योंकि 'ख' संयुक्ततः विचारित नहीं हो रहा है।"

धारा 32 का संशोधन

20. मूल अधिनियम की धारा 32 में—

(क) प्रारम्भिक भाग के स्थान पर निम्नलिखित प्रतिस्थापित किया जाएगा, अर्थात्:—

"मामले के तथ्यों या सुसंगत तथ्यों के लिखित या मौखिक कथन, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा किए गए थे, जो मर गया है या मिल नहीं सकता या जो साक्ष्य देने में असमर्थ हो जाता है या उसकी उपस्थिति इतने विलम्ब या व्यय के बिना, जितना कि मामले की परिस्थितियों में न्यायालय अयुक्तियुक्त समझता है, अभिप्राप्त नहीं की जा सकती।"

(ख) खंड (2) के स्थान पर निम्नलिखित खंड प्रतिस्थापित किए जाएंगे, अर्थात् —

"(2) **अथवा कारबार के अनुक्रम में किया गया** : जबकि वह कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम के किया गया था; तथा विशेषतः, इस खंड के पूर्वगामी उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, जबकि वह उसके द्वारा कारबार के मामूली अनुक्रम में रखी जाने वाली पुस्तकों में उसके द्वारा की गई किसी प्रविष्टि या किए गए ज्ञापन के रूप में है;

(2क) अथवा वृत्तिक कर्त्तव्य के निर्वहन इत्यादि में किया गया है : जबकि वह कथन ऐसे व्यक्ति द्वारा वृत्तिक कर्त्तव्य के निर्वहन में की गई प्रविष्टि या किए गए ज्ञापन के रूप में है अथवा उसके द्वारा धन, माल, प्रतिभूतियों या किसी भी किस्म की सम्पत्ति की प्राप्ति की लिखित या हस्ताक्षरित अभिस्वीकृति है, अथवा वाणिज्य में उपयोग में आने वाली उसके द्वारा लिखित या हस्ताक्षरित किसी दस्तावेज के रूप में है अथवा किसी पत्र या अन्य दस्तावेज की तारीख के रूप में है, जोकि उसके द्वारा प्रायः दिनांकित, लिखित या हस्ताक्षरित की जाती थी।"

(ग) खंड (3) में निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"**स्पष्टीकरण** : दस्तावेजों में स्थावर सम्पत्ति की सीमाओं के परिवर्णन में अन्तर्विष्ट कथन जो कथन करने वाले व्यक्ति या तीसरे व्यक्ति की समीपवर्ती भूमि के स्वरूप, स्वामित्व या कब्जों के बारे में है और जो कथन कर्ता के लिए के हितों के विरुद्ध हैं, सुसंगत है और यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज के पक्षकार वहीं होने चाहिएं जो कार्यवाहियों के पक्षकार या उनके संसर्गी हैं।"

(घ) खंड (7) के स्थान पर निम्नलिखित खंड प्रतिस्थापित किया जाएगा, अर्थात् :—

"(7) <u>अथवा धारा 13, खंड (क) में विनिर्दिष्ट संव्यवहारों से संबंधित दस्तावेजों में किया गया है</u> : जब वह कथन किसी ऐसे विलेख, बिल या अन्य दस्तावेज में अन्तर्विष्ट है जो किसी ऐसे संव्यवहार से संबंधित है जिसके द्वारा अधिकार या रूढ़ि, सृष्ट, दावाकृत, उपांतरित, मान्यकृत, प्रख्यात या प्रत्याख्यात की गई थी या जो उसके अस्तित्व से असंगत था, जैसाकि धारा 13 के खंड (क) में विनिर्दिष्ट है।

<u>स्पष्टीकरण</u>-I : ऐसे कथन सुसंगत है जहां न्यायालय के समक्ष चल रही कार्यवाही में प्रश्न अधिकार या रूढ़ि के अस्तित्व के बारे में है अथवा यदि ऐसा कथन कार्यवाही के सांपार्श्विक तथ्यों से संबंधित है और यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज से संबंधित पक्ष वही हो, जो कार्यवाही या उनके संसर्गी पक्ष हैं।

<u>स्पष्टीकरण</u>-II : ऐसे दस्तावेजों में अन्तर्विष्ट अस्थावर सम्पत्ति की सीमाओं के संबंध में परिवर्णन, प्रकृति या स्वामित्व या कथन करने वाले की भूमि पर कब्जा या तीसरे व्यक्तियों की समीपवर्ती भूमि, जो किसी कथन करने वाले के विरुद्ध थी, सुसंगत है और यह आवश्यक नहीं है कि दस्तावेज के पक्षकार वहीं होने चाहिए जैसा कि कार्यवाहियों के पक्षकार या उनके संसर्गी हैं।"

<u>धारा 33 का प्रतिस्थापन</u>

21. मूल अधिनियम की धारा 33 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

<u>किसी साक्ष्य में कथित तथ्यों की सत्यता को पश्चातवर्ती कार्यवाही में साबित करने के लिए उस साक्ष्य की सुसंगति</u>

"33. किसी साक्षी द्वारा—

(क) पूर्ववर्ती न्यायिक कार्यवाही, या

(ख) उसी न्यायिक कार्यवाही के पूर्ववर्ती प्रक्रम में, या

(ग) साक्ष्य लेने के लिए विधि द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष किसी कार्यवाही में, दिया गया साक्ष्य उन तथ्यों की सत्यता को, जो उस साक्ष्य में कथित हैं, किसी पश्चातवर्ती न्यायिक कार्यवाही

में या उसी न्यायिक कार्यवाही के आगामी प्रक्रम में, साबित करने के प्रयोजन के लिए सुसंगत है, जबकि उस साक्षी की मृत्यु हो चुकी है या उसे ढूंढा नहीं जा सकता या वह साक्ष्य देने में असमर्थ है, या प्रतिपक्षी द्वारा उसे पहुंच के बाहर कर दिया गया है या यदि उसकी उपस्थिति इतने व्यय या विलम्ब के बिना जितना कि मामले की परिस्थितियों में न्यायालय अयुक्तियुक्त समझता है, अभिप्राप्त नहीं की जा सकती;

परन्तु वह तब जबकि—

(i) न्यायालय के समक्ष पश्चातवर्ती कार्यवाही उन्हीं पक्षकारों या उनके प्रतिनिधियों के बीच में है;

(ii) प्रथम कार्यवाही में प्रतिपक्षी को प्रतिपरीक्षा का अधिकार और अवसर था ;

(iii) विवाद्य प्रश्न प्रथम कार्यवाही में सारतः वही थे जो द्वितीय कार्यवाही में है।

स्पष्टीकरण : दांडिक विचारण या जांच, उन मामलों में,

(क) जहां दांडिक कार्यवाही किसी निजी व्यक्ति द्वारा संस्थित की गई हैं, इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत उस व्यक्ति तथा अभियुक्त के बीच कार्यवाही समझी जाएंगी यदि उस व्यक्ति को न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 302 के अन्तर्गत अभियोजन के लिए अनुज्ञात कर दिया है; और

(ख) खंड (क) में विनिर्दिष्ट से भिन्न मामलों मे, राज्य और अभियुक्त के बीच कार्यवाही समझी जाएंगी।

धारा 34 का संशोधन

22. मूल अधिनियम की धारा 34 में "ऐसे कथन" शब्दों के स्थान पर "ऐसी प्रविष्टियां" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 35 का प्रतिस्थापन

23. मूल अधिनियम की धारा 35 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

कर्त्तव्य पालन में की गई लोक अभिलेख या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड की प्रविष्टियों की सुसंगति

"35. किसी लोक या अन्य राजकीय पुस्तक, रजिस्टर या इलैक्ट्रानिक अभिलेख में की गई प्रविष्टि जो किसी विवाद्यक या सुसंगत तथ्य का कथन करती है और किसी—

(क) लोक सेवक द्वारा अपने पदीय कर्त्तव्य के निर्वहन में, या

(ख) उस देश की, जिसमें ऐसी पुस्तक, अभिलेख या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड रखा जाता है, विधि द्वारा विशेष रूप से व्यादिष्ट कर्त्तव्य पालन में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा की गई है,

स्वयं सुसंगत तथ्य है।"

धारा 36 और 37 का प्रतिस्थापन

24. मूल अधिनियम की धारा 36 और 37 के स्थान पर निम्नलिखित धाराएं प्रतिस्थापित की जाएंगी, अर्थात्—

मानचित्रों, चार्टों और रेखांकों में कथनों की सुसंगति

"धारा 36. विवाद्यक तथ्यों या सुसंगत तथ्यों के वे कथन—

(क) जो प्रकाशित मानचित्रों चार्टों या रेखांकों में जो लोक विक्रय के लिए साधारणतः प्रस्थापित किए जाते हैं; या

(ख) केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के प्राधिकार के अधीन बनाए गए मानचित्रों, चार्टों या रेखांकों में किए गए हैं,

उन विषयों के बारे में, जो ऐसे मानचित्रों, चार्टों या रेखांकों में प्रायः रूपित या कथित होते हैं, स्वयं सुसंगत तथ्य हैं।''

किन्ही अधिनियमों या अधिसूचनाओं में अन्तर्विष्ट लोक प्रकृति के तथ्य के बारे में कथन की सुसंगति

''37. जबकि न्यायालय को किसी लोक प्रकृति के तथ्य के अस्तित्व के बारे में राय बनानी है तब—

(क) किसी केन्द्रीय अधिनियम, क्षेत्रीय अधिनियम या राज्य अधिनियम में, या

(ख) किसी शासकीय राजपत्र में प्रकाशित सरकारी अधिसूचना में, या

(ग) अगस्त, 1947 के 15वें दिन से पूर्व की अवधि के संबंध में—

(i) यूनाइटेड किंगडम की संसद के किसी अधिनियम में, या

(ii) हिज मेजेस्टी के किसी डोमिनियन, उपनिवेश या कब्जाधीन क्षेत्र के सरकारी गजट या लंदन गजट तात्पर्यित होने वाले किसी मुद्रित पत्र में प्रकाशित सरकारी अधिसूचना में, या

(iii) क्राउन रिप्रेजेन्टिटिव द्वारा शासकीय गजट में की गई अधिसूचना में,

अंतर्विष्ट परिवर्णन में किया गया उसका कोई कथन सुसंगत तथ्य है।''

धारा 38 का संशोधन

25. मूल अधिनियम की धारा 38 में, ''जब न्यायालय किसी देश की किसी विधि के बारे में राय बनाता है'' शब्दों के स्थान पर ''जब न्यायालय भारत के बाहर किसी देश की किसी विधि के बारे में राय बनाता है'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 39 और 40 का प्रतिस्थापन

26. मूल अधिनियम की धारा 39 और 40 के स्थान पर निम्नलिखित धाराएं प्रतिस्थापित की जाएंगी, अर्थात्—

किसी कथन में कितना साबित किया जाए

जबकि कथन किसी बातचीत, इलैक्ट्रानिक अभिलेखों, दस्तावेज, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली का भाग हो तब क्या साक्ष्य दिया जाए

''39 :(1) जब कोई कथन, जिसका साक्ष्य दिया जाता है—

(क) किसी वृहत्तर कथन का या किसी बातचीत का भाग है या किसी एकल दस्तावेज या किसी इलैक्ट्रानिक अभिलेख का भाग है; या

(ख) किसी ऐसे दस्तावेज में अंतर्विष्ट है जो किसी पुस्तक का भाग है या किसी इलैक्ट्रानिक अभिलेख के भाग में अन्तर्विष्ट है अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की संसक्त आवली का भाग है,

तब उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, पक्षकार जो कथन का साक्ष्य दे रहा है, कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के उतने का ही, न कि उतने से अधिक का साक्ष्य देगा जितना कि उस कथन की प्रकृति और प्रभाव की तथा उन परिस्थितियों को, जिनके अधीन वह किया गया था, पूर्णतः समझने के लिए उस विशिष्ट मामले में आवश्यक है।

(2) जहां ऐसा पक्षकार किसी कथन, बातचीत, दस्तावेज, इलैक्ट्रानिक अभिलेख, पुस्तक अथवा पत्रों या कागज-पत्रों की आवली के किसी भाग का साक्ष्य देने में, यथा उपर्युक्त, जो आवश्यक है, असफल रहता है तब दूसरा पक्षकार उस भाग को साक्ष्य में दे सकेगा।"

न्यायालयों के निर्णय कब सुसंगत हैं

द्वितीय वाद या विचारण के वारणार्थ पूर्व निर्णय सुसंगत है।

"40. किसी ऐसे निर्णय, आदेश या डिक्री का अस्तित्व, जो किसी न्यायालय को किसी वाद या विवाद्यक के संज्ञान से या विचारण करने से या किसी प्रश्न के अवधारण करने से विधि द्वारा निवरित करता है, सुसंगत तथ्य है जबकि प्रश्न यह हो कि क्या ऐसे न्यायालय को ऐसे वाद या विवाद्यक, या ऐसे विचारण या ऐसे प्रश्न का अवधारण, यथा स्थिति, करना चाहिए।"

धारा 41 का संशोधन

27. मूल अधिनियम की धारा 41 के अन्त में निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

स्पष्टीकरण : प्रोबेट अनुदान अस्वीकार करने वाला कोई आदेश धारा के क्षेत्र में नहीं आता है।"

धारा 45 का संशोधन

28. मूल अधिनियम की धारा 45 में, जबकि न्यायालय को राय बनानी होती है शब्दों से आरम्भ होकर "ऐसे व्यक्ति विशेषज्ञ कहलाते हैं" शब्दों से अन्त होने वाले भाग के लिए निम्नलिखित प्रतिस्थापित किया जाए, अर्थात्—

"जबकि न्यायालय को विदेशी विधि की या विज्ञान या कला या हस्तलेख या अंगुलियों के चिन्हों या पैरों के निशान या, हथेली की छाप या टाइपराइटिंग की अनन्यता या व्यापार की प्रथा या तकनीकी शब्दों या, व्यक्तियों या जानवरों की पहिचान की किसी बात के बारे में राय बनानी हो तो तब उस बात पर ऐसी विदेशी विधि विज्ञान या कला में या हस्तलेख, अंगुलियों के चिन्हों, पैरों के निशानों, हथेली की छाप, टाइपराइटिंग, व्यापार की प्रथा, तकनीकी शब्दों या, व्यक्तियों या जानवरों की अनन्यता, जैसा भी मामला हो, विषयक प्रश्नों में विशेष कुशल व्यक्तियों की राय सुसंगत तथ्य है। ऐसे व्यक्ति विशेषज्ञ कहलाते हैं।"

नई धारा 45क और 45ख का अन्तःस्थापन

29. मूल अधिनियम की धारा 45 के पश्चात् निम्नलिखित धाराएं अन्तःस्थापित की जाएंगी, अर्थात्—

विशेषज्ञ की रिपोर्ट की प्रति दिया जाना

"45क (1) न्यायालय की अनुमति के सिवाय कोई साक्षी विशेषज्ञ के रूप में तब तक साक्ष्य नहीं देगा जब तक कि उसकी रिपोर्ट की एक प्रति, उपधारा (2) तथा (3) के अनुसरण में, सभी पक्षकारों को न दे दी गई हो।

(2) किसी विशेषज्ञ की रिपोर्ट न्यायालय को संबोधित की जाएगी, उस पक्षकार को नहीं जिसकी ओर से उसकी परीक्षा की जा रही है और न्यायालय की सहायता करना उसका कर्त्तव्य होगा और यह कर्त्तव्य पक्षकार के प्रति, जिसकी ओर से उसकी परीक्षा की जा रही है, किसी भी दायित्व पर, अभिभावी होगा।

(3) किस विशेषज्ञ की रिपोर्ट में-

(क) विशेषज्ञ की योग्यताओं का विवरण दिया जाना चाहिए;

(ख) उस साहित्य अथवा अन्य सामग्री का विवरण दिया जाना चाहिए जिस पर विशेषज्ञ ने अपनी रिपोर्ट तैयार करने में निर्भर किया हो;

(ग) यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि किसने कोई परीक्षण या प्रयोग किया है जिसका विशेषज्ञ ने रिपोर्ट के लिए उपयोग किया है और क्या परीक्षण या प्रयोग विशेषज्ञ के पर्यवेक्षण के अधीन किया गया था अथवा नहीं और कारण, यदि कोई हो, परीक्षण करने वाले व्यक्ति द्वारा दिए जाने चाहिए;

(घ) ऐसा कोई परीक्षण या प्रयोग करने वाले व्यक्ति की योग्यताएं दर्शायी जानी चाहिए;

(ङ) रिपोर्ट में उल्लिखित विषयों पर जहां राय की कोई श्रेणी हो—

(i) राय की श्रेणी संक्षिप्त रूप में; और

(ii) अपनी स्वयं की राय के कारण दिए जाने चाहिए।

(च) निकाले गए निष्कर्ष का सारांश अन्तर्विष्ट होना चाहिए;

(छ) ऐसा कथन अन्तर्विष्ट होना चाहिए कि विशेषज्ञ न्यायालय के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझता था और उसने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है;

(ज) पक्षकार के, जिसकी ओर से उसकी परीक्षा की जा रही है, सभी सारवान अनुदेशों (लिखित या मौखिक) का सारांश दर्शाते हुए एक विवरण अन्तर्विष्ट होना चाहिए;

(झ) निम्नलिखित रूप में सत्य कथन द्वारा सत्यापित होना चाहिए;

"मैं विश्वास करता हूं कि मैंने रिपोर्ट में जिन तथ्यों का उल्लेख किया है वे सत्य हैं और यह कि मैंने जो राय व्यक्त की है वह सही है"; और

(ञ) इस आशय का कथन अन्तर्विष्ट होना चाहिए कि विशेषज्ञ इस बात के प्रति सावधान है कि रिपोर्ट में यदि विवरण की सच्चाई में दृढ़ विश्वास किए बिना ही कोई झूठा विवरण अन्तर्विष्ट हुआ है तो न्यायालय की अनुमति से और उसके निदेशों के अधीन अभियोजन की या न्यायालय की अवमानना की कार्यवाही की जा सकेगी।"

विदेशी विधि साबित करने की प्रक्रिया और न्यायालय की शक्ति

"45ख (1) किसी वाद या अन्य सिविल कार्यवाही का कोई पक्षकार जो किसी विदेशी विधि से संबंधित कोई मामला उठाना चाहता है अपने अभिवाक् में नोटिस देगा या कोई अन्य न्यायोचित नोटिस देगा।

(2) न्यायालय, किसी विशिष्ट मामले में, विदेशी विधि का प्रश्न अवधारित करने में, पक्षकारों को अधिसूचना जारी करने के पश्चात् साक्ष्य के सहित किसी सुसंगत सामग्री या स्त्रोत पर विचार

कर सकेगा, चाहे वह पक्षकार द्वारा प्रस्तुत किया गया हो अथवा नहीं, और न्यायालय के निर्णय को विधि के प्रश्न पर किया गया निर्णय समझा जाएगा।"

धारा 48 का प्रतिस्थापन

30. मूल अधिनियम की धारा 48 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

अधिकार या रूढ़ि के बारे में राय कब सुसंगत है

"48. जबकि न्यायालय को किसी साधारण या लोक अधिकार या रूढ़ि या साधारण या लोक हित के विषय के अस्तित्व के बारे में राय बनानी हो, तब ऐसे अधिकार या रूढ़ि या ऐसे विषय के अस्तित्व के बारे में, जैसा भी हो, उन व्यक्तियों की रायें सुसंगत होंगी जो यदि उसका अस्तित्व होता तो उसे जानते होते।

स्पष्टीकरण : साधारण या लोक अधिकार या रूढ़ि या साधारण या लोक हित के विषय के अन्तर्गत वे रूढ़ियां या अधिकार या विषय आते हैं जो किसी काफी बड़े वर्ग के लिए सामान्य हैं।"

दृष्टांत : किसी विशिष्ट ग्राम के निवासियों का अमुक कूप के पानी का उपयोग करने का अधिकार इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत साधारण अधिकार है।"

धारा 50 का संशोधन

31. मूल अधिनियम की धारा 50 के परन्तुक के स्थान पर निम्नलिखित परन्तुक प्रतिस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"परन्तु यह कि ऐसी राय किसी ऐसी सिविल या दांडिक कार्यवाही के लिए पर्याप्त नहीं होगी जहां किसी व्यक्ति को यह साबित करना हो कि विवाह हुआ था।"

नई धारा 53क का अन्तःस्थापन

32. मूल अधिनियम की धारा 53 के पश्चात् निम्नलिखित धारा अन्तःस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

पीड़ित का शील कतिपय मामलों में सुसंगत नहीं होगा

"53क. धारा 376, 376क, 376ख, 376ग, 376घ, 376ङ के अधीन किसी अपराध के या अपराध करने के प्रयास के अभियोजन में जहां सम्मति का प्रश्न विवाद्यक है, पीड़ित व्यक्ति के शील का साक्ष्य या किसी व्यक्ति के साथ उसका (स्त्री/पुरुष का) लैंगिक अनुभव, ऐसी सम्मति या सम्मति की क्वालिटी के प्रश्न पर सुसंगत नहीं होगा।"

धारा 54 का संशोधन

33. मूल अधिनियम की धारा 54 में, "जब तक कि इस बात का साक्ष्य न दिया गया हो कि वह अच्छे शील का है, जिसके दिए जाने के पश्चात वह सुसंगत हो जाता है" शब्दों के स्थान पर निम्नलिखित शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे, अर्थात्:

"जब तक कि इस बात का साक्ष्य न दिया गया हो कि वह अच्छे शील का है, चाहे साक्षियों द्वारा प्रतिरक्षा के लिए या अभियोजन के लिए साक्षियों की प्रतिपरीक्षा द्वारा या अन्य किसी रीति में, जिसके दिए जाने के पश्चात वह सुसंगत हो जाता है।"

धारा 57 का संशोधन

34. मूल अधिनियम की धारा 57 में—

(क) खंड (1) के अन्त में निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित किए जाएंगे, अर्थात्—

"स्पष्टीकरण-I : जहां इस धारा के फलस्वरूप न्यायालय न्यायिक अवेक्षा करने के लिए बाध्य है, और प्रश्न किसी सांविधिक लिखत की शर्तों की विद्यमानता, सीमा तथा प्रवर्तन से संबंधित है, वहां न्यायालय प्रश्न का निर्णय करने के प्रयोजन से उपयुक्त पुस्तकों या निर्देश के दस्तावेजों की, यदि ऐसी पुस्तकें या दस्तावेज तत्काल उपलब्ध हों, संबंधित पक्षकार के ऐसी पुस्तकें या दस्तावेज प्रस्तुत करने के लिए कहने से पूर्व सहायता लेगा।

स्पष्टीकरण-II : सांविधिक लिखत से कोई नियम, अधिसूचना, उप-विधि, आदेश, स्कीम या किसी अधिनियमिति के अधीन बनाई गई अन्य लिखत अभिप्रेत है।"

(ख) खंड (2) के स्थान पर निम्नलिखित खंड प्रतिस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"(2). यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट द्वारा 15 अगस्त 1947 से पूर्व पारित सभी पब्लिक एक्ट तथा वे सभी स्थानीय और पर्सनल एक्ट जिनके बारे में, उस तिथि से पूर्व यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट ने निर्दिष्ट किया है, की न्यायिक अवेक्षा की जाए।"

(ग) खंड (4) से (7) के स्थान पर निम्नलिखित खंड प्रतिस्थापित किये जाएंगे, अर्थात्—

"(4). 15 अगस्त, 1947 से पूर्व की यूनाइटेड किंग्डम की पार्लियामेंट की, भारत की संविधान सभा की और उस तिथि से पूर्व संसद की तथा किसी प्रान्त या राज्यों में तत्समय प्रवृत्त विधियों के अधीन स्थापित विधान मंडलों की कार्यवाही का अनुक्रम।"

"(5). 15 अगस्त, 1947 से पूर्व की गई किसी कार्यवाही के संबंध में किया गया ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड की यूनाइटेड किंग्डम के तत्समय प्रभु का राज्यारोहण और राज हस्ताक्षर।"

"(6). निम्नलिखित मुद्राएं, अर्थात्—

(क) 15 अगस्त, 1947 से पूर्व किसी अधिनियम के संबंध में वे सभी मुद्राएं जिनको अंग्रेजी न्यायालय न्यायिक अवेक्षा करते हैं ;

(ख) भारत में सभी न्यायालयों की मुद्राएं;

(ग) केन्द्रीय सरकार के प्राधिकार से स्थापित भारत से बाहर सभी न्यायालयों की मुद्राएं;

(घ) 15 अगस्त, 1947 से पूर्व की गई किसी कार्यवाही के संबंध में क्राउन के प्रतिनिधि के प्राधिकार द्वारा स्थापित विधिक न्यायालयों की मुद्राएं;

(ङ) नौवाधिकरण और समुद्रीय अधिकारिता वाले न्यायालयों की और नोटेरी पब्लिक की मुद्राएं; और

(च) वे सभी मुद्राएं जिन्हें प्रयोग करने के लिए 15 अगस्त, 1947 से पूर्व किसी अधिनियम के संबंध में यूनाइटेड किंग्डम की पर्लियामेंट के किसी अधिनियम द्वारा या भारत के संविधान द्वारा या भारत में विधि का बल रखने वाले किसी अधिनियम या विनियम द्वारा किसी व्यक्ति को प्राधिकृत किया गया है।"

(7). भारत में या किसी राज्य में किसी लोक पद पर तत्समय आरूढ़ व्यक्तियों के कोई पदारोहण, नाम, उपाधियां, कृत्य और हस्ताक्षर, यदि ऐसे पद पर उसकी नियुक्ति का तथ्य किसी सरकारी राजपत्र में अधिसूचित किया गया हो"

नई धारा 57क का अन्तःस्थापन

35. मूल अधिनियम की धारा 57 के पश्चात निम्नलिखित धारा अन्तःस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

विदेशी राज्यों के संबंध में न्यायालय द्वारा कतिपय विषयों की न्यायिक अवेक्षा

"57क (1) प्रत्येक न्यायालय इस तथ्य की न्यायिक अवेक्षा करेगा—

(क) कि किसी राज्य को केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्यता प्रदान की गई है अथवा नहीं;

(ख) केन्द्रीय सरकार ने किसी व्यक्ति को राज्य प्रमुख के रूप में मान्यता प्रदान की है अथवा नहीं।

(2) यदि, किसी न्यायालय में, उपधारा (1) के बारे में प्रश्न उठते हैं तो उपयुक्त विभाग में नियुक्त भारत सरकार का सचिव, न्यायालय के आवेदन पर, उस प्रश्न पर केन्द्रीय सरकार का निर्णय न्यायालय को भेजेगा और कार्यवाही के प्रयोजन से वह निर्णय अन्तिम होगा।

(3) न्यायालय उक्त सचिव को, न्यायालय की मुद्रा तथा न्यायाधीश के हस्ताक्षरों से एक दस्तावेज में उपयुक्त रूप से प्रश्न उठाने के लिए तैयार किए गए प्रश्न भेजेगा और सचिव वापिसी में उन प्रश्नों के पर्याप्त उत्तर न्यायालय को भेजेगा और प्राप्त हो जाने पर वे उत्तर अन्तर्विष्ट विषयों का निश्चयात्मक साक्ष्य होंगे।"

धारा 58 का संशोधन

36. मूल अधिनियम की धारा 58 में "किसी ऐसे तथ्य को किसी कार्यवाही में साबित करना आवश्यक नहीं है" शब्दों के स्थान पर "किसी ऐसे तथ्य को किसी कार्यवाही में, किसी आपराधिक अभियोजन के अलावा, साबित करना आवश्यक नहीं है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 59 का प्रतिस्थापन

37. मूल अधिनियम की धारा 59 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

मौखिक साक्ष्य द्वारा तथ्यों का साबित किया जाना

"59. (1) उपधारा (2) के उपबंधों के अधीन, सभी तथ्य मौखिक साक्ष्य द्वारा साबित किए जा सकेंगे।

(2) इस अधिनियम में अन्यथा स्पष्ट रूप से उपबंधित के सिवाय, दस्तावेजों को अंतर्वस्तु और इलेक्ट्रानिक रिकार्ड मौखिक साक्ष्य द्वारा साबित नहीं किए जाएंगे।"

धारा 60 का संशोधन

38. मूल अधिनियम की धारा 60 में, प्रथम परन्तुक के पश्चात निम्नलिखित परन्तुक अन्तःस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"परंतु यह और भी कि किसी विशेषज्ञ की लिखित रूप में अभिव्यक्त राय, तथा वे आधार जिन पर यह राय धारित है, विशेषज्ञ को साक्षी के रूप में बुलाए बिना ही साबित किए जा सकेंगे, जब तक कि न्यायालय, मामलों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अन्यथा निदेशित न करे, जहां विशेषज्ञ—

(i) केंद्रीय या राज्य सरकार का या किसी स्थानीय प्राधिकरण का या किसी विश्वविद्यालय का या अनुसंधान कार्य में लगे किसी अन्य संस्थान का कर्मचारी है और न्यायालय ने उससे पक्षकार के आवेदन पर या स्वयं अपने प्रस्ताव पर ही परामर्श किया है; या

(ii) अपने नियोजन में रहते हुए ही अपनी राय रिकार्ड की है,

तथापि यह प्रति परीक्षा के लिए किसी विशेषज्ञ को बुलाने के किसी भी पक्षकार के अधिकार के अध्यधीन होगा।''

धारा 63 का संशोधन

39. मूल अधिनियम की धारा 63 में—

(क) प्रारम्भिक भाग में ''द्वितीयक साक्ष्य से अभिप्रेत है और सम्मिलित है'' शब्दों के स्थान पर ''द्वितीयिक साक्ष्य में सम्मिलित है'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

(ख) खंड (3) में ''से बनाई गई या तुलना की गई'' शब्दों के स्थान पर ''से बनाई गई तथा तुलना की गई'' प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

(ग) खंड (5) में ''किसी व्यक्ति द्वारा दिया गया जिसने उसे स्वयं देखा है'' शब्दों के स्थान पर ''किसी व्यक्ति द्वारा दिया गया जिसने उसे स्वयं पढ़ा है'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 65 का संशोधन

40. मूल अधिनियम की धारा 65 में—

(1) खंड (क) के स्थान पर निम्नलिखित खंड प्रतिस्थापित किए जाएंगे, अर्थात्—

''(क) जबकि यह दर्शित कर दिया जाए या प्रतीत होता हो कि मूल दस्तावेज ऐसे व्यक्ति के कब्जे में या शक्त्याधीन है—

(i) जिसके विरूद्ध उस दस्तावेज का साबित किया जाना इप्सित है, अथवा जो न्यायालय की आदेशिका की पहुंच के बाहर है या ऐसी आदेशिका के अध्यधीन नहीं है और ऐसा व्यक्ति मूल दस्तावेज को प्रस्तुत नहीं करता है; या

(ii) जो उसे पेश करने के लिए वैध रूप से आबद्ध है और ऐसा व्यक्ति धारा 66 में वर्णित सूचना प्राप्त होने के पश्चात् इसे पेश नहीं करता है।

(कक) जबकि यह दर्शित कर दिया जाए या प्रतीत होता हो कि मूल दस्तावेज किसी ऐसे व्यक्ति के कब्जे में या शक्त्याधीन है जो उसे पेश करने के लिए वैध रूप से आबद्ध नहीं है और मूल दस्तावेज को प्रस्तुत करने के लिए किसी पक्षकार के कहने पर ऐसा व्यक्ति न्यायालय से सूचना प्राप्त होने के पश्चात् इसे पेश नहीं करता है।''

(2) ''(ङ) या (च) की दशा में, दस्तावेज की सत्यापित प्रति, परन्तु द्वितीयिक साक्ष्य के अन्य प्रकार की नहीं, ग्राह्य है'' शब्दों के स्थान पर ''(ङ) या (च) की दशा में, जब तक इस धारा का कोई अन्य खंड लागू न हो, दस्तावेज की सत्यापित प्रति, परन्तु द्वितीयिक साक्ष्य के अन्य प्रकार की नहीं, ग्राह्य है'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 67 का संशोधन

41. मूल अधिनियम की धारा 67 के अंत में निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्तःस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"स्पष्टीकरण : इस धारा में और धारा 69 से 73 में 'विल्स' के संबंध में 'निष्पादन' या 'हस्ताक्षर' अभिव्यक्तियों का वही अर्थ होगा जो इन्हें भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 63 के अधीन दिया गया है और 'प्रमाणीकरण' से अभिप्रेत होगा प्रमाण द्वारा हस्ताक्षर करना या मोहर लगाना"

धारा 68 से 73 के स्थान पर नई धाराओं का प्रतिस्थापन

42. मूल अधिनियम की धारा 68 से 73 के स्थान पर निम्नलिखित नई धाराएं प्रतिस्थापित की जाएंगी, अर्थात्—

ऐसी विल के निष्पादन का साबित किया जाना जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है

"68. (1) यदि किसी विल का अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है, तो उसे साक्ष्य के रूप में उपयोग में नहीं लाया जाएगा जब तक कि कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी, यदि कोई अनुप्रमाणक साक्षी जीवित है और न्यायालय की आदेशिका के अध्यधीन है तथा साक्ष्य देने के योग्य है, उसका निष्पादन साबित करने के लिए न बुलाया गया हो।

(2) उप-धारा (1) में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी किसी अनुप्रमाणक को किसी विल का निष्पादन साबित करने के लिए बुलाने की आवश्यकता नहीं होगी यदि—

(क) अनुप्रमाणक साक्षी साक्ष्य देने के योग्य नहीं है; या उसे विपक्षी पक्षकार द्वारा या उस पक्षकार से सांठ-गांठ करके किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सामने आने से दूर रखा गया हो या वह ऐसा व्यक्ति हो जिसकी उपस्थिति, विलम्बकारित किए बिना या ऐसा व्यय किए बिना, जिसे मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, न्यायालय न्यायोचित नहीं समझता हो, प्राप्त नहीं की जा सकेगी।

(ख) विल विपक्षी पक्षकार के कब्जे में हो; या

(ग) कोई पक्षकार विल में अन्तर्विष्ट किसी वंश संबंधी तथ्य का निर्देश करना चाहता हो; या

(घ) धारा 89 और 90 के उपबंध लागू हो सकेंगे।"

जब किसी भी अनुप्रमाणक साक्षी का पता न चले तब सबूत

"69. यदि धारा 68 की उप-धारा (1) के अधीन विनिर्दिष्ट ऐसे किसी अनुप्रमाणक साक्षी का पता न चल सके तो यह साबित करना होगा कि कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी का अनुप्रमाण उसी के हस्तलेख में है, तथा यह कि विल का निष्पादन करने वाले व्यक्ति का हस्ताक्षर विल के निष्पादक के हस्तलेख में है।"

अनुप्रमाणित विल के पक्षकार द्वारा निष्पादन की स्वीकृति

"70. किसी अनुप्रमाणित विल के निष्पादनकर्ता द्वारा उसके निष्पादन की स्वीकृति, यदि ऐसी स्वीकृति उसके जीवनकाल में किसी अभिवचन में या अन्यथा किसी वाद या कार्यवाही के दौरान की गई है, उसके निष्पादन का विरोध करने वालों के विरुद्ध, पर्याप्त सबूत होगा, यद्यपि विल, ऐसी है जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित है।"

जबकि अनुप्रमाणक साक्षी निष्पादन का प्रत्याख्यान करता है, तब सबूत

"71. यदि किसी बिल का निष्पादन साबित करने के लिए बुलाया गया अनुप्रमाणक साक्षी बिल के निष्पादन का प्रात्याख्यान करे या उसे उसके निष्पादन का स्मरण न हो, तो उसका निष्पादन अन्य साक्ष्य पेश करने से पूर्व, धारा 68 के उपबंधों के अधीन अन्य अनुप्रमाणक साक्षियों को बुलाकर साबित किया जा सकेगा।"

बिलों या अन्य दस्तावेजों का साबित किया जाना जिनका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित नहीं है

"72. कोई अनुप्रमाणित बिल या दस्तावेज, जिसका अनुप्रमाणित होना विधि द्वारा अपेक्षित नहीं है, ऐसे साबित किया जा सकेगा मानो वह अनुप्रमाणित न हो।"

हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा की तुलना अन्यों से जो स्वीकृत या साबित हैं

"73. (1) यह अभिनिश्चित करने के लिए कि क्या कोई हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा उस व्यक्ति की है जिसके द्वारा उसका लिख या किया जाना अभिकथित है, किसी हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा की जिसके बारे में यह स्वीकृत है या न्यायालय के समाधानप्रद रूप में साबित कर दिया गया है कि वह उस व्यक्ति द्वारा लिख या किया गया था, उससे, जिसे साबित किया जाना है, न्यायालय द्वारा या उसके आदेशों के अधीन तुलना की जा सकेगी, यद्यपि वह हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा किसी अन्य प्रयोजन के लिए पेश या साबित न की गई हो।

(2) न्यायालय में उपस्थित किसी व्यक्ति को किन्हीं शब्दों या अंकों को लिखने का निदेश न्यायालय इस प्रयोजन से दे सकेगा कि ऐसे लिखे गए शब्दों या अंकों की ऐसे उन शब्दों या अंकों से तुलना की जा सके जिनके बारे में अभिकथित है कि वे उस व्यक्ति द्वारा लिखे गए थे।

(3) यह धारा, किन्हीं अन्य उपांतरों के साथ, अंगुलियों की छाप, हथेली की छाप, पैरों के निशान तथा टाईपराइटिंग के लिए भी लागू होगी।

(4) तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के उपबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, इस धारा में कोई भी बात, दांडिक न्यायालय के लिए, उसके द्वारा अपराध का संज्ञान किए जाने से पूर्व, लागू नहीं होगी।"

धारा 74 का संशोधन

43. मूल अधिनियम की धारा 74 के खंड (1) के अन्त में निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्त:स्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"**स्पष्टीकरण** : अभिलेख, जो किसी मामले का भाग है और जिनके परिणामस्वरूप न्यायालय द्वारा निर्णय दिया जाएगा, या किसी लोक अधिकारी का आदेश, यदि आदेश न्यायिक रूप से दिया गया हो, लोक दस्तावेज समझा जाएगा।"

धारा 76 का संशोधन

44. मूल अधिनियम की धारा 76 में, स्पष्टीकरण को स्पष्टीकरण-I के रूप में पुन:संख्यांकित किया जाएगा और इस प्रकार पुनर्संख्यांकित किए गए स्पष्टीकरण के पश्चात् निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्त:स्थापित किए जाएंगे, अर्थात्—

"**स्पष्टीकरण-II** : इस धारा के प्रयोजनों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि जनता को दस्तावेज का निरीक्षण करने का अधिकार होना चाहिए और यही पर्याप्त है कि उसकी प्रति मांगने वाला व्यक्ति उस दस्तावेज का निरीक्षण करने का अधिकारी है जिसकी प्रति उसने मांगी है।

स्पष्टीकरण-III : यदि किसी व्यक्ति को किसी दस्तावेज की प्रति प्राप्त करने का अधिकार है तो उसे उसके निरीक्षण का अधिकार होना भी समझा जाएगा और जहाँ किसी व्यक्ति को किसी विधि द्वारा, निरीक्षण या उसकी प्रति प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया है या जहाँ सरकार द्वारा बनाए गए किसी नियम या किए गए किसी आदेश द्वारा उसकी प्रति दिए जाने की अनुमति दी गई है वहां यह धारा, विधि के किसी उपबंध में ऐसी किसी बात के होते हुए भी कि दस्तावेज अन्य व्यक्तियों के लिए गोपनीय समझा जाएगा, लागू होगी।

धारा 77 का संशोधन

45. मूल अधिनियम की धारा 77 के अन्त में निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्त:स्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"स्पष्टीकरण : यदि कोई प्रमाणित प्रति वस्तुत: जारी की जाती है तो यह इसके बावजूद भी ग्राह्य होगी कि यह निरीक्षण करने या प्रमाणित प्रति प्राप्त करने के अधिकार के अनुसरण में जारी की गई थी।"

धारा 78 का संशोधन

46. मूल अधिनियम की धारा 78 में—

(क) प्रारम्भिक भाग में, खंड (1) में "क्राउन रिप्रेजेन्टेटिव या" शब्दों के स्थान पर "क्राउन रिप्रेजेन्टेटिव, जहां ऐसे अधिनिम, आदेश या अधिसूचनाएं 15 अगस्त, 1947 से पूर्व जारी किए गए थे या" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

(ख) खंड (2) में "विधान मंडलों की कार्यवाहियां" शब्द के स्थान पर "संसद या किसी राज्य के विधान मंडल की कार्यवाहियां" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

(ग) खंड (2) के पश्चात् निम्नलिखित खंड अन्त:स्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"(2क) किसी विधान मंडल या उसकी समितियों की अप्रकाशित या प्राइवेट कार्यवाहियां,

संबंधित विधान मंडल के पीठासीन अधिकारी द्वारा या संबंधित विधान मंडल की समिति के चेयरमैन या प्रमुख द्वारा अपने हस्ताक्षर तथा मुद्रा के अधीन जारी की गई कार्यवाहियों की प्रमाणित प्रति।"

(घ) खंड (3) में "हर मेजेस्टी की सरकार द्वारा जारी उद्घोषणाएं, आदेश या विनियम" शब्दों के स्थान पर "15 अगस्त, 1947 से पूर्व हर मेजेस्टी की सरकार द्वारा जारी उद्घोषणाएं, आदेश या विनियम" शब्द और संख्याएं प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

(ङ) खंड (6) के स्थान पर निम्नलिखित खंड प्रतिस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"(6) किसी विदेश के किसी अन्य प्रकार के लोक दस्तावेज,

(क) मूल द्वारा; या

(ख) उसके विधिक पालक द्वारा प्रमाणित किसी प्रति द्वारा, जिस प्रति के साथ किसी नोटरी पब्लिक की या भारतीय कॉन्सिल राजनयिक अभिकर्ता की मुद्रा के अधीन यह प्रमाणपत्र है कि वह प्रति मूल की विधि अभिरक्षा रखने वाले अधिकारी द्वारा सम्यक् रूप से प्रमाणित है, तथा उस दस्तावेज की प्रकृति उस विदेश की विधि के अनुसार साबित किए जाने पर।

धारा 79 का संशोधन

47. मूल अधिनियम की धारा 79 में "केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के किसी अधिकारी द्वारा या जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी ऐसे अधिकारी द्वारा, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा इसके लिए सम्यक् रूप से प्राधिकृत किया गया हो, सम्यक् रूप से प्रमाणित" शब्दों के स्थान पर निम्नलिखित शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे, अर्थात्—

"केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के किसी अधिकारी द्वारा या सम्पृक्त विधानमंडल के पीठासीन अधिकारी द्वारा या सम्पृक्त विधानमंडल समिति के चेयरमैन या प्रमुख द्वारा सम्यक् रूप से प्रमाणित"

धारा 80 का संशोधन

48. मूल अधिनियम की धारा 80 में "विधि के अनुसार लिया गया और किसी न्यायाधीश द्वारा हस्ताक्षर करने से तात्पर्यित होना" शब्दों के स्थान पर निम्नलिखित शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे, अर्थात्—

"विधि के अनुसार लिया गया या किसी मजिस्ट्रेट द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 के अधीन अभिलिखित किया गया और किसी न्यायाधीश द्वारा हस्ताक्षरित होना तात्पर्यित कथन"

धारा 81 का संशोधन

49. मूल अधिनियम की धारा 81 में "न्यायालय हर ऐसे दस्तावेज का असली होना उपधारित करेगा जिसका लन्दन गजट होना तात्पर्यित है" शब्दों के स्थान पर "न्यायालय 15 अगस्त, 1947 को या इससे पूर्व जारी किए गए प्रत्येक दस्तावेज को मौलिक उपधारित करेगा जिसका लन्दन गजट होना तात्पर्यित है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 82 का विलोपन

50. मूल अधिनियम की धारा 82 का लोप किया जाएगा।

धारा 83 का प्रतिस्थापन

51. मूल अधिनियम की धारा 83 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

सरकार के प्राधिकार द्वारा बनाए गए मानचित्रों, चार्टस् या रेखांकों के बारे में उपधारणा

"83. न्यायालय यह उपधारित करेगा कि वे मानचित्र या रेखांक या चार्टस्, जो केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार के प्राधिकार द्वारा बनाए गए तात्पर्यित हैं वैसे ही बनाए गए थे और सही हैं, परन्तु किसी विशिष्ट मामले के प्रयोजन के लिए बनाए गए मानचित्रों या रेखांकों या तालिकाओं के बारे में यह साबित करना होगा कि वह सही हैं"

धारा 87 का प्रतिस्थापन

52. मूल अधिनियम की धारा 87 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

पुस्तकों, मानचित्रों, रेखांकों तथा चार्टों के बारे में उपधारणा

"87. न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि कोई पुस्तक जिसे वह लोक हित या साधारण हित संबंधी जानकारी के लिए देखें और कोई प्रकाशित मानचित्र या रेखांक या चार्ट, जिसके बारे में कथन सुसंगत तथ्य हैं और जो उसके निरिक्षणार्थ पेश किया गया है, उस व्यक्ति द्वारा तथा उस समय और उस स्थान पर लिया गया और प्रकाशित किया गया था जिनके द्वारा या जिस समय या जिस स्थान पर उसका लिखा जाना या प्रकाशित होना तात्पर्यित है।"

धारा 90 का प्रतिस्थापन

53. मूल अधिनियम की धारा 90 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

बीस वर्ष पुराने दस्तावेजों के बारे में उपधारणा

"90. (1) जहां कोई दस्तावेज, जिसका 20 वर्ष पुराना होना तात्पर्यित है या साबित किया गया है, ऐसी किसी अभिरक्षा में से, जिसे न्यायालय उस विशिष्ट मामले में उचित समझता है, पेश किया गया है, वहां न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि ऐसे दस्तावेज पर हस्ताक्षर और उसका हर अन्य भाग, जिसका किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्तलेख में होना तात्पर्यित है, उस व्यक्ति के हस्तलेख में है, और निष्पादित या अनुप्रमाणित दस्तावेज होने की दशा में, यह उपधारित कर सकेगा कि वह उन व्यक्तियों द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित और अनुप्रमाणित किया गया था जिनके द्वारा उसका निष्पादित और अनुप्रमाणित होना तात्पर्यित था;

(2) : जहां उपधारा (1) में निर्दिष्ट जैसा कोई दस्तावेज इस दस्तावेज के रजिस्ट्रीकरण संबंधी विधि के अनुसार रजिस्ट्रीकृत हुआ था और उसकी सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति पेश की जाती है वहां न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि हस्ताक्षर और ऐसे दस्तावेज का हर भाग, जो किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्तलेख में होना तात्पर्यित है, उस व्यक्ति के हस्तलेख में है और निष्पादित या अनुप्रमाणित दस्तावेज होने की दशा में, यह उपधारित कर सकेगा कि वह उन व्यक्तियों द्वारा सम्यक् रूप से निष्पादित और अनुप्रमाणित किया गया था जिनके द्वारा उसका निष्पादित और अनुप्रमाणित होना तात्पर्यित था।

स्पष्टीकरण : उपधारा (1) में निर्दिष्ट दस्तावेजों का उचित अभिरक्षा में होना कहा जाता है, यदि वे उस स्थान में है और उस व्यक्ति की अभिरक्षा में हैं जहां और जिसके पास वे प्रकृत्या हो चाहिए, परन्तु कोई भी अभिरक्षा अनुचित नहीं होगी यदि उसका उद्गम विधि सम्मत साबित कर दिया जाए या उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियां ऐसी हैं जिनसे उद्गम अधिसंभाव्य हो जाता है।

यह स्पष्टीकरण धारा 81 के लिए और 90क के खंड (क) के लिए भी लागू होगा।

दृष्टांत

(क) 'क' भू-सम्पत्ति पर दीर्घ काल से कब्जा रखता आया है। वह उस भूमि संबंधी विलेख, जिनसे उस भूमक पर उसका हक दर्शित होता है, अपनी अभिरक्षा में से पेश करता है। यह अभिरक्षा उचित है।

(ख) 'क' उस भू सम्पत्ति से संबंधित विलेख, जिसका वह बंधकदार है, पेश करता है। बंधककर्ता संपत्ति पर कब्जा रखता है। वह अभिरक्षा उचित है।

(ग) 'ख' का संसर्गी 'क', ख के कब्जे वाली भूमि से संबंधित विलेख पेश करता है, जिन्हें 'ख' ने उसके पास सुरक्षित अभिरक्षा के लिए निक्षिप्त किया था यह अभिरक्षा उचित है।

नई धारा 90क का अन्तःस्थापन

54. मूल अधिनियम की धारा 90क, धारा 90ख के रूप में पुनर्संख्यांकित की जाएगी और इस प्रकार पुनर्संख्यांकित धारा 90ख से पहले निम्नलिखित धारा अन्तःस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

20 वर्ष से कम पुराने कतिपय दस्तावेजों के बारे में उपधारणा

90क. जहां—

(क) दस्तावेजों के रजिस्ट्रीकरण से संबंधित विधि के अनुसार रजिस्ट्रीकृत कोई दस्तावेज किसी अभिरक्षा से पेश कि जाता है, जो न्यायालय उस विशिष्टि मामले में उचित समझता है, और रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज 20 वर्ष से कम पुराना है; या

(ख) दस्तावेजों के रजिस्ट्रीकरण से संबंधित विधि के अनुसार रजिस्ट्रीकृत किसी दस्तावेज की सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति, जिसका मूल दस्तावेज 20 वर्ष से कम पुराना है, पेश किया जाता है ; या

(ग) किसी दस्तावेज की, जो न्यायालय के अभिलेख का भाग है, सम्यक् रूप से प्रमाणित प्रति, जिसका मूल किसी पूर्व के मामले में असली साबित किया जा चुका है और जिसका मूल 20 वर्ष से कम पुराना है, पेश किया जाता है,

न्यायालय खंड (क) में उल्लिखित रजिस्ट्रीकृत दस्तावेजों या खंड (ख) या (ग) में निर्दिष्ट दस्तावेजों के मूल के बारे में यह उपधारित कर सकेगा कि वह उस व्यक्ति द्वारा निष्पादित किया गया है जिसके द्वारा निष्पादित होना तात्पर्यित है।

परन्तु यह कि इस धारा के अधीन ऐसे किसी दस्तावेज के बारे में जो किसी वाद या प्रतिरक्षा का आधार है या जहां वाद में या लिखित कथन पर निर्भर किया जाता है, ऐसी कोई उपधारणा नहीं की जाएगी''

धारा 92 का संशोधन

55. मूल अधिनियम की धारा 92 में, प्रारम्भिक पैराग्राफ के स्थान पर निम्नलिखित प्रतिस्थापित किया जाएगा, अर्थात् :--

''92. जबकि ऐसी संविदा या अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन के निबन्धनों को, जैसा कि धारा 91 में निर्दिष्ट है, या किसी बात को, जिसके बारे में विधि द्वारा अपेक्षित है कि वह ऐसे दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध की जाए, जिससे दो या दो से अधिक पक्षकारों के बीच कोई संव्यवहार बनता हो, धारा 91 के अनुसार साबित किया जा चुका हो, तब किसी मौखिक करार या कथन का साक्ष्य ग्रहण नहीं किया जाएगा —

(क) ऐसी किसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के अन्य व्ययन के पक्षकारों या उनके हित प्रतिनिधियों के बीच दस्तावेज के निबंधनों का खंडन करने या उनमें फेरबदल करने या उनमें कुछ जोड़ने या घटाने के प्रयोजन के लिए ; या

(ख) ऐसे संव्यवहार के पक्षकारों या उनके हित प्रतिनिधियों के बीच दस्तावेज, जिसकी अन्तर्वस्तु को विधि द्वारा दस्तावेज के रूप में अभिलिखित किया जाना अपेक्षित है, के निबंधनों का, यथास्थिति, खंडन करने या उनमें फेरबदल करने या उनमें कुछ जोड़ने या घटाने के प्रयोजन के लिए।

नई धारा 92क का अन्तःस्थापन

56. मूल अधिनियम की धारा 92 के पश्चात् निम्नलिखित धारा अन्तःस्थापित की जाएगी, अर्थात् --

कतिपय एकपक्षीय दस्तावेजों के मामले में मौखिक साक्ष्य का अपवर्जन

''92क. जबकि कोई बात, जिसका विधि द्वारा अपेक्षित है कि वह दस्तावेज के रूप में लेखबद्ध की जाए और जिससे पक्षकारों के बीच कोई संव्यवहार न बनता हो, जैसे, किसी अभियुक्त की संस्वीकृति, किसी साक्षी का कथन, न्यायालय की कार्यवाही (निर्णय, डिक्री या आदेश से भिन्न) किसी कम्पनी का संकल्प जिसका लिखित में होना अपेक्षित हो, इस प्रकार लेखबद्ध किया जाता है और धारा 91 के अनुसार साबित कर दिया जाता है, तब दस्तावेज की अन्तर्वस्तु का खंडन करने, उसमें फेर-फार करने या कुछ जोड़ने अथवा घटाने के प्रयोजन से किसी मौखिक कथन का कोई साक्ष्य ग्रहण नहीं किया जाएगा।''

धारा 99 का प्रतिस्थापन

57. मूल अधिनियम की धारा 99 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात् —

दस्तावेज के निबंधनों के फेरफार करने वाले करार का साक्ष्य कौन दे सकेगा

99. किसी ऐसे तथ्य का साक्ष्य दिया जा सकेगा जो दस्तावेज के निबंधनों का खंडन करने, उनमें फेरफार करने, जोड़ने या घटाने वाले किसी समकालीन करार को दर्शित करने की प्रवृत्ति रखता हो —

(क) ऐसे व्यक्तियों के बीच जो दस्तावेज का पक्षकार नहीं है या उनके हित प्रतिनिधि नहीं है; या

(ख) ऐसे व्यक्ति, जो दस्तावेज का एक पक्षकार है या उसका हित प्रतिनिधि है और ऐसे व्यक्ति के बीच, जो पक्षकार या उसका हित प्रतिनिधि नहीं है।

परन्तु यह कि ऐसा कोई साक्ष्य नहीं दिया जा सकेगा जहां कि विषय, विधि के अनुसार लेखबद्ध किया जाना अपेक्षित है।

दृष्टांत

'क' और 'ख' एक लिखित करार करते हैं कि 'ख' कुछ कपास बेचेगा, जिसका संदाय परिदान करने पर किया जाएगा, साथ ही वे एक मौखिक करार भी करते हैं कि 'क' को तीन महीने का उधार दिया जाएगा। यह 'क' और 'ख' के बीच दर्शित नहीं किया जा सकता परन्तु यह 'ग' द्वारा दर्शित किया जा सकेगा यदि इससे उसके हित को क्षति पहुंचती है।

धारा 100 का संशोधन

58. मूल अधिनियम की धारा 100 में "भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1865" शब्दों के स्थान पर "भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 शब्द और संख्याएं प्रतिस्थापित की जाएंगी।

धारा 103 का संशोधन

59. मूल अधिनियम की धारा 103 में, दृष्टांत (क) में, कोष्ठकों और अक्षर "(क[1])" का लोप किया जाएगा।

धारा 107 का संशोधन

60. मूल अधिनियम की धारा 107 के अन्त में निम्नलिखित परन्तुक अन्तःस्थापित किया जाएगा, अर्थात् —

"परन्तु यह कि जहां न्यायालय को साक्ष्य से यह प्रतीत होता हो कि संबंधित व्यक्ति उन परिस्थितियों में दुर्घटना या आपदा में अन्तर्ग्रस्त था, जो दुर्घटना या आपदा में उस व्यक्ति की मृत्यु को अत्यंत अधिसंभाव्य बनाती हों, न्यायालय, कारण अभिलिखित करके, यह निदेश दे सकेगा कि इस धारा के उपबंध लागू नहीं होंगे।"

धारा 108 का प्रतिस्थापन

61. मूल अधिनियम की धारा 108 में निम्नलिखित धाराएं प्रतिस्थापित की जाएंगी, अर्थात् —

यह साबित करने का भार कि वह व्यक्ति, जिसके बारे में सात वर्ष से कुछ सुना नहीं गया है, जीवित है

"108. धारा 107 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, जहां प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति जीवित है या मर गया है या किसी विशिष्ट समय जीवित था या मर गया था, और यह साबित कर दिया जाता है कि सात

वर्ष या अधिक समय से उसके बारे में उन्होंने कुछ नहीं सुना है, जिन्होंने उसके बारे में यदि वह जीवित होता तो स्वाभाविकतया सुना होता, तब यह साबित करने का भार कि सात वर्ष की अवधि समाप्त होने के पश्चात् किसी समय वह जीवित था उस व्यक्ति पर होगा जो उसे प्रतिज्ञात करता है और यदि भार से अवमुक्ति नहीं होती है, तो न्यायालय, ऐसी अवधि के बारे में सात वर्ष की अवधि समाप्त होने के समय से आरम्भ करते हुए, उपधारणा करेगा कि व्यक्ति मर गया था।

स्पष्टीकरण —यदि ऐसा कोई प्रश्न उठता है कि व्यक्ति की मृत्यु उपर्युक्त सात वर्ष की अवधि के दौरान किसी विशिष्ट तारीख को हुई तब यह साबित करने का भार कि उसकी मृत्यु उस अवधि के दौरान ऐसी तारीख को हुई उस व्यक्ति पर होगा जो उसे प्रतिज्ञात करता है और इस धारा में निर्देशित की गई उपधारणा लागू नहीं होगी।"

साथ-साथ होने वाली मृत्यु के बारे में उपधारणा

"108क. : (1) उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, जहां दो या अधिक व्यक्तियों की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में हुई है जिसमें यह अनिश्चित है कि कौन किसका उत्तरजीवी है, ऐसी मृत्यु, सभी प्रयोजनों से, आयु की वरिष्ठता के क्रम में हुई समझी जाएगी और जब तक कि विपरीत प्रमाणित न किया जाए, छोटे को बड़े का उत्तरजीवी समझा जाएगा।

(2) ऐसे मामले में जहां पति और पत्नी की मृत्यु ऐसी परिस्थितियों में हुई हों जिसमें यह अनिश्चित हो कि उनमें से कौन उत्तरजीवी है और

(क) जहां मृतक पति/पत्नी की संपत्ति के निर्वसीयती या वसीयती उत्तराधिकार के हक का प्रश्न उठता हो; और

(ख) पति/पत्नी को, उपधारा (1) में उबंधित के अनुसार दोनों में से आयु में छोटा होने के नाते, निर्वसीयती या वसीयती उत्तरजीवी उपधारित किया जाता हो,

वहां उत्तराधिकार चाहे निर्वसीयती हो या वसीयत के अधीन निर्वसीयती या वसीयत के बारे में इस प्रकार से प्रभावी होगा कि अल्पायु वाले पति/पत्नी की निर्वसीयती या वसीयती से पहले मृत्यु हुई है।

परन्तु यह कि जहां छोटी आयु वाला पति/पत्नी, जिसे इस प्रकार निर्वसीयती या वसीयती से पहले मृतक समझा जाता है, विधि के अनुसार, निर्वसीयती या वसीयती की संपत्ति का, एकमात्र उत्तराधिकारी है या अन्यों के साथ उत्तराधिकारी है, तब अल्पायु वाले पति/पत्नी को इस धारा के अधीन निर्वसीयती या वसीयती से पहले मृतक नहीं समझा जाएगा और निर्वसीयती या वसीयती की संपत्ति अल्पायु वाले पति/पत्नी के लिए विधि के अनुसार भागतः होगी और उक्त पति/पत्नी के उत्तराधिकारी उसकी सम्पदा का दावा कर सकेंगे।

दृष्टांत

(क) दो भाईयों 'क' और 'ख' की साथ-साथ मृत्यु होती है और स्थिति में छोटा भाई 'ख' को 'क' का उत्तरजीवी समझा जाएगा।

(ख) पति 'क' और पत्नी 'ख' की किसी दुर्घटना में साथ-साथ मृत्यु हो जाती है। पति 'क' के पास कृषि भूमि है और पत्नी के पास गृह संपत्ति। 'क' पति की सम्पदा के उत्तराधिकार के मामले में, पति के उत्तराधिकारियों द्वारा यह उपधारित किया जाएगा कि 'ख' पत्नी की मृत्यु पहले हुई थी और इसलिए 'ख' के उत्तराधिकारी पति की सम्पदा का दावा करने के हकदार नहीं होंगे। 'ख' पत्नी की सम्पदा के उत्तराधिकार के बारे में पत्नी के उत्तराधिकारियों द्वारा यह उपधारित किया जाएगा कि 'क' पति की मृत्यु पहले हुई और 'क' के उत्तराधिकारी पत्नी की संपद का दावा करने के हकदार नहीं होंगे।

(ग) दृष्टांत (ख) के पहले भाग में यदि पत्नी 'ख' पति 'क' से आयु में कम है परन्तु उसे पति से पहले मृतक समझा जाता है, उपधारा (2) के कारण से, उसे इस प्रकार नहीं समझा जाएगा जहां, यदि वह पति 'क' की उत्तरजीवी होती तो वह एकमात्र उत्तराधिकारी हुई होती या अन्य के साथ-साथ उसके पति की एस्टेट में उसका अंश भी रहा होता, चाहे निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा होता या वसीयती द्वारा और उस स्थिति में, एक बार पति 'क' की सम्पत्ति पत्नी 'ख' के लिए न्यायगत हो जाती है तब उसके (पति के) उत्तराधिकारी भी उसका दावा करने के अधिकारी हो जाएंगे।

(घ) दृष्टांत (ख) के दूसरे भाग में, यदि पति 'क' पत्नी 'ख' से आयु में छोटा था परन्तु अपनी पत्नी से पहले मृतक समझा जाता, उपधारा (2) के कारण से उसे इस प्रकार नहीं समझा जाएगा जहां यदि पति 'ख' का उत्तरजीवी होता, तो वह निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा या वसीयती उत्तराधिकार द्वारा, एकमात्र उत्तराधिकारी होता या अन्य के साथ अपनी पत्नी की एस्टेट में अपने अंश का उत्तराधिकारी होता और उस स्थिति में, एक बार पत्नी 'ख' की सम्पत्ति पति 'क' के लिए न्यागत हो जाती तो उसके उत्तराधिकारी भी उसका दावा करने के हकदार हुए होते।

धारा 112 का प्रतिस्थापन

62. मूल अधिनियम की धारा 112 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात् —

कतिपय मामलों के अलावा विवाह के दौरान जन्म की धर्मजता का निश्चयात्मक सबूत

"112. यह तथ्य कि किस अपत्य का जन्म उसकी माता और किसी पुरुष के बीच विधिमान्य विवाह के कायम रहते हुए या दो सौ अस्सी दिन के भीतर—

(i) विवाह को अकृत घोषित किए जाने के उपरांत माता के विवाहित रहते हुए, या

(ii) विवाह का विघटन करके उसे शून्य बनाए जाने के उपरांत माता के अविवाहित रहते हुए, हुआ था इस बात का निश्चायक सबूत होगा कि वह उस पुरुष का धर्मज अपत्य है जब तक कि—

(क) यह दर्शित न किया जाए कि विवाह के पक्षकारों की परस्पर पहुंच ऐसे किसी समय नहीं थी जब उसका अपत्य का गर्भाधान किया जा सकता था; या

(ख) उस व्यक्ति के खर्चे पर किए गए परीक्षणों द्वारा यह निश्चायक रूप से स्थापित नहीं हो जाता, अर्थात्

(i) चिकित्सीय परीक्षण द्वारा कि, उस सुसंगत समय पर, वह व्यक्ति नपुंसक या पौरुषविहीन था और अपत्य का पिता नहीं है, या

(ii) उस व्यक्ति तथा उसकी पत्नी की सहमति से किए गए रक्त परीक्षण और अपत्य के मामले में, न्यायालय की अनुज्ञा से, कि वह व्यक्ति अपत्य का पिता नहीं है, या

(iii) व्यक्ति की सहमति से किए गए और अपत्य के मामले में, न्यायालय की अनुज्ञा से, किया गया डी. एन. ए. जैनेटिक प्रिन्टिंग परीक्षण, कि वह व्यक्ति पिता नहीं है, और

परंतु यह कि न्यायालय इस बात से संतुष्ट है कि उपखंड (i) या उपखंड (ii) या उपखंड (iii) के अधीन परीक्षण स्वीकृत प्रक्रिया के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति से किए गए हैं और प्रत्येक उपखंड (i) या (ii) या (iii) के मामले में कम से कम दो परीक्षण किए गए हैं और दोनों के एक समान परिणाम प्राप्त हुए हैं कि व्यक्ति अपत्य का पिता नहीं है।

परंतु यह और कि जहां कोई व्यक्ति उपखंड (i) या (ii) या (iii) के अधीन परीक्षण से इंकार करता है वहां उस व्यक्ति से, खंड (क) के उपबंध को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किए बिना, यह समझा जाएगा कि उसने अपने पितृत्व के विरुद्ध किए गए किसी दावे के प्रति अपनी प्रतिरक्षा छोड़ दी है।

स्पष्टीकरण—I : खड (ख) के उपखंड (iii) के प्रयोजनों के लिए डी. एन ए, जैनेटिक प्रिन्टिंग टैस्ट्स से पति और अपत्य के नमूनों द्वारा किए गए परीक्षण अभिप्रेत होगा और 'डी. एन. ए.' शब्द से डियोम्सीरिबो न्यूक्लियिक एसिड अभिप्रेत होगा।

स्पष्टीकरण —II : इस धारा के प्रयोजनों से 'विधिमान्य विवाह' शब्दों से शून्य विवाह अभिप्रेत होगा जब तक कि उसे अकृत या शून्यकरणीय घोषित नहीं किया जाता, जब तक कि यह विघटन द्वारा शून्य नहीं हो जाता, जहां, तत्समय प्रवृत किसी अधिनियमिति द्वारा, यह उपबंधित किया गया हो कि ऐसे विवाहों के अपत्य, जो विघटन द्वारा अकृत और शून्य घोषित कर दिए जाते हैं, भी धर्मज होंगे।

धारा 113 का विलोपन

63. मूल अधिनियम की धारा 113 का विलोप किया जाएगा।

धारा 114 का संशोधन

64. मूल अधिनियम की धारा 114 में,

(i) दृष्टांत (ख) और (ग) का लोप किया जाए;

(ii) दृष्टांत (घ) के पश्चात निम्नलिखित दृष्टांत जोड़ा जाएगा, अर्थात्

''(घक) कि कोई चीज या चीजों की दशा का किसी समय अस्तित्व में होना दर्शित किया गया है, वे पूर्व में ऐसी लंधुता कालावधि में अस्तित्व में थीं जितनी में ऐसी ऐसी चीजे या चीजों की दशाएं शून्य हो जाती हैं''

(iii) पैराग्राफ ''किन्तु न्यायालय यह विचार करने में ऐसे सूत्र उसके समक्ष के विशिष्ट मामले को लागू होते हैं या नहीं, निम्नलिखित तथ्यों का भी ध्यान रखेगा'' के पश्चात निम्नलिखित संशोधन किया जाएगा अर्थात्:—

(क) ''दृष्टांत (ख) के बारे में'' शब्दों से शुरू होने वाले दोनों पैराग्राफ का लोप किया जाएगा;

(ख) ''दृष्टांत (ग) के बारे में'' शब्दों से शुरू होने वाले पैराग्राफ का लोप किया जाएगा;

(ग) ''दृष्टांत (घ) के बारे में'' शब्दों से शुरू होने वाले पैराग्राफ के पश्चात निम्नलिखित अन्त:स्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

''दृष्टांत (घक) के बारे में'' यह साबित किया जाता है कि कोई नहीं अमुक मार्ग में आज बह रही है, किन्तु यह ज्ञात है कि पिछले कई वर्षों से ऐसी बाढ़ आ रही है जो उसके मार्ग को परिवर्तित कर सकती थी।

(घ) ''दृष्टांत (ड़) के बारे में'' शब्दों से शुरू होने वाले दोनों पैराग्राफों में ''कोई न्यायिक कार्य, जिसकी नियमितता प्रश्नकाल है'' शब्दों के स्थान पर ''कोई न्यायिक या सरकारी कार्य, जिसकी नियमितता प्रश्नगत है'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

नई धारा 114 का अन्त:स्थापन :

65. मूल अधिनियम की धारा 114क के पश्चात् निम्नलिखित धारा अन्त:स्थापित की जाएगी, अर्थात्—

पुलिस अभिरक्षा में शारीरिक क्षति के बारे में उपधारणा

114-ख. (1) किसी व्यक्ति को शारीरिक क्षति कारित करने के कथित कृत्य द्वारा किए गए अपराध के लिए किसी पुलिस अधिकारी के अभियोजन में, यदि ऐसा साक्ष्य है कि क्षति उस व्यक्ति के पुलिस अभिरक्षा में रहने की अवधि में कारित की गई थी तो, न्यायालय यह उपधारित करेगा कि क्षति उस पुलिस अधिकारी द्वारा कारित की गई थी जिसकी अभिरक्षा में वह व्यक्ति उस अवधि में था।

(2) न्यायालय, यह निर्णय करने में कि उसे उपधारा (1) के अधीन उपधारणा करनी चाहिए अथवा नहीं, सभी परिस्थितियों को, विशेषकर,

(क) अभिरक्षा की अवधि,

(ख) पीड़ित व्यक्ति द्वारा किया गया इस आशय का कोई कथन, जो साक्ष्य में ग्राह्य कथन होगा कि क्षति किस प्रकार पहुंचाई गई थी,

(ग) किसी चिकित्सक का साक्ष्य जिसने पीड़ित की जांच की हो, और

(घ) किसी मजिस्ट्रेट का साक्ष्य, जिसने पीड़ित व्यक्ति का कथन अभिलिखित किया हो या अभिलिखित करने का प्रयास किया हो।

(3) इस धारा के प्रयोजनों में लिए 'पुलिस अधिकारी' नामक अभिव्यक्ति में अर्धसैनिक बलों के अधिकारी तथा राजस्व विभाग के अन्य अधिकारी, जो आर्थिक अपराधों के बारे में अन्वेषण करते हैं, सम्मिलित होंगे।"

धारा 115 का संशोधन

66. मूल अधिनियम की धारा 115 के अन्त में निम्नलिखित परन्तुक अन्तःस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

परन्तु यह कि इस धारा में अन्तर्विष्ट कोई भी बात ऐसे व्यक्तियों द्वारा किए गए अभ्यावेदन से व्युत्पन्न किसी देयता को लागू करने के प्रयोजन के लिए, जहां ऐसे व्यक्तियों द्वारा की गई संविदा से व्युत्पन्न ऐसी कोई देयता अकृत और शून्य हो गई हो, अवयस्क या किसी अन्य व्यक्ति के लिए लागू नहीं होगी।

धारा 116 का प्रतिस्थापन

67. मूल अधिनियम की धारा 116 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

अभिधारी का और कब्जाधारी व्यक्ति के अनुज्ञप्तिधारी का विबंध

"116. (1) स्थावर सम्पत्ति के किसी भी अभिधारी को या ऐसे अभिधारी से व्युत्पन्न अधिकार से दावा करने वाले व्यक्ति को, ऐसी अभिधृति के चालू रहते हुए या उसके पश्चात् किसी समय, यदि अभिधारी या ऐसे अभिधारी के माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति, अभिधृति की समाप्ति के पश्चात् उस सम्पत्ति पर निरन्तर कब्जा रखता है तो, उसे इसका प्रात्याख्यान करने दिया जाएगा कि ऐसे अभिधारी के भू-स्वामी का ऐसी स्थावर सम्पत्ति पर उस अभिधृत्ति के आरम्भ पर हक था तथा किसी भी व्यक्ति को, जो किसी स्थावर सम्पत्ति पर कब्जाधारी व्यक्ति की अनुज्ञप्ति द्वारा आया है, इसका प्रात्याख्यान न करने दिया जाएगा कि किसी ऐसे व्यक्ति को उस समय, जब ऐसी अनुज्ञप्ति दी गई थी, ऐसे कब्जे का हक था।

(2) जहां किसी स्थावर सम्पत्ति के कब्जाधारी अभिधारी को किसी अन्य भू-स्वामी का अभिधारी बना दिया जाता है तब, अभिधारी को या उसके माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति को, अभिधृति के चालू रहते, या उसके पश्चात किसी समय यदि अभिधारी या उसके माध्यम से दावा करने वाला व्यक्ति अपना कब्जा जारी रखते हैं तब उन्हें इसका प्रात्याख्यान नहीं करने दिया जाएगा कि उस व्यक्ति का, जिसने अभिधारी को नया स्वामी बनाया गया है, उस तारीख को, जिसको उसे स्वामित्व अधिकार दिया गया था, स्थावर सम्पत्ति पर कोई हक था, परन्तु इस उपधारा में कोई भी बात अभिधारी को या उसके माध्यम से दावा

करने वाले व्यक्ति को इस आशय का साक्ष्य प्रस्तुत करने से नहीं रोक पाएगी कि स्वामित्व हस्तांतरण त्रुटि से या धोखाधड़ी से अर्जित किया गया था।"

धारा 119 का संशोधन

68. मूल अधिनियम की धारा 119 के अन्त में निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्त:स्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"स्पष्टीकरण : बोल पाने में असमर्थ किसी व्यक्ति के संकेतों का भाषान्तर, संकेत करने वाले व्यक्ति का मौखिक साक्ष्य समझा जाएगा"।

धारा 120 का संशोधन

69. मूल अधिनियम की धारा 120 के अन्त में निम्नलिखित परन्तुक अन्त:स्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"परन्तु यह कि किसी दांडिक अभियोजन में अभियुक्त की पत्नी या पति को, विवाह के तथ्य को साबित करने के सिवाय, ऐसे अभियोजन में साक्ष्य देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जब तक कि—

(क) ऐसे पति या पत्नी तथा अभियुक्त दोनों की सम्मति न हो; या

(ख) ऐसा पति/पत्नी परिवादी या ऐसा व्यक्ति न हो जिसके कहने पर अपराध की प्रथम सूचना अभिकथित की गई थी; या

(ग) अभियुक्त ऐसे पति/पत्नी या अभियुक्त के बच्चे या पति/पत्नी के बच्चे, या ऐसे बच्चे, जिसके प्रति अभियुक्त या ऐसे पति/पत्नी माता-पिता की हैसियत रखते हों, के विरुद्ध किसी अपराध का आरोपी न हो।"

धारा 122 से 124 का प्रतिस्थापन

70. मूल अधिनियम की धारा 122 से 124 के स्थान पर निम्नलिखित धाराएं प्रतिस्थापित की जाएंगी, अर्थात्—

विवाहित स्थिति के दौरान में की गई संसूचनाएं :

"122. (1)कोई भी व्यक्ति, जो विवाहित है या विवाहित रह चुका है, विवाहित स्थिति के दौरान दी गई किसी संसूचना को, जो किसी व्यक्ति के तथा ऐसे व्यक्ति के बीच की गई, जिसके साथ वह विवाहित है या रह चुका है, प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा और न वह किसी ऐसी संसूचना को प्रकट करने के लिए अनुज्ञात किया जाएगा, जब तक कि वह व्यक्ति, जिसके साथ वह विवाहित है या रह चुका है या उस व्यक्ति का हित प्रतिनिधि सहमत न हो और जब तक कि कार्यवाहियां उप-धारा (3) में विनिर्दिष्ट स्वरूप की न हों।

(2) कोई व्यक्ति, उप-धारा (1) में निर्देशित व्यक्ति से भिन्न, जिसने, उप-धारा (1) में निर्देशित किसी संसूचना को, विधि के अनुसार छुपके से सुन लिया हो, या उसे कब्जे में ले लिया हो, या अन्तर्रुद्ध कर लिया हो, उसे पति या पत्नी की या उसके हित प्रतिनिधि की सम्मति के बिना ही, ऐसी किसी संसूचना को प्रकट करने के लिए अनुज्ञात किया जा सकेगा।

(3) उपधारा (1) में निर्देशित कार्यवाहियां हैं—

(क) विवाहित व्यक्तियों के बीच कार्यवाहियों;

(ख) कार्यवाहियां, जिनमें एक विवाहित व्यक्ति दूसरे के विरुद्ध अपराध करने के लिए अभियोजित किया गया है;

(ग) कार्यवाहियां जिनमें एक विवाहित व्यक्ति परिवादी है या ऐसा व्यक्ति है जिसके कहने पर अपराध की प्रथम सूचना अभिलिखित की गई थी, और दूसरा विवाहित व्यक्ति अभियुक्त है;

(घ) कार्यवाहियां जिनमें किसी विवाहित व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति के बच्चे के विरुद्ध या पहले उल्लिखित किए गए व्यक्ति के बच्चे के विरुद्ध या किसी ऐसे बच्चे के विरुद्ध जिसे पति या पत्नी किसी ने भी माता-पिता की स्थिति प्रदान की है, अपराध के लिए अभियोजित किया गया है।"

राज्य के कार्यकलापों के बारे में साक्ष्य

"123. (1) इस धारा में जैसा अन्यथा उपबंधित है, के सिवाय—

(क) कोई भी व्यक्ति राज्य के किसी कार्यकलाप से संबंधित अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों से व्युत्पन्न साक्ष्य नहीं देगा; या

(ख) किसी भी लोक ऑफिसर को ऐसे शासकीय विश्वास में दी हुई राज्य के कार्यकलापों से संबंधित किसी मौखिक, लिखित या इलैक्ट्रानिक संसूचना को प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा।

जब तक कि सम्यक्त विभाग के प्रमुख ऑफिसर ने ऐसा साक्ष्य देने के लिए अनुज्ञा न दे दी हो।

स्पष्टीकरण : खंड (क) के प्रयोजनों के लिए 'अप्रकाशित शासकीय अभिलेखों से व्युत्पन्न साक्ष्य' में अभिलिखों से व्युत्पन्न मौखिक साक्ष्य तथा स्वयं ऐसे अभिलेख सम्मिलित हैं।

(2) उपधारा (1) में उल्लिखित सम्यक्त विभाग का प्रमुख ऑफिसर ऐसी अनुज्ञा तब तक विधारित नहीं करेगा जब तक कि उसका यह समाधान नहीं हो जाता कि ऐसा साक्ष्य देना लोक हित के लिए हानिकर होगा; और जहां वह ऐसी अनुज्ञा विधारित करेगा, वहां वह न्यायालय में आपत्ति करते हुए एक शपथ-पत्र दाखिल करेगा और ऐसी आपत्ति में इस आशय का एक कथन और उसके लिए अपने कारण बताएगा।

(3) जहां उपधारा (2) में निर्दिष्ट आपत्ति उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय में, चाहे वह सिविल न्यायालय हो या दांडिक न्यायालय, उठायी जाएंगी वहां उक्त न्यायालय को तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, ऐसी आपत्ति की विधिमान्यता के प्रश्न को निर्णय के लिए उच्च न्यायालय को निर्दिष्ट करने की शक्ति होगी तथा निर्दिष्ट करेगा।

(4) उपधारा (3) के अन्तर्गत निर्दिष्ट किए जाने पर उच्च न्यायालय ऐसी आपत्ति की विधिमान्यता का विनिश्चय उपधारा (5) से (7) तक के उपबंधों के अनुसार करेगा तथा अपने निर्णय की एक प्रति उस न्यायालय को सम्प्रेषित करेगा जिसने मामला निर्दिष्ट किया था ताकि उक्त न्यायालय निर्णय के अनुसार आगे कार्यवाही कर सके।

(5) जहां उपधारा (3) के अन्तर्गत मामला निर्दिष्ट किए जाने पर उच्च न्यायालय की राय है कि उपधारा (2) के अन्तर्गत दायर किए गए शपथ-पत्र में तथ्य या कारण पूरी तरह से नहीं बताए गए हैं, वहां उच्च न्यायालय ऐसे अधिकारियों से या समुचित मामलों में विषय से संबंधित मंत्री से यह अपेक्षा कर सकेगा कि वह उस विषय में एक और शपथ-पत्र दाखिल करे।

(6) उच्च न्यायालय, यथास्थिति, शपथ-पत्र या अन्य शपथ-पत्र पर विचार करने के पश्चात् और यदि वह उचित समझे तो, ऐसे अधिकारी या समुचित मामलों में मंत्री की मौखिक जांच करने के पश्चात् —

(क) अप्रकाशित अभिलेखों को चैम्बरों में प्रस्तुत करने के लिए सम्मन जारी करेगा; और

(ख) चैम्बरों में अभिलेखों का निरीक्षण करेगा; और

(ग) इस प्रश्न का अवधारण करेगा कि क्या ऐसा साक्ष्य देना लोकहित के लिए हानिकर होगा या नहीं और उसके लिए कारणों को अभिलिखित करेगा।

(7) जहां उच्च न्यायालय ने उपधारा (6) के खंड (ग) के अन्तर्गत यह अवधारण किया है कि ऐसा साक्ष्य देना लोकहित के लिए हानिकर नहीं होगा और उपधारा (2) के अन्तर्गत की गई आपत्ति को अस्वीकृत कर दिया हो, वहां ऐसे साक्ष्य पर उपधारा (1) के उपबंध लागू नहीं होंगे और इस प्रकार का साक्ष्य लिया जाएगा।

(8) जहां उपधारा (2) में निर्दिष्ट आपत्ति उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय में की गई हो, चाहे वह सिविल कार्यवाही या दांडिक कार्यवाही में की गई हो, उक्त न्यायालय ऐसी आपत्ति की विधिमान्यता का विनिश्चय उपधारा (5) से (7) में दी गई प्रक्रिया के अनुसार इस प्रकार करेगा जैसेकि उक्त आपत्ति की विधिमान्यता का प्रश्न उसे ही विनिर्दिष्ट किया गया था।"

शासकीय संसूचनाएं

"124. (1) धारा 123 के उपबंधों के अध्यधीन कोई भी लोक ऑफिसर उसे शासकीय विश्वास में दी हुई किसी मौखिक, लिखित या इलैक्ट्रानिक संसूचना को प्रकट करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा जबकि न्यायालय यह समझता है कि ऐसे प्रकटन से लोकहित की हानि होगी।

(2) जब किसी लोक ऑफिसर से, जो कि साक्षी है, ऐसा प्रश्न पूछा जाता है जिसके लिए ऐसी किसी संसूचना के प्रकटन की आवश्यकता पड़ती है और वह ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के बारे में इस आधार पर आक्षेप करता है कि उसके प्रकटन से लोकहित को हानि होगी तो, न्यायालय उसके आक्षेप को अस्वीकृत करने से पूर्व अपने चैम्बर में उससे उसके आक्षेप के स्वरूप और उसके कारणों का पता लगायेगा।"

धारा 125 का संशोधन

71. मूल अधिनियम की धारा 125 के अन्त में निम्नलिखित अपवाद अन्तःस्थापित किया जाएगा, अर्थात् —

"अपवाद : इस धारा की कोई भी बात लागू नहीं होगी जहां न्यायालय को यह प्रतीत हो कि सूचना देना ऐसा विवादस्पद तथ्य है जिस पर किसी पक्षकार की दायिता निर्भर करती है या वह अन्यथा महत्वपूर्ण तथ्य है तथा न्यायालय, कारणों को अभिलिखित करके तथा न्याय के हित में, मजिस्ट्रेट, पुलिस ऑफिसर या राजस्व अधिकारी को ऐसी सूचना के प्रकटन का निर्देश देता है।"

धारा 126 का प्रतिस्थापन

72. मूल अधिनियम की धारा 126 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात् --

वृत्तिक संसूचनाएं

"126. कोई भी विधि व्यवसायी, अपने कक्षीकार की अभिव्यक्त सम्मति के सिवाय ऐसी किसी संसूचना को प्रकट करने के लिए, जो उसके वृत्तिक नियोजन के अनुक्रम में या के प्रयोजनार्थ, उसके कक्षीकार द्वारा या उसकी ओर से उसे दी गई हो या किसी दस्तावेज की जिससे वह अपने वृत्तिक नियोजन के अनुक्रम या प्रयोजनार्थ परिचित हो गया है, अन्तर्वस्तु या दशा कथित करने को अथवा किसी सलाह को जो उसने ऐसे नियोजन के अनुक्रम में और के प्रयोजनार्थ अपने कक्षीकार को दी है, प्रकट करने के लिए किसी भी समय अनुज्ञात नहीं किया जाएगा :

परन्तु इस धारा की कोई भी बात निम्नलिखित बात को प्रकटीकरण से संरक्षण न देगी —

(क) किसी भी अवैध प्रयोजन को अग्रसर करने में दी गई कोई भी ऐसी संसूचना ;

(ख) ऐसा कोई भी तथ्य, जो विधि व्यवसायी ने अपनी ऐसी हैसियत में नियोजन के अनुक्रम में संप्रेक्षित किया हो, और जिससे यह दर्शित हो कि उसके नियोजन के प्रारम्भ के पश्चात् कोई अपराध या कपट किया गया है।

(ग) ऐसी कोई भी संसूचना जब विधि व्यवसायी और कक्षीकार के बीच वृत्तिक नियोजन के कारण उत्पन्न किसी वाद में या ऐसी किसी कार्यवाही में जिसमें कक्षीकार को विधि व्यवसायी के विरूद्ध अपराध के लिए अभियोजित किया गया है या विधि व्यवसायी को, अपने कक्षीकार के विरूद्ध, वृत्तिक नियोजन से उत्पन्न किसी अपराध के लिए अभियोजित किया गया है, प्रकट की जानी अपेक्षित हो।

स्पष्टीकरण 1 : इस धारा में कथित बाध्यता नियोजन के अवसित हो जाने के उपरान्त भी बनी रहती है।

स्पष्टीकरण 2 : इस धारा में तथा धारा 127 से 129 में 'विधि व्यवसायी' अथवा 'विधि वृत्तिक सलाहकार' अभिव्यक्ति में ऐसा कोई भी व्यक्ति शामिल है जो, विधि द्वारा, किसी व्यक्ति की ओर से किसी न्यायिक अथवा प्रशासनिक अधिकरण के समक्ष उपस्थित होने के लिए सशक्त है; और कक्षीकार अभिव्यक्ति का भी तदनुसार अर्थ लगाया जाएगा।

स्पष्टीकरण 3 : इस धारा के परन्तुक के खंड (ख) के प्रयोजन के लिए, यह तत्वहीन है कि ऐसे विधि व्यवसायी का ध्यान ऐसे तथ्य के प्रति उसके कक्षीकार द्वारा या की ओर से आकर्षित किया गया था या नहीं।

दृष्टांत :

(क) कक्षीकार 'क' विधि व्यवसायी से कहता है— मैंने कूट रचना की है और मैं चाहता हूं कि आप मेरी प्रतिरक्षा के लिए वृत्तिक सहायता करें;

यह संसूचना प्रकटन से संरक्षित है क्योंकि ऐसे व्यक्ति की प्रतिरक्षा अपराधिक प्रयोजन नहीं है जिसका दोषी होना ज्ञात हो।

(ख) कक्षीकार 'क' विधि व्यवसायी से कहता है : ''मैं सम्पत्ति पर कब्जा कूट विरचित विलेख के उपयोग द्वारा अभिप्राप्त करना चाहता हूं और उसके आधार पर वाद लाने की आपसे प्रार्थना करता हूँ।

यह संसूचना आपराधिक प्रयोजन के अग्रसर करने में की गई होने से प्रकटन से संरक्षित नहीं है।

(ग) 'क' पर गबन का आरोप लगाये जाने पर वह अपनी प्रतिरक्षा करने के लिए विधि व्यवसायी 'ख' को प्रतिधारित करता है। कार्यवाही के अनुक्रम में 'ख' देखता है कि 'क' की लेखा वही में यह प्रविष्टि की गई है कि 'क' द्वारा उतनी रकम दी जानी है जितनी कि बैग में अभिकथित है कि उसका गबन किया गया है जो प्रविष्टि उसके वृत्तिक नियोजन के आरम्भ के समय उस बही में नहीं थी।

यह 'ख' द्वारा अपने नियोजन के अनुक्रम में सम्प्रेक्षित ऐसा तथ्य होने से, जिससे दर्शित होता है कि कपट उस कार्यवाही के प्रारम्भ होने के पश्चात् किया गया है, प्रकटन से संरक्षित नहीं है।''

धारा 127 का संशोधन

73. मूल अधिनियम की धारा 127 में, ''बैरिस्टरों, प्लीडरों, अटर्नियों, तथा वकीलों'' शब्दों के स्थान पर ''विधि व्यवसायी'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 128 का संशोधन

74. मूल अधिनियम के धारा 128 में, ''बैरिस्टर, प्लीडर, अटर्नी, तथा वकील'' शब्द, दोनों स्थानों पर जहां भी ये आये हैं, के स्थान पर ''विधि व्यवसायी'' शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 130 का संशोधन

75. मूल अधिनियम की धारा 130 में, ''जब तक कि उसने ऐसे विलेखों के पेश करने की ईप्सा रखने वाले व्यक्ति के साथ, या किसी ऐसे व्यक्ति के साथ जिससे व्युत्पन्न अधिकार से वह व्यक्ति दावा करता है, उन्हें पेश करने का लिखित करार न कर लिया हो'' शब्दों के स्थान पर निम्नलिखित शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे, अर्थात्—

''जब तक कि ऐसे साक्षी ने उससे ऐसी अपेक्षा करने वाले पक्षकार या ऐसे पक्षकार के माध्यम से दावा करने वाले व्यक्ति के साथ लिखित करार न कर लिया हो।''

धारा 131 से 133 का प्रतिस्थापन

76. मूल अधिनियम की धारा 131 से 133 के स्थान पर निम्नलिखित धाराएं प्रतिस्थापित की जाएंगी, अर्थात्—

उन दस्तावेजों या इलैक्ट्रानिक रिकार्डों का पेश किया जाना जिन्हें कोई व्यक्ति, जिसका उन पर कब्जा है, पेश करने से इंकार कर सकता था।

131. कोई भी व्यक्ति, जिसके कब्जे या नियंत्रण में दूसरे व्यक्ति के दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड हैं, वह व्यक्ति, जिसके वे दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड हैं, यदि वे उस व्यक्ति के कब्जे या नियंत्रण में होते तो वह उन्हें पेश करने से इंकार करने का हकदार होता, उक्त दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड पेश करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा :

परन्तु उस व्यक्ति को, जिसके कब्जे या नियंत्रण में दूसरे व्यक्ति के दस्तावेज या इलैक्ट्रानिक रिकार्ड है, उन्हें पेश करने के लिए विवश किया जा सकेगा यदि वह व्यक्ति जिसके वे हैं, उन्हें पेश किये जाने की सम्मति देता है।

इस आधार पर कि उत्तर उसे अपराध में फंसाएगा, साक्षी या अभियुक्त उत्तर देने से क्षम्य नहीं होगा—

"132. (1) कोई साक्षी किसी वाद या किसी सिविल या दांडिक कार्यवाही में विवाद्यक विषय से सुसंगत किसी विषय के बारे में किए गए किसी प्रश्न का उत्तर देने से इस आधार पर क्षम्य नहीं होगा कि ऐसा उत्तर ऐसे साक्षी को या साक्षी की पत्नी या पति को अपराध में फंसाएगा अथवा उसकी प्रवृति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अपराध में फंसाने की होगी अथवा वह ऐसे साक्षी को या उसकी पत्नी/पति को किसी किस्म की शास्ति या समपहरण के लिए उच्छन्न करेगा या उसकी प्रवृति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उच्छन्न करने की होगी।

(2) कोई अभियुक्त व्यक्ति, जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 315 के अधीन अपने को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करता है, अभियोजन में विवाद्यक विषय से सुसंगत किसी विषय के बारे में किए गए किसी प्रश्न का उत्तर देने से इस आधार पर क्षम्य नहीं होगा कि ऐसे प्रश्न का उत्तर अभियुक्त व्यक्ति को या उसकी पत्नी या पति को अपराध में फंसाएगा अथवा उसकी प्रवृति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अपराध में फंसाने की होगी अथवा वह अभियुक्त को या उसकी पत्नी या पति को किसी किस्म की शास्ति या समपहरण के लिए उच्छन्न करेगा या उसकी प्रवृति प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उच्छन्न करने की होगी।

(3) जहां कोई साक्षी या अभियुक्त, इस धारा के उपबंधों के अधीन किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए आबद्ध है या आबद्ध समझता है, चाहे उस पर उसने आपत्ति की हो अथवा नहीं, ऐसा कोई उत्तर—

(क) जो ऐसे प्रश्न के लिए साक्षी देता है, उसे या उसकी पत्नी या पति को, यथास्थिति, गिरफ्तारी या अभियोजन के अध्यधीन नहीं करेगा और न उसके विरुद्ध साबित किया जाएगा।

(ख) जो ऐसे प्रश्न के लिए साक्ष्य देता है, उपधारा (2) में उपबंधित अन्यथा के सिवाय, अभियुक्त को या उसकी पत्नी या पति को, यथास्थिति, गिरफ्तारी या अभियोजन के अध्यधीन नहीं करेगा और न ही किसी दांडिक कार्यवाही में उनके विरुद्ध साबित किया जा सकेगा।

परन्तु यह कि इस उपधारा में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, यह किसी ऐसे उत्तर के लिए, जो मिथ्या साक्ष्य समझा जाएगा, लागू नहीं होगी।

प्रकाशन में अन्तर्विष्ट सूचना के स्रोत का प्रकट किया जाना

132क. (1) कोई भी न्यायालय किसी प्रकाशन में अन्तर्विष्ट किसी सूचना के स्त्रोत को, किसी व्यक्ति से प्रकट करने की अपेक्षा नहीं करेगा, जिसके लिए वह उत्तरदायी है, जब तक कि न्यायालय के समाधान के लिए यह स्थापित नहीं हो जाता कि ऐसा प्रकटन भारत की सार्वभौमिकता तथा अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशों से मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या नैतिकता के हितों में या न्यायालय की अवमानना या किसी अपराध के उद्दीपन के संबंध में ऐसा प्रकटन आवश्यक है।

स्पष्टीकरण : इस धारा के प्रयोजनों के लिए,

(क) प्रकाशन से अभिप्रेत है, कोई भाषण, लेख, किसी भी रूप में इलैक्ट्रानिक मीडिया के माध्यम सहित संसूचना के किसी भी माध्यम से अभिव्यक्त प्रतीक या अभ्यावेदन, जो जनता को या जनता के किसी वर्ग को संबोधित किए गए हों।

(ख) स्त्रोत से अभिप्रेत है, वह व्यक्ति, जिससे, या माध्यम जिसके द्वारा, संसूचना प्राप्त की गई है।

(2) उपधारा (1) के अधीन किसी व्यक्ति से सूचना के स्त्रोत को प्रकट करने की अपेक्षा करते हुए, न्यायालय स्त्रोत को प्रकट न करने के पत्रकार को अधिकार के विरुद्ध स्त्रोत के ऐसे प्रकटन की आवश्यकता का निर्धारण करेगा।''

पेटेन्ट ऐजेन्टस् के साथ संसूचना :

''132ख.(1) किसी पेटेन्ट या उसे चला देने से संबंधित किसी मामले के संरक्षण से संबंधित किसी मामले में बारे में किसी संसूचना को—

(क) किसी पक्षकार या उसके पेटेन्ट ऐजेन्ट के बीच, या

(ख) प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए या सूचना के अनुरोध के उत्तर में जिसे कोई पक्षकार अपने पेटेन्ट ऐजेन्ट को बताने के लिए मांगता है,

विधिक कार्यवाहियों में प्रकटन से उसी प्रकार से विशेषाधिकार प्राप्त है जैसे कि किसी पक्षकार और उसके वकील के बीच किसी संसूचना को था, यथास्थिति, प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए किसी संसूचना को या सूचना के लिए अनुरोध के उत्तर में किसी संसूचना को, जो कोई पक्षकार अपने वकील को बताने के प्रयोजन से करता है।

(2) उपधारा (1) के प्रयोजनों के लिए—

(क) पेटेन्ट से अभिप्रेत है—

(i) पेटेन्ट अधिनियम, 1970 के उपबंधों के अनुसरण में रखे गए पेटेन्ट ऐजेन्टों के रजिस्टर में पेटेन्ट ऐजेन्ट के रूप में रजिस्ट्रीकृत कोई पेटेन्ट ऐजेन्ट; या

(ii) कोई भागीदारी जो पेटेन्ट ऐजेन्ट की फर्म कहलाने की हकदार है; या

(iii) कोई निकाय निगमित जो पेटेन्ट ऐजेन्ट कहलाने का हकदार है।

(ख) किसी अनुध्यात कार्यवाही से संबंधित पक्षकार से उस कार्यवाही का भावी पक्षकार अभिप्रेत है।

(ग) 'वकील' से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जैसाकि धारा 126 के स्पष्टीकरण 2 में परिभाषित किया गया है।''

ट्रेडमार्क ऐजेन्ट के साथ संसूचना

132ग. (1) किसी ट्रेडमार्क या उसे चला देने से संबंधित किसी मामले के संरक्षण से संबंधित किसी मामले के बारे में किसी संसूचना को

(क) किसी पक्षकार या उसके ट्रेडमार्क ऐजेन्ट के बीच; या

10 LTBCB/05-62

(ख) प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए या सूचना के अनुरोध के उत्तर में, जिसे कोई पक्षकार अपने पेटेन्ट ऐजेन्ट को बताने के लिए मांगता है,

विधिक कार्यवाहियों में प्रकटन से उसी प्रकार से विशेषाधिकार प्राप्त है जैसाकि किसी पक्षकार और उसके वकील के बीच किसी संसूचना को या, यथास्थिति, प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए किसी संसूचना को या सूचना के लिए अनुरोध, के उत्तर में किसी सूचना को, जो कोई पक्षकार अपने वकील के प्रयोजन से करता है।

(2) उपधारा (1) के लिए—

(क) ट्रेडमार्क ऐजेन्ट से अभिप्रेत है—

(i) व्यापार चिन्ह अधिनियम, 1999 की धारा 145 के अधीन परिभाषित ट्रेडमार्क ऐजेन्ट के उपबंधों के अनुसरण में रखे गए पेटेन्ट ऐजेन्टों के रजिस्टर में पेटेन्ट ऐजेन्ट के रूप में कोई पेटेन्ट ऐजेन्ट; या

(ii) कोई भागीदारी जो रजिस्ट्रीकृत ट्रेडमार्क ऐजेन्ट की फर्म कहलाने की हकदार है; या

(iii) कोई निकाय निगमित जो रजिस्ट्रीकृत ट्रेडमार्क ऐजेन्ट कहलाने का हकदार है।

(ख) किसी अनुध्यात कार्यवाही से संबंधित पक्षकार से उस कार्यवाही का भावी पक्षकार अभिप्रेत है।

(ग) 'वकील' से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जैसाकि धारा 126 के स्पष्टीकरण 2 में परिभाषित किया गया है।

सहअपराधी

"133. कोई सहअपराधी अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध सक्षम साक्षी होगा परन्तु उसका साक्ष्य अविश्वसनीय होगा जब तक कि तात्विक विशिष्टियों में उसकी सम्पुष्टि नहीं होती :

परन्तु यह कि जहां सहअपराधी ऐसा व्यक्ति है, न्यायालय की राय में, जिसका साक्ष्य अत्यन्त विश्वसनीय है और उसकी सम्पुष्टि की आवश्यकता नहीं है, कोई दोषसिद्धि केवल इसलिए अवैध नहीं है कि वह किसी सहअपराधी के असम्पुष्ट परिसाक्ष्य के आधार पर की गई है।"

दृष्टांत

(क) एक अत्यन्त उच्च शील का व्यक्ति 'क' किसी मशीनरी को ठीक-ठीक लगाने में किसी अपेक्षापूर्वक कार्य द्वारा किसी व्यक्ति की मृत्यु कारित करने के लिए विचारित है। वैसे ही अच्छे शील का व्यक्ति 'ख' जिसने मशीनरी लगाने के उस काम में भाग लिया था, ब्यौरेवार वर्णन करता है कि क्या-क्या किया गया था और 'क' की ओर स्वयं अपनी सामान्य असावधानी स्वीकृत और स्पष्ट करता है। न्यायालय को 'क' के उपेक्षापूर्वक कार्य के बारे में निर्णय करने में 'ख' के साक्ष्य को ध्यान में रखेगा।

(ख) कोई अपराध कई व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। अपराधियों में से तीन 'क', 'ख' और 'ग' घटनास्थल पर पकड़े जाते हैं और एक दूसरे से अलग रखे जाते हैं। अपराध का विवरण उनमें से हर एक ऐसा देता है जो 'घ' को आलिप्त करता है और ये विवरण एक दूसरे को किसी ऐसी रीति में सम्पुष्ट करते हैं जिससे उनमें यह अति अनधिसंभाव्य हो जाता है कि उन्होंने इसके पूर्व मिल कर कोई योजना बनाई थी। 'क', 'ख' और 'ग' दिए गए तथ्यों को विभिन्न विवरणों के अन्तर को न्यायालय द्वारा 'घ' की सहअपराधिता के बारे में निर्णय करने में ध्यान में रखना होगा।

धारा 137 का संशोधन

77. मूल अधिनियम की धारा 137 में, "**पुनःपरीक्षा** : किसी साक्षी की परीक्षा, उस पक्षकार द्वारा, जिसने उसे बुलाया था प्रतिपरीक्षा के पश्चात्, किया जाना पुनःपरीक्षा कहलाएगी।"

"**पुनःपरीक्षा** : किसी साक्षी की उस पक्षकार द्वारा, जिसने उसे बुलाया था, प्रतिपरीक्षा के पश्चात्, अतिरिक्त परीक्षा किया जाना पुनःपरीक्षा कहलाएगी।"

धारा 138 का प्रतिस्थापन

78. मूल अधिनियम की धारा 138 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात्—

परीक्षाओं का आदेश

"138. (1) किसी साक्षी की प्रथमतः मुख्य परीक्षा होगी, तत्पश्चात्, (यदि प्रतिपक्षी ऐसा चाहे तो) पुनःपरीक्षा होगी, तत्पश्चात् (यदि पक्षकार ऐसा चाहे) पुनः परीक्षा होगी,

(2) परीक्षा और प्रतिपरीक्षा को सुसंगत तथ्यों से संबंधित होना होगा, किन्तु प्रतिपरीक्षा का उन तथ्यों तक सीमित रहना आवश्यक नहीं है, जिनका साक्षी ने अपनी मुख्य परीक्षा में परिसाक्ष्य दिया है।

(3) <u>पुनःपरीक्षा की दिशा :</u> पुनःपरीक्षा उन बातों के स्पष्टीकरण के प्रति उद्दिष्ट होगी जो प्रतिपरीक्षा में निर्दिष्ट हुए हों, तथा यदि पुनःपरीक्षा में न्यायालय की अनुज्ञा से कोई नई बात प्रविष्ट की गई हो, तो प्रतिपक्षी उस बात के बारे में अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा कर सकेगा।

(4) <u>अतिरिक्त मुख्य परीक्षा</u> : न्यायालय, सभी मामलों में किसी साक्षी को या तो अतिरिक्त मुख्य परीक्षा के लिए या अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा के लिए, फिर से बुलाए जाने की अनुज्ञा दे सकेगा और न्यायालय यदि ऐसा करता है, तो पक्षकारों को, यथास्थिति, अतिरिक्त प्रतिपरीक्षा का या पुनःपरीक्षा का अधिकार होगा।"

धारा 144 का संशोधन

79. मूल अधिनियम की धारा 144 में

"(1) किसी साक्षी से, जबकि वह परीक्षाधीन है, यह पूछा जा सकेगा कि क्या कोई संविदा, अनुदान या सम्पत्ति का अन्य व्ययन, जिसके बारे में वह साक्ष्य दे रहा है, किसी दस्तावेज में अन्तर्विष्ट नहीं था और यदि वह कहता है कि वह था तो, प्रतिपक्षी आक्षेप कर सकेगा कि ऐसा साक्ष्य तब नहीं दिया जाना चाहिए जब तक कि वह दस्तावेज पेश नहीं कर दिया जाता या जब तक वे तथ्य साबित नहीं कर दिए जाते, जो उस पक्षकार को, जिसने साक्षी को बुलाया है, उसका द्वितीयिक साक्ष्य देने का हक देते हैं और यदि, न्यायालय की राय में, दस्तावेज पेश किया जाना चाहिए तो, आक्षेप का समर्थन हो जाएगा।

(2) यदि कोई साक्षी, जबकि वह परीक्षाधीन है, दस्तावेज की अन्तर्वस्तु के बारे में कोई कथन करने ही वाला है तो प्रतिपक्षी ऐसा कथन तब तक न किए जाने के बारे में आक्षेप कर सकेगा जब तक ऐसा दस्तावेज पेश नहीं कर दिया जाता या जब तक वे तथ्य साबित नहीं कर दिए जाते जो उस पक्षकार को, जिसने साक्षी को बुलाया है, उसका द्वितीयिक साक्ष्य देने का हक देते हैं और यदि न्यायालय की राय में, दस्तावेज पेश किया जाना चाहिए तो आक्षेप का समर्थन हो जाएगा।"

धारा 145 का संशोधन

80. धारा 145, उपधारा (1) के रूप में पुनर्संख्यांकित की जाएगी और इस प्रकार पुनर्संख्यांकित की गई उपधारा के पश्चात् निम्नलिखित उपधारा अन्त:स्थापित की जाएगी, अर्थात् —

"(2) जहां किसी साक्षी के पूर्वकालिक लिखित कथन का, मामले की परिस्थितियों में लेख का द्वितीयिक साक्ष्य देने के हकदार पक्षकार द्वारा खंडन करने का प्रयत्न किया जाता है, उसका ध्यान, ऐसा द्वितीयिक साक्ष्य दिए जाने से पूर्व, खंडन करने के प्रयोजनों के लिए, कथन के ऐसे भाग की ओर आकर्षित किया जाना चाहिए जो उसका खंडन के करने के प्रयोजन के लिए प्रयोग किया जाना है।

(3) यदि कोई साक्षी, उसके द्वारा किए गए किसी पूर्वकालिक मौखिक कथन, (यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा अभिलिखित किए गए कथन सहित), जो वाद या कार्यवाही में, जिसमें उसकी प्रतिपरीक्षा की जा रही है, प्रश्नगत विषयों से सुसंगत है और जहां ऐसा कथन उसके वर्तमान साक्ष्य से असंगत है, के बारे में प्रतिपरीक्षा में ऐसा कथन करने का प्रत्याख्यान करता है या स्पष्ट रूप से यह स्वीकार नहीं करता है कि वह कथन उसने किया था तो यह साबित किया जा सकेगा कि वह कथन उसने किया था, परन्तु ऐसा साबित किए जाने से पूर्व, अनुमानित कथन की परिस्थितियां, जो उस विशिष्ट अवसर का ज्ञान कराने के लिए पर्याप्त हैं, साक्षी को बतायी जानी चाहिए और उससे पूछा जाना चाहिए कि ऐसा कथन उसने किया था या नहीं।"

धारा 146 का संशोधन

81. मूल अधिनियम की धारा 146 में,

(क) धारा 146 के खंड (1) में 'सत्यवादिता' शब्द के पश्चात् 'शुद्धता' और 'विश्वसनीयता' शब्द अन्त:स्थापित किए जाएंगे ;

(ख) खंड (3) के पश्चात् दिए गए परन्तुक को निकाल दिया जाएगा और निम्नलिखित खंड और स्पष्टीकरण अन्त:स्थापित किया जाएगा, अर्थात्,

"(4) धारा 376, 376क, 376ख, 376ग या 376घ के अधीन किसी अपराध के अभियोजन में, या ऐसा कोई अपराध करने के प्रयत्न के लिए, जहां सम्मति विवाद्यक प्रश्न है, सम्मति या सम्मति की विशेषता साबित करने के लिए पीडित व्यक्ति की प्रतिपरीक्षा में साक्ष्य देना या उसके सामान्य अनैतिक शील के बारे में या किसी व्यक्ति के साथ उसके पूर्वकालिक यौन अनुभव के बारे में प्रश्न पूछना अनुज्ञेय नहीं होगा।

स्पष्टीकरण : 'शील' में 'ख्याति' और 'स्वभाव' भी सम्मिलित हैं।"

धारा 147 का संशोधन

82. मूल अधिनियम की धारा 147 में, "वाद या कार्यवाही के सुसंगत" शब्दों के स्थान पर "वाद या कार्यवाही में विवाद्यक मामले के सुसंगत" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 148 का संशोधन

83. मूल अधिनियम की धारा 148 में,

(क) "यदि ऐसा कोई प्रश्न ऐसी किसी बात से संबंधित है जो वाद या कार्यवाही से सुसंगत नहीं है सिवाय" शब्दों के स्थान पर "यदि ऐसा कोई प्रश्न वाद या कार्यवाही में विवाद्यक विषयों से संबंधित नहीं है परन्तु ग्राह्य है" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे"।

(ख) खंड (4) के स्थान पर निम्नलिखित खंड और स्पष्टीकरण प्रतिस्थापित किए जाएंगे अर्थात् :

"(4) न्यायालय ध्यान में रखेगा कि क्या ऐसे साक्ष्य का इतना पर्याप्त 'प्रोबेटीव' महत्व है या होगा जो मामले की परिस्थितियों में उसके हानिकारक प्रभाव से बढ़कर है।

(5) न्यायालय, यदि वह ठीक समझे, साक्षी के उत्तर देने से इंकार करने पर यह अनुमान लगा सकेगा कि उत्तर यदि दिया जाता है तो, प्रतिकूल होता।

स्पष्टीकरण : जहां, किसी व्यक्ति की ख्याति को क्षति के लिए मानहानि की नुकसानी के वाद में, किसी व्यक्ति के शील के किसी पहलू के, कथित मानहानि से संबंधित विषय से भिन्न, इस धारा के अधीन किसी प्रश्न से क्षति होने की संभावना है तो, न्यायालय उस प्रश्न पर विशेष ध्यान देगा कि क्या, इस धारा में उल्लिखित बातों को ध्यान में रखते हुए, ऐसा प्रश्न न्यायोचित है।"

नई धारा 148 क का अन्तःस्थापन

84. मूल अधिनियम की धारा 148 के पश्चात् निम्नलिखित धारा अन्तःस्थापित की जाएगी, अर्थात् —

अभियुक्त व्यक्ति से कतिपय प्रश्न नहीं पूछे जाएंगे

"148क. किसी अभियुक्त व्यक्ति से, जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 315 के अनुसरण में स्वयं को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करता है, ऐसे प्रश्न नहीं पूछे जाएंगे और यदि पूछे जाते हैं, तो उसे किसी ऐसे प्रश्न का, उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा, जो यह दर्शित करने की प्रवृत्ति रखता है कि उसने उस अपराध के अतिरिक्त, जिसमें उसे तब आरोपित किया गया है, कोई अन्य अपराध किया है, या अन्य अपराध के बारे में दोषसिद्ध किया गया है या आरोपित किया गया है और यह कि वह बुरे शील का है जब तक कि —

(i) सबूत, कि उसने ऐसा अन्य अपराध किया है या उसके लिए दोषसिद्ध किया गया है, विवाद्यक विषय से सुसंगत न हो, या

(ii) स्वयं को अच्छे शील का स्थापित करने के विचार से, उसने स्वयं या अपने अधिवक्ता के माध्यम से अभियोजन के लिए साक्षी के प्रश्न पूछे हैं, या अपने अच्छे शील का साक्ष्य न दिया हो ; या

(iii) जहां प्रतिरक्षा का स्वरूप या आचरण ऐसा है, जिसमें कोई विशिष्ट पूछने के लिए न्यायालय की अनुमति प्राप्त किए बिना ही अभियोजन के साक्षियों के शील पर (अभियोक्त्री के शील से भिन्न) दोषारोपण अन्तर्ग्रस्त है ; या

(iv) उसने, उसी अपराध के आरोपित किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध साक्ष्य न दिया हो,

और जब तक कि न्यायालय का ऐसा समाधान न हुआ हो कि ऐसे साक्ष्य का, जिसके साक्षी को उपर्युक्त रूप से बाध्य किया जाएगा, पर्याप्त संभावित महत्व होगा जो कारित होने वाली हानि से बढ़कर होगा।"

धारा 149 का संशोधन

85. मूल अधिनियम की धारा 149 में, दृष्टांत (क) से (घ) के स्थान पर निम्नलिखित दृष्टांत प्रतिस्थापित किए जाएंगे, अर्थात् —

"(क) किसी वकील को किसी दूसरे वकील से ऐसा अनुदेश दिया जाता है कि एक महत्वपूर्ण साक्षी चोर है। पहले वकील को साक्षी से यह पूछने का कि क्या वह चोर है, युक्तियुक्त आधार है।

(ख) किसी वकील को न्यायालय में, किसी व्यक्ति द्वारा यह जानकारी दी जाती है कि एक महत्वपूर्ण साक्षी चोर है। जानकारी देने वाला, वकील द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर, अपने कथन के लिए समाधानप्रद कारण बताता है। साक्षी से यह प्रश्न पूछने के लिए कि क्या वह चोर है, युक्तियुक्त आधार है।

(ग) किसी साक्षी से, जिसके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, किसी वकील द्वारा अटकल पच्चू यह पूछा जाता है कि क्या वह चोर है? यहां प्रश्न पूछने के लिए कोई युक्तियुक्त आधार नहीं है।

(घ) कोई साक्षी, जिसके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, किसी वकील द्वारा उसके जीने के ढंग तथा जीविका के साधनों के बारे में पूछे जाने पर यदि वह असमाधानप्रद उत्तर देता है तो, उससे यह पूछने का कि क्या वह चोर है, युक्तियुक्त आधार हो जाता है।"

धारा 150 का प्रतिस्थापन

86. मूल अधिनियम की धारा 150 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात् —

युक्तियुक्त आधारों के बिना प्रश्न पूछे जाने की अवस्था में न्यायालय की प्रक्रिया

"150. यदि न्यायालय की यह राय है कि ऐसा कोई प्रश्न युक्तियुक्त आधारों के बिना पूछा गया था, यदि वह किसी वकील द्वारा पूछा गया था तो, वह मामले की परिस्थितियों को, अधिवक्ता अधिनियम, 1961 के अधीन स्थापित की गई उपयुक्त बार काउंसिल को, ऐसा वकील अपनी वृत्ति के प्रयोग में जिसके अधीन है, रिपोर्ट कर सकेगा।"

धारा 154 का संशोधन

87. मूल अधिनियम की धारा 154, उपधारा (1) के रूप में पुनर्संख्यांकित की जाएगी और इस प्रकार पुनर्संख्यांकित की गई उपधारा (1) के पश्चात् निम्नलिखित उपधारा अन्तःस्थापित की जाएगी, अर्थात् —

"(2) इस धारा में कोई भी बात पक्षकार को उसके हक से वंचित नहीं करेगी, जिसे ऐसे साक्षी के साक्ष्य के किसी भाग पर विश्वास करना अनुज्ञात है।[1]

धारा 155 का प्रतिस्थापन

88. मूल अधिनियम की धारा 155 के स्थान पर निम्नलिखित धाराएं प्रतिस्थापित की जाएंगी, अर्थात् —

साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप

"155. किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर प्रतिपक्षी द्वारा या न्यायालय सम्मति से उस पक्षकार द्वारा, जिसने उसे बुलाया है, निम्नलिखित प्रकारों से अधिक्षेप किया जा सकेगा :—

(1) उन व्यक्तियों के साक्ष्य द्वारा, जो साक्षी के बारे में अपने ज्ञान के आधार पर, उसकी, शुद्धता या सत्यवादिता पर अधिक्षेप कर सकते हैं ;

(2) यह साबित किए जाने द्वारा कि साक्षी को रिश्वत दी गई है या उसने रिश्वत की प्रस्थापना स्वीकार कर ली है या उसे अपना साक्ष्य देने के लिए कोई अन्य भ्रष्ट उत्प्रेरणा मिली है ;

(3) धारा 145 के उपबंधों के अध्यधीन, उसके साक्ष्य के किसी ऐसे भाग से, जिसका खंडन किया जा सकता है, पूर्वकालिक कथनों से असंगत पिछले कथनों को साबित करके, अर्थात्, किसी विवाद्यक तथ्य या किसी सुसंगत तथ्य या धारा 153 के प्रथम या दूसरे अपवाद में निर्दिष्ट किसी मामले के बारे में साक्ष्य देकर ;

परन्तु यह कि न्यायालय का ऐसा समाधान है कि प्रश्न के उत्तर का संभावित महत्व उससे कारित होने वाली क्षति से बढकर है या होगा।

स्पष्टीकरण : कोई साक्षी, जो किसी अन्य साक्षी को विश्वसनीयता के लिए अपात्र घोषित करता है, अपने से की गई मुख्यपरीक्षा में अपने विश्वास के कारणों को चाहे न बताए, किन्तु प्रतिपरीक्षा में उससे उनके कारणों को पूछा जा सकेगा और उन उत्तरों का, जिन्हें वह देता है, खंडन नहीं किया जा सकता, तथापि यदि वे मिथ्या हों, तो तत्पश्चात् उस पर मिथ्या साक्ष्य देने का आरोप लगाया जा सकेगा।

दृष्टांत :

(क) 'ख' को बेचे गए और परिदान किए गए माल के मूल्य के लिए 'ख' पर 'क' वाद लाता है। 'ग' कहता है कि उसने 'ख' को माल का परिदान किया है।

यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य प्रतिस्थापित किया जाता है कि किसी पूर्व अवसर पर उसने कहा था कि उसने उस माल का परिदान 'ख' को नहीं किया था।

यह साक्ष्य ग्राह्य है।

(ख) 'ख' की हत्या के लिए 'क' पर अभ्यारोप लगाया गया है।

'ग' कहता है कि 'ख' ने मरते समय घोषित किया था कि 'क' ने 'ख' को यह घाव दिया था जिससे वह मर गया।

यह दर्शित करने के लिए साक्ष्य प्रतिस्थापित किया जाता है कि किसी पूर्व अवसर पर 'ग' ने कहा था कि घाव 'क' द्वारा या उसकी उपस्थिति में नहीं दिया गया था।

यह साक्ष्य ग्राह्य है।

साक्षी के रूप में परीक्षा करते समय अभियुक्त की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप करना :

"155क. जब कोई अभियुक्त व्यक्ति, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 315 के अनुसरण में स्वयं को साक्षी के रूप में पेश करने का प्रस्ताव करता है तब, अन्य साक्षी से प्रश्न पूछना अनुज्ञेय नहीं होगा और ऐसे साक्षी से, यदि प्रश्न पूछे जाते हैं तो, उसे ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा, जो यह दर्शित करने की प्रवृत्ति रखते हैं कि अभियुक्त ने, उसके अतिरिक्त जिसमें वह अारोपित है, कोई अन्य अपराध किया है या उसके लिए दोषसिद्ध या आरोपित किया गया है या अभियुक्त बुरे शील का है, जब तक कि—

(i) यह साबित नहीं कर दिया जाता कि अभियुक्त ने ऐसा अन्य अपराध किया है या उसके लिए दोषसिद्ध किया गया है, विवाद्यक विषय से सुसंगत है ; या

(ii) स्वयं को अच्छे शील का स्थापित करने के विचार से अभियुक्त ने स्वयं या अपने वकील के द्वारा अभियोजन के साक्षी से प्रश्न पूछे हैं या अपने अच्छे शील का साक्ष्य नहीं दिया है ; या

(iii) प्रतिरक्षा के आचरण का स्वरूप ऐसा है कि कोई विशिष्ट प्रश्न पूछने के लिए न्यायालय की अनुमति मांगे बिना ही, उसमें अभियोजन साक्षी के शील पर (अभियोक्त्री से भिन्न) दोषारोपण अन्तर्गस्त न हो ;

(iv) अभियुक्त ने उसी अपराध के आरोपी किसी अन्य व्यक्ति के विरूद्ध साक्ष्य न दिया हो,

और न्यायालय का ऐसा समाधान न हो कि प्रश्न के उत्तर का संभावित महत्व कारित होने वाली क्षति से बढ़कर है या होगा।"

धारा 156 का संशोधन

89. मूल अधिनियम की धारा 156 में, "सुसंगत तथ्य" शब्दों के स्थान पर, दोनों स्थानों पर जहां भी ये आएं हैं, "विवाद्यक तथ्य या सुसंगत तथ्य" प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 157 का संशोधन

90. मूल अधिनियम की धारा 157 के अन्त में निम्नलिखित स्पष्टीकरण अन्त:स्थापित किया जाएगा, अर्थात् —

"स्पष्टीकरण : किसी प्राधिकारी के समक्ष, जो किसी तथ्य की जांच करने के लिए सक्षम है, किए गए कथनों में किसी पहिचान परेड में न्यायिक मजिस्ट्रेट के समक्ष किए गए कथन तथा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 के अधीन ऐसे किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष किए गए कथन भी सम्मिलित होंगे।"

नई धारा 157क का अन्त:स्थापन

91. मूल अधिनियम की धारा 157 के पश्चात् निम्नलिखित धारा अन्त:स्थापित की जाएगी, अर्थात् —

स्वतंत्र साक्ष्य द्वारा साक्षी की विश्वसनीयता प्रतिस्थापित करना :

"157क. जहां किसी साक्षी की विश्वसनीयता पर किसी पक्षकार द्वारा अधिक्षेप किया जाता है, वहां प्रतिपक्षी, धारा 153 में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, उसकी विश्वसनीयता पुनर्स्थापित करने के लिए उसकी शुद्धता, विश्वसनीयता या सत्यवादिता के संबंध में या यह दर्शित करने के लिए कि वह कौन है और जीवन में उसकी स्थिति क्या है, स्वतंत्र साक्ष्य पेश कर सकेगा।"

धारा 159 का प्रतिस्थापन

92. मूल अधिनियम की धारा 159 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिथापित की जएगी, अर्थात्—

स्मृति ताजा करना

"159. कोई साक्षी, जब वह परीक्षाधीन है, अपनी स्मृति को ताजा कर सकेगा —

(1) (क) किसी ऐसे दस्तावेज को देखकर जो कि स्वयं उसके उस संव्यवहार के समय, जिसके संबंध में उससे प्रश्न किया जा रहा है, या इतने शीघ्र पश्चात् बनाया हो कि न्यायालय इसे संभाव्य समझता हो कि वह संव्यवहार उस समय उसकी स्मृति में ताजा था ;

(ख) किसी ऐसे दस्तावेज को भी देख करके, जो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा तैयार किया गया हो और उस साक्षी द्वारा उपर्युक्त समय के भीतर पढ़ा गया हो, यदि वह उस दस्तावेज का, उस समय जबकि उसने पढ़ा या देख या सही होना जानता था ;

(ग) न्यायालय की अनुज्ञा से, ऐसी किसी दस्तावेज की प्रतिलिपि देखकर, परन्तु यह तब जबकि न्यायालय का समाधान हो गया हो कि मूल को पेश न करने के पर्याप्त कारण हैं।

(2) कोई विशेषज्ञ अपनी स्मृति वृतिक पुस्तकों को देखकर या वृतिक पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख को पढ़कर ताजा कर सकेगा।

धारा 161 का संशोधन

93. मूल अधिनियम की धारा 161 में, "कोई लेख" शब्दों के स्थान पर "कोई दस्तावेज" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 162 का संशोधन

94. मूल अधिनियम की धारा 162 में, "न्यायालय, यदि ठीक समझता है तो, दस्तावेज का निरीक्षण कर सकेगा, जब तक कि उसमें राज्य के कार्यकलापों का निर्देश न हो, या उसकी ग्राह्यता अवधारित करने के लिए अन्य साक्ष्य ले सकेगा" शब्दों के स्थान पर "न्यायालय, यदि ठीक समझता है तो, दस्तावेज का निरीक्षण कर सकेगा या उसकी ग्राह्यता अवधारित करने के लिए अन्य साक्ष्य ले सकेगा" शब्द प्रतिस्थापित किए जाएंगे।

धारा 165 का प्रतिस्थापन

95. मूल अधिनियम की धारा 165 के स्थान पर निम्नलिखित धारा प्रतिस्थापित की जाएगी, अर्थात् —

प्रश्न करने या पेश करने का आदेश देने की न्यायाधीश की शक्ति :

"165. (1) उपधारा (2) के उपबंधों के अध्यधीन, न्यायाधीश सुसंगत तथ्यों का पता लगाने के लिए या उनका उचित सबूत अभिप्राप्त करने के लिए, किसी भी रूप में, किसी भी समय किसी भी साक्षी या पक्षकारों से किसी भी सुसंगत या विसंगत तथ्य के बारे में कोई भी प्रश्न, जो वह चाहे पूछ सकेगा तथा किसी भी दस्तावेज या चीज को पेश करने का आदेश दे सकेगा :

परंतु यह कि न तो पक्षकार और न उसके अभिकर्ता हकदार होंगे —

(क) ऐसे किसी प्रश्न या आदेश के प्रति आक्षेप करने के, या

(ख) ऐसे किसी प्रश्न के प्रत्युत्तर में दिए गए उत्तर पर किसी भी साक्षी को, न्यायालय की अनुमति के बिना प्रतिपरीक्षा करने के।

(2) उपधारा (1) में कोई भी बात न्यायाधीश को प्राधिकृत नहीं करेगी —

(क) किसी साक्षी से ऐसा प्रश्न पूछने या ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के लिए या ऐसा कोई दस्तावेज पेश करने को विवश करने के लिए, जिसका उत्तर देने से या जिसे पेश करने से, यदि प्रतिपक्षी द्वारा प्रश्न पूछा गया होता या दस्तावेज मांगा गया होता तो, ऐसा साक्षी इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के अधीन, इंकार करने का हकदार होता, या

(ख) एतस्मिन पूर्व अपवादित दशाओं के सिवाय, किसी भी दस्तावेज के प्राथमिक साक्ष्य का दिया जाना अभिमुक्त किया जाना

(3) इस धारा में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, न्यायालय का निर्णय इस अधिनियम के अधीन सुसंगत घोषित किए गए और सम्यक् रूप से साबित किए गए तथ्यों पर आधारित होगा।"

धारा 166 का विलोपन

96. मूल अधिनियम की धारा 166 का लोप किया जाएगा।

1956 के अधिनियम 30 की धारा 21 का विलोपन

97. हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 में धारा 21 का लोप किया जाएगा।

1908 के अधिनियम 1 का संशोधन

98. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 में, धारा 87क में, उपधारा (2क) का लोप किया जाएगा।

अस्थायी उपबंध

99. "(1) इस अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि को लंबित सभी वाद या सिविल कार्यवाहियां, जिनमें पक्षकारों सहित साक्षियों की परीक्षा इस अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि से पूर्व आरंभ हो चुकी है, उपधारा (2) में अन्यथा उपबंधित के सिवाय, मूल अधिनियम, जैसा कि वह इस अधिनियम के प्रवर्तन के ठीक पूर्व अस्तित्व में था, के उपबंधों के अनुसार निपटाए जाएंगे, जैसे कि यह अधिनियम प्रभावी नहीं हुआ था।

(2) मूल अधिनियम के निम्नलिखित उपबंध, जहां तक कि वे इस अधिनियम के प्रवर्तन की तिथि को न्यायालय में लंबित किसी वाद या सिविल कार्यवाही में प्रक्रिया से संबंधित है, इस अधिनियम द्वारा संशोधित रूप में लागू होंगे :—

(क) मूल अधिनियम की धारा 11 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 6 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ख) मूल अधिनियम की धारा 13 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 8 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ग) मूल अधिनियम की धारा 57 की उपधारा (1) के उपबंध इस अधिनियम की धारा 34 द्वारा संशोधित रूप में ;

(घ) मूल अधिनियम की धारा 67 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 41 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ङ) मूल अधिनियम की धारा 74 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 43 द्वारा संशोधित रूप में ;

(च) मूल अधिनियम की धारा 76 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 44 द्वारा संशोधित रूप में ;

(छ) मूल अधिनियम की धारा 77 के उपबंध इस अधिनियम की धारा 45 द्वारा संशोधित रूप में ;

(ज) मूल अधिनियम की धारा 119 के उपबंध इस अधिनियम की धारा द्वारा संशोधित रूप में ;

(3) इस अधिनियम के प्रवर्तन से पूर्व किए गए अपराधों से संबंधित सभी दांडिक कार्यवाहियों जो इस अधिनियम की प्रवर्तन की तिथि को लंबित थी, मूल अधिनियम के उपबंधों के अनुसार, जैसाकि यह इस अधिनियम के प्रवर्तन के ठीक पूर्व अस्तित्व में था, निपटाई जाएंगी, जैसे कि यह अधिनियम प्रभावी नहीं हुआ था।"

MGIPRRND—20LJ&CA/05—75.